प्रतियोगी राजनीति विज्ञान

(प्रथम खण्ड)

(POLITICAL SCIENCE, VOL. I)

(भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए)

डॉ. ओ. पी. नेमा
आचार्य एवं अध्यक्ष
राजनीति विज्ञान एवं लोक प्रशासन विभाग अध्ययन मण्डल
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

एवं

डॉ. डी. सी. त्रिपाठी
एम ए, एल एल एम, डी पी एम, एफ आइ आर, डी टी एल ए,
डी पी एल, आर सी आइ एफ एम पी (यू के), पी एच डी
डिप्टी कमिश्नर अपील्स, वाणिज्यिक कर विभाग, राजस्थान सरकार

कॉलेज बुक डिपो
जयपुर

प्रतियोगी राजनीति विज्ञान

(Political Science Vol. I)

•

डॉ जी पी नेना

डॉ डी सी त्रिपाठी

Published by College Book Depot, 83 Tripolia Bazar Jaipur 2

Type-setting by Sudha Computers Jaipur 16

Printed at Laxmi Printers Jaipur

प्राक्कथन

'राजनीति विज्ञान' सामाजिक विज्ञानों में महत्त्वपूर्ण विषय होने के साथ-साथ लोकप्रिय विषय भी है। आज के 'वैश्वीकरण' और 'अन्तर्राष्ट्रीयतावाद' तथा 'एक विश्व' की कल्पना में इस विषय को शीर्ष स्थान प्राप्त है और इसीलिए घर, परिवार, आंगन, चौखट, चौराहे और बाजारों में पान वालों और थड़ी-ठेले वालों के इर्द-गिर्द लोग राजनीति के चर्चित विषयों पर चर्चा करते हुए मिल जावेंगे। आज के समाज की यह स्थिति राजनीति विज्ञान की लोकप्रियता का ज्वलंत उदाहरण है।

इतना ही नहीं, अखिल भारतीय स्तर की सिविल सेवा प्रतियोगिता परीक्षा एवं राज्यों की राज्य-स्तरीय सिविल सेवा प्रतियोगी परीक्षाओं में भी राजनीति विज्ञान परीक्षार्थियों का चहेता विषय है तथा अधिकांश परीक्षार्थी इन परीक्षाओं में विषय चुनते समय 'राजनीति विज्ञान' को प्राथमिकता देते हैं।

इस रुझान को देखते हुए प्रस्तुत पुस्तक आई. ए. एस. तथा विभिन्न राज्य सेवा प्रतियोगी परीक्षार्थियों के लाभार्थ लिखी गई है। पुस्तक में विषय के प्रथम प्रश्न पत्र 'राजनीतिक सिद्धान्त तथा भारतीय राजनीति' का विवेचन किया गया है।

पुस्तक के प्रारम्भ में, पाठ्यक्रम के खण्ड 'क' से सम्बन्धित विभिन्न अध्याय दिए गए हैं जिनमें राजनीतिक सिद्धान्त के अध्ययन के उपागम, राज्य के सिद्धान्त, राज्य प्रभुसत्ता, प्रजातंत्र तथा मानव अधिकार, राजनीतिक संस्कृति के सिद्धान्त, राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त, राजनीतिक विचारधाराएँ, शक्ति तथा आधिपत्य के सिद्धान्त, भारतीय राजनीतिक विचार एवं पाश्चात्य राजनीतिक विचारों की व्याख्या है।

खण्ड 'ख' से सम्बन्धित 'भारतीय सरकार एवं राजनीति' के विभिन्न अध्यायों में भारतीय राष्ट्रवाद, भारतीय स्वाधीनता संग्राम का स्वरूप एवं राजनीति, भारत

के राष्ट्रवादी आन्दोलन के सामाजिक-आर्थिक आयाम, सांविधानिक विकास के क्रम में ब्रिटिश शासन के समय में हुई महत्वपूर्ण घटनाएँ, भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ, सिद्धान्त तथा व्यवहार में भारत की कार्यपालिका प्रणाली, भारत में संसद तथा संसदीय समितियों की भूमिका तथा कार्य, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय, देश में कार्यरत विभिन्न सांविधानिक संस्थाएँ और आयोग, राजनीतिक दल व्यवस्था एवं दवाव समूह, भारतीय राजनीति में वर्ग, आयोजन तथा आर्थिक विकास एवं पंचायती राज व नगरीय संस्थाओं के वारे में विस्तार से विवेचन किया गया है। पुस्तक में प्रामाणिक एवं अधुनातन सामग्री उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है। आशा है पुस्तक प्रतियोगी परीक्षार्थियों तथा राजनीति विज्ञान के सामान्य पाठकों एवं इस विषय में अध्ययनरत शिक्षार्थियों के लिए पूर्ण रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

हम उन सभी देशी-विदेशी पुस्तकों के लेखकों-प्रकाशकों, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों, भारत सरकार के विभिन्न प्रकाशनों एवं उन सभी सहयोगियों के आभारी हैं जिनका इस पुस्तक में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग लिया गया है। श्री प्रकाश नारायण नाटाणी सर्वाधिक वधाई के पात्र हैं जिन्होंने अपने अथक परिश्रम से पाण्डुलिपि तैयार की है और हमें पूर्ण संतोषप्रद सामग्री संयोजित करके दी है।

पुस्तक के प्रकाशक श्री पी. सी. जैन का आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने पुस्तक को सुन्दर साज-सज्जा के साथ शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयास किया है। आशा है, यह पुस्तक विषय के विद्वानों एवं प्रतियोगी पाठकों को पसन्द आवेगी।

लेखकद्वय

अनुक्रमणिका

1

राजनीतिक सिद्धान्त : अध्ययन के उपागम

(Approaches to the Study of Political Theory)

"सुसंस्कृत मानव प्राणियों में श्रेष्ठ होता है, किन्तु जब वह कानून एवं न्याय को स्वीकार नहीं करता तो वह निकृष्टतम प्राणी बन जाता है। यदि कोई मानव समाज में रहने योग्य नहीं होता अथवा जो स्वयं को आत्मनिर्भर मानकर समाज की अपेक्षा नहीं रखता, वह या तो एक पशु है अथवा देवता।"

—अरस्तू

अरस्तू (Aristotle) का यह कथन इस बात का परिचायक है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से अलग नहीं रह सकता। समाज में रहकर ही उसका विकास सम्भव है। समाज में मानव-जीवन के विभिन्न पक्ष यथा—सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक आदि सभी प्रभावित एवं विकसित होते हैं। इन्हीं विभिन्न पक्षों के अध्ययन के फलस्वरूप राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि समाज-विज्ञानों का प्रादुर्भाव हुआ है। राजनीति विज्ञान में मनुष्य समाज में रहते हुए राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है। राज्य एक राजनीतिक संस्था है जिसके द्वारा मनुष्य के राजनीतिक सम्बन्धों का सुचारू रूप से संचालन होता है, अतः राजनीति विज्ञान अध्ययन का मुख्य विषय बन जाता है। राजनीति विज्ञान को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है।

राजनीति विज्ञान का अर्थ

(Meaning of Political Science)

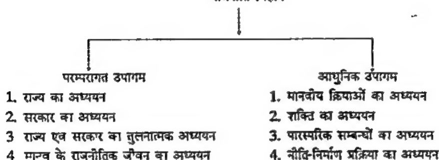
राजनीति विज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी शब्द 'पोलिस' से हुई है तथा 'पोलिटिक्स' शब्द का प्रथम प्रयोग यूनानी विद्वान् अरस्तू ने किया। शनै-शनै 'राष्ट्र-राज्यों' के विकास के साथ-साथ 'राजनीति विज्ञान' का विकास होता गया तथा राजनीति विज्ञान राज्य से सम्बन्धित विषयों का विज्ञान कहा जाने लगा।

राजनीति विज्ञान को केवल राज्य के अध्ययन तक ही सीमित रखने की संकीर्ण संकल्पना बाद में विकसित हुई जो परम्परा के रूप में अनेक वर्षों तक प्रचलित रही। अरस्तू ने इस सन्दर्भ में एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया था। के. आर. बम्बवाल के अनुसार, "अरस्तू ने राजनीति शास्त्र को 'मूल विज्ञान' की संज्ञा दी और उसमें न केवल राजनीतिक संस्था, राज्य या नगर को शामिल किया वरन् उसमें परिवार, समाज एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं को, जो समाजशास्त्र नीतिशास्त्र एवं सामाजिक विज्ञानों के अंतर्गत आती हैं, को शामिल किया। अरस्तू द्वारा ऐसा लिखना स्वाभाविक था, क्योंकि उसके समय में यूनानी नगर—राज्य व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के पहलू से सम्बन्ध रखते थे और उस समय राज्य और समाज में विभाजन रेखा नहीं थी। राजनीति विज्ञान का विकास अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति राज्य के विशेष विज्ञान या राज्य सरकार के विज्ञान के रूप में होता गया।"

राजनीति विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है, जिसके अन्तर्गत मानव समाज के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन होता है। मनुष्य द्वारा निर्मित अनेक संगठन होते हैं जैसे—परिवार, कुल जाति, सम्प्रदाय, धार्मिक संघ राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आदि, किन्तु संसार में मनुष्य जिस एक संगठन के अंतर्गत रहते हैं वह संगठन है—राज्य। राज्य आधुनिक युग में सबसे अधिक शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण संगठन है। 'राज्य' नामक इसी संगठन का मुख्य रूप से अध्ययन राजनीति विज्ञान में होता है। आधुनिक युग में राजनीति विज्ञान की यह संकल्पना शनै-शनै विकसित होती गई तथा इसने अब अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया है। आईजनमैन के मतानुसार, "यद्यपि राज्य को राजनीति विज्ञान का अब भी मुख्य विषय माना जाता है, तथापि वर्तमान में राजनीतिक व्यवहार शासक और शासितों को प्रभावित करने वाले मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तत्त्वों पर अधिक बल दिया जाने लगा है।"

राजनीति विज्ञान की परिभाषा
(Definition of Political Science)

राजनीति विज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह विषय मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान की परिभाषा के विषय में विभिन्न मत हैं। विद्वानों ने इसे अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। यह मतभेद इन विद्वानों द्वारा विभिन्न पक्षों पर विशेष बल देने के कारण उत्पन्न हुआ है। कोई विद्वान् राज्य पर अधिक बल देता है तो अन्य विद्वान् सरकार अथवा राज्य एवं सरकार दोनों पर अथवा व्यक्ति के राजनीतिक जीवन या उससे सम्बद्ध समस्याओं अथवा शक्ति या नीति-निर्माण प्रक्रिया पर बल देते हैं। इस प्रकार परिभाषा की दृष्टि से राजनीति विज्ञान का जो ऐतिहासिक विकास हुआ है, उस पर देशकाल का प्रभाव पड़ा है। राजनीति विज्ञान की परिभाषाओं को हम निम्नांकित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—



उपरोक्त वर्गीकरण के अनुसार राजनीति विज्ञान की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) परम्परागत उपागम (Traditional Approach)

1. राज्य का अध्ययन

गार्नर (Garner) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान के अध्ययन का आरम्भ और अंत राज्य है।"

ब्लन्शली (Bluntshli) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध राज्य से है और जो यह समझने का प्रयत्न करता है कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या हैं? उनका आवश्यक रूप क्या है? उनकी किन विविध रूपों में अभिव्यक्ति होती है तथा उसका विकास कैसे हुआ है?"

गुडनाव (Goodnow) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान राज्य नामक संगठन की व्याख्या उसके स्थिर एवं गत्यात्मक दोनों रूपों में करता है।"

एक्टन (Acton) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान राज्य एवं उसके विकास के लिये अपरिहार्य दशाओं से सम्बन्धित है।"

गेरीज तथा जकारिया (Garies & Zacharia) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान एक व्यवस्थित रूप से उन आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिसके अनुसार राज्य समग्र दृष्टि से संगठित होता है तथा प्रभुसत्ता का उपयोग किया जाता है।"

स्पष्ट है इन परिभाषाओं में राज्य को ही राजनीति विज्ञान का केन्द्र बिन्दु मान कर अधिक महत्व दिया गया है और सरकार का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। ये परिभाषाएँ एकांगी कही जाती हैं, क्योंकि राज्य के साथ इनमें अन्य सम्बद्ध पक्षों की पूर्णतः उपेक्षा की गई है।

2. सरकार का अध्ययन

सीले (Seeley) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान उसी प्रकार सरकार के तत्वों का अनुसन्धान करता है जिस प्रकार सम्पत्ति-शास्त्र सम्पत्ति का, जीवशास्त्र जीव का, बीजगणित अंकों का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान एवं परिमाण का।"

लीकॉक (Leacock) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान सरकार का अध्ययन है।"

एच. जी. जेम्स के अनुसार, "राजनीति विज्ञान राज्य का विज्ञान है, किन्तु राज्य में सरकार भी अन्तर्निहित है। सरकार राज्य के उद्देश्य को पूरा करने का यन्त्र है। वह राज्य को मूर्त रूप प्रदान करता है।"

क्रोसे (Croce) के अनुसार, "कल्पना की अपेक्षा जो वास्तविकता की खोज में है उनके लिये राज्य सरकार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सरकार में ही उसे पूर्ण रूप प्राप्त होता है।"

इस प्रकार राज्य अमूर्त संस्था है सरकार उसे मूर्त रूप प्रदान करती है अतः सरकार का अध्ययन ही राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय होना चाहिए। यह मत भी एकांगी है क्योंकि इसके अनुसार राज्य एवं अन्य मानवीय तत्वों की उपेक्षा की गई है।

3 राज्य एवं सरकार का तुलनात्मक अध्ययन

पॉल जैनेट (Paul Janet) के अनुसार, "सामाजिक विज्ञानों का वह अंग जो राज्य और सरकार के सिद्धान्तों का विवेचन करता है राजनीति विज्ञान है।"

डिमॉक (Dimock) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान राज्य और उसके यान्त्रिक साधन सरकार से सम्बन्धित होता है।"

गिलक्राइस्ट (Gilchrist) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय राज्य एवं सरकार की सामान्य समस्याएँ होती हैं।"

गैटिल (Gettel) के अनुसार, *"राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जो मानव के उन संगठनों से सम्बन्धित है जो* राजनीतिक इकाइयों और सरकार एवं उनके कार्यों का निर्माण करते हैं।"

इन परिभाषाओं में राज्य और सरकार के अध्ययन पर विशेष बल देते हुए प्रथम एवं द्वितीय प्रकार की परिभाषाओं में समन्वय स्थापित किया गया है।

4 मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन

लास्की (Laski) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान संगठित राज्यों में मानव-जीवन का अध्ययन है।"

हरमन हैलेट (Herman Hallet) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव सम्बन्धी आधारभूत मौलिक मान्यताओं द्वारा ही होता है।"

विलोबी (Willoughby) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान संगठन की दृष्टि से समाज का अध्ययन है जिसमें समाज व्यवस्थित और प्रगतिशील जीवन व्यतीत करता है।"

इन परिभाषाओं में मानवीय पक्ष को महत्व दे कर, उपरोक्त सभी प्रकार की परिभाषाओं के एकांगी दृष्टिकोण के दोषों के निराकरण का प्रयास किया गया है। *राजनीति विज्ञान में राज्य एवं सरकार का अध्ययन इसलिए किया जाता है* कि ये संस्थाएँ मानव-जीवन को प्रभावित करती हैं।

(ख) आधुनिक उपागम (Modern Approach)

परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान को परिभाषित करने के लिये अपनाया जाता रहा, किन्तु बीसवीं शताब्दी में इसके विरुद्ध असंतोष व्यक्त किया जाने लगा जो अंग्रेजी विद्वान् ग्राहम वालास (Graham Wallace) की 1908 में प्रकाशित पुस्तक 'राजनीति में मानव स्वभाव' (Human Nature in Politics) तथा अमेरिकी विद्वान् आर्थर बेन्टले (Arther Bentlay) की पुस्तक 'शासन की प्रक्रिया' (The Process of Government) में प्रखर रूप से प्रकट हुआ। वालास ने कहा है—*"राजनीति विज्ञान का अध्ययन अभी तक असंतोषजनक दशा में है। राजनीति के सभी विद्यार्थी* राजनीतिक संस्थाओं की विवेचना करते हैं, किन्तु मानव के विश्लेषण की उपेक्षा करते हैं।" आर्थर का मत था कि "हमें एक प्राणहीन राजनीति विज्ञान मिला है क्योंकि उसमें प्रशासनिक संस्थाओं की केवल बाह्य विशेषताओं की औपचारिक व्याख्या ही मिलती है।"

प्रथम विश्वयुद्ध (1914–18) के पश्चात् अमेरिकी विश्वविद्यालयों में राजनीति विज्ञान का अध्ययन नवीन दृष्टि से कर पुनः परिभाषित किया जाने लगा। ये परिभाषाएँ विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न पक्षों पर बल देकर की गईं जो अधिक व्यापक एवं यथार्थवादी हैं। *राजनीति विज्ञान के इस आधुनिक उपागम पर 'व्यवहारवादी' (Behaviouristic)* आन्दोलन का विशेष प्रभाव पड़ा। व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने इस तथ्य पर बल दिया कि वर्तमान युग में समस्त मानव जीवन ने एक इकाई का रूप ग्रहण कर लिया है अतः इसमें व्यवहारवाद की विशेषतायें संक्षेप में जोड़ी जाती हैं। मानव-जीवन के विविध पक्षों—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः राजनीति विज्ञान को केवल राजनीतिक क्रियाकलापों के अध्ययन तक सीमित न कर, उसमें मानव-जीवन के अन्य पक्षों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। *यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन में 'अन्तःअनुशासनात्मक उपागम (Inter Disciplinary Approach)* को अपनाये जाने पर बल देता है।

इस आधुनिक उपागम के अनुसार राजनीति विज्ञान की परिभाषा में उन साधनों और प्रक्रियाओं को महत्व दिया गया जिनके आधार पर राजनीतिक संस्थाएँ कार्य करती हैं, जैसे—'शक्ति', 'प्रभाव', 'सत्ता', 'नियन्त्रण', 'निर्णय', 'मूल्य' आदि। आधुनिक उपागम के अनुसार परिभाषाओं को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. मानवीय क्रियाओं का अध्ययन

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के अनुसार, "राजनीति एक ऐसी कला है जो एक वर्ग के हितों की सिद्धि हेतु, अन्य वर्ग के विरोध में, लोगों को प्रभावित तथा नियन्त्रित करती है।"

कैटलिन (Catline) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान नियन्त्रित समाज में उन कार्यों का अध्ययन करता है जो नियन्त्रण में प्रयुक्त होते हैं।"

पीटर मर्कल (Peter Markel) के अनुसार, "राजनीति का महत्व इस तथ्य में निहित है कि समाज में मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के आधार पर राजनीतिक उपायों से स्वयं का भाग्य कैसे निर्मित करता है।"

स्टीफन वास्बी (Stephen Wasby) के अनुसार, "राजनीतिक वैज्ञानिक सुबह नौ बजे से शाम के पाँच बजे तक जो कुछ करता है, वही राजनीति विज्ञान है।"

इन परिभाषाओं में संगठित समाज में मानवीय क्रियाओं के अध्ययन को राजनीति विज्ञान माना गया है तथा संस्थागत तत्वों की उपेक्षा की गई है।

2. शक्ति का अध्ययन

लासवैल एवं कैप्लान (Lasswell and Kaplan) के अनुसार, "एक अनुभववादी विज्ञान के रूप में राजनीतिक विज्ञान शक्ति (Power) की रूपरचना और उपभोग का अध्ययन है।"

हरमन हेलर के अनुसार, "आज का राजनीति विज्ञान मुख्यतः राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति, रक्षा एवं वितरण की समस्या पर विचार करता है।"

उल्मर (Ulmer) के अनुसार, "सभी सामाजिक विज्ञानों में शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई नहीं है जितना कि राजनीति विज्ञान।"

हुस्जर एवं स्टीवेन्सन (Huszar and Stevenson) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र मुख्यतः मनुष्यों तथा राज्यों में परस्पर सम्बन्ध है।"

रॉबसन (Robson) के अनुसार, "शक्ति एक ऐसा आधारभूत विचार है जो राजनीति विज्ञान के सभी पक्षों को एक सूत्र में आबद्ध कर लेता है।"

इनके अतिरिक्त मेरियम, वेबर, रसेल, कैटलिन, मैकाइवर, मार्गेन्थो आदि विद्वानों ने भी राजनीति विज्ञान को शक्ति का अध्ययन बतलाया है। इनके अनुसार 'शक्ति' (Power) का अर्थ 'सैनिक शक्ति' नहीं, बल्कि राजनीतिक प्रभुत्व है। ये परिभाषाएँ एकांगी हैं, क्योंकि शक्ति राजनीति विज्ञान के चरों (Variables) में से एक है, किन्तु एकमात्र नहीं।

3. पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन

रॉबर्ट ए. डहल (Robert A. Dahl) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान संगठित मानव समाज की व्यवस्था में विद्यमान राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है।"

की (Key) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान शासक और शासित के प्रभुत्व एवं अधीनता के मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन करता है।"

बर्ट्रेण्ड (Bertrand) के अनुसार, "परस्पर सहयोग से रहने वाले व्यक्तियों के मध्य स्वतः उत्पन्न राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन राजनीति विज्ञान करता है।"

ये परिभाषाएँ भी एकांगी हैं, क्योंकि ये राज्य, सरकार एवं अन्य राजनीतिक सम्बन्धों की उपेक्षा करती हैं।

4. नीति-निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन

डेविड ईस्टन (David Easton) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान उस प्रक्रिया का अध्ययन है जिसके अनुसार सम्पूर्ण समाज के लिये मूल्यों का अधिकृत रूप से आवंटन किया जाता है।"

लूइस फ्रीमैन (Luice Freeman) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति में हानि एवं लाभ के वितरण से है।"

नीति-निर्माण प्रक्रिया (Decision Making Process) केवल राजनीति विज्ञान में ही नहीं, अन्य सामाजिक विज्ञानों में भी महत्वपूर्ण है। नीति-निर्माण में मूल्यों का निर्धारण विशेष महत्व रखता है। ईस्टन के अनुसार नीति का तात्पर्य समाज के उन निर्णयों एवं क्रियाकलापों से है जिनसे सामाजिक मूल्यों का निर्धारण होता है। अधिसत्ता द्वारा निर्णय को क्रियान्वित किया जाता है। *समाज के सन्दर्भ में व्यक्ति के कार्यकलापों का प्रभाव देखा जाता है अतः डेविड ईस्टन* ने नीति, अधिसत्ता एवं समाज के अध्ययन को राजनीति विज्ञान के लिये आवश्यक समझकर एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, किन्तु ईस्टन की विचारधारा में कुछ कमियाँ हैं, जैसे—राजनीतिक- अराजनीतिक में भेद करने, समाज पर नीति-निर्धारण के प्रभाव का मूल्यांकन करने तथा निर्णय-प्रक्रिया के व्यक्तिपरक (Subjective) होने की कठिनाइयाँ।

राजनीति विज्ञान की परम्परागत एवं आधुनिक उपागमों में समन्वयकारी परिभाषा

परम्परागत एवं आधुनिक उपागमों में उचित समन्वय स्थापित करने हेतु उनमें पिनॉक और स्मिथ (Pennock and Smith) का प्रयास प्रशंसनीय है। इनके अनुसार, "राजनीति विज्ञान समाज के उन सभी प्रभावों, संस्थाओं तथा संगठनात्मक रूपों से सम्बन्धित होता है जिन्हें उस समाज में सुव्यवस्था की स्थापना और संधारण, अपने सदस्यों के सामूहिक कार्यों के सम्पादन तथा उनके मतभेदों का समाधान करने के लिये सर्वाधिक अंतर्वेशित (Inclusive) और अंतिम (Lattest) माना जाता है।"

डॉ. इकबाल नारायण ने पिनॉक एवं स्मिथ द्वारा दी गई परिभाषा को सर्वथा उचित बतलाते हुए कहा है कि *"राजनीति विज्ञान उन कार्यकलापों का अध्ययन करता है, जिनका सम्बन्ध उसके जीवन के राजनीतिक राज्य, सरकार, राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं आदि पहलुओं से होता है। यह महत्वपूर्ण है कि मनुष्य के जीवन का राजनीतिक* पहलू उनके अन्य पहलुओं को और अन्य पहलू उसके राजनीतिक पहलू को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।"

राजनीति विज्ञान की प्रकृति
(Nature of Political Science)

राजनीति विज्ञान नामकरण से प्रकट होता है कि इस विषय को विज्ञान माना जाता है किन्तु इस प्रश्न पर काफी विवाद है कि "क्या राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है?" विद्वानों का एक वर्ग इसे विज्ञान की श्रेणी में रखता है तथा दूसरा कला में। एक तीसरा वर्ग है जो इसे प्राकृतिक विज्ञान न मानकर, सामाजिक विज्ञान कहता है। हम इस बात का परीक्षण करेंगे कि इसे किस सीमा तक विज्ञान कहा जा सकता है परन्तु इसके पूर्व विभिन्न मतों का संक्षेप में उल्लेख कर राजनीति विज्ञान की प्रकृति सम्बन्धी मतभेद स्पष्ट करने चाहिए। जर्मन विद्वान् हाजेनडार्फ, रेजनडॉफर, ट्रीटस्के, वॉन मोहल आदि का यह दृढ़ मान्यता है कि राजनीति विज्ञान, विज्ञान है। अरस्तू ने इसे जहाँ 'सर्वोच्च विज्ञान' माना है, वहीं बर्नार्ड शॉ ने "मानवीय सभ्यता को सुरक्षित रखने वाला विज्ञान" कहा है। बोदाँ, हॉब्स, मॉन्टेस्क्यू, ब्राइस, ब्लशली, हरमन फाइनर, लास्की *आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को विज्ञान स्वीकार किया है, लेकिन बकल, काम्टे, मटलैण्ड, बियर्ड मोस्का, बर्क, ब्रोगन* आदि विद्वानों की मान्यता है कि इसे विज्ञान कहना उचित नहीं है।

बियर्ड का मत है कि "राजनीति का विज्ञान बनना न तो वांछनीय है और न ही सम्भव।" कैटलिन का कथन है *"अभी तक कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको किसी मान्य अर्थ में राजनीति विज्ञान कहा जा सके।"* मोस्का के अनुसार, "हम यह नहीं सोचते कि राजनीति विज्ञान ने अपनी वर्तमान दशाओं में अब तक वास्तविक रूप में वैज्ञानिक रंगमंच पर प्रवेश कर लिया है।" ब्रोगन के *अनुसार*, "राजनीति का विज्ञान से सीधा सम्बन्ध असामयिक और संदिग्ध है।" विद्वानों का तीसरा वर्ग इसे सीमित अर्थ में विज्ञान मानने को सहमत है। सर फ्रेडरिक पोलक ने कहा है कि "राजनीति के विज्ञान होने का अस्तित्व उसी अर्थ में और उसी सीमा तक है जैसे नैतिक विज्ञान का अस्तित्व है।"

विज्ञान क्या है?—अमेरिकन डिक्शनरी के अनुसार विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जो तथ्यों को व्यवस्थित रूप में एकत्रित करती है और सामान्य नियमों की खोज निकालने का प्रयत्न करती है। विज्ञान में प्रयोग, परीक्षण, सत्यापन का कार्य कर अन्त में भविष्यवाणी की जाती है। चेम्बर्स डिक्शनरी के अनुसार "वह ज्ञान जो पर्यवेक्षण और प्रयोग पर *आधारित हो, भली-भाँति परीक्षित तथा क्रमबद्ध हो और सामान्य सिद्धान्त में समाहित हो, विज्ञान कहलाता है।"* प्रत्येक विज्ञान अपने अन्वेषण के विषय, तथ्य एवं सामग्री के सम्बन्ध में दो प्रक्रियाएँ करता है—एक में कारण और दूसरे में प्रभावों का वर्णन किया जाता है और निष्कर्ष निकाला जाता है।

कला क्या है?—*कला ऐसा ज्ञान होता है जिसका* उद्देश्य मानव-जीवन को सुन्दर बनाना होता है। एक विद्वान् का कथन है—"सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की साधना कला है।" कला का उद्देश्य अतीत के जीवन का चित्रण करते हुए भविष्य के लिये मार्गदर्शन करना तथा उच्च आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना करना होता है।

राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं है—राजनीति विज्ञान को निम्न कारणों से विज्ञान नहीं माना जाता है—

(1) सर्वमान्य तथ्यों का अभाव—विज्ञान में तथ्यों पर मतैक्यता पाई जाती है, जैसे—गुरुत्वाकर्षण का नियम एवं $H_2 + O \rightarrow H_2O$ अर्थात् दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन मिलने पर पानी बन जाता है, लेकिन राजनीति विज्ञान के सभी नियमों एवं तथ्यों पर विद्वानों में गहरा मतभेद विद्यमान है।

(2) प्रयोग एवं परीक्षण का अभाव—विज्ञान में प्रयोग एवं परीक्षण किया जाना आवश्यक है, लेकिन राजनीति विज्ञान में मानव से सम्बन्धित अध्ययन किये जाने के कारण न तो नमूना (Sample) ही लिया जा सकता है और न ही किसी सिद्धान्त का प्रयोग बार-बार किया जा सकता है। ब्राइस (Bryce) ने लिखा है कि "भौतिक विज्ञानों में एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बार-बार प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु राजनीति में एक प्रयोग बार-बार नहीं दोहराया जा सकता है, क्योंकि उसी प्रकार की दशाएँ पुनः पैदा नहीं की जा सकतीं, जैसे—कोई एक ही नदी में पुनः नहीं गिर सकता।" मानव-प्रकृति की भिन्नता तथा परिस्थितियों की विविधता के कारण सिद्धान्त भी बदलते रहते हैं। मानवीय स्वभाव, विवेक, इच्छा, व्यवहार आदि सभी में भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

(3) कार्य-कारण सम्बन्धों का अभाव—विज्ञान में निश्चित कारण और परिणाम निकलता है। जैसे—कोई वस्तु ऊपर से फैंकें तो नीचे गिरेगी, लेकिन राजनीति विज्ञान में किसी निश्चित घटना के निश्चित कारण नहीं होते।

(4) भविष्यवाणी का अभाव—पदार्थ विज्ञान के अध्ययन के आधार पर निश्चित भविष्यवाणी की जा सकती है, क्योंकि इसमें प्रयोग एवं परीक्षण सम्भव है। राजनीति विज्ञान में किसी भी रूप में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

(5) मानवीय स्वभाव की परिवर्तनशीलता—राजनीति विज्ञान में ही नहीं वरन् सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिकता का महत्वपूर्ण बाधक तत्व मानवीय स्वभाव की परिवर्तनशीलता है इसीलिए इसमें प्रयोग, परीक्षण, कार्य-कारण सम्बन्ध, भविष्यवाणी आदि सम्भव नहीं है।

(6) आत्मपरकता—राजनीति विज्ञान के अध्ययन में अध्ययनकर्ता आत्मपरक दृष्टिकोण रखता है, जबकि प्राकृतिक विज्ञानों में अनुसंधानकर्ता का दृष्टिकोण वस्तुपरक होता है।

(7) वस्तुनिष्ठ अध्ययन का अभाव—विज्ञान का अध्ययन वस्तुनिष्ठ (Objective) तरीके से किया जाता है। राजनीति विज्ञान का अध्ययन आत्मनिष्ठ (Subjective) ढंग से होता है, क्योंकि इसमें मानव तटस्थ नहीं रह सकता। पदार्थ के अध्ययन में अनुसन्धान का अपना व्यक्तित्व एवं मूल्य कोई महत्व नहीं रखता, लेकिन राजनीति विज्ञान को अनुसंधानकर्ता का व्यक्तित्व, दृष्टिकोण, शिक्षा, सामाजिक वातावरण आदि प्रभावित कर सकते हैं।

(8) राजनीति विज्ञान के अर्थ एवं नामकरण पर मतभेद—राजनीति विज्ञान के अर्थ और नामकरण पर ही राजनीति विज्ञान के विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। यह कहा जाता है कि इसकी उतनी ही परिभाषाएँ हैं, जितने विषय के विद्वान्। विषय को सम्बोधित करने के लिए 'राजनीति शास्त्र', 'राजनीति दर्शन', 'राजनीति विज्ञान' आदि नामों का प्रयोग किया जाता है।

विद्वान् मानते हैं कि राजनीति विज्ञान को विज्ञान नहीं माना जा सकता। काम्टे (Comte) का मत है कि "राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ उसकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इसमें उन तत्वों का अभाव है जिनके आधार पर भविष्य के लिए सही निष्कर्ष निकाले जा सकें।" बर्क ने व्यंग्यात्मक रूप में कहा है कि "जिस प्रकार हम सौन्दर्य विज्ञान को विज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते, उसी प्रकार राजनीति विज्ञान को भी विज्ञान नहीं कहा जा सकता।"

राजनीति विज्ञान, विज्ञान के रूप में (Political Science as a Science)

राजनीति विज्ञान को तथा सामाजिक विज्ञानों को प्राकृतिक विज्ञानों की तरह विज्ञान नहीं माना जा सकता, लेकिन अरस्तू, बोदाँ, हॉब्स, मॉंटेस्क्यू, लेविस, ब्लशली, जैलीनेक, गार्नर जैसे विद्वान् इसे सामाजिक विज्ञान स्वीकार करते हैं। सर फ्रेडरिक पोलक ने कहा है कि "जिस प्रकार नैतिकता एक विज्ञान है, उसी भाव में और उसी तरह अथवा उसी सीमा तक राजनीति विज्ञान भी विज्ञान है।" ब्राइस ने राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानते हुए कहा है कि "राजनीति विज्ञान उसी अर्थ में विज्ञान है जिस अर्थ में ऋतु विज्ञान है।" ये विद्वान् अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) सर्वमान्य तथ्य—राजनीति विज्ञान में अनेक तथ्य ऐसे हैं, जिन पर विद्वानों में एकमत है, जैसे—प्रजातन्त्र शासन अन्य शासनों से श्रेष्ठ है, न्यायाधीश स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष हो, स्थायी कर्मचारियों की नियुक्ति निष्पक्ष निकाय द्वारा हो आदि। इस प्रकार राजनीति शास्त्र में बहुत से सर्वमान्य तथ्यों का विकास हो चुका है। मुनरो ने ठीक कहा है कि "आज बहुत से राजनीतिक विचार जिन्हें हम संयोग या मानव प्रयास की उपज समझते हैं, वस्तुतः राजनीतिक नियम के तुल्य हैं।" लॉर्ड ब्राइस के मतानुसार, "मानव-प्रकृति की प्रवृत्तियों में एकरूपता तथा समानता पाई जाती है, जिसकी सहायता से यह पता लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होकर मनुष्य बहुधा एक ही प्रकार से कार्य करता है।"

(2) प्रयोग का परीक्षण सम्भव—राजनीति विज्ञान में प्रयोग एवं परीक्षण प्राकृतिक विज्ञानों की तरह सम्भव नहीं है, लेकिन राजनीति विज्ञान में अपनी तरह से प्रयोग एवं परीक्षण होते रहते हैं। गार्नर ने लिखा है कि "प्रत्येक नये कानून का निर्माण, संस्था की स्थापना और प्रत्येक नीति का प्रारम्भ इस दृष्टि से एक प्रयोग ही होता है कि यह उस समय तक अस्थायी या प्रस्ताव रूप में समझा जाता है जब तक परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध न कर दें।" पर्यवेक्षण के आधार पर राजनीति शास्त्र में अनेक निष्कर्ष निकलते हैं। मॉटेस्क्यू ने 'Spirit of Laws' और ब्राइस ने 'Modern Democracy' नामक पुस्तक की रचना पर्यवेक्षण के आधार पर की है।

(3) कार्य-कारण सम्बन्ध सम्भव—यद्यपि राजनीति विज्ञान में कार्य-कारण सम्बन्धों की स्थापना प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकती, लेकिन विशिष्ट घटनाओं के अध्ययन के बाद कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। अरस्तू ने अपने महान ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में क्रान्तियों के सामान्य और विशिष्ट कारण दिए हैं और विश्व की अधिकांश क्रान्तियों के पीछे वे कारण विद्यमान रहे हैं—राज्य की शक्ति पर कुछ नियन्त्रण होना चाहिए, राज्य का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होना चाहिए। लोकतन्त्र शासन में जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहती है आदि सभी निष्कर्ष कार्य-कारण पद्धति से निकले हैं। गार्नर के अनुसार, "प्रत्येक नये कानून का निर्माण, नई संस्था की स्थापना और नई बात का प्रारम्भ एक प्रयोग ही होता है, क्योंकि उस समय तक वह अस्थायी समझा जाता है जब तक परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध न कर दें।"

(4) भविष्यवाणी सम्भव—चिकित्सा विज्ञान और मौसम विज्ञान की भविष्यवाणी कभी-कभी गलत निकल जाती है, फिर भी उन्हें विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। अतः राजनीति विज्ञान की भविष्यवाणी भी कभी गलत निकल जाए तो इसका अर्थ यह नहीं है कि इसे विज्ञान नहीं मानें। डॉ. हरमन फाइनर ने लिखा है, "हम निश्चयपूर्वक भविष्यवाणी नहीं कर सकते, परन्तु सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर सकते हैं।" इसलिए लॉर्ड ब्राइस ने राजनीति विज्ञान की तुलना अन्तरिक्ष विज्ञान जैसे अविकसित तथा अपूर्ण विज्ञान से की है।

(5) क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित विषय—राजनीति विज्ञान क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित विषय के रूप में विकसित हो चुका है। इसमें राज्य सरकार, राजनीतिक संस्थाओं के विचारों आदि का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है।

अतः राजनीति विज्ञान को एक आदर्शात्मक विज्ञान कहा जा सकता है।

राजनीति विज्ञान कला के रूप में (Political Science as an Art)

राजनीति विज्ञान को सभी विद्वान कला स्वीकार करते हैं, फिर चाहे बकल जैसे विद्वान् इसे पिछड़ी हुई कला के रूप में ही स्वीकार करते हों। ब्लांशली ने लिखा है, "राजनीति विज्ञान विज्ञान की अपेक्षा एक कला अधिक है। इसका काम राज्य के सम्बन्धों में व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन करना है।" कला के माध्यम से किसी भी वस्तु को सुन्दरतम् रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान कला है, क्योंकि राज्य प्रत्यक्ष में है, कल्याणकारी है और मानवीय जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयास भी करता है।

राजनीति विज्ञान सर्वोच्च जीवन तथा किसी ज्ञान को प्रयोगात्मक रूप देने की एक श्रेष्ठ कला है। राजनीति विज्ञान मनुष्य द्वारा उपार्जित ज्ञान को राज्य के निर्माण में लगाता है। राजनीति विज्ञान द्वारा हम मानव के राजनीतिक जीवन का सुन्दर चित्रण कर सकते हैं।

निष्कर्ष—इस प्रकार राजनीति विज्ञान वस्तुतः कला और विज्ञान दोनों की श्रेणी में आता है। यह मानना निराधार है कि राजनीति विज्ञान मात्र कला की श्रेणी में आता है, क्योंकि विज्ञान एवं कला में कोई अन्तर्विरोधी नहीं होता। विलियम एस्लिंगर के अनुसार, "विज्ञान और कला का परस्पर विरोधी होना जरूरी नहीं है, क्योंकि कला विज्ञान पर आधारित हो सकती है।" केटलिन राजनीति विज्ञान को 'कला, दर्शन और विज्ञान' तीनों मानता है। लासवेल के मतानुसार, "राजनीति विज्ञान, कला, विज्ञान और दर्शन का एक संगम है।"

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र
(Scope of Political Science)

परिभाषा की भाँति राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को भी लेखकों ने विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। उदाहरणार्थ, ब्लांशली के अनुसार, "राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य के आधारों से है, अतः यह उसकी आवश्यक प्रकृति, विभिन्न स्वरूपों, अभिव्यक्तियों एवं उसके विकास का अध्ययन करता है।" गार्नर के अनुसार, "राजनीति शास्त्र का विषय-क्षेत्र तीन भागों में विभाजित है—प्रथम, राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति का अनुसंधान; द्वितीय, राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप और उनके इतिहास तथा रूपों की खोज एवं तृतीय, उपर्युक्त खोज तथा गवेषणा के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमों का यथासम्भव अनुमान लगाना।" फ्रेडरिक पोलक के अनुसार, "राजनीति विज्ञान के दो भाग होते हैं—सैद्धान्तिक राजनीति

विज्ञान और व्यावहारिक राजनीति विज्ञान। प्रथम भाग में राज्य के मूल तत्वों, सिद्धान्तों और आदर्शों पर विचार किया जाता है जबकि दूसरे भाग में उन साधनों का विवेचन होता है जिनके द्वारा राज्य अपनी शक्ति को अभिव्यक्त और प्रयुक्त करता है।" गिलक्राइस्ट ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में तीन तत्वों पर बल दिया है—"(i) राज्य का वर्तमान स्वरूप, (ii) राज्य का ऐतिहासिक स्वरूप एवं (iii) राज्य का भावी स्वरूप।" विलोबी ने माना है कि "राजनीति विज्ञान तीन बातों पर विचार करता है—राज्य, प्रशासन तथा विधि।"

राजनीति विज्ञान की क्षेत्र सम्बन्धी परिभाषाओं से हमारे समक्ष तीन विचारधाराएँ आती हैं—(1) इस विचारधारा के अनुसार केवल राज्य, (2) केवल सरकार और (3) राज्य तथा सरकार दोनों का अध्ययन। किन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि परिभाषा की भाँति राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में हम मानव-तत्वों की उपेक्षा नहीं कर सकते अतः राजनीति विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में राज्य, सरकार एवं मनुष्य तीनों ही आते हैं।

राज्य का अध्ययन—राजनीति विज्ञान राज्य का सर्वांगीण और सर्वकालिक अध्ययन है। इसमें राज्य के अतीत, वर्तमान और भावी तीनों स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में राज्य का वर्तमान स्वरूप, संगठन, औचित्य, उद्देश्य, कार्यक्षेत्र आदि शामिल हैं। राज्य के स्वरूप के अन्तर्गत राजतन्त्र, प्रजातन्त्र आदि सरकारों की विवेचना की जाती है। सरकार के संगठन की दृष्टि से विभिन्न अंगों और उनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों का अध्ययन इसमें सम्मिलित है। कार्यक्षेत्र की दृष्टि से व्यक्तिवादी, समाजवादी, गाँधीवादी आदि विभिन्न सिद्धान्त राजनीति विज्ञान का विषय हैं। इस प्रकार देश का कुशल प्रशासन, स्थानीय स्वशासन तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, कूटनीति, सन्धि-समझौते, विश्व-शान्ति आदि से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन राजनीति विज्ञान में किया जाता है। राज्य के तात्कालिक स्वरूप और संगठन से मनुष्य को सन्तोष नहीं होता अतः प्रारम्भ से ही वह आदर्श राज्य का स्वप्न लेता रहा है। प्लेटो, अरस्तू, मूर आदि ने आदर्श राज्य का चित्रण किया है।

सरकार का अध्ययन—सरकार वह उपकरण है जो राज्य के स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति करता है। राज्य अमूर्त वस्तु है और सरकार उसका मूर्त रूप, अतः सरकार के अध्ययन के अभाव में राज्य का अध्ययन कोई महत्व नहीं रखता। राजनीति विज्ञान में सरकार के विभिन्न अंगों, उनके संगठन, कार्यक्षेत्र, उन अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध, राजनीतिक दल, जनमत, स्थानीय शासन तथा दबाव-गुटों (Pressure Groups) का विवेचन भी किया जाता है।

मनुष्य का अध्ययन—राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत मनुष्य के अधिकारों, राज्य के प्रति उसके कर्तव्यों, मनुष्य तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के वे क्रिया-कलाप, जिनका सम्बन्ध राज्य और शासन से है, इस विषय की अध्ययन सामग्री हैं। *राज्य मानव प्रगति का सूचक है। राजनीति विज्ञान में परिवर्तन, विकास,* सामाजिक एवं बौद्धिक वातावरण आदि का क्रम भी ध्यान में रखना पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं सम्बन्धों का अध्ययन—राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार के सर्वांगीण अध्ययन के साथ-साथ मानव-तत्व और आधुनिक वातावरण का अध्ययन करता है। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साईसेज में हरमन हेलर ने अपने 'Political Science' नामक लेख में राजनीति विज्ञान की प्रतिपाद्य सामग्री का विवेचन करते हुए लिखा है कि "आज राजनीति विज्ञान में प्रधानतः राजनीतिक शक्ति की पूर्ति, उसके दृढ़ीकरण और वितरण की समस्या एवं इन प्रक्रियाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है, जिनके द्वारा भौगोलिक, जलवायु सम्बन्धी, जातीय, सांस्कृतिक, आर्थिक, सैनिक, नैतिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय वातावरण और कानून के अनुसार जनशक्ति राज्य-सत्ता का स्वरूप धारण करती है। इसमें महत्वपूर्ण राजनीतिक समुदायों, विशेषकर राजनीतिक दलों के संगठन और कार्यों का वर्णन एवं विश्लेषण किया जाता है।"

सन् 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ के यूनेस्को (UNESCO) के एक सम्मेलन में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र पर विचार किया गया था। यूनेस्को के अनुसार राजनीति विज्ञान का विषय-क्षेत्र निम्नांकित प्रमुख चार शाखाओं में विभाजनीय माना गया है—

(1) राजनीतिक सिद्धान्त (Political Theory) में राजनीतिक विचारों का इतिहास तथा राजनीतिक सिद्धान्त सम्मिलित हैं।

(2) राजनीतिक संस्थाएँ (Political Instutions) में संविधान, राष्ट्रीय सरकार, प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन और तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएँ सम्मिलित हैं।

(3) राजनीतिक दल (Political Parties) में राजनीतिक दलों, समुदाय, जनमत, दबाव समूह, सरकार एवं प्रशासन में जनता के योगदान आदि का अध्ययन निहित है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (International Relations) में *अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय* संस्थाएँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्मिलित हैं।

राजनीति विज्ञान की परिभाषा एवं क्षेत्र के परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण में अन्तर

(1) परम्परागत दृष्टिकोण मूल्यों पर आधारित है तथा उसमें व्यक्तिनिष्ठता है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण में मूल्यों की उपेक्षा की जाती है और यह वस्तुनिष्ठ है। (2) परम्परागत दृष्टिकोण आदर्शात्मक है, किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण यथार्थवादी है। (3) परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीतिक संस्थाओं पर बल दिया जाता है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण में व्यक्तियों के व्यवहार पर बल दिया जाता है। (4) आधुनिक दृष्टिकोण अन्तःविषयी उपागम (Inter-Disciplinary Approach) अपनाता है, जबकि परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक अध्ययन तक सीमित है। (5) आधुनिक एवं परम्परागत दृष्टिकोण क्रमशः प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं पर बल देते हैं। (6) परम्परागत दृष्टिकोण कल्पना पर आधारित है, किन्तु आधुनिक दृष्टिकोण में वैज्ञानिक पद्धति अपनाई जाती है।

रोलां पिनॉक एवं डेविड स्मिथ का मत है कि—"ये दोनों विचारधाराएँ राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु के दो पहलू मात्र हैं।"

नाम विभेद (Terminological Distinctions)

राजनीति विज्ञान के नामकरण पर प्रचण्ड मतभेद है। इसे राजनीति (Politics), राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy) तथा राजनीति विज्ञान (Political Science) आदि नामों से पुकारा गया है। राजनीति विज्ञान ही सर्वमान्य है तथापि यह देखना आवश्यक है कि विभिन्न नामों के अर्थ में क्या अन्तर है और इस विज्ञान को राजनीति विज्ञान ही क्यों कहा जाये।

राजनीति (Politics)

प्राचीन काल में 'राजनीति' शब्द का प्रचलन था। अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'राजनीति' (Politics) रखा था। प्राचीन यूनान के निवासियों के लिए राजनीति अर्थात् नगर-राज्य का वैज्ञानिक अर्थ राज्य एवं शासन का विज्ञान था और इस शब्द से राजनीति विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का बोध होता था। यद्यपि जैलिनेक, होल्जनडोर्फ, सिजविक आदि कुछ आधुनिक लेखकों ने भी 'राजनीति' नाम प्रयुक्त किया है, तथापि इस शब्द का प्रयोग केवल व्यावहारिक राजनीति के लिए किया जाता है, जिसका अर्थ होता है—शासन सम्बन्धी नीति, चुनाव-प्रशासन आदि का अध्ययन। राजनीति शब्द में चालाकी, तोड़-फोड़, दलीय संगठन, नेतृत्व आदि की भावना निहित है, संगठित अध्ययन का भाव नहीं है। प्रचलित रूप में हम राजनीतिज्ञ उस व्यक्ति को कहते हैं जो शासन की तत्कालीन समस्याओं में विशेष रुचि प्रकट करता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह राजनीति विज्ञान का ज्ञाता हो अतः राजनीति (Politics) में प्रशासकीय क्रियाओं का वर्णन किया जाता है जबकि राजनीति विज्ञान (Political Science) उस सम्पूर्ण विषय का नाम है जिसके अन्तर्गत राज्य सरकार और मनुष्यों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन विभिन्न पहलुओं के अन्तर्गत किया जाता है।

कतिपय लेखक राजनीति को दो भागों, यथा—सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics) और अनुप्रयुक्त राजनीति (Applied Politics) में विभाजित करने के पक्ष में हैं। फ्रेडरिक पोलक (Fredrick Pollack) ने राजनीति शब्द का व्यापक प्रयोग करते हुए इसका वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार से किया है—

सैद्धान्तिक राजनीति	व्यावहारिक राजनीति
(क) राज्य सिद्धान्त (राज्य के मूल तत्व, गुण, धर्म, उत्पत्ति एवं आदर्श आदि की व्याख्या तथा विवेचना)।	(क) राज्य का व्यावहारिक तथा वास्तविक रूप और शासन व्यवस्था का अध्ययन।
(ख) सरकार के सिद्धान्त (शासन सम्बन्धी संस्थाओं, विभाग व्यवस्था, विधि, राजस्व आदि के सिद्धान्तों का अध्ययन)।	(ख) शासन के वास्तविक और व्यावहारिक रूप का अध्ययन, सरकार की कार्य-प्रणाली का वर्णन और विवेचन।
(ग) विधि निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त (कानून की उत्पत्ति, उद्देश्य, विकास आदि की व्याख्या)।	(ग) विधि और विधि निर्माण प्रणाली, अदालतें आदि।
(घ) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धान्त।	(घ) व्यक्तिगत रूप में राज्य का सिद्धान्त (कूटनीति, शांति, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध)।

राजनीतिक दर्शन (Political Philosophy)

कतिपय विद्वान् राजनीति को 'राजनीतिक दर्शन' कहते हैं, किन्तु प्रो. गिलक्राइस्ट के अनुसार, "राजनीतिक दर्शन शब्द बहुत संकुचित है।" उनके मत में राजनीतिक दर्शन सम्पूर्ण राजनीति नहीं है तथा केवल राज्य की प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्तों, नागरिकता, कर्तव्य और अधिकारों के सैद्धान्तिक पक्ष पर राजनीतिक आदर्शों से सम्बन्ध रखता है। इस मान्यता को स्वीकार करने पर जो विषय सामग्री राजनीति विज्ञान की है, वह राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत नहीं आती। गिलक्राइस्ट के अनुसार, "राजनीतिक दर्शन एक दृष्टि से राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है, क्योंकि राजनीतिक दर्शन की मौलिक मान्यताओं पर राजनीति विज्ञान आधारित है। राजनीतिक दर्शन को बहुत-सी ऐसी सामग्री का प्रयोग करना पड़ता है जो उसे राजनीति शास्त्र से प्राप्त होती है अतः इन दोनों में विभाजन नहीं किया जा सकता, परन्तु आधुनिक प्रथा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान का अर्थ स्पष्ट है, जबकि राजनीतिक दर्शन के अर्थ में वह स्पष्टता नहीं आ पाई है।" जे. एच. हैलोवेल (J. H. Hellowel) के अनुसार, "राजनीतिक दर्शन की दिलचस्पी इसमें नहीं है कि तथ्य कैसे घटित होते हैं जितनी इसमें कि राजनीति में क्या घटित होता है और क्यों?" सिजविक के अनुसार, "राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतः कुछ मनोवैज्ञानिक आधारों पर पारस्परिक सम्बन्धों की उस व्यवस्था के निर्माण करने से है जो सभ्य मानव के समाज में होना चाहिए।" राज्य का कार्यक्षेत्र क्या हो, इस विषय पर जो विचारक मनन करते और निष्कर्ष निकालते आये हैं, वे राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्त कहे जाते हैं। व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकतावाद आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

राजनीति विज्ञान और राजनीतिक दर्शन में अन्तर है, परन्तु इस विभेद को स्पष्ट करना कठिन है। वर्तमान परिस्थितियों में राजनीति विज्ञान अधिक व्यापक है और इसका अर्थ सुनिश्चित बन चुका है, इसलिए राज्य सम्बन्धी अध्ययन को राजनीति विज्ञान कहना उचित है।

राजनीति विज्ञान (Political Science)

राजनीति अथवा राजनीतिक दर्शन की अपेक्षा 'राजनीति विज्ञान' शब्द अधिक उपयुक्त है। इससे राज्य सम्बन्धी सभी पहलू के ज्ञान का बोध होता है। इसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति दोनों ही सम्मिलित हैं। सैद्धान्तिक पक्ष से इसका सम्बन्ध राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य आदि से है जबकि व्यावहारिक पक्ष से इसका सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं के संगठन तथा उनके कार्यों से है। डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, "राजनीति शास्त्र शब्द के अभिप्राय में एक ऐसी व्यापकता एवं सुनिश्चितता है जो राजनीतिक दर्शन में नहीं पाई जाती, इसलिए राज्य सम्बन्धी कार्यों के अध्ययन को राजनीति शास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान कहना उचित समझते हैं।"

राजनीति विज्ञान, राजनीतिक दर्शन एवं राजनीतिक सिद्धान्त में भेद

(Distinction between Political Science, Political Philosophy & Political Theory)

'राजनीति शास्त्र' अथवा 'राजनीतिक विज्ञान' के नामकरण पर पर्याप्त मतभेद हैं। समाज विज्ञानों में राजनीतिक विज्ञान ही एक ऐसा विज्ञान है जिसकी कोई निश्चित एवं स्पष्ट शब्दावली नहीं है। इसकी शब्दावली की विविधता, अनिश्चितता एवं अस्पष्टता के कारण इस विषय को समझने में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई हैं। जेलेनिक के अनुसार, "ऐसा कोई विज्ञान नहीं जिसे एक अच्छी शब्दावली की इतनी आवश्यकता हो जितनी कि राजनीति विज्ञान को इसकी शब्दावली ऐसी है जो शिक्षित व्यक्तियों को भी समझ में नहीं आती। इन नामभेदों का सही अर्थ जाने बिना यह निश्चित करना कठिन है कि 'राजनीति विज्ञान' को कौनसा नाम देना उपयुक्त होगा? अतः इन नामभेदों की व्याख्या कर उनका 'राजनीति विज्ञान' से भेद स्पष्ट करना उचित है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन करते समय राजनीतिक विचारकों के उन सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है जो राजनीतिक प्रक्रियाओं और समस्याओं को समझने में सहायक होते हैं। ये विद्वान् इस विषय को 'राजनीतिक सिद्धान्त' के नाम से पुकारते हैं। उनका मत है कि यह विषय राजनीतिक जीवन के तथ्यों का अध्ययन न कर उनके आधार पर सामान्य नियमों के निर्धारण का प्रयास करता है। इसका उद्देश्य राजनीतिक बुद्धिमत्ता की खोज करना है। इनका तर्क है कि यह विषय महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारों का विवेचन सत्यान्वेषण की दृष्टि से करता है और हमारे समक्ष ऐसे नैतिक मूल्यों तथा मान्यताओं को प्रस्तुत करता है जिनके आधार पर हम समाज के राजनीतिक कार्यों एवं कर्तव्यों का निर्णय कर, उनकी सफलता एवं विफलता का मूल्यांकन कर सकते हैं अतः यह विषय 'राजनीतिक सिद्धान्त' के नाम से पुकारा जाना चाहिए, किन्तु 'राजनीतिक सिद्धान्त' की समीक्षा करते हुए कॉम्टे (Comte) का कथन है कि "राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ उनकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इसमें विकास की निरन्तरता का अभाव है। इसमें उन तत्त्वों का अभाव है जिनके आधार पर भविष्य के लिये ठीक निष्कर्ष निकाले जा सकें।" एस. एन. दुबे के अनुसार, "राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक दर्शन से तत्वतः भिन्न है। दर्शन मूल्यों

से सम्बन्धित आधारभूत समस्याओं की विवेचना करता है। उसके अन्तर्गत विभिन्न मूल्यात्मक सिद्धान्तों के मध्य तार्किक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। उसके सिद्धान्तों अथवा निष्कर्षों का सम्बन्ध तात्कालिक तथ्यों अथवा घटनाओं से नहीं होता। सिद्धान्त की प्रकृति इससे भिन्न होती है। वास्तविक घटनाओं अथवा तथ्यों के विश्लेषण से जो सामान्यीकरण (सामान्य नियम) निकाले जाते हैं, सिद्धान्त कहलाते हैं। किसी सिद्धान्त का अनुभव के आधार पर अथवा वैज्ञानिक तरीके से परीक्षण किया जा सकता है। उन सिद्धान्तों के आधार पर घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की जा सकती है। किसी सिद्धान्त को सिद्ध अथवा असिद्ध किया जा सकता है, किन्तु किसी दार्शनिक सिद्धान्त का परीक्षण नहीं किया जा सकता। इसे या तो स्वीकार कर लिया जाये अथवा त्याग दिया जाये।"

अतः गिलक्राइस्ट के अनुसार, *"विवेक तथा प्रयोग के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है।"* अधिकांश विद्वान् इस विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही सर्वाधिक उपयुक्त समझते हैं।

राजनीतिक सिद्धान्त के अध्ययन के उपागम
(Approaches to the Study of Political Theory)

वस्तुतः राजनीति विज्ञान की परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों का मतभेद है। इसी मत-भिन्नता के कारण इन विद्वानों ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन हेतु विभिन्न दृष्टिकोणों या उपागमों (Approaches) का अनुसरण एवं समर्थन भिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है। आगस्ट काम्टे, मिल, ब्लशली, ब्राइस, ब्लसेन्ट आदि विद्वानों का प्रयास इस दिशा में उल्लेखनीय रहा है। इन अध्ययन-उपागमों को कतिपय विद्वान् दो भागों में विभाजित करते हैं—(1) आगमनात्मक उपागम (Inductive Approach) तथा (2) निगमनात्मक या आदर्शमूलक उपागम (Deductive or Normative Approach) जबकि अन्य विद्वान् इन्हें दो पृथक् वर्गों में विभक्त करते हैं—(1) परम्परागत (Traditional), (2) आधुनिक (Modern) या समकालीन (Contemporary)।

परम्परागत उपागम
(Traditional Approaches)

परम्परागत प्रमुख उपागम हैं—दार्शनिक, कानूनी, अवलोकनात्मक, ऐतिहासिक एवं प्रयोगात्मक। परम्परावादी दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के संस्थात्मक पहलू पर बल दिया जाता है, आधुनिक अध्ययन उपागम में मानव-व्यवहार को महत्त्व दिया जाता है। आधुनिक उपागमों में प्रमुख हैं—(1) मनोवैज्ञानिक (Psychological) उपागम, (2) मानवीय या आदर्शमूलक (Normative) उपागम (3) संरचनात्मक प्रकार्यात्मक (Structural Functional) उपागम तथा (4) व्यवहारवादी (Behavioural) उपागम। डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार—"राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है तथापि यह प्राकृतिक विज्ञानों की तरह सुनिश्चित विज्ञान नहीं है। *वैज्ञानिक स्वरूप की यह अनिश्चितता उसकी अध्ययन पद्धतियों में भी पाई जाती है।"*

1. आदर्शमूलक या मानवीय तथा दार्शनिक उपागम
(Normative or Humanistic & Philosophical Approach)

अर्थ एवं व्याख्या

आदर्शमूलक उपागम को मानवीय तथा दार्शनिक उपागम भी कहा जाता है। पद्धति या विधि की दृष्टि से इसे निगमनात्मक उपागम (Deductive Approach) माना जाता है। निगमनात्मक उपागम में सामान्य सिद्धान्तों या मान्यताओं के सत्य होने की कल्पना पूर्व में ही कर ली जाती है और इन्हें विशिष्ट परिस्थितियों में प्रयुक्त कर निष्कर्ष निकाले जाते हैं, *अतः इस उपागम में हम सामान्य सिद्धान्त से विशिष्ट की ओर अग्रसर होते हैं।*

इसमें तर्क एवं कल्पना का अधिक आश्रय लिया जाता है। इसमें पूर्व मान्यताओं को सत्य मानकर विशिष्ट राजनीतिक संस्थाओं पर उन्हें लागू कर अपने मानकों (Norms) का औचित्य सिद्ध किया जाता है जैसे—राज्य की आदर्श कल्पना कर उसे वर्तमान राज्य के संदर्भ में उचित सिद्ध करना। इस उपागम के अनुसरण करने वालों में प्लेटो, थॉमस मूर, रूसो, मिल, सिजविक, ब्रेडले, बोसांके आदि प्रमुख हैं। प्लेटो की *'रिपब्लिक' (Republic)* तथा थॉमस मूर की *'यूटोपिया' (Utopia)* राजनीति विज्ञान के आदर्शमूलक उपागम के उदाहरण हैं। प्लेटो ने एक काल्पनिक आदर्श राज्य की और थॉमस मूर ने स्वर्गिक राज्य का चित्रण कर उन्हें आदर्श माना है। इस उपागम का अनुप्रयोग 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी एवं आदर्शवादी विचारकों ने किया था। आधुनिक युग में रूसो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, अरविन्द आदि दार्शनिकों ने इस उपागम का अनुसरण किया है। *आदर्शमूलक उपागम में जीवन की वास्तविकता की पूर्ण उपेक्षा की जाती है।* इससे राजनीति विज्ञान के अध्ययन में नैतिकता का समावेश हो जाता है। इस उपागम पर सर्वाधिक आग्रह सिजविक तथा सेट ने किया है। सिजविक के अनुसार, "राजनीति विज्ञान का प्राथमिक उद्देश्य आदर्श को निर्धारित करना

और भविष्य के लिये मार्गदर्शन करना है।" सेट के अनुसार, "जीवन की सामान्य क्रियाओं में व्यस्त लोगों के लिए प्लेटो एक उत्तम निदान है।"

आदर्शमूलक उपागम के लाभ (Merits of Normative Approach)

यह विवेक एवं तर्क पर आधारित होने के कारण बुद्धि को विकसित करता है। इसमें वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं पर पूर्व कल्पित मान्यताओं को सत्य मानकर प्रयुक्त किया जाता है तथा इन संस्थाओं के दोष बतलाये जाते हैं तथा उनके निराकरण प्रस्तुत किये जाते हैं। यह कार्य तर्क और विवेक पर आश्रित होता है जिससे बुद्धि विकसित होती है। दूसरे वर्तमान राजनीति एव राजनीतिक संस्थाओं में इस उपागम से नैतिकता का समावेश होता है, क्योंकि कल्पित आदर्श नैतिक होते हैं।

आदर्शमूलक उपागम के दोष, त्रुटियाँ एवं परिसीमाएँ (Demerits, Errors and Limitations of Normative Approach)

इस उपागम की त्रुटि यह है कि इसमें प्रयुक्त पूर्व धारणाएँ एवं आदर्श काल्पनिक होते हैं और उनका व्यावहारिक जीवन से कम सम्बन्ध होता है, इसलिए सीले और जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस उपागम को अशुद्ध और त्याज्य माना है। लास्की के अनुसार, "किसी भी प्रकार की पूर्व में कल्पित राजनीति आगे चल कर अवश्य ही भग हो जाती है, क्योंकि उसका आरम्भ ही सुविचारित नहीं होता।" ब्लशली के अनुसार, "यह उपागम केवल कल्पना पर आधारित है जिसका तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं।" प्लेटो की राज्य की कल्पना या थॉमस मूर की स्वर्गिक कल्पना व्यवहारवादी नहीं है, अतः आदर्शमूलक उपागम के प्रयोग में इसकी परिसीमाओं के कारण गलत निष्कर्ष निकलने की आशंका रहती है। आदर्शों के प्रयोग से निष्कर्ष व्यावहारिक तथ्यों के विपरीत निकल जाते हैं जिसके कारण इस उपागम की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। इस उपागम में मूल्यों का आश्रय लिया जाता है जिसके कारण तटस्थता एवं वस्तुनिष्ठता के अभाव में इसमें वैज्ञानिकता नहीं आ पाती। आत्मपरक (Subjective) दृष्टिकोण के कारण यह निष्पक्ष उपागम नहीं है।

आदर्शवादी उपागम की त्रुटियों का निराकरण

इसका उपयोग अन्य वैज्ञानिक पद्धतियों के साथ किया जाना चाहिए। व्यवहारवादी उपागम के साथ इसका सीमित प्रयोग अपेक्षित है। इस उपागम से वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में आदर्शों, मूल्यों एवं सद्व्यवहार का समावेश तभी हो सकता है जब वर्तमान तथ्यों को दृष्टिगत रखा जाये। समुचित अनुप्रयोग द्वारा आदर्शवादी उपागम राजनीतिक व्यवस्था की वास्तविकता की पुनर्रचना करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

2. ऐतिहासिक उपागम
(Historical Approach)

अर्थ एव व्याख्या

सर फ्रेडरिक पोलक ने ऐतिहासिक उपागम का अर्थ एवं व्याख्या करते हुए कहा है—"ऐतिहासिक उपागम में यह खोज की जाती है कि संस्थाओं का क्या रूप रहा है एवं उनका क्या रूप बनता जा रहा है और इस प्रयास में वह संस्थाओं के वर्तमान स्वरूप की व्याख्या करने की अपेक्षा यह अधिक ध्यान रखती है कि उनका भूतकालीन स्वरूप क्या था तथा वर्तमान स्वरूप कैसे निर्मित हुआ?" यह कथन राजनीति विज्ञान के अध्ययन के रूप में ऐतिहासिक उपागम को अपनाने का औचित्य प्रकट करता है। राजनीति विज्ञान में इसका विवेचन किया जाता है कि राज्य क्या था, वह क्या है और क्या होगा? इस दृष्टि से वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के विवेचन हेतु अतीत का अध्ययन करना अपरिहार्य हो जाता है, अतएव इस उपागम का प्रयोग वर्तमान की तुलना भविष्य से करने हेतु किया जाना वांछनीय है।

गिलक्राइस्ट के अनुसार, "इतिहास न केवल संस्थाओं की व्याख्या करता है वरन् यह भविष्य के पथ-प्रदर्शन हेतु निष्कर्ष प्राप्त करने में भी सहायक होता है। यह वह धुरी है जिसके चारों ओर राजनीति विज्ञान की आगमनात्मक और निगमनात्मक दोनों प्रक्रियाएँ कार्य करती हैं।" यह कथन ऐतिहासिक उपागम का समर्थन करता है। लास्की (Laski) ने तो यहाँ तक कहा है कि—"सम्पूर्ण राजनीति इतिहास का ही दर्शन है।" अतीत की घटनाएँ असम्बद्ध रूप से घटित नहीं होती, बल्कि अनवरत चलने वाली अटूट शृंखला के रूप में घटित होती हैं जिनके आधार पर भविष्य के पथ-प्रदर्शन हेतु निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जिम्मर्न (Zimmern) के अनुसार, "यह भूत का संपर्क है जो मनुष्यों और समाजों को वर्तमान कार्यों के लिए तैयार करता है। वर्तमान भौतिक चिन्ताओं और जटिलताओं के कारण तनावपूर्ण होता जायेगा, भूत से प्रेरणा प्राप्त करने की आवश्यकता बढ़ती जायेगी।" इस प्रकार राजनीति विज्ञान के ऐतिहासिक अध्ययन से अतीत के प्रकाश में वर्तमान को समझने में सहायता मिलती है तथा जटिल समस्याओं के समाधान की प्रेरणा प्राप्त होती है। ओकशॉट के अनुसार, "ऐतिहासिक अध्ययन से रहित राजनीतिक शिक्षा अधूरी रहती है।" ऐतिहासिक उपागम से राजनीति

विज्ञान की परम्परा प्राचीन रही है। अरस्तू इस उपागम का महत्व समझता था। लास्की, मैकियावेली, माण्टेस्क्यू, हीगल, कार्ल मार्क्स, वेबर, कॉम्टे, हरबर्ट स्पेन्सर, मॉर्गन आदि विद्वानों ने भी इस उपागम का अपने दृष्टिकोण से उपयोग किया है। आधुनिक युग में ऐतिहासिक उपागम के अनुयायी बोको, सेविनी, हेनरी मैन, सीले, गिलक्राइस्ट, फ्रीमैन आदि प्रमुख हैं। सेट ने इस उपागम के लाभ बताते हुए कहा है—"ऐतिहासिक उपागम से हमारा मानसिक क्षितिज विकसित होता है, हमारे परिदृश्य (Perspective) में सुधार होता है और घटनाओं के प्रति हमारी प्रवृत्ति ऐतिहासिक बनती है।"

ऐतिहासिक उपागम की परिसीमाएँ
(Limitations of Historical Approach)

ऐतिहासिक उपागम की परिसीमाएँ निम्नांकित प्रकार से हैं—

(1) ऐतिहासिक उपागम के अनुप्रयोग में तत्कालीन परिस्थितियों एवं अध्ययनकर्ता की भावनाओं से प्रभावित होकर *अशुद्ध राजनीतिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सीले के अनुसार, "इस अध्ययन-उपागम में 'हम जैसा चाहते* हैं' उसके प्रकाश में प्रायः 'जो है' उसको समझने और समझाने का प्रयत्न करने लगते हैं।" (2) इस उपागम में उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं हो पाता। सिजविक के अनुसार, "इतिहास यह निर्णय नहीं कर सकता कि राजनीतिक जीवन में क्या अच्छा तथा क्या बुरा है और क्या उचित, अनुचित है? यह निर्णय करना दर्शन का काम है।" (3) इतिहास हमें अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु साधनों को खोजने में अधिक सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि अतीत का वर्तमान से सम्बन्ध का सही ज्ञान हमें नहीं हो पाता। (4) यह उपागम तर्कसम्मत रूप से प्रयुक्त होने में ही उपयोगी हो सकता है। इतिहास द्वारा राजनीतिक तथ्यों का संकलन मात्र होता है, किन्तु उनसे राजनीतिक निष्कर्ष उन तथ्यों को तर्क और विवेक की कसौटी पर परख कर ही निकाले जा सकते हैं। (5) व्यावहारिक राजनीतिक समस्याओं *के समाधान हेतु ऐतिहासिक उपागम का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक युग की कठिनाइयाँ और समस्याएँ* भिन्न होती हैं। (6) इसके अनुकरण से नियतिवादी दृष्टिकोण उत्पन्न हो जाता है और हम सामाजिक विकास के अपरिवर्तनशील नियमों के समक्ष स्वयं को असहाय समझने लगते हैं। (7) आत्यन्तिक रूप में इस उपागम के अनुसरण से 'अतीत में खो जाने' की आशंका बनी रहती है जिससे रूढ़िवादिता की संकीर्ण भावना विकसित होती है। (8) इस उपागम के विकास की प्रक्रिया का मूल्यांकन नहीं हो पाता। बार्कर का मत है कि "इस उपागम से विकास की प्रक्रिया को समझा जा सकता है, किन्तु परिणाम का मूल्यांकन नहीं हो पाता। 'क्या था' और 'कैसे हो गया' इसका अभिलेख मिल जाता है किन्तु 'क्या होना चाहिए' इसका ज्ञान नहीं हो पाता।"

ऐतिहासिक उपागम के प्रयोग में सावधानियाँ
(Precautions in the Use of Historical Approach)

(1) ऐतिहासिक घटनाओं की अतीत एवं वर्तमान की बाह्य समानताओं को अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। ऊपरी समानताएँ एवं सादृश्य (Superficial Resemblance and Parallels) से भ्रम उत्पन्न होने की आशंका रहती है, जैसे—रूस एवं चीन की साम्यवादी क्रान्ति की समानता से उनके अन्तर का ज्ञान नहीं होता। (2) इस उपागम की मान्यता है कि वर्तमान अतीत का परिणाम है तथा भविष्य वर्तमान का, किन्तु यह केवल सापेक्ष (Relative) सत्य है क्योंकि कभी-कभी अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की घटनाएँ असम्बद्ध हो सकती हैं अतः प्राकृतिक विज्ञान की भाँति इस उपागम में सामान्यीकरण अर्थात् *नियम निर्धारण द्वारा भविष्य कथन किया जाना सम्भव नहीं होता, केवल अनुमान ही लगाया जा* सकता है। (3) रूढ़िवादिता के दोष से बचने हेतु निष्पक्ष एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। (4) नियतिवादी होने से सावधानी रखनी चाहिए। इस दृष्टि से वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना नितान्त वांछनीय है। (5) इस उपागम के प्रयोग *में असावधानी से कभी-कभी झूठी आशावादिता उत्पन्न* हो जाती है अथवा निराशावादिता उत्पन्न होने की आशंका बनी रहती है, अतः ऐसी मनोदशा से बचना चाहिए। (6) राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सर्वत्र इस उपागम का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। सिजविक के अनुसार, "मैं यह नहीं सोचता कि व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं का सही हल ज्ञात करने में ऐतिहासिक उपागम का प्राथमिक प्रयोग होना चाहिए", अतः इस उपागम का प्रयोग विवेक के अनुसार किया जाना चाहिए।

3. व्यवहारवादी या आनुभविक उपागम
(Behavioural or Empirical Approach)

व्यवहारवाद का अर्थ (Meaning of Behaviouralism)

व्यवहारवादी उपागम राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण का एक विशेष उपागम है। इसे द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिकों ने विकसित किया है। इसकी उत्पत्ति प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व ग्राहम वालास,

बैंटले आदि द्वारा की गई। 1908 में प्रकाशित ग्राहम वालास की पुस्तक 'Human Nature in Politics' तथा आर्थर बैंटले की पुस्तक 'The Process of Govt.' में राजनीति विज्ञान के परम्परागत अध्ययन उपागमों का विरोध हुआ है। 1925 से अमेरिका का शिकागो विश्वविद्यालय चार्ल्स मेरियम के प्रयास से व्यवहारवादी आन्दोलन का केन्द्र बन गया। यह उपागम राजनीति विज्ञान के सन्दर्भ में मुख्यतः अपना ध्यान राजनैतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है। 'राजनैतिक व्यवहार' के अध्ययन से यह राजनीति उसकी संरचनाओं, प्रक्रियाओं आदि के सम्बन्ध में सत्यापनीय वैज्ञानिक व्याख्यायें और परिणाम तथा उनकी सक्रियात्मक परिभाषाएँ विकसित करना चाहता है। व्यवहारवाद अनुभवात्मक एवं क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों, मानवीय विचारों, कल्पनाओं आदि का विवेचन नहीं है। इस दृष्टि से यह परम्परावादियों के बिल्कुल विरुद्ध है। डेविड ईस्टन के अनुसार, "व्यवहारवाद परम्परागत दृष्टिकोण के प्रति मात्र व्यवहारवादी विरोध नहीं है वरन् यह एक व्यावहारिक क्रान्ति है।" रॉबर्ट ए. डहल के अनुसार, "व्यवहारवादी क्रान्ति परम्परागत राजनीति विज्ञान की उपलब्धियों के प्रति असन्तोष का परिणाम है। इसका उद्देश्य राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाना है।" अस्तु व्यवहारवाद के अर्थ में सभी दृष्टिकोण समान नहीं हैं। कतिपय विद्वानों के अनुसार, यह एक मनोदशा या मनोवृत्ति (Mood) है तो दूसरे अन्य विद्वानों की दृष्टि से इसके अपने निश्चित विचार, सिद्धान्त और कार्यविधियाँ हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध और 1960 के बीच में व्यवहारवाद के साथ ही यह उपागम एक चुनौती, एक अभिव्यक्ति और सुधार आन्दोलन के रूप में माना जाता रहा है। इसके अनुयायियों ने इसे एक अनुभवात्मक विज्ञान (Empirical Science) बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया था। डहल (Dahl) के अनुसार, "व्यवहारवादी मार्ग की प्रमुख पहचान उसके द्वारा सिद्ध किए जाने वाले उद्देश्य का स्वरूप है और वह है वैज्ञानिकता।" डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, "व्यवहारवाद का प्रयोग राजनीति विज्ञान के अध्ययन में एक पद्धति (Method) के रूप में भी किया गया और एक मार्ग (Approach), दृष्टिकोण या शैली के रूप में भी किया गया है तथा इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इसमें है कि इसमें राजनीति विज्ञान के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप दिये जाने में सहायता मिली है।——व्यवहारवादी अध्ययन पद्धति का प्रयोग अब इतना व्यापक एवं उच्च स्तर पर होने लगा है कि व्यवहारवाद पद्धति से बढ़कर अब एक मार्ग (Approach) बन गया है एवं व्यवहार के अन्तर्गत नई अध्ययन पद्धतियाँ विकसित हो गई हैं जिनमें सर्वेक्षण-शोध-पद्धति (Survey Research Method), वैयक्तिक समस्या-अध्ययन पद्धति (Case Study Method) एवं अवलोकन पद्धति (Observation Method) प्रमुख हैं।" अतः व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान के अध्ययन का लोकप्रिय उपागम स्वीकार कर लिया गया है जिससे राजनीति विज्ञान ही नहीं, समस्त सामाजिक विज्ञान समृद्ध और विकसित हो रहे हैं। अतएव यह उपागम समस्त परम्परागत अध्ययन-उपागमों के विरुद्ध एक क्रान्ति के रूप में विकसित हुआ है।

व्यवहारवादी उपागम की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Features of Behavioural Approach)

व्यवहारवादी उपागम की विशेषताएँ डेविड ईस्टन ने अपने लेख 'व्यवहारवाद का प्रचलित अर्थ' (The Current Meaning of Behaviouralism) में बताई हैं—

(1) नियमन (Regularisation)—व्यवहारवादियों की मान्यता है कि कुछ व्यक्तियों में मनुष्य कुछ निश्चित विधि से व्यवहार करता है जिसका नियमन कर उन्हें व्याख्या या भविष्य कथन हेतु सिद्धान्तों के रूप में प्रकट किया जा सकता है। इन व्यवहारों के सामान्य तथ्यों को खोजकर सामान्यीकरण किया जा सकता है।

(2) सत्यापन (Verification)—इस उपागम द्वारा संगृहीत तथ्यों का सत्यापन पुनः जाँचकर किया जा सकता है।

(3) तकनीक का प्रयोग (Use of Techniques)—तथ्यों को एकत्र करने हेतु विभिन्न तकनीकों, जैसे—प्रश्नावली, पर्यवेक्षण, सहभागी-पर्यवेक्षण, विषयवस्तु विश्लेषण आदि का प्रयोग किया जाता है।

(4) परिमाणीकरण (Quantification)—सांख्यिकी (Statistics) का प्रयोग कर एकत्रित तथ्यों का परिमाणीकरण किया जाता है जिससे दो या अधिक चरों (Variables) का परस्पर सम्बन्ध खोजा जाता है जिससे निष्कर्ष अधिक शुद्ध निकाले जा सकते हैं।

(5) मूल्य-निर्धारण (Value Determination)—यद्यपि व्यवहारवादी उपागम में मूल्यों से तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया जाता है, तथापि नैतिक मूल्यों का अनुप्रयोग सावधानी से किया जाता है।

(6) व्यवस्थापन (Systemisation)—संगृहीत तथ्यों को क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित किया जाता है जिससे सामान्य सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों का निर्माण किया जा सके।

(7) वैज्ञानिक प्रकृति (Scientific Nature)—व्यवहारवादी अध्ययन का यह आग्रह रहता है कि यह वैज्ञानिक हो। उसमें सत्यों की अपेक्षा मानव-व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

(8) समग्रता (Integration)—इस उपागम में मानव-व्यवहार को समग्र मानकर उसका एक इकाई के रूप में अध्ययन किया जाता है। समग्रता के कारण ही मानव-व्यवहार में मौलिक एकता पाई जाती है।

इन विशेषताओं को व्यवहारवादी उपागम के आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया गया है। यह उपागम वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने पर बल देता है। यह अन्तःविषयी अनुसन्धान (Inter-Disciplinary Research) को प्रोत्साहित करता है। इसमें संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। यह उपागम तुलनात्मक अध्ययन को उपयोगी मानता है। व्यवहारवादी उपागम का वैज्ञानिक अनुसंधान के निष्कर्षों के आधार पर निरन्तर परिष्कार किया जा रहा है। इस उपागम से राजनीति विज्ञान के क्षेत्र का विस्तार हुआ है, फलतः उसके वैज्ञानिक अध्ययन पर जोर दिया जा रहा है तथा सिद्धान्त-निर्माण को महत्वपूर्ण माना गया है। किर्क पैट्रिक (Kirk Patrick) के अनुसार, "व्यवहारवादी उपागम वर्तमान परिस्थितियों में स्वीकार्य है। अब ऐसा नहीं रह गया है जिसका मनचाहा अर्थ लगा लिया जाए, अतः यह शब्द निश्चित हो चला है और राजनीतिक जीवन के अध्ययन हेतु इस उपागम में समाविष्ट पूर्व धारणाओं, क्रियाविधियों, तकनीकों और लक्षणों को पहचानना सम्भव है।"

व्यवहारवाद की सीमाएँ (Limitations of Behaviouralism)

(1) राजनीतिक पहलू की उपेक्षा—व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान को विज्ञान बनाने के प्रयास में विषय के राजनीतिक पक्ष की उपेक्षा की जाती है। व्यवहारवाद का यह तर्क कि अनुभवजन्यता के द्वारा राजनीतिक घटनाओं को सरलता से समझा जा सकता है, सही नहीं है। प्रायः सभी वर्तमान राजनीतिक व्यवहारवादी अध्ययन राजनीति विज्ञान के वास्तविक मूल्यों को स्पष्ट करने में असफल रहे हैं। उपयुक्त सिद्धान्त मानव की मौलिक आवश्यकताओं की व्याख्या करता है। मिथ्या राजनीति का लक्ष्य वैयक्तिक हितों को बढ़ावा देता है। व्यवहारवाद का सम्बन्ध मिथ्या राजनीति से है क्योंकि मूल्य-निरपेक्षता विज्ञान के अध्ययन में वांछनीय नहीं है।

(2) अपूर्ण विश्लेषण पद्धति—राजनीति विज्ञान में शोध का लक्ष्य 'क्या है' का पता लगाकर 'क्या होना चाहिए' को बताना है। यह पद्धति जीवन के पहलू का विश्लेषण करती है। व्यवहारवाद केवल 'क्या है' का अध्ययन करता है, 'क्या होना चाहिए' के प्रश्न का उत्तर नहीं देता। वास्तविकता का चित्रण करना अनुचित नहीं है, किन्तु केवल मानसिकता को सामने लाकर रख देना तथा उसके निराकरण के लिए कोई उपाय न बताना एक सैद्धान्तिक त्रुटि है।

(3) विरोधाभास से परिपूर्ण—व्यवहारवाद के सिद्धान्त एवं व्यवहार में विरोधाभास पाया जाता है। व्यवहारवादी एक ओर मूल्य-निरपेक्ष होने का दावा करते हैं तथा दूसरी ओर प्रमुख व्यवहारवादी जैसे—डहल तथा लिप्सेट मूल्यों पर बल देते हैं। अमेरिका की प्रजातांत्रिक सरकार सबसे अच्छी सरकार है जैसे मूल्य आधारित विचार विद्यार्थियों के लिए संकट उत्पन्न कर देते हैं। सच तो यह है कि राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषणकर्ता मूल्य-निरपेक्ष होकर घटनाओं का विश्लेषण करे यह सम्भव नहीं है। राजनीतिक विश्लेषण राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते समय मूल्य-निरपेक्ष होगा, यह अनुचित धारणा है।

(4) राजनीतिक क्रियाओं की व्याख्या करने में असफल—व्यवहारवादी साहित्य राजनीतिक क्रियाओं की व्याख्या नहीं करता। वे सभी क्रियाएँ राजनीतिक हैं जिनका उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना है। व्यवहारवादी साहित्य इन क्रियाओं की व्याख्या नहीं करता। अधिकांश व्यवहारवादी व्यक्ति की स्वार्थी प्रवृत्तियों एवं उन क्रियाओं की व्याख्या करते हैं जिनका उद्देश्य वैयक्तिक हितों का पोषण है, जो मिथ्या राजनीतिक क्रियाएँ हैं। जनकल्याण राजनीति का प्रमुख लक्ष्य है, किन्तु व्यवहारवाद इसकी उपेक्षा करता है।

(5) उदार प्रजातन्त्र के प्रति पक्षपाती दृष्टिकोण—लियोस्ट्रास का मत है कि व्यवहारवादी दृष्टिकोण उदार प्रजातन्त्र के प्रति पक्षपात पूर्ण है। लिपोट का मत है कि "व्यवहारवादी मान्यताओं को मान लेने से अच्छे समाज की खोज का प्रश्न जो हम सदियों से उठाते आये हैं, समाप्त हो जाता है, क्योंकि व्यवहारवादियों के अनुसार, अमेरिका ने वह प्राप्त कर लिया है जो दूसरे देश नहीं प्राप्त कर सके। उनके विचार से अमेरिकी जनतन्त्र सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था है।"

(6) तकनीक पर अत्यधिक बल—तकनीक पर अत्यधिक बल देने से विषय-वस्तु की उपेक्षा होती है।

(7) काल्पनिक अध्ययन—क्रिश्चियन बे के अनुसार, "इसकी वैज्ञानिकता की धुन का परिणाम राजनीति से बचने के रूप में निकला है।"

(8) नीति-निर्धारण में असमर्थ—मूल्यों की उपेक्षा से यह उपागम राजनीतिक नीति-निर्धारण में सहायक नहीं होता।

व्यवहारवाद एक पूर्ण पद्धति न होकर अन्य पद्धतियों की भाँति जीवन के सभी पक्षों का विश्लेषण न कर केवल एक ही पक्ष का विश्लेषण करता है।

उत्तर-व्यवहारवादी उपागम की विशेषताएँ
(Characteristics of Post Behavioural Approach)

(1) अध्ययन की तकनीकों की विषय वस्तु (Subject Matter) को अधिक महत्व—व्यवहारवादी उपागम में अध्ययन की तकनीक पर अधिक बल दिया जाता था किन्तु उत्तर व्यवहारवाद उपागम में तकनीक की अपेक्षा अध्ययन की विषय-वस्तु को प्रमुखता दी जाती है। एस एन दुबे के अनुसार, "उत्तर व्यवहारवादी तकनीक की अपेक्षा विषय-वस्तु को अधिक महत्व देते हैं। इन दोनों में से एक का परित्याग करना आवश्यक हो तो तकनीक को छोड़ा जा सकता है। तकनीक वैज्ञानिक हो अथवा न हो, अतएव यह आवश्यक है कि अनुसंधान का विषय सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक और उपयोगी होना चाहिए।"

(2) सामाजिक परिवर्तन पर बल (Stress over Social Change)—व्यवहारवाद यथास्थिति के साथ जुड़ गया था लेकिन उत्तर-व्यवहारवादियों की मान्यता है कि सामाजिक संरक्षण तथा यथास्थितियों के स्थान पर सामाजिक परिवर्तन एवं गतिशीलता को अपनाया जाना चाहिए। सामाजिक परिवर्तन को गति एवं दिशा प्रदान की जानी चाहिए।

(3) मूल्यों के प्रति जागरूकता (Awareness of Values)—उत्तर व्यवहारवादी उपागम मूल्यों के प्रति जागरूक रहता है। इसका आग्रह परम्परागत मूल्यों के सतत परीक्षण, परिवर्तन तथा उनके ग्रहण किये जाने पर रहा है क्योंकि मूल्य मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में सहायक रहते हैं।

(4) मनीषियों का दायित्व (Responsibility of the Scholars)—उत्तर व्यवहारवाद में इस तथ्य पर जोर दिया जाता है कि मनीषी या बुद्धिजीवी विद्वानों को अपना यह दायित्व समझना चाहिए कि वे अपने ज्ञान को क्रियाशील बनायें और उसे कार्यरूप में परिणत करने में सहयोग दें।

(5) परिस्थितियों के औचित्य को दृष्टिगत रखना (To keep in view the Justifiability of Circumstances)—उत्तर-व्यवहारवादी उपागम में अनुसंधान का यह दायित्व बनता है कि राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार की उपेक्षा न कर, उसे प्रकट करते हुए, परिस्थितियों के औचित्य एवं अनौचित्य का निर्धारण कर, राजनीति को उचित दिशा प्रदान करें।

(6) तथ्यों की प्रासंगिकता का विश्लेषण (Relevance of the Facts)—अन्वेषण या अध्ययन के तथ्यों को वर्णन करने तक सीमित न रखकर, उत्तर-व्यवहारवादी उपागम उन तथ्यों की प्रासंगिकता दर्शाने को भी अपना दायित्व समझता है।

(7) समन्वयवादी दृष्टिकोण (Attitude for Synthesis)—राजनीति विज्ञान के अति परम्परावादी तथा अति वैज्ञानिक अध्ययन-उपागमों में परस्पर समन्वय का प्रयास उत्तर-व्यवहारवादी उपागम करता है। वैज्ञानिकता के साथ राजनीतिक मूल्यों का समन्वय ही अध्ययन को पूर्णता दे सकता है।

5 अन्तर्विषयी उपागम
(Inter Disciplinary Approach)

अन्तर्विषयी उपागम का अर्थ एवं महत्व
(Meaning and Significance of Inter Disciplinary Approach)

'अन्तर्विषयी' उपागम अथवा 'अन्तर-अनुशासनात्मक उपागम (Inter Disciplinary Approach) का अर्थ राजनीति विज्ञान के अध्ययन के संदर्भ में यह है कि राजनीति विज्ञान अन्य अधिकांश विषयों से घनिष्टतः सम्बंधित है अतः इन विषयों से सामंजस्य (Correlate) कर इसका अध्ययन करना चाहिए। यह धारणा आधुनिक काल में अधिक लोकप्रिय होती जा रही है। गार्नर के अनुसार, "हम दूसरे सहायक विज्ञानों का यथार्थ अध्ययन किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार गणित के बिना यंत्र विज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीव विज्ञान का। राजनीति विज्ञान ऐसा समाज विज्ञान नहीं है जो व्यवस्थित सामाजिक जीवन में व्यक्ति का अध्ययन करता है। अन्य समाज विज्ञान भी व्यक्ति के भिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हैं। उदाहरणतः समाज विज्ञान मानव समाज, उसके रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि का अध्ययन करता है नीतिशास्त्र मानव की नैतिकता, आचरण और व्यवहार के औचित्य और अनौचित्य का अध्ययन करता है इतिहास भूतकालीन घटनाओं सभ्यता और संस्कृति के विकास का अध्ययन करता है मनोविज्ञान मानव के मनोवेगों, सहज प्रवृत्तियों और भावनाओं का अध्ययन करता है राजनीति विज्ञान व्यक्ति की राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक व्यवस्थाओं और राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है अतः किसी एक समाज विज्ञान का अध्ययन दूसरे समाज विज्ञानों से अलग रहकर नहीं किया जा सकता। उसका अध्ययन अन्य समाजशास्त्रों के संदर्भ में पूर्ण माना जा सकता है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन का यह उपागम अंतर्विषयी उपागम की संज्ञा ग्रहण करता है। राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि सामाजिक विज्ञान मानव-समाज के

अध्ययन से सम्बन्धित होते हैं और राजनीति विज्ञान मानव के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है। गेगर एवं सल्टाऊ का मत है कि—"राजनीति विज्ञान के उचित अध्ययन के लिये अन्य विज्ञानों अथवा ज्ञान की अन्य शाखाओं की सहायता आवश्यक है।" सिजविक के अनुसार, "यदि हमें किसी विषय या विज्ञान का अन्वेषण करना है तो यह अत्यन्त लाभदायक होगा कि हम उस विज्ञान का अन्य विज्ञानों या विषयों से सम्बन्ध मालूम करें और यह जानने का प्रयास करें कि उक्त विषय या विज्ञान ने अन्य विषयों से क्या लिया है और स्वयं उसने अन्य विषयों को क्या दिया है?" ये कथन राजनीति विज्ञान की अन्य सामाजिक विज्ञानों मे अंतर्निर्भरता, अंतसम्बन्ध तथा उनके परस्पर आदान-प्रदान की अनवरत प्रक्रिया को प्रकट करते हैं एवं राजनीति विज्ञान के अध्ययन के 'अन्तर्विषयी उपागम' की महत्ता सिद्ध करते हैं।

अन्तर्विषयी उपागम का विकास (Development of Inter-Disciplinary Approach)

प्लेटो (Plato) का 'रिपब्लिक' (Republic) यद्यपि राजनीति पर लिखा गया ग्रंथ है, तथापि वह न्यायशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, शिक्षा, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र पर लिखी गई रचना भी है। अरस्तू (Aristotle) की रचना 'पॉलिटिक्स' (Politics) में राजनीति विज्ञान के विवेचन के साथ-साथ अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र के सहसम्बन्ध को भी प्रकट किया गया है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीति के अतिरिक्त न्याय, कर नीति, प्रशासन, समाज आदि विभिन्न सामाजिक पक्षों का विवेचन प्रस्तुत करता है, अतः प्राचीन काल से ही राजनीतिक उपागम का शनैः-शनैः विकास होता आया है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के राजनीतिक दर्शन में आर्थिक व्यवस्था को आधार माना गया है। आधुनिक काल में व्यवहारवादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ जिसने जीवन को सम्पूर्ण इकाई मानते हुए पूर्ण ज्ञान और विषयों की एक-दूसरे की अन्त निर्भरता पर बल दिया है।

अन्तर्विषयी उपागम का प्रभाव (Impact of Inter-Disciplinary Approach)

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जिस व्यवहारवादी आन्दोलन का उदय हुआ और जिसने युद्धोत्तरकाल (1945 के बाद) तथा हाल ही के वर्षों में एक व्यापक क्रान्ति का रूप ग्रहण कर लिया है, उसमें इस बात पर बल दिया गया है कि मानव का सामाजिक जीवन एक सम्पूर्ण इकाई है और जीवन के विभिन्न पक्षों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, फलतः वर्तमान में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत 'अन्तर-अनुशासनात्मक' (Inter-Disciplinary Approach) पर अधिक बल दिया जाता है और परिणामस्वरूप ज्ञान की जिन नवीन शाखाओं का उदय हुआ है, उनमें प्रमुख हैं—राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Sociology), राजनीतिक मनोविज्ञान (Political Psychology), राजनीतिक अर्थमिति (Political Econometrics) आदि। आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित 'समाज विज्ञान और शोध परिषद' (The Social Science & Research Council) सभी समाज विज्ञानों का एक इकाई के रूप में अध्ययन कर रही है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान के अध्ययन में जिन नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ है, उन्होंने राजनीति-विज्ञान की अन्य समाज विज्ञानों से घनिष्ठता को और अधिक बढ़ा दिया है।" यह कथन राजनीति विज्ञान के अध्ययन के समस्त उपागमों में नवीनतम एवं सर्वाधिक लोकप्रिय उपागम के रूप में 'अंतर्विषयी या अन्तर-अनुशासनात्मक उपागम' को महत्वपूर्ण मानता है।

'अन्तर्विषयी उपागम' हेतु अन्य समाजशास्त्रीय विषयों का राजनीति विज्ञान से सह-सम्बन्ध

(Correlation of Other Social Sciences with Political Science for Inter-Disciplinary Approach)

1. समाजशास्त्र (Sociology)

समाजशास्त्र एवं राजनीति विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध अंतर्विषयी उपागम हेतु उपयोगी है। दोनों में बहुमूल्य सामग्री का आदान-प्रदान होता है और दोनों अंतर्निर्भर एवं अंतसम्बन्धित हैं। गिडिंग्स के अनुसार, "जिन लोगों ने समाजशास्त्र के आदि सिद्धान्तों को नहीं समझा है, उनके लिये राजनीति शास्त्र पढ़ाना उसी प्रकार निष्फल होगा, जिस प्रकार न्यूटन के नियमों को न जानने वाले को ज्योतिष पढ़ाना।" गिलक्राइस्ट के अनुसार, "समाजशास्त्र राज्य के संगठन के सम्बन्ध में जानकारी के लिये राजनीति विज्ञान पर निर्भर रहता है। राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र का बड़ा ऋणी है। समाजशास्त्र द्वारा सामाजिक जीवन के जिन तथ्यों और नियमों का अध्ययन तथा प्रतिपादन किया जाता है, उन्हें राजनीति विज्ञान प्रायः ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है।" कैटलिन के अनुसार, "राजनीति और समाजशास्त्र अखण्ड हैं और वास्तव में ये दोनों एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं।"

2. इतिहास (History)

इतिहास एवं राजनीति विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध इन विद्वानों के कथनों से प्रकट होता है—

सीले (Seeley) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान इतिहास का फल है तथा इतिहास राजनीति विज्ञान का मूल है।"

ब्राइस (Bryce) के अनुसार, "राजनीति विज्ञान इतिहास एवं राजनीति के बीच की कड़ी है और वह अतीत को वर्तमान से जोड़ता है। यह इतिहास से अपनी सामग्री प्राप्त करता है और राजनीति में उस सामग्री का उपयोग करता है।"

बर्गेस (Burgess) के अनुसार, "यदि राजनीति विज्ञान और इतिहास का सम्बन्ध तोड़ दिया जाये तो उनमें से अगर एक मरेगा नहीं तो पंगु अवश्य हो जायेगा और दूसरा कूड़े का ढेर मात्र रह जायेगा।"

3. भूगोल (Geography)

बोदाँ (Bodin) के अनुसार, "विविध प्रकार की भौगोलिक स्थिति के लिये विभिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं की आवश्यकता होती है।"

ब्राइस (Bryce) के अनुसार, "किसी भी देश में भौतिक परिस्थितियाँ और उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली संस्थाएँ उस राष्ट्र की राजनीतिक संस्थाओं को इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि उस राष्ट्र के शासन को एक विशेष प्रकार का चरित्र प्राप्त हो जाता है।"

4. अर्थशास्त्र (Economics)

अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध 8वीं शताब्दी से ही स्वीकार किया जाने लगा, जब राजनीति विज्ञान अर्थशास्त्र का अंग समझा जाता था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में इन दोनों विषयों का सामंजस्य ईसा पूर्व की शताब्दियों में प्रतिष्ठित हो चुका था। बी. एन. अवस्थी का मत है, "अर्थशास्त्र जीवन के साधन प्रदान करता है तो राजनीति विज्ञान उन साधनों के उचित उपयोग की शिक्षा प्रदान करता है।" अरस्तू ने अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की शाखा माना है। प्राचीन यूनान में उसे राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) के नाम से पुकारा जाता था। बियर्ड (Beard) के अनुसार, "अर्थशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान अवास्तविक तथा आत्मपरक बनकर रह जाता है। राजनीति को समझना तथा पूर्ण ज्ञान के साथ निर्णय करना तभी सम्भव है जबकि अर्थ से सम्बन्धित प्रकरणों पर गंभीरता से विचार किया जाये।" कार्ल मार्क्स के अनुसार, "किसी युग में सामाजिक जीवन के स्वरूप का निर्धारण आर्थिक परिस्थितियाँ ही करती हैं।"

5. मनोविज्ञान (Psychology)

वाटसन (Watson) के अनुसार, "मनोविज्ञान व्यवहार का सकारात्मक अध्ययन है।" इस कथन से मनोविज्ञान का राजनीति विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध उजागर होता है। ब्राइस के अनुसार, "राजनीति की जड़ें मनोविज्ञान में निहित हैं।" बार्कर (Barker) के मतानुसार, "मनुष्य के कार्यों के अन्तर्गत आने वाली समस्याओं के निराकरण में मनोविज्ञान का प्रयोग फैशन हो गया है। हमारे पूर्वज पहले जीव विज्ञान की दृष्टि से राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते थे किन्तु अब मनोविज्ञान की दृष्टि से राजनीतिक समस्याओं पर विचार करते हैं, अतः राजनीति विज्ञान का अध्ययन मनोविज्ञान से समन्वित कर 'अन्तर्विषयी उपागम' के अनुप्रयोग द्वारा किया जाना उपयुक्त रहता है।"

6. लोक प्रशासन (Public Administration)

बीसवीं शताब्दी में लोक प्रशासन एक पृथक् समाज विज्ञान के रूप में अस्तित्व में आया। लोक प्रशासन एक ऐसा समाज विज्ञान है जो राज्य द्वारा निर्धारित नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बद्ध प्रक्रिया का अध्ययन करता है। प्रो. विल्सन के अनुसार, "यद्यपि यह सत्य है कि राजनीति प्रशासन के लिये भूमि या क्षेत्र प्रस्तुत करती है तथापि इन दोनों विषयों के प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् हैं तथा उन्हें परस्पर मिश्रित करने की त्रुटि नहीं की जानी चाहिए।" अतः अन्तर्विषयी अध्ययन उपागम अपनाते समय इन दोनों विषयों का परस्पर स्वाभाविक समन्वय ही किया जाना वांछनीय है जिससे कि उनका पृथक् अस्तित्व बना रहे और वे परस्पर एक-दूसरे का संवर्धन करते रहें।

7. अन्य सामाजिक विज्ञान (Other Social Sciences)

उपरोक्त समाज विज्ञानों के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विज्ञान जैसे—नीतिशास्त्र (Ethics), विधिशास्त्र (Law), मानव-विज्ञान या नृविज्ञान (Anthropology), साहित्य (Literature), शिक्षा (Education) आदि से भी राजनीति विज्ञान का सहसम्बन्ध उनके अध्ययन हेतु अन्तर्विषयी उपागम के अनुप्रयोग की सम्भावनाएँ उन्मुक्त करते हैं।

राजनीति विज्ञान : एक विज्ञान के रूप में मान्यता

(Political Science : Recognition as a Science)

राजनीति विज्ञान को विज्ञान इसलिये कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी एक निश्चित शास्त्रीय अध्ययन पद्धति है। राजनीति विज्ञान में राजनीतिक कार्य-कलापों का अध्ययन निष्पक्ष दृष्टि से किया जाता है सभी प्रकार के तथ्यों का अन्वेषण किया जाता है, उस ज्ञान को एकरूपता के साथ नियमबद्ध करने का प्रयास राजनीति के विद्वानों द्वारा किया जाता है। लॉर्ड

ब्राइस (Bryce) ने अमेरिका की राजनीति विज्ञान परिषद के अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा था कि—"राजनीति भौतिक विज्ञान के समान ही एक विज्ञान है। वह इस अर्थ में विज्ञान है कि मनुष्य की प्रवृत्तियों में एकरूपता और निरन्तरता होती है जिससे हम मनुष्य के कार्यों से सम्बन्धित नियम बना सकते हैं। जिन कारणों से मनुष्य अमुक परिस्थिति में एक कार्य इस समय करता है, उन्हीं परिस्थितियों में नियमानुसार उसने वही कार्य भूतकाल में भी किया होगा। कार्यों को एकत्र कर उनमें आपसी सम्बन्ध निकाला जा सकता है उनको नियमित ढंग से जमा कर उनका अध्ययन किया जा सकता है और यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इन कार्यों को करने में सहायक प्रवृत्तियाँ साधारणतया एक-सी ही थीं।"

राजनीति को एक विज्ञान मानने वालों के प्रमुख तर्क हैं—

(1) *विज्ञान की भाँति राजनीति विज्ञान भी व्यवस्थित और क्रमबद्ध ज्ञान का भण्डार है। राज्य, सरकार तथा उसके* स्वरूपों का अध्ययन और राजनीतिक विचारधाराएं राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित रहती हैं। (2) अवलोकन एवं परीक्षण राजनीति विज्ञान में उत्तम विज्ञानों की भाँति होना सम्भव है। विश्व की प्रयोगशाला में समाज के मध्य राजनीतिक प्रयोग होते रहते हैं। प्रत्येक नवीन कानून, रीति, संस्था आदि सरकार के स्वरूप में किया गया नवीन प्रयोग ही हैं। यद्यपि पूर्ण विज्ञानों की भाँति राजनीतिक परीक्षण नहीं किये जा सकते, तथापि वे प्रयोग के रूप तो हैं ही। (3) कार्य-कारण सम्बन्धों का यद्यपि राजनीति विज्ञान में अन्य भौतिक विज्ञानों की भाँति निर्धारण नहीं किया जाता, तथापि कार्य-कारण शृंखला की खोज में राजनीति विज्ञान की खोज करता है। (4) मानव-स्वभाव के कारण यद्यपि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार में परिवर्तन होते रहते हैं और उनमें जड़ वस्तु की भाँति व्यावहारिक एकरूपता नहीं होती, तथापि कुछ राजनीतिक नियम ऐसे हैं जिनमें एकरूपता पाई जाती है। (5) भविष्यवाणी की क्षमता यद्यपि राजनीति विज्ञान में अन्य विज्ञानों की भाँति न हो, तथापि वह राजनीतिक भविष्यवाणियाँ अथवा सम्भावनाएं तो व्यक्त करता ही है। डा. फाइनर (Finer) के अनुसार, "हम निश्चित रूप से भविष्यवाणी नहीं कर सकते, किन्तु सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर ही सकते हैं।"

□□□

2

राज्य के सिद्धान्त

(Theories of State)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में राजनीति विज्ञान में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। प्रमुख सिद्धान्तों की जानकारी इस प्रकार है।

1 संविदामूलक या सामाजिक समझौता का सिद्धान्त
(The Contractual or The Social Contract Theory)

राज्य की उत्पत्ति में सामाजिक समझौता सिद्धान्त ने राजनीति विज्ञान को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, "सामाजिक समझौते का सिद्धान्त मुख्यतः राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त है। इसका प्रयोग राज्य के स्वरूप, प्रयोजन एवं उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिये किया गया है।" राज्य की उत्पत्ति के साथ *शासक और शासित के सम्बन्धों की विवेचना के लिए इस सिद्धान्त का व्यापक प्रयोग हुआ है।* मूल रूप में यह सिद्धान्त राज्य के दैवी दृष्टिकोण के विरुद्ध एक सामाजिक प्रतिक्रिया थी। इसके प्रतिपादक यह सिद्ध करना चाहते थे कि राज्य का स्रोत कोई अमानवीय सत्ता न होकर जनता की अनुमति है जिन पर राज्य अपनी सार्वभौमिकता (Sovereignty) का प्रयोग करता है।

समझौता सिद्धान्त की व्याख्या

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य ईश्वरीय (Divine) रचना तथा स्वाभाविक (Natural) संस्था न होकर एक कृत्रिम (Artificial) संस्था है जिसका जन्म व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप हुआ है। मनुष्य ने, अपनी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए, जान-बूझकर स्वैच्छिक रूप से राज्य को स्थापित किया है। राज्य के अस्तित्व से पहले मनुष्य प्राकृतिक (Natural) अर्थात् अराजनैतिक (Non Political) अवस्था में रहता था और इस अवस्था की असुविधाओं से मुक्ति पाने के लिए ही उन्होंने राज्य का निर्माण किया। समझौते द्वारा सभ्य समाज अर्थात् राज्य का जन्म हुआ। *इन तत्त्वों को निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—*

(क) प्राकृतिक अवस्था (Stage of Nature)—सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य की स्थापना से पूर्व का जो काल था, वह प्राकृतिक अवस्था का था। प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक प्राय एकमत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं था। प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरे का शत्रु था। यह 'अन्धकारपूर्ण और कष्टपूर्ण स्थिति थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Might is Right) वाली कहावत *चरितार्थ होती थी। यह अवस्था निरन्तर युद्ध की अवस्था थी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का जीवन हर समय संकट में* रहता था, अतः मनुष्य का जीवन एकाकी पाशविक और पतित था। दूसरी ओर, कुछ विचारकों का मत है कि प्राकृतिक *अवस्था 'आदर्श, सरलता और परमसुख की अवस्था थी जिसमें लोग स्वर्गिक आनन्द का उपभोग करते थे।* इन विचारकों के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था शान्ति तथा मैत्री पूर्ण थी। यह मानव जीवन का स्वर्णिम काल था। प्राकृतिक अवस्था में किसी प्रकार का राजनीतिक संगठन नहीं था और न ही मानव निर्मित किसी कानून का अस्तित्व था। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का नियमन अस्पष्ट प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) द्वारा होता था। डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, *"मनुष्य का यह जीवन वस्तुतः अच्छा था अथवा बुरा, इस पर लेखकों में मतभेद हैं।* कुछ विद्वानों *का कथन है कि यह अवस्था आदर्श एवं सुखदायक थी और उस समय आनन्द ही आनन्द था। अन्य विचारकों का* मत है कि यह अवस्था असुविधाजनक एवं असह्य थी, परन्तु यह सब स्वीकार करते हैं कि मनुष्यों ने इस समस्या को छोड़ दिया और आपस में समझौता करके राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना की, क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में जीवन व्यतीत करना असुविधाजनक होने लगा था।"

(ख) समझौता (Contract)—प्राकृतिक अवस्था के अंत में अनेक असुविधाएँ पैदा हो गईं और मनुष्य ने समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की। समझौता क्यों हुआ और समझौते की प्रकृति क्या थी, इन स्थितियों पर विचारकों में मतभेद है। हॉब्स के अनुसार, मनुष्य ने जीवन की रक्षा के लिए, लॉक के अनुसार, मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं को दूर करने के लिए और रूसो के अनुसार, मनुष्य ने सभ्यता की बढ़ती हुई पेचीदगी के कारण विकृत प्राकृतिक दशा को छोड़ने के लिए आपस में समझौता कर राजनीतिक संगठन का निर्माण किया। कुछ विचारकों के अनुसार समझौता केवल एक हुआ और इसी में समाज और राज्य दोनों की एक साथ स्थापना हुई, परन्तु अन्य विचारकों के अनुसार समझौते दो हुए जिनमें एक से समाज और दूसरे से सरकार की स्थापना हुई। जो विचारक सामाजिक समझौते में विश्वास करते हैं, उनके मतानुसार यह समझौता व्यक्तियों ने आपस में एक-दूसरे से किया। राजा का कोई पक्ष नहीं था, लेकिन जो विचारक सरकारी समझौते में विश्वास करते हैं उनके अनुसार, इस समझौते में एक पक्ष में जनता थी और दूसरे पक्ष में कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्ति थे।

(ग) नागरिक समाज (Civil Society)—समझौते के फलस्वरूप प्राकृतिक अवस्था का अंत हो गया और राजनीतिक संगठन की स्थापना हुई। मानव समाज एवं राज्य का जन्म हुआ। इस अवस्था में मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार एवं प्राकृतिक कानून हमेशा के लिए समाप्त हो गए और उनका स्थान मनुष्य के नागरिक अधिकारों तथा राज्यों के कानूनों ने प्राप्त कर लिया।

समझौते के स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार लोगों को अपने समस्त अधिकार त्यागने पड़े तो अन्य विद्वानों के विचारों में लोगों को कुछ अधिकारों का परित्याग करना पड़ा। कुछ विद्वानों के विचार से एक समझौता हुआ जबकि दूसरों के अनुसार दो समझौते हुए, लेकिन इस बात से सभी सहमत हैं कि लोगों को सुरक्षा प्राप्त हुई और समझौते द्वारा राज्य का निर्माण हो गया। समझौता सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति किसी संविदा या समझौते से हुई, मानव के सामाजिक स्वभाव शक्ति या ईश्वर द्वारा नहीं।

समझौता सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Social Contract Theory)

17वीं एवं 18वीं शताब्दी में सामाजिक समझौता सिद्धान्त बहुत ही लोकप्रिय हुआ और राजनीतिक कल्पना का मुख्य विषय बना रहा। हूकर (Hooker), मिल्टन (Milton), ग्रोशियस (Grotius), वुल्फ (Wolf), कान्ट (Kant), ब्लैकस्टोन (Blackstone), स्पिनोजा (Spinoza) आदि विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है, परन्तु 18वीं शताब्दी के अन्त के और 19वीं शताब्दी के राजनीतिक विचारकों ने इसकी कड़ी आलोचना की है। ह्यूम (Hume), जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham), ब्लुशली (Bluntschli), बर्क (Burke), ऑस्टिन (Austin), ग्रीन (Green), पोलक (Polak) आदि लेखकों ने इस सिद्धान्त पर अनेक प्रहार किये। ह्यूम ने कहा कि यह सिद्धान्त ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल नहीं खाता। बेन्थम के अनुसार, "मैं मौलिक अनुबन्ध को अभिवादन के साथ विदा करता हूँ और मैं इसे उन लोगों के मनोरंजन के लिए छोड़ता हूँ जो यह सोचते हैं कि उन्हें इसकी आवश्यकता है।" सर हेनरीमेन के अनुसार, "हॉब्स ने समाज और सरकार की उत्पत्ति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उससे बढ़कर अर्थहीन बात और कुछ नहीं हो सकती।" ब्लुशली ने इस सिद्धान्त को 'भयंकर भूल' बतलाया है। ग्रीन इसे एक कहानी (Fiction) के रूप में देखते है। बुल्फे के अनुसार, 'यह सिद्धान्त सरासर झूठा है।' इस प्रकार राजनीति शास्त्र के अनेक विद्वानों ने इसे एक निकम्मा, निरर्थक और सारहीन सिद्धान्त सिद्ध करने की चेष्टा की है।

आलोचकों के प्रहार से राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त निरस्त हो चुका है और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को काल्पनिक, अनैतिहासिक, दार्शनिक दृष्टिकोण से असत्य तथा कानूनी दृष्टिकोण से व्यर्थ एवं खतरनाक कहा गया है।

समझौता सिद्धान्त का औचित्य अथवा मूल्यांकन
(Justification and Evaluation of Contractual Theory)

यद्यपि समझौता सिद्धान्त की प्रत्येक दृष्टि से आलोचना की गई है, तथापि यह सर्वथा महत्वहीन नहीं है। यह सिद्धान्त सहमति और अनुमति को राज्य का आधार मानता है, शक्ति अथवा शासन की व्यक्तिगत इच्छा को नहीं। इसीलिए मनु का कहना है कि "इसने राज्य को मानवीय संस्था बताकर निरंकुश शासन का विरोध किया है और प्रजातन्त्रीय शासन के विकास में योग दिया है।" दूसरे, इस सिद्धान्त द्वारा प्रभुसत्ता सम्बन्धी आधुनिक राजनीतिक विचारधारा के विकास में सहयोग मिला है। यदि हॉब्स (Hobbes) के विचारों के आधार पर ऑस्टिन के कानूनी प्रभुत्व सिद्धान्त के प्रतिपादन को प्रेरणा मिली है तो रूसो की सामान्य इच्छा (General Will) द्वारा लोक-सम्प्रभुता के विचारों को आधार बन मिला। इस सिद्धान्त ने व्यावहारिक राजनीति को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। तीसरे,

इस सिद्धान्त ने दैवी अधिकारों के सिद्धान्त को समाप्त करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस तथ्य पर बल दिया गया है कि राज्य ईश्वरीय इच्छा का फल नहीं है वरन् इसके निर्माण में मानवीय शक्ति का हाथ है। चौथे इस सिद्धान्त के परिणामस्वरूप इतिहास में अनेक उथल-पुथल और सामाजिक ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। समझौता सिद्धान्त के आधार पर ही 1689 में ब्रिटिश जनता ने राजा जेम्स द्वितीय को गद्दी से उतार दिया था, 1776 में अमेरिका में क्रान्तिकारियों के विरुद्ध एक लहर दौड़ गई थी। इस सिद्धान्त ने गत दो शताब्दियों में विश्व इतिहास की धारा को एक नयी दिशा प्रदान की है और मानव समाज के विकास में महत्वपूर्ण हाथ बँटाया है, लेकिन राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त अमान्य रहा है।

2 उदारवादी सिद्धान्त
(Liberal Theory)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों में जॉन लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल और हरबर्ट स्पेंसर के नाम प्रमुख हैं। यह सिद्धान्त 19वीं शताब्दी में लोकप्रियता के चरम पर था। इस सिद्धान्त को 'अहस्तक्षेप' या 'लैसेज फेयर (Laissez Faire) का सिद्धान्त भी कहा जाता है जिसका अर्थ है व्यक्ति को अकेला छोड़ दो ताकि वह जो चाहे कर सके।

उदारवादी या व्यक्तिवादी सिद्धान्त की व्याख्या

उदारवाद एवं व्यक्तिवाद पर्यायवाची माने जाते रहे हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक दुर्गुण है और मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी जीव है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सबसे पहले वह अपने स्वार्थ की पूर्ति करना चाहता है अतः मानव में सही मार्ग-दर्शन के लिए यद्यपि यह वाछनीय नहीं, पर आवश्यक जरूर है कि राज्य को कायम रखा जाए। राज्य मानव की अपराधी एवं पाशविक प्रवृत्तियों पर एक आवश्यक नियन्त्रण है। गार्नर के अनुसार, "व्यक्तिवादियों की यह मान्यता है कि राज्य का अस्तित्व अपराधी की उपस्थिति पर ही आधारित है अतः राज्य का प्रमुख कर्तव्य रक्षा और अपराधों को रोकना हो जाता है न कि विकास और उन्नति।"

व्यक्तिवादी राज्य के कार्य-क्षेत्र पर रोक लगाना चाहता है। राज्य के कार्य एवं कानून नागरिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप है अतः राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित किया जाना चाहिए। फ्रीमैन (Freeman) के अनुसार, सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है। थॉमस हिल ग्रीन के अनुसार, राज्य का कार्य केवल पुलिस कार्य सम्पन्न करना, अपराधियों को पकड़ना और समझौतों पर कठोरतापूर्वक अमल करवाना नहीं है, अपितु राज्य को यथाशक्ति व्यक्तियों के लिये उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है, उसे प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान करना है। व्यक्तिवादी राज्य को समाप्त नहीं करना चाहते। वे केवल राज्य के कार्यों को कम कर देने के पक्ष में हैं ताकि व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। राज्य को ऐसा कोई अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए जिससे वहाँ के नागरिकों के अधिकारों का हनन हो। राज्य का कार्य नकारात्मक (Negative) है और वह यह है कि व्यक्ति की प्राकृतिक उन्नति के मार्ग में जो बाधाएँ हों उन्हें हटा दे (To hinder the hinderences)। मानव की भलाई करना अथवा उसकी उन्नति का प्रबन्ध करना राज्य का कार्य नहीं है। राज्य को मूल रूप से एक पुलिस राज्य होना चाहिए। व्यक्तिवादी चाहते हैं कि राज्य को समाज में शांति और व्यवस्था (Law and Order) देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा (Defence) तथा नागरिकों के जान और माल की हिफाजत (Protection) करनी चाहिए। स्कूल और कॉलेज, वाचनालय और अजायबघर, अस्पताल इत्यादि खोलना राज्य का कार्य नहीं है।

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सभी उदारवादी अथवा व्यक्तिवादी एकमत नहीं हैं। हरबर्ट स्पेंसर ने राज्य के तीन कार्य सुझाए हैं—(1) व्यक्ति की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना। (2) व्यक्ति की आंतरिक शत्रुओं से रक्षा करना (3) विधिवत सम्पादित संविदाओं का पालन करवाना।

कुछ व्यक्तिवादी राज्य को कुछ अन्य कार्य सौंपने को सहमत हैं। गिलक्राइस्ट के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य है—(1) राज्य एवं नागरिकों की बाह्य आक्रमण से रक्षा। (2) नागरिकों की आपसी सुरक्षा अर्थात् व्यक्तियों को शारीरिक क्षति आदि से बचाना। (3) सम्पत्ति की लूट मार एवं क्षति से रक्षा करना। (4) व्यक्तियों की संविदाओं को भंग करने वालों से रक्षा करना। (5) अपाहिजों एवं अशक्तों की रक्षा करना। (6) संक्रामक रोगों को रोकना और उनके फैल जाने पर व्यक्तियों की समुचित सहायता करना। अंतिम दो कार्यों को सब व्यक्तिवादी स्वीकार नहीं करते।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Laissez Faire Theory)

(1) राज्य व्यक्ति के लिए अहितकर नहीं है। राज्य समाज के हितों की पूर्ति करता है अतः समाज के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है। गार्नर के अनुसार, "आज के जटिल एवं सभ्य जीवन में राज्य का कार्य व्यक्तियों को केवल

दबाना नहीं है और न केवल उनका निषेधात्मक नियमन करना है। राज्य का मूल्य दबावपूर्ण दण्ड की अपेक्षा बहुत अधिक है। वह सार्वजनिक भलाई का सस्थान कायम करता है, उसे प्रोत्साहित करता है और कार्यान्वित करता है।"

(2) व्यक्तिवाद का आर्थिक दृष्टिकोण औद्योगिक युग में सही नहीं माना जा सकता। व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था पूँजीवाद को जन्म देती है जिसमें मजदूरों की भलाई नहीं हो सकती। गिलक्राइस्ट के अनुसार, व्यक्तिवाद आधुनिक जीवन की जटिलताओं के लिए पूर्णतः अनुपयोगी सिद्ध हुआ है।

(3) यह सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हेतु सहयोग के स्थान पर सघर्ष का समर्थन करता है। यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग अस्तित्व है और दूसरे व्यक्तियों से उसका सम्बन्ध नहीं है, पर यह धारणा निर्मूल है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति का हित समाज या राज्य के हित से अलग नहीं है।

(4) स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ हस्तक्षेप का अभाव नहीं, अपितु उन व्यवस्थाओं का होना है जिनमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का अधिकाधिक विकास सम्भव हो सके। स्वतत्रता का वास्तविक अर्थ वांछनीय तथा लाभकारी कार्य करने की सुविधाएँ हैं। सरकार अपने कार्यों द्वारा हमें विभिन्न सुविधाएँ प्रदान करती है। आवश्यक प्रतिबन्ध के अभाव में वास्तविक स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं रह सकता।

(5) समाज में व्यक्ति समान रूप से समर्थ योग्य, धनी एव शक्तिशाली नहीं होते। यदि राज्य निर्बलों की सबलों से और गुण्डों से आम सभ्य आदमियों की रक्षा न करे तो समाज में अन्याय एव अशांति का बोलबाला हो जाए।

(6) *व्यक्तिवादी यह नहीं बतलाते हैं कि जीवन-सग्राम के लिए किसे सबसे उपयुक्त प्राणी माना जाय, सर्वाधिक* धनी बुद्धिमान या शक्तिशाली को? फिर वे इस पर मौन हैं कि समाज में बच्चों, स्त्रियों तथा बीमारों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि ये लोग स्वभावतः दूसरों के आक्रमणों से अपनी रक्षा स्वय नहीं कर सकते।

(7) प्राणीशास्त्र के अनुसार जीवन-सग्राम के नियम मनुष्यों पर पूर्णतया लागू नहीं हो सकते, क्योंकि मनुष्य पशु न होकर एक विवेकशील और नैतिक प्राणी है।

(8) आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद शोषण का प्रश्रय देता है और उपभोक्ताओं के हितों के दमन में सहायता करता है। व्यक्तिवादियों क आर्थिक सिद्धान्त के परिणामस्वरूप लोग भूखों मरते हैं, मजदूरों को कम मजदूरी मिलती है और सफाई तथा स्वास्थ्य की सुव्यवस्था नहीं होती।

(9) व्यक्तिवादी स्वभाव से मनुष्य को स्वार्थी मानते हैं, परन्तु यह अस्वाभाविक तर्क है। मनुष्य में त्याग तथा समाज सेवा की भावना होती है।

(10) व्यक्तिवादी राज्य तथा सरकार में भेद नहीं करते।

(11) *व्यक्तिवादियों का यह कहना है कि व्यक्ति स्वय अपने हित को सबसे अधिक समझता है, किन्तु मादक पदार्थों* का सेवन करने वाले तथा व्यभिचारी अपने हित की चिन्ता नहीं करते। इन पर राज्य का नियन्त्रण होना वांछनीय है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त आज लगभग मृतप्राय हो चुका है, किन्तु इसके गुण आज समाजवादी युग में कम महत्वपूर्ण नहीं है। *गिलक्राइस्ट के अनुसार, "आत्म-विश्वास बढ़ाने में, अनावश्यक सरकारी विरोध बढ़ाने में, व्यक्ति को समाज का अमूल्य अग बनाने में व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने आधुनिक विचारधारा पर अपना अमिट प्रभाव डाला है।"* हस्तक्षेप सम्बन्धी कानूनों को निरस्त कराने में इस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण योगदान है। बीसवीं शताब्दी में बढ़ते हुए अधिनायकवाद ने आम व्यक्ति की *स्वतन्त्रता को समाप्त कर उसे राजनीतिक दासता के चगुल में फँसाने का प्रयास किया है। साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद जैसी* तानाशाही प्रवृत्तियों के विरोधस्वरूप राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति पुनः अगड़ाई ले रहा है। सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) के विरुद्ध व्यक्ति की यह प्रतिक्रिया आधुनिक व्यक्तिवाद (Modern Individualism) कहलाती है।

3. नव-उदारवाद
(Neo-Liberalism)

लम्बे समय तक उदारवाद को व्यक्तिवाद का पर्यायवाची माना जाता रहा, किन्तु अब इसे पूर्ण सत्य नहीं माना जाता। अब यह माना जाता है कि व्यक्तिवाद उदारवाद का अभिन्न अग है, किन्तु दोनों एक नहीं हैं। सेबाइन ने लिखा है कि लगभग 1830 तक उदारवाद और व्यक्तिवाद में कोई विशेष भेद नहीं था, क्योंकि उस समय तक ये दोनों विचारधाराएँ *व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप की विरोधी थीं, लेकिन इसके बाद स्थिति बदल गई।* ग्रीन जैसे उदारवादियों के द्वारा सकारात्मक स्वतन्त्रता पर जोर देने से समाज के सभी सदस्यों के कल्याण और विकास के लिए राज्य के द्वारा समुचित सुविधाओं की व्यवस्था की जाने लगी। इसके साथ माना जाने लगा कि यदि जनकल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने के *लिए व्यक्तियों के जीवन में राज्य द्वारा हस्तक्षेप करना या व्यक्तियों के जीवन पर नियन्त्रण रखा जाना आवश्यक है* तो राज्य के द्वारा ऐसा किया जा सकता है।

नव-उदारवाद को लोकतन्त्र का नाम दे दिया जाता है, किन्तु यह सीमित अर्थ में ही सही है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुसंख्यक वर्ग की सत्ता में विश्वास करता है जबकि नव-उदारवाद सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में बहुसंख्यक वर्ग की अपेक्षा अल्पसंख्यक वर्ग के प्रति अधिक जागरुक है। इस प्रकार नव-उदारवाद लोकतन्त्र से अधिक हो जाता है। उदारवाद परिवर्तन और प्रगति का सन्देश देता है तथा व्यक्तिवाद और लोकतन्त्र भी इसमें शामिल हैं। इसके मूल सिद्धान्त इस प्रकार है—1 इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध, 2 मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा में विश्वास, 3 मानवीय विवेक में आस्था, 4 व्यक्ति साध्य तथा समाज और राज्य साधन, 5 व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विश्वास, 6 धर्मनिरपेक्षता में विश्वास, 7 समाज और राज्य को कृत्रिम संगठन मानना, 8 शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध, 9 कानून की प्रधानता में विश्वास, 10 अन्तर्राष्ट्रीय और विश्व शान्ति में विश्वास एवं 11 लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन।

4 मार्क्सवादी एव साम्यवादी सिद्धान्त

(Marxian & Communitarian Theory)

मार्क्सवादी सिद्धान्त मार्क्स के अनुयायियों अर्थात् साम्यवादियों द्वारा प्रतिपादित किया गया था। इस सिद्धान्त के समर्थक एंजिल्स (Angels), लेनिन (Lenin), स्तालिन (Stalin) माओ (Mao), आदि साम्यवादी नेताओं ने इसका विकास किया। मार्क्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) में कहा था—"राज्य सम्पूर्ण बुर्जुआ वर्ग के सामान्य उद्देश्यों का प्रबन्ध करने के लिये उसकी कार्यकारिणी समिति है।" मार्क्सवादियों साम्यवादियों के लिये *राज्य सामान्य हितों का पोषक नहीं, अत यह व्यक्ति के विकास में सहायक नहीं। इसके लिए राज्य एक वर्गीय संगठन* है जिसका उदय बुर्जुआ वर्ग के हितों की रक्षा करने हेतु हुआ है। 19वीं शताब्दी म कार्ल मार्क्स (1818 1883) तथा फ्रेडरिक एंजिल्स (1820-1895) नामक दो प्रसिद्ध विचारकों ने एक क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रवर्तन किया जो मार्क्सवाद के नाम स लोकप्रिय हुई। यह विचारधारा क्रान्तिकारी थी। रूस, चीन आदि देशों में इस विचारधारा के आधार पर क्रान्तियाँ *हुई और वहाँ साम्यवादी शासन-व्यवस्था स्थापित हुई।*

मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति

एस एन दुबे के अनुसार, "मार्क्स का राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना पृथक् सिद्धान्त है। वह अरस्तू के मत से सहमत नहीं है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और न वह यह मानता है कि राज्य की रचना ईश्वर ने की थी। वह हॉब्स, लॉक, रूसो आदि द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि मार्क्स के सिद्धान्त में शक्ति का महत्व है तथापि राज्य की उत्पत्ति के शक्ति-सिद्धान्त को वह उस रूप में नहीं मानता जिस रूप में अन्य विद्वानों ने उसका प्रतिपादन किया है। वह विकासवादी सिद्धान्त से सहमत नहीं है। वह यह मानता है कि राज्य का जो स्वरूप आज देखने को मिलता है वह ऐतिहासिक विकास का परिणाम है किन्तु राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादी सिद्धान्त को वह स्वीकार नहीं करता।" मार्क्स के अनुसार आदिमानव समाज राज्यविहीन था, न कोई शासक था, न शासित, इसलिये उस आदिमानव की समाज-व्यवस्था को मार्क्स ने साम्यवादी व्यवस्था कहा है। कालान्तर में आदिम सामाजिक व्यवस्था का विघटन होने लगा, फलत उत्पादन के तरीकों के विकास ने शोषण को सम्भव बना दिया। इस प्रकार समाज में वर्ग-भेद उत्पन्न हो गया। चूंकि वर्ग-भेद और वर्ग-शोषण ने राज्य को जन्म दिया, इसलिए राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को मार्क्सवादी वर्ग सिद्धान्त भी कहते हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति शोषक वर्ग द्वारा शोषित वर्ग के शोषण से हुई है।

मार्क्सवादी-साम्यवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य की प्रकृति के स्वरूप के लक्षण हैं—(i) राज्य बुर्जुआ वर्ग की कार्यकारिणी समिति है। (ii) राज्य वर्गसंघर्ष का परिणाम है। (iii) राज्य शोषण का यन्त्र है। (iv) राज्य शक्ति और हिंसा पर आधारित है। (v) राज्य स्थायी संस्था नहीं है वह अस्थायी संस्था है। (vi) साम्यवादी व्यवस्था में राज्य का धीरे धीरे लोप हो जायेगा।

राज्य का उद्देश्य—*राज्य की ऐतिहासिक भूमिका के आधार पर मार्क्स और एंजिल्स की यह अवधारणा बनी कि* "राज्य एक निष्पक्ष संस्था नहीं है। इसका उद्देश्य सभी वर्गों और व्यक्तियों के हितों की रक्षा करना नहीं है। पूरे इतिहास में वर्ग-शोषण को कायम रखना ही उसकी भूमिका रही है।" लोकतन्त्र के विषय में मार्क्स का दृष्टिकोण अनुकूल था। वह लोकतन्त्र की व्यवस्था को सामन्ती युग की निरंकुश राजतन्त्रीय व्यवस्था से अच्छा समझता था। 19वीं शताब्दी में मार्क्स ने यूरोप के उन सभी राजनीतिक संघर्षों का समर्थन किया और सर्वहारा वर्ग के निरंकुश राजतन्त्र को उन्मूलित करने एवं प्रजातन्त्र की स्थापना करने का आह्वान किया, किन्तु मार्क्स की यह धारणा थी कि केवल लोकतन्त्र की स्थापना से ही शोषण विहीन समाज की स्थापना नहीं की जा सकती, अपितु इसके लिये यह आवश्यक है कि मजदूर वर्ग राज्य को पूँजीपतियों के हाथों से छीनकर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले।

मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Marxian Theory)—राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना विद्वानों ने निम्नांकित प्रकार से की है—

(1) राज्यविहीन समाज की अवधारणा केवल भ्रम है—राज्यविहीन समाज की स्थापना का आदर्श एवं वर्गहीन तथा शोषणमुक्त समाज का निर्माण कोरी कल्पना है, क्योंकि साम्यवादी देशों में शोषण, भ्रष्टाचार, वर्ग-भेद आदि पूर्णतया विलुप्त नहीं हो सका है। मनुष्य को नियन्त्रित एवं अनुशासित रखने हेतु राज्य की सत्ता की आवश्यकता सदैव बनी रहती है। वर्तमान में रूस एवं पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवादी व्यवस्था की विफलता इसका प्रमाण है कि साम्यवादी अधिनायकतन्त्र से लोग सन्तुष्ट नहीं थे।

(2) राज्य एक नैतिक संस्था है, वर्गीय संस्था नहीं—मार्क्स की यह अवधारणा कि "राज्य कुछ अल्पसंख्यकों या बुर्जुआ वर्ग के हितों की रक्षा करता है और सर्वहारा वर्ग का शोषण करता है" एक मिथ्या एवं आधारहीन विचार है। वस्तुतः राज्य एक नैतिक संस्था है जो सभी व्यक्तियों के विकास में सहायक होती है।

(3) राज्य स्थायी है, अस्थायी नहीं—मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार यह मानना कि अधिनायकतन्त्र एक संक्रमणकालीन व्यवस्था है और शीघ्र ही राज्य का लोप होकर वर्गहीन समाज की स्थापना हो जायेगी, कोरी कल्पना है। रूस का उदाहरण साक्षी है कि वहाँ 1917 से अब तक राज्य का लोप नहीं हुआ बल्कि साम्यवादी व्यवस्था का ही लोप हो गया है।

(4) मार्क्सवादियों द्वारा मार्क्सवाद का परित्याग—स्वयं कट्टर मार्क्सवादियों ने भी मार्क्सवाद का परित्याग कर दिया है। मार्क्सवाद की यह कल्पना केवल भ्रम रही है कि समस्त विश्व में साम्यवादी व्यवस्था कायम होने के बाद साम्यवादी देशों में अधिनायकवादी राज्य समाप्त हो जायेगा। साम्यवाद का नेतृत्व करने वाले देश रूस ने भी साम्यवाद का परित्याग कर 'ग्लासनोस्त' व 'पैरेस्त्रोइका' की गोर्वाचोव की नीति अपनाई है।

(5) सामाजिक परिवर्तन क्रान्ति द्वारा न होकर संवैधानिक परिवर्तन द्वारा भी हो सकता है—साम्यवादियों की यह धारणा मिथ्या निकली कि सामाजिक परिवर्तन केवल क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है, बल्कि अनेक लोकतान्त्रिक देशों में संवैधानिक साधनों से भी परिवर्तन हुए हैं। संवैधानिक परिवर्तन अधिक स्थायी होते हैं और क्रान्तिमूलक परिवर्तन अस्थायी।

(6) राज्य केवल बुर्जुआ वर्गों का ही नहीं, जनसाधारण (सर्वहारा) का भी हो सकता है—मार्क्सवादी सिद्धान्त की यह धारणा निर्मूल है कि राज्य केवल अल्पसंख्यक सुविधाभोगी बुर्जुआ वर्गों का हित साधन करता है, जनसाधारण का नहीं। विश्व के प्रजातान्त्रिक राज्यों के कार्यों और उपलब्धियों से मार्क्स की यह धारणा मिथ्या सिद्ध होती है, क्योंकि राज्य यदि कुछ सुविधाभोगी वर्गों के द्वारा जनसाधारण के शोषण में योग देता है, तो यह कृषि, उद्योग, शिक्षा, व्यापार-व्यवसाय, कला, साहित्य आदि के विभिन्न क्षेत्रों के विकास के कार्य कर जनसाधारण का हित-साधन भी करता है।

5. उपनिवेशोत्तर
(Post Colonial)

जो देश उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के अधीन रहने के बाद स्वतन्त्र हुए, वे सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। परम्परागत मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत विकासशील देशों में राज्य की भूमिका का विवरण नहीं मिलता, फिर भी समकालीन मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत इन देशों की राजनीति पर विचार किया जाता है। विकासशील देशों में एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के अलावा लेटिन अमेरिका के वे देश भी शामिल हैं जो इनसे बहुत पहले स्वाधीन हो गए थे, परन्तु पूँजीवादी देशों के दबाव के कारण अब तक अपना विकास नहीं कर पाये थे। इन्हें 'तीसरी दुनिया के देश भी कहा जाता है। विकासशील देशों में साधारणतया पूँजीवादी ढंग के औद्योगिक विकास का प्रयत्न किया जाता है, अतः इनमें स्थानीय पूँजीपति वर्ग कामगार वर्ग का शोषण करता है। दूसरी ओर, विश्व के विकसित राष्ट्र विकासशील देशों के पूँजीपति वर्ग के साथ मिलकर अपने शोषण का क्रम बनाए रखते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियाँ, सैनिक सहायता या तकनीकी सहायता के बदले में प्राप्त होने वाली रियायतें विकासशील देशों में अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी शोषण के आधुनिक प्रमुख उदाहरण हैं। अतः मार्क्सवाद के अनुसार विकासशील देशों को शोषित राष्ट्रों के नाते विश्व के सर्वहारा वर्ग के साथ मिलकर पूँजीवाद के विरुद्ध लड़ाई लड़नी चाहिए।

□□□

3

राज्य सम्प्रभुता

(State Sovereignty)

'सम्प्रभुता' अथवा 'प्रभुसत्ता' अंग्रेजी शब्द 'Sovereignty' का हिन्दी पर्याय है। यह शब्द अपने मूल रूप 'सुपरेनस' (Superenus) से बना है जिसका अर्थ है—श्रेष्ठ या सबसे ऊपर। इसका तात्पर्य राज्य की परम-शक्ति अथवा सम्प्रभुता से है। यह सम्प्रभुता राज्य का प्राण है। यह राज्य का ऐसा विशेषतामूलक चिह्न है जिसके आधार पर राज्य को अनेक समुदायों से पृथक् किया जाता है।

सम्प्रभुता का अर्थ और उसकी परिभाषा

(Meaning and Definition of Sovereignty)

'सम्प्रभुता' राज्य की सर्वोच्च इच्छा-शक्ति का पर्याय है। राज्य के सभी व्यक्ति और संस्थाएँ इसके अधीन होते हैं। यह किसी अन्य शक्ति के अधीन नहीं होता। सम्प्रभुता बाह्य तथा आंतरिक दोनों पक्षों की दृष्टि से सर्वोपरि होती है। स्ट्रांग के मतानुसार, "जब इस शब्द का प्रयोग राज्य के साथ किया जाता है तो इसका एक विशेष अर्थ कानून बनाने वाली सर्वोपरि शक्ति से होता है।"[1] सम्प्रभुता को ठीक प्रकार से समझने के लिए इसके दोनों स्वरूपों आंतरिक सम्प्रभुता (Internal Sovereignty) एवं बाह्य सम्प्रभुता (External Sovereignty) को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। आंतरिक सम्प्रभुता से तात्पर्य है कि आंतरिक रूप से राज्य परम श्रेष्ठ है। इसके अधीनस्थ प्रदेश में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों और समुदायों के लिए इसके आदेश सर्वथा मान्य हैं। राज्य के सम्पूर्ण नागरिकों और संगठनों पर राज्य की निर्बाध सत्ता होती है। राज्य के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों को राज्य की इच्छा के अधीन रहना पड़ता है। राज्य के अंतर्गत ऐसी कोई शक्ति नहीं होती जो राज्य को अपनी आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर सके, अतः आंतरिक क्षेत्र में राज्य सर्वोपरि होता है। गार्नर के अनुसार, "प्रत्येक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य में कोई ऐसा व्यक्ति, सभा अथवा समुदाय होता है जिसे कानून के रूप में सामूहिक इच्छा का निर्माण करने और उसे क्रियान्वित करने की सर्वोच्च सत्ता अर्थात् आज्ञा देने और उसे पालन कराने की अंतिम शक्ति प्राप्त होती है।"[2] आंतरिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता के समान बाहरी क्षेत्र में राज्य को स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। बाह्य कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य के बाहर ऐसी कोई शक्ति नहीं है जिस पर वह आश्रित हो अर्थात् राज्य को यह पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह विदेशों से जैसे चाहे वैसे सम्बन्ध स्थापित करे—चाहे वह मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखे चाहे युद्ध की घोषणा करे और चाहे तटस्थ नीति का अनुसरण करे। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और सन्धियों का राज्य की सर्वोच्च सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि उनको मानना उस राज्य की इच्छा पर निर्भर होता है। लास्की के अनुसार, "आधुनिक राज्य प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य होता है अतः वह अन्य राष्ट्रों के समक्ष स्वतन्त्र होता है। वह अपनी तद्विषयक इच्छा को इस प्रकार व्यक्त कर सकता है कि उस पर किसी बाह्य शक्ति का कोई प्रभाव पड़ने की आवश्यकता नहीं होती।"[3]

आंतरिक और बाह्य दोनों रूपों में पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न होने पर ही सम्प्रभुता का सृजन होता है। सोल्टाऊ के अनुसार, "राज्य द्वारा शासन करने की सर्वोच्च कानूनन शक्ति सम्प्रभुता है।"[4] बर्गेस के अनुसार, "राज्य के सब

---

1 *Strong, C. F.* Modern Political Constitutions, p. 7

2 *Garner, J. W.* Introduction to Political Science

3 *Laski* A Grammar of Politics.

4 *Soltau* An Introduction of Politics.

(5) अपवर्जितता—प्रभुता असवर्जित मानी गई है अर्थात् राज्य में केवल एक ही प्रभु शक्ति हो सकती है दो नहीं। सम्प्रभुता का अपने क्षेत्र में कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता।

(6) एकता अथवा अविभाज्यता—सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। सम्प्रभुता के विभाजन का अर्थ उसका विनाश होता है। रूसो के अनुसार, "सम्प्रभुता का विभाजन केवल एक धोखा है। गैटिल के अनुसार, "यदि सम्प्रभुता सम्पूर्ण नहीं है तो किसी राज्य का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। यदि यह विभाजित है तो उस प्रदेश में एक से अधिक राज्यों का अस्तित्व पाया जाएगा।"[1] यदि सम्प्रभुता के विभाजन को मान लें तो अन्तयस रूप से हमें उस देश में अनेक सर्वोच्च इकाइयाँ माननी पड़ेंगी जो सम्भव नहीं है। कोल्हन (Colhoun) के अनुसार, "सम्प्रभुता सम्पूर्ण है उसे विभाजित करना उसको नष्ट कर देना है। यह राज्य की सर्वोच्च सत्ता है और अर्द्धप्रभुत्व की बात करना ठीक वैसा ही है जैसे कि आधे वर्ग अथवा आधे त्रिभुज की बातें करना।" सम्प्रभुता की विशेषता उसकी अपनी एकता है। विभाजित, खण्डित क्षीण, सीमित तथा सापेक्ष सम्प्रभुता प्रभुत्व-सत्ता के सर्वथा विपरीत है।

आधुनिक काल में कुछ लेखक सम्प्रभुता की अविभाज्यता को स्वीकार नहीं करते। बहुलवादियों (Pluralists) ने प्रभुता के अविभाज्य सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। वे सम्प्रभुता को निरंकुश नहीं मानते। मैकाइवर, फाईनर आदि कुछ अमेरिकी लेखक अविभाज्यता के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। लॉवेल के अनुसार, "एक ही राज्य में दो प्रभुत्व-सम्पन्न अधिकार एक ही प्रजा को भिन्न-भिन्न मामलों में आदेश दे सकते हैं।"[2] लॉर्ड ब्राइस के मतानुसार, "वैधानिक राजसत्ता या सम्प्रभुता समान अधिकारियों में विभाजित की जा सकती है।"[3] हेमिल्टन और मेडिसन जैसे संघवादियों का मत है कि सम्प्रभु शक्ति का स्पष्ट विभाजन हो सकता है और संघ राज्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। चिसहाम बनाम जॉर्जिया (Chisholm Vs. Georgia) के मुकदमे (1792) में अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की थी। इस मुकदमे में यह प्रतिपादित किया गया था कि "राज्यों ने शासन की जिन शक्तियों को हस्तान्तरित कर दिया है उनके सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका सम्प्रभु है, किन्तु सुरक्षित शक्तियों के सम्बन्ध में सम्प्रभुता अमेरिकी संघ के प्रत्येक राज्य में निहित है।" राजनीति विज्ञान के अन्य विचारक जैसे—स्टोरी, कूली, हर्ड, होटन, टाकविल आदि ने इसी मत का समर्थन किया है। इनके अनुसार सम्प्रभुता का विभाजन हो सकता है। फ्रीमैन की मान्यता है कि "संघात्मक आदर्श की पूर्णता के लिए सम्प्रभुता का विभाजन जरूरी है।"

एक संघ-राज्य में भी वास्तविक रूप से दो राज्य नहीं हो सकते। संघ केवल एक ही राज्य होता है और इसलिए उसमें सम्प्रभुता भी एक ही होती है। संघ की इकाइयाँ राज्यों के नाम से सम्बोधित नहीं की जा सकतीं। कैलहन कहते हैं कि "यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि सम्प्रभुता से सम्बन्धित शक्तियों को किस प्रकार विभाजित किया जा सकता है और अलग-अलग अंगों को अपना-अपना कार्य करने के लिए किस तरह विभाजित किया जाए। यह भी प्रयोग किया जा सकता है कि सम्प्रभुता कुछ या अनेक भागों में बाँटी जाए, किन्तु बँटने के बाद वह सम्प्रभुता रह सकेगी, यह समझ से बाहर की बात है।"

सम्प्रभुता के विभिन्न रूप
(Different Kinds of Sovereignty)

(1) नाममात्र की अथवा औपचारिक सम्प्रभुता—कुछ देशों में नाममात्र के सम्प्रभु होते हैं। संसदीय व्यवस्थाओं में वैधानिक रूप से राज्य के सभी अधिकार नामधारी सम्प्रभु में निहित होते हैं। अधिकारों का कार्यान्वयन उसके नाम पर किया जाता है जैसे—इंग्लैण्ड का सम्राट या साम्राज्ञी। इन समस्त अधिकारों का उपयोग वास्तविक कार्यकारिणी अथवा मंत्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। शासक नाममात्र का प्रधान रहता है। उसके हाथ में वास्तविक शक्ति नहीं होती। वह वैधानिक प्रधान होता है। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश संविधान के अनुसार ब्रिटेन की सम्प्रभुता राजा या रानी में निहित है परन्तु व्यावहारिक रूप से इस प्रभुता का उपयोग वहाँ का मंत्रिमण्डल करता है। भारतीय संविधान में भी वास्तविक शक्तियाँ प्रधानमंत्री एवं उसके मंत्रिमण्डल को प्राप्त हैं। भारतीय राष्ट्रपति के पास कुछ अधिकार भले ही हों किन्तु संविधान निर्माताओं का उद्देश्य उसे संसदीय जनतन्त्र का वैधानिक अध्यक्ष बनाने का था। ऐसे अनेक उदाहरण और देशों में भी पाए जा सकते हैं।

(2) कानूनी सम्प्रभुता (Legal Sovereignty)—राज्य की सर्वोच्च सत्ता जिसका निर्णय कानूनी तौर पर सबके लिए बाध्यकारी हो कानूनी सम्प्रभुता कही जाती है। सम्प्रभुता का आशय उस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह से है

1 *Gettel* Introduction to Political Science
2 *Lowell* Philosophy of Politics
3 *Lord Bryce* Modern Development

जिसे वैधानिक रूप से अन्तिम आदेश देने की शक्ति प्राप्त हो। गार्नर के अनुसार, "कानूनी सम्प्रभु वह शक्ति है जो राज्य के उच्चतम आदेशों को कानून के रूप में प्रकट कर सके, वह शक्ति जो ईश्वरीय नियमों का, नैतिकता के सिद्धान्तों का तथा जनमत के आदेशों का उल्लंघन कर सके।"[1] कानूनी सम्प्रभु के पास असीम शक्ति होती है और उसकी आज्ञा ही कानून होती है। वकील इसी प्रकार की सम्प्रभुता से सम्बन्ध रखते हैं। कानूनी सम्प्रभुता नैतिक-सिद्धान्त और जनमत द्वारा सीमित नहीं की जा सकती। कानूनी सम्प्रभुता के आदेश कानून कहलाते हैं और न्यायालय उन्हीं का अनुकरण करते हैं। रिशे (Ritchie) के अनुसार, "वैध-प्रभु कानूनी रूप में वकील का सम्प्रभु है और वह एक ऐसा कानूनी सम्प्रभु है जिसके परे वकील और न्यायालय देखने से इनकार करते हैं। ब्रिटेन में पार्लियामेंट तथा ताज दोनों मिलकर कानूनी सम्प्रभु है। कानूनी दृष्टि से पार्लियामेंट की शक्ति असीमित है।" डायसी के अनुसार, "ब्रिटिश पार्लियामेंट कानूनी रूप से एक बच्चे को बालिग घोषित कर सकती है, मृत्यु के बाद भी किसी व्यक्ति को राजद्रोह का अपराधी ठहरा सकती है, किसी अवैध बच्चे को वैध करार दे सकती है और यदि उचित समझे तो किसी भी व्यक्ति को अपने ही मामले में अपना न्यायाधीश नियुक्त कर सकती है।"[2]

(3) राजनीतिक सम्प्रभुता (Political Sovereignty)—वर्तमान में कानूनी सम्प्रभुता एवं राजनीतिक सम्प्रभुता में अन्तर किया जाता है। कानूनी सम्प्रभुता सैद्धान्तिक रूप में असीम हो सकती है, पर वास्तविक रूप में प्रायः ऐसा नहीं पाया जाता। कानूनी सम्प्रभुता निश्चित होती है। कानूनी सम्प्रभु ही कानून की आँखों में सर्वशक्तिमान है, परन्तु विल्सन के अनुसार, "इस सर्वोच्च शक्ति का व्यवहार में कभी प्रयोग नहीं होता।"[3] डायसी के अनुसार, "कानूनी सम्प्रभु के पीछे एक दूसरा सम्प्रभु होता है जिसके सम्मुख कानूनी सम्प्रभु को झुकना पड़ता है।"[4] यह शक्ति ही राजनीतिक सम्प्रभु है।

गार्नर के अनुसार, "*यद्यपि कानूनी सम्प्रभु के पीछे एक अन्य शक्ति रहती है जो कानूनी तौर पर अज्ञात, असंगठित* और कानूनी आज्ञा के रूप में राज्य की इच्छा को प्रदर्शित करने में भले ही असमर्थ हो, तथापि उसके पास ऐसी शक्ति होती है जिसके शासनादेशों को व्यवहार में कानूनी सम्प्रभु शिरोधार्य करता है और जिसकी इच्छा ही राज्य में सर्वत्र मान्य होती है। सम्पूर्ण जनता राजनीतिक सम्प्रभुता की सृष्टि करती है।" यह सम्भव है कि कानूनी सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता में मतभेद उत्पन्न हो जाए, किन्तु इन दोनों के संघर्ष में कानूनी सम्प्रभु की सत्ता ही मान्य होगी, इसलिए कानूनी सम्प्रभु की सत्ता सर्वप्रथम है। राजनीतिक सम्प्रभु के आदेशों की उच्चता के बावजूद न्यायालय केवल कानूनी सम्प्रभु के आदेशों को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि राजनीतिक विचारक सम्प्रभुता की अवस्थिति को ही स्वीकार नहीं करते। गैटिल की मान्यता है कि, "कानूनी सम्प्रभु के पीछे किसी राजनीतिक सम्प्रभु की खोज का प्रयत्न ही सम्प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा को नष्ट कर देता है और वह अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों की एक सूची बनकर रह जाती है।"[5] कुछ लेखक राजनीतिक सम्प्रभुता को अनिश्चित मानते हैं। लीकॉक के अनुसार, "कोई भी व्यक्ति जिस क्षण सम्प्रभुता की वैधानिक धारणा की ठोस निश्चितता को लाँघता है, उसी समय सब कुछ अस्पष्ट हो जाता है। आधुनिक राज्य में व्यक्तियों का एक विशेष समूह जो कानून और विधान सम्बन्धी असीम अधिकारों से सुसज्जित रहता है एक निश्चित और जानने योग्य समूह है। विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों का वह समूह जिसकी इच्छा वास्तव में सर्वोच्च होती है विश्लेषण करने पर एक अस्पष्ट जटिलता में विलीन होता है।"[6]

राजनीतिक सम्प्रभु वह शक्ति है जो कानूनी सम्प्रभु का स्वरूप बदल सकता है। दीर्घकाल तक उसकी इच्छा मान्य होती है, अतः कानूनी सम्प्रभु के अतिरिक्त भी एक राजनीतिक सम्प्रभु सभी राज्यों में सदैव होता है। सिजविक के अनुसार, "एक अर्थ में किसी भी देश की जनता को राजनीतिक शक्ति का अंतिम आश्रय-स्थल कहा जा सकता है।"[7] लास्की के कथनानुसार, "राज्य की इच्छा, वास्तव में सरकार की इच्छा है, क्योंकि जिन नागरिकों पर वह शासन करती है वे उस इच्छा को स्वीकारते हैं। प्रत्येक सरकार को उन लोगों के निर्णय को ध्यान में रखना चाहिए जो उनके कार्यों के परिणामों को सहन करेंगे, अतः जनता की इच्छा एक ऐसी शक्ति है जिसके विरुद्ध अपील नहीं हो सकती।"[8]

(4) लोकप्रिय या जनप्रिय प्रभुता (Popular Sovereignty)—लोकप्रिय या जनप्रिय प्रभुता का विकास 17वीं एवं 18वीं शताब्दी में हुआ। इसका जन्म राजाओं के दैवी अधिकार के विरुद्ध हुआ, जिसके फलस्वरूप दैवी

1. *Garner* . Political Science & Govt.
2. *Dicey, J* : German Philosophy and Politics.
3. *Wilson* The Elements of Modern Politics.
4. *Dicey, J* German Philosophy and Politics.
5. *Gettel* Introduction to Political Science.
6. *Leacock* Elements of Political Science.
7. *Sidgewick* : Elements of Politics.
8. *Laski* A Grammar of Politics.

सिद्धान्त का अन्त हो गया। फ्रान्स में इसके प्रमुख समर्थक रूसो और अमेरिका में जैफरसन थे। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में इस जनप्रिय सम्प्रभुता का विकास शीघ्रता से हुआ। आधुनिक युग में लोकप्रिय प्रभुता लोकतन्त्र का आधार और पर्याय बन चुकी है। यह माना जाता है कि लोकप्रिय प्रभुता निर्वाचक मंडल में निहित होती है। सम्प्रभुता चुनाव के समय अपना भाग अदा करती है जब संविधान के अनुसार नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो। प्रजातन्त्र में भी समूची जनता प्रभुशक्ति का उपयोग नहीं करती। वह अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। ये प्रतिनिधि राज्य की सम्प्रभुता को दल अथवा संगठन के आधार पर क्रियान्वित करते हैं। गार्नर के अनुसार, "लोकप्रिय प्रभुता का अर्थ निर्वाचक समूह की बहुसंख्या की शक्ति से अधिक कुछ नहीं होता और यह उन्हीं देशों में सम्भव है जिनमें व्यापक मताधिकार की प्रणाली प्रचलित है और वैध रूप में स्थापित उपायों द्वारा उनकी इच्छा को व्यक्त और प्रसारित करने के लिए क्रियान्वयन होता है।"

लोकप्रिय सम्प्रभुता का स्वरूप निर्धारण करना कठिन है, किन्तु जनतान्त्रिक व्यवस्थाओं में जनमत के अभाव की अवहेलना सम्भव नहीं है। यह सिद्धान्त राज्य और उसकी शक्ति को जन-सत्तात्मक आधार देता है। डॉ. आशीर्वादम् के अनुसार, इस सिद्धान्त में सत्यता है—(i) किसी भी सरकार का अस्तित्व अपने हित के लिए नहीं होता जनहित ही उसका सच्चा अन्तिम उद्देश्य है। (ii) जान-बूझकर जनमत को दबाने या कुचलने से क्रान्ति की सम्भावनाएँ बलवती हो जाती हैं। (iii) जनमत को प्रकट करने के कानूनी किन्तु सरल साधनों की व्यवस्था होना उचित है। (iv) जल्दी-जल्दी चुनाव द्वारा तथा स्थानीय स्वायत्त शासन, जनमत संग्रह (Referendum), प्रारम्भिक (Initiative) और प्रत्याह्वान (Recall) अर्थात् जन-प्रतिनिधि को वापस बुलाने के अधिकार (Recall) द्वारा जनमत के प्रति अधिक प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होना चाहिए। (v) राज्य-सत्ता का प्रयोग सरकार द्वारा संवैधानिक तरीकों से होना चाहिए, मनमाने ढंग से नहीं।"

(5) यथार्थ एवं वैध सम्प्रभुता (De-facto and De-jure Sovereignty)—यथार्थ सम्प्रभुता वह होती है जिसका अनुभव सम्प्रभु, जनता अथवा शासक किया करते हैं। इसके विपरीत वैध सम्प्रभुता कानूनी मर्यादा के अंदर मान्य होती है। सामान्यतया दोनों प्रकार की सम्प्रभुताएँ एक-दूसरे में मिश्रित रहती हैं। वैध सम्प्रभु यथार्थ सम्प्रभु भी हो सकता है। कई बार कानूनी सम्राट दूसरा होता है और गद्दी का अधिकारी सम्राट अन्य। उदाहरणार्थ 1935 में इटली ने एबीसीनिया पर कब्जा करके राजा को राज्यच्युत कर दिया था, लेकिन विश्व के अन्य राष्ट्रों ने एबीसीनिया के पुराने सम्राट हेल सिलासी को ही वहाँ का राजा माना। इटली की इस वास्तविक विजय को स्वीकार नहीं किया गया। ऐसी हालत में राजनीतिक विचारक पदच्युत राजा को वैध प्रभु (De-jure) और मुसोलिनी को वहाँ का यथार्थ राजा (De facto) मानते रहे। वह व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह जो वास्तव में शक्ति को क्रियान्वित करता है और अपने आदेशों की पालना दूसरों से करवा सकता है तथा जिसके आदेशों का बहुसंख्यक लोग स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं, उसे यथार्थ सम्प्रभु कहा जाता है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, "एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों का वह समूह जो अपनी इच्छा अथवा सबकी इच्छा को क्रियान्वित कर सकता है, चाहे वह वैध हो अथवा अवैध, यथार्थ शासक है।"[1] वास्तविक शासक या प्रभुसत्ताधारी वे ही हैं जिनका वस्तुतः आज्ञापालन किया जाता है।

1. आस्टिन का सम्प्रभुता-सिद्धान्त

(Austin's Theory of Sovereignty)

सम्प्रभुता के सम्बन्ध में 19वीं शताब्दी के विख्यात अंग्रेज दार्शनिक जॉन आस्टिन ने विशद् रूप से विचार किया और बतलाया कि कानूनी रूप से सम्प्रभु कौन होता है, इसलिए आस्टिन को सम्प्रभुता सिद्धान्त का सबसे बड़ा व्याख्याता माना जाता है। आस्टिन के अनुसार, सम्प्रभु अन्य किसी की आज्ञा नहीं मानता। सम्प्रभुता के रहने पर ही कोई समाज एक स्वतन्त्र राज्य बन सकता है। सम्प्रभु एक व्यक्ति भी हो सकता है अथवा एक समूह भी। आस्टिन के अनुसार, "यदि किसी समाज का अधिकांश भाग एक निश्चित मानव श्रेष्ठ की आज्ञा का स्वभावतः पालन करता है और उस निश्चित मानव-श्रेष्ठ को किसी अन्य व्यक्ति की आज्ञा नहीं माननी पड़ती तो उस समाज में वह व्यक्ति सम्प्रभुता सम्पन्न होता है और वह समाज उस व्यक्ति सहित एक स्वतन्त्र राज्य कहलाता है।"[2] आस्टिन द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता की इस मान्यता का विवेचन करने पर यह लक्षण प्रकट होते हैं—

(1) प्रत्येक राज्य में एक निश्चित व्यक्ति सर्वोच्च होता है और अधिकांश व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करने के अभ्यस्त होते हैं। प्रत्येक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज में सम्प्रभुता शक्ति का अस्तित्व आवश्यक है। (2) सम्प्रभुता सदैव

---

1. *Lord Bryce* Modern Develpments.
2. *Austin J* Lectures on Jurisprudence

एक निश्चित मानव-श्रेष्ठ अथवा समूह (Determinate Human Superior) होता है। किसी अनिश्चयात्मक समूह को सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। (3) यह निश्चित मानव-श्रेष्ठ किसी अन्य उच्चाधिकारी की आज्ञा का पालन नहीं करता। इसकी इच्छा का सभी लोगों द्वारा पालन किया जाता है। सम्प्रभु की आज्ञाएँ अन्यायपूर्ण और अविचारपूर्ण होने पर भी वैध होती हैं और उनका विरोध नहीं किया जा सकता। (4) सम्प्रभु की आज्ञा का समाज पूर्ण रूप से अनुपालन करता है, फलतः यह अनुपालन न होकर एक आदत के रूप में होता है। थोड़े समय के लिए यदि किसी के हाथ में आज्ञा प्रदान करने की शक्ति आ जाए तो उसे सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता। (5) सम्प्रभु के आदेश ही कानून होते हैं। इसके बिना किसी कानून का अस्तित्व नहीं रह सकता। सम्प्रभु की आज्ञा नहीं मानने वाले को दण्ड दिया जाता है। (6) सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। उसका विभाजन करने का मतलब उसे समाप्त करना है। सम्प्रभुता निरपेक्ष होती है, उस पर सीमाएँ नहीं होती।

आस्टिन ने सम्प्रभुता को निश्चित, स्वेच्छाचारी, स्थायी, सर्वव्यापी, असीमित और अविभाज्य माना है। उसका सम्प्रभुता-सिद्धान्त एक वकील के दृष्टिकोण का द्योतक है।

आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Austin's Theory of Sovereignty)

आस्टिन के सम्प्रभुता और विधि सम्बन्धी सिद्धान्तों की बहुत तीव्र आलोचना निम्नांकित बिन्दुओं पर हुई—

(1) समाज में निश्चित जनश्रेष्ठ को खोजना कठिन है—सर हेनरीमैन के अनुसार इतिहास में शासकों का कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसे आस्टिन का 'निश्चयात्मक सम्प्रभु' कहा जा सके। तानाशाह भी अनेक नैतिक प्रभावों, जनता की परम्पराओं और परम्परागत कानूनों से प्रभावित अथवा प्रतिबंधित होते थे। परम्पराएँ और रीति-रिवाज युगों के विकास का परिणाम होते हैं जिन्हें किसी भी निश्चयात्मक व्यक्ति या 'निकाय' द्वारा बनाया नहीं जा सकता।

(2) आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यों पर लागू नहीं होना—आज जिस सम्प्रभुता में विश्वास किया जाता है वह आस्टिन के 'निश्चयात्मक सम्प्रभु' की धारणा से मेल नहीं खाती। संघात्मक राज्यों में यह पता लगाना असम्भव है कि निश्चयात्मक प्रभुसत्ता कहाँ स्थित है? यदि अमेरिका के संविधान में संशोधन करने वाले निकाय को सम्प्रभु माना जाए तो यह गलत होगा, क्योंकि वह 'निश्चयात्मक' नहीं होता है। अमेरिकी संविधान में तो आस्टिन के 'निश्चयात्मक सम्प्रभु' की खोज निकालने का प्रयास एक अर्थहीन प्रयास ही है, क्योंकि वहाँ न तो काँग्रेस सर्वोच्च है न कार्यपालिका, न न्यायपालिका और न संविधान ही।

(3) सम्प्रभुता असीमित नहीं—आस्टिन ने अपने सिद्धान्त में पूर्ण रूप से अमूर्त और वैधानिक दृष्टिकोण अपनाया है तथा सम्प्रभुता के दार्शनिक पहलू की उपेक्षा की है। यह विचारणीय है कि यदि सम्प्रभु की आज्ञाओं का पालन केवल 'आदतन' किया जाता है तो उसे असीमित मानना अतार्किक होगा।

(4) कानून सम्प्रभु की आज्ञा मात्र नहीं होता—उसके अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेश मात्र है। लास्की का आरोप है कि कानून को केवल 'आदेश मात्र' मानना तो न्यायवेत्ता के लिए 'बाल की खाल खींचना' है। प्रत्येक समाज में रीति-रिवाजों का महत्व होता है जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राचीन राज्यों में सामाजिक प्रथाएँ और परम्पराएँ ही कानून का काम करती थीं। यदि हम ब्रिटिश कॉमन-लॉ की स्थिति को देखें तो पाएँगे कि यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से संसद में राजा द्वारा उसे परिवर्तित किया जा सकता है और इच्छानुसार मोड़ा जा सकता है, तथापि व्यवहार में सम्प्रभु द्वारा अधिकांश कॉमन-लॉ को स्वयं की सुरक्षा को खतरे में डाले बिना नहीं बदला जा सकता।

(5) सम्प्रभु कानूनों का निर्माता नहीं—वर्तमान अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सम्प्रभु कानूनों का निर्माता नहीं होता। कानून सामाजिक आवश्यकता की अभिव्यक्ति होते हैं। क्रेब, ड्यूग्वी एवं लास्की का तर्क है कि राज्य कानून नहीं बनाता, वरन् कानून ही राज्य को बनाता है।

(6) शक्ति को अत्यधिक महत्व—कानून की अवज्ञा करने वाले को दण्डित किए जाने की बात कहकर आस्टिन ने शक्ति के तत्व पर अधिक बल दिया है, पर वास्तविकता यह है कि हम कानून का पालन दण्ड के भय से नहीं, वरन् कानून के अनुरूप आचरण करने की भावना से करते हैं।

(7) सम्प्रभुता अविभाज्य नहीं—आस्टिन ने सम्प्रभुता को अविभाज्य माना है। लॉर्ड इस मत से सहमत नहीं हैं। प्रत्येक राजनीतिक समाज में कार्यों का विभाजन किया जाता है। ऐसे विभाजन के बिना कोई भी सरकार अपना कार्य कर ही नहीं चला सकती। सरकार के तीन प्रमुख अंग हैं—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका। इस प्रकार राज्य में केवल एक ही सम्प्रभु मानने की अपेक्षा तीन सम्प्रभु मानने होंगे। फलतः अनेक अंग अनेक इकाइयों में विभक्त कर देते हैं। सरकार के ये तीनों अंग एक-दूसरे से इतने पृथक् और स्वतन्त्र होते हैं कि बिना एक-दूसरे

के हस्तक्षेप के कोई भी अंग अपने कार्यों का संचालन कर सकता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि सम्प्रभुता अविभाज्य है? ऑस्टिन के समर्थक यह अवश्य कह सकते हैं कि विभाजन कार्यों का होता है न कि इच्छा का। इच्छा एक इकाई के रूप में रहती है क्योंकि राज्य के विभिन्न अंग परस्पर विरोधी रूप में कार्य नहीं कर सकते।

(8) सम्प्रभुता निरपेक्ष नहीं—ऑस्टिन ने सम्प्रभु-शक्ति को निरपेक्ष और असीमित माना है। बहुलवादियों का तर्क है कि वैधानिक रूप से सम्प्रभुता असीमित मानी जाए, किन्तु व्यवहारतः उसके प्रत्येक पहलू पर राजनीतिक और ऐतिहासिक सीमाएँ लगी रहती हैं। लेस्ली स्टीफन के अनुसार सम्प्रभुता आंतरिक और बाह्य रूप से सीमित है। आंतरिक रूप से इसलिए कि प्रत्येक व्यवस्थापिका कुछ सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है। उसके स्वरूप का निर्धारण उन तत्वों द्वारा होता है जो समाज के रूप को निर्धारित करते हैं। बाह्य रूप से राज्य की सम्प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीयतावाद से सीमित है। आज राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधियों द्वारा बँधे हुए होते हैं। विश्व-राज्य की कल्पना ने राज्य की सम्प्रभुता को भारी ठेस पहुँचाई है।

ऑस्टिन के सिद्धान्त का औचित्य एवं महत्व
(Justification and Importance of Austin's Theory)

विविध आलोचनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि ऑस्टिन ने सम्प्रभुता के जिस कानूनी पहलू पर बल दिया है वह महत्व का है। उसके द्वारा सम्प्रभुता के लौकिक और राजनीतिक रूपों की अनिश्चितता निश्चितता का रूप मान कर लेती है फिर कानून की दृष्टि से प्रत्येक राज्य में किसी न किसी व्यक्ति या समुदाय की सर्वोच्च सत्ता विद्यमान रहती है।

2 सम्प्रभुता का बहुलवादी या अनेकवादी सिद्धान्त
(Pluralistic Theory of Sovereignty)

राज्य सम्प्रभुता के विषय में दो विचारधाराएँ हैं—(क) दार्शनिक एवं (ख) विश्लेषणात्मक या एकत्ववादी। दोनों विचारधाराओं में सम्प्रभुता को राज्य की सर्वोपरि शक्ति और उसे पूर्णतः अपरिमित एवं अविभाज्य माना गया है। एकत्ववादी सिद्धान्त के अनुसार सम्प्रभुता समस्त राजनीतिक सत्ता अथवा समस्त वैधानिक सत्ता का मूल स्रोत है। एकत्ववादी सिद्धान्त राज्य की प्रादेशिक सीमाओं के अन्तर्गत सब संघों को राज्य की उत्पत्ति मानता है और स्वीकार करता है कि वे अपने अस्तित्व के लिए राज्य की इच्छा पर निर्भर हैं। जिन शक्तियों का ये विभिन्न संघ प्रयोग करते हैं उनकी स्वीकृति उन्हें राज्य द्वारा प्राप्त होती है। हेसियो के अनुसार, "बहुलवादी राज्य एक ऐसा राज्य है जिसमें सत्ता का केवल एक ही स्रोत नहीं है, यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजनीय है और इसे विभाजित किया जाना चाहिए।"

एकत्ववादी सम्प्रभुता सिद्धान्त पर बहुलवादी आक्रमण

बहुलवाद सम्प्रभुता के निरंकुश, असीमित, अमर्यादित और अविभाज्य सिद्धान्त के विरुद्ध एक विद्रोह है। यह ऑस्टिन के एकत्ववाद (Monism) तथा हीगल के आदर्शवाद (Idealism) के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने राज्य के जिस सर्वग्राही रूप को चित्रित किया है और राज्य को जिस भाँति निरंकुश तथा असीमित बताया है उसे सम्प्रभुता का एकत्ववादी या अद्वैतवादी सिद्धान्त (Monistic View of Sovereignty) कहते हैं और इसी विचारधारा के विरुद्ध 19वीं शताब्दी में बहुलवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जो इस सिद्धान्त पर कठोर प्रहार करती है। बहुलवादी विचारधारा के अनुसार सम्प्रभुता अविभाज्य एवं निरंकुश नहीं है। सम्प्रभुता समाज के विभिन्न वर्गों और समूहों में विद्यमान रहती है। सम्प्रभुता की बहुलवादी विचारधारा को द्वैतवादी विचारधारा कहते हैं। इसके समर्थकों में दुर्खीम, ड्यूग्वी, क्रेब, बार्कर, लिण्डसे मैकाइवर एवं मिस फॉलेट उल्लेखनीय हैं।

बहुलवादी विचारक एकत्ववादी निरंकुश सम्प्रभुता सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक संकीर्ण और कानूनी मानते हैं। सम्प्रभुता के इस परम्परागत सिद्धान्त को उन्होंने हानिकारक, निरर्थक और त्याज्य ठहराया है जो दार्शनिक सम्प्रभुता को सर्व शक्तिमान, अविभाज्य, अदेय और सर्वव्यापक मानते हैं वे बहुसत्तावादियों के मत में जो सिद्धान्ततः सत्य होते हुए भी व्यावहारिक रूप से गलत और असम्भव है। आधुनिक बहुलवादी सम्प्रभुता के अतिवादी और राजतन्त्रात्मक स्वरूप पर करारा प्रहार करते हुए विश्व के विधानों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि सम्प्रभुता अनेक स्थानों पर स्थित है। सम्प्रभुता विभाज्य और सीमित है चूँकि यह आन्तरिक रूप से राज्य के उत्तराधिकारी संघों में आंशिक रूप से निवास करती है और बाह्य रूप से भी उस पर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बन्धन हैं। बार्कर के अनुसार, "आज के युग में कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना अधिक निस्सार और निष्फल सिद्ध नहीं हुआ है जितना

एकलवादी सम्प्रभुता सिद्धान्त।"[1] ड्यूग्वी की दृष्टि से सम्प्रभुता का सिद्धान्त कपोल-कल्पित, निस्सार और मूल्यहीन है, अतः उसे लोक-नियमों के साहित्य से निकाल फेंकना ही अधिक श्रेयस्कर है। सम्प्रभु राज्य मर चुका है अथवा अपनी मौत की अंतिम घड़ियाँ गिन रहा है। लिण्डसे ने कहा है कि "यदि हम तथ्यों का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता के सिद्धान्त का अन्त हो चुका है।"[2]

लास्की बहुलवाद के प्रमुख समर्थक थे। उनका कहना है कि "सम्प्रभुता के वैध सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन के लिए कानूनी बनाना असम्भव है।"[3] वे मानते हैं कि "यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण अवधारणा का अंत कर दिया जाय तो यह राजनीति विज्ञान के लिए एक स्थायी लाभ होगा।" क्रेब के अनुसार, "सम्प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीतिक दर्शन से निकाल देना चाहिए।" गैटिल के अनुसार, "अनेकवादी इससे इनकार करते हैं कि राज्य असाधारण संगठन है। उनका मत है कि अन्य समुदाय समान रूप से महत्वपूर्ण और स्वाभाविक हैं। समुदाय अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए उसी प्रकार सम्प्रभु हैं, जिस प्रकार राज्य अपने उद्देश्य के लिए है। वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि राज्य अपनी सीमाओं में कुछ समूहों के विरुद्ध अपनी इच्छा को सक्रिय रूप नहीं दे सकता। वे इससे इनकार करते हैं कि राज्य द्वारा बल-प्रयोग का अधिकार उसे किसी प्रकार का कोई श्रेष्ठतर अधिकार प्रदान करता है। वे सब समूहों के समान अधिकारों पर समान बल देते हैं, जो अपने सदस्यों की वफादारी के पात्र हैं और जो समाज में बहुमूल्य कार्य सम्पादन करते हैं, फलस्वरूप सम्प्रभुता बहुत से समुदायों में विभाज्य होनी चाहिए। वह अविभाज्य इकाई नहीं है और राज्य को सर्वोच्च या असीमित नहीं माना जा सकता।"[4] इस प्रकार बहुलवादियों ने अपने तर्कों का आक्रमण प्रभुता के एकत्व सिद्धान्त पर किया है। उनका कहना है कि वर्तमान राज्य जटिल है और अपने कार्य-भार से दबा जा रहा है। इस दबाव के कारण राज्य के कार्यों में ढील आती जा रही है। आर्थिक कार्य करने से राज्य की कार्यकुशलता दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है, अतः कार्यकुशलता लाने के लिए एक विकेन्द्रीकृत राज्य आवश्यक है। बार्कर के अनुसार, वर्तमान राज्यों में ऐसा लगता है जैसे केन्द्र को पक्षाघात हो गया हो और शीर्ष बिन्दुओं पर रक्तहीनता महसूस होती हो। मैकाइवर ने स्पष्ट रूप में कहा है कि सर्वसामर्थ्य का अर्थ है: अयोग्यता और असामर्थ्य।[5]

बहुलतावादी द्वारा एकलवाद पर आक्रमण का विवेचन निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है—

1. विभिन्न संघों (संगठनों) का दृष्टिकोण

बहुलतावादी विचारों का जन्म मध्य युग में हुआ, जबकि यूरोपीय व्यापारियों और शिल्पियों के स्वशासी संघों को अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे, धीरे-धीरे राजतन्त्र के उदय के साथ इन संघों का लोप हो गया। बहुलवाद के प्रारम्भिक विचारक गर्क (Gierke) तथा मेटलैण्ड (Maitland) थे जिन्होंने मध्यकालीन युग में इस सिद्धान्त का सूत्रपात किया। उनके अनुसार समाज में जो विभिन्न समुदाय पाए जाते हैं, वे मनुष्य के लिए स्वाभाविक हैं। समुदायों का अपना व्यक्तित्व होता है। कानूनों के निर्माण में इन समुदायों का अपना योग होता है। प्रत्येक समुदाय की अपनी एक इच्छा होती है तथा उनकी अपनी सामूहिक चेतना होती है। वे राज्य में होते हुए भी राज्य से स्वतन्त्र होते हैं। यद्यपि ये दोनों लेखक राज्य की परम प्रभुता को नहीं मानते, तथापि उसकी उच्चतर वैधानिक स्थिति को स्वीकार करते हैं। वे समाज के अन्तर्गत संघों के सहयोग के लिए एक संयोजक के रूप में राज्य को महत्वपूर्ण मानते हैं।

दुर्खीम (Durkhiem) प्राचीन व्यावसायिक संघों का पुनर्जीवित करना चाहता था। उसके अनुसार व्यावसायिक संघों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व का आधार बनाया जाए और उन्हें आर्थिक नियन्त्रण का स्रोत माना जाए। मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'The Modern State' में बहुलतावाद का समर्थन किया है। उसके अनुसार समाज के अनेक संघों में से राज्य एक संघ है, यद्यपि उसके कर्तव्य कुछ विशिष्ट प्रकार के हैं। संघ राज्य की भाँति समाज के लिए स्वाभाविक है, अतः राज्य को उनका निर्माण करने वाला नहीं माना जा सकता। मैकाइवर के अनुसार, "आज विशाल संस्थाएँ न राज्य का भाग हैं और न उसकी प्रजा मात्र। वे अपने स्वयं के अधिकार के आधार पर विकसित होती हैं। वे अधिकारों का प्रयोग उसी प्रकार करती हैं जिस प्रकार राज्य स्वयं करता है। व्यावसायिक संघ के सदस्य राज्य की अपेक्षा अपने व्यावसायिक संघों के प्रति अधिक भक्ति प्रदर्शित करते हैं। वित्त और उद्योग, वाणिज्य और कृषि जैसे संघ स्वयं को राज्य के दास न समझकर उसके मालिक बनने की चेष्टा में रहते हैं, अतः राज्य को चाहिए कि सांस्कृतिक संगठनों में अपने अधिकारों को कायम रखते हुए गैर-राजनीतिक संगठनों में से एक स्थान अपने लिए माँग कर ले।[6]

2 अन्तर्राष्ट्रीयता तथा राज्य

बहुसत्तावादियों के अनुसार राज्य का एकत्व और निरंकुशता-सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का मूल कारण है। संसार के सभी राष्ट्र एक-दूसरे पर निर्भर हैं। उनके आर्थिक हित एक-दूसरे से संयुक्त हैं। इतना होते हुए भी प्रत्येक राज्य को अपनी-अपनी सम्प्रभुता पर गर्व है। इसी सम्प्रभुता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े और विश्वयुद्ध होते हैं। कठिनाई का मुख्य कारण यह है कि दुनियाँ में कोई ऐसी सार्वभौम प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता नहीं है जो इन प्रश्नों का समाधान कर सके। केवल एक ही उपाय है कि *राष्ट्रीय राज्यों की सम्प्रभुता का उन्मूलन कर दिया जाए।* जब तक ऐसा नहीं होगा, विश्व-शान्ति कायम नहीं हो सकती और संयुक्त राष्ट्र संघ की वही दशा हो सकती है जो राष्ट्र संघ की हुई थी।

3 कानूनी दृष्टिकोण

ड्यूग्वी और क्रैब ने बहुसत्तावाद को कानूनी दृष्टि से देखा। ड्यूग्वी के अनुसार कानून राज्य से स्वतन्त्र और राज्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। कानूनी सम्प्रभु को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? इसका निश्चय वर्तमान में कानून द्वारा किया जाता है। राज्य का कर्तव्य इन कानूनों को बल देना है। सच तो यह है कि कानून राज्य को संगठित करते हैं न कि राज्य कानून को। इसी तरह कानून राज्य को सीमित करता है राज्य कानून को नहीं, अतः इन लेखकों की मान्यता है कि *राज्य के अधिकारों पर बल न देकर कर्तव्यों पर बल दिया जाना चाहिए।* राज्य राजनीतिक शक्ति के रूप में एक कानूनी यंत्र है। वह कानून की सीमाओं में रहता है और कानून को स्थायी रखने के लिए ही वह जीवित रहता है। इसका उद्देश्य आज्ञा देना न होकर सेवा करना है। इसकी विशेषता सम्प्रभुता में निहित न होकर जनहित में है।

बहुलवाद की आलोचना (Criticism of Pluralistic Theory)

(1) सम्प्रभुता का विभाजन उसको नष्ट करना है। राज्य से प्रभुत्व-शक्ति को छीनकर बहुलवादी चाहते हैं कि राज्य *समुदायों के मध्य सहयोग और संतुलन रखने का कार्य करे। यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण है। राज्य की सर्वोच्च शक्ति* को छीन लेने के बाद यह किस प्रकार सम्भव हो सकेगा कि राज्य विभिन्न समुदायों के मध्य सहयोग और सन्तुलन स्थापित करे। बहुसत्तावादियों के पास इसका कोई निश्चित सार्थक उत्तर नहीं है।

(2) बहुलवादी सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाए हैं। हीगल और उसके कुछ अनुयायियों को छोड़कर सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त के समर्थकों में से किसी ने राज्य को निरंकुश नहीं बतलाया है। उदाहरणार्थ—बोदाँ, हॉब्स, बेन्थम आदि विचारकों का विरोध करना अनैतिक नहीं है लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य की सम्प्रभुता सीमित और त्याज्य है। गैटिल के अनुसार, राज्य अपना कर्तव्य स्वीकार कर सकता है अपने कार्यों पर स्वयं बंधन लगा सकता है और विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व दे सकता है। यह सारा कार्य वह अपनी कानूनी सम्प्रभुता का परित्याग किए बिना कर सकता है।[2] अद्वैतवादियों या एकत्ववादियों का इतना कहना है कि जब राज्य किसी निश्चित क्षेत्र में कानूनी सत्ता स्थापित करता है तो उस क्षेत्र में वह अन्य सब सामाजिक *संघों से श्रेष्ठ और उच्च होता है। डॉ. आशीर्वादम के अनुसार, "अद्वैतवादी शत्रु जिस पर बहुलवादी प्रहार करते हैं* बहुत हद तक एक कल्पनात्मक जीव है।"[3]

(3) बहुसत्तावाद के विरोधियों का कहना है कि राज्य की सम्प्रभुता के बिना समाज का कार्य नहीं चल *सकता। सम्प्रभु राज्य के बिना समुदाय संघर्षरत हो जाएंगे। बहुलवाद का अन्तिम परिणाम अराजकतावाद में होगा।* सम्प्रभुता का विभाजन हो जाने से यह नष्ट हो जाएगी और समाज में अशान्ति तथा अव्यवस्था के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहेगा। इस स्थिति से समाज के समस्त व्यक्तियों और संघों का जीवन संकट में पड़ जाएगा। प्राकृतिक अवस्था की दशा लौट आएगी। इस तरह सभ्यता और विकास को पीछे धकेलने की स्थिति पैदा हो जाएगी, अतः यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य की *सम्प्रभुता अविभाज्य और अखण्ड रहे। राज्य ही अपनी सम्प्रभुता के बल पर,* विभिन्न समुदायों के पारस्परिक विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से या शक्ति द्वारा सुलझा सकता है तथा उनके अनुचित कार्यों पर नियन्त्रण रख सकता है।

(4) बहुलवादी सर्व-शक्तिमान राज्य का विरोध करते हुए अंत में राज्य की सर्वोपरिता स्वीकार कर लेते हैं। कोकर का कहना है कि बहुलवादी सभी आवश्यक संघों को पूर्ण समानता की स्थिति प्रदान करने की इच्छा रखते हुए परिस्थितिवश

---

1 *MacIver* The Modern State
2. *Gettel* : Introduction to Political Science
3 *Ashirvatham* : Political Theory

राज्य को प्रथम स्थान देने के लिए विवश हो जाते हैं। गियर्के और मेटलैण्ड संघों को वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य अन्य सामाजिक संस्थाओं से ऊपर सर्वोच्च समूह है। पालबाकर सभी संघों और संस्थाओं को राज्य के अधीनस्थ मानते हैं।

(5) नैतिकता, रीति-रिवाज आदि से सम्बन्धित आपत्तियों का राज्य की सम्प्रभुता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये आपत्तियाँ शासन की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध है। राज्य और शासन के सम्बन्ध में भ्रान्ति में पड़कर ये आपत्तियाँ उठाई गई हैं।

(6) बहुलवादियों का यह विचार भ्रामक है कि समाज के विभिन्न संघ एक समानान्तर रेखा पर चलते हैं, उनके कार्य-क्षेत्र अलग हैं, उनमें एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा वे एक-दूसरे के अधिकारों और कर्तव्यों का अतिक्रमण करते हैं। सामाजिक जीवन का प्रत्येक पहलू एक-दूसरे से सम्बन्धित है। उदाहरणार्थ, सभी आर्थिक पक्षों का राजनीतिक पहलू होगा और सभी राजनीतिक पक्षों का आर्थिक पहलू।

(7) बहुलवादियों का कानूनी दृष्टिकोण भ्रामक है। यद्यपि उनका कहना ठीक है कि कानून का स्रोत तथा उसकी वैधता राज्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है, तथापि वे यहाँ अद्वैतवादी विचारधारा को ठीक से नहीं समझ पाए हैं। अद्वैतवादी या एकत्ववादी यह स्वीकार करते हैं कि कानून के विभिन्न स्रोत हैं, लेकिन उनका कहना है कि उन्हें वैधानिक मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है जब वे राज्य द्वारा स्वीकृत कर लिए जाएँ। एकत्ववादी कानून के औपचारिक तत्वों पर विशेष ध्यान देते हैं जबकि बहुलवादी इन्हें स्वीकार नहीं करते। एकत्ववादियों के अनुसार कानून के पीछे राज्य की शक्ति होती है जिसे न्यायालय लागू करते हैं, लेकिन बहुलवाद कानून के लिए इस विधायी मान्यता को आवश्यक नहीं समझते। डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, "बहुसमुदायवादी विचारधारा के अनुसार कानूनी दृष्टिकोण से राज्य की स्थिति अनन्यता की नहीं है और उसकी सम्प्रभुता को अनन्य एवं अविभाजनीय नहीं माना जा सकता।"[1]

(8) यदि बहुलवादियों के मतानुसार समाज में विभिन्न संस्थाओं में प्रभुसत्ता को बाँट दिया जाए तो वे इतनी शक्तिशाली हो जाएँगी कि राज्य या अन्य कोई शक्ति उन्हें अपने नियन्त्रण में नहीं ले सकेगी जिससे अनेक गम्भीर समस्याएँ पैदा हो जाएँगी। यदि समाज में विभिन्न संस्थाओं को आर्थिक सम्प्रभुता प्रदान कर दी जाए तो इससे समाज विघटन की ओर अग्रसर होगा तथा संस्थाओं में पारस्परिक विवाद बढ़ जाएँगे।

(9) अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर बहुलवादियों द्वारा सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विरोध सही नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय आचार, व्यवहार और कानूनों का आदर करना चाहिए, लेकिन इन सीमाओं को कोई वैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं है और राज्य कानून के रूप में इनका पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। यदि जनमत अथवा नैतिकता के दबाव से राज्य उनका पालन करता है तो ऐसा वह स्वेच्छा से करता है और इससे उसकी सम्प्रभुता खण्डित नहीं होती। यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों या कानूनों अथवा नियमों या सन्धियों का विरोध करने की ठान ले तो ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो राज्य को ऐसा करने से रोक सके।

बहुलवादी विचारधारा का औचित्य और महत्व
(Justification and Importance of Pluralistic Theory)

इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर कि राज्य-प्रभुत्व का परम्परावादी सिद्धान्त सही है, बहुलवादी विचारधारा के महत्व को स्वीकार करना पड़ता है। बहुलवादी विचारधारा ने व्यक्ति और समुदाय का महत्व दर्शाकर एक उपकार किया है। राज्य की शक्ति को सीमित करके तथा कानून की शक्ति पर बल देकर उन्होंने एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया है जो प्रभुत्व की आलोचना नहीं है, बल्कि राजनीतिक संगठन का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है। यद्यपि राज्य के प्रभुत्व पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं हो सकते, तथापि उसे नैतिक मर्यादाओं का पालन अवश्य करना चाहिए। बहुलवादी सिद्धान्त का इसमें पर्याप्त बल है कि राज्य के प्रभुत्व सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बहिष्कार होना चाहिए। इस क्षेत्र में उसने बुराई और अव्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई सुकार्य नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और विचारधाराओं के साथ मनमानी करने के कारण मानवता को विनाशक युद्धों का मुख देखना पड़ा है। मिस फॉलेट के अनुसार, "बहुलवादी वर्तमान राज्य की सर्वोच्चता के अधिकार को नष्ट करते हैं। वे संघों के महत्व को स्वीकार करते हैं और उन्हें मान्यता प्रदान करने एवं अपने कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में स्वायत्तता देने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। वे स्थानीय जीवन को पुनर्स्थापित करने के पक्ष में हैं।" मैरियम एवं बार्न्स के अनुसार, "बहुलवादियों के विरोध के बावजूद न तो राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का त्याग किया गया है और न ही इसका त्याग किया जा सकता है।"

---

1. डॉ. इकबाल नारायण : राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृ. 541.

3. मार्क्सवादी सिद्धान्त
(Marxist Theory)

मार्क्स का विश्वास था कि जैसे ही पूँजीपति वर्ग पूरी तरह नष्ट हो जाएगा, राज्य विलुप्त हो जाएगा और ऐसा समाज पैदा होगा जिसमें न तो राज्य होगा और न कोई वर्ग। ऐसे समाज में हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार योगदान देगा और अपनी आवश्यकतानुसार पाएगा। मार्क्स का यह विश्वास था कि इस सामाजिक स्थिति से पैदा हुआ नया इन्सान स्वाभाविक एवं स्वतः स्फूर्त रूप से समाज के सामान्य हित के अनुरूप अपने हित ढाल सकेगा।

ऐसी स्थिति में मार्क्स राज्य की प्रभुत्व सत्ता को समाप्त कर, समता पूर्ण समाज की स्थापना करना चाहता था। उसके राजनीतिक दर्शन में प्रभुसत्ता की धारणा का महत्व गौण नजर आता है।

4. सार्वभौमीकरण तथा राज्य
(Globalisation and the State)

यातायात, विचार वाहन एवं संचार के साधनों के कारण सारा विश्व एक हो गया है। विज्ञान की प्रगति के कारण हुए *इस परिवर्तन से राज्यों की सम्प्रभुता और सीमाओं के सम्बन्ध में नई अवधारणा जन्म लेने लगी है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय* संगठनों का भी किसी देश से महत्वपूर्ण सम्बन्ध रहता है। आर्थिक उदारीकरण, विश्व व्यापार संगठन द्वारा किए जा रहे वैश्वीकरण आदि के कारण एक देश के हित दूसरे देश से संयुक्त होते जा रहे हैं। यद्यपि संसार के सभी राष्ट्र एक-दूसरे पर निर्भर है, तथापि प्रत्येक राज्य को अपनी सम्प्रभुता पर गर्व है। इस गर्व पूर्ण सम्प्रभुता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर झगड़े और विश्वयुद्ध होते हैं, परन्तु अभी तक विश्व में ऐसी कोई सार्वभौम सत्ता नहीं है जो इन परेशानियों से विश्व को राहत दिला सके। एक ही उपाय है कि राज्यों की सम्प्रभुता का उन्मूलन कर दिया जाए। जब तक ऐसा नहीं होगा विश्व में शान्ति स्थापित होने में कठिनाई होगी। कभी तो ऐसा लगता है कि कहीं संयुक्त राष्ट्र संघ की दशा राष्ट्र संघ जैसी न हो जाए। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के महान समर्थक लास्की के अनुसार राज्य बाह्य प्रभुसत्ता पर रोक लगाना आवश्यक है। वस्तुतः सार्वभौमीकरण हो जाने के कारण एक सुसंगठित, एकीकृत और प्रभावशाली विश्व संगठन की नितान्त आवश्यकता है।

□□□

4

प्रजातन्त्र तथा मानव अधिकार

(Democracy and Human Rights)

प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त : प्राचीन तथा समकालीन

(Democratic Theory : Classical and Contemporary)

आधुनिक युग 'प्रजातन्त्र का युग' है। विश्व के अधिकांश देश प्रजातन्त्र के समर्थक होने में गौरव अनुभव करते हैं फिर चाहे वे पूँजीवादी हों या साम्यवादी। यूनेस्को की लोकतन्त्र पर विशेषज्ञों की एक समिति ने कहा था कि—"आज इतिहास में पहली बार यह देखने को मिल रहा है कि कहीं भी लोकतन्त्र विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है। लोग अपने विरोधियों पर लोकतन्त्र का शत्रु होने का आरोप लगाते हैं, किन्तु जिन संस्थाओं का वे स्वयं समर्थन करते हैं उन्हें वे पूर्णतः लोकतान्त्रिक मानते हैं।" प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही 'प्रजातन्त्र' विश्व के राज्यों में व्यापक स्थान ग्रहण करता गया है और आज शासन का यह स्वरूप विश्व-व्यापी बन चुका है।

प्रजातन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Democracy)

प्रजातन्त्र की परिभाषा भिन्न प्रकार से की गई है। अब्राहम लिंकन ने प्रजातन्त्र को सरकार का ऐसा रूप माना है जिसमें शासन 'जनता का, जनता के लिए और जनता के द्वारा' होता है। सीले के अनुसार, 'प्रजातन्त्र सरकार का वह रूप है जिसमें प्रत्येक का योगदान होता है' (Democracy is a Govt. in which everyone has a share.) ब्राइस के कथनानुसार, "हेरोडोटस के समय से ही जनतन्त्र का अर्थ उस शासन-पद्धति से समझा जाता है जिसमें राज्य की प्रशासनिक शक्ति किसी विशेष वर्ग या वर्गों के हाथ में न होकर, सम्पूर्ण समाज के हाथ में होती है।" गार्नर के कथनानुसार, "जनतन्त्र सरकार का वह रूप है जिसका निर्माण तथा प्रबन्ध इस सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है कि कम से कम प्रत्येक वयस्क नागरिक को, जो किसी अपराध में दण्डित होने के कारण या किसी देश में निरक्षरता के कारण अयोग्य न समझा जाता हो, उन व्यक्तियों का चुनाव करने की शक्ति प्राप्त होगी जिनके द्वारा वे कानून बनाए जाते हैं जो नागरिकों को प्रशासित करते हैं। प्रत्येक नागरिक की निर्वाचक के रूप में समान आवाज होगी।"

प्रजातन्त्र में शासन जनता की स्वीकृति से चलता है। इसमें शासक-वर्ग सारे देश की जनता का प्रतिनिधि होता है किन्तु 'जनता' शब्द का अर्थ निश्चित और स्पष्ट नहीं है। ब्राइस ने योग्य नागरिकों के बहुमत की प्रबल इच्छा को प्रजातन्त्र का आधार माना है। *प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को मतदान की स्वतन्त्रता दी जाती है। यह निश्चित नहीं रहता कि उसके* मत को मान्यता मिलेगी अथवा नहीं। प्रजातन्त्र में बहुमत को दो कारणों से महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रथम, यह कि अल्पसंख्यकों की अपेक्षा उनका मत सही होने की सम्भावना रहती है। बहुमत की शक्ति अल्पमत की अपेक्षा अधिक होती है। प्रशासन की सफलता का मापदण्ड जन-कल्याण माना जाता है। मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास को पूर्ण अवसर प्रदान करने की व्यवस्था ही शासन का श्रेष्ठ रूप समझी जाती है। प्रजातन्त्रात्मक शासन सर्वसम्मति से संचालित नहीं होता, उसमें लोगों के अलग-अलग विश्वास और विचार होते हैं। इन विचारों तथा विश्वासों के बीच संघर्ष होने के बाद वास्तविक सत्य प्रकट होता है। समानता के सिद्धान्त पर आधारित लोकतन्त्रात्मक समाज में सभी व्यक्ति एक समान होते हैं तथा किसी भी व्यक्ति को विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता।

प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थ—विभिन्न देशों और कालों में प्रजातन्त्र के विभिन्न पहलुओं पर बल दिया जाता रहा है, अतः इसका अर्थ समझने के लिए इसके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और अन्य स्वरूपों को समझना आवश्यक है।

1. **प्रजातन्त्र का शासनिक पहलू**—डायसी के अनुसार, "लोकतन्त्र राज्य साधारणतया वह है जिसमें प्रभुत्व शक्ति सामूहिक रूप से जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अन्तिम नियन्त्रण

रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासनसूत्र स्थापित किया जाये।" प्रजातन्त्र, शासनिक दृष्टि से जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा शासन है। इसमें जनता अपनी सत्ता का प्रयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से करती है। प्रत्यक्ष पद्धति में स्वतन्त्र और अप्रत्यक्ष पद्धति में निर्वाचन पद्धति द्वारा जनता शासन का संचालन करती है। सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रजातन्त्र का प्रत्यक्ष रूप विशाल राज्यों में सम्भव नहीं रहा है। प्रत्यक्ष प्रजातान्त्रिक देश में सम्पूर्ण जनता प्रत्यक्षतः शासन कार्य में भाग नहीं ले पाती। स्विट्ज़रलैण्ड में प्रत्यक्ष और प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र का समन्वय किया गया है। राज्यों के विशाल आकार के कारण सभी देशों में प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली को अपनाया गया है।

2. **प्रजातन्त्र का राजनीतिक एवं सामाजिक पहलू**—राजनीतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग का अधिकार जनसंख्या के बहुसंख्यक भाग को होता है, अतः इस व्यवस्था में राजसत्ता पर किसी एक वर्ग का अधिकार न होकर शासन कार्य बहुमत द्वारा संचालित किया जाता है और कानून वही लागू किए जाते हैं जो सामान्य जनमत के अनुकूल होते हैं, परन्तु लोकतन्त्र एक शासन प्रणाली ही नहीं है, यह एक उच्चकोटि का सामाजिक आदर्श भी है। सामाजिक आदर्श के रूप में लोकतन्त्र समस्त व्यक्तियों को समान अधिकार प्रदान करता है। लोकतन्त्रात्मक समाज में नस्ल, रंग, धर्म, वंश, जाति, लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। जिस समाज में भेदभाव, छुआछूत तथा स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा निम्न समझा जाता हो उसे लोकतन्त्रात्मक शासन नहीं कहा जा सकता।

3. **प्रजातन्त्र का नैतिक पहलू**—लोकतन्त्र व्यापक अर्थ में एक नैतिक आदर्श और मानसिक दृष्टिकोण है। जेफरसन (Jefferson) के अनुसार, "लोकतन्त्रात्मक शासन का आधार यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपना शासन अपने-आप करने की और औसत नागरिक में सामाजिक हित की दृष्टि से शासकों को चुनने की योग्यता होती है।" लोकतन्त्र जनसाधारण की गरिमा में विश्वास रखता है। दार्शनिक काण्ट (Kant) के अनुसार, "इस प्रकार काम करो कि मानवता के साथ प्रत्येक मामले में चाहे वह तुम्हारे व्यक्तित्व की बात हो अथवा दूसरे की, व्यक्ति का व्यक्तित्व सदैव साध्य रहे, साधन नहीं।"

4. **प्रजातन्त्र का आर्थिक पहलू**—राजनीतिक जनतन्त्र की सफलता आर्थिक प्रजातन्त्र पर निर्भर है। आर्थिक प्रजातन्त्र समानता का पर्यायवाची है। समाज में जब तक आर्थिक समानता नहीं होगी तब तक प्रजातन्त्र वास्तविक रूप में सफल नहीं हो सकता। जब तक राजनीतिक अधिकारों के साथ आर्थिक अधिकारों को मान्यता नहीं दी जाती, तब तक प्रजातन्त्र का सफल होना सन्देहास्पद है। इसे परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि प्रजातन्त्र एक विशेष प्रकार का शासन है, एक सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त है, एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति है, एक आर्थिक आदर्श है।

प्रजातन्त्र के भेद (Types of Democracy)

(क) **प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र**—जब व्यक्ति स्वयं प्रत्यक्ष रूप में सार्वजनिक विषयों पर अपना मत प्रकट करें तो ऐसे शासन को प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र कहते हैं। यूनान के नगर राज्यों का प्रजातन्त्र शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र था, सभी स्वतन्त्र व्यक्ति आम सभाओं में एकत्रित होते और उन्हें कार्यान्वित करते, राजदूतों से मिलते और जूरियों के रूप में कार्य करते थे। इस प्रकार के लोकतन्त्र का पुनर्जन्म मध्य युग में इटली के नगर राज्यों में हुआ था। स्विट्ज़रलैण्ड के फोरेस्ट कैंटनों (Forest Contons) में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र था और वर्तमान में भी है। 18वीं शताब्दी में रूसो ऐसे शासन का प्रबल समर्थक था। वह अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र को पसन्द नहीं करता था, किन्तु आधुनिक परिस्थितियों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को लागू करने के मार्ग की कठिनाइयों को वह महसूस करता था। उसका कहना था कि शुद्ध लोकतन्त्र के लिए अनेक बातों की आवश्यकता है और इनका एक साथ प्राप्त होना कठिन है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक आवश्यकताएँ हैं—(1) एक छोटा राज्य जिसके नागरिक आसानी से एक जगह एकत्रित हो सकें और जिसमें प्रत्येक नागरिक दूसरे नागरिकों को आसानी से पहचान सके, (2) व्यवहार की एकदम सादगी, (3) पद, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति में पर्याप्त समानता, (4) बहुत कम विलासप्रियता या विलासहीनता।

(ख) **अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र**—आजकल प्रत्येक देश में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र का प्रचलन है। इसके अनुसार वास्तविक शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाता है। जे. एस. मिल के अनुसार, "अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सम्पूर्ण जनता अथवा उसका बहुसंख्यक भाग शासन-सत्ता का प्रयोग चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा करता है।" राज्य की इच्छा का निर्माण सर्वसाधारण प्रत्यक्षतः नहीं करते, बल्कि वे अपनी इच्छा अपने प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त करते हैं जिनका एक निश्चित अवधि के बाद निर्वाचन होता है और सर्वसाधारण

इन्हीं प्रतिनिधियों द्वारा देश का शासन करते हैं। इस प्रकार कानूनों का निर्माण जन-प्रतिनिधियों द्वारा होता है, प्रत्यक्ष जनता द्वारा नहीं। प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र इस विचार पर आधारित है कि जनता के सभी सदस्य राजधानी में स्वयं उपस्थित नहीं हो सकते, किन्तु वे अपने प्रतिनिधियों के रूप में उपस्थित माने जा सकते हैं। प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में सत्ता जनता में ही निवास करती है। इसमें शासन और शासितों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और दोनों के उद्देश्यों में एकरूपता रहती है। इस तरह अधिकार और राजनीतिक स्वतन्त्रता में सामंजस्य बना रहता है।

प्रजातन्त्र के गुण (Merits of Democracy)

1. स्वतन्त्रता एवं समानता पर आधारित—प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की उच्च भावनाओं पर आधारित है। यह समाज के सभी सदस्यों को स्वतन्त्रता तथा समानता के अधिकार प्रदान करता है और जाति, धर्म, रंग, लिंग के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं करता। प्रजातन्त्र ने वर्षों से चली आ रही इस परम्परा को नकार दिया है कि कुछ लोग शासन करने के लिए और कुछ लोग शासित होने के लिए पैदा हुए हैं। प्रो. डायसी के अनुसार, "लोकतन्त्र में अधिकारों की समानता तथा परिस्थितियों, भावनाओं और आदर्शों की एकता होती है। प्रजातन्त्र ने साधारण मनुष्य में विद्यमान हीनता की भावना (Inferiority Complex) को समाप्त कर, एक उन्मुक्त तथा समतावादी समाज को जन्म दिया है।"

2. जन-सहमति पर आधारित—प्रजातन्त्र एक कुशल व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण जनता को सुख की वृद्धि करने का अवसर मिलता है। यह जन-सहमति पर आधारित शासन-व्यवस्था है।

3. स्थायी शासन—जन-सहमति पर आधारित होने के कारण ही जनतन्त्रात्मक शासन अन्य शासन-प्रणालियों से स्थायी होता है। इसमें जनसाधारण अपनी इच्छानुसार शासकों को बदल सकता है जिसके कारण क्रान्तियों का जितना भय अन्य राज्यों में होता है उतना प्रजातन्त्र में और वह भी विशेषकर स्विट्जरलैण्ड जैसे प्रजातन्त्र में नहीं रहता।

4. श्रेष्ठ शासन—जे. एस. मिल तथा लॉर्ड ब्राइस दोनों प्रजातन्त्र की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं। मिल के अनुसार, "प्रजातन्त्र प्रणाली में समस्त जनता अथवा उसका विशाल भाग समय-समय पर अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा शासन करता है।" इसमें समस्त शक्ति जनता में निहित रहती है जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छानुसार समय प्राप्त होने पर कार्य कर सके।

5. सामाजिक गुणों का पोषक—प्रजातन्त्र शासन का शिक्षात्मक मूल्य है। यह प्रणाली जनसाधारण में राजनीतिक चेतना जाग्रत करती है, आत्म-विश्वास, उदारता और सहयोग की भावनाओं को सुदृढ़ बनाती है।

6. राष्ट्रीय भावना का प्रेरक—प्रजातन्त्र ऐसी शासन-व्यवस्था है जो राष्ट्रीय भावना तथा देशप्रेम को जाग्रत करती है। जनतन्त्र में प्रत्येक नागरिक यह समझता है कि कानून तथा शासन के स्वरूप का वह स्वयं निर्माता है, अतः शासकगण उसके भाग्य निर्माता न होकर सेवक होते हैं।

7. वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा—प्रो. गैटिल के अनुसार, "लोकतन्त्र में सम्प्रभुता शक्ति पर आधारित न होकर सहमति पर स्थित रहती है। यहाँ 'व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है' इस सिद्धान्त को न मानकर 'राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है' इस सिद्धान्त को मानता है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की संवैधानिक रूप से अधिक सुरक्षा की सम्भावना है। इस व्यवस्था में जनता का विकास तथा उसकी उन्नति सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि उत्पन्न करना माना जाता है।"

8. सुधार-प्रेरक—प्रजातन्त्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधार के लिए वातावरण बनाने में सफल होता है। पिछले वर्षों में संसार में जितने सामाजिक तथा आर्थिक सुधार हुए उतने राजतन्त्र के इतिहास में कभी नहीं हो पाए। लोकतन्त्र का एकमात्र ध्येय जनकल्याण है और सामाजिक असमानता तथा पुराने अनुपयोगी रीति-रिवाजों को जन-सहमति से समाप्त कर, इसमें सच्चे जनकल्याण के लिए प्रयास किए जाते हैं।

9. सामाजिक एकता का साधन—लोकतन्त्र सामाजिक एकता का उत्कृष्ट साधन है। डीवी (Dewey) के अनुसार, "प्रजातन्त्र ऐसे सामाजिक संगठन के आदर्श के अत्यन्त निकट है जिसमें व्यक्ति तथा समाज का सावयव सम्बन्ध रहता है। व्यक्ति समाज का उसी तरह अटूट अंग माना जाता है जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग। इस सावयवी (Organic) एकता का अनुभव व्यक्ति केवल लोकतन्त्र में ही कर सकता है चूँकि इस व्यवस्था में व्यक्ति अपने अन्दर सामाजिक इच्छा और आकांक्षाओं का अनुभव करता है और प्रत्येक नागरिक राज्य सत्ता में भागीदार रहता है।"

प्रजातन्त्र के दोष (Demerits of Democracy)

1. **काल्पनिक एवं आदर्शवादी**—*प्रजातन्त्र के सिद्धान्त काल्पनिक और आदर्शवादी हैं,* जिनका आधार जनसाधारण की समानता है। प्राणिशास्त्रियों के अनुसार प्रजातन्त्रात्मक समानता कोरी कल्पना है और परिवारों तथा जातियों की प्राकृतिक उच्चता के सिद्धान्त को तथ्यों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। जर्मन, इटेलियन तथा जापानियों ने जातीय उच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए विभिन्न देशों तथा राष्ट्रों में प्राकृतिक असमानता को यथार्थ माना है। प्रजातन्त्र जीव-विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों के विपरीत है।

2. **अयोग्य व्यक्तियों का शासन**—शिक्षा, संस्कृति, राजनीति तथा सामाजिक योगदान की दृष्टि से समाज के सभी व्यक्ति या वर्ग समान नहीं हो सकते। गरीब-अमीर, मूर्ख-बुद्धिमान, शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रजातन्त्रात्मक शासन में समान होते हैं। *आलोचकों के अनुसार प्रजातन्त्र में गुण का महत्त्व न होकर संख्या का महत्त्व अधिक होता है। वोटों को गिना जाता है, तौला नहीं जाता।* ऐसे शासन में विवेकहीन व्यक्तियों का सम्मान होता है और योग्य व्यक्ति उपेक्षित रह जाते हैं। इस शासन में मूर्खों तथा अशिक्षितों की संख्या अधिक पायी जाती है। यह बहुमत का शासन है यही कारण है कि *प्रजातन्त्र अयोग्य और अशिक्षित लोगों का शासन कहा जाता है।*

3. **प्रतिनिधियों का शासन से अनभिज्ञ होना**—प्रजातन्त्र को अज्ञानी, अशिक्षित तथा अयोग्य व्यक्तियों का शासन मानने का कारण यह है कि इसमें राज्य-शक्ति ऐसे व्यक्तियों के हाथ में रहती है जिन्हें शासन-कार्य का ज्ञान नहीं होता। प्लेटो के कथनानुसार, "शासन एक कला है जिसमें सफलता प्राप्त करने के लिए योग्यता, निपुणता तथा अनुभव की आवश्यकता है।" *प्रजातन्त्र में अधिकांश ऐसे लोग शासक बन जाते हैं जो शासन का क, ख, ग भी नहीं जानते।* किसी भी क्षेत्र में कार्य सौंपने से पूर्व यह आवश्यक है कि कार्य करने वाले व्यक्ति की शिक्षा, अनुभव तथा कार्य क्षमता आदि पर ध्यान दिया जाए, परन्तु जनतन्त्र की विधानसभाओं के सदस्यों के चुनाव में ऐसी किसी योग्यता पर विचार नहीं किया जाता और *केवल लोकप्रियता को ही कसौटी माना जाता है।*

4. **निर्वाचन में विवेक का अभाव**—चुनाव में मत देते समय जनता विवेक से काम नहीं लेती, बल्कि जो उसे बहका देता है या उसके हाथों में पैसा थमा देता है, उसे ही चुनाव क्षेत्र में समर्थन देकर सफल बना देती है। चुनावों के अनुभव बतलाते हैं कि *निर्वाचक अपने प्रतिनिधियों का सही चुनाव नहीं कर पाते। प्रजातन्त्र की राजनीति में तर्क और विवेक का अभाव रहता है।*

5. **जनता का राज्य कहना अनुचित**—यह कहना सिद्धान्त रूप से गलत है कि प्रजातन्त्र सचमुच जनता का राज्य है। व्यावहारिक रूप में चुनाव लड़ना और राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करना, किसी समाज में आसान नहीं है। जनसाधारण के पास इतना धन नहीं होता कि वह चुनाव लड़ सके। केवल धनी लोग ही चुनाव के अखाड़ों में आते हैं और विधानसभाओं के सदस्य बनकर शासन पर कब्जा कर लेते हैं। इतना ही नहीं, जनतन्त्र में धनी लोग व्यवस्थापिका *तथा कार्यपालिका के सदस्यों को खरीद लेते हैं और जनता का शासन अपने आदर्श का मखौल बनकर रह जाता है।*

6. **प्रायः सम्पूर्ण जनता द्वारा मतदान में उदासीन होना**—मतदाता चुनाव के मामलों में कोई विशेष रुचि नहीं लेते। सभी देशों में बहुत कम मतदाता ऐसे पाए जाते हैं जो अपने मताधिकार का उचित प्रयोग करते हैं। अधिकांश जनता बिना सोचे-विचारे ही वोट दे आती है और मतदाताओं की एक बड़ी संख्या वोट का प्रयोग नहीं करती। अमेरिका *जैसे सफल जनतन्त्रात्मक देश में औसतन 50-60 प्रतिशत मतदाता ही मतदान में भाग लेते हैं।* संसार के विशालतम प्रजातान्त्रिक देश भारत में 60 से 70 प्रतिशत मतदाता मतदान में भाग लेते हैं।

7. **निर्वाचन में अनैतिक साधनों का प्रयोग**—*नैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में झूठ, जालसाजी आदि का बोलबाला रहता है।* राजनीतिक प्रचार के लिए झूठे वायदे किये जाते हैं, *झूठे कार्यक्रम बनाए जाते हैं और अनैतिक कार्यों का आश्रय लिया जाता है।*

8. **भय आधारित अत्याचारपूर्ण शासन**—प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता और समानता का अभाव होता है। प्रजातन्त्र के नेता स्वार्थसिद्धि के लिए जनता को गुमराह करते हैं और उन्हें झूठा भय दिखाकर उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। इस दृष्टि से *प्रजातन्त्र को बहुमत का अत्याचारपूर्ण शासन* (Tyranny) कहना असंगत नहीं है।

9. **अस्थायी सरकार**—*प्रजातन्त्र में सरकार अधिक स्थायी नहीं रहती।* दलबन्दी के कारण पार्टियों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन होते रहते हैं, फलस्वरूप सरकार बार-बार बनती है और बिगड़ती है। शासन प्रणाली स्थायी न रहकर अस्थायी बन जाती है और *शासन नीतियों में निश्चितता और क्रमबद्धता नहीं रहती।*

10. **खर्चीली एवं अपव्ययी शासन-पद्धति**—प्रजातन्त्रात्मक शासन अन्य शासनों की अपेक्षा खर्चीला एवं अपव्ययी है। सामान्य निर्वाचन तथा प्रतिनिधियों के वेतन एवं भत्तों पर काफी व्यय होता है। मन्त्री अन्धा-धुन्ध खर्च करते हैं। प्रजातन्त्रात्मक सरकार में कर्मचारियों की संख्या आवश्यकता से अधिक होती है।

11 कार्य की गति एवं क्षमता असंतोषजनक—गुणों की अपेक्षा संख्या पर बल देने से प्रजातन्त्र में सर्वत्र अक्षमता रहती है। प्रशासन में कार्य-कुशलता और द्रुत कार्य का अभाव रहता है। व्यवस्थापन की प्रक्रिया इतनी लम्बी होती है कि जिन कानूनों के निर्माण में कुछ दिन लगने चाहिए उनमें वर्षों लग जाते हैं। सरकारी विभागों में कार्य की गति मन्द होती है।

12 राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा—प्रजातान्त्रिक देशों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब राष्ट्रीय हितों को स्थानीय हितों के लिए बलिदान किया गया है। "शक्ति, अधिकार और संरक्षण की होड़ में कुछ लोगों के लाभ के लिए समग्र राष्ट्र के हितों की उपेक्षा की जाती है। *साम्प्रदायिक भावना का अभाव रहता है, जिससे राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ जाती है।* पाश्चात्य देशों में एक प्रवृत्ति अधिक जोर पकड़ती जा रही है कि संगठित अल्पसंख्यक समुदाय उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जनहित की अवहेलना करते हैं। भारत में भाषावार पुनर्गठन के प्रश्न पर जो बवंडर उठा था, वह इसी का ज्वलन्त उदाहरण है।"

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए अनिवार्य आवश्यकताएँ या परिस्थितियाँ
(Essential Conditions or Circumstances for the Success of Democracy)

प्रजातन्त्र प्रत्येक देश में सफल नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी सफलता के लिए कुछ आवश्यक शर्तें हैं। प्रो. हर्नशा (Hearnshaw) के अनुसार, प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें ये हैं—(1) व्यक्तियों में सच्चाई तथा सम्मान की भावना का होना, (2) व्यक्ति शिक्षित हों, (3) व्यक्तियों में राष्ट्रीय स्वार्थों के प्रति रुचि हो, (4) शक्तिशाली जनमत एवं (5) राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रों में व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्राप्त होना।

फ्रांसिस कोकर (Francis W Coker) की दृष्टि में लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए आवश्यक शर्तें इस प्रकार हैं—(1) नागरिक भावना, (2) बौद्धिक तथा नैतिक उत्साह, (3) समान आर्थिक अवसर, (4) स्वतन्त्र वाद विवाद एवं (5) व्यक्तियों की स्वतन्त्रता।

प्रजातन्त्र के प्रबल समर्थक जे. एस. मिल के अनुसार, प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है—(1) जनता में प्रजातन्त्र शासन क्रियान्वित करने की तीव्र अभिलाषा एवं पूर्ण योग्यता, (2) जनता प्रजातन्त्र के लिए और अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष को तत्पर होनी चाहिए एवं (3) जनता द्वारा अपने नागरिक कर्तव्यों का बुद्धिमानी तथा ईमानदारी से पालन की इच्छा।

विस्तार और स्पष्टता की दृष्टि से प्रजातन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्तें निम्नांकित हैं—

1. वैधानिक परम्पराएँ—प्रजातन्त्र में उत्तेजित वातावरण को वैधानिक परम्पराओं के विकास द्वारा 'अगाध जल के समान शान्त' बनाया जाना आवश्यक है। प्रजातन्त्र की खुली आलोचना करने वाले लेकी और सर नार्मन ऐंजिल का विश्वास है कि यदि कुछ शैलियाँ और वैधानिक व्यवस्थाएँ क्रियान्वित की जाएँ तो प्रजातन्त्र सुचारू रूप से तथा सफलता के साथ चलाया जा सकता है।

2 बौद्धिक आवश्यकताएँ—प्रजातन्त्र में शासन का उत्तरदायित्व जनसाधारण का होता है अतः आवश्यक है कि जनता का बौद्धिक स्तर उच्च हो। जनता में इतनी सहज बुद्धि होना आवश्यक है कि वह सही सरकार का निर्वाचन कर सके और देश की सभी आवश्यकताओं को भली-भाँति समझ सके। जनता में निर्णय शक्ति होना चाहिए ताकि देश के सम्मुख उपस्थित समस्याओं के समाधान हेतु वह उचित एवं समयानुकूल निर्णय ले सके। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रजा में समुचित शिक्षा एवं ज्ञान का प्रचार होना आवश्यक है। डॉ. इकबाल नारायण ने बौद्धिक दृष्टि से जनता में प्रजातन्त्र की सफलता हेतु दो गुणों का होना आवश्यक बतलाया है—(1) जनता की समझदारी (Common Sense) एवं (2) जनता में निर्णय-शक्ति की सबलता।

3 समानता एवं सावधानी—जनता कितनी ही सुशिक्षित और उदारमना क्यों न हो, जब तक वह आलस्य एवं उदासीनता से घिरी रहेगी तब तक प्रजातन्त्र की सफलता संदिग्ध है। निरन्तर सजग एवं सावधान रहने से ही प्रजातन्त्र की रक्षा हो सकती है।

4 सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता—प्रजातन्त्र शासन समानता के स्वर्णिम सिद्धान्त पर आधारित है। इसके लिए आवश्यक है कि समस्त प्रजा को समान रूप से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानताएँ उपलब्ध हों, समाज में जन्म, जाति, रंग, सम्प्रदाय, धर्म आदि के भेद के बिना प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान अवसर प्राप्त हों और सबके साथ कानून, न्याय तथा अवसर की दृष्टि से समान व्यवहार किया जाए। आर्थिक क्षेत्र में सब को अर्थ सम्बन्धी न्यूनतम सुरक्षा प्राप्त हो। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रजातन्त्र का प्राण है। जनता की मौलिक स्वतन्त्रताएँ प्रजातन्त्रात्मक शासन की सफलता के लिए आवश्यक हैं। इनके द्वारा निर्बाध जनमत-संग्रह में सहयोग मिलता है।

5. राज्य में शान्ति और सुरक्षा—युद्ध और अशान्ति की व्यवस्था तानाशाही को जन्म देती है। शान्ति और सुव्यवस्था की स्थिति में ही प्रजातन्त्र शासन प्रणाली स्थापित हो सकती है।

6. राजनीतिक चेतना—जनतन्त्र की राजनीति जनसाधारण की राजनीति होती है, अतः जनसाधारण में सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति सामान्य जागृति होनी चाहिए, उनमें देश के प्रति प्रेम होना चाहिए और देश की उन्नति के लिए सब कुछ कर-गुजरने की उत्कट अभिलाषा होनी चाहिए। एक सफल प्रजातन्त्र की जनता अपनी सरकार और सार्वजनिक राजनीति में निरन्तर रुचि लेती है और अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सदैव जागरूक रहती है।

7. राजनीतिक शिक्षा—जनतन्त्र में जनता में वैधानिक तत्परता का होना वांछनीय है। उसमें आँख खोलकर अपनी राजनीतिक समस्याओं पर वाद विवाद करने की योग्यता होनी चाहिए। राष्ट्रीय समस्याओं पर अच्छी तरह से विचार-विमर्श करने की राजनीतिक शिक्षा के बिना जनतन्त्र अवांछनीय तत्वों के हाथों में आकर हानिकारक होता है।

8. स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता—राजनीतिक शिक्षा के लिए आवश्यक है कि जनता को स्थानीय स्वायत्तता की संस्थाओं द्वारा प्रजातन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा दी जाए। प्रजातन्त्र अधिकांशतः उन्हीं राज्यों में सबसे अधिक सफल होता है, जहाँ स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को अधिकतम अवसर दिया जाता है।

9. राजनीतिक दलों की आवश्यकता—प्रजातन्त्र सरकार सबसे अधिक "राजनीतिक क्रियाशीलता और विश्व की राजनीतिज्ञता के दुर्गन्धों से जनता की रक्षा करती है।" राजनीतिक दल शासन व्यवस्थाओं को सच्चा प्रतिनिधित्व और क्रमबद्धता प्रदान करते हैं। वे जनमत का निर्माण करते हैं।" एक विकासशील जनतन्त्र में राजनीतिक दलों का स्वस्थ सिद्धान्तों पर चलना आवश्यक है। उनके कार्यक्रम वर्गीय अथवा क्षेत्रीय नहीं होने चाहिए।

10. नैतिक आवश्यकताएँ—ब्राईस के अनुसार, "लोकतांत्रिक सिद्धान्तों का रूप अनिवार्यतः धार्मिक होता है।" इसका आशय यह है कि लोकतन्त्र में सफलता हेतु उसका व्यक्तियों के अच्छे चारित्रिक आधार पर अवलम्बित रहना वांछनीय है।

मानव अधिकार के सिद्धान्त : मानव-अधिकारों का मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

(Theories of Human Rights : Marxist Perspective of Human Rights)

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार विश्व के तथाकथित लोकतांत्रिक देशों के संविधानों द्वारा नागरिकों को दिये गये अधिकार व्यावहारिक महत्व नहीं रखते। स्टालिन के अनुसार, "एक भूखे और बेरोजगार व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। सच्ची स्वतन्त्रता वहीं सम्भव है जहाँ शोषण, बेरोजगारी, भिक्षावृत्ति या कल के लिये चिन्ता की समस्या नहीं है।" मानव-अधिकारों का मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य केवल संविधान में नागरिकों के अधिकारों की व्याख्या कर देने में विश्वास नहीं करता, बल्कि इस तथ्य पर बल देता है कि उन अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है। यह केवल नागरिकों को समता ही प्रदान नहीं करता, बल्कि विश्वास दिलाता है कि वे शासन के शोषण से मुक्त हो गये हैं। यह नागरिकों को काम करने का अधिकार ही नहीं देता, अपितु ऐसी व्यवस्था में विश्वास करता है कि प्रत्येक नागरिक को कार्य दिया जाये। पाश्चात्य लोकतंत्रों में नागरिक अधिकारों का स्वरूप व्यक्तिवादी (Individualistic) है, वहाँ मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में उनका स्वरूप समाजवादी (Socialistic) है। नागरिक अथवा मानव-अधिकारों की मार्क्सवादी योजना पूरे समाज को केन्द्र मानती है। उसका आर्थिक व्यक्तिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका आधार समाजवादी व्यवस्था है जो नियोजित अर्थव्यवस्था (Planned Economy) पर आधारित है। व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं व्यक्तिगत लाभ के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। उसका केन्द्र एक ऐसा समाज है जिसमें सब काम करने वाले लोग किसान और मजदूर हैं। वह समाज सम्पन्न और विपन्न वर्गों में विभाजित नहीं होता। मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य व्यक्ति को अधिकार इस रूप में प्रदान करता है कि उनका प्रयोग कर वह अपने कल्याण के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज का भी कल्याण कर सके। अधिकारों की मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी (Communist) अवधारणा अधिकारों के साथ ही उनकी पूर्ति के लिये ठोस साधनों में विश्वास करती है। पाश्चात्य लोकतांत्रिक संविधान में, जो अधिकारों की उदारवादी (Liberal) अवधारणा के प्रतीक माने जाते हैं, केवल अधिकारों की चर्चा है साधनों की नहीं। मार्क्सवादी अवधारणा के पोषक पश्चिमी संविधानों के अधिकार-पत्रों को कागजी महत्व का बतलाते हैं, व्यावहारिक महत्व का नहीं।

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में अधिकारों के साथ कर्तव्यों का उल्लेख आवश्यक है। कारपिंस्कों के अनुसार, "अधिकार देने के साथ-साथ हमारा रूसी संविधान नागरिकों पर समाज और राज्य के प्रति कुछ कर्तव्य आरोपित करता है। रूसी संघ के नागरिकों के कर्तव्य अधिकारों के साथ-साथ चलते हैं। पूँजीवादी देशों की तरह रूसी संविधान बिना अधिकारों के किसी पर कर्तव्य नहीं लादता। अधिकार और कर्तव्य अविभाज्य हैं। रूस के प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि उसे

काम मिले साथ ही उसका भी यह कर्तव्य है कि वह काम करे।" मार्क्सवादी सम्प्रत्यय अधिकारों की सर्वव्यापकता में विश्वास करता है।

मार्क्सवादी विचारधारा नागरिक अधिकारों के साथ इस शर्त को आरोपित करती है कि अधिकार सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के हितों से नहीं टकरायेंगे और इन अधिकारों से समाजवादी व्यवस्था (Socialistic Order) को बल मिलेगा। मार्क्सवादी अवधारणा नागरिकों के सार्वजनिक संगठन सम्बन्धी अधिकार पर भी प्रतिबन्ध लगाती है। तदनुसार साम्यवादी दल को संविधान के अन्तर्गत विशेष स्थिति प्रदान की जाती है और उसे राज्य एवं सर्वसाधारण तथा सर्वहारा वर्ग का मुख्य संगठन माना जाता है।

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में मानव अधिकार व्यवस्था की विशेषता यह है कि जहाँ उदारवादी व्यवस्था में नागरिकों के अधिकारों (Civil Rights) को प्राथमिकता दी जाती है, वहाँ मार्क्सवादी व्यवस्था में सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है और नागरिक अधिकारों को गौण। वास्तविक स्वतन्त्रता तभी सम्भव हो सकती है जब कोई व्यक्ति आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो। प्रायः उदारवादी लोकतान्त्रिक देशों में नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए निष्पक्ष सर्वोच्च न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है, लेकिन मार्क्सवादी साम्यवादी धारणा इसे आवश्यक नहीं मानती।

इस साम्यवादी (मार्क्सवादी) परिप्रेक्ष्य में मानव अधिकारों की व्यवस्था सोवियत संघ के विघटन के बाद एवं गोर्बाच्योव द्वारा अपनाई गई 'ग्लासनोस्त व पैरेस्त्रोयका' की उदारवादी नीतियों के अवलम्बन से अब रूस में समाप्त हो गई है, किन्तु अभी चीन (साम्यवादी), उत्तरी कोरिया एवं क्यूबा में यह व्यवस्था विद्यमान है।

मानव अधिकारों का उदारवादी परिप्रेक्ष्य
(Liberal Perspective of Human Rights)

उदारवादी परिप्रेक्ष्य में मानव के मूलभूत अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा व्यवस्था रहती है ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्ण विकास की दिशा में आगे बढ़ सके, सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में अपना योगदान दे सके और पूर्ण आत्म-सम्मान का जीवन बिता सके। व्यक्ति को राजनीतिक और नागरिक दोनों अधिकार प्राप्त होने चाहिए। व्यक्ति के ये अधिकार पूर्ण अथवा अनियन्त्रित नहीं हो सकते, क्योंकि मानव-स्वभाव में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों होती हैं और व्यक्ति के स्वयं तथा समाज और राज्य के हित के लिये यह आवश्यक है कि उन अधिकारों पर उचित और न्यायसंगत नियन्त्रण लगाये जायें। देश और समाज के लिए अवांछित तत्वों पर अंकुश रखना आवश्यक है। नागरिकों को जो अधिकार प्रदान किये जायें उन्हें समुचित न्यायिक संरक्षण प्राप्त होना चाहिए अर्थात् कार्यपालिका की किसी भी संभावित निरंकुशता के विरुद्ध और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक है कि न्यायपालिका अधिकार-सम्पन्न हो। मानव-अधिकारों के उदारवादी परिप्रेक्ष्य के अनुसार नागरिकों और राजनीतिक अधिकारों का आशय स्पष्टता से समझ लेना चाहिये।

नागरिक या असैनिक अधिकार और स्वतन्त्रताएँ
(Civil Rights and Liberties)

नागरिक अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्तियों के जान-माल से है। इन अधिकारों के अभाव में सभ्य जीवन का विकास सम्भव नहीं है। यद्यपि समय और स्थान के अनुसार नागरिक अधिकार बदलते रहते हैं, तथापि सभ्य समाजों में नागरिकों को कुछ न्यूनतम नागरिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं, जैसे—जीवन रक्षा का अधिकार, समानता और स्वतन्त्रता का अधिकार, स्वतन्त्र भ्रमण का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, भाषण और प्रकाशन का अधिकार, सभा और सम्मेलन का अधिकार, धर्म और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का अधिकार आदि। सुव्यवस्थित राज्य का यह कर्तव्य है कि वह इन नागरिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं (Civil Rights and Liberties) की रक्षा करे और यह सुनिश्चित करे कि व्यक्ति के इन अधिकारों का अतिक्रमण न तो अन्य व्यक्तियों के द्वारा हो और न सरकार के द्वारा ही। व्यक्ति को इन मौलिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के उपभोग का अवसर तभी प्राप्त हो सकता है जब ये राज्य के कानून द्वारा मान्य और सुरक्षित हों। एक उदार लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता और कानून में परस्पर सामंजस्य स्थापित किया जाता है जिसमें स्वतन्त्रता के प्रति अधिक झुकाव होता है। उदार लोकतन्त्र में उसी आचरण की आज्ञा होती है जो कानून द्वारा निषिद्ध नहीं होता। यदि व्यक्ति इन कानूनों को तोड़ते हैं और अन्य व्यक्तियों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं का उल्लंघन करते हैं तो उनके प्रति न्यायालयों में कार्यवाही की जा सकती है। नागरिकों को आम जनता एवं सरकार से भी सुरक्षा की आवश्यकता होती है। उदार लोकतन्त्र में विधि-शासन (Rule of Law) की स्थापना होती है जिसमें कानून के समक्ष सरकारी कर्मचारी अथवा साधारण व्यक्ति में कोई भेद नहीं होता है।

नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार में अन्तर
(Difference between Civil and Political Rights)

नागरिक और राजनीतिक अधिकारों में अन्तर है। व्यक्ति द्वारा राजनीतिक अधिकारों का उपभोग अपने व्यक्तिगत
रूप में नहीं होता, अपितु नागरिक के रूप में होता है और वे उसे राज्य की सम्प्रभु शक्ति की वैध अभिव्यक्ति तथा
प्रशासन में अधिकार प्रदान करते है। राजनीतिक अधिकार वे साधन हैं जिनके माध्यम से वयस्क नागरिक राज्य के संविधान
तथा कानूनों के द्वारा देश की सरकार के साथ साझेदार बनने का अधिकार प्राप्त करता है। राजनीतिक अधिकारों के
माध्यम से ही लोकतन्त्र कार्यशील रहता है और एक लोकतान्त्रिक संविधान ही लोगों को यथार्थ रूप में राजनीतिक अधिकार
प्रदान करता है। नागरिक अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्तियों के जान-माल से है। इन अधिकारों की अनुपस्थिति में सभ्य
जीवन सम्भव नहीं है। ये अधिकार जीवन के व्यक्तिगत क्षेत्र में राजनीतिक हस्तक्षेप के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करते हैं।
यद्यपि समय और स्थान के अनुसार नागरिक अधिकार (Civil Rights) बदलते रहते हैं तथापि सभी सभ्य देशों में
न्यूनतम नागरिक अधिकार अवश्य पाये जाते हैं। एक उदारवादी सुव्यवस्थित राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों
के इन अधिकारों की रक्षा करे तथा सुनिश्चित करे कि व्यक्तियों के नागरिक अधिकारों का अतिक्रमण न तो अन्य व्यक्तियों
द्वारा होता है और न राज्य सरकार द्वारा ही।

कई अधिकार ऐसे होते हैं जो दोनों वर्गों से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु नागरिक अधिकारों को राजनीतिक अधिकारों
पर आश्रित नहीं समझा जा सकता, क्योंकि नागरिक अधिकार व्यक्ति के आधारभूत या मौलिक अधिकार (Fundamental
Rights) हैं जो उसे मनुष्य के नाते मिलने चाहिए। आधारभूत अधिकारों की रक्षा के लिये आवश्यक उपायों की व्यवस्था
की जानी चाहिए। इन उपायों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी उपाय है—अविलम्ब निष्पक्ष न्यायिक कार्यवाही (Fair
trial without undue delay), संरक्षण की व्यवस्था अधिकारों या स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिये अनिवार्य है अतः
ऐसी स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था होनी चाहिए जो कार्यपालिका के प्रत्येक अंकुश से पूर्णतः स्वतन्त्र हो। दूसरा उपाय
है कि जूरी (Jury) द्वारा अभियोग की सुनवाई की व्यवस्था हो और अपराधी को यह जानने का अधिकार हो कि उसके
विरुद्ध क्या आरोप है? इसके अतिरिक्त उसे यह अधिकार हो कि वह अपने विरुद्ध अभियोग की सुनवाई खुली अदालत
में करा सके और अपने बचाव के लिए वकील की सहायता ले सके।

कुछ प्रमुख मानव अधिकार (Some Major Human Rights)

प्रमुख मानव-अधिकार ये हैं—(1) जीवन का अधिकार (Right to Life), (2) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right
to Liberty), (3) सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property), (4) समानता का अधिकार (Right to
Equality), (5) सामाजिक अधिकार (Social Rights), (6) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Religious Rights)
एवं (7) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)।

संयुक्त राष्ट्र और मानव अधिकार
(United Nations and Human Rights)

मानव-अधिकारों की उदारवादी अवधारणा (Concept) का सर्वोत्तम प्रदर्शन संयुक्त राष्ट्र की 'मानव अधिकारों
की घोषणा' (Declaration of Human Rights) में है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में मानव अधिकारों की सुरक्षा के
लिए कुछ प्रावधान रखे गये हैं और प्रस्तावना में मानव के मूल अधिकारों, मानव की गरिमा और महत्त्व में, सभी छोटे बड़े
राष्ट्रों के स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों में आस्था दोहराई गई है। चार्टर में मानव अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्रदान
की गई है।

चार्टर में मानव अधिकारों की व्यवस्था—संयुक्त राष्ट्र के चार्टर (Charter) में किसी अन्य विषय पर इतना
अधिक बल नहीं है जितना मानव-अधिकारों और मानव-स्वतन्त्रताओं पर दिया गया है। चार्टर के पहले अनुच्छेद में लिखा
है कि संयुक्त राष्ट्र के अनेक उद्देश्यों में से एक यह है कि जाति, भाषा, लिंग अथवा धर्म का कोई भेद भाव किये बिना
सबके लिये मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्मान को प्रोत्साहित किया जायेगा। अनुच्छेद 35 में इन
अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के प्रति 'सर्वत्र सम्मान और उनके पालन में संयुक्त राष्ट्र का कर्तव्य' माना गया है। अनुच्छेद
56, 62 और 76 भी मानव अधिकारों को संरक्षण देते हैं। संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों को यह वैधानिक उत्तरदायित्व सौंपा
गया है कि वे संयुक्त राष्ट्र के सहयोग से व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से मानव अधिकारों की रक्षा करें।

मानव-अधिकारों की घोषणा—चार्टर के दायित्वों को निभाते हुए महासभा ने 10 दिसम्बर, 1948 को मानव
अधिकारों की घोषणा (Declaration of Human Rights) को स्वीकार किया। इस घोषणा में तीन धाराएँ हैं

जिनमें नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ ही आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार सम्मिलित हैं। घोषणा-पत्र की 3 से 21 तक की धाराओं में विभिन्न नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का समावेश है। इन मानव अधिकारों को लोकतांत्रिक संविधानों में बराबर मान्यता दी जाती रही है। घोषणा-पत्र की 22 से 27 तक की धाराओं में आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार दिये गये हैं जिनको मनुष्य के आत्म-सम्मान और स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक माना गया है। घोषणा-पत्र की 28 से 30 तक की धाराओं में यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसी सामाजिक और अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकार है जिसमें विश्व-शांति और सुरक्षा हो तथा व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त हो। घोषणा में यह स्मरण कराया गया है कि अधिकारों के साथ कर्तव्य भी जुड़े हुए हैं, जिनका पालन किये बिना हम अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकते। कानून द्वारा मान्य न होने पर इस घोषणा-पत्र का अपना महत्त्व है। जिस प्रकार नैतिकता के आदर्श और नियम कानून द्वारा मान्य न होने पर लोगों को तदनुसार व्यवहार करने को बाध्य करते हैं, उसी प्रकार मानव के अधिकारों का यह घोषणा-पत्र राष्ट्रों और सरकारों को मानव-अधिकारों के पालन की प्रेरणा देता है।

न्याय के सिद्धान्त
(Theories of Justice)

भारत में मनु ने अति प्राचीन युग में ही विवादों की वे दो श्रेणियाँ बतला दी थीं जिन्हें आज दीवानी (Civil) और फौजदारी (Criminal) की संज्ञा देते हैं। न्यायिक निष्पक्षता और सत्यता पर मनु ने अत्यधिक बल दिया और कहा, "जिस सभा (न्यायालय) में सत्य, असत्य से पीड़ित होता है उसके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।" कौटिल्य ने उचित न्याय-व्यवस्था को राज्य का प्राण मानते हुए कहा है कि जो राज्य अपनी प्रजा को न्याय नहीं दे सकता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। कौटिल्य ने यह सुनिश्चित मत प्रस्तुत किया कि न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना है। न्यायप्रिय शासक के लिए आवश्यक है कि वह असामाजिक तत्त्वों और अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले लोगों को दण्डित करे। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में 'धर्मस्थीय' तथा 'कण्टक शोधन' नामक दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है जिन्हें आधुनिक दीवानी और फौजदारी न्यायालयों के समान माना जा सकता है। कौटिल्य ने न्यायिक संगठन एवं प्रक्रिया का वर्णन किया है। सभी भारतीय ग्रन्थों में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि न्याय करने वाला अधिकारी निष्पक्ष रहे। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन भारत की न्याय-व्यवस्था धर्म से प्रभावित थी। न्यायालयों के सदस्यों की योग्यता में उनकी धर्म-सम्बन्धी जानकारी को महत्व दिया जाता था। किसी विवाद का निर्णय धर्मसम्मत हो, इसके लिए कई प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थीं।

न्याय की परिभाषाएँ (Definitions of Justice)

आगस्टाइन (Augustine) के अनुसार, "न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन व्यतीत करने तथा उन कर्तव्यों का पालन करने में है जिनकी व्यवस्था माँग करती है।"

थॉमस एक्वीनास (Thomas Acquinas) के अनुसार, "न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसका अधिकार दिये जाने की निश्चित एवं सनातन इच्छा है।"

प्लेटो (Plato) के अनुसार, "न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्तव्य का पालन करना है, जो उसके प्राकृतिक गुणों और सामाजिक स्थिति के अनुकूल हो। नागरिक को अपने कर्तव्य की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यक्ति ही राज्य का न्याय है।"

अर्नोल्ड ब्रेश्ट (Arnold Brecht) के अनुसार, "न्याय की धारणा वांछित स्थिति के प्रति हमारे दृष्टिकोण पर निर्भर करती है और वह एक ऐसे बर्तन की भाँति है जिसके कई तल होते हैं।"

समाजशास्त्र के विश्वकोश के अनुसार, "न्याय वह क्रियाशील प्रक्रिया है जिसके माध्यम से उस परिस्थिति को रोका जाता है अथवा उपचार किया जाता है जिससे अन्याय की भावना और स्थिति बढ़ती है।"

ह्यूम (Hume) के अनुसार, "न्याय के उदय का एकमात्र आधार सार्वजनिक उपयोगिता है।"

न्याय की अवधारणा के विभिन्न रूप (Various Forms of the Concept of Justice)

परम्परागत रूप से न्याय की दो अवधारणाएँ प्रचलित रही हैं—नैतिक एवं कानूनी, जबकि आज न्याय की अवधारणा के मुख्य रूप हैं—कानूनी, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

(1) प्राकृतिक न्याय (*Natural Justice*)—इस न्याय के अनुसार मनुष्य को अपने क्रियाकलापों में पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वाधीन रहना चाहिए और उस पर कोई बंधन नहीं होना चाहिए। यह मनुष्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता है। डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार, "प्राकृतिक विभिन्नता के कारण ही सब मनुष्यों का स्तर भिन्न रखा जाना चाहिए। यह कहना चाहिए कि समाज की ओर से व्यक्ति के प्राकृतिक स्तर में कोई बाधा उत्पन्न नहीं की जानी चाहिए, जिससे उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो सके। इस आधार पर न्याय को उस रूप में माना गया है जो व्यक्ति प्राकृतिक

स्वतन्त्रता एवं समानता के आधार पर समाज में स्वतः व्यवस्था बनाये रखने के अपने उद्देश्य को पूरा करने में सक्षम हो।"

(2) नैतिक न्याय (Moral Justice)—परम्परागत रूप में न्याय की अवधारणा को नैतिक रूप से अपनाया जाता है। नैतिक न्याय इस धारणा पर आधारित है कि व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों के समुचित संचालन के लिए कुछ सार्वभौमिक, अपरिवर्तनीय और अन्तिम प्राकृतिक नियम हैं। इन नियमों के अनुसार जीवन-यापन ही नैतिक न्याय है। यदि हमारा आचरण इन नियमों के प्रतिकूल होता है तो वह नैतिक न्याय के विरुद्ध है। नैतिक न्याय के कुछ मुख्य अंग हैं—सत्य भाषण, प्राणिमात्र के लिए दया व्यवहार, वचन-पालन, उदारता, दानशीलता एवं सदाचरण।

(3) कानूनी न्याय (Legal Justice)—न्याय की अवधारणा के कानूनी रूप को प्राचीन और मध्यकाल में ही नहीं, आधुनिक काल में भी मान्यता प्राप्त है। आज कानूनी न्याय एक सर्वमान्य अवधारणा है और प्रत्येक राज्य से यह आशा की जाती है कि वह कानूनी न्याय की स्थापना के लिए समुचित संगठन और प्रक्रिया अपनाये। विश्व के सभी देशों के न्यायालय कानूनी न्याय की प्रस्थापना करते हैं। कानूनी भाषा में समस्त कानूनी व्यवस्था को न्याय व्यवस्था की संज्ञा दी जाती है। कानूनी न्याय में सभी नियम एवं कानूनी न्याय की अवधारणा को दो अर्थों में प्रयोग में लाया जाता है—प्रथम, कानूनों का निर्माण एवं द्वितीय कानूनों का क्रियान्वयन। यह अपेक्षा की जाती है कि सरकार जो कानून बनाए, वे न्यायोचित होने चाहिए और सरकार द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि निर्मित कानूनों को न्यायोचित ढंग से लागू किया जा सके। यदि कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है तो उसे कानूनी व्यवस्था के अनुसार दण्डित किया जाना चाहिए।

(4) राजनीतिक न्याय (Political Justice)—राजनीतिक न्याय की माँग है कि राज्य-व्यवस्था के सभी सदस्यों को ऐसे अवसर सुलभ हों कि वे राज्यव्यवस्था को लगभग समान रूप से प्रभावित कर सकें और राजनीतिक शक्ति का प्रयोग ऐसे ढंग से किया जाए कि सभी व्यक्तियों को उसका लाभ प्राप्त हो सके। यह अनुभव किया गया कि राजनीतिक न्याय की प्राप्ति एक प्रजातान्त्रिक राज्यव्यवस्था के अन्तर्गत ही की जा सकती है। राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के कुछ मुख्य साधन हैं—प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली, वयस्क मताधिकार, सभी लोगों को विचार, भाषण, सम्मेलन, संगठन आदि की स्वतन्त्रताएँ, प्रेस की स्वतन्त्रता, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, निष्पक्ष रूप से सार्वजनिक पदों की सुलभता आदि। राजनीतिक न्याय की माँग है कि देश की राजनीति में विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं हो।

(5) सामाजिक न्याय (Social Justice)—सामाजिक न्याय का अर्थ है कि नागरिकों के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाए और प्रत्येक नागरिक को आत्मविकास के पूर्ण अवसर सुलभ हों। सामाजिक न्याय की माँग है कि समुचित जीवन-यापन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का सृजन हो, राजनीतिक सत्ता अपने विधायी और प्रशासनिक कार्यक्रमों द्वारा समानता पर आधारित समाज की स्थापना का प्रयत्न करे। आधुनिक काल में सामाजिक न्याय का विचार लोकप्रिय होता जा रहा है, क्योंकि साम्यवाद या समाजवाद में सामाजिक न्याय पर विशेष बल दिया गया है इसीलिए विश्व के करोड़ों लोगों ने समाजवाद को किसी न किसी रूप में अपना लिया है। समाजवाद के प्रति आकर्षण का कारण उसमें निहित सामाजिक न्याय के प्रति तत्परता है। अनेक विद्वानों ने सामाजिक न्याय के प्रति तत्परता के आधार पर मार्क्सवाद को 'नवीन युग का एक नया धर्म' कहा है।

(6) आर्थिक न्याय (Economic Justice)—आर्थिक न्याय सामाजिक न्याय का अंग है। आर्थिक न्याय का अभिप्राय है कि सम्पत्ति सम्बन्धी अन्तर इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि सम्पत्ति के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विभेद की दीवार खड़ी हो जाए और धनिक व्यक्ति दूसरों के श्रम का शोषण करें अथवा उन्हें अपने से बहुत नीचा मानते हुए उनके जीवन पर अनुचित अधिकार स्थापित करें। आर्थिक न्याय की यह माँग है कि सर्वप्रथम समाज के सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी हों और तब कुछ व्यक्तियों द्वारा विलासिता की आवश्यकताओं को पूरा किया जाए। आर्थिक न्याय यह इजाजत नहीं देता कि एक ओर लोग आलीशान मकानों में रहें तो दूसरी ओर झोंपड़ियों की कतारों में। आर्थिक न्याय की स्थापना का मार्ग तब तक प्रशस्त नहीं हो सकता, जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार को सीमित नहीं कर दिया जाए।

भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की व्यवस्था

भारतीय संविधान में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की व्यवस्था इस प्रकार की गई है—

(क) सामाजिक न्याय के मूलभूत मानवीय सिद्धान्त को संविधान के अनेक रूपों में मान्यता मिली है। संविधान के तीसरे और चौथे भाग में सामाजिक न्याय की सिद्धि के विविध उपायों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत भूमि पर कानून के समक्ष सभी नागरिक ही समान नहीं हैं, बल्कि उनको समान संरक्षण भी प्राप्त है।

अनुच्छेद 15 *धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान आदि के स्थान पर विभेद का निषेध करता है।* अनुच्छेद 16 के द्वारा राज्याधीन पदों पर नियुक्तियों के सम्बन्ध में सब नागरिकों को अवसर की समानता दी गई है। अनुच्छेद 17 के द्वारा छुआछूत का तथा अनुच्छेद 23 के द्वारा बेगार का अन्त कर दिया गया है। अनुच्छेद 24 के द्वारा कारखानों में बच्चों से काम कराने का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 29 और 30 के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी हितों तथा अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 41 में कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बीमारी, बुढ़ापा, बेकारी आदि अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने के कार्यसाधक प्रयास करेगा। अनुच्छेद 42 में संविधान ने *राज्य को निर्देश दिया है कि वह काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति* के लिए सहायता उपलब्ध करे। अनुच्छेद 43 श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी का प्रबन्ध, अनुच्छेद 44 नागरिकों के लिए समान व्यवहार-संहिता, अनुच्छेद 45 बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध, अनुच्छेद 46 अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों तथा दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति और अनुच्छेद 47 आहार पुष्टि और जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार करने का राज्य का कर्तव्य आदि मूल सिद्धान्त है जिनका अनुपालन भारत में सामाजिक न्याय को साकार एवं सफल कर सकता है।

(ख) आर्थिक न्याय की व्यवस्था करते हुए संविधान के अनुच्छेद 39 में राज्य से कहा गया है कि वह अपनी नीति *का संचालन ऐसा करे जिससे समान रूप से सभी नर-नारियों को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,* समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार विभक्त हो जिसमें अधिकाधिक सामूहिक हित सम्पन्न हो सके, आर्थिक व्यवस्था ऐसी चले कि धन का उत्पादन तथा वितरण के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकर केन्द्रण न हो, पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं शक्ति का तथा बालकों का दुरुपयोग न हो, आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर किसी को ऐसे व्यवसाय में न जाना पड़े जो उसकी आयु अथवा शक्ति के उपयुक्त न हो, शैशव तथा किशोर अवस्था का शोषण, नैतिक तथा आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक न्याय की स्थापना की प्रबल चेष्टाएँ की गई है। 'समाजवादी ढंग का समाज', 'लोकहितकारी *राज्य' और 'मिश्रित अर्थ-नीति' जैसे पदों में आर्थिक न्याय की भावना व्यक्त होती है। भारतीय राज्य आर्थिक क्षेत्र में किन्ही* अनीति की ओर न जाकर, राष्ट्रीय लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहता है।

(ग) राजनीतिक न्याय संविधान ने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की स्थापना, साम्प्रदायिक निर्वाचनों का अन्त और अनुच्छेद 19 से 22 के अन्तर्गत विविध स्वातन्त्र्य अधिकारों तथा अनुच्छेद 32 के अधीन संवैधानिक उपचारों के अधिकार द्वारा राजनीतिक न्याय के आदर्श को मूर्त रूप दिया गया है।

आर्नोल्ड ब्रेचेट और न्याय की अवधारणा
(Arnold Brecht & Concept of Justice)

राजनीति विज्ञान के विद्वानों में प्रमुख रूप से न्याय-सिद्धान्त का विवेचन आर्नोल्ड ब्रेचेट की पुस्तक 'Political Theory' में मिलता है। उनके अनुसार, *"न्याय की अवधारणा वांछित स्थिति के प्रति हमारे स्वभाव पर निर्भर करती है और यह एक ऐसे बर्तन की तरह है जिसके कई तल होते हैं।" न्याय के सम्बन्ध में उसकी अवधारणा या तो सभ्य जीवन* की परम्परागत संस्थाओं पर आधारित होती है अथवा वह परम्परागत संस्थाओं से आगे बढ़ी हुई होती है। प्रथम स्थिति में उसे 'परम्परागत न्याय' (Traditional Justice) एवं दूसरी स्थिति में उसे 'अपरम्परागत न्याय' (Trans-Traditional Justice) कहा जाता है।

परम्परागत न्याय (Traditional Justice)—आर्नोल्ड ब्रेचेट के अनुसार, न्याय की परम्परागत अवधारणा सामाजिक जीवन के प्रचलित रीति-रिवाजों, प्रथाओं और परम्पराओं पर आधारित होती है। इन प्रथाओं, परम्पराओं आदि के अनुसार जो कुछ होता है, उसे न्याय समझा जाता है। इस प्रकार की मूलभूत प्रथा अथवा संस्थाओं में पाँच प्रमुख हैं—एक पत्नी विवाह प्रथा, परिवार, निजी सम्पत्ति, पैतृक धन के सम्बन्ध में उत्तराधिकार की व्यवस्था तथा समझौता करने की स्वतन्त्रता और समझौते की बाध्यकारी शक्ति। परम्परागत न्याय की धारणा इन पाँच प्रमुख अधिकारों पर अवलम्बित है। इन आधारभूत संस्थाओं के अनुसार किए जाने वाला आचरण न्याय-भावना के अनुसार समझा जाता है। इन संस्थाओं के औचित्य को चुनौती नहीं दी जाती है। आर्नोल्ड ब्रेचेट के अनुसार परम्परागत न्याय-भावना में निम्नलिखित तत्व शामिल है—(1) व्यक्ति जाने-अनजाने परम्परागत मान्यताओं और संस्थाओं को तर्कसंगत समझता है, (2) वह उनका प्रयोग क्रमिक तर्क द्वारा कुछ निश्चित पूर्व-कल्पनाओं को प्राप्त करने के लिए करता है, (3) इनके आधार पर व्यक्ति ऐसे नियमों-विनियमों को स्वीकार करता है जो सामाजिक जीवन में स्थिरता, निश्चितता और औचित्यता बनाए रखते हैं, (4) वह इन परम्परागत मान्यताओं और संस्थाओं का प्रबल समर्थन करता है, इनके विरुद्ध आलोचना सहन नहीं करता, उनका प्रतिवाद करता है।

अपरम्परागत न्याय (Trans Traditional Justice) — जब व्यक्ति न्याय की परम्परागत मान्यताओं और संस्थाओं से बंधे रहने के बजाय उनकी अपने दृष्टिकोण से आलोचना और मूल्यांकन करता है तो वह अपरम्परागत अथवा परम्परामुक्त न्याय की अवधारणा को अपनाता है। अपरम्परागत या परम्परामुक्त न्याय का दृष्टिकोण स्वीकार करते हुए व्यक्ति पूर्व मान्यताओं और संस्थाओं की उपयोगिता पर अपनी बुद्धि से विचार प्रस्तुत करता है और देखता है कि कौनसी मान्यताएं तथा संस्थाएं तत्कालीन सामाजिक स्थिति में सामाजिक हित के अनुकूल हैं। ऐसी उपयोगी मान्यताओं और संस्थाओं को शक्ति प्रदान करने वाली व्यवस्था को वह न्याय की व्यवस्था मानता है। व्यक्ति विचार करता है कि अनेक महत्वपूर्ण उद्देश्यों में कौनसा उद्देश्य उपयुक्त है और उसकी प्राप्ति के लिए कौन से साधन उपयुक्त हैं।

न्याय के सार्वलौकिक एवं स्थिर आधार तत्व

(Universal and Invariant Postulates of Justice)

आर्नोल्ड ब्रेख्ट (Arnold Brecht) ने अपनी पुस्तक 'Political Theory' में न्याय के सार्वलौकिक एवं आधार तत्वों को गिनाया है—(1) न्याय का एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व सत्य है। वस्तुनिष्ठ रूप में न्याय की माँग है कि तथ्य और सम्बद्ध निष्कर्ष सभी कथनों में हम सत्य का प्रयोग करें। व्यक्तिनिष्ठ रूप में न्याय की माँग है कि विभिन्न व्यक्तियों और वस्तुओं के सम्बन्ध में उन्हीं विचारों को प्रकट करें जिन्हें हम सत्य मानते हैं। (2) इन मूल्यों के आधारभूत क्रम का सामान्यत्व (Generality of the system of values) स्थापित करें अर्थात् विभिन्न मामलों पर विचार करते हुए न्याय की एक ही अवधारणा को लागू करें। ऐसा न करें कि एक मामले में न्याय की एक अवधारणा को तथा दूसरे मामले में न्याय की दूसरी अवधारणा को लागू करें। (3) न्याय की माँग है कि कानून के समक्ष सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जाए। यह अनुचित और अन्यायपूर्ण होगा कि एक प्रकार की स्थितियों में मनमाने ढंग से भेद किया जाए अथवा वर्ग, जाति, धर्म या लिंग के आधार पर लोगों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार हो। (4) उचित रुकावटों के अलावा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं लगाया जाए। (5) जो कार्य प्रकृति की ओर से व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है उन्हें करने के लिए व्यक्ति को मजबूर नहीं किया जाए, अर्थात् न्याय की माँग है कि प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान किया जाए। जिन कानूनों अथवा आदेशों की अनुपालना व्यक्ति के लिए असम्भव हो उनकी अवहेलना करने पर उसे दण्डित करना अन्यायपूर्ण है।

कानूनी न्याय प्राप्त करने के साधन

(Means of Achieving Legal Justice)

कानूनी न्याय की स्थापना के लिए आवश्यक प्रावधान हैं—(1) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का अर्थ है वह कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त हो (2) न्यायाधीशों की नियुक्ति की स्वतन्त्र व्यवस्था हो उन्हें चुना नहीं जाए (3) न्यायाधीशों की उच्च और आवश्यक योग्यताएं निर्धारित हों, (4) न्यायाधीशों को पर्याप्त वेतन मिले और पदोन्नति के अवसर सुलभ हों ताकि उनकी अपने कार्य में रुचि बनी रहे (5) न्यायाधीशों का कार्यकाल लम्बा हो अर्थात् वे सदाचार पर्यन्त और समय-पर्यन्त अपने पद पर बने रहें। उनके पद की सुरक्षा हो अर्थात् भ्रष्टता या अयोग्यता की स्थिति में केवल व्यवस्थापिका द्वारा विशेष बहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव पारित करके ही उन्हें हटाया जा सके। कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की आलोचना नहीं की जानी चाहिए, (6) न्यायाधीशों के लिए अवकाश प्राप्ति के बाद व्यवसाय का निषेध हो और यह व्यवस्था हो कि पदमुक्त होने के बाद वे उचित रूप से अपना जीवन-निर्वाह कर सकें, (7) न्याय की समानता के लक्ष्य पर ध्यान दिया जाए। यह आवश्यक है कि विशेषाधिकारों की समाप्ति हो और गरीबों के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था हो एवं (8) यथासाध्य जूरी (Jury) व्यवस्था कायम की जाए।

समानता

(Equality)

स्वतन्त्रता की तरह 'समानता' शब्द का अर्थ भी भ्रामक है। राजनीति विज्ञान में इस शब्द की व्याख्या इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह समाजवादी नारों के साथ जुड़ा हुआ है। प्रायः लोग समानता का अर्थ यह लगाते हैं कि सभी व्यक्ति समान हैं। जनसाधारण समझता है कि मनुष्य समान पैदा होते हैं क्योंकि प्रकृति ने उन्हें समान बनाया है इसलिए वे समान हैं अथवा होने चाहिए। अठारहवीं शताब्दी की इस मान्यता पर आधारित अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा में उल्लेख है कि—"सब मनुष्य आजाद और समान पैदा होते हैं।" फ्रांस के अधिकारों के घोषणा-पत्र में कहा गया था कि "मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा होते हैं और वे अपने अधिकारों के विषय में समान और स्वतन्त्र हैं।" समानता की यह धारणा आज के युग में अव्यावहारिक है। प्रत्येक व्यक्ति न समान पैदा होता है न वह समान है किन्तु यह कहना कि सभी मनुष्य समान हैं, उतना ही गलत है जितना यह कहना कि पृथ्वी समतल है। समानता के सिद्धान्त

समानता तथा स्वतन्त्रता का सम्बन्ध
(Relation of Equality and Liberty)

राजनीति विज्ञान में समानता एवं स्वतन्त्रता एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, किन्तु व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से अनेक विचारक समानता तथा स्वतन्त्रता को एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं। समानता की उपस्थिति में स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उसका अर्थ असमानता बन जाता है। डी. टाकविल तथा लॉर्ड एक्टन दोनों इस प्रकार के विचारक हैं जो स्वतन्त्रता तथा समानता को एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं। उनके अनुसार समानता स्वतन्त्रता की शत्रु है। लास्की का कहना है कि लॉर्ड एक्टन तथा टाकविल का निष्कर्ष अत्यन्त भ्रामतावादी है। लॉर्ड एक्टन का कथन है कि—"समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण स्वतन्त्रता की आशा ही व्यर्थ हो गई है।" वास्तव में स्वतन्त्रता एवं समानता एक-दूसरे की पूरक और साथ-साथ रहने वाली राजनीतिक धारणाएँ हैं। आशीर्वादम् के अनुसार, "स्वतन्त्रता के पुजारियों (टाकविल एवं लॉर्ड एक्टन) का यह विचार कि स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के विरोधी हैं, गलत है। फ्रांस के क्रान्तिकारी कोई मूर्ख नहीं थे कि जिन्होंने 'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व' का नारा बुलन्द किया। ये तीनों शब्द एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित हैं। यदि स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य प्राप्त करना है तो यह जरूरी है कि समानता किसी न किसी रूप में उनके साथ रहे।"

स्वतन्त्रता एवं समानता को एक साथ रखने के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना आवश्यक है। राज्य में न वर्गभेद होना चाहिए और न धन के आधार पर कार्य का वितरण। आधुनिक समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी शक्ति का मूल आधार धन है। अधिकांश जनता जिनकी इज्जत करती है और जिनके पीछे-पीछे चलती है, उनकी इज्जत और नेतृत्व का कारण उनका ज्ञान या गुण न होकर उनके धन की शक्ति है। वे पूँजी के आधार पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। समाज के उत्पादन के साधन उनकी अपनी इच्छा के अनुसार नियन्त्रित होते हैं। समाचार-पत्रों पर अपने नियन्त्रण से वे राजनीतिक संस्थाओं पर प्रभाव डालते हैं। समाज की आर्थिक शक्ति ऐसे हाथों में आकर मजदूर-वर्ग के लिए घातक सिद्ध होती है। इस प्रकार जहाँ ज्यादा आर्थिक असमानताएँ हैं, वहाँ स्वतन्त्रता की अनुभूति और उपभोग उसी अनुपात में कम हो जाते हैं। इन सब परिस्थितियों के आधार पर लास्की का मत है कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता तब तक यथार्थ नहीं हो सकती जब तक उसके साथ आर्थिक समानता न जुड़ी हुई हो, क्योंकि राजनीति आगे चलकर आर्थिक शक्ति के हाथ की कठपुतली बन जाती है।"

नये सामाजिक आन्दोलन
(New Social Movements)

समय परिवर्तनशील है। मनुष्य के विचार एवं दृष्टिकोण समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के लिए समाज में आन्दोलन होते हैं और फलस्वरूप समाज में सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन भी आवश्यक हो जाते हैं। राजनीतिक परिवर्तन राज्य की संरचना/संगठन, संस्थाओं एवं नागरिकों के मनोवैज्ञानिक वैचारिक परिवर्तन के रूप में होते हैं। यह राजनीतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का ही एक अंग है।

राजनीतिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Change)

राजनीतिक परिवर्तन राजनीतिक व्यवस्थाओं में नागरिकों के विचार एवं दृष्टिकोण के परिवर्तन को कहते हैं। इसमें राज्य व्यवस्था, राजनीतिक मूल्य, मानक, संगठन, उद्देश्य, संरचनाओं एवं संवैधानिक नीतियों के परिवर्तन मुख्य होते हैं। जिल्स एवं मूर ने परिवर्तन शब्द को सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कहा है कि—"सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक संरचना, समाज का आकार, उनके अंगों की रचना, सन्तुलन और उनके ढंग में परिवर्तन है।" यह परिवर्तन राजनीतिक हो या सामाजिक इसका मुख्य कारण क्या है? जनता इसे क्यों चाहती है? आदि तथ्यों को जानना आवश्यक है। परिवर्तन बाह्य हो या आन्तरिक, यह प्रकृति एवं समाज दोनों से सम्भव होता है। राजनीतिक परिवर्तन समाज के विभिन्न समूहों के मध्य अन्तक्रिया द्वारा, पुरानी रूढ़ि-पीढ़ी समाप्त होने से एवं बदलते परिवेश से सम्भव है। राजनीतिक परिवर्तन समाज में नई-नई प्रौद्योगिकी के विकास, व्यवहार एवं युद्ध, राजद्रोह, वंशपरम्परा समाप्त होने से राजनीतिक नेताओं के उदय-पतन, धार्मिक संघर्ष, सांस्कृतिक विकास से सम्भव होता है। कुछ परिवर्तन औद्योगिक एवं आर्थिक विकास से भी सम्भव होते हैं।

राजनीतिक परिवर्तन के प्रकार (Kinds of Political Change)

विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक परिवर्तन के विभिन्न प्रकार बताये हैं। प्रमुख राजनीतिक परिवर्तन ये हैं—1. संवैधानिक परिवर्तन, 2. राजनीतिक संगठन में परिवर्तन जैसे—राज्य संगठन, संस्था आदि में परिवर्तन, 3. प्रशासनिक परिवर्तन, जैसे—सत्ता-शक्ति परिवर्तन, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका में परिवर्तन, 4. शासन परिवर्तन, राजनीतिक दल, गुटबन्दी, दबाव समूह आदि में परिवर्तन, 5. क्रान्तिकारी परिवर्तन 6. विकासवादी परिवर्तन आदि।

राजनीतिक परिवर्तन का प्रभाव (Impact of Political Change)

राजनीतिक परिवर्तन का राजनीतिक समाजशास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ता है? राजनीतिक सामाजिक वैज्ञानिकों ने विभिन्न परिवर्तनों का अलग-अलग प्रभाव बताया है। सांस्कृतिक, बौद्धिक, सामाजिक समूहों आदि के परिवर्तन का प्रभाव सामाजिक हितों पर पड़ता है। आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव संक्रमणों के सिद्धान्त पर, आधुनिक विज्ञान, प्रौद्योगिकी का अभिवृद्धि एवं उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। समस्त संकल्पनाओं के परिवर्तन का सम्पूर्ण सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। परिवर्तन से राजनीतिक संघर्ष उत्पन्न होता है। संघर्ष की प्रकृति सामाजिक समूहों को प्रमुखता देकर शक्ति संचालन में परिवर्तन लाती है जिससे अर्थव्यवस्था में भी हस्तक्षेप द्वारा परिवर्तन होता है। इस प्रकार राजनीतिक परिवर्तन मनुष्य के जीवन के सम्पूर्ण परिवर्तन का संचालक बनता है।

संघर्ष एवं सुधार
(Conflict and Reforms)

उन्नति एवं विकास ईर्ष्या के कारण होता है। ईर्ष्या से संघर्ष का जन्म होता है। संघर्ष की उत्पत्ति एवं सुधार मानव जीवन का राजनीतिक पहलू है। समाज में राजनीतिक व्यवस्था संघर्षों का मुख्य कारण है।

राजनीति एवं संघर्ष (Politics and Conflict)

संघर्ष की उत्पत्ति का मुख्य कारण राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता है। राजनीति का प्रत्येक पहलू संघर्ष लिये होता है। मनुष्य की आवश्यकताएँ असीम होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मनुष्य प्रयास करता है। प्रयास करने में विभिन्न समूह एवं विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है जिनकी आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इन समूहों की आवश्यकता में टकराव उत्पन्न होता है जो संघर्ष के जन्मदाता होते हैं। क्विन्सी राइट ने राजनीति की परिभाषा में कहा है—"राजनीति एक कला है जिसमें प्रत्येक समूह एक-दूसरे समूह पर नियन्त्रण रखकर उन्नति का प्रयास करता है। यही उन्नति एवं नियन्त्रण संघर्ष का कारण होती है।" बर्ट्रेण्ड ज्यूविनल ने संघर्ष को राजनीति की जड़ माना है।

राजनीतिक संघर्ष के रूप (Forms of Political Conflict)

दो व्यक्तियों द्वारा समान वस्तु प्राप्त करने का प्रयत्न संघर्ष का न्यौता है। ये वस्तु विभिन्न रूपों में आती है उसी अनुसार संघर्ष के रूप भी भिन्न-भिन्न होते है, यथा—मानसिक संघर्ष, वैचारिक संघर्ष, सामूहिक संघर्ष आदि। मानसिक या बौद्धिक संघर्ष में मनुष्य को मनःस्थिति का ज्ञान नहीं होता है। वह अनिर्णय की स्थिति में रहता है। सामूहिक संघर्षों में समूह या संगठन में कोई समझौता या सलाह-राय एक मत न होने से पैदा होता है। विचार भिन्नता से भी संघर्ष सम्भव है।

विचारों में संघर्ष के दो रूप होते हैं—1 हिंसात्मक संघर्ष एवं 2. अहिंसात्मक संघर्ष। प्रथम, संघर्ष में मनुष्य मत-भेद दूर करने के लिए युद्ध का चुनाव करता है। युद्ध में हिंसा आवश्यक है, अतः यह संघर्ष हिंसात्मक संघर्ष कहलाता है। राजनीति में भी हिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ रही है। वर्तमान में होने वाले चुनाव संघर्ष की पराकाष्ठा हैं। द्वितीय संघर्ष में युद्ध या हिंसा का उपयोग नहीं होता, उसमें विचारों का युद्ध होता है जिसका निदान समझौतों, बैठकों अथवा संविधान के अनुरूप कार्यवाही द्वारा किया जाता है। संघर्ष की प्रकृति के आधार पर एक वर्गीकरण खुला संघर्ष एवं गुप्त संघर्ष के रूप में किया जाता है। खुले संघर्ष में युद्ध, मतदान, लोकमत को सम्मिलित किया जाता है गुप्त संघर्ष में षड्यन्त्र, धोखाधड़ी, जासूसी, गुटबन्दी आदि आते हैं। लोकतन्त्र में संघर्ष आवश्यक होता है।

संघर्ष का संगठन (Organisation of Conflict)

प्रतियोगिता की भांति जीत-हार रूपी संघर्ष के दो संगठन है—1 शून्य संघर्ष (Zero Struggle) एवं 2. अशून्य संघर्ष (Non zero Struggle), जैसे—प्रतियोगिता में एक की हार, दूसरे की जीत सुनिश्चित होती है उसी प्रकार शून्य संघर्ष (Zero Struggle) में प्रतियोगी समान होते है, अर्थात् जितने जीत के दावेदार होते हैं उतने ही हार के दावेदार होते हैं। उनका अन्तर शून्य होता है। अशून्य संघर्ष प्रतियोगिता में विकल्प विषम होते हैं। राजनीति में चुनाव इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

राजनीतिक संघर्ष में सुधार (Political Conflict Reforms)

संघर्षों में कमी लाने, समाप्त करने हेतु इनमें सुधार आवश्यक है। संघर्षों में सुधार के प्रमुख प्रकार निम्नांकित है—

1. त्याग भावना—संघर्ष को समाप्त करने की उत्तम प्रणाली त्याग को माना है। यदि दो व्यक्तियों में अथवा राष्ट्र में संघर्ष है तो एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र द्वारा संघर्ष को त्यागना इसका समाधान है।

2. सन्धि—सन्धि करना संघर्ष समाप्ति का शान्तिपूर्ण तरीका है। सन्धि अथवा समझौते द्वारा दोनों वर्ग एक-दूसरे से सहमत होकर, मध्य का मार्ग अपना लेते हैं।

3. समर्पण—संघर्ष के समाधान का तरीका समर्पण भी है। इसमें एक दल या समूह अपनी माँग को समाप्त कर, अपने आप को समर्पित कर संघर्ष समाप्ति की घोषणा कर देता है।

4. वार्तालाप—वार्तालाप द्वारा संघर्ष टाला जा सकता है। दोनों पक्षों के संघर्ष में कोई तीसरा पक्ष मध्यस्थता कर, दोनों पक्षों में वार्ता कराकर, मध्यम मार्ग से संघर्ष टाला जाता है।

5 सर्वमान्य निर्णय—संघर्ष में सर्वमान्य निर्णय द्वारा संघर्षरत वर्ग-दल-राष्ट्र को झुकाया जाता है। खाड़ी संघर्ष इसका उत्तम उदाहरण है।

क्रान्ति
(Revolution)

परिवर्तन का एक रूप क्रान्ति जो अंग्रेजी के 'Revolution' शब्द का पर्यायवाची है। विभिन्न रूपों में इस शब्द का प्रयोग होता है, यथा—परिभ्रमण, परिक्रमण, घूर्णन, चक्र परिवर्तन, क्रान्ति आदि। 'दी अमेरिकन पीपुल्स एनसाइक्लोपीडिया' के अनुसार, "क्रान्ति किसी राष्ट्र में विस्तृत परिवर्तन की संवाहक होती है जिसमें अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। फलस्वरूप उस देश के नागरिकों के जीवन मूल्यों में अनेक परिवर्तन होते हैं।"

राजनीतिक क्रान्ति का अर्थ (Meaning of Political Revolution)

राजनीतिक समाजशास्त्र में इस अवधारणा का विशेष महत्व है। इसका प्रयोग राजनीति विज्ञान में प्राचीन काल से होता आया है। सभी विद्वान इसका प्रयोग 1789 से मानते हैं। सर्वसम्मत परिभाषा के अनुसार, "क्रान्ति शासन की संरचना, समर्थन का आधार एवं कार्यों में परिवर्तन असंवैधानिक रूप से किया गया स्वरूप है जिसमें परिवर्तन विशिष्ट वर्ग एवं नागरिकों द्वारा हिंसा अथवा हिंसात्मक धमकी द्वारा किया जाता है।" टी. एच. ग्रीन के अनुसार, "क्रान्ति शब्द को न केवल आधुनिक आन्दोलनों पर लागू करना चाहिए जिसने मानव स्वतन्त्रता को विस्तृत किया हो, बल्कि उन सब हिंसक परिवर्तनों पर लागू किया जाना चाहिए जिनका मूल उद्देश्य परिवर्तन हो। ये सब सैनिक क्रान्तियाँ जिनका उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों, मानकों तथा उद्देश्यों में परिवर्तन हो क्रान्ति की अवधारणा में सम्मिलित होते हैं।"[1]

राजनीतिक क्रान्ति के प्रकार (Kinds of Political Revolution)

राजनीतिक परिवर्तन के तरीकों को राजनीतिक क्रान्ति कहते हैं, जिनमें धन, शक्ति, सत्ता के स्वरूप में परिवर्तन सम्मिलित हैं। ये परिवर्तन वैधानिक व्यवस्था द्वारा शान्तिपूर्वक एवं संविधान का उल्लंघन कर अवैधानिक रूप से किये जा सकते हैं। राजनीतिक क्रान्ति के दो स्वरूप होते हैं—1 शान्तिपूर्ण क्रान्ति एवं 2. खूनी क्रान्ति। प्रथम राजनीतिक क्रान्ति को विद्वान मानने से इनकार करते हैं। सभी विद्वान राजनीतिक व्यवस्था एवं सिद्धान्तों के निर्माण को ही राजनीतिक क्रान्ति मानते हैं। राजनीति के लेखक शान्तिपूर्ण अथवा अहिंसात्मक राजनीतिक क्रान्ति को मानने से सहमत नहीं हैं। महात्मा गाँधी द्वारा कभी भी राजनीतिक परिवर्तन के लिए हिंसात्मक ढंग नहीं अपनाया गया, अत. अहिंसात्मक राजनीतिक क्रान्ति को भी क्रान्ति के प्रमुख स्वरूप में सम्मिलित किया जाना आवश्यक है। राजनीतिक परिवर्तन के उद्देश्यों के आधार पर दो प्रकार की राजनीतिक क्रान्ति प्रमुख हैं—1. विकासशील आधुनिक राजनीतिक क्रान्ति एवं 2 अविकसित राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तनपरक क्रान्ति। आधुनिक विश्व के राष्ट्रों में नई राजनीतिक व्यवस्थाएँ विकसित हो रही हैं। उससे हुए राजनीतिक व्यवस्था के परिवर्तन को विकासवादी राजनीतिक क्रान्ति कहते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में विकास से हुए परिवर्तनों में सत्ता में निष्ठा एवं उत्तरदायित्व में परिवर्तन भी हो यह सन्देहास्पद रहता है। निष्ठा परिवर्तन से हुए राजनीतिक परिवर्तन को अविकसित राजनीतिक क्रान्ति कहते हैं। इसके निम्नांकित प्रमुख कारण हैं—1 विदेशी प्रभुत्व द्वारा राजनीतिक क्रान्ति, 2. आन्तरिक राजनीतिक क्रान्ति, 3 सैनिक क्रान्ति, सेना की बगावत, 4 परतन्त्र राष्ट्रों को स्वतन्त्रता देना एवं 5 युद्ध।

राजनीतिक क्रान्ति के कारण (Causes of Political Revolution)

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति के कारणों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—1 मौलिक कारण 2 साधारण कारण एवं 3 विशेष कारण। आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक भिन्नता राजनीतिक क्रान्ति का मौलिक कारण है। राजनीतिक क्रान्ति के साधारण कारणों में निम्नांकित मुख्य हैं—1. नेता-शासक की स्वार्थपरता, 2. राजनीतिक सम्मान का लालच, 3 उच्च मनोभावना का विकास, 4 डर दबाव, 5 शोषण, 6 शासक संघर्ष, 7 चुनावी धाँधली एवं 8 जातिगत समस्याएँ। राजनीतिक क्रान्ति के विशेष कारणों में धार्मिक पहलू, लोकतन्त्र के अत्याचार, शक्ति सत्ता का दुरुपयोग, कुल संघर्ष परिवार के झगड़े आदि आते हैं।

---

1 T H Green Comparative Revolutionary Movements, p. 8

राजनीतिक क्रान्ति के रोक के उपाय
(Preventive Measures of Political Revolution)

राजनीतिक क्रान्ति के रोक के प्रमुख उपाय हैं—1. शक्ति का विकेन्द्रीकरण 2. राजनीतिक शक्ति-सत्ता के पदों का समान वितरण 3. देश-भक्ति का विकास 4. लोकतन्त्र में दलबंदियों पर रोक 5. नागरिकों से सद्व्यवहार 6. दण्ड की कठोर व्यवस्था आदि।

राजनीतिक बाध्यता
(Political Obligation)

राज्य न तो आन्तरिक दृष्टि से और न ही बाह्य रूप से पूर्ण है। सभी दृष्टिकोणों से राज्य सम्प्रभुता का विचार औचित्य पूर्ण नहीं रहा है। राज्य की राजनीतिक शक्ति के प्रयोग पर जहाँ व्यावहारिक प्रतिबन्ध व्याप्त हैं वहाँ किसी भी सम्प्रभु को अन्य राज्यों के अधिकारों का भी ध्यान रखना होता है। यदि वे ऐसा न करें तो वह उनके साथ संघर्ष में उलझ जायेंगे। संघर्षों का जोखिम कोई भी राज्य नहीं उठा सकता। द्रुतगति से एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय उभर रहा है जिसके अपने विशिष्ट नैतिक मानदण्ड एवं ढाँचे स्थापित हैं। ये मानदण्ड राज्य के व्यवहार एवं गतिविधियों पर नैतिक सीमाएँ लगाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक ऐसा वृहद् रूप प्रकट हो रहा है जो राज्य सम्प्रभुता के बाह्य पक्ष को पर्याप्त सीमा तक सीमित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रभावशालिता वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय समाज में तत्सम्बन्धी दण्ड व्यवस्था पर निर्भर करती है। आज से कुछ वर्षों पूर्व स्तर में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। पहले राष्ट्र संघ तथा बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापित हुए, जिनके माध्यम से निर्णयों और प्रतिबन्धों को लागू करने की व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आई हैं। ये व्यवस्थाएँ प्रारम्भ में भले ही अल्प-विकसित रही हों, लेकिन अब उनका क्रमिक विकास होता जा रहा है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व शांति सम्बन्धी अपने मौलिक उद्देश्य में विशेष रूप से सफल नहीं रहा है, फिर भी अनेकानेक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को कम करने तथा उन्हें मर्यादित करने में इस संस्था को विशेष सफलता मिली है। मानवता के मूल्यों पर यह राज्यों की स्वार्थ सिद्धि को नियन्त्रित करने की आशा का परिचायक है।

आन्तरिक दृष्टि से राज्य की सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति के विचार को आघात पहुँचा है। किसी भी समाज में ऐसे अनेक समूह एवं समुदाय हैं जो कुछ निश्चित क्रियाओं को सम्पादित करते हैं। ये राज्य शक्ति के प्रयोग पर व्यावहारिक सीमाएँ लगाते हैं। इसके अतिरिक्त शासकों को समाज में 'क्रान्ति' की भावी सम्भावनाओं पर सदैव ध्यान देना होता है अन्ततः लोकमत भी आज एक सशक्त शक्ति के रूप में प्रकट हो रहा है। यह सम्भव है कि यह पूर्णरूप से संगठित न हो, परन्तु कोई भी सम्प्रभु शक्ति उसकी उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में संसद सम्प्रभु है। वह ऐसा कानून बना सकता है कि प्रत्येक शिक्षित अथवा धनवान व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त होगा, लेकिन व्यवहार में वह ऐसा कानून अपने अस्तित्व को खतरे में डालकर ही बना सकती है। यह सही है कि बाध्यकारी शक्ति राज्य का एक महत्वपूर्ण लक्षण है, लेकिन उसका अत्यधिक प्रयोग राज्य के उद्देश्य को ही ध्वस्त कर देता है। मैकाइवर के अनुसार, "बाध्यकारी शक्ति राज्य का एक मापदण्ड है उसका सार नहीं।" नागरिकों को अनुशासित करने से पहले स्वयं राज्य को अनुशासित होना होगा। यह आवश्यक है कि बाध्यकारी तौर-तरीके लागू करने से पहले स्वयं राज्य को अपनी शक्ति की सीमाओं का ध्यान रखना चाहिए।

नये सामाजिक आन्दोलन
(New Social Movements)

सोलहवीं शताब्दी में सांस्कृतिक जागरण और सुधार आन्दोलन हुए तथा पश्चिमी यूरोप के क्षितिज पर राष्ट्र राज्यों (Nation States) का उदय हुआ। परिणामस्वरूप यूरोप के क्षितिज पर आधुनिकीकरण (Modernisation) प्रारम्भ हो गया। युग परिवर्तन के साथ ही राजनीतिक विचारों में गम्भीर परिवर्तन होने लगे। मैकियावली (Machiavelli) को प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक माना जाता है। उसने मध्य युग के विचारों से अलग हटकर आधुनिक व्यक्तिवाद और राष्ट्र राज्य की स्थापना में योग दिया, अनुभूति प्रधान ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया और राज्य के प्रकृतिवादी सिद्धान्त को नैतिकता के बन्धनों से मुक्त किया। उसने सीमित प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और सामन्तवाद (Feudalism) पर प्रहार करके सर्वशक्तिमान केन्द्रीय शक्ति की प्रतिष्ठा की। इस नई धारा में राजनीतिक विचारक राष्ट्र राज्य की प्रकृति और स्वरूप का अध्ययन करने लगे तथा राष्ट्र राज्य का ऐसा स्वरूप सामने आया जो धर्मनिरपेक्ष (Secular) होने के साथ-साथ सम्प्रभुता (Sovereignty) सम्पन्न था।

सत्रहवीं शताब्दी में मुख्यतः दो राजनीतिक विचारधाराएँ रहीं—निरंकुशवाद की समर्थक और निरंकुशवाद विरोधी। बोदाँ (Bodin) एवं हॉब्स (Hobbs) ने निरंकुशवाद का समर्थन किया और लॉक (Lock) ने सांवैधानिक राजतन्त्र

(Constitutional Monarchy) का पक्ष लिया। रूसो (Rousseau) ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की बात की तथा मॉण्टेस्क्यू (Montesque) ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क दिये। कुछ समय बाद फ्रांस में क्रान्ति हुई जो स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों पर आधारित थी। जो सारे यूरोप में फैल गए। राष्ट्रीयता का विचार प्रबल हुआ और जनता में राजनीतिक चेतना आई। विभिन्न देशों में निरंकुश शक्तियों के विरुद्ध क्रान्ति हुई। क्रान्तिकारियों की उग्रता और हिंसा की प्रतिक्रिया के रूप में इंग्लैण्ड में बर्क और अमेरिका में हेमिल्टन (Hamilton) तथा मडिसन (Medison) ने विचार व्यक्त किए। इससे रूढ़िवादी प्रक्रिया का जन्म हुआ। फ्रांसीसी क्रांति और लोकतंत्रीय सिद्धान्त के गुणों के बीच विवाद पैदा हो गया। बर्क के विरुद्ध थॉमस पेन (Thomas Pain) ने लोकप्रिय सम्प्रभुता का प्रबल समर्थन किया। इस काल में औद्योगिक क्रान्ति ने मानव के आचार और विचार में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था का स्थान औद्योगिक अर्थव्यवस्था ने ले लिया। व्यक्ति गाँव छोड़कर नगरों में आने लगे। औद्योगिक प्रगति ने यूरोप को साम्राज्य विस्तार के लिए प्रेरित किया, अतः 19वीं शताब्दी में साम्राज्यवादी विचारधारा की प्रमुखता रही। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग का प्रभाव बढ़ा। पूँजीपतियों एवं श्रमिकों के हित टकराये। शोषण के परिणामस्वरूप मजदूरों की दशा दयनीय बन गई जिसे देखकर मानवतावादियों (Humanists) ने कल्पनावादी समाजवाद की स्थापना की। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाजवादी (Socialist) और साम्यवादी (Communist) सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार हुआ। यातायात और आवागमन के साधनों का विकास होने पर सारा विश्व एक परिवार बन गया। संसार के मजदूर विश्वव्यापी संगठनों में संगठित होने लगे। विश्व साम्राज्यवाद की सम्भावना ने पूँजीपति (Capitalist) देशों को संगठित कर दिया और वे साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रवाह को रोकने के लिए प्रयत्न करने लगे। विश्व दो खेमों (Camps) में बँट गया और राजनीतिक विचारधाराएँ भी दो भिन्न तथा विपरीत दिशाओं में बह निकलीं।

कुछ प्रमुख विचारधाराएँ
(Some Important Ideologies)

डार्विन (Darwin) के सिद्धान्त के प्रभाव से राजनीतिक विचारकों ने विकास की भाषा में सोचना प्रारम्भ कर दिया। फलतः धर्म तथा मानव सम्बन्धी परम्परागत धारणाएँ मिटने लगीं। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 20वीं शताब्दी तक अनेक राजनीतिक विचारक हुए। उनके साथ अनेक विचारधाराओं का उत्कर्ष और अपकर्ष हुआ। मॉण्टेस्क्यू, बाइको, ह्यूम, बर्क आदि विचारकों ने अपनी तर्क शक्ति से सामाजिक समझौता सिद्धान्त को कसौटी पर कसा। वह कसौटी पर खरा नहीं उतरा, अतः उसकी उपयोगिता समाप्त हो गई। प्रमुख विचारधाराओं का सार निम्नलिखित है—

उपयोगितावाद (Utilitarianism)

18वीं शताब्दी में उपयोगितावादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ा। यह विचारधारा मूलतः इंग्लैण्ड का राजनीतिक दार्शनिकता की उपज थी। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से अधिकाधिक सुख की कामना करता है तथा दुःख से बचना चाहता है अतः श्रेष्ठ राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख होना चाहिए। ह्यूम, प्रीस्टले (Prestley) तथा हचिसन (Hutchison) आदि ने इस विचारधारा का प्रवर्तन किया। जेरेमी बेन्थम (J Bentham) इसके मुख्य समर्थक एवं व्याख्याता थे तथा जे. एस. मिल (J S Mill) ने इसकी पुनर्समीक्षा की।

आदर्शवाद (Idealism)

परिवर्तित परिस्थितियों में उपयोगितावाद निष्फल रहा। इसके स्थान पर आदर्शवादी विचारधारा की स्थापना हुई। जर्मनी के दार्शनिक काण्ट (Kant) तथा हीगल (Hegal) ने राज्य को एक अनिवार्य नैतिक संस्था माना। राज्य सर्वशक्तिमान है तथा उसमें और व्यक्ति में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। [illegible] विचारकों ने राज्याज्ञा पालन को स्वतन्त्रता और राज्य को अधिकारों का जन्मदाता माना। इंग्लैण्ड के टी. एच. ग्रीन (T H Green) ने उदारवादी आदर्शवाद (Liberal Idealism) की स्थापना की। 19वीं शताब्दी में वैज्ञानिक विचारधारा का जन्म हुआ। इस विचारधारा ने राज्य और उसकी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया। कुछ विचारकों ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन को अधिक सही माना। हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण का और बेजहॉट (Begchot) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक माना जाता है।

मार्क्सवाद (Marxism)

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और एंजिल्स (Angels) के सिद्धान्तों ने राजनीतिक विचारधारा का कायाकल्प कर दिया और राज्य के चिन्तन पर व्यापक प्रभाव डाला। मार्क्स के पहले कुछ विचारकों ने समाजवादी सिद्धान्तों का समर्थन किया। कल्पनावादी विचारक साइमन (Simon) फोरियर (Fourier) ओवन (Owen) आदि ने विकासवादी अहिंसात्मक और शान्तिवादी समाजवाद का प्रतिपादन किया, किन्तु मार्क्स के पदार्पण ने इसे वेगपूर्ण

हिंसात्मक और क्रान्तिकारी रूप दे दिया। मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था पर कड़ा प्रहार किया। उसने समाजवाद को वैज्ञानिक आश्रय प्रदान किया।

पुनर्रचनावाद (Revisionism)

मार्क्स तथा एंजिल्स से प्रेरणा लेकर विचारकों ने सामाजिक पुनर्रचना के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ये सिद्धान्त ग्रेट-ब्रिटेन की धरती के लिए उपयुक्त सिद्ध हुए। इन्होंने विभिन्न समाजवादी आन्दोलनों का सूत्रपात किया। इनमें फेबियनवादी आन्दोलन प्रथम उल्लेखनीय है।

फेबियनवाद (Fabianism)

इस सिद्धान्त ने क्रान्ति और हिंसा से दूर वैधानिक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थापना का आग्रह किया। यह विनाश की अपेक्षा सुधार को महत्त्व देता है। विकासवादी समाजवाद का एक अन्य स्कूल (विचारधारा) 'समष्टिवादी समाजवाद' कहा जाता है। इसके राज्य समाजवाद, समूहवाद आदि नाम भी हैं। यह परिवर्तन की क्रमिकता में विश्वास रखते हुए यह चाहता है कि समाजवादी क्रान्ति रक्तपात और हिंसा के बिना लाई जाये। इसी सिद्धान्त की एक मुख्य शाखा पुनर्विचारवादी के रूप में बर्न्सटीन (Vernstin) द्वारा प्रतिपादित की गई। इसने मार्क्स के सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए आग्रह किया कि मार्क्स के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा विकासवादी पहलू पर जोर दिया जाना चाहिए और परिवर्तित परिस्थितियों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों में आवश्यकतानुसार संशोधन किये जाने चाहिए।

सिन्डीकलवाद (Syndicalism)

19वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में फ्रांस के आन्दोलन के गर्भ में सिन्डीकलवाद का जन्म हुआ। यह एक क्रान्तिकारी विचारधारा है जो शांति और विकास को अस्वीकार करते हुए श्रमिकों को बन्धन मुक्त करना चाहती है। यह सिद्धान्त उद्योगों का संचालन एवं स्वामित्व राज्य के हाथ में न देकर मजदूरों के हाथ में देना चाहता है।

श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)

इसे समाजवाद का अंग्रेजी संस्करण कहा जा सकता है। यह फैबियनवाद और सिन्डीकलवाद के बीच की विचारधारा है जिसका प्रतिपादन 20वीं शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों में हुआ। सामान्य रूप से इसका उद्देश्य उद्योग कार्य में लगे व्यक्तियों के स्वराज्य की स्थापना करना तथा वर्तमान वेतन-प्रथा का अन्त करना है। इसके अनुसार एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए जिसमें श्रमिकों की रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रदर्शीकरण हो सके। यह पूँजीवादी व्यवस्था और प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का अन्त करके कार्यों के आधार पर श्रमिकों के संघ बनाना चाहता है।

अराजकतावाद एवं गाँधीवाद (Anarchism and Gandhism)

अराजकतावाद और गाँधीवाद दो प्रमुख राजनीतिक विचारधाराएँ हैं। अराजकतावाद किसी निश्चित सिद्धान्त का नाम नहीं, वरन् एक आधारभूत विचार का प्रतीक है जिसे कई विचारकों ने अपने-अपने तरीकों से व्यक्त किया है। इस विचारधारा की यह आधारभूत मान्यता है कि शक्ति किसी भी रूप में एक बुराई है, अतः अवांछनीय एवं अनावश्यक है। इसके मतानुसार न्याय की स्थापना के लिये राज्य को समूल नष्ट करके उसके स्थान पर स्वतन्त्र समाज का संगठन किया जाना चाहिए। अराजकतावादी विचारक मानते थे कि व्यक्ति स्वभाव से अच्छा है, [illegible] बुराइयाँ राज्य के कारण पैदा होती हैं। गाँधीवादी विचारधारा एक अर्थ में अराजकतावादी कही जा सकती है। यह आधुनिक केन्द्रीकृत राज्य को व्यक्ति की व्यवस्था का शत्रु समझती है। गाँधीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति और निर्बाध प्रतिस्पर्धा पर आधारित वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर सत्य और अहिंसा पर आधारित ऐसे नवीन समाज की रचना करना चाहता है जिसमें व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके।

फासीवादी (Fascism)

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय फासीवादी राजनीतिक विचारधारा का उदय हुआ। यद्यपि इसकी मूल धारणाएँ पूर्ववर्ती राजनीतिक चिन्तन में प्राप्त होती हैं। फासीवाद जितना सैद्धान्तिक था उससे अधिक व्यावहारिक था। यह राज्य की सर्वाधिकारवादी प्रकृति में विश्वास करता था। इसके अनुसार राज्य ही सब कुछ है। राज्य के बाहर और राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है। इस विचारधारा के समर्थकों ने युद्ध की प्रशंसा की तथा अनेक कारणों से उसे मानव समाज के लिए उपयोगी बताया है।

उक्त सभी राजनीतिक विचारधाराएँ आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती हैं।

□□□

5

राजनीतिक संस्कृति के सिद्धान्त

(Theories of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा राजनीतिक समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसको समझने के लिए राजनीतिक संस्कृति की समस्या का ज्ञान अनिवार्य है। राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत सत्ता का परिभ्रमण, सत्ता की क्रियाशीलता के सन्दर्भ में राजनीतिक औचित्य की समस्या महत्वपूर्ण है एवं इसकी प्राप्ति का प्रभावशाली उपाय है—एक ऐसा भावात्मक एवं अभिवृतिमूलक पर्यावरण उत्पन्न व विकसित किया जाए जो राजनीतिक सत्ता को क्रियाशील कर सके। जब इस प्रकार, भावनात्मक एवं अभिवृतिमूलक पर्यावरण की स्थापना एक यथार्थ बन जाती है एवं राजनीतिक व्यवस्था स्थायी बन जाती है। जब राजनीतिक व्यवस्था को दूसरी राजनीतिक व्यवस्था से पृथक् करते हैं तो इसे राजनीतिक संस्कृति कहते हैं।

राजनीतिक संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति शब्द 'राजनीति' एवं 'संस्कृति' दो शब्दों से मिलकर बना है। विभिन्न विद्वान इसे अलग-अलग नाम से सम्बोधित करते हैं। संस्कृति को परिभाषित करते हुए ई. बी. टेलर ने लिखा है कि "संस्कृति एक जटिल समग्र है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य आदतों एवं क्षमताओं का समावेश रहता है जिसे मानव समाज के एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"[1] टेलर की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति एक सामाजिक देन है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "संस्कृति हमारे नित्य प्रतिदिन के रहन-सहन की प्रकृति, साहित्य, धर्म कला, मनोरंजन तथा उपभोग सम्बन्धी अभिव्यक्ति है।"[2]

संस्कृति की अवधारणा इन विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है[3]—1 संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित (Transmit) होती रहती है 2. सीखा हुआ व्यवहार होने के कारण, यह एक सामूहिक धारणा है 3 इसकी प्रकृति आदर्शात्मक होती है, 4 यह व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर समाज की धरोहर है 5 यह आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन है 6 इसमें समयानुकूल परिवर्तित होने एवं पर्यावरण से समायोजन करने की क्षमता होती है। 7 प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है अतः विभिन्न समाजों की संस्कृतियों में भिन्नता पाई जाती है 8 मानव उपलब्धि के रूप में संस्कृति एक प्रतीकात्मक मनोवैज्ञानिक वास्तविकता है 9 यह अति-वैयक्तिक (Super individual) तथा अति-अवयव (Super organic) है 10 यह सार्वभौमिक (Universal) है।

राजनीतिक संस्कृति का अभिप्राय उन विशिष्ट आदतों विश्वासों रीति-रिवाजों कौशलों भावनाओं अभिवृतियों झुकावों या रुझानों और मूल्यों में होता है जिन्हें राजनीतिक मानव राजनीतिक व्यवस्था से सीख लेते है और उन्हें अपनी आदतों और मनोभावों में उतार लेते हैं। आमण्ड इसे कार्य के प्रति अभिमुखीकरण कहते हैं। उन्होंने इसी आधार पर राजनीतिक संस्कृति को परिभाषित किया है। जी. ए. आमण्ड एवं सिडनी वर्बा के अनुसार, "राजनीतिक व्यवस्था एवं इसके घटकों के प्रति विभिन्न राजनीतिक अभिविन्यासों तथा व्यवस्था में स्वयं की भूमिका के प्रति मनोवृतियों का आशय राजनीतिक संस्कृति है।"[4] प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीति का एक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) संसार होता है जो नीतियों, अर्थ एवं संस्थाओं को अनुशासन एवं व्यक्तिगत कार्यों को सामाजिक सन्दर्भ प्रदान करता है। लुसियन डब्ल्यू.

---

1 *E. B. Taylor* The Origin of Culture p 1
2. *MacIver & Page* Society p 499
3 *Dharmveer* Political Sociology p 88
4 *G. A. Almond and Sidney Verba* The Civic Culture p 12.

पाइ के अनुसार, "राजनीतिक संस्कृति मनोवृत्तियों, विश्वासों एवं मनोभावों का कुलक है जो राजनीतिक क्रियाओं को अर्थ एवं सुव्यवस्था प्रदान करता है तथा राजनीतिक व्यवस्था में व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली अन्तर्निहित पूर्व धारणाओं एवं नियमों को बताता है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था के राजनीतिक आदर्श तथा सक्रियाशील मान्यताएँ, दोनों सम्मिलित है अतः राजनीतिक संस्कृति राजनीति के मनोवैज्ञानिक एवं व्यक्तिपरक पहलुओं का समुचित प्रकार्य में आविर्भाव है।"[1] हॅज युलाउ के अनुसार, "राजनीतिक संस्कृति उन रूपों की ओर ध्यान आकर्षित करती है जिनका पूर्वानुमान समूहों के राजनीतिक व्यवहार से तथा इन समूह के सदस्यों के सामान्य विश्वासों, नियामक सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं मूल्यों से लगाया जा सकता है चाहे उस समूह का आकार कुछ भी हो।"[2]

राजनीतिक संस्कृति किसी राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यों के मूल्यों, मनोवृत्तियों एवं विश्वासों का योग है जिससे कि उनका राजनीतिक व्यवहार निर्धारित होता है, अतएव राजनीतिक व्यवस्था का स्थायित्व बहुत सीमा तक राजनीतिक संस्कृति पर निर्भर रहता है।

राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति (Nature of Political Culture)

राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का एक अंग है और एक व्यक्ति अथवा सम्पूर्ण समाज के राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जो आग्रह होते हैं उन्हें ही सामूहिक रूप से राजनीतिक संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। यह एक समाज की ऐतिहासिक विरासत होती है और कुछ सीमा तक राजनीतिक दलों, दबाव समूहों तथा अनेक राजनीतिक तथा गैर-राजनीतिक तत्वों से प्रभावित होती है। राजनीतिक संस्कृति के प्रमुख लक्षण तथा विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

1. राजनीतिक संस्कृति एक अमूर्त नैतिक धारणा—राजनीतिक संस्कृति का मूल आधार व्यक्ति और समाज के राजनीतिक मूल्य और विश्वास हैं। ये मूल्य और विश्वास सामान्य नैतिक धारणाओं के अंग होते हैं और इन्हें अन्य भौतिक तत्वों की भाँति कोई मूर्त स्वरूप प्राप्त नहीं होता है। इन्हें समझा और अनुभव किया जा सकता है।

2. राजनीतिक संस्कृति अनेक तत्वों का सामूहिक और समन्वित रूप—राजनीतिक संस्कृति, सामान्य संस्कृति का एक अंग है और सामान्य संस्कृति के ही समान अनेक तत्वों का सामूहिक एवं समन्वित रूप है। ऐतिहासिक विरासत, भौगोलिक परिस्थितियों, समाज की सामान्य संस्कृति, विचारधाराएँ, राजनीतिक व्यवस्था और इनके अतिरिक्त सामाजिक आर्थिक संरचना आदि के द्वारा राजनीतिक संस्कृति के आधार के रूप में कार्य किया जाता है।

3. राजनीतिक संस्कृति में गतिशीलता—राजनीतिक संस्कृति यदि एक ओर ऐतिहासिक विरासत तथा भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है तो दूसरी ओर सामाजिक आर्थिक संरचना के द्वारा इसका नियमन किया जाता है। सामाजिक आर्थिक संरचना और राजनीतिक संस्कृति के कुछ तत्व स्थिर नहीं वरन् विकासशील होते हैं। इस दृष्टि से सभी राजनीतिक संस्कृतियाँ आवश्यक रूप से गतिशील होती हैं। इनमें से कुछ मन्द परिवर्तनशीलता और कुछ तीव्र परिवर्तनशीलता की स्थिति को अपनाती हैं।

4. राजनीतिक संस्कृति में आस्थाएँ एवं विश्वास—आनुभविक आस्थाओं या विश्वासों का सम्बन्ध व्यक्ति की विश्व के बारे में राजनीतिक समझ से है अर्थात् इसका सम्बन्ध इससे है कि व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक संस्थाओं, संरचनाओं और प्रक्रियाओं के बारे में स्वयं किस प्रकार के विश्वास रखता है? इससे राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति की अभिरुचि या उदासीनता का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति स्वयं यह विश्वास रखने लग जाता है कि आम चुनाव में उसका मत देने या नहीं देने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा तो वह सामान्यतया मत देने ही नहीं जाएगा। राजनीतिक संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान राजनीतिक समाज के व्यक्तियों की आनुभविक आस्थाओं और विश्वासों का है।

5. मूल्य अभिरुचियाँ—मूल्य अभिरुचियाँ, शासन क्रिया या सरकार द्वारा उन व्यक्तिगत सद्गुणों, जिन्हें अभिवृद्धि करना या पाना है तथा वे सार्वजनिक लक्ष्य जिन्हें राजनीतिक समाज के लिए प्राप्त करना है सम्बद्ध आस्थाएँ और विश्वास हैं। राजनीतिक समाज के व्यक्ति स्वयं अपने लिए और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए किस प्रकार की मूल्य अभिरुचि रखते हैं। उदाहरण के लिए, किसी राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्तियों की अभिरुचि कानून एवं व्यवस्था और स्थायित्व में हो सकती है तो किसी अन्य समाज में सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता और समानता को केवल अव्यवस्था, हिंसा और अराजकता की स्थिति में ही लोग चाहते हैं। राजनीतिक समाज ऐसा हो सकता है जिसमें व्यक्ति इसकी कोई चिन्ता नहीं करते कि उनका शासन निरंकुश है या लोकतान्त्रिक। उनकी रुचि हो सकती है कि उनका समाज समय के साथ धीरे धीरे नहीं तुरन्त आगे बढ़ जाए, चाहे उसके लिए शासन कोई भी साधन अपनाए, उन्हें इसकी चिन्ता नहीं रहती है।

---

1. *L. W. Pye* Aspects of Political Development, p. 104-105
2. *Heinz Eulau* Op. cit., p. [illegible]

राजनीतिक संस्कृति में इन लक्षणों से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह हर राजनीतिक संस्कृति में समान रूप से पाए जाते हैं। वास्तविकता यह है कि हर राजनीतिक संस्कृति में इन लक्षणों में मात्रात्मक अन्तर पाये जाते हैं और इस कारण, राजनीतिक संस्कृति की अवधारणा एक सी होते हुए भी हर व्यवस्था में उसकी मात्रा या अंश अलग-अलग पाया जाता है।

संस्कृति और राजनीतिक संस्कृति (Culture and Political Culture)

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था की राजनीतिक संस्कृति मूल रूप से समाज की संस्कृति से प्रभावित होती है। उस समाज की संस्कृति विरासत, उसके आदर्श और उसके मूल्य व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार की धारा को निर्धारित कर देते हैं। एस. पी. वर्मा के अनुसार, "किसी देश की राजनीतिक संस्कृति एक तरह से उसकी सामान्य संस्कृति के समान होती है।" सिडनी वर्बा के अनुसार, "राजनीतिक संस्कृति और समाज की अपेक्षाकृत अधिक सामान्य संस्कृति का एक अभिन्न पहलू है।" एक व्यक्ति के राजनीतिक विश्वास उसके अन्य विश्वासों का अंग होते हैं और सामान्य संस्कृति के मूल्यों एवं विश्वास से राजनीतिक संस्कृति अप्रभावित नहीं रह सकती। व्यक्ति के सांस्कृतिक व्यवहार की प्रवृत्तियाँ उसके राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी समाज के सामान्य सांस्कृतिक जीवन में नैतिक मूल्य गहरे हैं तो शासन एक सीमा से बाहर नैतिक मूल्यों की अवहेलना का साहस नहीं कर सकता और यदि वह ऐसा करता है तो तीव्र जन-विरोध के रूप में इसका मूल्य चुकाना पड़ता है। यदि व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन के अन्तर्गत विश्वास की भावना रखते हैं तो इनके द्वारा अपने राजनीतिक नेताओं पर विश्वास किया जा सकेगा और शासन के ढाँचे के अन्तर्गत शासक वर्ग के व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति विश्वास और सम्मान का आचरण करते हुए परस्पर सहयोग करेंगे। भारतीय और पाश्चात्य समाज के राजनीतिक व्यवहारों में अन्तर का प्रमुख कारण यह है कि दोनों समाजों की सांस्कृतिक संरचना, लक्ष्य, मान्यताएँ और आदर्श एक-दूसरे से भिन्न हैं। सामान्य संस्कृति और राजनीतिक संस्कृति की इस विवेचना से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि सामान्य संस्कृति राजनीतिक संस्कृति का नियमन करती है दूसरी ओर राजनीतिक संस्कृति भी सामान्य संस्कृति को प्रभावित करती है।

इस प्रकार राजनीतिक संस्कृति और सामान्य संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों एक-दूसरे को कम या अधिक मात्रा में प्रभावित करती रहती हैं। सामान्य संस्कृति व्यापक अवधारणा है, जबकि राजनीतिक संस्कृति अपेक्षाकृत सीमित अवधारणा है। प्रथम में व्यक्ति की सम्पूर्ण मूल्य व्यवस्था, आस्थाएँ और विश्वास सम्मिलित होते हैं, दूसरी में व्यक्ति के केवल राजनीतिक क्रिया से या राजनीतिक वस्तुओं से सम्बन्धित मूल्य, आस्थाएँ और विश्वास आते हैं।

राजनीतिक संस्कृति के आयाम (Dimensions of Political Culture)

1. राष्ट्रीय एकरूपता—प्रत्येक राष्ट्र की अलग पहचान होती है। उसका अपना व्यक्तित्व होता है। राष्ट्रीय जीवन में उसे अलग पहचान अथवा अलग व्यक्तित्व होने से सामाजिक व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन में सहायता मिलती है। उसी के अनुरूप विकास की दिशा निर्धारित की जा सकती है और उसे गति दी जा सकती है। प्रत्येक नागरिक द्वारा इस राष्ट्रीय एकरूपता के साथ एकाकार हो जाने से राजनीतिक संस्कृति में निखार उत्पन्न हो जाता है।

2. अन्य नागरिकों के साथ एकरूपता—राजनीतिक संस्कृति का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि व्यक्तियों का अपने अन्य नागरिक साथियों के साथ तादात्म्य कैसा है? जिस समाज में व्यक्ति अपने अन्य साथियों के साथ राजनीतिक सांस्कृतिक रूप से एकाकार हो जाते हैं वहाँ राजनीतिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है और उसमें पर्याप्त गतिशीलता बनी रहती है।

3. शासन निर्गतों में आस्थाएँ—राजनीतिक संस्कृति के प्रथम दो आयामों को ठोसता उपलब्ध कराने में इसका महत्व होता है कि जनता सरकार के द्वारा किए जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में आशावान रहती है या निराश हो जाती है। सरकार सबको सन्तुष्ट नहीं कर सकती, फिर भी अधिकांश व्यक्तियों की माँगों का उचित रूप में रूपान्तरण हो जाए तो राजनीतिक संस्कृति में विभाजन करने वाली शक्तियों का प्रवेश नहीं हो पाता है।

4. निर्णय की प्रक्रिया में भूमिका—राजनीतिक संस्कृति के विभिन्न आयामों में से एक महत्वपूर्ण आयाम यह है कि किसी समाज में वहाँ के व्यक्तियों की शासन की निर्णय की प्रक्रिया में क्या भूमिका है? क्या वे उदासीन हैं? या वे प्रभावशाली हैं और सशक्त हैं? यदि जन-साधारण राजनीतिक व्यवस्था द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों को प्रभावित करती है, वह राजनीतिक व्यवस्था ऐसे निर्णय लेगी जिससे जन-साधारण को अधिक लाभ पहुँचे।

राजनीतिक संस्कृति के प्रकार (Kinds of Political Culture)

एक राजनीतिक व्यवस्था की समस्त जनसंख्या की एक से अधिक राजनीतिक संस्कृति हो सकती है। वस्तुत राजनीतिक संस्कृति की सजातीयता की मात्रा आनुभविक खोज का विषय है। एक राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यों में राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति सामान्य सहमति हो सकती है अथवा उनमें शिक्षा स्तर, भौगोलिक अधिवास, सामाजिक और

आर्थिक प्रस्थिति एवं धार्मिक विश्वास के आधार पर भेद हो सकते हैं। जब एक राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक दिग्विन्यासों का एक समूह ऐसी स्थिति ग्रहण कर लेता है कि उसे अन्य से अलग किया जा सकता है, उसे 'राजनीतिक उपसंस्कृति' कहा जाता है। राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत जब इस प्रकार की उपसंस्कृति प्रमुखता प्राप्त कर लेती है तो राजनीतिक व्यवस्था का एकीकरण संकट में पड़ सकता है। राजनीतिक संस्कृति के विभिन्न आधारों पर भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं जिन्हें यहाँ निम्नानुसार विवेचित किया जा रहा है—

1. सत्ता एवं शक्ति के आधार पर—सत्ता और शक्ति के आधार पर दो प्रकार की संस्कृतियाँ होती हैं—(अ) अभिजनात्मक (Elite) संस्कृति (ब) जन (Mass) संस्कृति। अभिजनात्मक संस्कृति के मूल्य राज्य व्यवस्था से जुड़े हुए होते हैं और इसी पर उसकी कार्यकुशलता निर्भर होती है। जन-संस्कृतियाँ सदैव अनेक तथा असमरस होती हैं। प्रायः इन दोनों संस्कृतियों के मूल्य एक-दूसरे के पूरक होते हैं। राज संस्कृति ही इसका निर्णय करती है कि सामान्य जनों से अभिजनों में भर्ती, पद ग्रहण आदि कैसे होगा? सामाजीकरण प्रक्रियाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जब इन उप संस्कृतियों में अन्तर काफी गहरा और विस्तृत होता है या राज संस्कृति का प्रभाव दुर्बल पड़ जाता है, तो उस अवस्था में द्वन्द्व, विघटन, संघर्ष आदि व्यवस्था जन्य व्याधियों के फैलने का भय रहता है। अभिजनात्मक तथा जन संस्कृतियों के बीच मध्यम वर्ग का एक तीसरा स्तर होता है और वह दोनों संस्कृतियों में सन्तुलन बनाए रखता है, इसलिए इन दोनों उप संस्कृतियों के संघर्ष की भावना कम हो जाती है।

2. निरन्तरता की दृष्टि से—निरन्तरता की दृष्टि से संस्कृति परम्परागत और आधुनिक हो सकती है। आमण्ड एवं कोलमैन के अनुसार सभी संस्कृतियों में इसका मिश्रित रूप पाया जाता है। रिग्स ने इनको विकासशील या संक्रांतिकालीन समाज भी कहा है। गतिशीलता एवं परिवर्तन की दृष्टि से कई लेखकों ने संस्कृतियों का वर्गीकरण किया है और लिखा है कि संस्कृतियाँ मन्द परिवर्तनवादी या स्थिरवादी तथा क्रान्तिकारी या प्रगतिशील हो सकती हैं, परन्तु यह निर्धारित करना कठिन होता है कि कौनसी संस्कृति स्थिरतावादी है अथवा कौनसी संस्कृति परिवर्तनशील है। राजनीतिक संस्कृति को कुछ लेखकों ने प्रजातन्त्रात्मक, साम्यवादी, समाजवादी तथा एकतन्त्रवादी संस्कृतियों में बाँटा है।

3. सर्वांग समता की दृष्टि से—सर्वांग समता की दृष्टि से वाइसमैन ने राजनीतिक संस्कृतियों को तीन विशुद्ध रूपों में बाँटा है—

(अ) संकुचित राजनीतिक संस्कृति—यह आदिम समाजों में होती थी। राजनीतिक व्यवस्था में मुख्य कर्ता विशिष्ट योग्यता वाले नहीं होते। एक ही व्यक्ति एक साथ सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक कार्य करता रहता है। इनके प्रतीक स्थानीय होते हैं। सोचने का दायरा और शैली संकुचित होती है।

(ब) प्रजाभावी राजनीतिक संस्कृति—इस राजनीतिक संस्कृति में व्यक्ति आंशिक रूप से उदासीन रहता है। वह मानता है कि उसे माँगें नहीं रखनी हैं, आन्दोलन नहीं करने हैं। निवेशों के बारे में वह खामोश तथा निर्गतों के बारे में सचेत रहता है।

(स) सहभागी राजनीतिक संस्कृति—इस संस्कृति में व्यक्ति सचेत और जागरूक रहता है। वह अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझता है। वह राजनीतिक व्यवस्था का सक्रिय अंग होता है और व्यवस्था के निवेशों और निर्गतों दोनों ही प्रकार के कार्यों में वह भाग लेता है, परन्तु यह तीनों प्रकारों की संस्कृति भी विशुद्ध नहीं होती। एक राजनीतिक संस्कृति में दूसरी राजनीतिक संस्कृति के तत्त्व मिल जाते हैं। मिश्रित रूप तीन प्रकार के होते हैं—संकुचित प्रजाभावी, प्रजाभावी सहभागी, संकुचित सहभागी। वाइसमैन के अनुसार सर्वांगसमता के तीन मानक निष्ठा, उदासीनता तथा अलगाव हैं।

4. राजनीतिक व्यवस्था की भूमिका की दृष्टि से—आमण्ड के अनुसार राजनीतिक संस्कृति राजनीतिक व्यवस्था से जुड़ी हुई होती है अतः राजनीतिक संस्कृतियों का विभाजन राजनीतिक व्यवस्थाओं की भूमिका के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए। उन्होंने निम्नांकित चार भागों में संस्कृतियों का बँटवारा किया है—

(अ) आँग्ल अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था—आमण्ड ने इस संस्कृति को अच्छा बताया है, क्योंकि इसमें राजनीतिक साध्य एवं साधनों का बँटवारा पाया जाता है और इसमें परम्परागत, आधुनिक तथा धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण का तालमेल पाया जाता है। आमण्ड के अनुसार यह संस्कृति बहुमूल्ययुक्त, मुक्त, विवेकसम्मत एवं प्रयोगात्मक है।

(ब) महाद्वीपीय यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था—इसमें आमण्ड के अनुसार आँग्ल-अमेरिकी संस्कृति की अपेक्षा कम गुण पाये जाते हैं, क्योंकि कहीं कुछ तत्त्व परम्परागत हैं, कहीं विवेकी हैं और कहीं राजनीतिक संस्कृति का ध्रुवीकरण पाया जाता है। इस संस्कृति में असन्तुलित विकास के कारण अनेक उप-संस्कृतियाँ पनप गई हैं जिसमें टकराव पायी जाती है। आमण्ड के अनुसार इस संस्कृति में राजनीतिक नेताओं की श्रद्धा संसद और चुनावों में कम रहती है और वे जनता के सामने अपने प्रति सम्मान जाग्रत करने, अपने कार्यक्रमों में जनता की आस्था बनाए रखने, उपदेश और चेतावनी देने के लिए आते हैं।

(स) अर्द्धस्थिर राजनीतिक व्यवस्था—यहाँ नगरों में आधुनिक संस्कृति पायी जाती है और ग्रामों में आधुनिक संस्कृति लाने का प्रयास किया जाता है अतः यहाँ मिश्रित राजनीतिक संस्कृति की व्यवस्था पायी जाती है और समस्त कानून मूल्यों तथा नियमों पर आधारित होता है।

(द) सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्था—सर्वाधिकारवादी राज्यों में ऐच्छिक संघ नहीं बनाये जा सकते हैं। स्थान स्थानों पर सरकारी अभिकरणों का नियन्त्रण रहता है और शासन की सम्पूर्ण शक्ति ऐसे अधिकारी तन्त्र में रहती है जिसे एक ही स्थिर बन्द राजनीतिक दल निर्देशित करता है परिणामस्वरूप उनकी राजनीतिक संस्कृति देखने में सामञ्जस्यकारी दिखती है किन्तु उनका सामञ्जस्य बनावटी है।

राजनीतिक संस्कृति की विशेषताएँ (Characteristics of Political Culture)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक संस्कृति की विशेषताओं का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है।—

1 राजनीतिक संस्कृति विचार, अभिवृत्तियों, विश्वासों, राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा उनकी अभिव्यञ्जनाओं की स्थिति निर्धारकों का सेट होती है। उसका सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था के मानकों तथा सदस्यों के साथ होता है। ये किसी समाज के ऐतिहासिक अनुभव होते हैं जिन्हें समाजीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा जीवन्त बनाए रखा जाता है।

2. लूसियन पाई ने कहा है "राजनीतिक संस्कृति अभिवृत्तियों, विश्वासों तथा मनोभावों का समुच्चय है जो राजनीतिक प्रक्रियाओं को अर्थवत्ता और सुव्यवस्था प्रदान करता है। यह राजनीतिक व्यवस्था में व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली अन्तर्निहित पूर्वधारणाओं एवं नियमों का बनना है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था के राजनीतिक आदर्श तथा सक्रियाशील मानक दोनों ही शामिल होते हैं।"

3 रोवे के अनुसार, राजनीतिक संस्कृति, अच्छे-बुरे की धारणा का आधार है तथा विश्वासों और मनोभावों का एक रूप है।

4 यह व्यक्तिगत मूल्यों, विश्वासों तथा संवेगात्मक अभिवृत्तियों का प्रतिरूप है।

5 इसके द्वारा शक्ति और सत्ता के स्वरूप प्रयोग, प्रकार, औचित्यपूर्णता, केन्द्रीयकरण आदि निर्धारित किए जाते हैं।

6 हाज मुनाउ की धारणा उन रूपों की ओर इंगित करती है जिनका पूर्वानुमान समूहों के राजनीतिक व्यवहार से तथा एक समूह के सदस्यों के विश्वासों, नियामक सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं मूल्यों से लगाया जाता है चाहे उस समूह का आकार कैसा भी हो।

7 राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति का अभिन्न अंग है। सामान्य संस्कृति में मनुष्य द्वारा अर्जित ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथाएँ तथा दूसरी क्षमताएँ शामिल होता है जिसका प्रवेश सचेतन या अवचेतन मन, मस्तिष्क, चिन्तन, भावनाओं और व्यवहार में होता है। सामान्य संस्कृति को स्थायी बनने, प्रसारित करने और अस्तित्व को बनाने के लिए राजनीतिक एवं प्रशासनिक संरचनाओं का सहारा लेना पड़ता है।

8 राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति की अपेक्षा प्रगतिशील और रूढ़िवादी होती है। भारत की वर्तमान राजनीतिक संस्कृति सामान्य संस्कृति की अपेक्षा अधिक गत्यात्मक एवं प्रगतिशील मानी जाती है क्योंकि सामाजिक स्तर पर हमारी संस्कृति अभी भी छुआ-छूत के रोग से ग्रसित है।

9 सामान्य संस्कृति और राजनीतिक संस्कृति में क्षैतिज एवं उदग्र स्तरों पर क्षेत्रीय शासक एवं शासितों में अन्तर है।

10 राजनीतिक संस्कृति के विश्लेषण में विभिन्न वर्गों दबाव, समूहों संघों साम्प्रदायिक दलों आदि से सम्बन्धित अराजनीतिक संस्कृति की अवहेलना नहीं की जा सकती।

11 प्रत्येक पीढ़ी सामाजीकरण के माध्यम से राजनीतिक संस्कृति को प्राप्त कर उसमें संशोधन एवं परिवर्तन करती है। इस प्रकार परम्परा और आधुनिकता का संघर्ष चलता रहता है। यह द्वन्द्व विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों को अधिक प्रभावित करता है।

12 राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक संस्कृति से व्याप्त और प्रभावित रहती है। वह उससे मार्ग निर्देशित (Guided) प्रतिबन्धित (Restricted) एवं गत्यात्मक (Dynamic) तथा स्थैतिक (Static) बनती है।

13 राजनीतिक संस्कृति सार्वजनिक घटनाओं एवं व्यक्तिगत कार्यों का आधार होती है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था के व्यवहार को समझने में सहायता मिलती है। सतर्क राजनीतिक विश्लेषक को राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति, राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक नेताओं पर प्रभाव की मात्रा, दिशा आदि का ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ विधि का शासन (Rule of Law) प्रजातन्त्र का स्वरूप, औचित्यता विवादवाद, राष्ट्रवाद आदि की प्रकृति राजनीतिक संस्कृति के द्वारा स्पष्ट की जा सकती है।

---

1 *Sachidanand Pandey* Dimensions of Political Sociology p 34 36

14 राजनीतिक संस्कृति का प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों, लक्ष्यों, नागरिक प्रशिक्षण, जनमत के तत्वों, राजनीतिक कर्ताओं की सम्भावित प्रतिक्रियाओं पर पड़ता है।

15 समाज राजनीतिक व्यवस्थाओं की संरचनाओं को भिन्न विधियों से कार्य करने में राजनीतिक संस्कृति की सहायता से मदद करता है।

16 राजनीतिक संस्कृति एक अर्थ में समाज से सम्बद्ध समूह के मनोविज्ञान का अभिज्ञान है। वही व्यक्ति और समूह को आवृत करने वाली प्रभावशाली पृष्ठभूमि है।

17 राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक पक्षों को समाहित करने वाला तत्व होने के कारण उसके समस्त क्रिया-कलापों को उसी समग्रता में देखा जा सकता है।

राजनीतिक संस्कृति के रूप (Types of Political Culture)

सत्ता एवं शक्ति के आधार पर राजनीतिक संस्कृति को दो भागों में बाँटा जा सकता है—1. जन-राजनीतिक संस्कृति (Mass Political Culture) एवं 2. सम्भ्रान्तजन राजनीतिक संस्कृति (Elite Political Culture)।

जन राजनीतिक संस्कृति सामान्य जनता की राजनीतिक संस्कृति है जबकि सम्भ्रान्तजन राजनीतिक संस्कृति सम्भ्रान्तजनों की राजनीतिक संस्कृति है। राजनीतिक संस्कृति का यह भेद सामान्य जनों से संभ्रान्त जनों में भर्ती कैसे होती है? इस जानकारी से स्पष्ट होता है। आमण्ड एवं वर्बा के अनुसार राजनीतिक संस्कृति की निम्नांकित श्रेणियां होती हैं[1]—1. अमिश्रित या विशुद्ध राजनीतिक संस्कृति (Pure Political Culture) एवं 2. मिश्रित राजनीतिक संस्कृति (Mixed Political Culture)।

1. अमिश्रित या विशुद्ध राजनीतिक संस्कृति—इस संस्कृति के तीन उपवर्ग हैं—

(अ) संकुचित राजनीतिक संस्कृति (Parochial Political Culture)—संकुचित राजनीतिक संस्कृति परम्परागत *(Traditional)* समाज में पाई जाती है। इसमें व्यक्तियों के प्रति सज्ञानात्मक अभिमुखन *(Cognitive Orientation)* का अभाव होता है। व्यक्ति संकुचित होता है क्योंकि वह अपने को परिवार में और अपने समुदाय में उलझा हुआ पाता है। राजनीतिक व्यवस्था की केन्द्रीय संस्थाओं से उसे कोई मतलब नहीं होता। उदाहरण के लिए भारत का परम्परागत ग्रामीण समाज।

(ब) प्रजाभावी राजनीतिक संस्कृति (Subjective Political Culture)—इसमें व्यक्तियों का राजनीतिक व्यवस्था और निर्गत प्रक्रियाओं के प्रति अभिमुखन उच्च स्तर का होता है लेकिन निवेश नितान्त निम्न स्तर का होता है। यह प्रक्रियाओं और स्वयं के प्रति राजनीतिक अभिनेता के रूप में उनका भावात्मक या अनुरागात्मक और मूल्यात्मक *अभिमुखन (Evaluative Orientation) है। यहाँ एक राजनीतिक कार्यकर्ता या अभिनेता के रूप में व्यक्तियों की* स्थिति आवश्यक रूप से निष्क्रियता की होती है।

(स) सहभागी राजनीतिक संस्कृति (Participant Political Culture)—इसमें व्यक्ति स्वयं को राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय और सहभागिता की भूमिका में पाता है। यहाँ राजनीतिक व्यवस्था के प्रति व्यक्ति के सज्ञानात्मक, *अनुरागात्मक और मूल्यांकनात्मक अभिमुखन अत्यन्त उच्च स्तर के होते हैं। राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में वह अपनी सक्रियात्मक भूमिका के प्रति सजग होता है। सहभागी राजनीतिक व्यवस्था में नागरिकों का अभिमुखन निवेश और निर्गत* दोनों के प्रति होता है।

2. मिश्रित राजनीतिक संस्कृति—इसे आमण्ड एवं वर्बा ने चार उपभागों में विभाजित किया है—

(अ) संकुचित प्रजाभावी राजनीतिक संस्कृति (Parochial Subjective Political Culture)—इसमें व्यक्ति को सरकार की विभिन्न भूमिकाओं की जानकारी होती है लेकिन उसे इसका बोध नहीं होता है कि वह किन रूपों में राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित कर सकता है। उसकी अपनी महती राजनीतिक भूमिका होता है अथवा वह स्वयं एक महत्वपूर्ण राजनीतिक व्यक्ति है यह भावना उसमें अस्पष्ट और अविकसित होती है।

(ब) प्रजाभावी सहभागी राजनीतिक संस्कृति (Subjective Participant Political Culture)—इसमें कुछ नागरिक उच्च स्तर का राजनीतिक अवबोधन रखते हैं तथा वे सक्रिय होते हैं लेकिन शेष सापेक्षिक दृष्टि से निष्क्रिय होते हैं। औसत नागरिक यह जानता है कि उसे सक्रिय होना चाहिए और राजनीतिक व्यवस्था में उसे सहभागी बनना चाहिए, लेकिन उसे नीतियों के विनिश्चय अथवा निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओं में भाग लेने का अवसर प्रायः कम मिल पाता है।

---

1 *G. A. Almond and Sidney Verba* Op. cit., p. 17-31

(स) सहभागी-संकुचित राजनीतिक संस्कृति (Participant Parochial Political Culture) – ये राजनीतिक संस्कृति में निवेश संस्थाएँ अपेक्षिक रूप से स्थानीय होती हैं, जैसे—जातीय-जन-जातीय संघ, लेकिन राष्ट्रीय निर्गत संस्थाएँ अत्यन्त विकसित होती हैं। इसमें निवेश निर्गत संस्थाओं, दबाव समूहों, संकुचित हितों एवं हित समूहों के दबाव में रहता है।

(द) नागरिक राजनीतिक संस्कृति (Civil Political Culture) – इन राजनीतिक संस्कृतियों के अलावा आमण्ड और वर्बा ने एक अन्य प्रकार की राजनीतिक संस्कृति की चर्चा की है। इसे जन-संस्कृति कहते हैं। राजनीतिक संस्कृति के सभी तीन आदर्श प्रतिमानों की विशेषताओं को यह समाहित करता है। यह एक साथ निदेशात्मक और सहमत, सहयोगी और निष्क्रिय अभिवृत्तियों के सम्मिश्रण का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें प्रजाभावी और सहभागी अभिमुखन सशक्त होते हैं। इस राजनीतिक संस्कृति में जहाँ एक तरफ प्रजाभावी अभिमुखन राजनीतिक अभिजन के पर्याप्त अभिक्रम और स्वतन्त्रता के साथ कार्य करने की अनुमति प्रदान करते हैं, वहीं दूसरी तरफ सहभागी अभिमुखन राजनीतिक अभिजनों को इसके लिए विवश करते हैं कि वे लोकप्रिय वरीयताओं के अधीन कार्य करें।

राजनीतिक सहभागिता (Political Participation)

राजनीतिक सहभागिता राजनीतिक व्यवस्था का एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक राजनीतिक समाज में राजनीतिक सत्ता कुछ थोड़े से चुने हुए सम्भ्रान्तजनों के हाथों में रहती है, लेकिन इन सम्भ्रान्तजनों का यही प्रयास होता है कि राजनीतिक व्यवस्था में अधिकाधिक लोगों की सहभागिता हो। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि जितने अधिक नागरिकों की राजनीतिक व्यवस्था में सहभागिता होती है राजनीतिक सत्ता को उतना ही अधिक स्थायित्व प्राप्त होता है। सहभागिता राजनीतिक सत्ता को औचित्यता प्रदान करती है। जिस समाज में राजनीतिक सहभागिता की मात्रा कम होती है वहाँ अव्यवस्था या अराजकता पैदा होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है। राजनीतिक सहभागिता का आशय है कि राजनीतिक सत्ता में अधिकाधिक लोगों का सहयोग एवं कार्य हो। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में इसका महत्व और अधिक होता है, क्योंकि प्रजातन्त्र में जनता सरकार को अपनी सहमति देती है अथवा दी गई सहमति वापिस भी लेती है।

राजनीतिक सहभागिता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Political Participation)

राजनीतिक सहभागिता को परिभाषित किया जा सकता है। हरबर्ट मैक क्लास्की के अनुसार, "राजनीतिक सहभागिता को उन स्वैच्छिक क्रियाओं जिनके द्वारा समाज के सदस्य शासकों के चयन एवं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जन-नीतियों के निर्माण में भाग लेते हैं, के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[1] इस परिभाषा में क्लब के सदस्यों की राजनीतिक वार्तालाप जैसी आकस्मिक क्रिया से लेकर राजनीतिक दलों के सदस्यों की सक्रिय क्रियाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं।

तृतीय विश्व के देशों में संस्कृति तथा राजनीति
(Culture and Politics in Third World Countries)

किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था का आधार उसकी राजनीतिक संस्कृति होती है। राजनीतिक संस्कृति से राजनीतिक व्यवस्था का चरित्र निर्माण होता है। राजनीतिक व्यवस्था तथा राजनीतिक संस्कृति का एक-दूसरे से गहरा सम्बन्ध है और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक संस्कृति समयानुसार बदलती रहती है। जहाँ राजनीतिक व्यवस्था और राजनीतिक संस्कृति की मूल मान्यतायें एक-दूसरे से भिन्न होती हैं, वहाँ राजनीतिक व्यवस्था पर राजनीतिक संस्कृति के अनुसार बदलाव हेतु अत्यधिक दबाव बना रहता है। ग्रेबियल ए. आमण्ड के अनुसार, "हरेक राजनीतिक प्रणाली राजनीतिक क्रियाओं के अभिविन्यास के विभिन्न प्रतिमानों में निहित होती है।"[1]

समाज वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भारतीय राजनीति के विभिन्न मुद्दों और परिप्रेक्ष्यों का अध्ययन हमें प्रेरित करता है कि राजनीतिक संस्कृति के क्षेत्र पर दृष्टिपात करें, तो अवगत होता है कि देश [illegible] लोगों की राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति कुछ आस्थायें एवं दृष्टिकोण होते हैं, जिन्हें वे सीखते हैं और भागीदार होते हैं। हमें यह जानना है कि राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में नागरिक क्या सोचते हैं और किस प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं? साथ ही वह किन उद्देश्यों का अनुसरण करने को प्राथमिकता देते हैं? अतः लोगों के जीवन का भावात्मक आयाम हमारे अध्ययन का संगत भाग बन जाता है।[2]

---

1 *Herbert Mc Closky* : Political Participation Quoted from David Mills, op cit., Vol 12, p 253-254
2 [illegible] *A. Almond* : Comparative Political System in Journal of Politics, Vol 18 (1956), p 391-409

भारत की राजनीतिक संस्कृति
(Political Culture of India)

भारत की राजनीतिक संस्कृति के सम्बन्ध में पश्चिमी विचारकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं जिन पर काफी वाद विवाद रहा है। इनमें माइरन वीनर व मोरिस जोंस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारत में दो प्रकार की राजनीतिक संस्कृति—वीनर के अनुसार भारत में दो प्रकार की राजनीतिक संस्कृति है—1. विशिष्ट वर्ग की राजनीतिक संस्कृति एवं 2. जन सामान्य की राजनीतिक संस्कृति।

विशिष्ट वर्ग की राजनीतिक संस्कृति उन लोगों की है जो राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय हैं। यह राजनीतिक संस्कृति दिल्ली में पाई जाती है। इस पर विशिष्ट वर्ग का आधिपत्य है। इस विशिष्ट वर्ग में संसद सदस्य, योजना आयोग के सदस्य, राष्ट्रीय स्तर के नेता तथा वरिष्ठ प्रशासकीय अधिकारी शामिल हैं। इस विशिष्ट वर्ग में वे लोग हैं जो उच्च शिक्षा प्राप्त हैं तथा जिनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय है, जो पश्चिमी विचारों से प्रभावित एवं धर्मनिरपेक्ष विचारक हैं। यह वर्ग आधुनिक विचारों का है। इसका राजनीतिक चिन्तन, राजनीतिक विश्वास, राजनीतिक अभिवृत्तियाँ एवं राजनीतिक धारणायें, शासन के प्रति उनका दृष्टिकोण आदि सामान्य जनों से भिन्न है, इसलिए इस विशिष्ट वर्ग की राजनीतिक संस्कृति सामान्य वर्ग की राजनीतिक संस्कृति से भिन्न है। इस राजनीतिक संस्कृति का उदय स्वाधीनता से पूर्व ब्रिटिश शासन के दौरान हुआ था। स्वतन्त्रता के बाद भारत में एक अन्य संस्कृति का विकास हुआ है जो ग्रामीण स्तर से जिला एवं राज्य स्तर तक पाई जाती है। वीनर ने इसे जन राजनीतिक संस्कृति कहा है। इसके अनुसार स्वतन्त्रता के बाद जन साधारण को सक्रिय राजनीति में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ है। वयस्क मताधिकार के द्वारा राजनीतिक संस्थाओं में जन-सहभागिता हुई जिससे इन व्यक्तियों के राजनीतिक विश्वास, राजनीतिक धारणायें, राज्य तथा सरकार के प्रति दृष्टिकोण विशिष्ट वर्ग से भिन्न हैं। वीनर ने इस राजनीतिक संस्कृति के उदय के तीन प्रमुख कारण बताये हैं—1. सरकार के कार्यों का अधिक विस्तार, 2. सत्ता का विकेन्द्रीकरण, 3. सत्ता का जनतन्त्रीकरण।

राजनीतिक संस्कृति की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें प्रान्तीयता, जातीयता तथा साम्प्रदायिकता की भावना अधिक पाई जाती है। वीनर के अनुसार विधान सभा तक की राजनीति में जो लोग सक्रिय हैं उनमें जाति एवं धर्म के आधार पर भेदभाव तथा प्रान्तीय एवं क्षेत्रीय हितों को प्राथमिकता देने की तीव्र भावना होती है। स्वतन्त्रता के बाद भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग की गयी तथा 1956 में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हुआ। इसके बाद क्षेत्रीयता की भावना प्रबल हुई तथा नये राज्यों के निर्माण की माँग उठी, फलतः नये राज्यों का निर्माण हुआ। परिवहन तथा संचार के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में रहने वाली जातियों को एक-दूसरे से सम्पर्क हुआ जिसमें जातीय भेदभाव बढ़ा तथा राजनीतिक दलों ने जाति का लाभ प्राप्त करने हेतु जाति को आधार बनाया और विभिन्न निर्वाचनों में उम्मीदवारों के चयन से लेकर मतदाताओं के समर्थन को प्राप्त करने हेतु धर्म तथा जाति को एक साधन के रूप में अधिकाधिक प्रयोग किया है, अतः जन सामान्य की राजनीतिक संस्कृति में संकीर्णता एवं स्थानीयता की प्रधानता है।

□□□

---

1. *A. R Ball* . Modern Politics and Government p 56.

6

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त
(Theories of Political Economy)

अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त : प्राचीन तथा समकालीन
(Theories of Economy : Classical and Contemporary)

प्राचीन विचारधारा

प्राचीन अर्थशास्त्रियों में वाणिज्यवादियों का विचार था कि किसी देश में सोना चाँदी के कोष में वृद्धि होना ही
इस देश के आर्थिक विकास का मापदण्ड है। इसी आधार पर उन्होंने आर्थिक विकास के लिए निर्यात पर पर्याप्त बल
दिया। एडम स्मिथ के अनुसार वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि होने से देश का आर्थिक विकास होता है।
आर्थिक क्षेत्र में सरकार के द्वारा स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए ताकि लोग अधिकाधिक उत्पादन कर लाभ प्राप्त कर सकें और
जिसके परिणामस्वरूप लोक कल्याण में वृद्धि हो। एडम स्मिथ के समकालीन अर्थशास्त्रियों ने कहा है कि यदि देश में
उत्पादन की मात्रा तीव्र होगी तो आर्थिक विकास की गति बढ़ेगी, अन्यथा आर्थिक विकास सम्भव नहीं होगा। कार्ल मार्क्स
ने सहकारिता के सिद्धान्त का समर्थन किया। उन्होंने कहा है कि पूँजीवादी को समाप्त कर साम्यवाद ■ द्वारा देश में
लोक कल्याण व आर्थिक विकास लाया जा सकता है। जे एस. मिल ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति के कुपरिणामों को
दिखाकर यह विचार प्रकट किया कि सहकारिता के सिद्धान्त को महत्व देना चाहिए। सहकारिता ही आर्थिक विकास का
माप है।

आधुनिक विचारधारा

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के साथ-साथ वितरण को भी आर्थिक विकास का मापक माना है। उन्होंने
आर्थिक विकास के माप के लिए किसी एक तत्व पर नहीं, वरन् अन्य कई तत्वों पर बल दिया है और कहा है कि इन
तत्वों के सामूहिक प्रयासों के फलस्वरूप राष्ट्र का आर्थिक विकास सम्भव हो सकता है। उन्होंने इन तत्वों को आर्थिक
विकास के लिए महत्वपूर्ण माना है—(1) राष्ट्रीय आय, (2) गरीब जनता को अधिक लाभ, (3) सामान्य एवं वास्तविक
विकास दर, (4) प्रति व्यक्ति आय एवं (5) सकल राष्ट्रीय उत्पादन।

अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त

आर्थिक विकास और किसी देश की अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने सिद्धान्त
प्रतिपादित किए हैं। उनमें से प्रमुख निम्नांकित हैं—

(1) एडम स्मिथ के सिद्धान्त

एडम स्मिथ सम्भवतया पहला विद्वान था जिसने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रों का धन'[1] में करारोपण के सिद्धान्तों के
सम्बन्ध में सामान्य रूप से विचार किया। उसने करारोपण की किसी भी अच्छी कर पद्धति के लिए चार सिद्धान्त प्रतिपादित
किए—(1) समानता या समता का सिद्धान्त, (2) निश्चितता का सिद्धान्त, (3) सुविधा का सिद्धान्त एवं (4) मितव्ययिता
का सिद्धान्त। बाद के लेखकों ने करारोपण के अन्य सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये जो इस प्रकार हैं—(1) उत्पादकता का
सिद्धान्त, (2) लोच का सिद्धान्त, (3) सरलता का सिद्धान्त, (4) विविधता का सिद्धान्त, (5) समन्वय का सिद्धान्त,
(6) वांछनीयता का सिद्धान्त एवं (7) एकरूपता का सिद्धान्त।

---

1 *Adam Smith* : Wealth of Nations

(2) हैक्शर ओहलिन का सिद्धान्त

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना, किन्तु इन अर्थशास्त्रियों ने मात्र श्रम को ही उत्पादन का साधन माना था। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के अन्य साधनों को भी लागत विश्लेषण में सम्मिलित किया है। इनमें प्रमुख स्थान हैक्शन को दिया जाता है। हैक्शर के विचारों की विस्तृत व्याख्या ओहलिन ने की और इस सिद्धान्त को 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का हैक्शर ओहलिन सिद्धान्त' कहा है। हक्शर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यक शर्तों को इस प्रकार वर्णित किया है—(1) भिन्न-भिन्न सपेक्ष दुर्लभता अर्थात् विनिमय की स्थितियों में उत्पादन के साधनों की सापेक्ष कीमतों में भिन्नता, (2) विभिन्न वस्तुओं में प्रयुक्त उत्पादन के साधनों के बीच अनुपातों में भिन्नता एवं (3) सामान्दतया आगत-निर्गत गुणक के रूप में अपरिवर्तनीय रहने हैं।

हैक्शर का मत है कि विदेशी व्यापार उत्पादन के उन्नत साधनों की बढ़ती हुई दुर्लभता को उत्पन्न करता है जो अन्यथा आयातित वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग किये जा सकते हैं। ओहलिन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त *मूल्य के सामान्य साम्य सम्बन्धी सिद्धान्त पर आधारित है और इसी का एक विस्तार मात्र है।* मूल्य का सामान्य साम्य सिद्धान्त अर्थशास्त्र में अपना विशेष महत्त्व रखता है। उसके अनुसार यह माना जाता है कि किसी वस्तु की कीमत उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित की जाती है। एक वस्तु की माँग पर अनेक तथ्यों का प्रभाव पड़ता है जैसे—उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ, प्राथमिकताएँ, इच्छाएँ, उनकी आय, अन्य वस्तुओं की उपलब्धता और उनकी कीमत आदि। वस्तु की पूर्ति उसके उत्पादन के साधनों की उपलब्धि पर निर्भर होती है। जहाँ वस्तु की माँग और उसकी पूर्ति के बीच साम्य स्थापित हो जाता है वहाँ उसकी कीमत निर्धारित हो जाती है। वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है। लाभ की सीमान्तता भी लागत में शामिल होती है। किसी वस्तु की उत्पादन लागत उन सभी साधनों की कीमत का योग होती है जो वस्तु के उत्पादन में सहयोगी बनते हैं। हैक्शर ओहलिन की प्रमुख मान्यता है कि ससाधनों की भिन्नता के कारण ही विभिन्न देशों में उत्पादन लागतों एवं वस्तुओं के मूल्यों में अन्तर होता है तथा यही अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देता है।

(3) हैरड-डोमर का सिद्धान्त

हैरड-डोमर के आर्थिक विकास सिद्धान्त की परिकल्पना यह है कि प्रारम्भ में आय का सन्तुलित स्तर यदि पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर है तो प्रति वर्ष सन्तुलन के इस स्थायित्व को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि विनियोग द्वारा उत्पन्न अतिरिक्त क्रय शक्ति की मात्रा उतनी होनी चाहिए जो विनियोग द्वारा बढ़ाए गए उत्पादन को खपाने के लिए पर्याप्त हो।

(4) महालनोबिस सिद्धान्त

महालनोबिस मॉडल विकास नियोजन का चार क्षेत्रीय अर्थमिति मॉडल है। इस मॉडल में भारत में 5,600 करोड़ रुपये की धनराशि से द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में 5 प्रतिशत विकास दर एवं 11 मिलियन व्यक्तियों के लिए रोजगार उपलब्ध कराने की परिकल्पना की गई। अनुमानित धन राशि को अर्थव्यवस्था के चार क्षेत्रों में इस प्रकार वितरित करने का प्रयास किया गया जिससे कि प्रत्येक क्षेत्र अन्य राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि तथा रोजगार वृद्धि का क्रमशः 5 प्रतिशत तथा 11 मिलियन अतिरिक्त व्यक्ति हो सकें, इसीलिए इस मॉडल को आर्थिक विकास के मॉडल के स्थान पर वितरण मॉडल की संज्ञा दी गई।

(5) कीन्स का सिद्धान्त

कीन्स ने अपनी पुस्तक 'रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा की सामान्य सिद्धान्त' में प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए एक नया रोजगार तथा आय का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसके अनुसार बेरोजगारी प्रभावपूर्ण माँग की कमी अथवा उपयोग एवं निवेश पर किए गए व्यय की कमी के कारण होती है।

(6) अमर्त्य सेन का सिद्धान्त

अमर्त्य सेन के कल्याणकारी सिद्धान्त के सम्बन्ध में रॉयल स्वीडिश अकादमी आफ साइंस ने कहा है कि "कल्याणकारी अर्थशास्त्र में भी सेन के योगदान और उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के प्रयोग ने अकाल के लिए जिम्मेदार आर्थिक प्रक्रियाओं की अपनी समझदारी में वृद्धि की है। उन्होंने अर्थशास्त्र और दर्शन के उपकरणों के संयोजन से महत्वपूर्ण आर्थिक समस्याओं पर विचार-विमर्श को एक नैतिक आयाम दिया है।" अमर्त्य सेन ने अर्थशास्त्र के कल्याणकारी सिद्धान्त में इन तथ्यों को महत्वपूर्ण ढंग से उजागर किया है—(1) निर्धनता और अकाल, (2) सामूहिक विकल्प और सामाजिक कल्याण, (3) सेन सूचकांक, (4) विषमता पर पुनर्विचार एवं (5) आर्थिक विकास और सामाजिक अवसर।

(7) गाँधीवादी सिद्धान्त

महात्मा गाँधी कोई प्रशिक्षित अर्थशास्त्री नहीं थे[1] इसलिए उन्होंने विकास का कोई माडल तैयार नहीं किया, परन्तु उन्होंने भारत के विकास के लिए कृषि, कुटीर उद्योग, पशुपालन आदि के लिए कुछ नीतियों का समर्थन अवश्य किया। आचार्य श्रीमन्नारायण ने 1944 में गाँधीवादी योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की और बाद में 1948 में उसकी पुष्टि की। ये प्रकाशन गाँधीवादी आयोजन या विकास के ढाँचे का आधार हैं। गाँधीवादी योजना का मूल उद्देश्य भारतीय जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करना है ताकि 10 वर्षों के अन्दर न्यूनतम जीवन स्तर प्राप्त किया जा सके। गाँधीवादी योजना भारत के गाँवों की आर्थिक दशा उन्नत करना चाहती है इसलिए कृषि के वैज्ञानिक विकास और कुटीर उद्योगों के विस्तार पर बल देती है।

(8) नेहरूवादी सिद्धान्त

1977 से पूर्व तक भारत की अर्थव्यवस्था के विकास का आधार नेहरू की विनियोग रणनीति थी जिसे विकास का नेहरू मॉडल कहा जाता है। नेहरू मॉडल में भारी उद्योग को अर्थव्यवस्था का आधार माना गया और नेहरू चाहते थे कि अर्थव्यवस्था की बुनियाद मजबूत की जाए ताकि विदेशी सहायता पर निर्भरता कम की जा सके। एक मजबूत बुनियाद प्रतिरक्षा की दृष्टि से महत्व रखती है क्योंकि इसके बिना आर्थिक विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। नेहरू की विकास रणनीति के फलस्वरूप भारत विश्व के औद्योगिक राष्ट्रों में दसवाँ स्थान प्राप्त कर सका। हमारी पहली पाँच पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान हुई प्रगति के सम्बन्ध में छठी पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में लिखा था कि, "यह वस्तुतः बड़े गर्व की बात है कि इस काल के दौरान एक अवरुद्ध एवं पराश्रित अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण किया गया और इसे अधिक आत्मनिर्भर बनाया गया।"[2]

(9) राव मनमोहन सिद्धान्त

विकास का राव-मनमोहन मॉडल 1991 में भारत में लागू किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य विकास के लिए एक नई रणनीति अपनाना था जिसमें निजीकरण और वैश्वीकरण पर बल दिया जाए। देश के स्तर पर दो परिवर्तन किए गए। प्रथम, सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए गये। दूसरे बिना लाइसेंस प्राप्त किए निजी क्षेत्र को औद्योगिक इकाइयाँ लगाने की इजाजत दी गई। इनके अलावा भी आर्थिक नीति में कई परिवर्तन किए गए। पूर्व प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिंहाराव और पूर्व वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा चालू किए गए विकास के राव-मनमोहन माडल में निजी क्षेत्र को बड़ा कार्य भाग अदा करने पर बल दिया गया।

□□□

7

राजनीतिक विचारधाराएँ

(Political Ideologies)

प्रत्येक विचारक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राजनीतिक विचारधारा पर अध्ययन किया है। उदारवादियों ने अपने दृष्टिकोण से तथा अन्य विचारधाराओं यथा—समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, गांधीवाद व अराजकतावाद के विचारकों ने अपनी विचारधारा को अपने दृष्टिकोण से व्यक्त किया है प्रत्येक विचारधारा की प्रकृति अलग है। यहाँ इसी दृष्टि से विचारधाराओं का विवेचन किया जा रहा है। इससे पूर्व विचारधारा की प्रकृति सम्बन्धी जानकारी दी जा रही है।

विचारधारा की प्रकृति (Nature of Ideology)

रोडी, एण्डरसन एवं क्रिस्टोल के अनुसार, "एक राजनीतिक विचारधारा राज्य की प्रकृति की विशिष्टताओं को बताने वाले विचारों की एक व्यवस्था होती है और यह उस राज्य के अन्तर्गत शासन एवं नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करती है। ऐसी विचारधारा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों का एक समुच्चय होती है।" एलेन बाल के अनुसार, "राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक विचारों की स्पष्ट, सम्बद्ध और व्यवस्थित प्रणाली होता है।" राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्धित विस्तृत विचार जब व्यवस्थित रूप धारण कर लेते हैं तो उसे राजनीतिक विचारधारा कहते हैं। राजनीतिक विचारधारा की प्रकृति को निम्नांकित बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) राजनीतिक विचारधाराएँ सामाजिक वातावरण के साथ अन्तःक्रिया का प्रतिफल होती हैं। (2) आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं का प्रारम्भ फ्रांसीसी क्रान्ति से माना जाता है जिसमें सर्व प्रथम स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा दिया गया था। (3) राजनीतिक विचारधाराओं में परस्पर अन्तर पाया जाता है। (4) राजनीतिक विचारधाराओं में सिद्धान्त तथा उनकी क्रियान्विति के लिए कार्य पद्धति निर्धारित होती है। (5) राजनीतिक विचारधाराओं में नैतिकता को स्वीकार किया जाता है। (6) राजनीतिक विचारधाराएँ सत्य को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं करती हैं। (7) राजनीतिक विचारधाराओं का जन्म, विकास तथा उत्कर्ष सामाजिक पर्यावरण में होता है। (8) राजनीतिक विचारधाराओं का कोई निश्चित क्षेत्र नहीं होता है। (9) राजनीतिक विचारधाराएँ सामान्यतया परिवर्तन, नियन्त्रण और अनुशासन कायम करने का कार्य करती हैं। (10) राजनीतिक विचारधाराओं में संगठन, एकता और सुदृढ़ता स्थापित करने की अनोखी क्षमता होती है। (11) कुछ राजनीतिक विचारधाराएँ बुद्धिपरक होती हैं तथा वे विवेकहीन सामाजिक मूल्यों का विरोध करती हैं। (12) कुछ विचारधाराएँ राजनीतिक संस्थाओं को वैधता प्रदान करने में भी सहायक होती हैं। (13) हंस जे. मार्गेन्थो ने राजनीतिक विचारधारा को अन्तर्राष्ट्रीय या राजनीति में विदेश नीति के वास्तविक उद्देश्यों को छिपाने का आवरण माना है। राष्ट्रीय शक्ति और राजनीतिक विचारधारा में गहरा सम्बन्ध होता है। यह राष्ट्र की शक्ति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और इसे राष्ट्रीय शक्ति का आधारभूत तत्व कहा जाता है।

उदारवाद

(Liberalism)

अन्य विचारधाराओं की भाँति उदारवादी विचारधारा निश्चित और क्रमबद्ध विचारधारा नहीं है। यह न तो किसी एक व्यक्ति के विचारों का परिणाम है और न ही किसी एक युग के साथ जुड़ी हुई विचारधारा है। यह एक दर्शन नहीं होकर, अनेक विचारों का सम्मिश्रण है। यह एक जीवन दृष्टि, जीवन क्रम तथा मस्तिष्क की एक सुलझी हुई प्रवृत्ति है जिसके अन्तर्गत अनेक मान्यताएँ, आदर्श एवं सिद्धान्त विद्यमान हैं। उदारवाद का उद्गम स्थान इंग्लैण्ड है और वहाँ उदारवाद का उदय अनुदारवाद के विरोध स्वरूप एक प्रवृत्ति के रूप में हुआ था, इसलिये अनेक व्यक्ति उदारवाद को अनुदारवाद का विलोम तथा प्रगति एवं परिवर्तन का पर्यायवाची मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जब

ब्रिटेन में लम्बे समय से चली आ रही सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं, परम्पराओं एवं रूढ़ियों को बनाये रखना चाहते थे, उस समय उदारवाद के द्वारा सुधार, परिवर्तन और प्रगति का समर्थन किया गया, लेकिन उदारवाद को प्रगति और परिवर्तन का पर्यायवाची नहीं माना गया है। इसके विपरीत उदारवाद परिवर्तन के लिये क्रान्ति के मार्ग को अपनाने के विपरीत है। लोकतन्त्र को उदारवाद का नाम दे दिया जाता है, जो सीमित अर्थ में सही है। आधुनिक लोकतन्त्र बहुसंख्यक वर्ग की सत्ता में विश्वास करता है, लेकिन उदारवाद सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में बहुसंख्यक वर्ग की अपेक्षा अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की रक्षा के प्रति जागरूक है। उदारवाद लोकतन्त्र से कुछ अधिक हो जाता है। उदारवाद परिवर्तन और प्रगति का सन्देश देता है और व्यक्तिवाद तथा लोकतन्त्र भी इसमें शामिल है। व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर अब तक दो प्रकार की विचारधाराएँ रही हैं। एक विचारधारा राज्य को समस्त मानवीय जीवन का केन्द्र और अपने आप में एक साध्य मानती है, लेकिन दूसरी विचारधारा इसका प्रतिपादन करती है कि व्यक्ति और राज्य में व्यक्ति ही साध्य है राज्य नहीं, इसलिए उदारवाद द्वितीय प्रकार की विचारधारा का पुंज है जो इस तथ्य पर बल देता है कि समस्त राजनीतिक व्यवस्थाओं का केन्द्र व्यक्ति है, राज्य समाज और अन्य संस्थाएँ इस व्यक्ति के कल्याण के साधन मात्र हैं।

उदारवाद का उदय (Rise of Liberalism)—राजनीतिक व्यवस्था के क्षेत्र में उदारवाद के उदय के कारण निम्नांकित हैं—

1. नवजागरण (Renaissance)—प्राचीन युग में यूनानी जीवन के अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन को आधारभूत रूप में महत्व प्राप्त था। उनके चिन्तन का रूप लौकिक था। प्राचीन यूनानियों ने दर्शन, साहित्य, कला एवं विज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति कर ली थी, लेकिन मध्य युग में पारलौकिक दृष्टिकोण को अपना लिया गया और चिन्तन का एकमात्र केन्द्र ईश्वर हो जाने के कारण, जीवन के अन्य क्षेत्रों में कोई प्रगति सम्भव नहीं हो सकी। मध्य युग में व्यक्ति को भुला दिया गया, लेकिन आधुनिक युग के प्रारम्भ में लोगों की दृष्टि पुनः यूनानी चिन्तन पर गई और नवजागरण के नाम से एक बौद्धिक चिन्तन का आन्दोलन प्रबल हो गया, परिणामस्वरूप लोगों के विचारों, आदर्शों और चिन्तन पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आने लगा। नवजागरण ने व्यक्तियों के दृष्टिकोण को एक ओर लौकिक बनाया, दूसरी ओर व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व को सर्वोच्च महत्व दिया जाने लगा। नवजागरण ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर बल देकर उदारवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

2. धर्म सुधार (Reformation)—मध्य युग धार्मिक निरंकुशता के लिए प्रसिद्ध रहा है। धार्मिक क्षेत्र में पोप की निरंकुशता का बोलबाला था और पोप शास्त्रों का जो अर्थ बतलाते थे, वही प्रामाणिक माना जाता था। 16वीं शताब्दी में धर्म सुधार की प्रवृत्ति आरम्भ हुई और मार्टिन लूथर, ज्विंगली तथा काल्विन जैसे धर्म सुधारकों के द्वारा धार्मिक निरंकुशता का विरोध प्रारम्भ हो गया। धर्म सुधार ने परम्पराओं के बन्धन तोड़कर आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। मार्टिन लूथर ने बताया था कि व्यक्ति और ईश्वर के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है, व्यक्ति अपने प्रयत्नों से ईश्वर की कृपा प्राप्त कर सकता है और धार्मिक क्षेत्र में शक्ति प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार धर्म सुधार ने उदारवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

3. औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीपति वर्ग का उदय—मध्य युग में आर्थिक जीवन स्वतन्त्र नहीं था। कृषक सामन्तों के अधीन हुआ करते थे और दस्तकारी तथा व्यापार पर अनेकानेक नियन्त्रण थे। दस्तकारों पर उनकी श्रेणियों का नियन्त्रण हुआ करता था, जो 'गिल्ड' कहलाती थीं। धर्म आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप किया करता था। अनेक धार्मिक तथा नैतिक नियम प्रचलित थे। 18वीं सदी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति होने से वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा जिससे तेजी से समृद्धि आयी और आर्थिक जीवन के नियन्त्रण समाप्त होने लगे। समाज में जो नवीन समृद्धिशाली वर्ग उत्पन्न हो रहा था, उसका उद्देश्य अधिकाधिक सम्पत्ति अर्जित करना था। यह वर्ग उन समस्त नियमों और प्रतिबन्धों का विरोध करने लगा जो अधिकाधिक सम्पत्ति के अर्जन में बाधक बने हुए थे। यह नवीन समृद्धशाली वर्ग सामाजिक जीवन में धीरे-धीरे अधिक प्रभावशाली होता चला गया और उसने अपने बढ़े हुए प्रभाव से स्वीकार करवा लिया कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और गतिविधियों पर राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक कोई प्रतिबन्ध नहीं रहने चाहिए। आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना ने उदारवाद को जन्म दिया।

4. निरंकुशतावादी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया—उदारवाद के जन्म के लिए प्रमुख उत्तरदायी तत्व निरंकुशतावादी शासन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया है। 16वीं और 17वीं शताब्दी यूरोपीय इतिहास में निरंकुश राजतन्त्र सर्वत्र प्रसिद्ध था। इनमें से अनेक राज्यों के शासकों ने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर स्वयं को ईश्वर का अवतार मान लिया था। इनमें से कुछ सरकारें इतनी अधिक निरंकुश एवं अमर्यादित हो गयी थीं कि "उनके अर्थहीन कानून निश्चित दिनों के लिए विशिष्ट प्रकार के भोजन निर्धारित करते थे तथा मुर्दों को दफनाने के लिए विशेष प्रकार के वस्त्रों की व्यवस्था

की आज्ञा देते थे।" इस प्रकार निरकुशतावादी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक थी। ऐसे समय में जॉन लॉक, मिल, स्पेन्सर तथा ग्रीन जैसे विद्वानों के द्वारा व्यक्ति स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा ने उदारवाद का शखनाद फूक दिया।

उदारवाद के मूल सिद्धान्त (Main Principles of Liberalism)

1. इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध—उदारवाद मानवीय विवेक में विश्वास करता है और किसी भी ऐसे विचार, सस्था या सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता है जो बुद्धिसगत न हो, फिर चाहे वह कितना ही प्राचीन क्यों न हो तथा उसे कितना ही पवित्र क्यों न समझा जाता रहा हो। इग्लैण्ड के उपयोगितावादी उदारवादियों ने उपयोगिता के नाम पर पहले से चली आ रही व्यवस्था का खण्डन किया है। उनके प्रभाव के कारण 19वीं सदी में इग्लैण्ड के जीवन के हर क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, लेकिन उदारवादी सदैव ही विद्यमान व्यवस्था के विरोधी नहीं रहे हैं और आज ये बहुत सीमा तक विद्यमान राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष में दिखाई देते हैं।

2. मानवीय स्वतन्त्रता की धारणा में विश्वास—उदारवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र उत्पन्न होता है और स्वतन्त्रता उसका प्राकृतिक एव जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के जीवन पर किसी स्वेच्छाचारी सत्ता का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये और ऐसा वातावरण हो कि व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सके। उदारवादियों ने सदैव मानव जीवन पर निरकुश सत्ता का विरोध किया है और वे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का समर्थन करते रहे हैं। हेराल्ड लास्की के अनुसार, "स्वतन्त्रता के साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, क्योंकि इसका जन्म ही समाज के किसी वर्ग द्वारा अथवा धर्म के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकारों के विरोध में हुआ है।"

3. मानवीय विवेक में आस्था—उदारवादी विचारधारा का प्रमुख तत्व मानवीय विवेक में आस्था है। ईसाइयत ने मनुष्य की बुद्धि को कठोर बन्धनों में जकड़ रखा था और ऐसा माना जाता था कि चर्च के अधिकारी, विशेषकर पोप शास्त्रों का जो अर्थ बतलाते थे, वही प्रामाणिक थे, लेकिन 17वीं और 18वीं सदी में नवजागरण के साथ ही प्रमुख उदारवादी दार्शनिकों ने शास्त्रों का अन्धानुसरण करने के स्थान पर स्वय अपने विवेक के आधार पर चिन्तन मनन प्रारम्भ कर दिया। जॉन लॉक और टामस पेन ने समस्त रूढ़िवादियों को चुनौती देते हुए कहा था कि 'हमारा अपना मन ही अपना चर्च है।' इस प्रकार उदारवाद का विश्वास है कि भावना पर विवेक को प्रधानता दी जानी चाहिए।

4. व्यक्ति साध्य तथा समाज और राज्य साधन—उदारवाद का मूल आधार व्यक्ति है। यह व्यक्ति को साध्य मानकर आगे बढ़ता है। इसके अनुसार व्यक्ति का भौतिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक कल्याण तथा उसकी रचनात्मक शक्तियों का विकास सबसे अधिक महत्व रखता है। समाज और राज्य तो साधन मात्र हैं और उनका महत्व उसी सीमा तक है, जहाँ तक वे इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होते हैं।

5. व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विश्वास—उदारवादियों का विश्वास रहा है कि व्यक्ति के कुछ जन्मजात अधिकार हैं, जिन्हें प्राकृतिक अधिकार भी कहा जा सकता है। उनका कथन है कि इन अधिकारों की सृष्टि किसी मानवीय सस्था, समाज या राज्य के द्वारा नहीं की गई है, वरन् ये तो इन सस्थाओं के अस्तित्व के पूर्व से विद्यमान रहे हैं और समाज तथा राज्य की उत्पत्ति इन अधिकारों की रक्षा के लिये ही हुई है। इस सम्बन्ध में लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त विशेष रूप से प्रसिद्ध है जिसके अनुसार व्यक्ति के मुख्य प्राकृतिक अधिकार, जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के अधिकार हैं।

6. धर्म-निरपेक्ष राज्य का आदर्श—उदारवाद का धर्मनिरपेक्ष राज्य में विश्वास है। इसके अनुसार राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए। राज्य के द्वारा अपने सभी नागरिकों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। धर्म के आधार पर अपने नागरिकों में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए। मध्यकालीन यूरोप के विभिन्न देशों में किसी एक विशेष धर्म को प्रधानता प्राप्त थी। ऐसी स्थिति में उदारवादियों ने प्रारम्भ से धार्मिक सहिष्णुता और स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द की। जॉन लॉक धार्मिक सहिष्णुता का कट्टर समर्थक था। 18वीं सदी के फ्रेंच दार्शनिकों ने चर्च और राज्य को पृथक् करने के लिए आन्दोलन किया था, परिणामस्वरूप फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद फ्रांस और सयुक्त राज्य अमेरिका में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई। तत्पश्चात् यूरोप के सभी देशों में धर्मनिरपेक्षता की लहर तेजी से चल पड़ी। *धर्मनिरपेक्षता उदारवाद की एक बहुत बड़ी देन मानी जाती है।*

7. समाज और राज्य कृत्रिम सगठन—उदारवाद समाज और राज्य को प्राकृतिक नहीं, वरन् कृत्रिम मानते हैं और उनका विचार है कि इसका निर्माण व्यक्तियों के द्वारा अपनी कुछ विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही किया गया है। व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है। समाज और राज्य का सगठन उनके द्वारा अपनी निश्चित योजना के अनुसार किया गया। व्यक्तियों को यह अधिकार है कि वे समाज और राज्य के सगठन में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकें।

8. शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध और कानून की प्रधानता का प्रतिपादन—उदारवाद अपने स्वभाव से ही शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करता आया है। वह इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि शासन में व्यक्ति की नहीं वरन् कानून की प्रधानता होनी चाहिए। शासक वर्ग भी इन कानूनों को मानने के लिए उतनी सीमा तक बाध्य होना चाहिए, जितनी सीमा तक शासित वर्ग। यदि शासक वर्ग मनमानी करता है और जनता के हितों का ध्यान नहीं रखता तो ऐसी स्थिति में जनता को अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, लेकिन उदारवाद की धारणा है कि किसी परिवर्तन हेतु शान्तिपूर्ण और वैधानिक उपाय ही अपनाये जाने चाहिये। इस सम्बन्ध में 1688 की इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति उनका आदर्श है।

9. अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-शान्ति में विश्वास—उदारवाद *अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की निरंकुशता को नहीं* मानता और विश्व-शान्ति तथा विश्व-बन्धुत्व के आदर्श का प्रतिपादन करता है। उदारवाद के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को धीरे-धीरे *शान्ति से प्रगति करनी चाहिए और उसे अन्य राष्ट्रों को वैसी ही प्रगति में* सहायता देनी चाहिये। उदारवाद के अनुसार राष्ट्रीय वैमनस्य की भावना को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए और राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को स्वीकार कर अपना उत्कर्ष करते रहना चाहिए।

10. लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन—लोकतान्त्रिक पद्धति का समर्थन उदारवाद का महत्वपूर्ण विचार है। उदारवाद का जन्म स्वेच्छाचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ है। उदारवादी विचारधारा के अनुसार सभी मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होते हैं, इसलिए किसी को उन पर उनकी सहमति के बिना शासन करने का अधिकार नहीं हो सकता है। वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का सर्वोच्च उपाय यह है कि शासन की शक्ति स्वयं जनता के हाथों में हो और किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष को स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करने के अधिकार नहीं हों। इसी उदारवादी विचार को अभिव्यक्ति [illegible] हुए फ्रांस के 'मानवीय अधिकारों की घोषणा' में कहा गया है—"राष्ट्र ही तत्वतः सम्पूर्ण प्रभुत्व का स्रोत है। *कोई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का कोई समूह किसी ऐसी सत्ता का अधिकारी नहीं हो सकता,* जो राष्ट्र से प्राप्त न हुई हो।"

राज्य के उद्देश्य और कार्यों के सम्बन्ध में उदारवाद (Liberalism between Aims & Works of the State)—राज्यों के उद्देश्यों और कार्यों के सम्बन्ध में उदारवादियों का कभी एक दृष्टिकोण नहीं रहा है। इस सम्बन्ध में उनकी विचारधारा परिस्थितियों के अनुसार सदैव परिवर्तित होती रही है। उदारवाद के प्रमुख रूप में दो रूप हमारे सामने आते हैं—(1) परम्परागत उदारवाद एवं (2) आधुनिक जनतन्त्रात्मक उदारवाद।

परम्परागत उदारवाद (Traditional Liberalism)—मूल रूप में उदारवाद का जन्म स्वेच्छाचारी शासन और उनकी शासन व्यवस्था के विरुद्ध एक स्वतन्त्र आन्दोलन के रूप में हुआ था, फलतः परम्परागत उदारवाद का मूल तत्व स्वतन्त्रता रहा है। जॉन लॉक और जॉन स्टुअर्ट मिल को इस परम्परागत उदारवाद का प्रतिनिधि विचारक कहा जाता है। *प्रो. हॉबहाउस ने अपने परम्परागत उदारवाद के निम्नांकित नौ मूल सिद्धान्त बतलाये हैं—*

1. नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतन्त्रता शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करती है, इसलिए व्यक्तियों पर व्यक्तियों को नहीं, वरन् कानूनों को प्रभुत्व प्राप्त होना चाहिए। *मध्य युग की सामन्ती व्यवस्था में* सामन्त वर्ग के विशेषाधिकारों का सर्वत्र बोलबाला था। व्यक्तियों को अपने जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा प्राप्त नहीं थी। सामन्त वर्ग के द्वारा व्यक्तियों को मनमाने तरीके से सताया जाता था। उन्हें कारागृह में डाल दिया जाता था और उनकी सम्पत्ति को छीन लिया जाता था अर्थात् उनका शोषण होता था। नागरिक स्वतन्त्रता के आदर्श द्वारा इस स्वेच्छाचारिता का विरोध किया गया और यह माना कि व्यक्तियों को इच्छानुसार जीने का अधिकार मिलना चाहिये।

2. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Individual Liberty)—उदारवादियों ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल दिया है। उनके द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि व्यक्ति को अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वयं अपने सम्बन्ध में निर्णय करने का पूर्ण *अधिकार मिलना चाहिये।* व्यक्तियों के जीवन और उनके रहन-सहन में राज्य या समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा उस समय तक कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिये, जब तक कि सामाजिक हित की दृष्टि से हस्तक्षेप नितान्त आवश्यक न [illegible] गया हो। *व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत* विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, रहन-सहन की स्वतन्त्रता, धार्मिक विश्वास तथा आराधना की स्वतन्त्रता आदि पर विशेष बल दिया गया है।

3. सामाजिक स्वतन्त्रता (Social Liberty)—*उदारवाद में सामाजिक स्वतन्त्रता का भी विशेष महत्व रहा है।* सामाजिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य है कि जन्म, सम्पत्ति, वर्ण, जाति अथवा लिंग के आधार पर व्यक्तियों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये। समाज के सभी व्यक्तियों को *विकास के लिये समान और पर्याप्त अवसर मिलने* चाहिये, क्योंकि इनके अभाव में स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव नहीं है। विशेष प्रकार के पद, पेशे, व्यवसाय, उच्च शिक्षा की सुविधाएँ तथा निगम अथवा समुदाय की सदस्यता वंशानुगत गुणों पर आधारित न होकर इनके द्वार सबके लिये खुले होने चाहिये।

4. वित्तीय स्वतन्त्रता (Financial Liberty)—मध्य युग के निरंकुश शासकों द्वारा अनेक बार जनता पर मनमाने कर आरोपित किये जाते थे, परिणामस्वरूप नागरिक चेतना के उदय के साथ इस तथ्य पर बल दिया गया कि नागरिकों पर उनके प्रतिनिधियों की इच्छा के बिना कोई कर नहीं लगाये जाएँ। उदारवादी सम्पति को व्यक्तियों का एक पवित्र अधिकार मानते थे, इसीलिए उनके द्वारा यह कहा गया कि नागरिकों पर कर लगाने का अधिकार जनप्रतिनिधियों के बहुमत को होना चाहिए। उत्तरदायी शासन की स्थापना हो। 19वीं सदी के अन्त में अमेरिकी स्वतन्त्रता संग्राम इसी प्रश्न को लेकर प्रारम्भ हुआ था और उसका प्रसिद्ध नारा था 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' (*No Taxation, without* Representation)।

5. आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)—परम्परागत उदारवाद के सन्दर्भ में आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और उनके द्वारा सचालित उद्योग तथा व्यापार में राज्य के द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। मध्य युगीन सामन्ती राज्यों ने भूमि, वस्तुओं तथा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय, भाड़े पर श्रमिक रखने तथा धन उधार लेने और देने पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा रखे थे। उदारवादियों ने उन्हें हटाने की माँग की तथा इस बात पर बल दिया कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा 'अहस्तक्षेप की नीति' (Policy of Laissez Faire) अपनायी जानी चाहिए। राज्य के द्वारा व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में 'मुक्त प्रतियोगिता' के विचार को अपनाया जाना चाहिये। वस्तुओं के मूल्य और उनके उत्पादन की मात्रा स्वयं निर्धारित करने के स्थान पर, माँग और पूर्ति के नियम के द्वारा निर्धारित की जानी चाहिये। व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में 'संविदा की व्यवस्था' प्राप्त होनी चाहिये। साथ ही उन्हें अपनी आर्थिक उन्नति के लिये संघ एवं समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

6. जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (Racial and National Liberty)—उदारवादी विचारक राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के समर्थक थे तथा भौगोलिक एवं प्रशासकीय क्षेत्रों में स्वशासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वे जातीय समानता का भी समर्थन करते थे, किन्तु यह जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थन यूरोपीय राष्ट्रों तथा गोरी जातियों तक ही सीमित रहा है।

7. अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (International Liberty)—उदारवाद एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरुद्ध बल प्रयोग का विरोधी रहा है तथा शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में राज्यों के द्वारा परस्पर अधिकाधिक समीप आने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

8. राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने का नाम ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है और इसके अन्तर्गत ये चार बिन्दु सम्मिलित हैं—नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार और राजनीतिक मामलों में समुचित जानकारी प्राप्त करने तथा उन पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का अधिकार। उदारवाद की राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की पर्यायवाची कही जा सकती है।

9. पारिवारिक स्वतन्त्रता (Domestic Liberty)—इसका अर्थ यह है कि सभी व्यक्तियों को अपने परिवार के गठन एवं स्वच्छन्द पारिवारिक जीवन बिताने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। इसके साथ स्त्रियों को विवाह तथा सम्पत्ति के क्षेत्र में पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिये। बच्चों को विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत माता-पिता के दुर्व्यवहार के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिये। माता-पिता को उनके शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास के लिये निश्चित रूप से उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिये।

उदारवाद की आलोचना (Criticism of Liberalism)—परम्परागत उदारवाद की उसी प्रकार से आलोचना की जाती है जिस प्रकार से व्यक्तिवाद की आलोचना की जाती है, क्योंकि परम्परागत उदारवाद व्यक्तिवाद की तरह ही आर्थिक क्षेत्र में राज्य के अहस्तक्षेप की नीति का प्रतिपादन करता है, परन्तु उदारवाद की आलोचनाएँ भी की गयी हैं। उदारवाद के इन आलोचकों में एडमण्ड बर्क का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। एडमण्ड बर्क के अनुसार उदारवाद की त्रुटि यह है कि इसके द्वारा इतिहास और परम्पराओं को उचित महत्व प्रदान नहीं किया गया। परम्पराओं के पीछे पीढ़ियों का अनुभव होता है तथा अतीत से सम्बन्ध तोड़ लेना न तो सम्भव है और न ही उचित। आज का जीवन भूतकालीन परिस्थितियों का ही परिणाम है। उदारवाद की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इस दर्शन में मानवीय बुद्धि को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया है जो वास्तव में अनुचित है। मानवीय घटनाचक्र के निर्धारण में बुद्धि की अपेक्षा ईश्वरीय इच्छा एवं संयोग अधिक महत्वपूर्ण रहा है। उदारवादी राज्य को एक कृत्रिम संस्था और समझौते का परिणाम मानते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसा कहीं नहीं है। राज्य न तो किसी समझौते का परिणाम है और न ही यह कोई व्यावसायिक ढंग की साझेदारी है जिसे इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। वस्तुतः राज्य उच्चतम मानवीय गुणों के विकास तथा महानतम् आदर्शों की प्राप्ति में क्रियाशील एक शाश्वत संस्था है। आदर्शवादी एवं फासीवादी विचारक

उदारवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उदारवाद में व्यक्ति को जिस प्रकार की पूर्ण स्वतन्त्रता देने की बात कही जाती है, वह तो मानवीय जीवन को एक प्रकार की पूर्ण अराजकता में परिणित कर देगी। समस्त समाज के विकास और सामूहिक जीवन की पूर्णता के लिये व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सीमित करना नितान्त आवश्यक है।

उदारवाद का महत्व (Importance of Liberalism)—आज उदारवादी दर्शन की आलोचना की जाती है, परन्तु 19वीं सदी में यूरोप तथा अमेरिका में उदारवादी दर्शन प्रभावशाली रहा है और इस दर्शन ने इन राष्ट्रों के इतिहास को भी प्रभावित किया है। इसने यूरोप के विभिन्न राज्यों तथा अमेरिका के औद्योगिक विकास को अत्यधिक प्रोत्साहित किया तथा इससे इन क्षेत्रों के निवासियों ने आर्थिक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति की है। इसके द्वारा मुक्त व्यापार पर बल दिया गया, जिसके फलस्वरूप विश्व के विभिन्न देश एक-दूसरे के समीप आये हैं और एक विश्व बाजार का निर्माण हुआ है। इसमें धर्म तथा राजनीति को एक-दूसरे से पृथक् कर धर्म निरपेक्षता का मार्ग प्रशस्त हुआ जो आज के प्रगतिशील युग का प्रतीक है। इसने विशेषाधिकारों पर आधारित पुरानी व्यवस्था का अन्त कर स्वतन्त्रता, समानता तथा लोकतन्त्र का पुरजोर समर्थन किया। आज की संसदीय संस्थाएँ तथा वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त इस उदारवादी दर्शन की ही देन माने जाते हैं। इसने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन कर विभिन्न जातियों को राष्ट्रीय स्वाधीनता में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उदारवाद की एक विशेषता यह रही है कि इसके द्वारा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सदैव अपने स्वरूप में परिवर्तन कर लिया गया। यदि परम्परागत उदारवाद पूँजीवाद का सहायक दर्शन रहा है तो आज का उदारवाद समाजवाद के अधिक समीप जान पड़ता है। उदारवाद को लोकतन्त्र, राष्ट्रीय स्वाधीनता और आर्थिक प्रगति का दर्शन कहा जा सकता है। पश्चिमी देशों में अमेरिकी सभ्यता उदारवादी दर्शन की ही द्योतक है, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

समाजवाद

(Socialism)

समाजवाद के विभिन्न अर्थ लगाए जाते हैं जो देश, काल एवं विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित हैं। लेडलर ने अपनी पुस्तक 'A History of Socialist Thought' में बताया है कि एक सामान्य विद्यार्थी से पूछे जाने पर वह समाजवाद के कम से कम 57 प्रकार बताएगा। वह ओवन और सेंट साइमन के काल्पनिक समाजवाद, स्मोलर (Schmoller) और बिस्मार्क के राज्य समाजवाद, किंग्सले और माडीस के ईसाई समाजवाद, बर्नार्ड शा और सिडनी वेब के फैबियनवाद, बर्नस्टीन के संशोधनवाद, कोल और हाब्सन के श्रेणी समाजवाद, लेनिन और ट्राटस्की के बोलशेविज्म, स्तालिन और माओ के साम्यवाद का उल्लेख करेगा। उसने रेमजे मैक्डोनाल्ड, एच. जी. वेल्स, कार्ल काटस्की (Kautsky) एवं विलियम मौरिस द्वारा लिखे गए कुछ पृष्ठ भी पढ़े होंगे। वह यह अवश्य जानता है कि समाजवादी चिन्तन के केन्द्र में मार्क्स और एंजिल्स की रचनाएँ हैं, लेकिन वह यह बताने में असमर्थ रहेगा कि इतनी विचारधाराओं की उत्पत्ति क्यों हुई? इनमें कौन सी विचारधाराएँ छद्मवेशीय हैं तथा इन विचारधाराओं में क्या अन्तर है? यह सच है कि समाजवाद की विभिन्न धाराएँ निकल पड़ी हैं, लेकिन उनमें कुछ समान तत्व ऐसे हैं जिनके आधार पर उन्हें समाजवाद की विभिन्न शाखाएँ कहा जा सकता है और इस दृष्टि से उनका अध्ययन किया जाना आवश्यक है। वैज्ञानिक समाजवाद के जनक के रूप में मार्क्स और एंजिल्स ने रूस और चीन में मार्क्सवाद को क्रियान्वित किया। गैर-मार्क्सवादी समाजवाद के प्रणेता के रूप में लैसले का नाम है। यहाँ समाजवाद के कुछ रूप दिये जा रहे हैं। ये मूलतः समाजवादी विचारधाराएँ हैं। कुछ अन्य विचारधाराएँ भी हैं जिन्हें समाजवादी तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन इनकी जानकारी करना एवं समाजवाद से उनकी पृथकता एवं समीपता बताना आवश्यक है। इस दृष्टि से अराजकतावाद, फासीवाद एवं गाँधीवाद का उल्लेख करना आवश्यक रहेगा।

समष्टिवाद

(Collectivism)

समष्टिवाद एवं राजकीय समाजवाद दोनों पर्यायवाची शब्द बन गए हैं। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका की परिभाषा के अनुसार समष्टिवाद या राज्य समाजवाद, "वह नीति या सिद्धान्त है जो जनतान्त्रिक राज्य द्वारा सम्पत्ति के अब की अपेक्षा अधिक अच्छे वितरण और उत्पादन में विश्वास करता है।" समाजशास्त्र के विश्वकोश के अनुसार, "समष्टिवाद व्यक्तिवाद के विरोधी सिद्धान्तों का सामान्य नाम है।" सामाजिक प्रगति के आर्थिक सुधारों का कार्यक्रम, सार्वजनिक कल्याण का सिद्धान्त और एक आदर्श व्यवस्था के लिए समष्टिवाद एक सुझाव है। व्यावहारिक तौर पर इस शब्द का प्रयोग समाजवाद, साम्यवाद, श्रमसंघवाद और बोल्शेविज्म जैसे अधिकाधिक नियन्त्रण की व्यापक योजना के लिए सामान्य लेबिल है। समष्टिवादी मार्क्स से प्रभावित अवश्य हैं, लेकिन वे कट्टर मार्क्सपंथी नहीं हैं। समष्टिवाद पूँजीवाद को बुरा और अन्याय पूर्ण समझता है तथा उसका अन्त भी करना चाहता है। वह कार्य समाजवाद की स्थापना शान्तिमय और वैध उपायों और विकास द्वारा ही संभव है। पूँजीवाद हिंसा, क्रान्ति एवं वर्गयुद्ध को अनिवार्य समझता है। समष्टिवाद का कथन है कि प्रजातन्त्र के माध्यम से भी समाजवाद लाया जा सकता है, क्योंकि प्रजातन्त्र आज विश्व के अधिकांश देशों में प्रचलित है। समष्टिवाद राज्य को एक आवश्यक संस्था के रूप में सदा के लिए स्वीकार भी करता है।

समष्टिवाद के उद्देश्य—समष्टिवाद एक शोषणविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना पर बल देता है। सार रूप में इसके लक्ष्य को निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है—

(1) उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति, (2) प्रमुख उद्योगों एवं सामाजिक सेवाओं पर सामाजिक नियन्त्रण, (3) उत्पादन का सामान्य आवश्यकताओं के आधार पर निर्धारण, (4) समाज में व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सार्वजनिक लाभ की भावना को बढ़ावा, (5) समाज में प्रतियोगिता के स्थान पर सामूहिक सहयोग की भावना पर बल, (6) राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं की समान रूप से पुष्टि, (7) निर्धन वर्ग और श्रमिकों के न्यूनतम मजदूरी की दरों का निर्धारण, (8) उत्पादन के मुख्य साधनों पर केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक सत्ता का नियन्त्रण, (9) उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शान्तिमय रक्तहीन और क्रमिक उपायों का अवलम्बन, (10) वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सामंजस्य पर जोर एवं (11) प्रजातन्त्र एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अटूट विश्वास।

समष्टिवादी अपने इन उद्देश्यों के औचित्य को इन कारणों से सिद्ध करते हैं—उनका जबरदस्त प्रहार पूँजीवाद एवं उस पर आधारित समाज व्यवस्था पर है। उनका कथन है कि पूँजीवादी व्यवस्था भयंकर आर्थिक विषमताओं को जन्म देती है। इसके कारण एक ओर केवल वर्ग संघर्ष की ज्वाला प्रज्वलित होती है, मनुष्यों में मनोमालिन्य, घृणा, ईर्ष्या एवं विषाद को जन्म मिलता है तथा दूसरी ओर दुख, दरिद्रता, भूख, शोषण बढ़ते जाते हैं। उनके कहने का अर्थ यह है कि समाज में सन्तुलन समाप्त हो जाता है और मनुष्य कष्टमय जीवन बिताते हैं। समष्टिवाद प्रजातन्त्र को पूर्ण देखना चाहते हैं, क्योंकि इनकी मान्यता है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ ही नहीं एक धोखा भी है।

समष्टिवाद क्यों?—यद्यपि समष्टिवाद की परम्परा 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही मिलती है, लेकिन यह मूलतः 20वीं शताब्दी की विचारधारा है। आधुनिक युग में समष्टिवाद के उदय के कतिपय प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालते हुए सी. ई. एम. जोड ने बताया है कि ये प्रमुखतः दो हैं—प्रथम मार्क्सवाद और दूसरा व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया। इन कारणों के मूल में पूँजीवादी व्यवस्था छिपी हुई है जिसके विरुद्ध सारा समाजवादी आन्दोलन छिड़ गया। समष्टिवाद के जन्म का प्रमुख कारण व्यक्तिवाद से उत्पन्न दोषों के निराकरण से बाहर होना है। व्यक्तिवाद ने पूँजीवाद को जन्म दिया जिससे राष्ट्रीय क्षेत्र में शोषण और फलस्वरूप समाज में गरीब और अमीर दो वर्गों का निर्माण एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का बोलबाला हुआ। उन्हें मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व रुचिकर नहीं लगा। उन्हें इसका अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप भी ठीक नहीं लगा, क्योंकि इससे एक वैचारिक साम्राज्यवाद की स्थापना का उन्हें भय लगा इसलिए मार्क्सवादियों का राज्य के मुर्झा जाने का सिद्धान्त भी उन्हें अप्रिय लगा, इसलिए उन्होंने ऐसे विचार प्रस्तावित किए जो मार्क्स द्वारा पूँजीवाद की की गई बुराइयों से तो सहमत हो, लेकिन साथ ही मार्क्स की पद्धति का अनुकरण न हो, अतः विकल्प के रूप में समष्टिवाद अथवा राज्य समाजवाद का सिद्धान्त सामने आया।

समष्टिवाद के मूल सिद्धान्त—ये निम्नलिखित हैं—

(1) सामाजिक क्रियाकलापों के केन्द्र में राज्य—समष्टिवादी राज्य को आवश्यक संस्था मानते हैं। उनके लिए समाज परिवर्तन का माध्यम राज्य है। वे केवल राज्य के वर्तमान पूँजीवादी स्वरूप को बदलने के पक्ष में हैं। वे मार्क्सवादियों की भाँति राज्य को एक वर्ग की संस्था नहीं मानते, बल्कि उसे वे सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था मानते हैं। वे व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य को न आवश्यक बुराई मानते हैं और अराजकतावादियों की भाँति इसे न एक अनावश्यक बला ही। वे राज्य को एक सकारात्मक अच्छाई मानते हैं। इनके अनुसार प्रजातन्त्रीय राज्य अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है और यह अन्य सामाजिक संस्थाओं की अपेक्षा आधुनिक औद्योगिक समाज के हितों के साथ सहानुभूतिपूर्वक तथा प्रभावकारी ढंग से व्यवहार करने में समर्थ है। प्रजातन्त्रीय राज्य का स्वाभाविक कार्य समूचे राष्ट्र के भौतिक हितों की अभिवृद्धि एवं परोपकारितापूर्ण एवं न्यायपूर्ण व्यवहार के राष्ट्रीय आदर्शों की रक्षा करके व्यक्तिगत कार्यों को सीमित करना तथा उनकी कमी की पूर्ति करना है। यह दुर्बलों की सहायता तथा सबलों के अत्याचारों का दमन करता है और ऐसी सांस्कृतिक सुविधाएँ प्रदान करता है जो अकेले व्यक्तियों तथा छोटी संस्थाओं के द्वारा सम्भव नहीं हैं। वर्तमान राज्य विकसित देशों में इस प्रकार के कार्य करने लगे हैं। वे अमिकों की व्यवस्था करते हैं, स्त्रियों एवं बालकों के श्रम पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, मादक पदार्थ निषेध की व्यवस्था करते हैं, जनस्वास्थ्य की रक्षा करते हैं, शिक्षा की व्यवस्था एवं डाक का प्रबन्ध करते हैं और देश की स्वाभाविक सम्पत्ति की रक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत आर्थिक जीवन में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जिससे बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास और परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रबन्ध का केन्द्रीकरण करते हैं। भविष्य में सार्वजनिक आर्थिक कार्यों का विस्तार स्वाभाविक होगा। राष्ट्रीय सरकारें स्वयं उन सेवाओं के लिए प्रबन्ध करेंगी जो परम आवश्यक हैं, जैसे—सड़कें, रेल यातायात, बैंक, सामाजिक बीमा, म्युनिसिपैलिटियाँ, जल, प्रकाश और अन्य स्थानीय उपयोगी वस्तुओं की व्यवस्था करेंगी, अन्य सरकारी विभाग, कारखानों के मालिकों तथा मजदूरों के पारस्परिक विवादों के निर्णय के लिए हस्तक्षेप करेंगे। सम्पत्ति के समुचित वितरण हेतु अधिकाधिक कर लगाने का प्रबन्ध किया जाएगा।

(2) कल्याणकारी राज्य में विश्वास—वस्तुतः समष्टिवादियों का दृष्टिकोण व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद दोनों से भिन्न है तथा यह राज्य को कल्याणकारी संस्था मानते हैं जिसका लक्ष्य सार्वजनिक हित है, अतः राज्य को निषेधात्मक कार्यों के स्थान पर सकारात्मक एवं सामाजिक सुरक्षा के कार्य करने चाहिए।

(3) पूँजीवाद का विरोध—समष्टिवाद पूँजीवाद के विरुद्ध है और पूँजीवादी व्यवस्था पर इसका आरोप है कि इसने समाज को असंतुलित, अव्यवस्थित एवं विषम बना दिया है।

(4) उत्पादन तथा वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण—समष्टिवादी मानते हैं कि सामाजिक समानता और आर्थिक न्याय तभी सम्भव है जबकि सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाए। ये चाहते हैं कि उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य के स्वामित्व से लाभ राज्य कोष में होगा जिससे मजदूरों को उचित वेतन मिलेगा तथा विकास की सुविधाएँ प्रशस्त होंगी। ये वितरण व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण चाहते हैं ताकि सारे समाज को उससे लाभ मिल सके।

(5) जनतन्त्र एवं शांतिपूर्ण तरीकों में आस्था—समष्टिवादी जनतन्त्र, वैधानिकता एवं शांतिपूर्ण तरीकों में विश्वास करते हैं। ये यथार्थ में विकासवादी हैं और क्रान्ति के स्थान पर ये विकास के रास्ते को स्वीकार करते हैं। इनकी मान्यता है कि वयस्क मताधिकार से लोगों में चेतना आती है और बहुमत प्राप्त कर कानूनों में परिवर्तन लाया जा सकता है। यद्यपि ये आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में परिवर्तन चाहते हैं, तथापि इसके लिए संसद सबसे उपयुक्त स्थान है। ये पूँजीपतियों को मुआवजा देने के पक्ष में हैं और वैचारिक दृष्टि से इन्हें उदारवादी कहा जा सकता है, क्योंकि ये विचारक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संगठन निर्माण की स्वतन्त्रता, वयस्क मताधिकार एवं जनतान्त्रिक सरकार के पक्ष में हैं।

(6) आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों की अभिवृद्धि—चूँकि समष्टिवादी वैधानिक तरीके से पूँजीवादी व्यवस्था को परिवर्तित कर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना लाना चाहते हैं, अतः ये राज्य को इसके लिए साधन और माध्यम स्वीकार करते हैं। ये मानते हैं कि देश के सारे साधनों को राज्य के अधीन कर उनका उपयोग सुनियोजित ढंग से सामूहिक हित में किया जाए। समाज का दुर्बल वर्ग विशेष संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है। दुर्बल वर्ग के लोगों को राज्य की ओर से ज्यादा से ज्यादा सुविधाएँ प्राप्त हों, काम करने के घंटे कम हों, वेतन ज्यादा हो, सुविधाएँ अधिक हों एवं यथासम्भव इन्हें कर भार से मुक्त रखा जाए या कम से कम कर इन पर लगाए जाएँ। इसी प्रकार दूसरी ओर अधिक सम्पन्न व्यक्तियों पर उनकी सम्पन्नता के अनुपात में अधिक कर भार रखा जाए। समष्टिवादी अनुपार्जित आय पर अधिकाधिक कर लगाने के पक्ष में हैं।

(7) व्यक्ति और समाज के मध्य आंगिक सम्बन्धों की स्थापना—समष्टिवादी यूनानी विचारधारा से प्रभावित हैं जिसके अनुसार व्यक्ति और राज्य के मध्य किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है अर्थात् व्यक्ति का सर्वांगीण विकास राज्य के अन्तर्गत सम्भव है और दोनों का उद्देश्य भी एक है। समष्टिवादी व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को उसी प्रकार मानते हैं जिस प्रकार हमारे अंगों का हमारे शरीर से सम्बन्ध होता है।

आलोचना एवं मूल्यांकन—समष्टिवाद की दो दृष्टियों से आलोचना प्रस्तुत की जाती है—एक, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण एवं दूसरा, साम्यवादी दृष्टिकोण है। व्यक्तिवादी विचारकों का कथन है कि समष्टिवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है। उनके अनुसार, "व्यक्ति राज्य का दास बन जाएगा और समष्टिवाद एक गुलाम राज्य की स्थापना करेगा। समष्टिवादी चिन्तन को लागू करने से यह परिणाम निकलेगा कि आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता राज्य में केन्द्रित हो जावेगी, परिणामस्वरूप नौकरशाही को बढ़ावा मिलेगा और सत्तारूढ़ दल का अधिनायकत्व स्थापित हो जावेगा।" व्यक्तिवादी विचारक यह कहते हैं कि सामाजिक क्रियाकलाप राज्य के अधीन होने से व्यक्ति में कार्य करने की लगन एवं शक्ति का ह्रास होगा। आर्थिक क्षेत्र में समष्टिवादियों पर आरोप लगाया जाता है कि इनकी योजना से उत्पादन घट जाएगा और कोई ठीक ढंग से कार्य नहीं करेगा।

साम्यवादी दृष्टिकोण से समष्टिवाद पर आरोप लगाये जाते हैं। साम्यवादी मानते हैं कि समष्टिवादी आग से खेल रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी कमी यह है कि ये वर्ग संघर्ष में विश्वास नहीं रखते और राज्य को सार्वजनिक हित की संस्था मानते हैं। साम्यवादी कहते हैं कि संसदों और विधान सभाओं में आस्था रखना धोखा है, क्योंकि ये पूँजीपतियों की संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ पूँजीवाद का कभी खात्मा नहीं कर सकतीं, ये उनके द्वारा पोषित हैं। राज्य जो कि समाज के आर्थिक रूप से प्रबल वर्ग की कठपुतली है, वह भला कैसे सार्वजनिक हित में कार्य कर सकता है। इनका कहना है कि यथार्थ में समष्टिवाद पूँजीवाद का दूसरा रूप होगा और यह और खतरनाक है, क्योंकि यह गीदड़ का चोला पहना हुआ शेर है।

फैबियनवाद

(Fabianism)

फैबियनवाद एक विशुद्ध अंग्रेजी विचारधारा है जिसकी प्रवर्तक जनवरी 1884 में स्थापित एक फैबियन सोसाइटी थी। यह सोसाइटी कुछ ऐसे प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों द्वारा स्थापित की गई थी जो अपने क्षेत्र में ख्याति प्राप्त थे। इन पर

हैनरी जार्ज के सिद्धान्त, मार्क्स के सिद्धान्त एवं जॉन स्टुवर्ट मिल के व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत विकसित होने वाले समष्टिवाद का प्रभाव पड़ा था। जार्ज बर्नार्ड शा और सिडनी वैब जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति इसके प्रारम्भिक सदस्यों में से थे। अन्य सदस्यों में प्रो. ग्राहमवाला, एच. जी. वेल्स, श्रीमती एनीबेसेन्ट, कार्ल जेलास्की, विलियम क्लार्क, जे. आर. मैकडोनाल्ड थे। इस सोसाइटी ने समस्त शिक्षित मध्यवर्ग की जनता में समाजवाद को प्रसारित करना अपना लक्ष्य बनाया।

एडवर्ड आर. पीस ने अपनी पुस्तक 'History of the Fabian Society' में उस सामान्य समझौते का उल्लेख किया है जिससे प्रारम्भिक फैबियन समाजवादी प्रतिज्ञाबद्ध थे। उसके अनुसार, "इस सोसायटी के सदस्य यह मानते हैं कि प्रतियोगिता की प्रणाली में सुख-सुविधाएँ कम व्यक्तियों को मिलती हैं और अधिक जनता को कष्ट मिलता है, इसलिए समाज का पुनः संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि समाज के समस्त व्यक्तियों का सुख एवं कल्याण सुनिश्चित हो सके। शा द्वारा तैयार किए गए घोषणा-पत्र से जो सितम्बर, 1884 में स्वीकार किया गया, सोसाइटी ने स्पष्ट शब्दों में समाजवाद को स्वीकार किया और कहा कि भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और राज्य को प्रत्येक उत्पादन विभाग से अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतियोगिता करनी चाहिए।"[1] स्वयं जार्ज बर्नार्ड शा के अनुसार फैबियन लोग क्रान्तिकारी शब्दाडम्बर के विनाश का त्याग कर सामान्य पार्लियामेन्ट्री ढंग पर व्यावहारिक सुधार के लिए कठिन श्रम करने हेतु राजी हो गए।[2] सन् 1887 में फैबियनवादियों ने अपने समाज का उद्देश्य इन शब्दों में प्रकट किया—फैबियन समाज समाजवादियों का समाज है जिसका उद्देश्य समाज को पुनर्गठित करना है। यह नया संगठन भूमि तथा उद्योग धन्धों को व्यक्तिगत तथा वर्ग के स्वामित्व से बाहर निकाल कर समाज को उसका स्वामी बना कर किया जाता है जिससे सामान्य लाभ के लिए कार्य करे। इस रीति से ही प्राकृतिक तथा मनुष्य के द्वारा प्राप्त किए हुए लाभों का समस्त जनता में समानता के आधार पर वितरण किया जाता है। सिडनी वैब ने इतिहास को लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति बताते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन जनतन्त्रीय पद्धति द्वारा ही सम्भव हैं, क्योंकि वास्तविक परिवर्तन हृदय से होता है और जनतन्त्रीय पद्धति द्वारा ही हृदय परिवर्तन सम्भव है।

फैबियनवाद की विशेषताएँ—फैबियनवाद लोकतान्त्रिक समाजवाद में विश्वास रखता है। फैबियनवादी विचारक लोकतन्त्र और समाजवाद को एक-दूसरे का विरोधी नहीं, बल्कि पूरक मानते हैं। फैबियनवाद न तो मार्क्स को ही पूर्ण रूप से सही मानता है जो सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद पर आधारित है और न ही यह लोकतन्त्र का वह अर्थ लगाता है जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर सामाजिक विषमता को प्रोत्साहन मिलता है। यह हर प्रकार के विशेषाधिकारों एवं अनार्जित आय का विरोध करता हुआ, सामाजिक न्याय की व्यवस्था करता है।

फैबियनवादी उद्योगों के साथ-साथ भूमि का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं। बर्नार्ड शा ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भूमि का सार्वजनिक स्वामित्व समाजवाद की प्रथम दशा है। उनका कथन है कि विश्व के अधिकांश भाग का अब भी औद्योगीकरण नहीं हुआ है और इससे उन देशों में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का कोई औचित्य ही नहीं है। भूमि के राष्ट्रीयकरण से ही वहाँ की समस्याओं का समाधान सम्भव है। प्रो. कोकर के अनुसार, "राज्य (पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका के 19वीं सदी के प्रजातन्त्रीय राज्य) के द्वारा किए जाने वाले कार्य के औचित्य तथा प्रभावकारिता में अटल विश्वास था। यह राज्य जनता का प्रतिनिधि एवं संरक्षक, जनता का अभिभावक, व्यवसायी, प्रबन्धकर्ता, सचिव, यहाँ तक की उसका सहकार भी है। इन हैसियतों में वर्तमान राज्य बिना किसी क्रान्तिकारी परिवर्तनों के यदि निर्दोष नहीं तो कम से कम विश्वासपात्र अवश्य बनाए जा सकते हैं। मताधिकार का विस्तार करने, राज्य कर्मचारियों को विशेष रूप से सुदृढ़ बनाने और शिक्षा के सुयोग समान कर देने के सम्बन्ध में परिवर्तन कर देने की आवश्यकता है। इन सुधारों के अतिरिक्त राजनीतिक मशीनरी में कोई मौलिक परिवर्तन आवश्यक नहीं है। यदि प्रजातन्त्र के नागरिक इन सत्ताओं का, जो उनके पास हैं, पर्याप्त रूप में उपयोग करें तो वे अपनी राष्ट्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय सरकारों द्वारा शनैः-शनैः भूमि तथा औद्योगिक पूँजी दोनों से प्राप्त होने वाले आर्थिक लाभ को समाज के हाथों में सौंप सकेंगे।"[3]

फैबियनों की एक समाजवादी योजना है जिसके मुख्य तत्व हैं—(1) उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना, (2) उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत उपयोग की व्यवस्था, (3) इस व्यवस्था का निर्माण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रख कर, (4) सत्ता का विकेन्द्रित स्वरूप जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय और स्थानीय स्वामित्व की व्यवस्था, (5) भुखमरी एवं बेरोजगारी के विरुद्ध राज्य संरक्षण की गारन्टी, (6) सरकार पर श्रमिकों का वर्चस्व एवं (7) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समाजवादी उपयोग।

---

1. *Edward R. Pease* . History of the Fabian Society, p. 32.
2. *George Bernard Shaw, Sidney Webb, William Clark* - Fabian Essays in Socialism & Fabian Society Tracts, Vols. 1-2.
3. कोकर : वही, पृ. 101.

फेबियनवाद और मार्क्सवाद में समानता एवं अन्तर

फेबियनवाद मार्क्सवाद से प्रभावित है और दोनों में इस तथ्य पर सहमति है कि पूँजीवाद एक घृणित संस्था है
तथा इसको समाप्त करने की आवश्यकता है। दोनों एक शोषण-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज की स्थापना पर बल देत
है लेकिन दोनों में मूल अन्तर है जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक भी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से फेबियन लोग मार्क्स के
वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से सहमत नहीं है और न ही वे भविष्य में मध्यम वर्ग के साथ में [illegible] विश्वास रखते हैं। वे
राज्य के मुर्झा जाने में विश्वास नहीं रखते। वे इसे न केवल काल्पनिक एवं अव्यावहारिक मानते हैं बल्कि इसे
अनावश्यक भी समझते हैं। वे राज्य को समाज का मित्र मानकर चलते हैं और उसे सामाजिक गतिविधियों एव उनके
परिवर्तनों के केन्द्र में अवस्थित करते हैं। फेबियन मार्क्स के श्रम सम्बन्धी और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों के स्थान
पर समाज को वस्तुओं का मूल्य उत्पन्न करने का प्रधान कारण मानते हैं। वे यह कहते हैं कि मूल्य सामाजिक
परिस्थितियों की उपज है अतः उसमें होने वाली वृद्धि का लाभ समाज को मिलना चाहिए। फेबियन सर्वहारा वर्ग के
अधिनायकत्व में विश्वास नहीं रखते।

व्यावहारिक दृष्टि से दोनों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। फेबियन समाज परिवर्तन के लिए शान्तिपूर्ण तरीकों
को मान्यता देता है जबकि मार्क्सवादी इनकी सफलता में सन्देह करते हैं। फेबियनवादी विश्वास करते हैं कि धीरे धीरे
विकासवादी प्रक्रिया से जनतन्त्रात्मक एवं अहिंसात्मक मार्ग द्वारा समाजवाद की स्थापना हो सकती है। श्रीमती एनीबेसेन्ट
के अनुसार, 'ऐसी कोई रेखा-बिन्दु नहीं होगी जिसे पार कर समाज व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर अग्रसर होता है।
परिवर्तन सदैव अग्रिम दिशा की ओर होता रहता है और हमारा समाज समाजवाद के मार्ग पर सही बढ़ रहा है।

आलोचना एवं मूल्यांकन—फेबियनवाद की अनेक दृष्टियों से कटु-आलोचना की गई है। प्रोफेसर बार्कर के अनुसार,
"फेबियन समाज समाजवादी संगठन का सबसे कम स्पष्ट एवं अनिश्चित सिद्धान्त है। व्यावहारिक तथा सिद्धान्त रूप में
यह एक झूठे झंडे के नीचे है जो अपने उद्देश्यों के विषय में कोई सन्देह प्रकट नहीं करना चाहता। फेबियनवाद अपनी
सफलता के लिए चालाकी पर निर्भर करता है।" कहा गया है कि यह समाजवाद है ही नहीं, बल्कि एक उदारवादी
लोकतन्त्रवाद है, क्योंकि यह खुले रूप में शोषक वर्ग का मुकाबला करने के लिए कभी मैदान में उतरता ही नहीं, फिर
भी अपनी सफलता पर किंचित मात्र सन्देह नहीं करता। यह अपने बुद्धिचातुर्य से काम निकालता है और एक अर्थ में
यह खतरनाक सिद्धान्त है, क्योंकि यह शोषक वर्ग पर प्रहार नहीं करता और सहअस्तित्व की बात करता है। सहअस्तित्व
का सिद्धान्त तो केवल बुर्जुआ वर्ग के हित में ही जाता है और श्रमिक वर्ग इसके नीचे पिसता रहता है।

यह कहा जाता है कि फेबियनवाद उपदेशक अधिक है और कार्यक्रम में कम है। वेब ने कहा था कि फेबियनवाद
समाजवादी विचारों को समाज के सभी वर्गों के पास पहुँचाना चाहता है और उनके मस्तिष्क को बदलना चाहता है लेकिन
क्या समाजवादी विचारों की आवश्यकता बुर्जुआ वर्ग के लिए है? वह इन विचारों को क्यों स्वीकार करने लगा। हृदय
परिवर्तन और मस्तिष्क परिवर्तन की बातें थोथी नजर आती हैं, इसीलिए एंजिल्स ने फेबियनों को धार्मिक युग का उपदेशक
कहा है जो क्रान्ति से डरते हैं। यह सही है कि फेबियनवाद एक समाजवादी आन्दोलन के रूप में उभर कर सामने नहीं
आया। यद्यपि इसका समाजवादी चिन्तन को कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं है फिर भी समाजवादी इतिहास में इसको स्थान
प्राप्त है।[1] फेबियनवाद की देन यही है कि इसने समाजवाद को बौद्धिक धरातल प्रदान किया है और जो व्यक्तिवाद और
साम्यवाद से घिरे हुए थे उन्हें समाजवाद की ओर गम्भीरता से सोचने के लिए बाध्य किया है।

संशोधनवाद या पुनर्विचारवाद और बर्नस्टीन

(Revisionism and Edward Bernstien, 1850-1932)

कार्ल मार्क्स के बाद उसके दर्शन को लेकर उसके समर्थक कई गुटों में बँट गए। इसके अनेक कारण थे। मार्क्स
के उन देशों में रहने वाले अनुयायी जहाँ जनतंत्र अपनी जड़ें मजबूत कर चुका था, मार्क्स के कुछ सिद्धान्तों जैसे इतिहास
की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति की अपरिहार्यता आदि विचारों से आश्वस्त नहीं थे और वे मार्क्सवाद को
जनतान्त्रिक ढाँचे के अन्तर्गत ढालना चाहते थे। कुछ दूसरे अन्य समर्थक अपने-अपने देशों की भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक,
सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप मार्क्सवाद को ढालना चाहते थे। कुछ अन्य लोगों ने मार्क्स के सिद्धान्तों पर आपत्ति
प्रकट की। उन्होंने क्रान्ति के सिद्धान्त को एक विकासशील रूप देने का प्रयत्न किया, जबकि दूसरों ने इसके हिंसात्मक स्वरूप
को अधिक महत्व दिया। जिन लोगों ने मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पहलू की अपेक्षा उसके विकासवादी पहलू पर अधिक
जोर दिया और मार्क्सवाद को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार संशोधित करने का प्रयास किया, उनमें प्रमुख संशोधनवादी
(Revisionist) हैं। जिन लोगों ने मार्क्सवाद का संशोधन किया उनमें ज्यादा महत्वपूर्ण व्यक्ति एडवर्ड बर्नस्टीन है।
उन्हें तो संशोधन का जनक ही कहा गया है। यहाँ संशोधनवाद की परिभाषाएँ देना उपयुक्त रहेगा—

1 *Alexander Gray* : op cit, [illegible] 400

जोर्डन स्काफ के अनुसार, "पुनर्विचारवाद एक ऐतिहासिक विचार है जिसे प्रथम बार जर्मन सोशियल डेमोक्रेसी में गत शताब्दी के अंत में एडवर्ड बर्न्सटीन के कार्यों को प्रस्तुत किया गया था। ... शान्तिपूर्ण क्रान्ति विरोधी पुनर्विचारवाद मार्क्सवाद के संशोधन के कार्यों का आदर्श प्रस्तुत करता है।" कोकर के अनुसार, "एक संशोधनवादी के लिए समस्त व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए समाज का अर्थ है व्यक्तिगत पूँजीवाद पर राज्य का प्रतिबन्ध। यह प्रतिबन्ध व्यक्तिगत स्वामियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में राजकीय हस्तक्षेप का रूप ले सकता है अथवा पूँजी के किसी भाग विशेष में व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर राज्य के स्वामित्व की स्थापना का रूप ले सकता है।"[1]

एडवर्ड बर्न्सटीन के विचार—बर्न्सटीन का जन्म जर्मनी के बर्लिन नगर में हुआ था। जर्मनी में मार्क्सवादी प्रजातंत्र की विचारधारा बर्न्सटीन के जन्म के पहले ही प्रचारित थी और उसका नेतृत्व फर्डिनेन्ड लेसली कर रहे थे। लेसली Universal Germanmens Association का नेता था जिसका उद्देश्य समाज में वर्ग संघर्ष का शांतिपूर्ण, वैधिक एवं जनतांत्रिक पद्धति से दूर करना था। 1864 में लेसली की मृत्यु हो गई और लेबनिन और ले. बुकनेच ने संगठन का नेतृत्व किया। बर्न्सटीन 22 वर्ष की आयु में जर्मनी की Social Democratic Party में शामिल हो गया। 1878 में समाजवाद विरोधी कानून के पारित होने पर उसे जर्मन छोड़ना पड़ा और वह दो दशकों तक स्विट्जरलैण्ड और इंग्लैण्ड में निर्वासित रूप में रहा। इंग्लैण्ड में जब वह आया तो मार्क्स की मृत्यु हो चुकी थी, लेकिन उसने एंजिल्स से सम्पर्क बनाए रखा। वह इंग्लैण्ड में फेबियनों के सम्पर्क में भी आया। उसके विचारों का एक और संकलन है जिसका संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद 'Evolutionary Socialism' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसकी एक 'Problem of Socialism' नामक लेखमाला भी प्रकाशित हुई है।

बर्न्सटीन पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश को आवश्यक नहीं मानता था। वह मार्क्स की इस भविष्यवाणी से सहमत नहीं था कि विकास की अपनी प्रक्रिया के द्वारा पूँजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी है। बर्न्सटीन ने बताया कि जिस प्रकार से पूँजीवाद का विकास हो रहा है उसमें उसके विनाश के बीज नहीं हैं, इसलिए उसने जर्मन सामाजिक जनतांत्रिक दल को चेतावनी दी कि उसे ऐसी कोई योजना नहीं बनानी चाहिए जो इस मान्यता पर निर्मित हो कि पूँजीवाद का विनाश पूर्व निर्दिष्ट है। बर्न्सटीन ने मार्क्स की आलोचना करते हुए उसके चिन्तन में अनेक स्वप्नलोकीय तत्वों को ढूँढा। उसने लिखा कि "यद्यपि मार्क्स और एंजिल्स के मैनीफेस्टो में सामाजिक विकास की प्रक्रिया सही है, लेकिन उसका समय निर्धारण ठीक नहीं है। उसने कहा कि सामाजिक दशाएँ उस तरीके से नहीं बदलती हैं जिसका कि मैनीफेस्टो में उल्लेख किया गया है। बर्न्सटीन ने बताया कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी कि गरीब ज्यादा गरीब होते जाएँगे, गलत साबित हुई है। उसने बताया कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ छोटे-छोटे पूँजीपतियों का विकास हुआ है और मध्यम वर्ग की स्थिति भी सुदृढ़ हुई है।"[2] उसने कहा कि समाज में पूँजीपतियों के शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई है। उसने मार्क्स के इस कथन को गलत सिद्ध करने का प्रयास किया कि केवल श्रमिक वर्ग ही पूँजीपतियों के शोषण के विरुद्ध बगावत कर सकता है। उसने बताया कि पूँजीवाद से समाजवाद की ओर आवर्तन शनैः-शनैः होता है और समाज स्वयं पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध जाग्रत होता है। उसके कथन का सार यह था कि परिवर्तन की दिशा में केवल श्रमिक का ही नहीं अपितु सारे समाज का योगदान होता है, इसलिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की धारणा वृथा एवं अटपटी है।

बर्न्सटीन समाजवादी आन्दोलन को आधुनिक प्रजातांत्रिक आन्दोलन का अंग मानता था। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समाजवाद की स्थापना वर्ग संघर्ष का प्रतिफल नहीं होगी, बल्कि श्रमिक वर्ग को लोकतन्त्र की ओर मोड़कर उसके जीवन-स्तर को उन्नत करने से होगी। वह इस राय का था कि श्रमिकों में राजनीतिक जागृति आनी चाहिए तथा उन्हें अपने अधिकारों के लिए जागरूक रहना चाहिए। उन्हें अपने व्यावसायिक एवं औद्योगिक संगठनों को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

बर्न्सटीन समाजवाद और प्रजातन्त्र को एक-दूसरे का पूरक समझता था। उसके अनुसार, "बिना कुछ प्रजातान्त्रिक परम्पराओं एवं संस्थाओं के आज का समाजवादी सिद्धान्त वास्तव में सम्भव नहीं होगा। निःसन्देह मजदूर आन्दोलन तो होगा, किन्तु सामाजिक प्रजातन्त्र नहीं। आधुनिक समाजवादी आन्दोलन और उसकी सैद्धान्तिक व्याख्याएँ फ्रांस की महान् क्रान्ति तथा औचित्य की उन भावनाओं का प्रतिफल है जो उस क्रान्ति के द्वारा मजदूरों के आन्दोलन तथा मजदूर आन्दोलन में सामान्यतः स्वीकार कर ली गई है। प्रजातन्त्र और समाजवाद में परस्पर अन्तर्विरोध नहीं है। प्रजातन्त्र समाजवाद की शर्त है। प्रजातन्त्र समाजवाद का केवल साधन ही नहीं उसका सार भी है।"[3] बर्न्सटीन ने मार्क्स द्वारा की गई इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को संकीर्ण बताया। उसने बताया कि समाज की प्रगति का आधार उत्पादक शक्तियाँ ही नहीं है, बल्कि कानूनी व्यवस्थाओं, नैतिक मान्यताओं, आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। निःसन्देह मार्क्स और एंजिल्स ने इनको गौण तत्वों के रूप में अवश्य स्वीकार किया था, लेकिन

1. कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 107.
2. *Edward Bernstien* : Evolutionary Socialism, p. 9.
3. *Bernstien* : Evolutionary Socialism, p. 166.

बर्नस्टीन ने इन्हें अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसने अपनी पुस्तक 'Evolutionary Socialism' में लिखा है कि "आधुनिक समाज प्रारम्भिक समाजों के आदर्शों से कहीं अधिक ऊँचा उठा हुआ है। ये आदर्श आर्थिक तत्वों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि विज्ञान, कला तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध भी इन आदर्शों के क्षेत्र में आते हैं। ये विभिन्न तत्व आज आर्थिक तत्वों पर इतने आधारित नहीं हैं जितने प्राचीन काल में थे। आधुनिक आदर्शों का विशेषकर नैतिक आदर्शों का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है, वे आर्थिक तत्वों पर आधारित नहीं हैं।"

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की भी बर्नस्टीन ने आलोचना की है। बर्नस्टीन का कथन है कि "जिस प्रकार अणु सिद्धान्त किसी शिल्पकला के सन्दर्भ या कुरूपता को नापने के लिए अक्षम है उसी प्रकार मार्क्स का श्रम सिद्धान्त श्रम के उत्पादन को बाँटने एवं न्याय अन्याय को मापने में अक्षम है।"[1] प्रो. कोकर ने बर्नस्टीन द्वारा मार्क्स के मुख्य सिद्धान्त की आलोचना को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त का खण्डन करते समय बर्नस्टीन ने उस भ्रान्ति की ओर निर्देश किया जो 'कैपीटल' ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में मार्क्स के मत परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है। 'कैपीटल' के इस खण्ड में बाजार मूल्य को उत्पादन की लागत के, जिसमें औसत मुनाफा भी सम्मिलित है, के बराबर माना गया है, किन्तु पहले के खण्डों में विनिमय-मूल्य (Exchange Value) उसी के बराबर माना गया है जो उत्पादन में लगाए गए श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। समस्त पूँजी का सामाजिक मूल्य उस समस्त श्रम-काल के बराबर है जो उसके उत्पादन में लगा है और पूर्ण उत्पादन पूर्ण मजदूरी से जितना अधिक है वह पूर्ण सामाजिक बढ़ोतरी (Surplus) है जो श्रमिक द्वारा उत्पन्न की गई है, परन्तु जो उससे अन्यायपूर्वक छीन ली गई है। बर्नस्टीन का यह विचार था कि श्रम निर्मित मूल्य के किसी भी सिद्धान्त के आधार पर हम वितरण के लिए उपयुक्त प्रणाली स्थापित नहीं कर सकते। मूल्य सिद्धान्त श्रम के उत्पादन के विभाजन में न्याय या अन्याय का निर्णय करने के लिए किसी आदर्श को स्थापित करने में उतना ही असमर्थ है, जितना किसी मूर्ति की सुन्दरता या कुरूपता का निर्णय करने के लिए अणु-सिद्धान्त (Atomic Theory)। आज जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) की दर ऊँची है वहाँ उनमें श्रेष्ठतम अवस्था वाले मजदूर दिखाई देते हैं और जिन उद्योगों में अतिरिक्त मूल्य की दर निम्न है उनमें मजदूर दलित अवस्था में हैं। साम्यवाद या समाजवाद के लिए वैज्ञानिक आधार का समर्थन इससे प्राप्त नहीं किया जा सकता कि मजदूर को उसके काम की उपज का पूर्ण मूल्य प्राप्त नहीं होता। संशोधनवादी सामान्यतः मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त को अस्वीकार करने में बर्नस्टीन का अनुसरण करते थे। जहाँ तक उस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य मजदूरों के प्रयत्नों से निर्धारित होता है और जिस अतिरिक्त मूल्य का पूँजीपति शोषण करते हैं उसका निर्धारण उस अतिरिक्त भाग से होता है जो उत्पादन में से मजदूरी देने के बाद बचा रहता है परन्तु वे इसका खण्डन नहीं करते कि अतिरिक्त मूल्य होता है या अतिरिक्त भाग उस बढ़ोतरी का बनता है जो पूँजीपति को वस्तुओं की बिक्री से धन प्राप्त होता है उसमें से जो धन वे वस्तुओं को मूल्य देने में खर्च करते हैं, उसे घटाकर बचती है।

आलोचना एवं मूल्यांकन—संशोधनवादियों की, जिनमें बर्नस्टीन प्रमुख है आलोचना फैबियनों की तरह व्यक्तिवादी और साम्यवादी दोनों दृष्टियों से की जा सकती है। व्यक्तिवादी उन पर व्यर्थ में समाजवाद को उदारवाद से जोड़ने के प्रयास करने का आरोप लगाते हैं। उनका कथन है कि संशोधनवादियों ने उदारवादी चिन्तन को समाजवाद से सम्बद्ध कर इसे भ्रमित किया है। उग्र समाजवादी और साम्यवादी आलोचक संशोधनवादियों पर यह आरोप लगाते हैं कि इन्होंने समाजवाद को लाने के लिए सक्रिय कदम नहीं उठाया। इन्होंने कुछ मूलभूत तत्वों जैसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व आदि को ठुकरा कर, समाजवाद के सार को भुला दिया है और अपनी बौद्धिक प्रखरता के आधार पर समाजवाद का नाम लेकर प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था के औचित्य को बनाए रखा है। मार्क्स पर प्रहार करने के कारण बर्नस्टीन को पुरातनपंथी, मध्य विक्टोरियन उदारवाद से सम्बद्ध कर दिया गया है।[2] इन आलोचनाओं के बावजूद बर्नस्टीन का अनेक देशों के समाजवादी आन्दोलन पर गहन प्रभाव पड़ा है। उसका जर्मन सामाजिक जनतन्त्र पर गहरा प्रभाव रहा है और आज भी यह वृद्धि की दिशा में है, यद्यपि हिटलर के शासन-काल में उसे गहरा धक्का लगा था। उसने समाजवाद को उन्नत कर आदर्श की अवस्था में पहुँचाया और यह जर्मन सामाजिक जनतन्त्र के कार्यक्रम का अंग भी बना। अलेक्जेण्डर ग्रे ने उसे क्रान्तिवादी तक बता दिया जिसने एक यथार्थवादी की दृष्टि से समाजवाद को देखा और इसे सुरक्षित बनाने के लिए मार्क्स का संशोधन भी कर दिया।[3] उसने समाजवाद को जनतन्त्र के साथ जोड़कर अनेक जनतन्त्रीय देशों में इसे सम्मानजनक सिद्धान्त बना दिया। अन्त में, बर्नस्टीन की एक बहुत बड़ी देन यह कही जा सकती है कि उसने समाजवाद को लाने के लिए क्रान्ति की धारणा को अनावश्यक ही नहीं बताया, बल्कि मार्क्स के इस सिद्धान्त को कि प्रगति सामाजिक परिस्थितियों के विघटन पर आधारित है, गलत साबित करने का प्रयास किया।

1 *Edward Bernstein* : Evolutionary Socialism, p. 37
2 *Gray, Alexander* : The Socialist Tradition, p. 406
3 *Gray Alexander* : The Socialist Tradition, p. 408

उपलब्ध होने चाहिए। प्रोफेसर कोकर के अनुसार, इस प्रकार फासिज्म की सम्पूर्ण विचारधारा में प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य तथा दुर्निवार शासन के विचारों का प्राधान्य है। राष्ट्र के सर्वशक्तिमान श्रेणीबद्ध संगठन द्वारा व्यक्तियों के समस्त विशिष्ट हितों का दमन होना चाहिए। नागरिकों के राजनीतिक दायित्व उनके अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यह फासिस्ट सर्वसत्तावाद (Totalitarianism) है जो व्यक्ति के जीवन के किसी भी क्षेत्र को राज्यसत्ता से वियुक्त नहीं मानता।

फासिस्टों ने लोकतन्त्रवादियों द्वारा प्रतिपादित 'स्वतन्त्रता', समानता' और 'भ्रातृत्व' के स्थान पर 'दायित्व' 'अनुशासन' और 'श्रेणीबद्ध संगठन' ये तीन नारे दिए। उन्होंने बतलाया कि इटली को कानून, व्यवस्था और कार्यकुशलता की आवश्यकता है और न कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के घिसे-पिटे और अर्थहीन नारों की। उन्होंने यह कहा कि वास्तविक स्वतन्त्रता ऐसी राजनीतिक प्रणाली के अन्दर सम्भव है जो दृढ़ता के साथ इन तीनों नारों को लागू कर सके।[1]

राष्ट्रीय समाजवाद या नाजीवाद

(National Socialism or Nazism)

नाजीवाद और फासीवाद में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। जर्मनी, जहाँ नाजीवाद पनपा और फासीवाद के घर इटली की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों के अनुरूप ही ये दो विचारधाराएं ढाली गई हैं। दोनों देशों की परिस्थितियों में बहुत कुछ अनुरूपता थी, अतः दोनों विचारधाराओं में समानता है। दोनों में जो अन्तर कहा जा सकता है वह दो देशों की परिस्थितियों के अन्तर का परिणाम हो सकता है, लेकिन यह अन्तर मौलिक नहीं है।[2]

जर्मन परिस्थितियाँ एवं नाजीवाद

जर्मनी प्रथम विश्व युद्ध में पराजित होकर 1919 को वर्साय की संधि को मानने के लिए मजबूर किया गया था। यह संधि आरोपित संधि थी। जर्मनी को इस संधि के परिणामस्वरूप भयंकर आर्थिक, क्षेत्रीय एवं सामरिक हानि के साथ उसके राष्ट्रीय स्वाभिमान को जबरदस्त चोट पहुँचाई गई थी। जर्मन राष्ट्र तिलमिला उठा था उसकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो चली थी। वर्साय संधि के उपरान्त सरकारें अस्थिर हो गई थीं, वे कोई भी राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान ढूँढने में समर्थ नहीं थी। उसे एक ऐसे नेता की आवश्यकता थी जो राष्ट्रीयता के उबलते हुए खून को खौला सके और राष्ट्रीय शक्ति को संगठित कर अपने खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त कर सके। 1920 में जर्मन मजदूर दल का संगठन किया गया जिसने राष्ट्रीय समाजवाद अथवा नाजीवाद को जन्म दिया। परिस्थितियों के कारण मजदूर दल की प्रकृति समाजवादी न होकर अधिकाधिक राष्ट्रीय होती चली गई और एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में इसे जातीय रंग भी मिल गया। इसने जर्मन जाति को आर्य जाति घोषित किया और उसके झण्डे के नीचे सभी गैर यहूदी को एकत्रित किया गया। हिटलर ने सभी वर्गों—किसान, मजदूर, छोटे एवं बड़े पूँजीपतियों, उद्योगपतियों, वेतनभोगी, कर्मचारियों, बुद्धिजीवियों आदि सभी से राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया से सम्बद्ध करने का झूठा वायदा किया। यह मजदूर दल आगे चल कर राष्ट्रीय समाजवादी दल कहलाया जिसे 1920 के चुनाव में जर्मन संसद में 12 स्थान प्राप्त हुए, लेकिन इसके उपरान्त इसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। 1930 में इस दल को 130 स्थान मिल गए। सन् 1932 में तो यह जर्मनी का सबसे बड़ा राजनीतिक दल बन गया, इसे संसद में 37 प्रतिशत मत एवं 230 स्थान प्राप्त हुए। हिटलर प्रभावशाली और कुशल नेता सिद्ध हुआ। उसने अपने धुंआधार प्रचार कार्य में वर्साय की संधि की भर्त्सना की एवं जर्मनी को गौरवशाली बनाने पर जोर दिया। उसने जर्मनी को एक सामरिक शक्ति बनाने पर बल दिया और साथ ही माँग की कि क्षतिपूर्ति की शर्तें समाप्त कर दी जाएं एवं यहूदियों को जर्मनी से निकाल बाहर किया जाए। उसका प्रभाव इस सीमा तक बढ़ गया कि उसे 29 जनवरी, 1933 को जर्मनी का चांसलर बनने के लिए आमन्त्रित किया गया। एक बार सत्ता प्राप्त करने के बाद, उसने सर्वाधिकारी राज्य की स्थापना की और स्वयं वहाँ का तानाशाह बन गया। नाजीवाद की परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में हुई, क्योंकि हिटलर का उद्देश्य युद्ध के संसार में जर्मन आधिपत्य को स्थापित करना था। हिटलर की यहूदी, हुई, शक्ति, वर्साय, की, संधि, ने, समाज, नस्ले, के, लिए, खतरा, थी। द्वितीय विश्व युद्ध जिसे उसने प्रारम्भ किया था, प्रारम्भिक वर्षों में हिटलर एवं मुसोलिनी के पक्ष में रहा, लेकिन धीरे धीरे स्थिति बदल गई। 1945 का अप्रैल माह निर्णायक सिद्ध हुआ। मित्र राष्ट्रों ने जर्मन जनरलों को आत्म-समर्पण के लिए बाध्य कर दिया। हिटलर ने 30 अप्रैल, 1945 को दुर्गति से बचने के लिए आत्महत्या कर ली।

नाजीवाद के सिद्धान्त—नाजीवाद के सिद्धान्त एवं स्रोत वही हैं जो कि फासीवाद के हैं। जिन परिस्थितियों में इन विचारधाराओं का उदय हुआ वे भी समान थीं। यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध में इटली जिन राज्यों के साथ था, लेकिन उसके साथ किए गए वायदे पूरे न किए जाने के कारण वह घोर असन्तुष्ट था। प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त वहाँ की स्थिति काबू के बाहर हो चली थी। आर्थिक स्थिति बिगड़ गई थी और इसके साथ ही राजनीतिक अस्थिरता आ गई थी। जर्मनी प्रथम विश्व युद्ध में पराजित हुआ था। दोनों ही देशों की आर्थिक स्थिति बिगड़ चुकी थी, सरकारें इसे नियन्त्रण में लाने में असमर्थ थीं, जनसाधारण क्षुब्ध एवं उत्तेजित था, वर्साय की सन्धि को राष्ट्रीय असम्मान समझा जाता था लेकिन

---

1 कोकर - आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ. 504

2 Coker Recent Political Thought, p 486.

जर्मन राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि कुछ पृथक् और अनेक तत्वों से मिश्रित थी। जातीय श्रेष्ठता और विस्तारवाद के मध्य में नाजी राज्य है जो नाजीवाद की मूल संस्कृति है। नाजी राज्य एक सर्वाधिकारी राज्य था जिसका लक्ष्य साम्राज्य विस्तार था। हिटलर ने अपनी आत्मकथा 'मेन केम्फ' में शिक्षण संस्थाओं, समाचार-पत्रों, चलचित्रों आदि पर राज्य के पूर्ण नियन्त्रण की बात कही है। उसने रक्त की शुद्धता पर जोर दिया है। उसका कथन है कि "प्रत्येक लड़के-लड़की को इस तथ्य का अहसास होना चाहिए और जब तक उसे यह ज्ञान न हो जाए, उसे स्कूल अथवा कॉलेज छोड़ने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। इतना ही नहीं हिटलर ने कला पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर दिया। उसने कहा कि "सर्वाधिकारी राज्य कला से पृथक् अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। उसकी माँग है कि कलाकारों को राज्य के प्रति सकारात्मक नीति अपनानी चाहिए।" रोजनबर्ग ने तो यहाँ तक कह दिया था कि "जर्मन विश्वविद्यालयों से बिना किसी मर्यादा के अध्ययन की *दिखावटी स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जानी चाहिए और उसके स्थान पर सच्ची स्वतन्त्रता अर्थात् राष्ट्र की सजीव शक्ति बनाने* की स्वतन्त्रता प्रतिस्थापित कर दी जानी चाहिए, ऐसा हिटलर के अधीन जर्मनी में कर दिया गया।"

विज्ञान और अर्थव्यवस्था नाजी राज्य में मर्यादित थी। अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से राज्य के अधीन थी। राज्य ने समस्त अर्थव्यवस्था को जैसा चाहा काम में लिया। अर्थव्यवस्था युद्ध-अर्थव्यवस्था थी और इसी दृष्टि से उत्पादन होता था। सारे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन की स्वायत्तता नष्ट कर दी गई थी। इनका उपयोग नाजीवाद के समर्थन के लिए किया जाता था। नाजीवाद जैविक सिद्धान्त की दृष्टि से राष्ट्र को एक जीव मानता है और जीव को जीवित रखने के लिए उसका पोषण आर्थिक समृद्धि एवं विकास उसका विस्तार मानता है। इस प्रकार का विस्तार एक राष्ट्र को जीवित रखने के लिए आवश्यक है। नाजीवाद सीमोल्लंघन में विश्वास करता है। वह राज्य की कोई निश्चित सीमा नहीं मानता। प्रो. सेबाइन ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्राणवान राज्य इस बात के लिए बाध्य होते हैं कि वे अपने स्थान का विस्तार करें। राज्य की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। उसकी एक अस्थायी सीमा-रेखा होती है। वह सतत् विकास में शांति का एक बिन्दु मात्र होती है। श्रेष्ठ सीमान्त वह है जो विकास के अनुकूल हो, जो दूसरे राज्यों में प्रवेश करने तथा सीमा-घटनाओं को बढ़ावा देने के लिए अनुकूल होता है। प्रगति संघर्ष के माध्यम से ही होती है। श्रेष्ठ जाति हीन जातियों का शोषण करके अपने जीवन-स्तर को ऊँचा रखे और हीन एवं अधीनस्थ जातियों को इस बात के लिए विवश कर दिया जाए कि वे बहुत हल्के स्तर का जीवन बिताएँ। एक शक्ति सारे संसार पर शासन स्थापित करे। सारा संसार नियन्त्रण के कुछ क्षेत्रों में बाँट दिया जाए और प्रत्येक क्षेत्र पर एक नियन्त्रणकारी शक्ति शासन करे।

आलोचना एवं मूल्यांकन—फासीवाद एवं नाजीवाद कोरे राजनीतिक दर्शन कम और राजनीतिक तिकड़म अधिक हैं। सेबाइन के अनुसार, *कुछ लोगों के मत में, फासिस्टवाद और राष्ट्रीय समाजवाद (हिटलरवाद) दर्शन नहीं है।* उनकी पद्धतियों में भीड़ के मनोविज्ञान और आतंक का चित्रण था। उनके नेताओं का एक ही उद्देश्य था—शक्ति को प्राप्त करना और उसे बनाए रखना। फासीवादी और नाजीवाद घोर असहिष्णु हैं। इनके अनुसार सारा सत्य केवल इनके चिन्तन में है, शेष सब मिथ्या है और इनके विचार में जो इनके साथ नहीं हैं वे घोर शत्रु हैं इसलिए उनका खात्मा करना आवश्यक है।

दोनों फासीवाद और नाजीवाद जातीयता के पोषक और लोकतन्त्र के विरोधी हैं। यद्यपि फासीवाद के लिए इतना नहीं कहा जा सकता जितना की नाजीवाद के लिए कि यह जातीयता का पोषक है : मुसोलिनी श्रेष्ठ व्यक्तियों (Elites) *की बात करता था और केवल उन्हें ही शासन-प्रक्रिया से सम्बद्ध करना चाहता था। उसने सर्व-साधारण को तिरस्कृत भाव* से देखा। दोनों ही विचारधाराएँ लोकतन्त्र की घोर विरोधी हैं। दोनों ही विचारधाराएँ युद्ध और हिंसा पर जीवित हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इनका भोजन युद्ध और हिंसा है। द्वितीय विश्व महायुद्ध इन दोनों विचारधाराओं के उत्कर्ष का ही परिणाम रहा है। ये नीत्शे के पशु महामानव के विकास के लिए 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' का डार्विनवादी कार्यक्रम प्रस्तुत करती है। नाजीवाद को राष्ट्रीय समाजवाद कहा गया है लेकिन इसका स्वरूप न राष्ट्रीय है और न समाजवादी। यह हिटलरवाद है जो एक व्यक्ति की तानाशाही का दूसरा नाम है। इसकी शब्दावली में राष्ट्रीयता का *अर्थ आर्य-जाति की प्रभुता* से है और समाजवाद का अर्थ जर्मन सर्वहारा राष्ट्र के विकास पर आच्छादित वर्चस्व से है। सच तो यह है कि यहाँ राष्ट्रीयता और समाजवाद दोनों ही शब्दों का अर्थ बदल गया है। फासीवाद और राष्ट्रीय समाजवाद की प्रशंसा सैद्धान्तिक स्तर पर करना कठिन प्रतीत होता है। इनके प्रभाव के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त इटली और जर्मनी में उत्पन्न स्थिति का सामना केवल मुसोलिनी और हिटलर जैसे तानाशाह ही कर सकते थे। जब प्रतिनिधि संस्थाएँ तथा उदार राजकीय नीतियाँ इच्छा-शक्ति और कार्य-शक्ति के अभाव में विफल रहती हैं अथवा साम्प्रदायिक हितों के सामने राष्ट्रीय हितों की हत्या होने देती हैं, तब जनता किसी भी ऐसे व्यक्ति के निरंकुश शासन में रहने के लिए तैयार हो जाती है, जो चाहे *जिस प्रकार सत्ता हस्तगत करे और चाहे जिस प्रकार शासन करे, परन्तु सुव्यवस्था कायम रख सके,* सुशासन स्थापित कर सके और देश के अन्दर और बाहर उसके लिए आदर प्राप्त कर सके।

हिटलर और मुसोलिनी ने अल्प समय में जो कुछ क्रमशः जर्मनी और इटली को दिया वह शायद किसी भी व्यवस्था के अन्तर्गत कदापि सम्भव नहीं है। जर्मनी और इटली का इतना जबरदस्त आर्थिक और सामरिक निर्माण हुआ

यूरोप और विश्व इनसे थर्रा उठे। इन देशों के निवासियों में एक नवीन आध्यात्मिक एकता का निर्माण किया गया और जनता में अभूतपूर्व जोश का संचार हुआ। इस ऐतिहासिक सफलता का श्रेय फासिस्ट और नाजी दलों के उत्तम संगठनों एवं मुसोलिनी और हिटलर के प्रभावशाली नेतृत्व को है। तानाशाही राष्ट्र को तीव्रगति से आर्थिक और सामरिक निर्माण भी कर सकती है और फिर उसे गर्त में ले भी जा सकती है—इन दोनों का सबूत हमें फासीवाद और नाजीवाद में मिलता है।

मार्क्सवाद
(Marxism)

मार्क्सवाद समाजवाद की चरम सीमा है। समाजवाद को चरम सीमा पर लाने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है। इसमें एंजिल्स की भी अहम भूमिका मानी जाती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार, "साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ में अवश्य ही एक पद्धति या सिद्धान्त है। यह उन नियमों को स्थापित करता है जिनके द्वारा पूँजीवादी को समाजवाद में बदला जा सकता है।"

मार्क्सवाद की विशेषताएँ—मार्क्सवाद की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(1) मार्क्स का समाजवाद इतिहास के विकास और उसकी भौतिकवादी व्यवस्था पर आधारित है (2) यह सामाजिक परिवर्तन के नियमों की व्याख्या करता है (3) मार्क्सवाद एक भौतिकवादी विचारधारा है, (4) इस वाद के अनुसार पदार्थ ही विचारों के स्रोत होते हैं एवं (5) यह वाद वर्ग-संघर्ष पर आधारित एक अधिनायकवादी शासन व्यवस्था है।

मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त—इस विचारधारा के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, (2) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, (3) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, (4) वर्ग संघर्ष, (5) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एवं (6) साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना।

मार्क्सवाद के प्रमुख ग्रन्थ—मार्क्सवाद के प्रमुख ग्रन्थ हैं—(1) साम्यवादी घोषणा-पत्र, (2) कार्ल मार्क्स : वैल्यू, प्राइस एण्ड प्रोफिट, 1865 (3) एन्जिल्स : सोशियोलिज्म यूटोपियन एण्ड साइन्टिफिक, 1880 एवं (4) दास कैपीटल।

अराजकतावाद
(Anarchism)

इस विचारधारा के प्रतिपादक एवं समर्थक विलियम गॉडविन हैं। इसके अन्य समर्थक जोसेफ प्रौधों, माइकिल बाकुनिन, पीटर क्रोपोटकिन हैं। फ्रांसिस कोकर के अनुसार, "अराजकतावादी सिद्धान्त के अनुसार राजनीतिक सत्ता किसी भी रूप में अनावश्यक एवं अवांछनीय है। आधुनिक अराजकतावाद में राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था का विरोध तथा संगठित धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता का भाव भी समाविष्ट है।"

अराजकतावाद की मान्यताएँ—अराजकतावाद की मान्यताएँ इस प्रकार हैं—(1) यह विचारधारा सम्पत्ति का विरोध करती है (2) यह विचारधारा राज्य विहीन समाज की स्थापना करना चाहती है (3) यह विचारधारा धर्म का विरोध करती है (4) इस विचारधारा के अनुसार मानव स्वभाव से अच्छा है सहयोगी है एवं सामाजिक है (5) यह विचारधारा स्वतन्त्रता एवं समानता में विश्वास करती है एवं (6) यह विचारधारा सहकारिता के आधार पर ऐच्छिक एवं अस्थायी समुदाय का निर्माण करने में विश्वास करती है।

इस प्रकार अराजकतावाद राज्य सम्पत्ति तथा धर्म के अस्तित्व का विरोधी है।

गाँधीवाद
(Gandhism)

गाँधीवाद, जीवन के अनेक क्षेत्रों में महात्मा गाँधी के राजनीतिक, तात्विक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक मान्यताओं एवं अभिप्रायों का विश्लेषण है। गाँधीवाद में सिद्धान्त भी है और व्यवहार भी है। गांधीवाद के मूलभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(1) ईश्वर सभी प्रकार के मूल्यों का आधार है अतः इसकी सत्ता में दृढ़ आस्था (2) मानवीय आत्मा की समानता में विश्वास रखना, (3) सत्याग्रह क्रान्ति का अस्त्र (4) सामूहिक अहिंसा का सिद्धान्त, (5) मनुष्य के शरीर, मन एवं आत्मा की अखण्डता का सिद्धान्त, (6) समाज, राज्य अथवा किसी संस्था का हित उन व्यक्तियों से अलग नहीं है जिनसे उसका निर्माण हुआ है (7) साध्य से साधन का अधिक महत्व है क्योंकि साध्य दिशा प्रदान करता है तो साधन का सम्बन्ध साक्षात् रूप में जीवन से है एवं (8) अन्तः अनुभूति ज्ञान का उच्चतम रूप है। डॉ. राममनोहर लोहिया के अनुसार, महात्मा गाँधी दार्शनिक-उदारवादी तथा बहुलवादी थे। वस्तुतः महात्मा गाँधी का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन में तरह-तरह की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान से था। उनकी बुद्धि आध्यात्मिक रहते हुए भी व्यावहारिक थी। गाँधीवाद के प्रमुख व्याख्याकारों में पं. जवाहरलाल नेहरू, डॉ. राममनोहर लोहिया, आचार्य कृपलानी, आचार्य विनोबा भावे एवं चक्रवर्ती राजगोपालाचारी मुख्य हैं।

□□□

8

शक्ति तथा अधिमत्य के सिद्धान्त

(Theories of Power and Hegemony)

अभिजन सिद्धान्त, समूह सिद्धान्त और शक्ति सिद्धान्त, ये तीनों सिद्धान्त अमेरिका में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बहुत लोकप्रिय हुए और प्रत्येक ने अपने आप में एक सम्पूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त होने का दावा किया।[1] अभिजन सिद्धान्त का आधार था कि प्रत्येक समाज में दो अलग-अलग वर्ग होते हैं—(1) कुछ ऐसे थोड़े व्यक्ति जिनके पास क्षमता होने से उन्हें समाज में नेतृत्व का अधिकार मिला होता है एवं (2) असंख्य ऐसे जन साधारण हैं जो भाग्य से उनके नेतृत्व के समाज में शामिल होना लिखा कर आए हैं।

इनमें प्रथम वर्ग अभिजनों का कहलाता है। राजनीतिक अभिजन सिद्धान्त का विकास 1950 के दशक में अमेरिका में समाज विज्ञानियों शुम्पीटर जैसे अर्थशास्त्रियों, लावेस जैसे राजनीति वैज्ञानिकों और सी. राइट मिल्स जैसे समाजशास्त्रियों के द्वारा विभिन्न रूपों में हुआ और उसके सूत्र फासीवाद के पूर्व अनेक यूरोपीय विचारकों द्वारा शुरू हुए थे। इनमें इटली के निवासी बिलफ्रेडो पैरेटो और गोटानो मास्का स्विस-जर्मन, राबर्ट मिचेल्स और स्पेनवासी जॉर्ज आर्टेगा वाई. गैसेट प्रमुख थे। पैरेटो (Pareto) की मान्यता थी कि प्रत्येक समाज का शासन एक ऐसे अल्पसंख्यक वर्ग के हाथों में होता है जिसके पास सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक सत्ता पर अधिकार स्थापित कर लेने के आवश्यक गुण होते हैं।

पैरेटो (Pareto)

पैरेटो के अनुसार जो लोग समाज और राज्य के उच्चतम शिखरों व स्थानों पर पहुँच जाते हैं, वास्तव में वे सर्वश्रेष्ठ होते हैं। इन लोगों को 'अभिजन' का नाम दिया गया है। अभिजन वर्ग में उन सभी सफल व्यक्तियों को गिना जा सकता है जो प्रत्येक धन्धे में तथा समाज के प्रत्येक स्तर पर शिखर तक पहुँच जाते हैं। पैरेटो के अनुसार डॉक्टरों, वकीलों, वैज्ञानिकों एवं चोरों और वेश्याओं के भी अभिजन होते हैं। वह यह मानता है कि विभिन्न व्यवसायों और सामाजिक स्तरों पर मिलने वाले अभिजन सामान्यतया समाज के एक ही वर्ग से बनते हैं—जो अमीर है वही बुद्धिमान भी है और जो बुद्धिमान है उसके पास गणित को समझने, संगीत में पारंगत होने तथा उच्च नैतिक चरित्र रखने आदि की क्षमता होती है। पैरेटो के अनुसार समाज में दो वर्ग होते हैं—(1) एक उच्च वर्ग जिसे हम अभिजन वर्ग कहते हैं और जो शासक अभिजन और शासन के बाहर के अभिजन इन दो उपवर्गों में बाँटे जा सकते हैं (2) एक निम्न वर्ग अथवा गैर अभिजन वर्ग है। इनमें पैरेटो के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु शासक अभिजन वर्ग था, जिसके बारे में पैरेटो का विश्वास था कि वह बल प्रयोग और चालाकी दोनों के मिश्रित आधार पर शासन करता है। उसने इन दोनों में से बल प्रयोग को अधिक महत्व दिया है।

सिद्धान्त के मूल स्रोत—पैरेटो ने अभिजन वर्ग में परिवर्तन होते रहने की संकल्पना का विकास किया। उनके अनुसार इतिहास कुलीन वर्गों का श्मशान है। प्रत्येक समाज में व्यक्ति और अभिजन अनवरत रूप से उच्च स्तर से निम्न और निम्न से उच्च स्तर की ओर जाते रहते हैं अतएव पैरेटो को सबसे अधिक चिन्ता यह थी कि अभिजन वर्ग के नष्ट हो जाने के कारण समाज में जो असन्तुलन पैदा हो जाता है उसे किस प्रकार से रोका जाए। इसने अपनी रचनाओं में अभिजन वर्ग में होने वाले भिन्न प्रकार के परिवर्तनों एवं प्रत्यावर्तनों की बात कही है। उसके अनुसार कभी शासक वर्ग के विभिन्न समूहों तक परिवर्तन की यह प्रक्रिया सीमित रहती है और कभी अभिजन वर्ग तथा गैर अभिजन वर्ग के बीच परिवर्तन एवं प्रत्यावर्तन होता दिखाई देता है। दूसरे प्रकार के परिवर्तन में व्यक्ति निम्न स्तर से ऊपर उठकर तत्कालीन अभिजन वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और निम्न वर्ग के व्यक्ति मिलकर नये अभिजन वर्गों का निर्माण करते हैं तथा शासक अभिजन वर्ग के विरुद्ध शक्ति के संघर्ष में लग जाते हैं। शासक वर्ग की जिस अवनति के कारण सामाजिक संतुलन बिगड़ जाता है और नये अभिजन वर्ग की रचना होती है उसके कारणों का उल्लेख करते हुए पैरेटो कहता है कि "विभिन्न प्रकार के अभिजन वर्गों के मनोविज्ञान में परिवर्तन होता रहता है।" पैरेटो ने अपनी 'अवशेषों' की संकल्पना विकसित की है। 'अवशेषों' से पैरेटो का आशय वास्तविक रूप में उन गुणों से है जिनके द्वारा व्यक्ति जीवन में ऊँचा

1. एस. पी. वर्मा : आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, पृ. 93.

उठ सकता है। उसने 'अवशेषों' के छ गुणों की एक तालिका तैयार की है। वह इनमें से दो प्रकार के गुणों को अधिक महत्वपूर्ण 'अवशेष' मानता है। उसने इनका नाम 'मिश्रित तत्व' (Combination) और 'समुच्चय सातत्य (Persistence of Aggregates) दिया है। वह मानता है कि इन्हीं की सहायता से शासक वर्ग अपने आप को सता में बनाए रखने में सफल होता है। साधारण शब्दों में 'मिश्रित तत्व' नाम के अवशेष का अर्थ चालाकी और 'समुच्चय सातत्य' नाम के अवशेष का अर्थ बल प्रयोग है। पैरेटो ने 'अभिजनों' के इन दो वर्गों को 'सटोरियों' (Speculators) एवं किराया जीवियों (Rentiers) का नाम दिया है। पैरेटो के अनुसार एक वे हैं जो चालाकी से शासन करते हैं तथा दूसरे बल प्रयोग द्वारा शासन करने वाले है। यहाँ मैकियावेली द्वारा सुझाए गए उन दो शासक वर्गों के नाम याद आते हैं जिन्हें उसने 'सिंहों' और 'लोमड़ियों' का नाम दिया था। बल प्रयोग को न्यायोचित अथवा विवेक सम्मत ठहराने के लिए अभिजन 'शब्द मापनों' (Derivations) अथवा 'मिथकों' (Myths) का निर्माण करते हैं जिनके द्वारा जनता की दृष्टि में उनके ये काम तर्क-सम्मत कार्यों की श्रेणी में गिने जाएँ और वे जनता को नियन्त्रण में रख सकें।

मोस्का (Mosca)

पैरेटो की भाँति मोस्का भी अभिजन वर्ग में प्रत्यावर्तन के सिद्धान्त में विश्वास करता है। आदेश देने की अभिवृत्ति और राजनीतिक नियन्त्रण का प्रयोग करने की क्षमता को वह अभिजन वर्ग की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता मानता है। उसके अनुसार शासक वर्ग में जब यह अभिवृद्धि कम हो जाती है और शासक वर्ग से बाहर के लोग जब इन अभिवृत्तियों को विकसित करते हैं तब पुराने शासक वर्ग की पदच्युति और उनके स्थान पर नये शासक वर्ग की स्थापना आवश्यक हो जाती है। मोस्का का मानना है कि यह एक प्रकार का सामान्य नियम है कि लम्बे समय तक शासन कर लेने के बाद शासक वर्ग या तो जन साधारण को आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं करा पाता या जो सुविधाएँ वह देता है वे जन साधारण की दृष्टि में महत्वहीन हो जाती हैं अथवा किसी नए धर्म का उत्थान हो जाता है अथवा समाज को प्रभावित करने वाली सामाजिक शक्तियों में ऐसा कोई परिवर्तन आ जाता है और इस स्थिति में सत्ता परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। मोस्का आदर्शवाद तथा मानवतावाद का उतना कठोर आलोचक नहीं है जितना पैरेटो, साथ ही बल प्रयोग पर भी उसका अधिक आग्रह नहीं है। वह एक गतिशील समाज में और समझाने-बुझाने के द्वारा परिवर्तन लाने के तरीके में विश्वास रखता है। उसने शासक अभिजनों को यह सलाह भी दी है कि वे जनमत में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक व्यवस्था को धीरे धीरे उन परिवर्तनों के अनुसार ढालने की कोशिश करें। मोस्का ने अभिजन वर्ग में सम्मिलित सामाजिक समूहों के गठन की गहराई से व्याख्या की है और अन्य 'सामाजिक शक्तियों' को सन्तुलित करने और उनके प्रभाव को सीमित करने में उन सामाजिक शक्तियों की, जिनको पैरेटो ने 'शासक वर्ग से बाहर' का अभिजन वर्ग बताया था, भूमिका को स्वीकार किया है।

मोस्का ने अभिजन वर्ग में 'उप-अभिजन वर्ग' की सकल्पना दी जिससे उसका अर्थ लोक सेवकों, औद्योगिक व्यवस्थापकों, वैज्ञानिकों और विद्वानों के नये मध्यम वर्ग (अभिजन वर्ग) से था और जिसे उसने समाज के प्रशासन का आवश्यक तत्व बताया। उसके अनुसार किसी भी राजनीतिक अवयव का स्थायित्व नैतिकता, कुशाग्रबुद्धि और कार्य कुशलता के उस स्तर पर निर्भर करता है जिसे समाज का दूसरा स्तर प्राप्त कर चुका होता है।

मिचेल्स (Michels)

जिन अन्य व्यक्तियों ने अभिजन सिद्धान्त को आगे बढ़ाया है उनमें रोबर्ट मिचेल्स और ओर्टेगा वाई गैसेट के नाम प्रमुख हैं। रोबर्ट मिचेल्स का नाम 'स्वल्पतंत्र के लौह नियम' (Iron Law of Oligarchy) के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है जिसे वह इतिहास के लौह नियमों में एक ऐसा नियम मानता है जिसके पजों से अधिक से अधिक लोकतांत्रिक समाजों और इन समाजों में अधिक से अधिक प्रगतिशील राजनीतिक दल छूट कर नहीं निकल सके हैं।[1]

इस नियम का सबसे ज्यादा समर्थन सगठन के तत्व द्वारा मिलता है। सगठन के बिना आधुनिक युग में आन्दोलन अथवा राजनीतिक दल सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। सगठन वास्तव में स्वल्पतंत्र का ही दूसरा नाम है। मिचेल्स लिखता है "मनुष्यों के प्रत्येक ऐसे सगठन में जो निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है अन्तर्वर्ती स्वल्प तांत्रिक प्रवृत्तियाँ मौजूद रहती हैं स्वल्पतंत्र महान सामाजिक समुच्चयों के सामान्य जीवन का एक पूर्व निश्चित रूप होता है । मनुष्यों के बहुमत के लिए, गुलामी की अपनी शाश्वत मनोवृत्ति के कारण, एक अल्पसख्यक वर्ग के प्रभुत्व को मानना उसकी अपनी पूर्व नियति है।"

सामाजिक जीवन के सभी रूपों में नेतृत्व एक आवश्यकता है। सभी व्यवस्थाओं और सभ्यताओं में कुलीनतन्त्र की विशेषताओं का प्रदर्शन होता है।[2] जैसे किसी आन्दोलन या राजनीतिक दल का विस्तार बढ़ता है तब उत्तरदायी नेताओं के एक आन्तरिक समूह के हाथों में सत्ता सौंप दी जावे और समय के साथ-साथ सगठन के सदृश्य उन्हें निर्देशित

---

1 एल्फ्रेड द ग्रैजिया रोबर्टो मिचेल्स फर्स्ट लैक्चर्स इन पोलिटिकल सोसियोलाजी, पृ 142

2 रोबर्टो मिचेल्स वही 11 32 390 400 402

9

भारतीय राजनीतिक विचार

(Indian Political Thought)

प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक भारत में मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, शुक्राचार्य, कौटिल्य, राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, बाल गंगाधर तिलक, स्वामी विवेकानन्द, मदन मोहन मालवीय, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, एम. एन. राय, भीमराव अम्बेडकर, राममनोहर लोहिया, रामा स्वामी नेईकर एवं अन्य ऐसे राजनीतिक विचारक हुए हैं जिन्होंने अपने विचारों से राजनीति विज्ञान को समृद्ध बनाया है। यहाँ इन विचारकों के प्रमुख विचारों की जानकारी दी जा रही है।

मनु
(Manu)

वैदिक काल में मनु नामक राजर्षि हुए जिनकी कृति 'मनुस्मृति' को स्मृतिग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्राचीन भारतीय सभ्यता के ऐतिहासिक विकास में मनु की 'मनुस्मृति' और याज्ञवल्क्य की 'याज्ञवल्क्य स्मृति' का योगदान रहा है। मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा मानव धर्म पर लिखे गए इन दो नीति-ग्रन्थों ने हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक पद्धतियों को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। ये स्मृतियाँ प्राचीन वैदिक परम्परा के सुविख्यात सन्तों और ऋषियों द्वारा लिखी गई तथा ये सम्पूर्ण धर्म-संहिताएँ हैं, जिनमें आर्य जाति के सभी वर्गों और समूहों के लिए धार्मिक नियम दिए गए हैं।

मनु के राजनीतिक विचार

राज्य सम्बन्धी विचार

मनु ने मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राजधर्म का प्रतिपादन किया है। राज्य की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा मानी गई है, उसमें सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त का आभास होता है। यह उल्लेख है कि आदि काल में जब विश्व में कोई राजा नहीं था, बलवानों के भय से लोग इधर-उधर भागते-फिरते थे। उनकी रक्षा के लिए ईश्वर ने इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, कुबेर आदि देवताओं के सारभूत अंशों से राजा का निर्माण किया तथा राज्य एवं राजा की उत्पत्ति हुई। यद्यपि यह राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त (Divine Origin of State) है, तथापि सामाजिक संविदा की भावना इसमें अन्तर्निहित है। मनु और याज्ञवल्क्य ने राज्य के सावयव स्वरूप की कल्पना की है। दोनों ने राज्य को सप्तांगी माना है। मनु के अनुसार राज्य के 7 अंग हैं—(1) स्वामी (राजा), (2) मन्त्री, (3) पुर (अर्थात् किले, परकोटे आदि से सुरक्षित राजधानी), (4) राष्ट्र, (5) कोष, (6) दण्ड एवं (7) मित्र। मनुस्मृति में राजतन्त्र का उल्लेख है, अतः प्रतीत होता है कि उस काल में राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली ही प्रमुखतया विद्यमान थी। मनु के अनुसार राजा के कार्यक्षेत्र में सभी वर्णों से स्वधर्म और सामान्य कानूनों का अनुपालन कराना, राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना, राज्य को बाह्य नियन्त्रण से मुक्त रखना, वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण के लिए आवश्यक कानून बनाना, विभिन्न समूहों तथा परिवारों एवं आर्थिक समूहों के बीच उठने वाले विवादों का निर्णय करना, वैश्यों को व्यापार-कृषि-पशुपालन आदि के लिए विवश करना, शूद्रों को ब्राह्मण सेवा के लिए बाध्य करना, वर्ग-संघर्ष को रोकना, शिक्षा का प्रसार करना, राजकीय व्यय के लिए विविध कर लगाना, अपराधियों को दण्ड देना आदि सम्मिलित हैं।

राजा सम्बन्धी विचार

मनु ने अनेक देवताओं के सारभूत नित्य अंश को लेकर राजा की सृष्टि करने का जो उल्लेख किया है उससे राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त में विश्वास प्रकट होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में राजा में दैवी अंश की कल्पना की गई है। मनुस्मृति में यहाँ तक लिख दिया गया है कि विभिन्न देवता राजा के शरीर में प्रविष्ट होते हैं और राजा स्वयं एक महान् देवता बन जाता है। मनु के अनुसार राजा ब्राह्मणों के प्रति सदैव सेवाशील और नियमशील रहे। राजा जितेन्द्रिय बने,

शासन सम्बन्धी विचार

मनु ने शासन सम्बन्धी सिद्धान्तों, मन्त्रियों, राजा और मन्त्रियों के सम्बन्धों, राजा द्वारा मन्त्रियों से परामर्श अथवा मन्त्रणा की प्रक्रिया और महत्ता, राज्यकर्मचारियों आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मनु का अभिमत है कि शासन का सर्वोपरि लक्ष्य प्रजा की हर प्रकार से हित-साधना है। मनु ने कहा है कि शासन धर्म, अर्थ और काम के पालन में सावधान बने, राजा (शासन) अप्राप्त भूमि और वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे, प्राप्त भूमि और वस्तुओं की रक्षा करे, रक्षित भूमि और वस्तुओं का संवर्धन करे और जो वृद्धि हो उसका सुपात्रों में दान करे ताकि प्रजा में संतोष और लोकप्रियता का विस्तार हो। राज्य के रक्षण, शत्रुओं का वध, दुष्टों का दमन, प्रजा का हितवर्धन, राज्य कर्मचारियों और अधिकारियों का समुचित नियन्त्रण और निरीक्षण, भ्रष्टाचार का उन्मूलन आदि ये मूल सिद्धान्त और लक्ष्य जिनकी पूर्ति की दिशा में शासन को चलना चाहिए। मनु ने राजा को राजकार्य में परामर्श देने के लिए मन्त्रियों की व्यवस्था की है। 'मन्त्रि-परिषद' शब्द का उल्लेख मनुस्मृति में नहीं आया है। मनुस्मृति में 'सचिव, और याज्ञवल्क्य स्मृति में 'मन्त्री' शब्द आए हैं। मनुस्मृति में 'सचिवान्' अर्थात् सचिव शब्द के बहुवचन का प्रयोग हुआ है जिससे मन्त्रि-परिषद अथवा मन्त्रिमण्डल का अर्थ लिया जा सकता है। मनु के अनुसार अकेले आदमी के लिए सरल काम भी मुश्किल हो जाता है, अतः शासन के जटिल कार्यों के निर्वहन में परामर्श और सहायता के लिए राजा को मन्त्री नियुक्त करने चाहिए। मनु और याज्ञवल्क्य ने मन्त्रणा के महत्व को समझा है और यह व्यवस्था दी है कि राजा को शासन-कार्य में मन्त्रियों से एकान्त में अलग-अलग अथवा आवश्यकतानुसार संयुक्त मन्त्रणा करनी चाहिए। मन्त्री इतने ही नियुक्त करने चाहिए जिनसे कार्य चल जाए। मन्त्रियों को उनकी आवश्यकतानुसार कार्य सौंपना चाहिए। मन्त्रणा में गोपनीयता के सिद्धान्त का अनुपालन किया जाना चाहिए।

राज्य कर्मचारियों और अधिकारियों के सम्बन्ध में भी मनु ने नीति-कुशल व्यवस्था दी है। यह निर्देश है कि प्रशासनिक नीति और कार्यों के संचालन के लिए पर्याप्त संख्या में राज्य कर्मचारियों और अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए। कर्मचारी और अधिकारी वर्ग ईमानदार, अनुभवी, बुद्धिमान और कर्तव्य-परायण होने चाहिए, भ्रष्ट अधिकारियों के प्रति राजा को कठोर व्यवहार करना चाहिए। कर्मचारियों और अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए मजबूत गुप्तचर व्यवस्था होनी चाहिए।

प्रादेशिक प्रशासन सम्बन्धी विचार

मनु ने भूमिगत आधार पर राज्य को पुर (अथवा दुर्ग) और राष्ट्र में विभाजित किया है। पुर या दुर्ग से आशय राजधानी से है जो चारों ओर से सुरक्षित सुविधाओं से भरपूर और [illegible] प्रकार से स्वस्थ भू-भाग में बसाई जानी चाहिए। शासन व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए राष्ट्र को छोटी-बड़ी बस्तियों और क्षेत्रों में विभाजित किया जाना चाहिए। मनुस्मृति में 1 ग्राम, 10 ग्राम, 100 ग्राम, और 1000 ग्रामों के अलग-अलग संगठनों की व्यवस्था है। ग्राम को सबसे छोटी इकाई माना गया है जिसके अधिकारी को ग्रामिक कहा गया है। मनु के अनुसार ग्रामिक का मुख्य कार्य ग्राम में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना तथा राजस्व को एकत्रित कर 10 ग्राम के अधिकारी के पास भेजना है। सभी संगठनों के लिए अलग-अलग अधिकारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई है। 10 ग्रामों के संगठन के अधिकारी को दस ग्रामपति और 20,100 तथा 1,000 ग्रामों के अधिकारियों को क्रमशः विंशती, शती (शताध्यक्ष) और सहस्रपति कहा गया है। इन सभी अधिकारियों के कार्य और दायित्व अपने अधीनस्थ और उच्चाधिकारियों के प्रति उसी प्रकार माने गए हैं जैसे ग्रामिक के 10 ग्रामपति के प्रति। सभी अधिकारियों के वेतनों का उल्लेख है। राष्ट्र में ग्रामों के अलावा नगरों का उल्लेख भी आया है, जो काफी कम थे। नगर के अधिकारी को 'सर्वार्थ चिन्तक' नाम दिया गया है जिसका स्पष्ट आशय यही है कि वह अधीनस्थ प्रजा के हितों की चिन्ता करना सर्वोपरि कर्तव्य माने।

परिषद अथवा विधायिका

मनुस्मृति में 'परिषद' शब्द आया है जिसका आशय विद्वान व्यक्तियों की विधायिका से है। यह उल्लेख है कि परिषद में तीन से दस सदस्य होने चाहिए। कम से कम तीन व्यक्ति ऐसे होने चाहिए जिनमें से प्रत्येक अलग-अलग वेद का प्रकाण्ड पण्डित हो। यदि परिषद में समुचित विद्वान् 10 व्यक्ति न मिलें तो वेदों के ज्ञाता 3 व्यक्तियों को पर्याप्त माना गया है, अन्यथा एक व्यक्ति ही उचित समझा गया है बशर्ते कि वह राष्ट्रीय नीतियों को निर्धारित करने की क्षमता रखता हो। मनुस्मृति में कुल, जाति, श्रेणी और जनपद नामक जनता की सभीय संस्थाओं का भी उल्लेख है और राजा का यह कर्तव्य बतलाया गया है कि वह उन संस्थाओं द्वारा अपने लिए बनाए गए नियमों को स्वीकृति प्रदान करे।

मनु ने राजा के न्यायपूर्ण आचरण पर बल दिया है। दण्ड को न्याय का स्थापक माना है। लोग दण्ड के कारण स्थिर रहते हैं। राजा का कर्तव्य है कि वह देश, काल, अपराध की गुरुता आदि पर विचार करके अपराधियों को उचित दण्ड दे। दण्ड शक्ति के बल पर राजा राज्य कर सकता है। प्रजा का रक्षक दण्ड ही है। समुचित दण्ड व्यवस्था के

मनु का मूल्यांकन एवं देन

यद्यपि मनु ने अपने समय में प्रचलित राजनीतिक विचारों का श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व किया है, तथापि उनका ग्रन्थ प्रमुखतः 'धर्मशास्त्र' है। मानव-धर्म पर लिखी गई उनकी स्मृति में हिन्दुओं की सामाजिक एवं धार्मिक पद्धतियों को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।

कौटिल्य

(Kautilya)

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति का स्पष्ट, वैज्ञानिक एवं विस्तृत ग्रन्थ है जिसके आधार पर तत्कालीन राजनीतिक विचारों एवं संस्थाओं का परिचय प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ ने भारत के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक त्रुटियों को दूर कर दिया है। सालेटोर (B. A. Saletore) ने चार कारणों से इस ग्रन्थ को महत्वपूर्ण माना है।[1] प्रथम, इस ग्रन्थ में इस विषय से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों का सार दिया हुआ है। रचनाकार व्यावहारिक उद्देश्य को लेकर चलता है। दूसरे, यह ग्रन्थ यथार्थवादी है तथा उन समस्याओं पर विचार करता है जिनका सामना मनुष्य को इसी लोक में करना होता है। तीसरे, अर्थशास्त्र ने राजनीति को धर्म से पृथक् करके देखा है तथा चौथे, इसके रचयिता ने भारत को एक सुदृढ़ और केन्द्रीयकृत शासन दिया, जिसके सम्बन्ध में पहले के विचारक अनभिज्ञ थे। चन्द्रगुप्त का गुरु विष्णुगुप्त है। उन्होंने नन्दवंश के राजा नन्द का उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त को मगध सम्राट बनाया था। नाट्यशास्त्र (मुद्राराक्षस) के आधार पर कौटिल्य या चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमन्त्री था।[2] कौटिल्य या चाणक्य ने राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' की रचना की।

अर्थशास्त्र का काल

चन्द्रगुप्त मौर्य का समय 325 ई. पूर्व है, अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रचना-काल तीसरी शती ई. पू. निर्धारित किया गया है। 200 ई. पू. तक अथवा मौर्यकाल की समाप्ति पर्यन्त 'अर्थशास्त्र' (कौटिल्य कृत) समादृत हो चुका था, अतः कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' एक प्रामाणिक रचना है। कौटिल्य ने अपने [illegible] ग्रन्थ में अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा है कि "मनुष्य जीविका और जिस भूमि पर वे रहते हैं, वे दोनों अर्थ हैं, अतः यह शास्त्र अर्थशास्त्र है जिसमें मनुष्यों वाली भूमि के लाभ और उसका पालन करने के उपायों का वर्णन किया गया है।"[3] इस व्यापक अर्थ में अर्थशास्त्र में राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

अर्थशास्त्र की सामान्य प्रकृति—अर्थशास्त्र शुक्र और बृहस्पति की वन्दना से आरम्भ होता है। इसमें उस समय की वर्तमान समस्त राजनीतिक विचारों की समालोचना की गई है। यह उन राजाओं के लिए एक निर्देशक है जो भूमि को जीतना चाहते हैं। कौटिल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र के प्रकाश में एक व्यक्ति न केवल औचित्य, मितव्ययता एवं सौहार्दपूर्ण कार्यों को सम्पन्न कर सकता है, किन्तु वह अनुचित, अमितव्ययता पूर्ण और असुन्दर कार्यों को छोड़ भी सकता है। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना तत्कालीन धर्मशास्त्रों और शास्त्रों के विज्ञान के आधार पर की है। इसके द्वारा उन्होंने नन्द राजाओं को उखाड़ कर फेंक दिया। ग्रन्थ की समाप्ति के समय स्वयं लेखक स्वीकार करता है कि जिसने शास्त्र-शस्त्र और नन्द राजा के अधीन भूमि का उद्धार अपने कोप से किया है, उसी विष्णुगुप्त ने इस अर्थशास्त्र की रचना की है। अर्थशास्त्र 15 अधिकरणों में विभाजित है जिनमें 150 अध्याय एवं 6000 श्लोक हैं। 'अर्थशास्त्र' संस्कृत भाषा तथा गद्य एवं पद्य दोनों विधाओं में लिखा गया है। राजनीति की समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का यह एक विचित्र रूप है और निश्चित विज्ञान के सभी मापदण्डों तथा आवश्यकताओं को पूरा करता है। इसके प्रथम अधिकरण का नाम 'विनयाधिकरण' है, जिसमें 20 अध्याय हैं। प्रथम अध्याय का नाम 'विद्या समुद्देश्य' है जिसमें राजा के लिए आवश्यक सभी विद्याओं का संक्षेप में वर्णन है। इसके अन्य अध्यायों में वृद्ध संयोग, इन्द्रियों की विजय, अमात्यों का वर्णन, मन्त्री और पुरोहितों का विवेचन, अमात्यों के मन की बात को छुपकर पता लगाना, गुप्तचरों के प्रकार एवं उनके कार्य, मन्त्रणा, दूतों का विवेचन, राजपुत्रों की रक्षा आदि हैं। अर्थशास्त्र के 15 अधिकरणों के क्रमशः नाम हैं—(1) विनयाधिकरण, (2) अध्यक्ष प्रचार, (3) धर्मस्थीय, (4) कण्टशोधन, (5) योगवृत्त, (6) मण्डलयोनि, (7) षाड्गुण्य, (8) व्यसनाधिकारक, (9) अभियास्यत्कर्म, (10) सांग्रामिक, (11) संघवृत्त, (12) आबलीयस, (13) दुर्गलम्भोपाय, (14) औपनिषदक एवं (15) अधिकरण।

अर्थशास्त्र में एक निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए कुछ क्रमिक सोपानों को काम में लिया गया है। तथ्यों का वर्णन स्थान, प्रक्रिया एवं प्रभाव आदि के सन्दर्भ में है। स्थान-स्थान पर पूर्व वर्णित लोगों को सन्दर्भित किया गया है तथा

---

1. *Saletore, B. A.* : Ancient Indian Political Thought & Institutions, p. 54
2. *डॉ. निरंजनसिंह* . प्राचीन भारत का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 199
3. कौटिल्य : अर्थशास्त्र, 1-13.7

वैकल्पिक नीतियों एवं कार्यों को बताया गया है। तत्कालीन जटिल राजनीतिक वातावरण को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने अपने निजी शब्दों का प्रयोग किया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र को उस समय स्थित राजनीति के ग्रन्थों पर ही आधारित नहीं रखा, वरन् अपने उस व्यक्तिगत अनुभव एवं ज्ञान पर आश्रित रखा जो उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक स्थिति और संस्थाओं का अध्ययन करने पर प्राप्त किया था।

सामाजिक व्यवस्था—अर्थशास्त्र का प्रारम्भ समाजों के उद्देश्य की परीक्षा से होता है ताकि मानवीय अस्तित्व की योजना में त्रयी, आन्वीक्षिकी वार्ता और दण्ड का सही स्थान निर्धारित किया जा सके। ये सभी मानवीय ज्ञान के प्रकाश हैं। इनके द्वारा जीवन के सब धर्म एवं महान् कार्यों को आसानी से पूरा किया जाता है। ग्रन्थ में स्वाभाविक एवं कृत्रिम शास्त्रों, धर्म और अधर्म, नय और अनय तथा उचित और अनुचित के बीच अन्तर बतलाया गया है। यह ग्रन्थ श्रेष्ठ व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था का आधार मानकर चलता है। इसमें सभी के सामान्य उद्देश्यों का वर्णन किया गया है। सत्यवादिता, शुद्धता, सहिष्णुता, क्षमाशीलता तथा किसी को नुकसान न पहुँचाना आदि व्यवहार व्यक्ति को स्वर्ग ले जाते हैं। एक सुशिक्षित स्वामी अनुशासित रूप से कार्य करते हुए तथा श्रेष्ठ सरकार की सहायता प्राप्त करते हुए समस्त पृथ्वी का निर्बाध रूप से उपयोग करता है। ग्रन्थ में पार्षदों, पुरोहितों, मन्त्रियों आदि की योग्यताएं निर्धारित की गई हैं और गुप्तचरों द्वारा मन्त्रियों के चरित्र एवं आचरण की परीक्षा करने आदि का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त राजा और सरकारी कर्मचारियों के कर्तव्य बतलाए गए हैं। राज्य के विभिन्न विभागों का वर्णन है जो अलग-अलग अध्यक्ष के अधीन रहकर अपने सेवीवर्ग प्रक्रिया तथा प्रशासन का नियमन करते थे।

कानून, न्याय एवं दण्ड व्यवस्था—अर्थशास्त्र के कुछ अध्यायों में नागरिक कानून की व्यवस्था की गई है। इसमें समझौतों एवं संविदाओं की कानूनी प्रक्रिया का वर्णन और वैधानिक झगड़ों को सुलझाने के लिए प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। उसके बाद फौजदारी कानून अर्थात् कण्टक शोधन का वर्णन किया गया है तथा ऐसे अनेक प्रयास वर्णित किए गए हैं जिनके द्वारा कारीगरों, व्यापारियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध सामान्य जनता की रक्षा की जा सके। इसके कुछ अध्याय शान्ति और युद्ध नीति, बाह्य खतरे की प्रकृति, आक्रमणकारियों एवं शक्तिशाली शत्रुओं के कार्य, युद्ध और रणनीति तथा शत्रु को समाप्त करने के गुप्त उपायों एवं साम्राज्य को बढ़ाने के साधनों का वर्णन किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दण्ड नीति को सभी पुरुषों का स्रोत माना गया है। जीवन और सम्पत्ति की रक्षा तथा वर्णाश्रम धर्म का पालन केवल एक सुव्यवस्थित एवं सुशासित समाज में हो सकता है। दण्डधर संसार में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष को धारण करने वाला होता है। जब तक वह इनकी रक्षा करता है, वह उन्नतिशील होते हुए जीवन को आनन्ददायक बनाने में मदद करता है, किन्तु जब दण्डधर कमजोर होता है और सम्प्रभुता की रक्षा नहीं कर पाता तो भौतिक एवं आदिभौतिक अस्तित्व के ये साधन जीवन को नष्ट कर देते हैं। राज्य शक्ति के अभाव में मानवीय आत्मा दूषित हो जाती है, शरीर रोगग्रस्त हो जाता है और किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं रहती। वर्णाश्रम धर्म तथा अर्थ और काम सम्पूर्ण संस्कृति और सभ्यता के आधार हैं इसलिए इनकी स्थापना हेतु अर्थशास्त्र ने राज्यशक्ति का समर्थन किया है। ग्रन्थ ने उन विभिन्न आपत्तियों का वर्णन किया है जो साम्राज्य को एकीकृत करने में आन्तरिक और बाह्य रूप से आ सकती थीं। आन्तरिक कोप वह होता था जो मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज द्वारा उत्पन्न किया जाता था। अनेक संकट संघों, श्रेणियों एवं नियमों द्वारा पैदा किए जा सकते थे। स्वामी के आत्मदोष अनेक बार संकटों के कारण बन जाते थे, अतः उसे अपनी भावनाओं, क्रोध, कायरता आदि के प्रति आन्तरिक सजगता रखने को कहा गया है। राजा को आसुरी जीवन की विशेषताएँ अपने व्यवहार में से पूर्ण रूप से समाप्त करने का निर्देश है। कौटिल्य के कथनानुसार, "जिस व्यक्ति को अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण नहीं है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा चाहे वह सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी ही क्यों न हो।"

सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार—जहाँ तक सरकार के रूपों का सम्बन्ध है अर्थशास्त्र इतना अधिक चिन्तित नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य स्थायी केन्द्रीकृत एवं कार्यकुशल सरकार प्राप्त करना था जो जनता को शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करके उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का प्रतीक बन सके। इसमें उन गणराज्यों का विरोध किया गया है जो शक्तिशाली सरकार रखने में असमर्थ होते हैं। ये कमजोर गणराज्य विघटनकारी प्रवृत्तियों एवं बाह्य आक्रमणों को आमन्त्रित करते हैं। एकता और संगठन प्रत्येक राज्य का एक मुख्य आधार माना गया है। इसके अभाव में वह राज्य किसी भी सेना के द्वारा जीता जा सकता है। गणराज्य यदि शक्तिशाली है तो अर्थशास्त्र उसका आदर करने को तैयार है।

मन्त्री—मन्त्रियों की व्यवस्था एवं देखरेख पर अर्थशास्त्र ने पर्याप्त जोर दिया है। राजा की सत्ता के लिए सर्वाधिक गम्भीर खतरा और साम्राज्य के विनाश का स्रोत मन्त्रियों की महत्वाकांक्षा होती है। यही कारण है कि मन्त्रियों के आचरण के लिए उच्च मापदण्ड निर्धारित किए गए हैं। इस पद के लिए उच्च योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं। मन्त्रियों के द्वारा राज्य के सारे कार्य सम्पादित किए जाते थे। *उनके हाथ में प्रमुख शक्तियाँ निहित रहती थीं इसलिए अर्थशास्त्र ने स्वामी* को इनके विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए सजग रहने को कहा है। यदि राजा को यह अन्देशा हो कि आन्तरिक और बाह्य

शत्रुओं से उसकी हार निश्चित है उसे राज्य छोड़ देना चाहिए अपनी जीवन रक्षा के बाद वह भविष्य में कभी भी शक्ति प्राप्त कर सकेगा। आन्तरिक संकट बाह्य संकट की अपेक्षा अधिक खतरनाक साबित हो सकते हैं क्योंकि इनकी गति सांप की तरह होती है अतः राजा को इन्हें विकसित होने से रोकने के लिए प्रयास करने को कहा गया है। पारस्परिक घृणा, दलगत विरोध आदि राज्यों को नष्ट करते हैं। मंत्रि परिषद में मन्त्रियों की संख्या तथा सामर्थ्य एवं यथावश्यकता होनी चाहिए। कौटिल्य ने राज्य के कुछ विभाग निर्धारित किए हैं जिनके प्रभारी मन्त्री होने चाहिए। मन्त्रिपरिषद के कुछ मन्त्रियों से ही राजा को परामर्श करने से गोपनीयता बनी रहती है। कौटिल्य ने राजा को अकेले ही निर्णय लेना निषिद्ध किया है।

राजा—अर्थशास्त्र ने राजा की कुलीनता पर पर्याप्त जोर दिया है क्योंकि संकटों का मुकाबला करने वाली जनता प्रायः कुलीन राजा के प्रति स्वामिभक्ति प्रकट करती है। इस दृष्टि से कमजोर किन्तु कुलीन राजा को एक निम्न कुल वाले किन्तु शक्तिशाली राजा से श्रेष्ठ माना गया है। राजा चाहे शक्तिहीन हो, किन्तु वह राज्य का प्रतीक एवं सभी धार्मिक अनुष्ठानों का आधार है।

कौटिल्य ने एक आदर्श राजा के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि "वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और शक्ति हो, वह वृद्धजनों की सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करने वाला हो, परस्पर विरोधी बात न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, उसमें अत्यधिक उत्साह हो, वह अपने सामन्तों को वश में करने की सामर्थ्य रखता हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद छोटी न हो और वह नियन्त्रण का पालनकर्ता हो।"[1] राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य का मत है कि "प्रजा के सुख में राजा का सुख है प्रजा के हित में राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से भिन्न अपना सुख नहीं है प्रजा के सुख में ही उसका सुख है।"[2]

वास्तव में अर्थशास्त्र को एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ कहने की अपेक्षा मात्र राजनीति की व्यावहारिक पुस्तिका माना जाना अधिक उपयुक्त होगा। कौटिल्य ने बड़े साम्राज्य की रचना का स्वप्न देखा था जो चतुरन्त महीप शब्द द्वारा वर्णित किया गया। इसकी सीमाएं हिमालय से लेकर समुद्रों तक थी। अर्थशास्त्र ने सार्वभौम सम्राट और आधिपत्य के स्थान पर देश तथा चक्रवर्ती शब्दों का प्रयोग किया है। स्वप्निल साम्राज्य को अपने जीवनकाल में प्राप्त करने के लिए जिन राजनीतिक नियमों एवं सिद्धान्तों की रचना कौटिल्य को आवश्यक प्रतीत हुई उसे उन्होंने अर्थशास्त्र में सम्प्रेषित किया। मौर्य साम्राज्य कौटिल्य के सपनों का एक साकार रूप था। इसके अधिकांश सिद्धान्तों को प्रशासन द्वारा अपनाया गया और अर्थशास्त्र राजाओं के लिए पाठ्य-पुस्तक बन गई। इसके द्वारा राजनीति पर स्थित धर्म के प्रभाव को दूर किया गया। इसने अनेक ऐसे तत्वों को सम्मुख रखा जो वास्तविकताएँ थीं, किन्तु मानव ज्ञान का विषय नहीं बन पाई थीं। अर्थशास्त्र में धर्म राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक साधनों, उपायों एवं प्रक्रियाओं की विस्तार के साथ उल्लेख करने की चेष्टा की। यह कहा जाता है कि अशोक ने अपने साम्राज्य का निर्माण कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर किया, उसके प्रशासनिक यन्त्र की योजना अर्थशास्त्र के पृष्ठों पर अंकित थी। कृष्णराव के शब्दों में कहा जा सकता है कि "अर्थशास्त्र की खोज ने प्राचीन भारत से सम्बन्धित ज्ञान को समृद्ध बनाने में पर्याप्त योगदान किया है।"[3]

कौटिल्य के राजनीतिक विचार

कौटिल्य का अर्थशास्त्र मूल रूप से राजनीतिक ग्रन्थ है। इसकी विषय वस्तु मनुष्यों से युक्त भूमि की प्राप्ति और उस भूमि के उचित रूप से पालन करने का उपाय तथा साधन है। इसमें राज्य शास्त्र (Political Science) और अर्थशास्त्र (Economics) दोनों विषय आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र का अंश इसके क्षेत्र में आ जाता है।

राज्य की उत्पत्ति और स्वरूप

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त (Social Contract Theory) को स्वीकार किया है। कौटिल्य ने हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था के लक्षणों को मान्यता दी है। वे उस काल में मनुष्य के जीवन को अस्थिर, असुरक्षित, यातनायुक्त एवं पशुवत् मानते हैं। इस युग का व्यक्ति स्वार्थ साधन के लिए दूसरे के विनाश में लगा हुआ था। प्राकृतिक अवस्था से तंग होकर उसने राज्य का निर्माण किया तथा राजा को स्पष्ट बता दिया कि यदि वह प्रजा के योग-क्षेम की व्यवस्था के अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाएगा तो उसे लोग धन और जन की सहायता देना बन्द कर देंगे और वह उनका राजा नहीं रहेगा। कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त में लोक वित्त पर जनता का अधिकार माना है। उनके अनुसार राजा द्वारा बिना प्रजा की पूर्व अनुमति के उस पर कर नहीं लगाए जा सकते थे। वह धन एकत्रित करने और उसे खर्च करने का अधिकार नहीं रख सकता था।

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 6 1
2. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1 4
3. *M. F. Krishna Rao* Op Cit p 13

वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों की अवहेलना नहीं कर सकता। राजा की जो दिनचर्या बताई गई है उसके अनुसार राजा को
ऐसा आचरण करने का अवसर दिया गया है जिसे अन्य कर्मचारी अपना आदर्श बना सकें। राजा को अपने रात-दिन के
आठ भाग करने को कहा गया है कि दिन के आठ भागों में उसके द्वारा किए जाने वाले कार्य इस प्रकार हैं—प्रथम भाग
में पुलिस विभाग और राज्य की आय-व्यय का निरीक्षण, दूसरे में पुर तथा जनपद के निवासियों के मुकदमों की सुनवाई
तीसरे में स्नान, भोजन और स्वाध्याय, चौथे में कर विभाग का निरीक्षण तथा विभिन्न विभागाध्यक्षों की नियुक्ति, पांचवें
में मन्त्रिपरिषद् के साथ मन्त्रणा और गुप्तचरों से सूचना प्राप्ति, छठे में इच्छानुसार विहार एवं विचार, सातवें में हाथी, घोड़े
रथ एवं शस्त्रों की देखभाल और आठवें में सेनापति के साथ पराक्रम सम्बन्धी चर्चा होती है। दिन की भांति रात को भी
8 भागों में बांटा गया है। इसके प्रथम भाग में राजा गुप्तचरों का निरीक्षण करे, द्वितीय में स्नान, भोजन और स्वाध्याय
करे, तीसरे में शंख ध्वनि के साथ रनिवास में प्रवेश करे, चौथे एवं पांचवें भाग में शयन करे, छठे भाग में गाना बजाना
सुनकर जाग जाए, इसी भाग में दिन के आवश्यक कार्यों पर विचार कर, सातवें भाग में गुप्त मन्त्रणा करके गुप्तचरों को
आवश्यकतानुसार इधर-उधर भेज दे। आठवें भाग में आचार्य एवं पुरोहितों का आशीर्वाद ग्रहण करे तथा वैद्य ज्योतिषी
एवं रसोइया से शरीर के स्वास्थ्य पर विचार-विमर्श करे। प्रातःकाल बछड़े वाली गाय तथा बैल की परिक्रमा करके दरबार
में प्रवेश करे। इस प्रकार कौटिल्य राजा के दिन-रात के कार्यक्रम में 24 घण्टे को 16 घड़ियों (प्रत्येक घड़ी $1\frac{1}{2}$ घण्टे
की) में विभक्त करता है और रात की चर्चा का पृथक् उल्लेख करता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक विवेचन
की अपेक्षा एक व्यावहारिक ग्रन्थ अधिक है, इसमें राजा की सुरक्षा तथा उसके राज भवन के प्रबन्ध के सम्बन्ध में विस्तार
से विवरण प्राप्त होता है।

उत्तराधिकार का प्रश्न

कौटिल्य के मतानुसार सामान्यतः राजा के ज्येष्ठ पुत्र को राजपद का अधिकारी माना चाहिए, किन्तु केवल ज्येष्ठता
राजपद की योग्यता नहीं मानी गई है, अन्य राजोचित गुणों एवं योग्यताओं का होना आवश्यक है। कौटिल्य ने राजकुमारों
को बुद्धिमान, आहार्य बुद्धि और दुर्बुद्धि इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। बुद्धिमान राजकुमार उसे कहा गया है
कि जो सिखाने से धर्म और अर्थ की शिक्षा को विधिवत् ग्रहण करते और उसको आचरण में उतार ले। जो राजकुमार
धर्म और अर्थ को समझने के पश्चात् उसके अनुसार कार्य नहीं करे उसे आहार्य बुद्धि कहा है और जो प्रतिदिन विपत्ति
लाने के उपाय सोचे और धर्म तथा अर्थ के विरुद्ध आचरण करे उसे दुर्बुद्धि कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार दुर्बुद्धि
को कभी भी राजपद नहीं देना चाहिए। कौटिल्य ने उत्तराधिकार की सीमाओं का विस्तार राजवंश की स्त्रियों तक किया
है। उनका मत है कि राजा की मृत्यु हो जाने पर राजकुमार, राजकुमार का पुत्र, राजकन्या के पुत्र आदि के अभाव में
राजकन्या अथवा राजमहिषी को राजपद पर अभिषिक्त करना चाहिए। उत्तराधिकार के प्रश्न पर कौटिल्य ने रक्त की शुद्धता
पर बहुत जोर दिया है।

मन्त्रिपरिषद्

राज्य की कार्यपालिका में राजा के अतिरिक्त उसके सलाहकार, अनेक मन्त्री, अमात्य एवं अन्य उच्चाधिकारी होते
थे। ये सभी केन्द्रीय कार्यपालिका के अंग थे। कौटिल्य का विचार था कि कोई कार्य प्रारम्भ करने के पहले उसके
सम्बन्ध में मन्त्र-निर्णय कर लेना चाहिए। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि
"राजा को तीन अथवा चार मन्त्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिए। उसे समय, परिस्थिति और आवश्यकता अनुसार मन्त्रियों
को रखना चाहिए।"

कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् की कार्य प्रणाली का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मन्त्रिपरिषद् का एक अध्यक्ष होना
चाहिए। उसे राज्य के 18 तीर्थों में से एक माना गया है। मन्त्रिपरिषद् की अध्यक्षता राजा द्वारा नहीं की जानी चाहिए।
उसकी बैठकें अध्यक्ष की देख-रेख में होनी चाहिए। उस युग में राजा अपनी आवश्यकता के अनुसार मन्त्रिपरिषद् की
बैठकें बुलाता था। ये बैठकें सामान्यतः स्वतन्त्र रूप से हुआ करती थीं। मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष का पद पर्याप्त महत्वपूर्ण
था। मन्त्रिपरिषद् के निर्णय बहुमत से लिए जाते थे। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि अत्यन्त आवश्यक कार्य
उपस्थित होने पर राजा को मन्त्रिपरिषद् की बैठक बुलानी चाहिए। मन्त्रिपरिषद् की इस बैठक में जिस विषय की पुष्टि
बहुमत द्वारा होती हो, उसी निर्णय को कार्यान्वित करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए। कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् की राय
और निर्णय को गुप्त रखने पर पर्याप्त जोर दिया है। मन्त्रियों का वेतन योग्यता के आधार पर निर्धारित करना उत्तम माना
गया है, पर वेतन निर्धारित करते समय यह भी जरूरी माना गया है कि वेतन की मात्रा इतनी हो जो मन्त्रियों के उपयुक्त
भरण-पोषण के लिए पर्याप्त हो। यह वेतन इतना कम नहीं होना चाहिए कि मन्त्री को अपने आश्रित परिवार के भरण-पोषण
के लिए दूसरे अनुचित साधनों का आश्रय लेना पड़े। वेतन कम होने पर कार्यकर्ता कुपित हो जाते हैं, फलस्वरूप राज्य
का विनाश होता है।

स्थानीय प्रशासन

कौटिल्य ने स्थानीय प्रशासन के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उस समय राज्य के दो भाग किए जाते थे—दुर्ग और जनता। कौटिल्य ने दुर्ग को पुर अथवा नगर का पर्यायवाची माना है। कौटिल्य के अनुसार दुर्ग को चार भागों में बाँटा जाना चाहिए और प्रत्येक भाग के लिए एक स्थानिक नाम का कर्मचारी नियुक्त किया जाना चाहिए। स्थानिक के अधीन गोप नामक कर्मचारी रखे गए हैं। उस युग में इन कर्मचारियों को उन सगठनों के ऊपर नियुक्त किया जाता था जो 10, 20, 40 कुटुम्बों के सयोग से सगठित किए जाते थे। इन गोपों का यह काम था कि वे अपने अधीन कुटुम्बों के सदस्यों की जनगणना करें, उनकी आय-व्यय का ब्यौरा रखें तथा उससे अपने स्थानिक को परिचित करावें। स्थानिक इस सूचना को नागरिक तक पहुँचाता था। नागरिक नगर के अध्यक्ष को कहते थे। उसका मुख्य कर्तव्य अपने नगर में शान्ति एव सुरक्षा की व्यवस्था करना था। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसे अनेक कार्य सम्पन्न करने होते थे, जैसे रात्रि में राहगीरों के ठहरने के नियम बनाना और रात्रि के समय नगर में आगमन सम्बन्धी नियम बनाना और उन्हें क्रियान्वित करना आदि। स्थानीय प्रशासन का दूसरा अग जनपद था। कौटिल्य के अनुसार जनपद के मध्य और अन्त में दुर्ग होने चाहिए जो आपत्ति काल में अपने जनपद के निवासियों और बाहर से आने वाले व्यक्तियों के भोजन की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हो। जनपद की रक्षा के लिए कौटिल्य ने विभिन्न बस्तियाँ बनाने की योजना प्रस्तुत की है। उनके कथनानुसार शासन कार्य एव राजकोष के सचय की दृष्टि से दस गाँवों के बीच सग्रहण, दो सौ गाँवों के बीच खारवटक, चार सौ गाँवों के बीच द्रोणमुख और आठ सौ गाँवों के बीच स्थानीय नाम की बस्तियाँ बनानी चाहिए। कौटिल्य का कहना था कि जनपद में एक अथवा दो कोस के अन्तर पर ग्राम की स्थापना करनी चाहिए ताकि वे एक-दूसरे की रक्षा करने में समर्थ हों। इन गाँवों में अधिकतर सख्या शिल्पियों एव किसानों की होनी चाहिए। एक गाँव में कम से कम सौ और अधिक से अधिक पाँच सौ घर होने चाहिए। ग्राम के शासन का सचालन गाँव के वृद्धों एव ग्रामिक के द्वारा किया जाना चाहिए।

न्यायिक व्यवस्था

कौटिल्य ने स्वधर्म पालन को मनुष्य का महत्वपूर्ण कर्तव्य माना है। इस कर्तव्य को पूरा करके ही व्यक्ति इस लोक का सुख और परलोक का आनन्द प्राप्त कर सकता है। स्वधर्म पालन का कर्तव्य ऐसा है जिसे कोई भी व्यक्ति अपनी मर्जी से पूरा करने के लिए इच्छुक नहीं होता, जब तक ऐसा करने के लिए उसे पुरस्कृत या दण्डित न किया जावे। ऐसी स्थिति में न्याय व्यवस्था की स्थापना की जाना अत्यन्त आवश्यक है। कौटिल्य का मत है कि उचित न्याय वितरण करने के लिए सरकार द्वारा न्याय की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। महत्वपूर्ण केन्द्रों पर न्यायाधीशों की नियुक्ति होनी चाहिए ताकि लोगों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की जा सके। न्याय कार्य को कौटिल्य ने दो क्षेत्रों में विभाजित किया है—व्यवहार (दीवानी) और कण्टक शोधन (फौजदारी)। प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत नागरिकों के पारस्परिक सम्पर्क को लिया जाना चाहिए। नागरिकों के मध्य होने वाले कलह के मूल कारणों की खोज कर न्यायालय को उनकी विवेचना करना और निष्कर्ष के आधार पर दोषी को उसके दोष के अनुसार दण्ड देना चाहिए। निर्दोष को उसके अधिकार दिलाने की चेष्टा की जानी चाहिए। दूसरे क्षेत्र में मनुष्य जीवन के उस अश को लिया गया है जिसमें व्यक्ति का राज्य के कर्मचारियों, व्यापारियों एव व्यावसायियों तथा कुछ विशेष कोटि के दुष्ट व्यक्तियों से सम्बन्ध रहता है। इन विभिन्न वर्ग के लोगों के द्वारा सामान्य लोगों का शोषण किया जाता है। उन्हें इस शोषण और उत्पीड़न से बचाने के लिए न्याय व्यवस्था की स्थापना किया जाना जरूरी है। ये दोनों क्षेत्र वर्तमान में क्रमशः दीवानी एव फौजदारी न्यायालयों का क्षेत्र है। मनु ने व्यवहार के क्षेत्र को निर्धारित करके उसके विषयों को सूचीबद्ध किया है, किन्तु कौटिल्य ऐसा न करके उनका अलग वर्णन करते हैं। इस क्षेत्र में जो विभिन्न विषय आते हैं, वे—स्त्री, पुरुष की धर्म व्यवस्था, परस्त्री हरण एव परस्त्री का परपुरुष से सम्बन्ध, दाय भाग, अश विभाग, पुत्र विभाग, वस्तु विवाद, ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिए माँगना, स्वामी रहित वस्तु का विक्रय, साझे का व्यापार, दान, वेतन, प्रतिज्ञा का भग करना, दास कार्य, क्रय-विक्रय विवाद, पशु स्वामी तथा पशु विवाद, सीमा विवाद, डाका-चोरी, मारपीट, कठोर वचनों का प्रयोग आदि। इन विभिन्न विवादों को सुलझाने के लिए कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के न्यायालयों की स्थापना करने का सुझाव दिया है। न्यायालय छोटे और बड़े विभिन्न प्रकार के होने चाहिए। इन न्यायालयों की स्थापना विभिन्न बस्तियों में की जानी चाहिए तथा इनमें विवादों को सुनने और उन पर निर्णय देने के लिए तीन न्यायाधीश और तीन अमात्य होने चाहिए। स्थानीय महत्व के विवादों को सुलझाने के लिए स्थानीय न्यायालयों की स्थापना करना बताया। न्याय कार्य का सम्पादन ग्राम के वृद्धों एव ग्राम सामन्तों द्वारा किया जाना चाहिए। यदि किसी विषय पर वे एक मत न हो सके तो गाँव के धार्मिक लोगों से अनुमति लेकर निर्णय लेना चाहिए। न्याय के क्षेत्र में मध्यस्थता के सिद्धान्त को पर्याप्त महत्व दिया गया है। विवाद से सम्बन्धित दोनों पक्ष किसी व्यक्ति को मध्यस्थ बनाकर उससे विवादग्रस्त विषय का निर्णय करा सकते हैं। मध्यस्थ द्वारा दिए गए निर्णय को अन्तिम

समझा जाना चाहिए। कौटिल्य ने न्यायालयों की कार्य प्रणाली का विस्तार के साथ वर्णन किया है। उनके मतानुसार अर्थी प्रत्यर्थी एवं साक्षी को न्यायालय में अपना पक्ष प्रस्तुत करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस स्वतन्त्रता के हनन करने वाले प्रत्येक न्यायाधीश एवं कर्मचारी को दण्ड का भागी माना गया। कौटिल्य के अनुसार, "घटना चाहे कितनी पुरानी हो जाए, उसके प्रमाणित हो जाने पर दोषी को अवश्य दण्ड दिया जाए और अपकारी को छोड़ना नहीं चाहिए।" कौटिल्य पूर्व निर्धारित विचारों पर निर्णय लेने का विरोध करते हैं। जो व्यक्ति साक्ष्य द्वारा सच्चा प्रमाणित हो जाए उसे ही सच्चा मानना चाहिए। व्यवहार क्षेत्र में कौटिल्य ने साक्षी का पर्याप्त महत्व बताया है। वे साक्ष्य को लिखित प्रमाण, भोग प्रमाण और साक्षी प्रमाण इन तीनों भागों में विभाजित करते हैं। प्रमाणों की सत्यता को परखने के लिए उन्होंने अनेक तरीके बताए हैं। महत्त्वपूर्ण अभियोगों में चरों द्वारा प्राप्त सूचनाएँ भी उपयोगी थी। अपराधों का दूसरा क्षेत्र कौटिल्य द्वारा कण्टक शोधन कहा गया है। इसके अन्तर्गत उन उपायों का वर्णन है जिससे राज्य के व्यवसायों एवं दुष्ट जनों से प्रजा की रक्षा हो सके। कौटिल्य का मत है कि यदि राज्य के विभिन्न व्यावसायियों पर नियन्त्रण न रखा गया तो वे प्रजा का शोषण एवं पीड़न करने लगेंगे। कम तौलना, बिक्री के माल में मिलावट करना, असली के नाम पर घटिया देना, निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य लेना आदि क्रियाओं से व्यापारी वर्ग भोली भाली प्रजा को ठग सकता है इसलिए उन पर नियन्त्रण रखना अपेक्षित है। कौटिल्य ने व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न नियमों का उल्लेख किया है और बताया है कि जो इन नियमों का उल्लंघन करेगा, वह राज्य के दण्ड का भागीदार होगा। व्यावसायियों की भाँति राज्य के कर्मचारियों पर कड़ा नियन्त्रण रखने की बात कही गई है ताकि वे स्वार्थरत होकर अपने कर्तव्य पालन के मार्ग से हट न जाएँ। इस कार्य की देखरेख के लिए चरों की व्यवस्था की गई है। कौटिल्य के अनुसार दुष्ट कर्मचारियों को उनके दोष के अनुसार दण्ड देकर उनके आचरण की निरन्तर शुद्धि करना चाहिए ताकि राज्य कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा का कल्याण कर सकें। दुष्ट जनों से राज्य की सुरक्षा एवं शान्ति भंग होने की आशंका रहती है। चोर, डाकू, व्यभिचारी, वंचक, घातक आदि होने पर लोगों का जीवन निर्भयता एवं सुख के साथ व्यतीत नहीं हो सकता। राज्य को इन दुष्ट जनों से प्रजा की रक्षा के लिए पुलिस एवं चरों आदि की नियुक्ति करनी चाहिए। अपराधी कर्मचारियों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। खानों अथवा कारखानों से बहुमूल्य माल चुराने वाले कर्मचारियों को मृत्यु दण्ड देने और कम कीमत वाली वस्तुएँ चुराने पर केवल जुर्माना करने का उल्लेख है।

दण्ड व्यवस्था

अपराधी को दण्ड देते समय किन तथ्यों पर ध्यान रखना चाहिए, इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने अपने विचार प्रकट किए हैं। उनका कहना है कि दण्ड को निर्धारित करते समय अपराध की मात्रा, अपराधी की सामर्थ्य अपराधी का वर्ग, अपराधी में सुधार की सम्भावनाओं आदि बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। कौटिल्य ने दण्डों को तीन भागों में विभक्त किया है—अर्थदण्ड, शारीरिक दण्ड और बन्धनागार (कारागार) दण्ड। अर्थ दण्ड के अन्तर्गत हम उन दण्डों को सम्मिलित कर सकते हैं जो जुर्माने के रूप में अपराधियों को देने पड़ते थे। ये पण के आठवें भाग से लेकर सहस्रों पण तक निर्धारित किए जा सकते थे। अर्थशास्त्र के अध्ययन से पता लगता है कि आर्थिक दण्ड का प्रयोग दीवानी अभियोगों तथा कम महत्व के फौजदारी अभियोगों में किया जाता था। जो मनुष्य जाल बिछाकर, फँसाकर या अन्य किसी प्रकार से रक्षित राजकीय मृग, पशु, पक्षी, मछली आदि पकड़े उससे उनकी कीमत वसूल की जानी चाहिए तथा उन पर उतना ही जुर्माना किया जाना चाहिए। शिल्पियों की छोटी मोटी वस्तुओं की चोरी पर एक सौ पण का और खेती के सामान चुराने वाले पर दो सौ पण का जुर्माना करने को कहा गया है। कौटिल्य शारीरिक दण्ड को कायदण्ड का नाम देते हैं। अपराध के अनुसार यह दण्ड छोटा-बड़ा होता है। दण्डों में बेंत मारना, कोड़े लगाना, रस्सी से मारना, उन्हें लटकाना, हाथियों से कुचलवा कर प्राण लेना, हाथ पैर आदि अंगों को कटवा देना, शरीर के मर्मस्थलों का छेदन कराना, नाखूनों में सूइयाँ चुभाना, क्लेश पूर्वक शरीर के अंगों को कटवाना, शरीर एवं शीश पर जलते हुए अंगारे रखकर प्राण लेना, जल में डुबोना शरीर की खाल निकलवाना तथा वध करा देना प्रमुख थे। तीसरे प्रकार का दण्ड बन्धनागार दण्ड और बन्दीगृह के अधिकारी को बन्धनागाराध्यक्ष कहा गया है। उस समय बन्दीगृहों में स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए अलग-अलग व्यवस्था की जाती थी। इसमें अनेक कोठरियाँ होती थी तथा इनकी सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था। बन्दीगृह में रहने वाले अपराधियों को सामान्य सुविधाएँ प्रदान की जाती थी। उनकी क्षमता के अनुसार उनसे काम लिया जाता था। समय-समय पर उनके आचरण तथा व्यवहार की जाँच की जाती थी और उसके आधार पर उनसे सलूक किया जाता था। बन्दियों पर कठोर अनुशासन रखा जाता था। कौटिल्य ने दण्ड सिद्धान्त में विशेष परिस्थितियों को पर्याप्त महत्व दिया है। उस युग में दण्ड के भय से आतंक पैदा करने की चेष्टा की जाती थी, अपराधी को अपमानित एवं लज्जित किया जाता था। बन्दियों के आचरण को सुधारने के लिए भी कई कदम उठाए जाते थे।

आर्थिक व्यवस्था

अर्थशास्त्र में राजनीति के साथ उन विषयों का भी अध्ययन किया गया है जो धन से सम्बन्ध रखते हैं।

राज्य कोष—कौटिल्य ने राज्य के लिए कोष को अत्यन्त उपयोगी माना है। व्यक्ति का कोई व्यक्तिगत कार्य धन के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता तो राज्य सचालन जैसा महान् कार्य इसके बिना कैसे सचालित किया जा सकता है? राज्य कोष के आधार पर ही सेना का सगठन करता है और अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है। कोष वृद्धि के लिए राज्य को क्या उपाय अपनाने चाहिए, इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने राज्य के कोष-सचय के लिए कई मार्ग बताए हैं। इन मार्गों को आय-शरीर और आय-मुख नाम की दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। कौटिल्य ने इन दोनों श्रेणियों में आने वाले आय के साधनों की व्याख्या की है। कौटिल्य ने आपत्तिकाल में कोष सचय के लिए कुछ विशेष सिद्धान्तों की रचना की है। सकटकाल में राज्य के कार्य को चलाने के लिए विशेष शर्तों से आय प्राप्त की जाने का व्यवस्था की गई है। उदाहरण के लिए राज्य के जिन भागों में पर्याप्त वर्षा होती है और जहाँ अन्न का उत्पादन पर्याप्त होता है उनसे राजा अन्न का एक-तिहाई या एक चौथाई भाग माँग सकता है। दूसरे, उत्पादित अनाज में से बीज तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए छोड़ कर अधिक अनाज को खरीदा जा सकता है। तीसरे, समाहर्ता किसानों को समझाकर गर्मी में फसल बना सकता है चौथे व्यापारियों से धन माँगा जा सकता है। पाँचवें, पशु रखने वालों से उनके पशुओं की आधी आय राज्य को देने के लिए कहा जा सकता है। छठे, धन एकत्रित करने के लिए गुप्तचरों की सहायता ली जा सकती है। सातवें धार्मिक सस्थाओं के अध्यक्ष धन सग्रह में राज्य की सहायता कर सकते हैं। इस प्रकार सकटकाल में राजकोष के लिए धन एकत्र किया जाता है।

कोष सचय के अतिरिक्त कौटिल्य ने उन कारणों का भी उल्लेख किया है जिनसे कोष को समृद्ध बनाने में सहायता प्राप्त होती थी। प्रथम राज्य के निवासियों को सब तरह से सम्पन्न और समृद्ध होना चाहिए। दूसरे, निवासियों का आचरण तथा व्यवहार भ्रष्टाचार रहित हो। तीसरे, राज्य की आय का कर्मचारियों या किसी के द्वारा अपहरण न किया जाए। चौथे, राज्य के कर्मचारियों की सख्या केवल उतनी ही होनी चाहिए जितनी की आवश्यकता हो। पाँचवें, राज्य का उद्योग तथा व्यापार उन्नत होना चाहिए। छठे, राज्य में अन्न का उत्पादन अधिक होना चाहिए। कौटिल्य ने उन विभिन्न मार्गों का उल्लेख किया है जिनमें होकर राज्य की सचित निधि का व्यय होता था। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि इस धन को गलत कार्य में नहीं लगाना चाहिए। कौटिल्य का कहना है कि देव पूजा, पितृ पूजन, दान, अन्तपुर, राजकीय रसोई, दूत, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्य गृह, उद्योग-धन्धों में कार्य करने वाले, बेगार, पैदल अश्वारोही, हस्तारोही, और रथारोही सेना, गौ मण्डल, पशु, मृग, पक्षी तथा सर्प आदि जन्तुओं का सग्रह, काष्ठ, तृण, बगीचों की रक्षा आदि के कार्यों में राजकोष का व्यय होना चाहिए। इन विभिन्न विषयों में धन की कितनी मात्रा लगाई जाए, वह भी कौटिल्य ने निश्चित किया है। सार्वजनिक व्यय के सम्बन्ध में कौटिल्य ने जो लिखा है कि वह अत्यन्त स्पष्ट, क्रमबद्ध एव विस्तृत है।

कौटिल्य ने कोष की वृद्धि के कारणों की भाँति कोष के क्षय के कारणों का भी उल्लेख किया है। उनके मतानुसार आठ कारणों से कोष का क्षय हो सकता है। ये हैं—प्रतिबन्ध, प्रयोग, व्यवहार, अवस्तार, परिहापण, उपभोग परिवर्तन और अपहार। जब लाभदायक कार्यों में धन को नहीं लगाया जाता अथवा लाभदायी कार्यों में लगाए गए धन से प्राप्त आय को राजकोष में जमा नहीं कराया जाता तो यह प्रतिबन्ध कहलाता है। कोष क्षय के दूसरे तथा तीसरे कारण के अनुसार राजकोष के धन को सार्वजनिक कार्यों में लगाने की अपेक्षा निजी लाभ के कार्यों में तथा निजी व्यवहार में लगाया जाता है। ऐसा करने से राजकोष घटता जाता है। अवस्तार के अनुसार राज्य के धन को समय पर एकत्रित नहीं जाता था। जब भुगतान का समय नहीं होता है तब उसकी उगाही की जाती है। राज्य के कर्मचारी सार्वजनिक सम्पत्ति का उपभोग स्वय करते हैं अथवा दूसरों से कराते हैं। जब राजकोष के द्रव्यों को द्रव्यों में बदल दिया जाता है तो उसकी क्षति का सातवाँ कारण परिवर्तन पैदा हो जाता है। अपहार के अन्तर्गत प्राप्त धन को जमा नहीं किया जाता और व्यय किए बिना यह लिख दिया जाता है कि व्यय कर दिया गया। इन समस्त कारणों से सार्वजनिक धन का अपव्यय बढ़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय (वैदेशिक) सम्बन्ध

मण्डल सिद्धान्त—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कौटिल्य ने राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करने के लिए मण्डल सिद्धान्त का आश्रय लिया है। उन्होंने राज्यों का अरि राज्य, मित्र राज्य, उदासीन राज्य तथा मध्यम राज्य के रूप में विभाजन किया है। इनमें से प्रत्येक राज्य का एक मण्डल होता है और उसमें ये चारों प्रकार के राज्य सम्मिलित रहते हैं। इन राज्यों की अलग-अलग प्रकृतियाँ होती हैं और वे मिलकर वृहद् मण्डल की रचना करती हैं। मण्डल सिद्धान्त के अनुसार मण्डल का केन्द्रीय राजा 'विजिगीषु' राजा होता है जो पड़ौसी राज्यों को शत्रु समझते हैं और उन्हें जीतकर अपना राज्य सीमा में मिलाने की इच्छा रखता है। मण्डल सिद्धान्त के आधार पर कौटिल्य ने किसी राज्य के मित्र एव शत्रु राज्य होने की व्याख्या की है।

षाड्गुण्य नीति—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन उपायों एवं षाड्गुण्य के आधार पर किया जाता है। ये उपाय चार होते हैं—साम, दाम, दण्ड और भेद। इनके अतिरिक्त छः गुण या लक्षण होते हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधी भाव। कौटिल्य ने इन उपायों तथा गुणों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इनकी प्रकृति का उल्लेख करते हुए इनके प्रयोग के अवसरों की व्यवस्था की है। इन छः लक्षणों में सन्धि का आशय समझौता, विग्रह का अर्थ युद्ध, यान का तात्पर्य शत्रु पर वास्तविक आक्रमण करना, आसन का अर्थ तटस्थता, संश्रय से अभिप्राय बलवान का आश्रय लेना है और द्वैधी भाव से तात्पर्य संधि और युद्ध का एक साथ प्रयोग करना है। इन छः गुणों से समन्वित नीति परिस्थिति विशेष के अनुकूल अपनाई जानी चाहिए।

सेना एवं युद्ध

कौटिल्य ने सैनिक बल को राज्य की सम्पत्तियों में स्थान दिया है। उन्होंने सेना के छः प्रकारों का वर्णन किया है। ये हैं—मौल सेना जो राजधानी की रक्षा करती थी, भृत्य सेना जो वेतन भोगी सैनिकों से पूर्ण होती थी, श्रेणी सेना जो विभिन्न प्रदेशों में रखी जाती थी, मित्र बल अर्थात् मित्र राजा की सेना, शत्रु बल अर्थात् शत्रु राजा की सेना और अटवी बल अर्थात् जंगल की सुरक्षा के लिए नियुक्त सेना। सेना के इन प्रकारों की उपयोगिता उत्तरोत्तर घटती जाती है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान मित्र बल को तथा अन्तिम स्थान अटवी बल को दिया जा सकता है। सेना में वर्ण व्यवस्था को महत्व दिया गया। कौटिल्य का कहना है कि युद्ध विद्या में कुशल एवं विनयशील क्षत्रीय सेना सबसे अच्छी होती है। कौटिल्य ने व्यूह तथा दुर्ग बना कर युद्ध करने के लिए कहा है। उनका मत है कि सेना की छावनी से पाँच सौ धनुष की दूरी पर दुर्ग बनाया जाए अथवा भूमि की सुविधा के अनुसार व्यूह बनाया जाए और युद्ध किया जाए। व्यूह अनेक प्रकार के बनाए जा सकते थे। इनका वर्णन करने के साथ कौटिल्य ने यह बताया है कि अमुक व्यूह के विरुद्ध अमुक व्यूह की रचना विजय प्राप्ति के लिए फलदायक रहेगी। कौटिल्य ने युद्धों को प्रक्रियाओं के आधार पर चार भागों में विभाजित किया है—प्रकाश युद्ध, धर्म युद्ध, कूट युद्ध और तूष्णी युद्ध। इन चारों प्रकार के युद्धों का परिस्थिति के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिए। कौटिल्य सेना के चार अंगों—पैदल सैनिक, हाथी, घोड़े और रथ में हस्तिबल (हाथियों की सेना) को श्रेष्ठ मानते हैं। पैदल सैनिकों में वंशानुगत सैनिक (मौल), वैतनिक (भृत्य), श्रेणीगत तथा मित्र एवं कबायली सैनिकों को क्रमशः उच्चतर माना है। सेना मुख्यतः क्षत्रियों की ही होनी चाहिए। कौटिल्य के अनुसार शत्रु पर विजय पाने हेतु तीन शक्तियाँ अपेक्षित हैं—(1) उत्साह शक्ति, (2) प्रभाव शक्ति एवं (3) मन्त्र शक्ति। मन्त्र शक्ति से तात्पर्य परामर्श लेना है। इनमें उत्साह शक्ति ही श्रेष्ठ होती है।

दूत एवं गुप्तचर

अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों एवं राज्य की आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था के लिए गुप्तचरों तथा दूतों का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। कौटिल्य ने दूतों को राजा का मुख कहा है क्योंकि इनके माध्यम से वह अपनी बात अन्य राजाओं से कह पाता है तथा उनकी बात को सुन पाता है। कौटिल्य ने दूतों को उनकी योग्यता तथा अधिकारों के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया है—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ एवं शासनहर। इन तीनों प्रकार के दूतों के अधिकार तथा स्थिति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने पर्याप्त लिखा है।

धर्म और नैतिकता

कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक प्रकार से राजनीतिज्ञों के लिए निर्देशक ग्रन्थ है जिसके अनुशीलन के बाद वे राज्य की स्थापना करने तथा उसे बनाए रखने के लिए सफलतापूर्वक प्रयास कर सकते थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि ग्रन्थ द्वारा किसी आदर्श व्यवस्था का वर्णन किए जाने की अपेक्षा केवल व्यावहारिक कठिनाइयों पर विचार किया जाता। कौटिल्य के ग्रन्थ में हमें नैतिकता और धर्म की पूर्ण अवहेलना प्राप्त नहीं होती क्योंकि उनका अर्थशास्त्र सबसे पहले वेदों तथा स्मृतियों में वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त इसमें राजा को पुरोहित की नियुक्ति करना अनिवार्य माना गया है। उसने ब्राह्मणों को स्मृतियों की भाँति सामाजिक तथा कानूनी विशेषाधिकार सौंपे हैं। इस सबसे यह प्रतीत होता है कि कौटिल्य राजनीति को धर्म और नीति से वंचित नहीं करना चाहते थे। कौटिल्य ने राजा के स्वेच्छाचारी बनने के मार्ग में अनेक प्रतिबन्ध लगाए हैं। उनका कहना है कि राजा को सदैव जन कल्याण के कार्य करने चाहिए और जो कर लगाया जाए वह न्यायोचित हो। राजा को अपने मन्त्रियों पर कड़ा नियन्त्रण रखना चाहिए, वह सभी व्यक्तियों को न्याय प्रदान करे तथा जिन लोगों ने धर्म की सीमाओं का उल्लंघन किया है, उन्हें दण्ड दे। अर्थशास्त्र का राजा धर्म शास्त्रों एवं नीति शास्त्र के सुस्थापित सिद्धान्तों के अधीन कार्य करता है। इस रूप में वह अत्याचारी नहीं हो सकता। भारतीय जनता अत्याचारी शासन को सहन करने की अभ्यस्त नहीं थी। धर्म से बँधा हुआ होने के कारण राजा प्रत्येक समस्या पर अपने मन्त्रियों एवं परामर्शदाताओं से राय लेता था।

कौटिल्य का मूल्यांकन एवं देन

डॉ. नाहर के अनुसार "कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मौर्यकालीन भारत की शासन-पद्धति, राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का विशद् विवेचन है। ई. पू. चौथी शताब्दी के इतिहास के लिए इस ग्रन्थ से अच्छी सहायता मिलती है।"[1] डॉ. आर. एस. त्रिपाठी के अनुसार, "कौटिल्य अथवा चाणक्य चन्द्रगुप्त का प्रमुख मन्त्री था। उसका अर्थशास्त्र राजनीति और शासन पर एक अपूर्व ग्रन्थ है। इसके सैद्धान्तिक रूप के बावजूद भी भारतीय साहित्य में इसका स्थान अद्भुत और अद्वितीय है।"[2] डॉ. पी. एल. भार्गव के अनुसार, "मेगस्थनीज का भारत-वृत्तान्त उस काल का बड़ा सजीव चित्र देता है जिसकी अनेक अंशों में कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पूर्ति होती है।"[3] प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में कौटिल्य का प्रमुख स्थान है। सालेटोरे के अनुसार "प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।"[4] रामास्वामी ने 'अर्थशास्त्र' के महत्व को इस प्रकार प्रकट किया है, "कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' कौटिल्य के पूर्व की रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरी हुई राजनीतिक चातुर्य एवं प्रशासन-कला के सिद्धान्तों का संग्रह है। कौटिल्य ने प्रशासन-कला के एक पृथक् एवं विशिष्ट विज्ञान की रचना करने के प्रयास में उनकी नवीन रूप में व्याख्या की है।"[5] कृष्णाराव का भी ऐसा ही मत है, "अर्थशास्त्र का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इसने भारतीय पारलौकिकता की ओर राजनीति के आकर्षण की प्रवृत्ति के दोष का निराकरण किया है।"[6] वर्तमान राजनीतिक सदर्भ में भी कौटिल्य के राजनीतिक चिन्तन की प्रासंगिकता को स्वीकार किया जाता है। बन्दोपाध्याय के अनुसार, "महाकाव्यों और पुराणों के महापुरुषों के बाद भारतीयों का अन्य किसी नाम से इतना अधिक परिचय नहीं है जितना की चाणक्य के नाम से है। भारत में शासन-कला, कूटनीति के विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं को कौटिल्य की नीतियां बतलाई जाती हैं।"[7]

मानवेन्द्र नाथ राय

(Manvendra Nath Roy)

मानवेन्द्र नाथ राय जिनके बचपन का नाम नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य था, अत्यन्त उच्च कोटि के विद्वान् और विचारक तथा एक प्रभावशाली लेखक और वक्ता थे। उन्होंने विपुल साहित्य लिखा और लगभग छः हजार पृष्ठों की एक विराट पुस्तक 'आधुनिक विज्ञान के दार्शनिक परिणाम' (The Philosophical Consequences of Modern Science) लिखी।

जीवन परिचय (Life-Sketch)

एम. एन. राय (1886-1954) अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में बंगाल के क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए। विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सावरकर आदि उग्रपंथ के पथिकों ने उन्हें प्रभावित किया। ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति से क्षुब्ध होकर उन्होंने क्रान्तिकारी दल से नाता जोड़ लिया। भारत में सशस्त्र क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के आकांक्षी यतीन्द्र मुखर्जी का दायाँ हाथ बनने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक क्रान्तिकारी के रूप में 1910 और 1915 में उन्हें जेल जाना पड़ा। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर जर्मनी ने भारत में अशांति उत्पन्न करने की चाल खेली ताकि ब्रिटिश सेनाओं का ध्यान बँट जाए। जर्मनी ने गुप्त रूप से भारत में क्रान्तिकारी दल को धन और शस्त्र भेजने की व्यवस्था की। शस्त्रों की गुप्त सहायता प्राप्त करने के लिए राय 1915 में 'डच इंडीज' के लिए पलायन कर गए। उद्देश्य में असफल रहने पर वे दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में घूमते रहे और 1917 में वे मैक्सिको जा पहुँचे। मैक्सिको में उन्होंने समाजवादी शक्तियों को संगठित करने में विशेष रुचि ली और उन्हीं के प्रभाव से मैक्सिको के समाजवादी आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय दिशा में मोड़ा। राय मैक्सिको में समाजवादी दल की नेशनल कान्फ्रेंस के प्रथम चेयरमैन बन गए। माइकेल बोरोदिन ने उन्हें मार्क्सवाद की ओर प्रेरित किया। राय ने मैक्सिको में साम्यवादी दल की स्थापना की। 1919 में वे रूस गए और एक दशाब्दी तक साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय (Communist International) के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे। अपनी बौद्धिक प्रतिभा से उन्होंने लेनिन को बड़ा प्रभावित किया। 'मास्को इन्स्टीट्यूट के पौर्वात्य विभाग' (Oriental Department of the Moscow Institute) के प्रधान के रूप में राय ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रभावित करने की चेष्टा की और भारत में साम्यवादी दल की स्थापना के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। 1927 में उन्हें एक प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में चीनी साम्यवादी दल को परामर्श देने के लिए चीन भेजा गया। उन्होंने

1 *डॉ. रतिभानुसिंह नाहर* : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 8.
2 *डॉ. आर. एस. त्रिपाठी* : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 115
3 *डॉ. पी. एल. भार्गव* : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 173.
4 *Saletore B. A.* : Ancient Indian Thought & Institutions, p. 54
5 *Ramaswami, T. N* : Essentials of Indian State Craft, p. 1.
6. *Krishna Rao, M. V* : Studies in Kautilya, p. 172.
7 *Bandhopadhya, N. C.* : Kautilya, p. 1.

चीनी साम्यवादियों को सलाह दी कि वे अपनी सामाजिक आधारभूमि को विस्तृत करने के लिए कृषि क्रान्ति की योजना (Plan of Agrarian Revolution) पर अमल करें।

राय एक मौलिक और स्वतन्त्र विचारक थे। साम्यवादी जगत् पर रूस का एकाधिकार उन्हें रुचिकर नहीं था। 1928 में तृतीय साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय नेतृत्व के रूसी एकाधिकार का उन्होंने विरोध किया। स्टालिन की उग्रवामपक्षीय विचारधारा उनकी आलोचना की शिकार बनी। फलस्वरूप 1928 में राय को कोमिन्टर्न से निकाल दिया गया। राय नाम बदल कर भारत लौट आए, लेकिन कानपुर षड्यन्त्र केस के सम्बन्ध में 1931 में उन्हें लगभग 6 वर्ष के लिए कारागार में डाल दिया गया। 15 वर्ष के निर्वासन और 6 वर्ष के कारावास के बाद 1936 में मानवेन्द्र नाथ राय सक्रिय रूप से भारतीय राजनीति में कूद पड़े। उन्होंने गाँधीवाद के विरुद्ध अभियान छेड़ कर दिया। उन्होंने गाँधीवाद को एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक दर्शन बताया जिसका 'सामाजिक समन्वय का सिद्धान्त' अव्यावहारिक था। राय कांग्रेस में रहे लेकिन गाँधीवादी नेतृत्व से कतई सन्तुष्ट न हो सके अतः क्षुब्ध होकर उन्होंने 1939 में कांग्रेस के भीतर ही League of Radical Congressmen बनाई। 1940 में राय ने अपने साथियों सहित काँग्रेस को सदा के लिए छोड़ दिया और अपनी अलग रेडीकल डेमोक्रेटिक पार्टी (Radical Democratic Party) की स्थापना की। उनका साप्ताहिक पत्र स्वतन्त्र भारत (Independent India) जिसकी नींव वे 1937 में ही डाल चुके थे, कांग्रेस की रीति-नीति पर कठोर प्रहार करता रहा। इस पत्र को आगे चलकर 1949 में 'रेडीकल ह्यूमेनिस्ट (Radical Humanist) नाम दिया गया। राय ने आरोप लगाया कि गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस फासिस्ट बनने वालों का संघ बनती जा रही है। राय ने 'वैज्ञानिक राजनीति' (Scientific Politics) की वकालत की। 1942 में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का समर्थन उन्होंने इसलिए नहीं किया कि यह आन्दोलन उनकी दृष्टि में, कांग्रेस के औद्योगिक और पूँजीवादी सरसकों द्वारा संगठित था। राय ने गाँधी को फासिस्ट और कांग्रेस को भारतीय पूँजीवाद द्वारा पोषित संस्था बताया। 1946 में राय की विचारधारा में एक आधारभूत परिवर्तन आया। 1947 में उन्होंने अपने दल को भंग कर दिया और वे अपने 'नवीन दर्शन' (New Philosophy) को पूर्णता देने में लग गए जो 'मौलिक मानववाद' (Radical Humanism) के नाम से विख्यात है। 1954 में राय की मृत्यु हो गई।

राय और रोमाँटिक क्रान्तिवाद (Roy and Romantic Revolutionism)

राय अपने चिन्तन के प्रथम काल (1901-1915) में एक रोमाँटिक क्रान्तिकारी रहे। बंकिमचन्द्र के 'आनन्द मठ' के सामाजिक आदर्शवाद ने उन्हें अनुप्राणित किया। वे 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' (Cultural Nationalism) से प्रभावित थे। राय पर आनन्द मठ और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रभाव पड़ा तथा अन्य आतंकवादियों के समान वे यह विश्वास करने लगे कि आतंकवादी उपायों से ब्रिटेन को भारतीयों के हाथों में सत्ता सौंप देने के लिए बाध्य किया जा सकता है। उत्कट साहसी क्रान्तिकारी सशस्त्र के बल पर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर सकते हैं जो ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फैंक सकें। हथियार एकत्र करने के लिए भूमिगत आतंकवादियों को समर्थन देने के लिए और संगठन के कार्य के लिए आवश्यक धन राजनीतिक डकैती के साधनों से प्राप्त किया जा सकता है। राय के अनुसार, स्वतन्त्रता प्राप्ति के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रान्तिकारी हिंसात्मक साधनों को अपनाना हेय नहीं है। यद्यपि तत्कालीन आतंकवादी राय के इन विचारों से प्रभावित हुए, तथापि यह क्रान्तिकारी या आतंकवादी आन्दोलन बुद्धिजीवियों को प्रभावित न कर सका, क्योंकि इस आन्दोलन में सामाजिक आर्थिक कार्यक्रम का नितान्त अभाव था। यह मध्यमवर्गीय युवा वर्ग तक ही सीमित था, जन-साधारण का समर्थन इसे नहीं मिला।

राय और मार्क्सवाद (Roy and Marxism)

मार्क्सवादी के रूप में राय का द्वितीय जीवनकाल 1917 से 1946 तक रहा जिसमें प्रारम्भिक चरण में अर्थात् 1917 से 1930 तक उन पर रूढ़िवादी साम्यवाद का रंग चढ़ा रहा, अगले चरण में 1930 से 1939 के दौरान वे एक रेडिकल कांग्रेसी (Radical Congressmen) रहे और तीसरे चरण अर्थात् 1940 से 1946 के दौरान उनकी चिन्तन शैली एक मौलिक लोकतन्त्रवादी (Radical Democrat) की रही। राय का मार्क्सवादी स्वरूप एक-सा न रहा, बल्कि समय के साथ उसमें परिवर्तन आते गए, उन्होंने लेनिन, स्टालिन आदि साम्यवादी महारथियों के विचारों और क्रिया-कलापों का अन्धानुकरण नहीं किया। फलस्वरूप रूसी साम्यवाद के साथ उनके मतभेद बढ़ते चले गए और 1928 में वे 'कॉमिन्टर्न' से निष्कासित कर दिए गए।

मार्क्सवाद की आलोचना

(1) मार्क्सवाद में दो परस्पर विरोधी और असंगत प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। एक प्रवृत्ति शोषण की निन्दा करती है तो दूसरी प्रवृत्ति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष पर बहुत अधिक बल देती है। राय को मार्क्स की प्रथम उदार प्रवृत्ति ही रुचिकर थी जिसने मार्क्स को संसार में शोषित और पीड़ित वर्ग का प्रमुख हितैषी बना दिया

था। रूस के साम्यवादी यद्यपि शोषण की निन्दा करते थे, लेकिन उनका विशेष आग्रह मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष था। राय का कहना था इस प्रवृत्ति में निन्दा का अर्थ सर्वाधिकारवाद अथवा तानाशाही का विकास है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रेमी राय ने मार्क्सवादियों अथवा रूसी साम्यवादियों की सर्वाधिकार प्रवृत्ति को पसन्द नहीं किया। अपनी इन मान्यताओं के कारण ही राय रूसी साम्यवादी शासन का समर्थन नहीं कर सके और साम्यवादी आन्दोलन तथा मार्क्सवाद से अलग हो गए।

(2) राय मार्क्सवाद की वैज्ञानिक पद्धति के प्रशंसक थे। उसे कट्टरपंथ का रूप देना उन्हें स्वीकार न था, अतः स्वाभाविक था कि लेनिन और उसके अनुयायियों से, जो मार्क्सवाद को एक कट्टरपंथ बनाने के पक्ष में थे। राय का अभिमत था कि मार्क्सवाद को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मार्क्सवाद को समय के अनुकूल एक सजीव और गतिशील दर्शन बनाना होगा जिसमें आवश्यक संशोधन बना रहे। मार्क्सवाद को यदि कट्टरता और संकीर्णता के घेरे में बाँध दिया गया तो उसकी जीवन शक्ति का ह्रास हो जाएगा।

(3) राय ने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन का विरोध किया और इसे मानव-प्रगति के मार्ग में बाधक माना। राय ने मार्क्स के इस विश्वास से असहमति प्रकट की कि इतिहास उत्पादन-साधनों के विकास से उत्पन्न घटनाओं की शृंखला है।

(4) राय के अनुसार, इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या भी दोषपूर्ण है क्योंकि वह सामाजिक प्रक्रिया में मानसिक क्रिया को बहुत कम स्थान देती है। मानवेन्द्र नाथ राय ने मार्क्सवाद की नई व्याख्या करने का प्रयत्न किया। उन्होंने बताया कि इतिहास में वैचारिक और भौतिक दो समानान्तर प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। चिन्तन एक शारीरिक प्रक्रिया है जो शरीर तथा परिवेश की परस्पर क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होती है किन्तु यह उत्पन्न हो जाने पर विचार अपने निजी विकास नियम का अनुसरण करते हैं। विचारों की गति तथा सामाजिक प्रक्रियाओं की द्वन्द्वात्मक गति के बीच परस्पर क्रिया होती रहती है, किन्तु राय का स्पष्ट मत है कि किसी भी विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में सामाजिक घटनाओं तथा विचार आन्दोलनों के बीच कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

(5) राय ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र (Sociology of Class-Struggle) में सन्देह प्रकट किया। उन्होंने कहा कि यद्यपि मानव इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्गों का अस्तित्व रहा है और उनमें खींचातानी भी रही है लेकिन इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि सामाजिक एकता और बन्धन के तत्व विशेष प्रबल रहे हैं। इन शक्तिशाली तत्वों के कारण समाज मुख्य रूप से अब तक टिका हुआ है।

(6) राय ने मार्क्स की इस धारणा को गलत बताया है कि "मध्यम वर्ग (Middle Class) का लोप हो जाएगा। मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत मध्यम वर्ग का विकास हुआ है और आर्थिक प्रक्रियाओं के विस्तार के साथ मध्यम वर्ग की संख्या बढ़ रही है। प्रथम महायुद्ध के बाद विश्व इतिहास में मध्यम वर्ग का जो सांस्कृतिक और राजनीतिक नेतृत्व रहा है उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।"

(7) मार्क्सवाद के विरुद्ध राय की एक गम्भीर आपत्ति यह रही है कि उसमें नैतिक नियमों के पनपने के लिए कोई स्थान नहीं है। मार्क्सवादी दर्शन व्यक्ति को अपेक्षित स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करता। यह दर्शन व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता देता है कि वह ऐतिहासिक आवश्यकता को समझ ले और स्वयं को उसके समक्ष प्रसन्नतापूर्वक समर्पित कर दे। राय ने कहा, स्वतन्त्रता की यह धारणा तो गुलामी की धारणा है जिस पर चलने से समाज 'स्वेच्छापूर्ण गुलामों' का समूह बन जाएगा। समाज के विकास में नैतिक शक्ति की अवहेलना करना मार्क्सवाद का गम्भीर दोष है।

राय का मौलिक मानववाद (Roy's Radical Humanism)

'कॉमिन्टर्न' से निष्कासित होने और भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से प्रवेश करने के बाद मानवेन्द्र नाथ राय मार्क्सवाद से हटते गए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में रहते हुए उन्होंने गाँधीवादी नेतृत्व की कटु आलोचना की। जब उन्होंने देखा कि कांग्रेस में उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं है तो उन्होंने कांग्रेस का परित्याग करके दिसम्बर, 1940 में अपनी पृथक् 'रेडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी' का संगठन किया। 1945-1946 के निर्वाचनों में इस पार्टी को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। राय को विश्वास था कि जब तक भारत में सांस्कृतिक और दार्शनिक क्रान्ति नहीं आएगी तब तक मौलिक लोकतन्त्र (Radical Democracy) के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकेंगे, अतः उन्होंने रेडिकल डैमोक्रेटिक पार्टी को भंग करके अपनी सम्पूर्ण शक्ति भारतीय पुनर्जागरण के प्रसार में लगा दी जिसका उद्देश्य मौलिक मानववाद के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करना था। अपने जीवन के अन्तिम सात वर्षों में अर्थात् 1947 से 1954 की अवधि में वे भारत में ही नहीं, वरन् विदेशों में भी मौलिक मानववाद (Radical Humanism) के विद्वान के रूप में विख्यात हुए। राय ने अपने मानववाद को मौलिक इसलिए कहा, क्योंकि वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनका मानववाद पूर्ववर्ती और समकालीन सभी विचारकों द्वारा प्रतिपादित मानववाद से भिन्न है। पहले के मानववादी व्यक्ति को किसी अति-मानवीय और अति-प्राकृतिक सत्ता के अधीन करने की इच्छा की धारणा से नहीं बचा पाए थे और आधुनिक मानववादी अपने दर्शन में

मनुष्य को वांछित केन्द्रीय स्थान नहीं दे सके। राजा राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द घोष, गोपालकृष्ण गोखले, महात्मा गाँधी आदि मानवता के उपासक थे, लेकिन राय का मानवतावाद भिन्न था। राय ने स्वतन्त्रता के तीन आधार स्तम्भ बताए—मानववाद, व्यक्तिवाद और विवेकवाद। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है अतः वह स्वतन्त्रता की कामना करता है। स्वतन्त्रता के मार्ग में कठिनाइयाँ और बाधाएँ आती हैं जिनके लिए आंशिक रूप से प्रकृति और आंशिक रूप से मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। न केवल प्राकृतिक बाधाओं ने वरन् धर्म और जादू ने मानव स्वतन्त्रता को सीमित किया है। धर्म ने अपना बुद्धिवादी चरित्र खोकर अपनी कठोरता और कट्टरता से मानव स्वतन्त्रता और मानव सभ्यता को आघात पहुँचाया है। परिवार, राज्य, कानून, विवाह और विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ भी अपने रूढ़िवादी और गतिहीन रुख के कारण मानव स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधाएँ पहुँचाती रही हैं।

राय ने अपने नव-मानववाद में व्यक्ति को राष्ट्रवाद की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व-बन्धुत्व की दीक्षा दी। उन्होंने लोगों को 'प्रेम और विश्वास के राष्ट्रमण्डल' का सदस्य बनाना चाहिए जिसे भौगोलिक सीमाओं ने दूषित न किया हो। डॉ. वर्मा के अनुसार, "नवीन मानववाद का दृष्टिकोण विश्व राज्यवादी है। उसके समाज-दर्शन में राष्ट्रवाद अन्तिम अवस्था नहीं है। राष्ट्रवाद का आधार जातिगत विद्वेष है और जिस सीमा तक वह सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करता है वहाँ तक प्रतिक्रियावादी है, इसलिए राष्ट्रवाद की अपेक्षा विश्व-बन्धुत्व की आवश्यकता है। अरविन्द, टैगोर तथा गाँधी की भाँति राय भी मानव जाति के सहकारिता मूलक संघ में विश्वास करते हैं।.... नवीन मानववाद स्वतन्त्र मनुष्य के समाज तथा बिरादरी के आदर्श को साकार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है।" राय ने विश्व-संघ का उत्साह के साथ समर्थन किया। उनके अनुसार, "नवीन मानववाद विश्वराज्यवादी है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों का विश्व-राज्य राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं से परिबद्ध नहीं होगा। वे राज्य पूँजीवादी, फासीवादी, समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य प्रकार के क्यों न हों। राष्ट्रीय राज्य मानव के बीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के आघात से विलुप्त हो जाएँगे।" राय ने विश्व-राज्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बीच भेद किया। उन्होंने आध्यात्मिक समाज अथवा विश्व-राज्यवादी मानववाद का समर्थन किया। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद में पृथक् राष्ट्रीय राज्यों के अस्तित्व का विचार है जबकि राय का विश्वास था कि एक सच्ची विश्व सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही की जा सकती है।

राय और मौलिक लोकतन्त्र (Roy and Radical Democracy)

राय पूँजीवादी लोकतन्त्र और साम्यवाद के विरुद्ध थे क्योंकि इन दोनों के द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ह्रास होता है। राय के अनुसार वर्तमान सामाजिक ढाँचा ऐसा है जिसमें व्यक्ति अपने जन्मसिद्ध अधिकार अर्थात् स्वतन्त्रता का समुचित उपभोग नहीं कर पाता। राज्य एक ऐसा संगठन है जिसने एक बाध्यकारक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया है। राज्य का निर्माण स्वतन्त्र और शान्तिपूर्ण जीवन के लिए मनुष्यों के सहकारी प्रयोग द्वारा हुआ है। यह शक्ति पर नहीं, बल्कि व्यक्ति की नैतिक भावना पर आधारित है। राय ने 19वीं शताब्दी के उदारवादी लोकतन्त्र को एक ऐसा औपचारिक लोकतन्त्र माना है। जहाँ विश्व के बहुसंख्यक राजनेता और विद्वान राजनीतिक दलों को लोकतन्त्र की अनिवार्यता मानते हैं वहाँ राय ने सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए राजनीतिक दलों की कार्य पद्धति को ठुकरा दिया। उन्होंने कहा कि यदि नैतिक उत्थान करना है तो वर्तमान दल-पद्धति को समाप्त करना होगा। विश्व के नैतिक पतन का एक मूल कारण वर्तमान दल-पद्धति है। राजनीतिक दल अपने चुनाव अभियानों द्वारा जन-साधारण को वास्तविक राजनीतिक शिक्षा नहीं देते, अपितु राजनीतिक चालबाजियाँ और कुशिक्षा सिखाते हैं। इन दलों से जन-साधारण में विवेक जाग्रत नहीं होता, बल्कि उनकी उच्छृंखल भावनाएँ उमड़ती हैं। ये दल जनता को उकसा कर इस प्रकार का वातावरण पैदा करते हैं जिसमें राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक समस्याओं पर विवेकपूर्ण विचार सम्भव नहीं होता। राजनीतिक दलों का उद्देश्य शासन-सत्ता के लिए छीना-झपटी करना है, उन्हें जनता के वास्तविक हितों की कोई परवाह नहीं होती। विनोबा, जयप्रकाश नारायण आदि सर्वोदयी विचारक राजनीति को समाज के रोगों का मूल कारण मानते हुए उसके स्थान पर लोक-नीति को प्रतिष्ठित करना चाहते थे और सभी राजनीतिक, आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण करना चाहते थे तथा गाँवों को स्वशासी और आत्म-निर्भर इकाइयाँ बनाना चाहते थे। मुख्य अन्तर यही है कि वे स्वायत्त शासन ग्राम गणराज्यों के स्थान पर 'जन समितियों' (Peoples Committees) को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। राय की मान्यता थी कि जन-समितियों अथवा स्थानीय व्यक्तियों की समितियों के विकास से दल-विहीन यथार्थ लोकतन्त्र अर्थात् संगठित लोकतन्त्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा। जन-समितियों के माध्यम से सार्वजनिक मामलों के प्रबन्ध में जन-साधारण को अधिकाधिक भाग मिल सकेगा। उन्होंने आग्रह किया कि हमें अपने मस्तिष्क से यह धारणा निकाल फेंकनी चाहिए कि राजनीति का एकमात्र रूप 'सत्ता-प्रधान राजनीति' है।

राय और राष्ट्रवाद (Roy and Nationalism)

मानवेन्द्र नाथ राय प्रारम्भ में मार्क्सवादी रहे और बाद में मौलिकतावादी। ये विचारधाराएँ राष्ट्रवाद से मेल नहीं खातीं, अतः स्वाभाविक है कि राय ने राष्ट्रवाद को एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति बताते हुए प्रत्येक समाज और प्रत्येक देश

को इससे बचने का सन्देश दिया। द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटिश सत्ता के साथ कांग्रेस के सहयोग की नीति से राय को बड़ा कष्ट पहुँचा। उनकी धारणा थी कि धुरी शक्तियाँ फासीवाद अथवा अधिनायकतन्त्र की स्थापना के लिए लड़ रही हैं जबकि मित्र-राष्ट्र लोकतन्त्र की रक्षा के लिए युद्धरत हैं, अतः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को मित्र-राष्ट्रों की हर प्रकार से सहायता करनी चाहिए। *राष्ट्रीय हित और गौरव की आड़ लेकर ब्रिटिश सरकार से सौदेबाजी न करके फासीवाद का अन्त करने के लिए* कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार को पूर्ण सहायता देनी चाहिए। जब कांग्रेस ने इसकी कोई परवाह न की और गाँधी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया तो मानवेन्द्रनाथ को निराशा हुई। उन्होंने कांग्रेस को एक 'फासिस्ट संगठन' (Fascist Organisation) तक कह दिया और ब्रिटिश सरकार से अपील की कि 'भारत छोड़ो आन्दोलन' को निर्ममतापूर्वक कुचल दिया जाय। राय का यह व्यवहार निःसंदेह देशद्रोहपूर्ण, अराष्ट्रीय और घोर निन्दनीय था। वे इस बात को भूल गए कि ब्रिटिश सत्ता अनेक दशाब्दियों से भारतीयों को स्वशासन देने अथवा उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के बारे में कैसे झूठे आश्वासन देती आ रही थी और अंग्रेजों ने देश के स्वाधीनता आन्दोलन को दबाने के लिए लोगों पर कितने *अत्याचार किए थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की हिमायत करके और राष्ट्रवादियों को कुचलने की अपील करके राय ने अपने* उज्ज्वल पक्ष पर सदैव के लिए कलंक रूपी धब्बा लगा लिया।

राय का मूल्यांकन एवं देन

मानवेन्द्र नाथ राय आधुनिक भारत में दर्शन और राजनीति के विद्वान् थे, पर दुर्भाग्य यह है कि उनकी प्रतिभा ध्वंसात्मक थी, न कि रचनात्मक। राय ने भौतिकवादी होने के नाते, धर्म और आध्यात्मिक दर्शन की दुराग्रहपूर्वक भर्त्सना की। उन्होंने राष्ट्रवाद को पुराना और सड़ा-गला आदर्श बताया तथा यहाँ तक कह दिया कि "राष्ट्रवाद की पराजय भारतीय स्वतन्त्रता की शर्तें हैं।" वास्तव में, राय के दृष्टिकोण और चिन्तन-दिशा का निर्माण अहंकारपूर्ण साम्यवादी बुद्धिवाद से भरा हुआ था। वे मूल्य-विहीन बुद्धिवादी थे, अतः भारतीय राष्ट्रवाद की दबी हुई भावनाओं को पहचानने में वे असफल रहे। राष्ट्रीय कांग्रेस को फासीवादी संगठन बताना और ब्रिटिश हुकूमत से 'भारत छोड़ो आन्दोलन' को कुचल देने की अपील करना राय का एक ऐसा दुष्कार्य था जो उनके ध्वंसात्मक रूप को प्रकट करता है। राय ने यह मानकर भूल की कि भौतिकवाद एकमात्र सम्भव दर्शन है। वे भूल गए कि ज्ञान असीम है, अतः एक सिद्धान्त अन्तिम नहीं माना जा सकता। राय ने भारतीय संस्कृति की महानता को न समझ पाने की भूल की। अपने को आधुनिक मानने की सनक में उन्होंने भारतीय संस्कृति और गाँधीवाद के विरुद्ध जहर उगला और स्वयं को ऐसे बुद्धिवादी के रूप में प्रस्तुत किया जिसे भारतीय समाज में समुचित स्थान मिलना कठिन है।

महात्मा गाँधी
(Mahatma Gandhi)

पूर्व और पश्चिम के जिस समन्वय का आरम्भ स्वामी विवेकानन्द ने किया था उसे व्यापक आधार पर आगे बढ़ाने का कार्य गाँधी, अरविन्द, रवीन्द्र और नेहरू ने किया। *इनका अपना ढंग एवं कार्य प्रणाली थी, किन्तु इनके प्रयत्न पूर्व* और पश्चिम को निकट लाए इसीलिए इनके युग को एक 'सामंजस्य या समन्वय का युग' (The Era of Synthesis) कहते हैं। इन सभी विभूतियों ने समन्वय और सहिष्णुता पर बल देते हुए राष्ट्र-निर्माण के वैचारिक और व्यावहारिक प्रयत्न पर अपनी भूमिका निभायी। महात्मा गाँधी ने सर्वोदय का जो मन्त्र फूँका उसे जयप्रकाश नारायण और विनोबा भावे ने आगे बढ़ाया। आचार्य विनोबा 'सर्वोदय के प्रतीक' बन गए। जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया आदि ने भारत के लिए समाजवाद के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए तो मानवेन्द्र नाथ राय का नाम पर्यिचित रूप से 'मानवतावाद' के साथ जुड़ गया।

महात्मा गाँधी : जीवन-परिचय (Mahatma Gandhi : Life-Sketch)

मोहनदास करमचन्द गाँधी (1869-1948) का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 को काठियावाड़ स्थित पोरबन्दर में एक धार्मिक घराने में हुआ था। उनके पिता करमचन्द पोरबन्दर राज्य के दीवान थे। उनकी माता पुतली बाई नेक और धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। 1876 में गाँधीजी अपने माता-पिता के साथ राजकोट चले गए जहाँ उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई और 13 वर्ष की आयु में उनका विवाह कस्तूरबा के साथ हो गया। 1881 में उन्होंने हाईस्कूल किया और 16 वर्ष की आयु में उनके पिता का देहान्त हो गया। 1884-85 में कुसंगति में पड़कर उन्होंने चोरी-छिपे माँस-भक्षण किया, लेकिन उनका सत्यवादी मन इस को छिपा नहीं सका। उन्होंने अपने माता-पिता से क्षमा-याचना कर अपने दोषों का प्रायश्चित किया, असत्य का त्याग कर सत्य का वरण किया।

गाँधीजी 1887 में मैट्रिक पास करने के बाद कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए 1888 में इंग्लैण्ड गए और 1891 में बैरिस्टर होकर भारत लौटे। राजकोट और मुम्बई में उन्होंने वकालत की, किन्तु उन्हें विफलता का सामना करना पड़ा। गाँधीजी की असफलता का मुख्य कारण यह था कि वे चाटुकारिता और षड्यन्त्र की रीति-नीति को नैतिक

दृष्टि से असह्य मानते थे। अन्त में दादा अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी नामक एक मुस्लिम व्यापारिक संस्था जो दक्षिण अफ्रीका में थी, कानूनी कार्यवाही की देखरेख के लिए उन्हें नियुक्ति मिली और वे 1893 में डरबन पहुँचे। दक्षिण अफ्रीका में नेटाल के सर्वोच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में पंजीकृत किए जाने वाले वे प्रथम भारतीय थे। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका में गए थे केवल एक वर्ष के लिए ही, किन्तु रह गए बीस वर्ष। अफ्रीका में उन्होंने उस अत्याचार और अन्याय को देखा जो वहाँ की गोरी सरकार प्रवासी भारतीयों पर रंग और जाति-भेद के नाम पर कर रही थी। 1893 से 1914 तक गांधीजी ने वहाँ गोरी सरकार के विरुद्ध अपना अहिंसात्मक युद्ध लड़ा और सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया। प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के समय तक गांधीजी ब्रिटिश सरकार के प्रति सहयोगी के रूप में अधिक सक्रिय रहे। 1914 में भारत लौटने पर मुम्बई की जनता ने गांधीजी को 'महात्मा' की उपाधि दी। 1915 में ब्रिटिश सरकार की ओर से उन्हें 'केसरे हिन्द' स्वर्ण पदक प्रदान किया। दक्षिण अफ्रीका से आने के बाद गांधीजी भारत में ही रहे और उन्होंने देश की आजादी के लिए कठोर संघर्ष किया। 1915 में गांधीजी ने अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे 'सत्याग्रह आश्रम' (जो बाद में साबरमती के नाम से प्रसिद्ध हुआ) की स्थापना की। भारत में महात्मा गांधी ने जो गतिविधियाँ आरम्भ की वे ब्रिटिश सरकार की आशा के प्रतिकूल थीं। 1917 में उन्होंने भारतीय मजदूरों को बन्धक बनकर श्रम करने हेतु देश के बाहर भेजने की नीति का विरोध किया। उसी वर्ष वे नील बागानों में काम करने वाले श्रमिकों की दशा की जाँच करने के लिए चम्पारन (बिहार) गए। चम्पारन के सत्याग्रह ने बीस लाख से अधिक किसानों को प्रभावित किया। यह सत्याग्रह का व्यापक प्रयोग था जिसमें एक शताब्दी से चले आने वाले अन्याय का अहिंसक सत्याग्रह द्वारा निवारण हुआ। फरवरी, 1919 में गांधीजी ने रोलट एक्ट के विरोध में सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली। 6 अप्रैल, 1919 को देशव्यापी हड़ताल हुई तथा भारतव्यापी सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ दिया गया। पंजाब में उनके प्रवेश पर लगाए गए प्रतिबन्ध को तोड़ने पर उन्हें दिल्ली पहुँचने से पूर्व गिरफ्तार कर लिया गया और मुम्बई ले जाकर छोड़ दिया गया। देश के कई भागों में तोड़-फोड़ और हिंसात्मक घटनाएँ होने पर गांधीजी ने 18 अप्रैल को सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया। गांधीजी ने 'नवजीवन' गुजराती मासिक और 'यंग इण्डिया' (Young India) अंग्रेजी साप्ताहिक का सम्पादन अपने हाथ में ले लिया। जनवरी, 1920 में गांधीजी वायसराय के पास एक शिष्टमण्डल लेकर गए जिसमें टर्की के सुल्तान (मुसलमानों के खलीफा) को इस्लाम के पवित्र स्थानों पर अपने एकाधिकार से वंचित न करने सम्बन्धी दबाव ब्रिटिश सरकार पर डालने की माँग की गई। 1 अगस्त को गांधीजी ने वायसराय के नाम पत्र लिखकर केसरे हिन्द पदक, जुलु-युद्ध पदक तथा बोअर-युद्ध पदक वापस लौटा दिये। सितम्बर में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के कलकत्ता विशेष अधिवेशन में गांधीजी ने पंजाब की घटनाओं तथा खिलाफत के समर्थन में असहयोग कार्यक्रम के लिए स्वीकृति प्राप्त कर ली। नवम्बर में उन्होंने अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। नागपुर में हुए कांग्रेस के नियमित अधिवेशन में गांधीजी ने सभी वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा भारतीयों द्वारा स्वराज्य प्राप्ति को कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया। 1920 से मृत्यु-पर्यन्त गांधीजी राष्ट्रीय आन्दोलन के सखा, मार्गदर्शक, चिन्तक सभी कुछ रहे। उन्होंने 1921, 1930 और 1942 के महान् असहयोग आन्दोलनों में भारतीयों को सक्रिय किया। कई राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए और अन्त में 1947 में भारत स्वाधीन हुआ। हिन्दू मुस्लिम एकता तथा सहअस्तित्व के वे महान् समर्थक रहे। यह दुर्भाग्य था कि उनके अथक प्रयासों के बावजूद स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व कुछ वर्षों में हिन्दू और मुसलमानों के बीच विभेद की खाई गहरी होती गई इसका परिणाम निकला—भारत का विभाजन। 1947 में भारत खण्डित हो गया। महात्मा गांधी को इससे गहरा धक्का लगा। इसी स्थिति में 30 जनवरी, 1948 को नाथूराम गोडसे नामक एक हिन्दू ने उन्हें बन्दूक की गोलियों से घायल कर दिया और होठों पर ईश्वर का नाम लिए वे शहीद हो गए।

गांधीजी की मृत्यु उनके जीवन की तरह अकारथ नहीं गई। उनकी मौत से वे विचार और सिद्धान्त और अधिक सजीव हो उठे जिनके लिए वे जीवनभर लड़े। मृत्यु के बाद महात्मा गांधी अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलशाली हो उठे और यही कारण है कि संसार में करोड़ों व्यक्ति आज उनके विचारों और सिद्धान्तों से प्रभावित हैं।

गांधी का आध्यात्मिक आदर्शवाद (Gandhi's Spiritual Idealism)

महात्मा गांधी के आध्यात्मिक आदर्शवाद में ईश्वर, सत्य, नैतिकता, साधन की श्रेष्ठता, अहिंसा आदि का विशिष्ट स्थान है और उपयुक्त होगा कि हम इनमें से प्रत्येक का पृथक् विवेचन करें, पर हमें यह ध्यान रखना होगा कि गांधीजी के आध्यात्मिक दर्शन में ये विभिन्न पहलू कोई बिखरी हुई कड़ियाँ नहीं थे, बल्कि एक दूसरे से गुँथे हुए थे।

1. ईश्वर की अवधारणा (The Concept of God)

गांधीजी के जीवन और चिन्तन में ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास था। वस्तुत: उनके लिए ईश्वर और सत्य अथवा सत्य और ईश्वर में कोई भेद न था। उनका कहना था कि सत्य ईश्वर है, सत्य का निषेध ईश्वर का निषेध है। गांधीजी का विश्वास था कि ईश्वर में आस्था जीवन को निखारती है और हृदय में ज्ञान तथा प्रकाश का सागर

उंडेलती है। ईश्वर-भक्ति जीवन को पवित्र, उदार और सहिष्णु बनाती है। हम ईश्वर को बुद्धि से नहीं माप सकते, तर्क की कसौटी पर नहीं कस सकते, विज्ञान के नियमों से नहीं समझ सकते, वरन् श्रद्धा के बल पर उसकी अनुभूति कर सकते हैं। श्रद्धा ही वह प्रकाश किरण फैंकती है जिसके द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव हो। यदि हम अपने हृदय में ईश्वर की उपस्थिति के सत्य की जाँच करना चाहते हैं तो हमें पहले अपने अन्दर जीवन्त श्रद्धा का विकास करना चाहिए। गाँधीजी ने कहा कि ईश्वर एक सर्वव्यापक सत्य है। ईश्वर शुभ-अशुभ का मालिक है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बुरा है। ईश्वर ने बुराई पैदा की है, पर वह स्वयं उससे अछूता है। बुराई से युद्ध करना ईश्वर-ज्ञान प्राप्त करने का एक सबल मार्ग है। गाँधीजी ने ईश्वर को मानवता से पृथक् नहीं माना। उन्होंने ईश्वर शब्द का अर्थ विस्तार से किया और उसे 'दरिद्रनारायण' कहकर पुकारा जिसका अर्थ है 'गरीबों का ईश्वर'। उन्होंने 'स्वर्ग के भगवान' को धरती पर उतार दिया, उसे अलौकिक से लौकिक बना दिया, दूसरे शब्दों में ईश्वर का सामाजीकरण और मानवीकरण कर दिया। गाँधीजी ने ईश्वर को महान् लोकतन्त्रवादी कहा, क्योंकि उसने हमें बुराई और अच्छाई के बीच अपना चुनाव खुद कर लेने की खुली छूट दे रखी है।

2. सत्य की अवधारणा (The Concept of Truth)

महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण जीवन सत्यमय था। सत्य के सामने वह समझौता नहीं करते थे, सत्य और ईश्वर में वह भेद नहीं मानते थे। गाँधी दर्शन से सत्य को हटाने का प्रयत्न किया जाए तो यह एक असम्भव कार्य होगा। गाँधीजी का आग्रह था कि हमारा प्रत्येक व्यवहार और कार्य सत्य के लिए होना चाहिए। सत्य के अभाव में हम किसी नियम का शुद्ध पालन नहीं कर सकते। वाणी, विचार और आचार का सत्य होना सत्य है। सत्य की अर्चना ईश्वर की सच्ची भक्ति है। गाँधीजी सापेक्ष सत्य अर्थात् साधन स्वरूप सत्य में और शुद्ध सत्य में स्पष्ट भेद मानते थे। उनकी मान्यता थी कि सापेक्ष सत्य वह सत्य है जिसे हम किन्हीं विशेष परिस्थितियों के सम्बन्ध में देखते हैं। वह सम्पूर्ण सत्य नहीं होता। जो एक प्रकार की परिस्थितियों में सत्य हो सकता है, सम्भव है वह भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में सत्य न हो। शुद्ध सत्य अन्तिम सत्य है। यही है, यही था और यही रहेगा। सत्य के शुद्ध अर्थ में गाँधीजी सत्य और ईश्वर को एक ही मानते थे। वे ईश्वर की पूजा सत्य के रूप में करते थे। इस अर्थ में सत्य मानव जीवन का लक्ष्य बन जाता है। गाँधीजी का मत था कि 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का सिद्धान्त एक हृदयहीन सिद्धान्त है जिसने मानवता को बड़ी हानि पहुँचाई है। वास्तविक, सभ्य और मानवीय सिद्धान्त तो 'सभी व्यक्तियों का अधिकतम सुख' का है और यह सिद्धान्त पूर्ण आत्म-बलिदान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सर्वोदय जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। नंगे को वस्त्र दान, भूखे को अन्न दान और बेघर को आश्रय दान करना सत्य है। यही ईश्वर है और इसे प्राप्त करना चाहिये।

3. साधन तथा साध्य की अवधारणा (The Concept of Means and Ends)

गाँधीजी ने साध्य को जितना महत्व दिया उतना ही साधन को। गाँधी दर्शन में इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। साध्य का ऊँचा होना काफी नहीं है। साधन की उच्चता एवं नैतिकता आवश्यक है और सच पूछा जाए तो साधन का अधिक महत्त्व है, क्योंकि जो मनुष्य कर्म करता है उस कर्म का फल मनुष्य के हाथ में नहीं होता, लेकिन कर्म जरूर साथ होता है, इसलिए जो हाथ में होता है वह ज्यादा महत्वपूर्ण है।[1] महात्मा गाँधी के अनुसार, "साधनों की तुलना बीज से की जा सकती है और साध्य की वृक्ष से और जो अटूट सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है वही साध्य और साधन के बीच है।" साध्य और साधन दोनों पवित्र होने चाहिए अन्यथा एक की अपवित्रता दूसरे को भ्रष्ट कर देती है। गाँधीवाद में 'साधनों की पवित्रता' का विचार उसे मार्क्सवाद से भिन्न करता है। जहाँ मार्क्सवाद एक वर्गहीन समाज के आदर्श की प्राप्ति के लिए हिंसा और क्रान्ति का उपदेश देता है वहाँ गाँधीजी के अनुसार खून की बूँद गिरते ही जिस कीमत पर वर्गहीन समाज मिले वह कीमत महँगी है। गाँधीजी की आस्था खून का कतरा गिराए बिना ही स्थापित होने वाले वर्गहीन समाज में है। साधनों की पवित्रता का यह विचार राजनीति को गाँधीजी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन मानी जा सकती है, पर दुर्भाग्य यह है कि आधुनिक राजनेता 'मैकियावेली राजनीति' के उपासक हैं।

4. कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त (Theories of Karma and Re-birth)

महात्मा गाँधी का कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में पूरा विश्वास था। उनका कहना था कि कर्म का सिद्धान्त स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है जो हमें अच्छे और बुरे में चुनाव करने की स्वतन्त्रता देता है। हमारी स्वतन्त्रता हमारे प्रयत्नों पर निर्भर है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में गाँधीजी ने कहा था कि उन्हें इस सिद्धान्त में उतना ही विश्वास है जितना कि अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व में।

1. *प्रभात्कुमार भट्टाचार्य* : वही, पृ. 67.

5. अहिंसा की अवधारणा (The Concept of Non-violence)

गाँधीजी का अनुभव था कि मानवीय सम्बन्धों की सभी समस्याओं का हल अहिंसा है। अहिंसा हिंसा से अधिक शक्तिशाली है। अहिंसा एक-दूसरे के प्रति प्रेम और आदर को जन्म देती है तथा सभी मनुष्यों को समान समझने की प्रेरणा देती है। गाँधीजी ने सत्य और अहिंसा का प्रयोग सभी परिस्थितियों में किया और घृणा तथा शंकाओं पर विजय पाने में सफल हुए। गाँधीजी ने जिस अहिंसा का प्रतिपादन किया वह निषेधात्मक धारणा न होकर वस्तुतः एक विधेयात्मक शक्ति है। यह बुराई को अच्छाई से जीतने का सिद्धान्त है जिसमें कोई बदले की भावना, कोई षड्यन्त्र, कोई प्रतिकार नहीं है, कोई संगठित युद्ध या गुप्त हत्या नहीं है।

गाँधीजी के अनुसार यह अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है। अहिंसा में इसके अतिरिक्त अन्य बिन्दु आते हैं। "कुविचार हिंसा है। उतावली, मिथ्या-भाषण, किसी को बुरा चाहना हिंसा है। जगत् को जिस चीज की आवश्यकता है, उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।" गाँधीजी का अहिंसा की अवधारणा, मन, वचन और कर्म से सम्बन्धित है।[1] गाँधीजी के अनुसार अहिंसा सर्वोच्च नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति की प्रतीक है। अहिंसा के तीन रूप हो सकते हैं—जाग्रत अहिंसा (Enlightened Non-violence), औचित्य अहिंसा (Reasonable Non-violence) तथा भीरुओं की अहिंसा (Non-violence of the Cowards)। जाग्रत अहिंसा वह है जो व्यक्ति में अन्तरात्मा की पुकार पर स्वाभाविक रूप से जन्म लेती है। इसे व्यक्ति अपने आन्तरिक विचारों की उत्कृष्टता अथवा नैतिकता के कारण स्वीकार करता है। अहिंसा में असम्भव को भी सम्भव में बदल देने की अपार शक्ति निहित होती है। औचित्य अहिंसा वह है जो जीवन के किसी क्षेत्र विशेष में आवश्यकता पड़ने पर औचित्यानुसार एक नीति के रूप में अपनाई जाए। यद्यपि यह अहिंसा दुर्बल व्यक्तियों की है, तथापि इसका पालन ईमानदारी और दृढ़ता से किया जाए तो काफी शक्तिशाली और लाभदायक सिद्ध हो सकती है। भीरुओं की अहिंसा डरपोक और कायरों की अहिंसा है, यह 'निष्क्रिय अहिंसा' (Passive Non-violence) है। महात्मा गाँधी के अनुसार अहिंसा एक दर्शन नहीं है बल्कि कार्य करने की एक पद्धति है, हृदय-परिवर्तन का साधन है। उन्होंने अहिंसा को वैयक्तिक आचरण तक सीमित न रखकर मानव-जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में लागू किया। गाँधीजी की अहिंसा पारलौकिक शान्ति या मोक्ष प्राप्ति का ही साधन नहीं है, बल्कि सामाजिक शान्ति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय और पारिवारिक निर्माण का साधन है। यह मानव हृदय की दिव्य ज्योति है।

6. धर्म सम्बन्धी अवधारणा (The Concept of Religion)

धर्म से महात्मा गाँधी का अभिप्राय और किसी औपचारिक रूढ़िगत धर्म से नहीं है, वरन् विश्व के व्यवस्थित नैतिक अनुशासन से है। गाँधीजी का धर्म 'सम्प्रदायवाद' को नहीं मानता था, वह मानव-समाज का शाश्वत तत्व है जो हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत से परे है। गाँधीजी ने हिन्दू धर्म में गहरी आस्था प्रकट की, क्योंकि यह धर्म अन्य सब धर्मों के साथ शान्तिपूर्वक रहने में विश्वास करता है और इस प्रकार का कोई दावा नहीं करता कि सत्य एकमात्र उसी में है। "सब धर्म एक-दूसरे के साथ शान्ति से रहें, हर एक आदमी के लिए अपना निज धर्म बना रहे, यही हिन्दू धर्म है।" गाँधीजी ने हिन्दूवाद के आध्यात्मिक नैतिक सार को ग्रहण किया। हिन्दू धर्म में आस्था रखते हुए उन्होंने इसकी आचरण सम्बन्धी रूढ़ियों, पाखण्डों या भ्रान्तियों का पक्ष नहीं लिया। महात्मा गाँधी के लिए धर्म और नैतिकता पर्यायवाची शब्द थे। उनकी दृष्टि में नैतिकता के आधारभूत सिद्धान्त सत्य और अहिंसा थे। उन्होंने इन दो सिद्धान्तों को 11 सिद्धान्तों में विकसित किया और इन सिद्धान्तों से पूर्ण एक गीत गाँधीजी की प्रातःकालीन और सन्ध्याकालीन प्रार्थनाओं में गाया जाता था। ये 11 सिद्धान्त थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीर-श्रम आस्वाद, सर्वत्र-भय-वर्जन, सर्वधर्म समानत्व, स्वदेशी, स्पर्श-भावना। इसमें प्रथम पाँच हिन्दूवाद और जैन धर्म के आधारभूत नैतिक सिद्धान्त हैं तथा अन्य ■ इन्हीं सिद्धान्तों में से निकले हैं जो समय की आवश्यकताओं के अनुकूल ढाले जा सकते हैं। गाँधीजी यद्यपि सभी धर्मों को सत्य मानते थे, किन्तु उनका यह विश्वास नहीं था कि वे सर्वथा त्रुटिहीन हैं। सभी धर्म मनुष्यकृत हैं, अतः उनमें अपूर्णता रहना स्वाभाविक है। धर्म-परिवर्तन में उन्हें कोई आस्था नहीं थी। उनके आश्रम में मुसलमान, ईसाई और पण्डित सभी थे, लेकिन उन्होंने किसी को हिन्दू बनने या धर्म परिवर्तन करने को नहीं कहा। भारत में ईसाई सन्तों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा "जो मानवतावादी कार्य उन्होंने किया है वह उत्तम है, लेकिन उसका मूल्य जाता रहेगा यदि वे अपना उद्देश्य दूसरों को ईसाई बनाने का रखेंगे।" महात्मा गाँधी का कहना था कि धर्म की आराधना के लिए हमें किसी गुफा में अथवा किसी पर्वत-शिखर पर जाने की आवश्यकता नहीं है। धर्म की अभिव्यक्ति समाज में हमारे कार्यों में होनी चाहिए। गाँधीजी ने धर्म का मानवीकरण और सामाजीकरण किया। उन्होंने पीड़ितों, असहायों और अभावग्रस्त लोगों की सेवा को सबसे बड़ा धर्म बताया। प्रार्थना की शक्ति में अपना अडिग विश्वास व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर के प्रति प्रार्थना कोई याचना (Petition) नहीं वरन् ईश्वर का यशोगान है और आत्मा की आवाज है। प्रार्थनाओं से व्यक्ति

---

1 रामपूजन त्रिपाठी : गाँधी-धर्म और समाज, पृ. 67

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)—सत्याग्रह को अच्छी तरह समझने के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध से उसका अन्तर समझ लेना उपयुक्त है। इन दोनों में मूलभूत अन्तर निम्नांकित हैं—

(1) निष्क्रिय प्रतिरोध कामचलाऊ राजनीतिक शस्त्र है, जबकि सत्याग्रह नैतिक अस्त्र है जिसका आधार है शारीर शक्ति की अपेक्षा आत्म-शक्ति की श्रेष्ठता। (2) निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का शस्त्र है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग वे वीर कर सकते हैं जिनमें बिना मारे मरने का साहस है। (3) निष्क्रिय प्रतिरोध में उद्देश्य होता है प्रतिपक्षी को इतना परेशान करना कि वह हार माने ले, जबकि सत्याग्रह का उद्देश्य है प्रेम और धैर्यपूर्वक कष्ट सहन करके विरोधी का हृदय परिवर्तन करना और उसकी भूल सुधारना। (4) निष्क्रिय प्रतिरोधी के लिए प्रेम की गुंजाइश नहीं, जबकि सत्याग्रह में घृणा, दुर्भावना आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार "सत्याग्रह गत्यात्मक है, निष्क्रिय प्रतिरोध स्थित्यात्मक है।" (5) निष्क्रिय प्रतिरोध में हिंसा से सामान्य रूप से दूर रहा जाता है क्योंकि दुर्बल व्यक्ति हिंसा का प्रयोग नहीं कर सकता है। यह उचित अवसर पर हिंसात्मक उपायों के प्रयोग के विरुद्ध नहीं है। दूसरी ओर सत्याग्रह किसी रूप में अनुकूलतम परिस्थिति में हिंसा के प्रयोग की आज्ञा नहीं देता। (6) निष्क्रिय प्रतिरोध में आन्तरिक शुद्धता का अभाव है। सत्याग्रह की तरह वह साधनों की शुद्धता को आवश्यक नहीं मानता और प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के चरित्र की नैतिकता की उपेक्षा करता है। दूसरी ओर सत्याग्रह में उद्देश्य सिद्धि और सत्याग्रही के आन्तरिक सुधार में घनिष्ठ सम्बन्ध है। (7) निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग सार्वभौम नहीं हो सकता। सत्याग्रह की तरह उसका प्रयोग अपने घनिष्ठ सम्बन्धियों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। दुर्बलता और निराशा की भावना से उपयुक्त निष्क्रिय प्रतिरोध नैतिक दुर्बलता को बढ़ाता है। दूसरी ओर सत्याग्रह सदैव आन्तरिक शक्ति पर जोर देता है और वास्तव में उसका विकास करता है। (8) निष्क्रिय प्रतिरोध की अपेक्षा सत्याग्रह अन्याय और अत्याचार का अधिक प्रभावशाली और निश्चित विरोध है, लेकिन निष्क्रिय प्रतिरोध निष्क्रिय नहीं होता, क्योंकि प्रतिरोध सदैव सक्रिय होता है।

सत्याग्रह की तकनीक—सत्याग्रह की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। इसकी तकनीकें बहुमुखी हैं। सबसे पहले सत्याग्रही समस्या का विवेचन करता है अर्थात् सावधानीपूर्वक बिना किसी पूर्वाग्रह के शिकायत का अध्ययन करता है। वह देखता है कि शिकायत करने वाला स्वयं इस शिकायत को दूर करने के लिए आतुर है या नहीं। सत्याग्रह का कर्त्तव्य है कि वह पहले अन्यायी को समझाए-बुझाए। समझाने-बुझाने के सारे प्रयासों में असफल हो जाने के बाद वह जिस अन्याय के विरुद्ध मोर्चा लेना चाहता है उसका आवश्यक प्रचार आरम्भ करता है। प्रचार के साथ वह उन सभी तत्वों का ध्यान रखता है जो अन्याय के शिकार हैं। सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ने से पहले सत्याग्रही पीड़ित पक्ष को अपने पक्ष में लेने का प्रयत्न करता है ताकि शोषक और शोषित के बीच कोई समझौता हो सके। सत्याग्रह आन्दोलन में गोपनीयता का अभाव रखा जाता है। सत्याग्रह विरोधी का आदर करते हुए चलता है। उसका उद्देश्य विरोधी को नीचा दिखाना नहीं होता, क्योंकि उसे नीचा दिखाने से वह कभी उनमें सहानुभूति और चेतना जाग्रत नहीं कर सकता। सत्याग्रही बुराई का विरोध करता है व्यक्ति का नहीं। सत्याग्रह आन्दोलन में अन्तरात्मा की आवाज का विशेष महत्व है। सत्याग्रह को नैतिक युद्ध की सारी चालों की जानकारी होनी चाहिए। सहिष्णुता उसमें कूट-कूट कर भरी होनी चाहिए।

महात्मा गांधी ने समय-समय पर सत्याग्रह आधागार से नए-नए अस्त्र दिए, क्योंकि वे मानते थे कि सत्याग्रह की आत्मा वही रहती है केवल अस्त्र बदल जाता है। गाँधीजी ने जिन अस्त्रों का प्रयोग किया उनमें असहयोग नामक अस्त्र प्रमुख है। यह असहयोग हड़ताल, सामाजिक एवं आर्थिक बहिष्कार, धरना, नागरिक अवज्ञा, हिजरत, उपवास आदि साधनों के माध्यम से किया जाता है।

पन्द्रह-सूत्री निर्माणकारी रचनात्मक कार्यक्रम—महात्मा गाँधी ने निर्माणकारी कार्यक्रमों को सत्याग्रह का एक अभिन्न अंग बताया। गाँधीजी ने जो पन्द्रह-सूत्री निर्माणकारी कार्यक्रम बताए, वे सारांशतः इस प्रकार हैं—खादी का प्रचार प्रसार, ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन, ग्राम-स्वच्छता तथा स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान, बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, नारी उद्धार, समग्र ग्राम-सेवा, राष्ट्र भाषा प्रचार, मातृभाषा-प्रेम, आर्थिक समानता को प्रोत्साहन, साम्प्रदायिक एकता, अछूतोद्धार, नशाबन्दी आदिवासी सेवा, मजदूर, किसान एवं विद्यार्थी संगठन बनाना।

विदेशी आक्रमण और युद्ध के विरुद्ध सत्याग्रह—महात्मा गाँधी ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्याग्रह की प्रभावशीलता में पूरी आस्था प्रकट की। उनका अभिमत था कि विदेशी आक्रमण और युद्ध के विरुद्ध सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग किया जाना चाहिये। युद्ध से हम अपनी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते। सत्याग्रह युद्ध के समान प्रबल प्रभावशाली साधन है तथा उससे श्रेष्ठ है। भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध गाँधीजी ने अहिंसा और सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया। उन्होंने एबीसीनिया के निवासियों, चैकों, पोलों तथा आक्रमण से पीड़ित अन्य पक्षों को परामर्श दिया कि वे आक्रमणकारियों के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध की नीति अपनाएँ। गाँधीजी की दृढ़ मान्यता थी कि अहिंसात्मक प्रतिरोध अपनी मानसिक शक्तियों के प्रयोग से आक्रमणकारी पर निरन्तर ऐसा 'आक्रमण' करता रहता है जिसमें अन्तिम विजय उसकी होती है।

स्वराज्य राज्य अराजकता
(The Swarajya The State The Anarchy)

महात्मा गांधी दार्शनिक अराजकतावादी थे। उन्होंने अपने भाषणों और लेखों में बिखरे हुए रूप में आदर्श अहिंसक समाज की रूपरेखा को समझाया था। एक आदर्श जनतन्त्रवादी समाज में वे यद्यपि किसी रूप में राज्य के अस्तित्व के विरोधी थे, लेकिन व्यवहारवादी विचारक होने के नाते उन्होंने 1946 में स्पष्ट रूप से कहा था कि संसार में कभी बिना सरकार के राज्य का अस्तित्व नहीं है यदि हम इस प्रकार के आदर्श अहिंसक समाज के लिए निरन्तर कार्य करते रहे तो ऐसे समाज का आविर्भाव इस सीमा तक हो सकता है जो लोगों के लिए कल्याणकारी हो।

राज्य हित जनतन्त्र—राज्य के सम्बन्ध में गाँधाजी के विचार दार्शनिक अराजकतावादी थे। उनका मत था कि राज्य एक आवश्यक दुर्गुण है जो मानव-जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करता है। गांधीजी का तर्क था कि प्रत्येक राज्य में सरकार सजा का भय दिखाकर नागरिकों से कार्य करवाती है और उन्हें कानून के अनुसार चलने को बाध्य करती है। शासन व्यवस्था चाहे कितनी ही लोकतन्त्री हो, राज्य की जड़ में सदैव हिंसा होती है अर्थात् गरीबों का शोषण करने की प्रवृत्ति होती है। राज्य के विरोध में गांधीजी का दूसरा सबल तर्क यह था कि राज्य एक बाध्यकारी शक्ति है जो मानव के व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित करती है। राज्य व्यक्तित्व का विनाश करके मनुष्य मात्र की सबसे बड़ी हानि पहुँचाता है। राज्य के विरोध में गांधीजी का तीसरा मुख्य तर्क यह था कि अहिंसा पर आधारित किसी आदर्श समाज में राज्य सर्वथा अनावश्यक है। यद्यपि बाकुनिन, क्रोपोटकिन तथा अन्य अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक समझते थे, लेकिन उनकी युक्तियों के विपरीत गाँधीजी की युक्तियाँ पूर्णतः नैतिकता प्रधान थीं।

गाँधीजी द्वारा कल्पित आदर्श अहिंसक समाज—महात्मा गाँधी ने राज्य-संस्था में अविश्वास व्यक्त करते हुए एक आदर्श अहिंसक समाज की कल्पना की। उन्होंने कहा कि यह आदर्श समाज विकेन्द्रित समाज होगा। समता उसके प्रत्येक क्षेत्र की विशेषता होगी। गांधीजी ने कल्पना की कि आदर्श जनतन्त्र लगभग स्वावलम्बी और स्वशासित सत्याग्रही ग्राम-समाजों का संघ होगा। अहिंसक समाज में संघ और समुदायों का संगठन स्वेच्छा के आधार पर होगा। गांधीजी ने आदर्श ग्राम-समुदायों का अपने लेखों में वर्णन किया है। अराजकतावादी समाज का एकता महत्वपूर्ण साधन होगा। धर्म या सामाजिक नीति-भावना धर्म युक्ति की अन्तरात्मा पर प्रभाव डालेगी और स्वतन्त्रता तथा सामाजिक एकता का सामंजस्य करेगा।

राज्य रहित समाज की सम्भावना—गाँधीजी स्वप्निल कल्पनावादी नहीं थे। वे आमूल-चूल एक व्यावहारिक विचारक सन्त और राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने एक आदर्श की कल्पना की, लेकिन व्यवहार में यही आशा प्रकट की कि हम उस आदर्श की ओर पहुँचने का प्रयास करें जो हमारे लिए कल्याणकारी हो। समाज राज्य रहित तभी बन सकता है जब मनुष्य पूरी तरह आत्म-संयमी बन जाए और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन बिना राज्य के करने लगे। इसलिए 1931 में राज्य रहित समाज के बारे में उन्होंने कहा कि, "जीवन में आदर्श कभी पूरी तरह कार्यान्वित नहीं होता।" वास्तव में गांधीजी का मत था कि राज्य रहित समाज के आदर्श को मनुष्य अपने जीवन में पूरी तरह कार्यान्वित नहीं कर सकेगा। 1946 में उन्होंने स्वीकार किया कि उनको इस प्रश्न में कोई रुचि नहीं है और संसार में कहीं भी बिना सरकार के राज्य का अस्तित्व नहीं है परन्तु उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि लोगों द्वारा इस प्रकार के समाज के लिए निरन्तर कार्य करने से ऐसे समाज का आविर्भाव उस सीमा तक हो सकता है जो लोगों के लिए कल्याणकारी हो।

संसदीय लोकतन्त्र—गाँधीजी ने प्रचलित लोकतन्त्र में अविश्वास व्यक्त किया। संसदीय लोकतन्त्र की उनकी आलोचना का मुख्य आधार यह था कि उसमें ईमानदारी और ढोंग तथा प्रदर्शन की अधिकता है। पश्चिम के राज्य नाममात्र के लोकतन्त्र हैं। उनमें लोकतन्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति वास्तविक लगाव नहीं पाया जाता। शस्त्रीकरण की होड़ की, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद तथा शोषण की, राजनीतिक अस्थिरता और नैतिकता तथा दुर्बल नेतृत्व का यही कारण है। गाँधीजी ने संसदों की जननी ब्रिटिश संसद की कटु आलोचना करते हुए उसे बाँझ की संज्ञा दी, क्योंकि उसने कभी कोई अच्छा काम अपने-आप में नहीं किया। गाँधीजी का कहना था कि यदि मतदाता समझदार हैं और अच्छे से अच्छे सदस्य चुनकर संसद को भेजते हैं, ऐसी संसद का काम इतना अच्छा होना चाहिए कि दिन-प्रतिदिन उसका तेज बढ़ता नजर आए और लोगों पर उसका असर पड़ता जाए, लेकिन इसका उलटा हो रहा है और सभी लोग इससे सहमत हैं कि संसद के सदस्य अधिकांश में ढोंग और स्वार्थी होते हैं। गांधीजी ने प्रधानमन्त्री के नेतृत्व का उपहास उड़ाया। प्रधानमन्त्री को पार्लियामेंट की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी अपनी सत्ता की होती है।

निर्वाचन—महात्मा गांधी निर्वाचन और प्रतिनिधित्व के विरोधी नहीं थे, लेकिन उसके प्रचलित स्वरूप से उन्हें कोई आकर्षण न था। चुनावों द्वारा एक शोषणकारी वर्ग जन्म लेता है जिसके द्वारा व्यक्ति का नैतिक पतन कर दिया जाता है। 'स्वराज्य' पर गांधीजी ने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "स्वराज्य से मेरा अर्थ है उन वयस्क स्त्री-पुरुषों का

अधिकतम संख्या की अनुमति द्वारा भारत का शासन जो भारत में उत्पन्न हुए हों या बस गए हों, जिन्होंने शरीर-श्रम द्वारा राज्य की सेवा की हो और जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम दर्ज करवाने का कष्ट उठाया हो।" गाँधीजी ने कहा कि यदि अपने विवेक के अनुसार संविधान बनाने की उन्हें स्वतन्त्रता होती तो राज्य का शासन उन प्रतिनिधियों के रूप में होता जिनको जनता चुनती और हटा सकती। उनका स्पष्ट मत था कि चुनाव का उम्मीदवार वही हो सकता है जो स्वार्थहीन होकर, समाज सेवा की भावना से प्रेरित होकर, चुनाव लड़ना चाहता है।[1] चुनाव के उम्मीदवारों को पदलोलुपता, आत्म-विज्ञापन, विरोधियों की निन्दा और मतदाताओं के मनोवैज्ञानिक शोषण से बचना चाहिए, जो आज के निर्वाचनों में प्रचुर मात्रा में देखने को मिलते हैं। उम्मीदवार को वोट उसकी सेवा के फलस्वरूप मिलना चाहिए, न [illegible] वोट माँगने से। गाँधीजी ने कहा कि संसद सदस्यों को अपना जीविकोपार्जन अपने पसीने की कमाई से करना चाहिए। इन लोगों को राष्ट्रीय आय की तुलना में अधिक नहीं मिलना चाहिए।

मताधिकार के सम्बन्ध में गाँधीजी का कहना था कि वयस्क मताधिकार को व्यापक बनाना चाहिए, लेकिन मताधिकार के लिए आवश्यक योग्यता सम्पत्ति या पद नहीं अपितु शरीर-श्रम होना चाहिए। शारीरिक श्रम एक ऐसी क्रिया है जो हर एक को अवसर प्रदान करती है कि वह शासनतन्त्र और राज्य के कल्याण में हिस्सा ले सके। मतदाताओं की आयु-मर्यादा के सम्बन्ध में गाँधीजी 21 या [illegible] वर्ष से अधिक आयु के वयस्कों के मताधिकार के पक्ष में थे, लेकिन वे अपने जैसे बूढ़े आदमी को इस अधिकार से अलग रखना चाहते थे।

बहुमत एवं अल्पमत—गाँधीजी का लोकतन्त्र आध्यात्मिक लोकतन्त्र था, अतः उनकी मान्यता थी कि सामान्य मामलों में निर्णय बहुमत द्वारा लिए जाने चाहिए, लेकिन इसे सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। राज्य में किसी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक समुदाय से सम्बन्धित मामलों में निर्णय का अधिकार उसी समुदाय को होना चाहिए। महत्वपूर्ण मामलों में बहुमत अल्पमत की उपेक्षा नहीं कर सकता, बल्कि उसका ध्यान रखना आवश्यक है। अहिंसक क्रान्ति द्वारा स्थापित गाँधीजी के लोकतन्त्र में लोग भेड़ों की तरह कार्य नहीं कर सकते। उसमें विचारों और कार्यों की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। बहुमत कोई निर्णय क्यों न करे, उसके लिए दास-भाव नहीं होना चाहिए। अन्तरात्मा सम्बन्धी मामलों में बहुमत के नियम के बारे में कोई स्थान नहीं हो सकता। कोई विचारधारा सही निर्णय के एकाधिकार का दावा नहीं कर सकती। हम सब गलती कर सकते हैं और बहुधा हमें अपने निर्णयों को बदलना पड़ता है, अतः आवश्यक है कि हम अपने विरोधी के विचारों को समझें और यदि उनको स्वीकार न करें तो उनका आदर अवश्य करें।

अपराध और दण्ड, जेल, पुलिस, सेना, न्याय आदि—गाँधीजी चाहते थे कि राज्य के कार्य न्यूनतम हों और व्यक्ति अधिकाधिक आत्म-निर्भर बनें, लेकिन वे मानव-कमजोरी से अवगत थे, अतः अपराध का उपचार चाहते थे। एक अहिंसक राज्य में अपराधी को बदले की भावना से दण्ड नहीं देना चाहिए। दूसरों को डराने धमकाने के लिए दण्ड देना उचित नहीं है। दण्ड का उद्देश्य होना चाहिए—सुधार। वे मृत्यु-दण्ड के विपरत में थे। उनका कहना था कि अहिंसा के सिद्धान्तों द्वारा अनुशासित राज्य में अपराधी को जेल भेजा जाना चाहिए, जहाँ उसे सुधारा जा सके। गाँधीजी जेलों को अहिंसक बनाना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि जेलों को सुधारात्मक संस्थाओं में बदल दिया जाए, जिनमें नए कार्यों का प्रशिक्षण दिया जा सके, ताकि जेलों से बाहर आने पर वे आत्म-निर्भर बन सकें। गाँधीजी ने जेलों के सुधार के लिए एक योजना बनाई। उन्होंने कहा—"सभी जेलों को हाथ-करघा संस्थाओं के रूप में परिणित कर देना चाहिए और जहाँ सम्भव हो सके वहाँ कपास की उपज अच्छे कपड़े बनाने के लिए प्रारम्भ कर देना चाहिए। कैदियों को विकृत माना जाना चाहिये और उन्हें अपराधी के रूप में नहीं देखा जाना चाहिये। जेल कर्मचारियों को कैदियों पर अत्याचार करना छोड़ देना चाहिए। उनके स्थान पर उन्हें मित्र और प्रशिक्षणदाता बन जाना चाहिए।" गाँधीजी व्यावहारिक व्यक्ति थे, अतः उन्होंने माना [illegible] उनके अहिंसक राज्य में पुलिस की आवश्यकता होगी, लेकिन इस अहिंसक राज्य में पुलिस अहिंसा में पूर्ण आस्था रखेगी। वे जनता के सेवक होंगे, मालिक नहीं।

गाँधीजी यद्यपि सैनिक व्यवस्था के विरुद्ध थे, लेकिन उन्होंने स्वीकार किया कि सैनिक व्यवस्था को हटा देना ठीक नहीं होगा। न्याय-व्यवस्था के सन्दर्भ में उनका विचार था कि राज्य इस कार्य को सम्पूर्णतः अपने पास न रखकर, पंचायतों को सौंप दे। न्याय-व्यवस्था में सुधार के लिए उन्होंने कहा कि "न्याय व्यवस्था को सस्ता बनाना चाहिये।"

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की धारणा और राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी विचार

(The Concept of Nationalism and Internationalism and Ideas about Nation-building)

महात्मा गाँधी भारत के व्यापक क्षेत्र में राजनीति को लेकर आए। देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक अभूतपूर्व सेनानी के रूप में उनकी भूमिका रही, अतः भारतीय जनता ने उन्हें राजनीतिक नेता और देश-भक्त राष्ट्रवादी के रूप में

---

1 *गोपीनाथ धवन* : वही, पृ. 328

जाना-माना। गाँधीजी राष्ट्रवादी थे, लेकिन जो राष्ट्रवाद आज दुनियाँ के लिए ... हो रहा है और जिसने संसार की शक्ति के लिए भारी खतरा उत्पन्न कर दिया है उस राष्ट्रवाद के गाँधीजी समर्थक नहीं थे। उनका राष्ट्रवाद नैतिक साम्राज्य, जीवन की सहिष्णुता तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित था। उनका राष्ट्रवाद उनके विश्व-प्रेम का एक अंग था। गाँधीजी विश्व को पंगु और पीड़ित भारत का दान करना नहीं चाहते थे, उसकी सेवा के लिए साहस, परिश्रम और आत्म-विश्वासी भारत को भेंट करना चाहते थे। उनका कहना था कि "यूरोप के चरणों पर लौटता हुआ भारत मानवता को क्या आशा दे सकता है?" गाँधीजी के राष्ट्रवाद में एक ओर भारत के पीड़ित एवं दीन-दुखियों के उद्धार का भाव था और दूसरी ओर भारत को विश्व भ्रातृत्व का, विश्व सेवा का एक प्रबल साधन बनाने की आकांक्षा थी। गाँधीजी का राष्ट्रवाद प्रेम, अहिंसा और बन्धुत्व से परिपूर्ण था। गाँधीजी ने इस तथ्य पर जोर दिया कि यदि हम भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। 'हरिजन' में उन्होंने लिखा—"यदि हमें भारतीय राष्ट्रीयता का लक्ष्य प्राप्त करना है तो हम क्षेत्रीयता की जंजीरों को तोड़ना ही होगा।"

स्वतन्त्रता का दर्शन (Philosophy of Freedom)

गाँधीजी के हृदय में राजनीतिक स्वतन्त्रता की उत्कृष्ट कामना थी। वे स्वराज्य को सत्य का एक अंग मानते थे, अतः स्वतन्त्रता उनके लिए एक पवित्र वस्तु थी। उनका विश्वास था कि स्वराज्य संघर्ष के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। साम्राज्यवादी देशों को उन्होंने यह चेतावनी दे दी कि दूसरों पर साम्राज्य स्थापित करने की लालसा उनका नैतिक पतन कर देगी। गाँधीजी ने तिलक के इस वचन को स्वीकार किया कि भारतीयों के लिए स्वराज्य-प्राप्ति उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। गाँधीजी राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता चाहते थे, वे सर्वोदय के उपासक थे, उनका स्वराज्य लाखों करोड़ों दलितों के लिए था। गाँधीजी ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के अर्थ में स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन किया। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अर्पित कर दिया। उन्होंने व्यक्तिगत और नागरिक दोनों स्वतन्त्रताओं का पक्ष लिया। उन्होंने भाषण और लेख की स्वतन्त्रता को स्वराज्य की आधारशिला माना।

गाँधीजी के आर्थिक विचार (Economic Ideas of Gandhiji)

गाँधीजी ने सामाजिक, आर्थिक विचारों की कोई निश्चित योजना प्रस्तुत नहीं की, वरन् समय-समय पर जो भाषण दिए और लेख लिखे, उनसे हमें उनके सामाजिक आर्थिक दर्शन का बोध होता है।

संरक्षता या प्रन्यास का सिद्धान्त

गाँधीजी समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को मिटाना चाहते थे, व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त चाहते थे, लेकिन मार्क्सवादी प्रोलेटेरियन क्रान्ति के पक्षधर नहीं थे। आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए गाँधीजी ने 'संरक्षता का सिद्धान्त' (Principle of Trusteeship) प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि यदि किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार में भारी सम्पत्ति मिली है अथवा किसी ने व्यापार-उद्योग के लाभ से भारी मात्रा में धन एकत्र किया है वह सम्पत्ति वास्तव में उस व्यक्ति की न होकर सारे समाज की है, अतः यह उचित होगा कि जिस व्यक्ति ने सम्पत्ति का संचय किया है वह स्वयं को सम्पत्ति का स्वामी न समझ कर, ट्रस्टी समझे। सम्पत्ति उसके पास रहे, वह अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए उसमें से वाजिब खर्च करे और शेष को समाज की धरोहर समझे, जिसका उपयोग समाज के लिए होना चाहिए। सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक सम्पत्ति पर ही व्यक्ति अपना अधिकार समझे और धन का शेष भाग राष्ट्र का मानते हुए सभी के कल्याण पर खर्च करने को तत्पर रहे।

औद्योगीकरण

गाँधीजी बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के कट्टर विरोधी थे। उनके अनुसार बड़े पैमाने के उत्पादन से विभिन्न सामाजिक और आर्थिक दोष उत्पन्न हुए हैं। मशीनों का उपयोग मनुष्य को आलसी बना देता है और वह परिश्रम से कतराने लगता है। गाँधीजी ने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का पक्ष लिया अर्थात् ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें श्रमिक अपना स्वामी हो। विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में श्रमिकों के शोषण और हिंसा के लिए कोई अवसर नहीं होंगे। महात्मा गाँधी का विश्वास था कि भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले गरीब देश के लिए मशीनों का उपयोग लाभप्रद नहीं होगा। अधिक जनसंख्या को काम पर लगाने की दृष्टि से उत्पादन की ऐसी प्रणालियाँ काम में लानी होंगी जिनमें अधिकाधिक श्रमिकों की खपत हो। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे मशीनों द्वारा संचालित उद्योगों के विरोधी थे। व्यावहारिक होने के नाते गाँधीजी आदर्शवाद और यथार्थवाद में संधि करते हुए चले। अन्तिम रूप में उनका आग्रह था कि बड़े पैमाने के उद्योगों को कुटीर उद्योगों का प्रतिद्वन्द्वी न बनाकर उनका सहायक बनना चाहिये। उद्योगों के क्षेत्र में गाँधीजी ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों को प्राथमिकता इसलिए देते थे कि भारत जैसी बड़ी आबादी वाले विकासशील देशों में छोटे उद्योगों से न केवल पूर्ण रोजगार की व्यवस्था होती है, बल्कि काम करने वालों को अधिक आत्म सन्तोष प्राप्त होता है। ऐसे उद्योगों द्वारा विदेशों से महँगी और पेचीदा मशीनें मँगाने का व्यय बचता है तथा देश की आत्म-निर्भरता में वृद्धि होती है। उत्पादन व्यय

सुरक्षा, शोषण और प्रदूषण रहित वातावरण इन सभी दृष्टिकोणों से लघु-उद्योग व्यवहार्य और वांछनीय लगता है, किन्तु यह बहिष्कृत और तिरस्कृत है। भारत में गाँधीवाद का अनुसरण कम होता है किन्तु उसका प्रचार अधिक किया जाता है।

विकेन्द्रीकरण

गाँधीजी केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के विरुद्ध थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि इसकी नींव हिंसा पर आधारित है, अतः उन्होंने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन किया और कहा कि उत्पादन को अनेक स्थानों पर छोटे पैमाने पर चालू किया जाए, घरों में छोटी इकाइयाँ स्थापित की जाएं। विकेन्द्रित व्यवस्था को वे लोकतन्त्र का जीवन रक्त समझते थे। उनके अनुसार, "अहिंसात्मक राज्य की स्थापना के लिए कारखाने वाली सभ्यता की कोई आवश्यकता नहीं है।" गाँधीजी रूस की भाँति, राज्य द्वारा नियन्त्रित अर्थव्यवस्था के समर्थक नहीं थे। वे उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि इससे लोकतन्त्र की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, स्वशासन और लघु-स्तरीय उद्योगों के लिए यह घातक सिद्ध होगा।

अर्थव्यवस्था के प्रति नैतिक दृष्टिकोण

गाँधीजी ने आर्थिक विचारों को नैतिक आधारशिला प्रदान की। उनके अनुसार सच्चा अर्थशास्त्र कभी उच्चतम नैतिक मापदण्ड के विरुद्ध नहीं जा सकता। अर्थशास्त्र को न्याय-भावना से परिपूर्ण होना चाहिये। वह अर्थशास्त्र जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण पर आघात करता है, अनैतिक है, इसलिए पापपूर्ण है। मनुष्य अपने लिए भौतिक लाभ की आशा से कर्म करने को प्रेरित हो, इस प्रकार का विचार पतन की ओर ले जाने वाला है। गाँधीजी ने मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का आधार धर्म को नहीं, प्रेम को बनाया और कहा कि मालिक अपने नौकर से जितना काम प्रेमपूर्ण व्यवहार से ले सकता है उतना आर्थिक प्रलोभन या दबाव से नहीं।

गाँधीजी का सामाजिक चिन्तन

(Social Thought of Gandhiji)

गाँधीजी ने भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों पर प्रहार करते हुए समाज का नव-निर्माण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि 'अस्पृश्यता हिन्दू समाज का घोर अभिशाप है। इसने समाज में दरारें पैदा करके, इसे कमजोर कर डाला है। यह 'पापमूलक संस्था' किसी धर्म का अंश नहीं, बल्कि मानवता के विरुद्ध घोर अपराध है।' *अस्पृश्यता एक घुन है जो हिन्दू समाज को अन्दर ही अन्दर खाए जा रहा है। अपने प्रयास में उन्हें सफलता मिली और स्वतन्त्र भारत* के संविधान में किसी भी रूप में अस्पृश्यता को एक अपराध घोषित कर दिया गया। गाँधीजी ने घोषणा की कि *अस्पृश्यता-निवारण के बिना स्वराज का अर्थ नहीं है। गाँधीजी ने अछूतों से जिन्हें वे हरिजन कहते थे, प्यार किया तथा उन्हीं के बीच रहते और खाते-पीते थे। गाँधीजी ने हरिजनों को उपदेश दिया कि वे माँस न खाएँ, शराब न पीएँ, जुआ* न खेलें, अपने दुर्व्यसनों को दूर करें और दूसरों की छोड़ी हुई झूठन स्वीकार न करें। इससे अनेक बीमारियाँ फैलती हैं। गाँधीजी ने पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता के दोषों को गिनाया जिसमें व्यक्ति की सम्पत्ति और समृद्धि उसकी प्रतिष्ठा की सूचक होती है। उन्होंने कहा कि वास्तविक प्रगति तो नैतिकता, सत्य और अहिंसा की प्रगति में निहित है। भौतिकवादी सभ्यता नैतिक विनाश की ओर ले जाने वाली है। हमें आध्यात्मिक आचरण को प्रधानता देनी चाहिए। सादा जीवन और उच्च विचार—यह हमारा आदर्श होना चाहिए। भारतीय नारी की दुर्दशा से गाँधीजी दुःखी थे। यह दलील मान्य नहीं थी कि स्त्रियाँ बुद्धि तथा योग्यता में पुरुषों से किसी प्रकार कम हैं। वे इतिहास को साक्षी मानकर कहते थे कि प्राचीन भारत में जीवन के अनेक क्षेत्रों में पुरुषों से स्त्रियाँ आगे थीं और सामाजिक जीवन में उन्होंने अपने को ऊपर उठाया है। स्त्री मूर्तिमान आत्म-त्याग है और स्त्री तथा पुरुष का समान दर्जा है और एक के अस्तित्व का औचित्य दूसरे के बिना सिद्ध नहीं होता। गाँधीजी ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार और आजादी देने का पक्ष लिया। गाँधीजी ने पर्दा प्रथा पर आघात किया। स्त्रियाँ अपने असली रूप में आएँ और फिर सन्देश दें। गाँधीजी ने स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का पोषण ही नहीं किया, बल्कि उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता की भी वकालत की। उन्होंने स्त्रियों के मताधिकार का पक्ष लिया।

गाँधीजी ने एक और सामाजिक समस्या—विधवा पुनर्विवाह पर ध्यान दिया। उन्होंने इस तथ्य पर जोर दिया कि विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति मिलनी चाहिए। गाँधीजी को बाल विवाह मान्य नहीं थे। उन्होंने समाज-सुधारकों से अनुरोध किया कि वे इसका विरोध करें। बाल विवाह से दम्पति के स्वास्थ्य का ह्रास होने के अतिरिक्त बच्चे अधिक पैदा होते हैं। भारत में बाल-विधवाओं के अस्तित्व का एक प्रमुख कारण बाल विवाह है। *यह हमारे सामाजिक, नैतिक* तथा शारीरिक ह्रास का भी प्रमुख कारण है। *गाँधीजी की धारणा थी कि मदिरापान बहुत बड़ी बुराई है। उनकी दृष्टि से* शराबी और चोर एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं *क्योंकि जहाँ चोर केवल धन सम्पत्ति चुराता है वहाँ शराबी न केवल अपनी* सम्पत्ति को, बल्कि अपनी तथा अपने पड़ोसी की *इज्जत को भी जोखिम में डालता है।* चूँकि मदिरा पान से शरीर तथा

आत्मा दोनों की क्षति होती है, इसलिए व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए ही यह सर्वाधिक हानिकारक है। गाँधीजी गौ-रक्षा के हिमायती थे। उनकी राय में गौ-रक्षा का अर्थ मनुष्य, पशु तथा पक्षी तीनों की सेवा है। गाँधीजी को विश्वास था कि भारतवासियों की बहुत सी सामाजिक समस्याओं का समाधान उत्तम शिक्षा पद्धति से हो सकता है—ऐसी पद्धति जो भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप हो। गाँधीजी स्वीकार करते थे कि पराधीन देश में सामाजिक सुधारों को स्थगित करना स्वाधीनता को स्थगित करना है। गाँधीजी ने समाज सुधारकों को चेतावनी दी कि उनका काम कठिन और उबाने वाला है और निस्वार्थ भावना से समाज सेवा करना आसान नहीं होता। समाज सेवी को शान्त तथा धैर्यवान होना चाहिए और ऐसा व्यक्ति किसी राष्ट्र की अमूल्य निधि होता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के वैचारिक आधार

(1932-40 में महात्मा गाँधी की सक्रियता)

राष्ट्रीय आन्दोलन में व्यस्त रहने के कारण गाँधीजी उसके वैचारिक पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दे पाए। विद्वान् लेखक धर्मपाल ने अपने एक शोधपूर्ण लेख में इस प्रचार को अमान्य ठहराते हुए यह सिद्ध किया है कि 1932-40 के पूरे समय में गाँधीजी राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक वैचारिक आधारों को स्पष्ट करने में लगे थे। 1919 से 1931 तक के समय को भारतीय जन के एकीकरण को ऐसे दौर के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें उन्होंने स्वयं को, तथा अंग्रेजों को और सारे संसार को यह आभास करा दिया था कि ब्रिटिश राज के खिलाफ और उनके नेतृत्व तथा मार्ग-दर्शन में जो संघर्ष छिड़ा है, वह स्पष्टतः राजनीतिक स्वाधीनता की ओर बढ़ रहा है। 1933 से शुरू होकर 1940 तक पूरे ओज के साथ चले दौर के निकट भविष्य में सम्भावित आजादी के लिए महात्मा गाँधी द्वारा उसकी अन्तर्वस्तु और संरचना का स्वरूप प्रस्तुत करने के प्रयास के तौर पर देखा जा सकता है। एक नया दौर 1932 में शुरू हुआ जब 'दलित वर्गों' के नाम से परिभाषित समूहों को हिन्दुओं से अलग करने की अंग्रेजों द्वारा रची गई रणनीति के खिलाफ गाँधीजी ने अनशन उपवास शुरू करने का फैसला लिया। उपवास शुरू होने के कुछ दिनों के अन्दर 'दलित वर्गों' और शेष हिन्दुओं के प्रतिनिधियों के बीच मामला सुलझा लिया गया। इस अवसर पर 25 सितम्बर, 1933 को मुम्बई में हिन्दुओं की ऐतिहासिक सभा हुई जिसमें प्रस्ताव पारित कर कहा गया कि "आज से हिन्दुओं में किसी को जन्म के आधार पर अछूत नहीं माना जाएगा और अब तक जिन्हें ऐसा माना जाता रहा है, उन्हें कुँओं, विद्यालयों, सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग के मामले में वे ही अधिकार प्राप्त होंगे जो अन्य हिन्दुओं को प्राप्त हैं।"

1934 में उन्होंने कहा—"अस्पृश्यता के खिलाफ अभियान में अब अछूत नाम से चिन्हित लोगों की रस्मी अस्पृश्यता के उन्मूलन से ज्यादा का समावेश होने लगा है। शहर में रहने वालों के लिए गाँव अछूत बन गए हैं और इस व्यापक अस्पृश्यता को खत्म करने के लिए ग्रामीण उद्योगों का नवजीवन अधिक जरूरी हो गया है।" अस्पृश्यता उन्मूलन के प्रयासों, शहर और गाँव के बीच खाई कम करने की कोशिश और ग्रामीण उद्योगों के पुनर्जीवन की पहल ने ब्रिटिश ढाँचे वाली विद्यमान शिक्षा पद्धति की व्यर्थता का स्पष्टता से साक्षात्कार करा दिया और सभी स्तरों पर उपयोगी पद्धति की जरूरत प्रकट हुई। पहले कदम के रूप में वह पद्धति सामने आई जिसे गाँधीजी की बुनियादी शिक्षा कहा जाता है और जो हाथ के काम के माध्यम से प्रदान की जाती है। 1934 से 1940 की शुरुआत तक, गाँधीजी स्वयं को गाँधी सेवा संघ के सदस्यों तथा लोगों के साथ ऐसे विचारों के लिए प्रयुक्त कर रहे थे जो नए भारत की क्रियाशीलता के लिए उनकी दृष्टि से अपेक्षित मार्ग से संस्थाओं और संरचनाओं से पूर्णतः सम्बन्धित थे। सितम्बर, 1939 में यूरोप में युद्ध शुरू होने के साथ, भारत में राजनीतिक परिस्थितियों में नाटकीय बदलाव आया। भारतीय राष्ट्रीयता और ब्रिटिश सत्ता में टकराव आसान दिखने लगा। अन्य कारणों के सम्मिलित प्रभाव से, गाँधीजी ने फरवरी, 1940 में संघ को सलाह दी कि वह खुद को सिकोड़ ले। राजनीति में भाग लिए बिना वह एक स्नातकोत्तर विद्यालय या शोध संस्थान बन सकती है, इसलिए गाँधीजी की इच्छा थी कि वह सुपरिचित ढंग से उन संरचनाओं, सम्बन्धों और राजतन्त्र के आदर्शों पर काम करे, जिनसे वे स्वयं और एक संस्था के तौर पर गाँधी सेवा संघ पिछले छः वर्षों से सक्रियता से संलग्न रहा है। जल्दी ही यह पृष्ठभूमि में पड़ गया। गाँधीजी ने नया सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया और बाद में अंग्रेजों से कहा 'भारत छोड़ो'। फलतः देशव्यापी गिरफ्तारियाँ हुईं और भारत विभाजन की सम्भावनाएँ सामने आईं तथा 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ।

महात्मा गाँधी का मूल्यांकन एवं देन

गाँधीजी का मूल्यांकन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने हमें एक नैतिक रीढ़ प्रदान की, हमारे आत्मविश्वास को जगाया और हमें अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाया। गाँधीजी ने राष्ट्र में यह अनुभूति पैदा की कि हम निर्धन हैं, पर क्षुद्र नहीं, हम शासित हैं, पर भाग्य के भरोसे नहीं हैं, हम पराधीन हैं, पर उस पराधीनता की साँकलों को तोड़ बिना दम न लेंगे। गाँधीजी ने राष्ट्र को मार्ग बताया और अहिंसात्मक सत्याग्रह का अस्त्र प्रदान किया। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में गहरे परिवर्तन किए। जीवन की एक व्यापक धारणा के कारण सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्ति की।

उन्होंने स्त्रियों को जगाया, सामाजिक कुरीतियों के विनाश की गति को तेज कर दिया और अछूतों तथा उत्पीड़ितों को आश्वासन दिया। उन्होंने किसानों की ओर निजत्व के भाव से देखा, गृह-उद्योगों का उद्धार किया और देशी कलाओं को पुनर्जीवन प्रदान किया।[1] डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार, "गाँधीजी नैतिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति के महान् देवता के रूप में सदैव स्मरण किए जायेंगे जिनके बिना पथ भ्रष्ट विश्व को शान्ति प्राप्त न होगी।" डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार, "भारतीय राजनीति को और दुनियाँ के सारे पीड़ित इन्सानों को गाँधीजी की देन वह अनोखा तरीका है जो उन्होंने बुराई से लड़ने के लिए बताया और इस्तेमाल किया। उन्होंने भारत को तथा दुनियाँ को युद्ध की जगह एक नैतिक साधन दिया। उन्होंने राजनीति को असत्य से उठाकर आदर्शवाद पर पहुँचा दिया, जिसमें लक्ष्य चाहे जितना अच्छा हो, पर शुद्ध साधनों के अलावा और किसी तरह के साधन किसी भी हालत में उचित नहीं ठहराये जा सकते। उन्होंने सत्य को राजनीति में सबसे ऊँचा रखा।" रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार, "गाँधीजी राजनीतिक पुरुष एवं मनुष्य के उद्धारक तथा नए मूल्यों के संस्थापक थे।"

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर
(Dr. B. R. Ambedkar)

बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर 20वीं शताब्दी के विलक्षण दूरदर्शी, यशस्वी वक्ता, ओजस्वी लेखक तथा भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता थे। उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध पराक्रमी योद्धा की भाँति संग्राम कर दीन-हीनों तथा दलितों की सामाजिक अवस्था सुधारने में अपना जीवन समर्पित कर दिया। उनका जन्म और पालन-पोषण अछूतों के गरीब परिवार में हुआ था। उस समय छुआछूत का प्रभाव सारे देश में फैला हुआ था, फिर भी उन्होंने जोश एवं लगन के साथ डिग्रियाँ प्राप्त कीं। स्वतन्त्र भारत के वे प्रथम कानून मन्त्री बने।

डॉ. अम्बेडकर : जीवन परिचय (Dr. Ambedkar : Life Sketch)

महाराष्ट्र के महार परिवार में इन्दौर के पास महू छावनी में 14 अप्रैल, 1891 को जन्मे डॉ. अम्बेडकर (1891-1956) ने छुआछूत की पीड़ा बचपन से ही महसूस की थी। महार जाति महाराष्ट्र में अछूत समझी जाती थी। इनके पिता का नाम रामजी सकपाल था जो कबीर के अनुयायी होने के कारण जाति-प्रथा को नहीं मानते थे। डॉ. अम्बेडकर के बचपन का नाम भीम सकपाल था। इनकी शिक्षा-दीक्षा महाराष्ट्र में हुई। 1907 में उन्होंने सतारा से हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ से छात्रवृत्ति प्राप्त कर उन्होंने मुम्बई के एलफिन्स्टन कॉलेज से उच्च शिक्षा पाकर अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से 1915 में एम. ए. (अर्थशास्त्र) कर 1916 में लन्दन के 'स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइंस' में प्रवेश लिया, किन्तु उन्हें बड़ौदा राज्य के 'सेना सचिव' पद पर कार्य करने हेतु भारत आना पड़ा। 1920 में वे पुनः लन्दन चले गए और 1921 में एम.एस-सी. करने के बाद वहीं से उन्होंने 'The Problems of the Rupee' शोध ग्रन्थ लिखकर पी एच. डी. की उपाधि ली और वकालत की 'बार एट लॉ' की उपाधि ली।

डॉ. अम्बेडकर ने भारत आकर स्वतन्त्र रूप से वकालत का अपना काम शुरू कर दिया, पर समाज के ठेकेदार उन्हें अछूत ही समझते थे। उनकी व्यावसायिक कुशलता पर किसी को कोई शक नहीं था, लेकिन स्टॉक एक्सचेंज के व्यापारी उनसे किनारा किए रहते थे। एक कॉलेज में प्राध्यापक के रूप में नियुक्त होने पर सहयोगियों को यह गवारा नहीं हुआ कि वे एक घड़े से पानी पीएँ। अपनी योग्यता के बल पर अम्बेडकर ने छात्रों को अपना प्रशंसक बना लिया था। 1927 में उन्होंने मुम्बई से 'बहिष्कृत भारत' समाचार पत्र निकाला और 1930 में उन्होंने अखिल भारतीय 'दलित वर्ग संघ' (All India Depressed Class Association) का अध्यक्ष पद सम्भाला तथा हिन्दुओं की जाति प्रथा का विरोध करना शुरू कर दिया। उन्होंने 1930 एवं 1931 में लन्दन में प्रथम और द्वितीय 'गोलमेज सम्मेलन' (Round Table Conference) में दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व किया तथा भारत की विधान परिषदों में हिन्दुओं से पृथक् दलित वर्ग के प्रतिनिधित्व की माँग की। यद्यपि डॉ. अम्बेडकर देश की स्वतन्त्रता हेतु किए जा रहे आन्दोलन के समर्थक थे, किन्तु महात्मा गाँधी एवं कांग्रेस पार्टी की नीतियों से दलितों के पक्षधर होने के कारण उनका मतभेद था। डॉ. अम्बेडकर दलितों के पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग करते थे जबकि गाँधीजी इस पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग को हिन्दुओं को विभाजित करने का षड्यन्त्र मानते थे और उसका विरोध करते थे। डॉ. अम्बेडकर के मतभेद गाँधीजी एवं कांग्रेस से कटुतर होते गए। गाँधीजी दलितों के हिन्दुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व का विरोध करते रहे जबकि अम्बेडकर पृथक् प्रतिनिधित्व के प्रबल पक्षधर बने रहे। अंततः अम्बेडकर सफल हुए जब 1932 में 'मैकडोनाल्ड पंचाट' द्वारा सरकार ने अस्पृश्यों (अछूतों) को सवर्ण हिन्दुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया, किन्तु 'पूना समझौते' (Poona Pact) पर उन्हें हस्ताक्षर करने पड़े। जिसमें कहा गया कि कोई अस्पृश्य नहीं। सम्पूर्ण दलित वर्ग (अछूत) हिन्दु हैं, उनसे अलग नहीं।

1 रामनाथ सुमन, वही, पृ. 177-78.

डॉ. अम्बेडकर ने 1936 में 'स्वतन्त्र मजदूर दल' (Independent Labour Party) की स्थापना कर दलितोद्धार एवं मजदूर किसानों की समस्याओं के समाधान हेतु कार्य प्रारम्भ किया। इस दल के तत्वावधान में 1937 का चुनाव लड़ा गया और इस दल ने अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित 15 स्थानों में से 13 स्थानों पर विजय प्राप्त की। मुम्बई विधानसभा के सदस्य के रूप में अम्बेडकर ने किरायेदार कानून, हड़ताल विरोधी विधेयक का तीव्र विरोध किया और मजदूरों के लिए सत्याग्रह के अधिकार की वकालत की। 'स्वतन्त्र मजदूर दल' को अम्बेडकर ने 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ' (All India Scheduled Caste Federation) का रूप दे दिया। 7 अगस्त, 1942 को उन्हें गवर्नर जनरल की परिषद (Council) का सदस्य मनोनीत किया गया। डॉ. अम्बेडकर ने 1942 में मुम्बई विधानसभा में देश भक्ति के समर्थन में कहा—"मेरा विरोध कुछ मामलों में सवर्ण हिन्दुओं से है। मैं शपथ लेता हूँ कि मैं अपने देश की रक्षार्थ अपना जीवन समर्पित कर दूँगा।" यद्यपि अम्बेडकर ने 1942 के गाँधीजी द्वारा प्रवर्तित 'भारत छोड़ो आन्दोलन' का विरोध किया था, तथापि यह विरोध देश की स्वतन्त्रता का विरोध न होकर इस स्वतन्त्रता के लिए गाँधीजी एवं कांग्रेस द्वारा अपनाई गई रणनीति से था। डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय एकता के पक्षधर थे। उनकी देश भक्ति में किसी को संदेह नहीं था, इसीलिए कांग्रेस के सहयोग से वे 'संविधान सभा' (Constituent Assembly) के सदस्य निर्वाचित हुए और उन्हें 'संविधान प्रारूप समिति' (Constitution Draft Committee) का अध्यक्ष बनाया गया। इस दायित्व का उन्होंने पूर्ण योग्यता से निर्वहन किया और संविधान निर्माण में उनके अपूर्व योगदान के कारण उन्हें 'आधुनिक युग का मनु' कहा गया। 3 अगस्त, 1949 को डॉ. अम्बेडकर भारत सरकार के विधि मंत्री (Law Minister) बने और 'हिन्दू कोड बिल' (Hindu Code Bill) के निर्माण में उनका योगदान रहा। तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू से उनके मतभेद बढ़ते गए, जिसके कारण 27 सितम्बर, 1951 को उन्होंने मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। हिन्दू धर्म में दलितों (अछूतों) की असम्मानजनक स्थिति उनके स्वाभिमान को सह्य नहीं थी, अतः उन्होंने 5 लाख दलित अनुयायियों सहित 14 अक्टूबर, 1956 को बौद्ध धर्म ग्रहण कर धर्मपरिवर्तन कर लिया। 6 दिसम्बर, 1956 को अम्बेडकर का निधन हो गया।

सामाजिक न्याय, सामाजिक एकता और दलितोद्धार

डॉ. अम्बेडकर ने देश के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दू धर्म के चतुर्थ वर्ण से उपजी अस्पृश्यता तथाकथित दलित वर्ग के पिछड़ेपन का मूल कारण है। जब तक इस अस्पृश्यता को मिटाया नहीं जाता, सामाजिक समानता का प्रश्न ही नहीं उठता। डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्ग के लोगों में जागृति लाने का प्रयास किया। उन्होंने ऐसे लोगों को प्रेरणा दी कि वे अपने बच्चों को पढ़ाई के लिए स्कूल भेजें। डॉ. अम्बेडकर का विरोध छुआछूत के विरुद्ध ही नहीं था, बल्कि वह भारत-भूमि से जातिवाद और वर्णभेद को मिटा देना चाहते थे। उन्होंने छुआछूत को मिटाने के लिए मैदान में आकर लड़ने का फैसला किया और 1927 में महाड़ पर एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया। चावदार तालाब से सामूहिक रूप में पानी पीया गया। उन्होंने गुजरात में कालाराम मन्दिर में अछूत के प्रवेश पर निषेध के विरुद्ध एक प्रदर्शन का नेतृत्व किया। समय के साथ अस्पृश्यता पर डॉ. अम्बेडकर के प्रहार तेज होते गए। विदेशी शासन से मुक्ति के संघर्ष में डॉ. अम्बेडकर अन्य राष्ट्रीय नेताओं से पीछे न थे। वे यह मानते थे कि स्वराज्य मिलने पर सामाजिक समानता लाने की दिशा में समुचित प्रगति हो सकती है।

संविधान रचना

संसद—संविधान का मसौदा तैयार करने वाली समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने प्रजातान्त्रिक एवं संसदीय प्रणाली का समर्थन किया। डॉ. अम्बेडकर का मत था कि प्रजातान्त्रिक प्रणाली भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है, क्योंकि इस व्यवस्था में सभी को समान अवसर उपलब्ध होते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने द्विसदनीय विधानमण्डल का पक्ष लिया। संसद के कार्यकाल के सम्बन्ध में वादविवाद के समय के. टी. शाह ने सुझाव दिया था कि आपातकालीन स्थिति समाप्त होने के बाद संसद का निर्वाचन केवल अवशिष्ट समय के लिए होना चाहिए न कि पूरी अवधि के लिए, किन्तु यह सुझाव स्वीकृत नहीं हुआ। डॉ. अम्बेडकर ने कहा है कि चुनाव कोई मामूली कार्य नहीं है। इसमें अत्यधिक व्यय होता है और यह किसी रूप में उचित नहीं होगा कि सरकार छोटी अवधियों के लिए चुनाव कराकर जनता पर व्यय का अनावश्यक बोझ डाले। डॉ. पट्टाभिसीतारमैया और अन्य सदस्यों ने यह राय व्यक्त की कि संकटकाल के दौरान संसद की अवधि अकेले राष्ट्रपति द्वारा नहीं, बल्कि संसद की सहमति से राष्ट्रपति द्वारा बढ़ाई जानी चाहिए। विशिष्ट समिति ने इस सुझाव में कोई आपत्तिजनक बात नहीं पाई। फलस्वरूप डॉ. अम्बेडकर ने यह संशोधन रखा कि संसद की अवधि 'संसद के कानून द्वारा' (By Parliament by Law) बढ़ाई जा सकती है न कि 'राष्ट्रपति द्वारा' (Not by President) जो स्वीकार कर लिया गया।

राष्ट्रपति—डॉ. अम्बेडकर ने राष्ट्रपति को सांविधानिक अध्यक्ष बनाने का पक्ष लिया। राष्ट्रपति की स्वेच्छा का क्षेत्र क्या है? इस पर डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने कहा कि संविधान में राष्ट्रपति के स्वैच्छिक कृत्य नहीं, बल्कि स्वैच्छिक परमाधिकार (Prerogatives) हैं। डॉ. अम्बेडकर ने अपनी व्याख्या इस प्रकार व्यक्त की—संसद

के विघटन के सम्बन्ध में अंग्रेजी सांविधानिक विधि-वेत्ताओं का कोई निश्चित मत नहीं है। कुछ व्यक्तियों का मत है कि सम्राट अथवा राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की मन्त्रणा स्वीकार कर लेनी चाहिए यदि वह देखे कि सदन अदम्य हो गया है अथवा सदन लोकेच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इस सम्बन्ध में एक मत यह है कि प्रधानमन्त्री अथवा मन्त्रिमण्डल ऐसा परामर्श दे अथवा न दे परन्तु यदि राष्ट्रपति के अनुसार सदन लोकेच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता तो राष्ट्रपति स्वेच्छा से सदन का विघटन कर सकता है। ये राष्ट्रपति के परमाधिकार हैं। ये देश के प्रशासन के अन्तर्गत नहीं आते।

संघीय कार्यपालिका—संविधान सभा में संघीय कार्यपालिका के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त वाद-विवाद के उपरान्त संविधान की धारा 74 के अन्तर्गत एक संघीय मन्त्रि-परिषद हो जिसका मुख्य कार्य राष्ट्रपति को सहायता तथा परामर्श देना हो। मन्त्रि-परिषद ही देश की वास्तविक कार्यपालिका हो और इसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री कहलाए।

मन्त्री की योग्यताएँ—एक मन्त्री की योग्ताएँ (Qualifications) क्या हों यह विषय संविधान-सभा में रोचक वाद विवाद का विषय रहा। मोहम्मद ताहिर ने प्रस्ताव किया कि ऐसे किसी व्यक्ति को मन्त्री नियुक्त न किया जाए जो अपनी नियुक्ति के समय सदन का निर्वाचित सदस्य न हो, किन्तु डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। डॉ. अम्बेडकर ने कहा है कि यदि कोई योग्य व्यक्ति एक निर्वाचन क्षेत्र में किसी कारणवश पराजित हो गया हो तो उसे इस आधार पर मन्त्री बनाना अनुचित न होगा कि वह अपनी नियुक्ति से 6 माह की अवधि के भीतर किसी न किसी चुनाव क्षेत्र से पुनः निर्वाचित हो सके। अम्बेडकर ने तर्क दिया कि किसी गैर संसद सदस्य को मन्त्री बनाने की सुविधा 6 माह तक सीमित रखी गई है। अम्बेडकर का दूसरा प्रस्ताव के. टी. शाह ने रखा। उन्होंने सुझाव दिया कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल में से की जानी चाहिए। अम्बेडकर ने संविधान में ऐसी व्यवस्था का उल्लेख करने के विचार से असहमति प्रकट की। उन्होंने कहा कि यह पूर्ण सम्भव और स्वाभाविक है कि चुनाव से संसद में कभी ऐसे अनेक दल आ जाएं जिनमें से किसी का बहुमत न हो। इस स्थिति में, श्री शाह द्वारा प्रस्तावित संशोधन पर आचरण करने से सरकार का निर्माण असम्भव हो जाएगा। अम्बेडकर ने के. टी. शाह के सुझाव को इस आधार पर अमान्य ठहराया कि संकटकालीन अवस्था में यदि किसी मिश्रित मन्त्रिमण्डल (Coalition Ministry) के निर्माण की आवश्यकता हो, जिसमें अल्पसंख्यक दल को लेना पड़े तो शाह के प्रस्ताव के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं हो सकेगा।

आपातकालीन प्रावधान—संविधान में इन आपात-उपबन्धों से सम्बद्ध अध्याय की सभा में और बाहर जितनी कटु-आलोचना की गई उतनी और किसी अध्याय की नहीं, किन्तु संविधान सभा में अधिकांश सदस्यों का स्पष्ट मत था कि देश के हित में स्वतन्त्रता की अपेक्षा सुरक्षा को अधिक महत्त्व देना चाहिए। केन्द्र को इस दृष्टि से सर्वोच्च-शक्ति-सम्पन्न इसलिए होना चाहिए कि राज्य तथा संघ की इकाइयाँ बाह्य आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने की शक्ति नहीं रखतीं और आन्तरिक विलम्ब को सुलझाने के सम्बन्ध में उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। आपात-काल में विकीर्ण सत्ता विनाश का कारण बन सकती है। डॉ. अम्बेडकर ने यह महत्त्वपूर्ण तर्क दिया कि "केन्द्र ही सम्पूर्ण देश की समान भलाई के लिए कार्य कर सकता है, अतः केन्द्र को आपातकाल में राज्य सरकारों की शक्तियाँ ग्रहण करने का अधिकार दे देना न्यायोचित है।" संविधान के प्रारूप की प्रस्तावना करते समय डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय राष्ट्रपति की स्थिति को इन शब्दों में स्पष्ट किया—"भारत के प्रारूप संविधान में भारत संघ का अध्यक्ष जिस अधिकारी को बताया गया है उसे 'संघ का राष्ट्रपति' की संज्ञा दी गई है। इस उपाधि से अमेरिका के राष्ट्रपति का ध्यान आता है, परन्तु संज्ञा की समानता के अतिरिक्त अमेरिका में प्रचलित शासन प्रणाली के साथ प्रारूप में परिकल्पित शासन-प्रणाली का साम्य नहीं है दोनों में मौलिक भेद है। अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन है और कार्यपालिका सत्ता राष्ट्रपति में निहित है तथा प्रशासन सत्ता उसी के हाथों में है। भारत में राष्ट्रपति का स्थान वही होगा जो ब्रिटिश सम्राट का संविधान के अन्तर्गत है। वह राज्याध्यक्ष तो होगा, किन्तु कार्यपालिका का मुखिया नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि है, शासक नहीं, वह राष्ट्र का प्रतीक है। प्रशासन में उसका स्थान आनुष्ठानिक मुद्रा का है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय प्रख्यात किए जाते हैं।"

निवारक नजरबन्दी अनुच्छेद—संविधान सभा में निवारक नजरबन्दी सम्बन्धी अनुच्छेद को संविधान में शामिल करने का तर्कसम्मत उत्तर देते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि "यह स्वीकार करना पड़ेगा कि देश की वर्तमान परिस्थितियों में सार्वजनिक व्यवस्था भंग करने वाले देश की रक्षा सेवाओं (Defence Services) में गड़बड़ी फैलाने वाले व्यक्तियों का विरोध करना कार्यपालिका के लिए आवश्यक हो सकता है। मैं समझता हूँ ऐसी स्थिति में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को राज्य के हितों पर वरीयता प्रदान नहीं की जा सकती है।"

धार्मिक स्वतन्त्रता—धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार चर्चित रहा। संविधान सभा में यह तर्क दिया गया कि धार्मिक स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति और धर्म निरपेक्ष राज्य की धारणा—ये परस्पर विरोधी अवधारणाएँ हैं। डॉ. अम्बेडकर ने संसद में एक स्थल पर स्पष्ट किया कि "धर्म-निरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं है कि हम धार्मिक भावनाओं की ओर ध्यान नहीं देंगे। इसका अर्थ है कि यह संसद देश के नागरिक पर विशेष धर्म लादने का अधिकार नहीं रखती। यह एक परिसीमा संविधान स्वीकार करता है।"

संविधान संशोधन—संवैधानिक उपचार का अधिकार सम्बन्धी अनुच्छेद संविधान-सभा में रोचक और महत्वपूर्ण विवाद का विषय बना। इस अनुच्छेद के महत्व की व्याख्या करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि "यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौनसा अनुच्छेद है जिसके बिना संविधान शून्यप्राय हो जायेगा, इस अनुच्छेद को छोड़कर मैं और किसी अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता। यह संविधान का हृदय तथा आत्मा है और मुझे प्रसन्नता है कि सदन ने इसके महत्व को समझा। भविष्य में कोई संसद इस अनुच्छेद में अंकित लेखों को छीन नहीं सकती, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय की लेखादि निकालने की शक्ति, संसद की इच्छा से बनाई गई किसी विधि पर आश्रित नहीं वरन् संविधान द्वारा प्रदत्त की गई है। सर्वोच्च न्यायालय का यह अधिकार संवैधानिक संशोधन द्वारा छीना जा सकता है। *संवैधानिक संशोधन करने की विधि संविधान द्वारा निर्धारित है। मेरे विचार में यह व्यक्ति की सुरक्षा का सबसे महत्वपूर्ण परिमाप है।*"

नीति-निर्देशक तत्व—राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त आधुनिक संवैधानिक प्रशासन की नवीन विशेषता है और संविधान-निर्माता आयरिश गणराज्य के संविधान से प्रभावित हुए थे, क्योंकि उसमें एक अध्याय राजनीति के निर्देशक सिद्धान्तों पर है। इन नीति निर्देशक सिद्धान्तों के महत्व को इंगित करते हुए संविधान सभा में प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने यह विचार व्यक्त किया था—

"निर्देशक सिद्धान्त उन अनुदेश-पत्रों के समान हैं जिन्हें उपनिवेशों के गवर्नर जनरल अथवा गवर्नरों के नाम जारी किए जाते थे। ब्रिटिश सरकार ने 1935 में भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत ये अनुदेश-पत्र भारतीय गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को जारी किए थे जिन्हें निर्देशक अथवा सिद्धान्त कहा जाता है अनुदेश-पत्र का दूसरा नाम है। अन्तर इतना है निर्देशक सिद्धान्त कार्यपालिका एवं विधान-मण्डल दोनों के कार्यों का निर्देशन करते हैं। मतदाता को सत्ता के प्रयोग में स्वच्छन्द नहीं रखना चाहिए। सत्ता का प्रयोग करते समय उसे इन निर्देशक सिद्धान्तों का आदर करना होगा, वह इनकी अवहेलना नहीं कर सकता।" गणतन्त्रात्मक भारत के राष्ट्र-मण्डल की सदस्यता के सम्बन्ध में मौलाना हसरत मोहनी ने यह प्रस्ताव रखा कि 'प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र गणराज्य' शब्द प्रस्तावना में रख जाने चाहिए। उन्होंने तर्क दिया कि यदि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा तो वह इंग्लैण्ड की तरह ब्रिटेन के अधीनस्थ एवं गणतन्त्रात्मक अधिराज्य (A Republic Dominion under Britain) होगा, परन्तु डॉ. अम्बेडकर ने असहमति प्रकट करते हुए स्पष्ट किया कि 'सम्प्रभु' (Sovereign) शब्द 'स्वतन्त्रता' (Independence) का अभिव्यक्ति करता है और एक स्वतन्त्र देश किसी दूसरे स्वतन्त्र देश के साथ किसी सन्धि में बँधता है तो वह इस कारण किसी रूप में कम प्रभुत्व-सम्पन्न (*Less Sovereign*) *नहीं हो जाता। अन्त में संविधान सभा द्वारा मौलाना हसरत मोहनी का* संशोधन अस्वीकार कर दिया गया और भारत को एक सम्प्रभुत्व लोकतन्त्रात्मक गणराज्य (A Sovereign Democratic Republic) घोषित कर दिया गया।

संविधान की प्रस्तावना—'प्रस्तावना' में निहित 'हम भारत के लोग' (We the People of India) शब्द चर्चा के विषय रहे। एस.एन. शाह ने कहा कि 'हम भारत के लोग' शब्द समुचित नहीं, क्योंकि संविधान निर्मात्री सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं चुनी गई है, परन्तु विशिष्ट समिति (The Special Committee) का अभिमत था कि 'भारत के लोग' शब्दों का अर्थ भारत की जनता (The People of India) से है और संविधान निर्मात्री सभा भारत की जनता के नाम पर बोल रही है, लेकिन राष्ट्र मण्डल की भारत की सदस्यता ने संविधान सभा के अनेक सदस्यों को शंकालु बना दिया था अतः पूर्णिमा बनर्जी ने यह संशोधन रखा कि इसको स्पष्ट रूप से उल्लिखित कर दिया जाए कि सम्प्रभुता भारत की जनता में निहित है। पूर्णिमा बनर्जी के संशोधन प्रस्ताव का महावीर त्यागी द्वारा जोरदार समर्थन किया गया, लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने तर्क-सम्मत उत्तर देते हुए कहा कि 'प्रस्तावना' इस बात को अच्छी तरह अभिव्यक्त कर देती है कि सम्प्रभुता भारत की जनता में निहित है और संविधान सभा इस बात को सम्पूर्ण भारत की तरफ से घोषित कर रही है। यद्यपि संविधान सभा जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं चुना गई है, लेकिन यह निश्चित रूप से एक प्रतिनिधि संस्था (A Representative Body) है। अमेरिकन संविधान अपेक्षाकृत एक और छोटी संस्था द्वारा तैयार किया गया था और जब वह संस्था संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता की तरफ से संविधान की घोषणा कर सकती थी तो भारत की बड़ी संविधान सभा के लिए ऐसा करना उचित है कि वह सम्पूर्ण भारत की जनता की तरफ से बोले। सभा में डॉ. अम्बेडकर का तर्क ही मान्य हुआ और पूर्णिमा बनर्जी का संशोधन अस्वीकार कर दिया गया।

अनुसूचित जाति एवं जनजाति हेतु प्रावधान—डॉ. अम्बेडकर और उनके समान विचारधारा वाले सदस्यों के प्रयत्नों के फलस्वरूप अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष प्रावधान किए गए और इनको कुछ रियायतें दी गईं। एकमात्र यही रास्ता था, जिससे अवसरों की समानता के मूलभूत अधिकार को मान्यता प्रदान की जा सकती था। ये रियायतें जाति के आधार पर दी गई और इसका कारण यह था कि जाति-प्रथा के कारण ही दलित वर्ग के लोग इतने पिछड़ गए थे।

अनुसूचित जाति एवं जनजाति को उन्नत बनाते हेतु डॉ. अम्बेडकर ने उनके लिए संवैधानिक प्रावधान कराये और कानून बनवाये बल्कि उनके जीवन और प्रवृत्तियों में सुधार हेतु प्रयास किये। दलित कहलाने वाला यह वर्ग अपनी बुरी आदतों और हीन भावना के कारण हिन्दू समाज में हीन समझा जाता है। इस तथ्य को समझते हुए डॉ. अम्बेडकर ने इन्हें अपनी बुरी आदतों (सवर्ण जातियों से माँगना, नशा करना, गंदे कपड़े पहिनना, मुर्दा जानवर का माँस खाना, झूठ बोलना, निरक्षर रहना आदि) को त्याग कर सम्मानपूर्ण जीवन बिताने की प्रेरणा दी। उन्होंने तीन बिन्दुओं पर बल दिया—(1) अछूत संगठित हों, (2) वे शिक्षित हों (3) वे अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करें। उन्होंने अपनी अछूत जाति 'महार' के सम्मेलन में कहा था कि "यदि महार अपने बच्चों को स्वयं के मुकाबले में अच्छी दशा में देखने की इच्छा नहीं रखते तो मनुष्य और जानवर में कोई अन्तर नहीं है।" महार महिलाओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि "यदि तुम्हारे पति और लड़के शराब पीते हैं तो उन्हें खाना मत दो। अपने बच्चों को स्कूल भेजो। शिक्षा जितनी जरूरी महापुरुषों के लिए है उतनी ही स्त्रियों के लिए आवश्यक है। यदि तुम लिखना-पढ़ना जान जाओ तो बहुत उन्नति होगी, जैसी तुम होगी, वैसे ही तुम्हारे बच्चे बनेंगे। अच्छे कार्यों की ओर अपना जीवन मोड़ दो। तुम्हारे बच्चे इस संसार में चमकते हुए हों। कभी यह मत सोचो कि तुम अछूत हो। साफ-सुथरे रहो। जिस प्रकार के कपड़े सवर्ण स्त्रियाँ पहनती हैं तुम भी पहनो। यह देखो कि वे साफ हैं।" उन्होंने 'महार वतन' कानून का विरोध किया, क्योंकि इसके द्वारा महारों को बंधुआ मजदूर एवं दास की श्रेणी में लाया गया था। उन्होंने सवर्ण एवं अछूतों में समता लाने हेतु 'समता सैनिक दल' की स्थापना भी की। दलितों के लिये पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग कर उन्होंने हिन्दू समाज की असमानता को दूर करने का प्रयास किया। संविधान के अनुच्छेद 15, 16 व 17 द्वारा उन्होंने अस्पृश्यता को गैर-कानूनी व अपराध मानने का प्रावधान कराया।

पुरुष स्त्रियों को समानता

डॉ. अम्बेडकर ने पुरुष एवं स्त्रियों की समानता के लिये काफी काम किया। पहले उन्होंने जिन कानूनों का मसौदा तैयार किया, हिन्दू कोड बिल उनमें से एक था जिसे उन्होंने 1951 में संसद में पेश किया। इसमें सम्पत्ति और विवाह के मामलों में स्त्रियों को बराबरी का दर्जा दिलाया गया। 1951 में उन्हें अपने कार्य में सफलता नहीं मिली, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने पद से त्याग-पत्र दे दिया। यह उनकी मेहनत का फल था कि आगे चलकर हिन्दू कोड बिल चार भागों में बँट कर पास हो गया। इस बिल का उद्देश्य हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में सुधार करना है। इस कानून के द्वारा स्त्री-पुरुष को तलाक की व्यवस्था की गई तथा स्त्रियों को पैतृक सम्पत्ति में बराबर का अधिकार प्राप्त करने का प्रावधान किया गया है।

डॉ. अम्बेडकर का मूल्यांकन एवं देन

डॉ. अम्बेडकर अपने जीवन के अन्तिम समय तक सामाजिक न्याय और दलित-उद्धार के लिए संघर्ष करते रहे। उन्हें ऊँच-नीच और जात-पाँत के भेदभाव से घृणा थी। 14 अक्टूबर, 1956 को डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पूर्व-घोषणा के अनुसार नागपुर में दो लाख दलितों के साथ बौद्ध धर्म अपना लिया। गौतम बुद्ध भारत में जन्मे थे और उनके धर्म में जाति-पाँति अथवा छुआछूत के लिए कोई स्थान नहीं था। डॉ. अम्बेडकर ने अपने जीवन में 17 पुस्तकों की रचना की। अन्तिम दिनों में उन्होंने 'गोस्पल आफ बुद्ध' का लेखन कार्य किया। 5 दिसम्बर, 1956 की मध्य रात्रि को अम्बेडकर का देहावसान हो गया। उनका निधन हरिजन समाज के लिए शोक का कारण था। नेहरूजी ने उनकी मृत्यु पर कहा कि डॉ. अम्बेडकर हिन्दू समाज के किए गए दमनात्मक कार्यों के विरुद्ध विद्रोह के प्रतीक थे। डॉ. अम्बेडकर के विचार आज उतने ही समीचीन और सार्थक हैं जितने की पहले थे। गाँधीजी ने उनके सम्बन्ध में कहा था कि "भविष्य में डॉ. अम्बेडकर के नाम के साथ चाहे किसी विशेषण का प्रयोग हो, वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता।" डॉ. अम्बेडकर को 'दलित वर्ग का मसीहा या पैगम्बर' कहा गया है क्योंकि वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने दलितोद्धार के लिए संघर्ष किया और सवर्णों के प्रति आक्रोश व्यक्त किया। डॉ. वी. पी. वर्मा के अनुसार, "डॉ. अम्बेडकर दलित समाज के लिए संघर्ष करने वाले अभूतपूर्व सैनानी थे। भारत के दलित वर्ग के लिए 20वीं सदी में जो कार्य उन्होंने किया वह अनुपम है, इसीलिए उन्हें 'दलितों का मसीहा' कहा जाता है। उनकी तुलना अमेरिका के महान् नीग्रो नेता पाल राबिन्सन से की जा सकती है जिसने अमेरिका के श्वेत लोगों के विरुद्ध समस्त नीग्रो प्रजाति का आक्रोश व्यक्त किया।"[1]

□□□

1 Dr V P Verma Modern Indian Political Thought p. 568

10

राजनीतिक विचार

(Political Thoughts)

प्लेटो

(Plato, 427-347 B.C.)

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

प्लेटो को यूनान का महान् दार्शनिक माना जाता है। उनके विचारों का राजनीतिक विचारों के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो का जन्म ईसा से 427 वर्ष पूर्व एथेन्स के एक कुलीन परिवार में हुआ था। पश्चिमी जगत् में सर्व प्रथम आदर्श राज्य (Utopia) की काल्पनिक योजना प्रस्तुत करने वाले इस विद्वान् दार्शनिक की माता का नाम परिक्टिमनी और पिता का नाम एरिस्टोन था। प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के बाद प्लेटो सुकरात के चरणों में शिष्य बन आठ वर्ष तक अध्ययन करता रहा। उसने राजनीति विज्ञान और दर्शन पर लगभग 38 ग्रंथ लिखे। इसमें से उसके प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(1) दी रिपब्लिक (386 B.C.), (2) दी स्टेट्स मैन (360 B.C.), (3) दी लाज (347B.C.)। 81 वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया।

रिपब्लिक

विश्व के सभी विद्वान् 'रिपब्लिक' को प्लेटो की महानतम एवं सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं। इस पुस्तक में प्लेटो ने अनेक विषयों का वर्णन किया है। "प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा का इसमें विशद् विवेचन है। मानव के कर्मानुसार सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति का इसमें उल्लेख है। इतिहास का दर्शन इसमें विद्यमान है। राज्यों के उत्थान और पतन की चक्रात्मक व्याख्या द्वारा उनके पीछे वर्तमान आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणों की मीमांसा इसमें मिलती है। इस ग्रन्थ में शील की विशिष्टता बड़ी उत्कृष्ट शैली में प्रतिपादित कर प्लेटो ने मानव जीवन को एक उच्चतम धरातल पर ले जाने का प्रयास किया है। दार्शनिक तत्वों का पर्याप्त ऊहापोह इसमें दृष्टव्य है। इन सभी विषयों को एक सूत्र में गठित एवं संयोजित करने वाली प्लेटो की 'रिपब्लिक' पुस्तक दर्शन की एक आध्यात्मिक कृति है।"[1]

(1) रिपब्लिक में वर्णित न्याय-सिद्धान्त—प्लेटो ने रिपब्लिक में आदर्श राज्य की स्थापना में न्याय-सिद्धान्त को अत्यन्त महत्व दिया है। न्याय-सिद्धान्त एक ऐसी औषधि है जो समाज से अशान्ति, अव्यवस्था, कर्तव्य-विमुखता तथा बुद्धिहीनता आदि व्याधियों को दूर कर सकती है। प्लेटो चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति संतोषपूर्वक अपना निश्चित कार्य करता रहे। उसकी दृष्टि में यही सामाजिक न्याय है जिसे सामाजिक जीवन का सच्चा सिद्धान्त कहा जा सकता है। प्लेटो की रिपब्लिक का उद्देश्य न्याय के झूठे सिद्धान्तों को समाज से दूर कर, सच्ची न्याय धारणा को प्रतिष्ठित करना था। प्लेटो की रिपब्लिक का आरम्भ और अन्त न्याय के वास्तविक स्वरूप की मीमांसा से होता है। उसने अपने समकालीन प्रचलित न्याय सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाई। उनमें से तीन प्रमुख सिद्धान्त ये थे—(i) न्याय की परम्परावादी अथवा सेफेल्स का सिद्धान्त, (ii) न्याय को उग्रवादी अथवा थ्रेसीमेकस का सिद्धान्त एवं (iii) न्याय की व्यवहारवादी अथवा ग्लाकॉ का सिद्धान्त।

न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ—प्लेटो के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) प्लेटो का न्याय बाह्य जगत् की वस्तु न होकर आन्तरिक स्थिति है। वह व्यक्ति की आत्मा की प्रतिध्वनि है।

(2) उसका न्याय अहस्तक्षेप के सिद्धान्त से संयुक्त है। आदर्श राज्य में प्रत्येक वर्ग के कार्य निर्धारित हैं और सामाजिक न्याय प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा करता है कि वह दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करे।

1. *डॉ. प्रभुदत्त शर्मा* : पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास, पृ. 34-35

(3) प्लेटो का सामाजिक न्याय कार्य-विशेषीकरण का सिद्धान्त है। मनुष्य की तीन प्रवृत्तियों-ज्ञान, साहस और भूख के आधार पर प्लेटो ने समाज को शासक, सैनिक और उत्पादक तीन वर्गों में बाँटा है।

(4) प्लेटो के आदर्श राज्य में न्याय की स्थापना दार्शनिक शासन द्वारा की गई है। योग्य शासन के लिए सैनिक एवं शासक-वर्ग में सम्पत्ति तथा नारी के साम्यवाद की व्यवस्था है जो निःस्वार्थ समाज-सेवा की परिस्थिति का निर्माण कर सकेगी।

(5) प्लेटो का सामाजिक न्याय सामाजिक एकता का सिद्धान्त है। कार्यों और गुणों के आधार पर विभाजित समाज के तीन वर्ग भिन्न-भिन्न होते हुए भी सामाजिक एकता के प्रतीक हैं।

(6) प्लेटो ने व्यक्ति एवं समाज दोनों स्तरों पर न्याय के गुणों की सम्प्राप्ति के लिए एक व्यवस्थित शिक्षा क्रम प्रस्तुत किया है।

(7) प्लेटो का राज्य एक नैतिक इकाई है, अतः उसका न्याय सिद्धान्त एक नैतिक मान्यता है, कानूनी नहीं है।

(8) प्लेटो का न्याय मानव जीवन की समग्रता को लेकर चलता है तथा वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का गुण और समाज की सामंजस्यपूर्ण स्थिति का दूसरा नाम है।

(9) व्यक्तिगत स्तर पर न्याय व्यक्ति की अपनी आत्मा में बुद्धि के शासन द्वारा समन्वय की स्थापना है। सामाजिक स्तर पर वह व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने कार्य करते हुए दूसरों के कार्यों में बिना हस्तक्षेप किए सामाजिक एकता को बनाए रखना है।

(2) रिपब्लिक में वर्णित शिक्षा सिद्धान्त—प्लेटो ने रिपब्लिक में शिक्षा का विवेचन किया है कि रूसो ने 'रिपब्लिक को शिक्षा' की सर्वोत्कृष्ट कृति की संज्ञा दी है। प्लेटो ने शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया माना है जिसके द्वारा समाज के घटक एक सामाजिक चेतना से अनुप्राणित होकर समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना सीखते हैं। अच्छे जीवन में आने वाली बाधाओं को शिक्षा के द्वारा दूर किया जा सकता है। शिक्षा ऐसा अभिकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समुचित स्थान बना पाता है और उसके अनुसार अपने को ढालता है।

प्लेटो की शिक्षा पद्धति की विशेषताएँ—प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में एथेन्स और स्पार्टा की शिक्षा प्रणालियों के गुणों को समन्वित किया है तथा दोनों के दोषों को दूर करने की कोशिश की। उसने एथेन्स की बौद्धिक शिक्षा के साथ स्पार्टा का संयमित शारीरिक शिक्षण जोड़कर शिक्षा को व्यक्तित्व और राष्ट्र दोनों के विकास का माध्यम माना है। उसने स्त्री एवं पुरुषों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया है। प्लेटो स्त्रियों और पुरुषों को समान शिक्षा की वकालत करते हुए उत्पादक और श्रमिक वर्ग को उच्च शिक्षा से वंचित रखना चाहता है। वह सभी के लिए अनिवार्य शिक्षा की योजना रखता है, किन्तु सभी से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो शिक्षा प्राप्त करने के योग्य हैं और जिनमें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की पात्रता है। प्लेटो ने अपनी प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा योजना में शिक्षा के पाठ्यक्रम का विस्तार से विवेचन किया है।

(3) रिपब्लिक में वर्णित साम्यवाद का सिद्धान्त—प्लेटो अपने साम्यवाद को राज्य के दो वर्गों—शासकों तथा सैनिकों तक सीमित रखता है। वह तृतीय बड़े वर्ग अर्थात् जन साधारण के लिए साम्यवादी व्यवस्था की कोई आवश्यकता महसूस नहीं करता। प्लेटो की साम्यवाद की योजना दो भागों में विभाजित है—(1) सम्पत्ति का साम्यवाद एवं (2) परिवार अथवा स्त्रियों का साम्यवाद।

सम्पत्ति का साम्यवाद—प्लेटो शासकों तथा सैनिकों के लिए सम्पत्ति का निषेध करता है। वह इन दोनों वर्गों को राज्य के अभिभावक के नाम से सम्बोधित करता है। उसका विश्वास है कि सम्पत्ति व्यक्ति को अपने पद से विचलित कर सकती है। सम्पत्ति पर शासकों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त किया जाना चाहिए जिससे उनके मन और मस्तिष्क से सम्पत्ति के प्रति मोह को दूर किया जा सके। वह शासकों के लिए सम्पत्ति को अनैतिक बताते हुए कहता है कि एक व्यक्ति के हाथ में सम्पत्ति और शासन की शक्ति केन्द्रित रहने से वह पथभ्रष्ट होकर भीषण परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। उसके अनुसार शासक तथा सैनिक वर्ग निजी सम्पत्ति के अधिकारी नहीं बन सकते। उसने रिपब्लिक में इनकी दिनचर्या का वर्णन दिया है।

परिवार अथवा स्त्रियों का साम्यवाद—प्लेटो ने अभिभावकगण के लिए निजी सम्पत्ति का निषेध करने के साथ उन्हें निजी परिवार का त्याग कर सारे राज्य को अपना वृहद् परिवार मानने के लिए कहा है। इसमें प्लेटो का उद्देश्य यह है कि शासक और सैनिक वर्ग कंचन के समान कामिनी के मोह से मुक्त होकर अपने कर्तव्यों का पूरी तरह पालन करते रहें। प्लेटो का मत है कि परिवार का मोह धन के मोह से प्रबल होता है। परिवार के उन्मूलन के पक्ष में प्लेटो का नारी जाति विमुक्ति तर्क भी है। प्लेटो के समय में यूनान में नारी जाति की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हें घर की चारदीवारी से बाहर नहीं निकलने दिया जाता था। प्लेटो की यह मान्यता थी कि नारी जाति के उत्थान के लिए उनका कार्यक्षेत्र

अधिक व्यापक और विस्तृत होना चाहिए। प्लेटो ने परिवार साम्यवाद की योजना तीन कारणों से प्रस्तावित की थी—(1) वह परिवार के घातक एवं संकीर्णतावादी क्षुद्र सम्बन्धों से अभिभावक वर्ग को मुक्त रखना चाहता था। (2) वह नारी जाति की मुक्ति तथा समानाधिकार का पक्षपाती था। (3) उत्तम सन्तान प्राप्ति के लिए प्रजनन शास्त्र की दृष्टि से प्लेटो को यह व्यवस्था वांछनीय लगती थी।

(4) रिपब्लिक में वर्णित आदर्श राज्य—प्लेटो के समय में यूनान में राजनीतिक अराजकता व्याप्त थी। उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप उसने एक 'आदर्श राज्य' की कल्पना कर उसे 'रिपब्लिक' में प्रस्तुत किया। उसने आदर्श राज्य की कल्पना करते समय उसकी व्यावहारिकता की उपेक्षा की है। प्लेटो व्यक्ति और राज्य में जीवाणु और जीव का सम्बन्ध मानता है। उसका विश्वास है कि जो गुण और विशेषताएँ अल्प मात्रा में व्यक्ति में पाई जाती हैं, वे विशाल रूप में राज्य में पाई जाती हैं। राज्य मूलतः व्यक्ति की आत्मा का बाह्य रूप है, अर्थात् आत्मा (चेतना) अपने पूर्ण रूप में जब बाहर प्रकट होती है तो वह राज्य का स्वरूप धारण कर लेती है। राज्य व्यक्ति की विशेषताओं का विराट रूप है। जिस प्रकार मन अथवा मानवीय आत्मा का निर्माण वासना, साहस और विवेक के तीन तत्त्वों से हुआ है, उसी प्रकार राज्य को उत्पन्न करने में तीन तत्त्व सहायक होते हैं—(1) आर्थिक तत्त्व, (2) सैनिक तत्त्व एवं (3) दार्शनिक तत्त्व।

(5) रिपब्लिक में कानून का निषेध—प्लेटो के न्याय सिद्धान्त, शिक्षा, योजना, आदर्श राज्य आदि के विवेचन के प्रसंग में यह विचार करना उपयोगी है कि उसने अपनी 'रिपब्लिक' में कानून और लोकमत के महत्त्व को बिल्कुल छोड़ दिया है।

(6) प्लेटो और फासीवाद—प्लेटो को फासिस्टों का आध्यात्मिक पितामह कहा जाता है। उसे इतिहास में प्रथम फासिस्ट होने का श्रेय प्राप्त है। प्लेटो के फासीवाद में राज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से है जहाँ [illegible] है और व्यक्ति का कोई स्थान न हो। इसमें एक दल के विरुद्ध किसी अन्य दल का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। प्लेटो का फासीवाद प्रजातन्त्र विरोधी है। प्लेटो ने प्रजातन्त्र को अज्ञानियों का शासन कहा है। प्लेटो के फासीवाद में उसके शिक्षा, सम्पत्ति आदि के सिद्धान्तों का महत्त्व है। वह राज्य की सर्वोच्चता और कुलीनतन्त्र में विश्वास करता है। प्लेटो के अनुसार व्यक्ति को राज्य में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। उसने व्यक्ति के अधिकारों को महत्त्व नहीं दिया।

स्टेट्समैन

प्लेटो ने इसमें कानून पर नए दृष्टिकोण से विचार किया है। इसमें उसने कानून की उतनी भर्त्सना नहीं की जितनी उसने 'रिपब्लिक' में की थी। इसमें मिश्रित संविधानों का संकेत मिलता है। प्लेटो के इसमें व्यक्त किए गए विचार अधिक तर्क पूर्ण और सुनिश्चित हैं।

(1) स्टेट्समैन में आदर्श शासक और कानून सम्बन्धी विचार—'स्टेट्समैन' प्लेटो की राजनीतिक रचना नहीं है। इसमें अधिकतर परिभाषाओं पर विचार किया गया है और इसका मुख्य विषय आदर्श शासक अथवा राजनेता है। 'स्टेट्समैन' में प्लेटो ने राजनेता अथवा प्रशासक को सर्वोच्च सत्ता का अधिकारी माना है। उसने विस्तार से यह सिद्ध किया है कि एक राजनेता सम्राट्, सेनापति तथा न्यायाधीश से बढ़कर है क्योंकि प्रभुता सम्पन्न होने के कारण वही यह निर्णय करता है कि वह अपनी शक्तियों का कब और किन कार्यों में प्रयोग करे। प्लेटो ने अपने चिन्तन के अगले चरण में विधि शासन के आधार पर निकृष्टता अथवा निरंकुशता का संशोधन किया है। उसने स्वीकार किया है कि राजनीतिक जीवन में सहमति, विधि या कानून सौजन्यवाद और मानव के वस्तु जगत् की मदद अलौकिक शक्तियों के लिए स्थान होता है। यूनानी लोगों का विधि की प्रभुता में विश्वास था। स्टेट्समैन में प्लेटो कानून को उचित स्थान देता है।

(2) स्टेट्समैन में राज्यों का वर्गीकरण—प्लेटो ने अपने 'स्टेट्समैन' में राज्यों का जो वर्गीकरण किया है वह 'रिपब्लिक' में किए गए वर्गीकरण से भिन्नता लिए हुए है। उसका राज्य वर्गीकरण निम्नांकित है—

राज्यों के प्रकार	शासकों की संख्या	शासन के रूप
(1) कानून-विद या कानून से संचालित राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र
	(ii) कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीन तन्त्र
	(iii) बहुत से व्यक्तियों का शासन	प्रजातन्त्र
(2) कानून द्वारा संचालित न होने वाले राज्य	(i) एक व्यक्ति का शासन	निरंकुशतन्त्र
	(ii) कुछ व्यक्तियों का शासन	अल्पतन्त्र
	(iii) बहुत से व्यक्तियों का शासन	अतिवादी प्रजातन्त्र

लाज

'लाज' प्लेटो का अंतिम ग्रन्थ था। इसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद हुआ। समाजशास्त्रीय और बौद्धिक विश्लेषण की दृष्टि से यह प्लेटो की महत्वपूर्ण रचना है। 'लाज' में प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्त निम्नांकित हैं—

(1) **आत्म संयम का महत्व**—प्लेटो के अनुसार आत्म-संयम के कारण विवेक अबाधित रूप से अपना कार्य करता है। यह राज्य की आधारशिला है। आत्म संयम पर आधारित न होने वाला राज्य अपूर्ण एवं दोषपूर्ण है। यदि व्यवस्थापक ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जिससे लोग आत्म संयमी बनें तो इससे तीन आदर्शों की प्राप्ति होती है—(1) स्वतन्त्रता, (2) एकता एवं (3) सूझबूझ। प्लेटो के अनुसार आत्म संयम राज्य को पूर्ण और दोषहीन बना सकता है।

(2) **कानून विषयक सिद्धान्त**—प्लेटो ने 'लाज' में कानून की पुनर्प्रतिष्ठा की है। उसने कानून के स्वरूप, आवश्यकता, स्वभाव आदि पर प्रकाश डालते हुए राज्य में कानून की प्रभुता स्थापित की है। वह कानून का शासन स्थापित करना चाहता है क्योंकि कानून दर्शन तथा ज्ञान का साकार रूप है। मनुष्य को दो कारणों से कानून की आवश्यकता होती है—(1) प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक हितों को समझने की क्षमता नहीं होती एवं (2) यदि वह समझ भी जावे तो अपने वैयक्तिक स्वार्थों और वासनाओं के कारण उसके अनुकूल आचरण नहीं करता। प्लेटो के अनुसार 'कानून' से व्यक्ति सबकी भलाई व्यक्ति की भलाई की पूर्व शर्त को अपना कर्तव्य मानता है।

(3) **इतिहास की शिक्षाएँ**—'लाज' में प्लेटो ने बताया है कि हमें भूतकालीन अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। वह इतिहास के आधार पर एक निश्चित शासन प्रणाली का समर्थन करता है जिसमें राज्य की सत्ता और जनता की सहमति को स्वीकार करता है। इतिहास के उदाहरणों के आधार पर उसने कानून के नियम और मिश्रित संविधान की व्यवस्था को पुष्ट किया है।

(4) **मिश्रित राज्य**—प्लेटो ने 'लाज' में जिस आदर्श राज्य की विवेचना की है उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता मिश्रित संविधान अथवा मिश्रित राज्य का सिद्धान्त है। 'लाज' में वर्णित आदर्श राज्य के निर्माण के लिए राजा और प्रजा, धनी और निर्धन, बुद्धिमान् और शक्तिशाली सभी व्यक्तियों और वर्गों का सहयोग आवश्यक है।

(5) **राज्य की भौगोलिक स्थिति व जनसंख्या**—प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की काल्पनिक भौगोलिक रूपरेखा खींची है। उसका मत है कि राज्य सागर तट से पर्याप्त दूर रहना चाहिए, क्योंकि सागर तट के निकट होने से विदेशी व्यापारियों की उस पर सदैव गिद्धदृष्टि लगी रहेगी और रक्षा के लिए बहुत अधिक सैनिक व्यय करना पड़ेगा। उसके अनुसार राज्य चारों ओर से सुरक्षित सीमाओं से घिरा हुआ हो जिससे उस पर सुगमता से विदेशी आक्रमण न हो। उसने राज्य की जनसंख्या 5040 निश्चित की थी।

(6) **सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ**—प्लेटो सामाजिक क्षेत्र में मिश्रित व्यवस्था को पसन्द करता था। वह विभिन्न तत्वों के सामंजस्य का पक्षपाती था। उसके अनुसार विवाह विभिन्न वर्गों और चरित्रों का मिलन होना चाहिए और सम्पत्ति निजी स्वामित्व एवं सार्वजनिक नियन्त्रण में होनी चाहिए। धनिकों को स्वेच्छा से अपने धन का कुछ भाग निर्धनों को देना चाहिए ताकि नागरिकों में वर्ग-संघर्ष उत्पन्न न हो।

(7) **विवाह तथा परिवार विषयक विचार**—'रिपब्लिक' की भांति 'लाज' में यह स्वीकार किया गया है कि स्त्रियों एवं पुरुषों को समान शिक्षा पाने एवं समस्त कार्य करने का अधिकार होना चाहिए। प्लेटो ने 'लाज' में स्त्रियों के साम्यवाद को समाप्त कर दिया था। वह इस विचार को त्याग देता है कि स्त्रियाँ सब की सम्पत्ति होनी चाहिए। प्लेटो का मत है कि विवाह का उद्देश्य वैयक्तिक आनन्द नहीं, अपितु राज्य का हित होना चाहिए। विवाह के बाद पति-पत्नी को विवाह के प्रथम दस वर्ष तक राज्य के निरीक्षकों की व्यवस्था में रहना चाहिए। उसने राज्य की जनसंख्या 5040 निर्धारित की है। इसके लिए उसके तीन सुझाव हैं—(1) महिला निरीक्षक डांट फटकार द्वारा पति-पत्नी को अधिक संतान पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करें, (2) अधिक संतान पैदा करने वाले माता-पिता को राजकीय सम्मान और विशेषाधिकार दिए जाएँ एवं (3) 35 वर्ष अथवा इससे अधिक आयु वाले अविवाहितों या सन्तान हीन व्यक्तियों पर कर लगाया जाए। प्लेटो के अनुसार सन्तान पैदा करना केवल भौतिक और राजकीय आवश्यकता ही नहीं, बल्कि नैतिक आवश्यकता है।

(8) **शैक्षणिक तथा धार्मिक संस्थाएँ**—'लाज' में प्लेटो ने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया है। इसमें पाठ्यक्रम की सामान्य रूपरेखा 'रिपब्लिक' की भाँति ही है। उसके द्वारा समस्त नागरिकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था का विचार व्यक्त किया गया है। प्लेटो धर्म को संस्थागत रूप देना चाहता है। उसने 'लाज' में धार्मिक विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। प्लेटो नास्तिकता का विरोध करता है।

(9) **प्लेटो के आदर्श राज्य का सर्वांग रूप**—प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लाज' में आदर्श राज्य का जो सम्पूर्ण चित्र खींचा है उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(1) आत्म संयम का महत्व, (2) कानून का सिद्धान्त, (3) मिश्रित संविधान,

(4) राज्य की भौगोलिक स्थिति एवं जनसंख्या, (5) सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ (इसमें सम्पत्ति एवं आर्थिक व्यवस्था, श्रम-विभाजन, शासन प्रणाली, न्याय व्यवस्था और स्थानीय शासन को सम्मिलित किया गया है), (6) विवाह एवं परिवार विषयक विचार (7) शिक्षा और धार्मिक संस्थाएँ। इनके अतिरिक्त प्लेटो ने शान्ति एवं युद्ध, ऐतिहासिक शिक्षा, अपराध एवं दंड आदि पर लाज में विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है।

अरस्तू
(Aristotle, 384-322 B.C.)

जीवन-परिचय (Life Sketch)

अरस्तू यूनान का महान् दार्शनिक राजनीति विज्ञान का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला पहला व्यक्ति था। उसके राजनीतिक विचारों का पश्चिम के राजनीतिक जगत् एवं सम्पूर्ण विश्व में महत्वपूर्ण स्थान है। अरस्तू का जन्म यूनान के स्टेगिरा नामक नगर में 384 ई. पू. में हुआ था। उसके पिता निकोमैकस मसीडोनिया के राज्य दरबार में चिकित्सक रह चुके थे। 18 वर्ष की आयु में वह एथेन्स जाकर प्लेटो की विश्व प्रसिद्ध अकादमी में भर्ती हो गया और 347 ई. पू. में प्लेटो के देहावसान तक वहीं रहा। उसकी मृत्यु 322 ई. में हुई।

अरस्तू के ग्रन्थ (Works of Aristotle)

उसने सभी विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। उसके द्वारा लिखित ग्रन्थों की संख्या लगभग 400 बताई जाती है। उसके विभिन्न विषयों पर लिखे गए ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(1) राजनीति पर—'पॉलिटिक्स' एवं 'दी कान्स्टीट्यूशन'। (2) साहित्य में—'आइडोमस और साल', 'प्रोपोलस', 'पोइटिक्स' एवं 'रेटरिक'। (3) दर्शन पर—'फिजिक्स हे एथीया' या फ्यार मैटा फिजिक्स' एवं 'कैटेगरीज'। (4) भौतिक विज्ञान पर—'मैटरोलॉजी'। (5) शरीर विज्ञान पर— हिस्टोरीज आफ एनीमल्स।

(1) अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार—'पालिटिक्स' की प्रथम पुस्तक में अरस्तू ने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उसके राज्य सम्बन्धी विचार ढाई हजार वर्ष बाद भी प्रामाणिक हैं। अरस्तू यह सिद्ध करना चाहता है कि राज्य का जन्म विकास के कारण हुआ है। यह एक स्वाभाविक संस्था है। इसके उद्देश्य और कार्य नैतिक हैं तथा यह सभी संस्थाओं में श्रेष्ठ है। उनके राज्य विषयक विचारों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) राज्य का प्रादुर्भाव—*अरस्तू के अनुसार राज्य एक प्राकृतिक संस्था है जिसका जन्म और विकास प्राकृतिक रूप से हुआ है।* वह कहता है कि "मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है जो अपने स्वभाव से ही राजकीय जीवन के लिए बना है।" उसने राज्य के विकास की तीन स्थितियाँ बताई हैं[1]—(1) गृहस्थी, (2) ग्राम एवं (3) नगर राज्य (पॉलिस)।

(ख) राज्य एक स्वाभाविक संस्था—प्लेटो की भाँति अरस्तू का यह मानना है कि राज्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है अपितु यह एक प्राकृतिक समुदाय है। अरस्तू राज्य को एक ऐसा समुदाय मानता है जिसके बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है। अरस्तू के अनुसार, "जो व्यक्ति राज्य से बाहर रहता है वह या तो पशु है अथवा देवता।"

(ग) राज्य सर्वोच्च समुदाय के रूप में है—अरस्तू राज्य को समुदायों का समुदाय ही नहीं, अपितु सर्वोच्च समुदाय मानता है। राज्य सर्वोच्च समुदाय इसलिए है कि वह सबके ऊपर है और अन्य सब इसके अंग में निमज्ज हुए हैं। उसके अनुसार विभिन्न प्रकार के समुदाय मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

(घ) राज्य मनुष्य से पहले—अरस्तू का कहना है कि 'राज्य मनुष्य से पहले' है। इस सम्बन्ध में उसका तर्क है कि राज्य एक समग्रता है और व्यक्ति उसका अंग है अर्थात् राज्य और व्यक्ति का वही सम्बन्ध है जो शरीर का उसके अंगों से होता है। समग्र पहले आता है और अंग बाद में, इस सादृश्य के आधार पर राज्य पहले हुआ।

(ङ) राज्य अंतिम और पूर्ण संस्था—अरस्तू नगर राज्य को मानव समाज का सर्वोत्तम समुदाय और मनुष्य का अंतिम लक्ष्य मानता है। परिवार और ग्राम के बाद राज्य में मानव के विकास लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अरस्तू के अनुसार, नगर-राज्य के बाद राज्य का कोई अन्य कार्य नहीं रह जाता। उसकी दृष्टि में वह सामाजिक विकास का चरम रूप है। परिवार से आरम्भ होने वाला विकास नगर राज्य में परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

(च) राज्य का जैविक स्वरूप—अरस्तू यह प्रतिपादित करता है कि राज्य का स्वरूप जैविक है अर्थात् राज्य की प्रकृति एक सावयवी जीवधारी के समान है। प्रत्येक सावयवी जीव का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। उसके कार्य उसके विभिन्न अंगों द्वारा किए जाते हैं। यह प्रक्रिया राज्य पर भी लागू होती है। उसके समस्त कार्य उसके अंगों से मिलकर होते हैं एवं सावयवी जीव का निर्माण होता है उसी प्रकार राज्य नाना प्रकार के अंग—व्यक्तियों एवं समुदायों से मिलकर बना हुआ एक सम्पूर्ण राज्य है।

---

1 भोलानाथ शर्मा अरस्तू की राजनीति पृ. 50.

(छ) राज्य का आत्मनिर्भर होना—अरस्तू राज्य की विशेषता यह मानता है कि वह आत्मनिर्भर इकाई है। वह अपने 'आचार शास्त्र' में लिखता है कि "आत्म-निर्भरता वह गुण है जिसके द्वारा स्वतः जीवन वाछनीय बन जाता है तथा उसमें कोई अभाव नहीं रह जाता।"[1] नगर राज्य को 'आत्म-निर्भर' कहने से अरस्तू का यही अभिप्राय है कि नगर उन समस्त स्थितियों और वातावरणों की पूर्ति करता है जो व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक हैं। उसके अनुसार आत्म-निर्भर राज्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास कर सकता है।

(ज) राज्य का एकत्व और बहुत्व—उसका सिद्धान्त है कि राज्य नागरिकों का नियन्त्रण एवं नियमन को तथा अन्य कार्यों के लिए यह उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करे। उसकी दृष्टि में एकत्व ही राज्य का आदर्श स्वरूप नहीं है। अरस्तू के अनुसार राज्य का स्वरूप बहुत्व में है।[2]

(झ) राज्य के उद्देश्य और कार्य—अरस्तू का विश्वास है कि मनुष्य का उद्देश्य जीवन नहीं अपितु एक आदर्श और श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति है और इस श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति कराना राज्य का उद्देश्य है। राज्य सद्गुणी जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्यों का एक नैतिक संगठन है, अतः उसका लक्ष्य अपने सदस्यों की अधिकतम भलाई करना है। अरस्तू का मत है कि "राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए।"[3]

(ञ) राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध—अरस्तू ने व्यक्ति और राज्य में गहरा सम्बन्ध बताते हुए राज्य और व्यक्ति की तुलना कई दृष्टिकोणों से की है। एक व्यक्ति के समान राज्य को साहस, आत्म-नियन्त्रण तथा न्याय के गुण प्रदर्शित करने होते हैं। राज्य व्यक्ति के समान आत्म-निर्भर और नैतिक जीवन व्यतीत करता है। वह नैतिक नियमों का पालन करता है और व्यक्ति के समान ही अपने सभी सदस्यों को नैतिक विधि मानने के लिए बाध्य करता है।

(2) अरस्तू के दास प्रथा सम्बन्धी विचार—अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार उसकी रूढ़िवादिता के प्रमाण हैं क्योंकि उस समय दास-प्रथा तत्कालीन यूनानी जीवन का विशेष अंग थी। यूनान का आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का था कि वहाँ भूमि का स्वामित्व कुलीन परिवारों के हाथ में था जो परिश्रम नहीं कर सकते थे। वे सारा परिश्रम दासों से करवाते थे। यूनान में दासों की भारी संख्या थी तथा दास वहाँ की राष्ट्रीय सम्पत्ति माने जाते थे। अरस्तू के अनुसार दास प्रथा के आधार थे—(1) दास-प्रथा को अरस्तू स्वाभाविक व्यवस्था मानता था, (2) दास-प्रथा से दोनों पक्षों को लाभ होता था एवं (3) अरस्तू नैतिक दृष्टि से दास-प्रथा को आवश्यक मानता था।

दासता के प्रकार—अरस्तू दासों के दो प्रकार बताता है—(1) स्वाभाविक दास एवं (2) वैधानिक दास। जो व्यक्ति जन्म से ही मंदबुद्धि और अयोग्य होते हैं वे स्वाभाविक दास होते हैं। युद्ध में अन्य राज्य को पराजित कर लाए हुए बन्दी वैधानिक दास कहलाते हैं।

(3) अरस्तू के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार—सम्पत्ति सम्बन्धी विचार व्यक्त करते हुए अरस्तू ने कहा है कि सम्पत्ति परिवार का आवश्यक अंग है। उसके बिना दैनिक जीवन सम्भव नहीं है। मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार की भाँति सम्पत्ति की आवश्यकता स्वाभाविक है। सम्पत्ति, जो परिवार का आवश्यक अंग है उसका स्वामित्व जरूरी है। सम्पत्ति और परिवार मानव को प्रकृति दत्त हैं। मनुष्य को क्षुधा शांत करने को भोजन चाहिए, निवास के लिए मकान और प्रकृति द्वारा दी गई सर्दी-गर्मी से बचने के लिए वस्त्र चाहिए। ये सम्पत्ति के भाग हैं। अरस्तू ने सम्पत्ति को दो भागों में बाँटा है—(1) निर्जीव—इस सम्पत्ति में धन, मकान, खेत, खलिहान आदि आते हैं। (2) सजीव—इस सम्पत्ति में दास और सेवक आदि आते हैं। अरस्तू के अनुसार परिवार के लिए दोनों प्रकार की सम्पत्ति उपयोगी होती है।

(4) अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचार—अरस्तू के अनुसार परिवार सामाजिक जीवन का प्रथम सोपान है। यह वह आधारशिला है जिस पर सामाजिक जीवन का भवन स्थिर रहता है। यहीं से व्यक्ति का जीवन प्रारम्भ होता है। परिवार नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला है। परिवार में बालक माता की गोद और पिता के संरक्षण में पालित-पोषित होकर नागरिकता की प्रथम शिक्षा ग्रहण करता है और यहीं पर उसे जीवन संग्राम में लड़ने के लिए तैयार किया जाता है। उसके अनुसार परिवार एक छोटा समाज है जहाँ मनुष्य के जीवन को शिक्षित होने का अवसर मिलता है। अरस्तू के अनुसार परिवार का स्वरूप पैतृक है और परिवार के सदस्यों का कार्य अलग होता है। पुरुष परिवार का संचालक और शासक है। वह स्त्री की अपेक्षा अधिक गुणवान और समर्थ होने के कारण परिवार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। अरस्तू के अनुसार परिवार के सदस्यों में परस्पर पूर्णतया मित्रता का वातावरण होना चाहिए।

(5) अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार—अरस्तू के अनुसार नागरिक वह व्यक्ति है जो न्याय अथवा राज्य के विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्यों में भाग ले। उस समय राज्य के सभी नागरिक साधारण सभा के सदस्य होते थे और

---

1. *Foster* Master of Political Thought p 129
2. *Barker* Politics, p 40-42.
3. *Aristotle* Politics (Barker's Trans) p 118

यह सभा वर्ष में कम से कम एक बार समवेत होकर राज्य के पदाधिकारियों का निर्वाचन करती थी तथा विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्य करती थी। एथेन्स में यह सर्वोच्च सत्ता होती थी और सभा के सदस्य के नाते प्रत्येक एथेन्स वासी राजसत्ता में भाग लेता था। किसी नगर राज्य में सभी व्यक्ति न साधारण सभा के सदस्य होते थे और न ही राज्य प्रशासन में भाग लेते थे। यूनान के किसी राज्य में विदेशियों, दासों, स्त्रियों तथा बच्चों को नागरिकता के अधिकार नहीं थे। यूनानी नागरिकता आधुनिक नागरिकता की अपेक्षा अधिक संकुचित थी।

(6) अरस्तू के कानून सम्बन्धी विचार—अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में कानून को राज्य में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य में संवैधानिक शासन का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा शासित हो अथवा सर्वश्रेष्ठ कानूनों द्वारा, क्योंकि वह शासन अपने प्रजाजनों की भलाई के लिए कानून के अनुसार होता है।[1] अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता को श्रेष्ठ शासन का एक चिह्न माना है। उसने कानून को उन समस्त बंधनों का सामूहिक नाम दिया जिनके अनुसार व्यक्तियों के कार्यों का नियमन होता है। वह कानून तथा विवेक बुद्धि को समान तथा पर्यायवाची मानता है। उसके अनुसार विवेक बुद्धि मानव कार्यों के नियमन के लिए एक आध्यात्मिक बंधन है। एक तरह से नीति और कानून को समानार्थक सहारे है। अरस्तू के मत में नीति के समान कानून का एक निश्चित लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य के नागरिक प्रयत्नशील रहते हैं। अरस्तू का कहना है कि इस सम्बन्ध में सविधान का महत्वपूर्ण स्थान है, जो लिखित कानूनों को घोषित करने के साथ अलिखित प्रथाओं और रीति-रिवाजों को अपनाता है। कानून के स्वरूप को बताते हुए अरस्तू का कहना है कि आदर्श कानून प्राकृतिक होते हैं। वह संविधान के लिए कानूनों की आवश्यकताओं पर बल देता है।

(7) अरस्तू के न्याय सम्बन्धी विचार—अरस्तू 'पॉलिटिक्स' में न्याय को राज्य के लिए महत्वपूर्ण बताता है। उसने न्याय का अर्थ नेक कार्य का व्यवहार रूप में प्रकट करना बताया है। अरस्तू के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञान का उद्देश्य लोक कल्याण है। न्याय समस्त गुणों का समूह है। वह न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उसके दो भेद करता है—(1) सामान्य न्याय एवं (2) विशेष न्याय। न्याय में नैतिक गुण एवं अच्छाई के सभी काम आ जाते हैं। अच्छाई के सभी कार्यों, सभी सद्गुणों तथा समग्र साधुता को ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है। विशेष न्याय से अरस्तू का तात्पर्य भलाई के विशेष रूपों से है। इस न्याय को वह आनुपातिक समानता के अर्थ में लेता है। इसका अर्थ यह है कि जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिए उसकी प्राप्ति इस कोटि में आती है। उसने इसके दो उप-विभाग किए हैं—(क) वितरणात्मक न्याय एवं (ख) सुधारात्मक न्याय। वितरणात्मक न्याय में अरस्तू ने बताया है कि राज्य को चाहिए कि वह अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों और पुरस्कारों का बँटवारा या वितरण न्याय पूर्ण रीति से करे। अरस्तू के अनुसार सुधारात्मक न्याय एक नागरिक से दूसरे नागरिक के सम्बन्ध को निर्धारित करता है।

(8) अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धी विचार—अरस्तू के अनुसार शिक्षा आदर्श राज्य के लिए अनिवार्य तत्व है। आदर्श राज्य के निर्माण और स्थायित्व के लिए उपयुक्त शिक्षा पद्धति परम आवश्यक है। अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को संविधान के अनुकूल बनाना है ताकि राज्य और नागरिकों में किसी प्रकार का विच्छेद न रहे और नागरिकों के मानसिक स्तर की उन्नति हो।

शिक्षा के तीन मूल सिद्धान्त—अरस्तू ने शिक्षा के तीन मूल सिद्धान्त बताए हैं—(1) सभी नागरिकों के लिए समान शिक्षा व्यवस्था, (2) शिक्षा द्वारा नागरिकों को चरित्रवान बनाना एवं (3) शिक्षा द्वारा नागरिकों को संविधान के अनुकूल बनाना।

(9) अरस्तू का संविधानों का वर्गीकरण—अरस्तू ने संविधानों का वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है—(1) संख्या अर्थात् शासन सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है? एवं (2) लक्ष्य या उद्देश्य अर्थात् राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक हित है या स्वार्थ साधन? उसके वर्गीकरण का चार्ट इस प्रकार बनाया जा सकता है—

संविधान का रूप या शासकों की संख्या	सामान्य राज्य जो सार्वजनिक कल्याण की चेष्टा करते हैं	भ्रष्ट राज्य जो सार्वजनिक कल्याण की उपेक्षा करते हैं
एक व्यक्ति का शासन	राजतंत्र या एकतन्त्र	निरंकुश शासन
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतंत्र	अल्पतन्त्र या स्वार्थी तन्त्र
अनेक व्यक्तियों का शासन	संयत तंत्र	अतिवादी लोकतन्त्र

1. *Sabine* A History of Political Theory, Part I, p. 87-88.

उसने अपने वर्गीकरण की पूर्णरूप से व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने अपने वर्गीकरण के ये आधार बताए हैं—(1) आर्थिक आधार, (2) नैतिक गुणों का आधार एवं (3) कार्य प्रणाली का आधार।

आर्थिक आधार में उसने धनिकतन्त्र में धनिकों का तथा जनतन्त्र में गरीबों का शासन बताया है। गुणों के आधार पर उसने जनतंत्र में समानता एवं स्वतन्त्रता के तत्व पर, धनिक तन्त्र में धन पर, कुलीन तन्त्र में गुणों पर तथा संयत जनतन्त्र में धन एवं स्वतन्त्रता के तत्व पर बल दिया है। शासन प्रणाली की दृष्टि से उसने बताया है कि कहीं ऊँचे पदों पर सम्पत्ति वाले व्यक्ति ही शासन करते हैं तो कहीं मामूली सम्पत्ति वाले भी शासन में भाग ले सकते हैं।

(10) सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य या सर्वोत्तम संविधान—अरस्तू ने अपने सर्वोत्तम अथवा आदर्श संविधान का वास्तविक उदाहरण नहीं दिया है। उसने श्रेष्ठता की दृष्टि से शासन प्रणालियों अथवा संविधान या राज्यों का जो क्रम निश्चित किया है वह है—(1) आदर्श राजतन्त्र (Ideal Royalty), (2) विशुद्ध कुलीनतन्त्र (Pure Aristocracy) (3) मिश्रित कुलीनतन्त्र (Mixed Aristocracy), (4) संयत जनतन्त्र (Polity), (5) अधिकतम उदारजनतन्त्र (Most Moderate Democracy), (6) अधिकतम उदार धनिकतन्त्र (Most Moderate Oligarchy), (7) जनतन्त्र तथा धनिकतन्त्र के बीच के दो प्रकार, (8) अति जनतंत्र (Extrame Domocracy), (9) अति धनिक तन्त्र (Extreme Oligarchy) एवं (10) निरंकुशतंत्र (Tyranny)। अरस्तू ने क्रमानुसार उत्तम संविधानों की जो सूची दी है उसमें चतुर्थ संयत जनतन्त्रीय संविधान (Polity) ही उत्तम संविधान है।

(11) आदर्श राज्य—अरस्तू के आदर्श राज्य की विशेषता है—"कानूनों की प्रभुता तथा एक समुचित और संतुलित मात्रा में सम्पत्ति एवं निजी पारिवारिक जीवन उपलब्ध है।" अरस्तू ने कहा है कि जो शासन अपनी प्रजा की भलाई हेतु होता है वह कानून के अनुसार होता है। उसका आधार मानव प्रकृति के स्वरूप पर निर्भर होता है। उसके आदर्श राज्य की विशेषताएँ निम्नांकित प्रकार से हैं—

(i) राज्य का क्षेत्र आवश्यकतानुसार होना चाहिए। वह न इतना छोटा हो कि आजीविका कठिन हो जाए और न इतना बड़ा कि व्यक्ति विलासिता का जीवन बिताए।

(ii) आदर्श राज्य के नागरिकों का चरित्र और उनकी योग्यता यूनानी विशेषताओं के अनुरूप होनी चाहिए। अरस्तू की धारणा है कि आदर्श राज्य में मनुष्य और नागरिक गुण समान होने से सभी अच्छे नागरिक होंगे।

(iii) जनसंख्या न बहुत अधिक हो और न बहुत कम।

(iv) अरस्तू ने आदर्श राज्य में 6 प्रकार की आवश्यकताएँ मुख्य मानी हैं—भोजन, कला-कौशल, शस्त्र, सम्पत्ति, सार्वजनिक देव पूजा और सार्वजनिक हित का निर्धारण। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने राज्य में छह वर्ग कृषक, शिल्पी, योद्धा, सम्पत्तिशाली वर्ग, पुरोहित और प्रशासक होना आवश्यक माना है।

(v) अरस्तू आदर्श राज्य में शिक्षा पर ध्यान देता है। आदर्श राज्य का उद्देश्य एक शुभ जीवन की प्राप्ति है और शुभ जीवन के लिए व्यक्ति का चरित्रवान, स्वस्थ और कर्तव्य-परायण होना आवश्यक है। यह कार्य शिक्षा के द्वारा हो सकता है।

(vi) अरस्तू अपने आदर्श राज्य के लिए अन्य विशेषताओं का भी वर्णन करता है जैसे—बाहरी आक्रमणों से बचाने के लिए रक्षा के अच्छे साधन, राज्य में पानी, सड़कों एवं किलों आदि की सुन्दर व्यवस्था आदि।

(12) अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार—अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ है संविधान में हर छोटा-बड़ा परिवर्तन। यह आवश्यक नहीं है कि संविधान में पूर्ण परिवर्तन होता है या आंशिक, सशस्त्र होता है या बिना किसी विशेष घटना के। संविधान में पूर्ण परिवर्तन के परिणामस्वरूप राज्य का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक स्वरूप पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है। इसे हम पूर्ण क्रान्ति की संज्ञा दे सकते हैं किन्तु जब संविधान में परिवर्तन के फलस्वरूप उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होता है इसे आंशिक क्रान्ति कहा जाना चाहिए। संविधान में परिवर्तन निर्वाचन द्वारा, धोखे से सशस्त्र विद्रोह से अथवा अन्य रक्तहीन उपायों द्वारा हो सकता है। अरस्तू ने क्रान्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके 5 प्रकार बताएँ हैं—(1) आंशिक और पूर्ण क्रान्ति, (2) रक्त पूर्ण और रक्तहीन क्रान्ति, (3) व्यक्तिगत और गैर-व्यक्तिगत क्रान्ति, (4) वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति एवं (5) वैचारिक क्रान्ति।

मैकियावेली

(Machiavelli, 1469 1527)

जीवन परिचय (*Life Sketch*)

बौद्धिक पुनर्जागरण ने लोगों के जीवन में नई चेतना, स्वतन्त्रता के लिए एक नवीन प्रेम और जीवन में नवीन मूल्यों के प्रति अनुराग पैदा कर दिए। ज्ञान और पुनर्निर्माण के क्रमाकाल में मैकियावेली पैदा हुआ था, जिसने विश्व को नई

सूझबूझ और दिशा प्रदान की। निकोलो मैकियावेली का जन्म इटली के फ्लोरेंस नगर में 1469 में हुआ था। उसका पिता वकील था। 1490 में मैकियावेली ने एक साधारण प्रशासकीय पद पर कार्य शुरू किया। 1498 से 1512 तक उसने फ्लोरेंस की 'कौंसिल आफ टैन' के सचिव पद पर कार्य किया। उसने अपना शेष जीवन लेखन कार्य में व्यतीत किया। 1527 में उसका देहावसान हो गया।

मैकायावेली के ग्रन्थ (Works of Machiavellie)

मैकियावेली ने दो महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जिसके कारण उसका नाम राजनीति दर्शन में अमर हो गया। उसके ये दो ग्रन्थ है—(1) *डिस्कोर्सेज आन लिवि (Discourses on Livy)* (2) *दी प्रिंस (The Prince)*।

मैकियावेली युग शिशु के रूप में

मैकियावेली के चिन्तन पर उसकी युगीन परिस्थितियों का बहुत अधिक प्रभाव था, इसलिए राज दर्शन के विद्वान् डनिंग ने लिखा है कि, "यह प्रतिभा सम्पन्न फ्लोरेंस निवासी वास्तविक अर्थ में अपने काल का शिशु था।"[1]

(1) **मैकियावेली के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार**—मैकियावेली की धारणा थी कि मनुष्य जन्म से बुरा होता है। अपनी स्वभावगत दुष्टता के कारण वह अधोगति को प्राप्त होता है। मानव प्रकृति से घोर स्वार्थी एवं दुष्ट होता है। मैकियावेली का विश्वास था कि मनुष्य की स्वार्थ भावना और उसका अहंकार उसके सारे क्रियाकलापों के मूल में होते हैं। वह विभिन्न कमजोरियों से ग्रस्त होता है तथा परोपकार जैसी धारणाओं से अपरिचित होता है। उसने लिखा है कि "सामान्यतः मनुष्यों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है वे कृतघ्न, चंचलमन, मिथ्यावादी, डरपोक और स्वार्थ लिप्सु होते हैं। वे तभी तक आपके बने रहते हैं जब तक सम्पन्नता आपके पास है। वे तभी तक आपके लिए अपना रक्त, सम्पत्ति, जीवन आदि का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहेंगे जब तक वास्तव में ऐसे बलिदानों की आवश्यकता दूर रहती है लेकिन जैसे ही यह आवश्यकता निकट आती है वे आपके विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं।"—मनुष्य उसी समय तक किसी से प्रेम करते हैं जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है लेकिन जब वे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं देखते तब वे विद्रोह कर देते हैं। 'मैकियावेली' का यह वाक्य बड़ा ही प्रसिद्ध है कि "मनुष्य पिता की मृत्यु का दुख आसानी से भूल जाता है, पर पितृधन की हानि नहीं भूलता।"

(2) **मैकियावेली के धर्म और नैतिकता सम्बन्धी विचार**—राजनीति दर्शन में मैकियावेली ने सर्वप्रथम राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से पृथक रखने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। मैकियावेली के अनुसार पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, लोक-परलोक, अच्छा-बुरा, शत्रु-मित्र आदि के विचार साधारण मनुष्य के लिए हैं। राजा को इनका दास नहीं होना चाहिए। उसके अनुसार सच्चा राजा वह है जो शक्ति, धोखा और षड्यन्त्र लेकर चले, शेर की तरह शक्तिशाली हो और लोमड़ी की तरह चालाक हो।

(3) **मैकियावेली के राज्य सम्बन्धी विचार**—मैकियावेली के अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था है जिसे मनुष्य ने अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिए बनाया है। वह राज्य के आविर्भाव का कारण मनुष्य का स्वार्थ मानता है और राज्य की मुख्य विशेषता उसका निरन्तर विस्तार है। मैकियावेली नगर राज्य की अपेक्षा निरन्तर विकासशील सम्पन्न साम्राज्य का उपासक था। स्वार्थ को राज्य की उत्पत्ति का आधार बताते हुए मैकियावेली यह स्वीकार करता है कि राज्य की स्थापना असभ्य जातियों को संगठित करने के लिए हुई थी। वह स्वार्थ के अतिरिक्त यह बताता है कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वरीय न होकर समाज के बल का परिणाम है। मनुष्य की दुष्टता और स्वार्थपरता को नियन्त्रित एवं नियन्त्रित करने के लिए बलशाली बाह्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो राज्य द्वारा पूरी की जाती है।

उसने बताया है कि आदर्श राजा को किसी उपाय से राज्य का शक्ति, सम्मान और प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहिए। उसने बताया कि "मनुष्य मानवता और पशुता के अंशों से मिलकर बनता है, अतः राजा को इन दोनों के साथ व्यवहार करने के उपायों का ज्ञान होना चाहिए। उसने राजा को यह शिक्षा दी है कि उसे दयालु होते हुए सदैव ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी दयालुता का अनुचित लाभ न उठाए।"

(4) **मैकियावेली के सरकार सम्बन्धी विचार**—शासन तंत्रों अथवा सरकारों का वर्गीकरण मैकियावेली ने इस उद्देश्य से किया है कि आदर्श शासन कायम किया जा सके। अरस्तू का अनुसरण करते हुए उसने सरकारों का उनका शुद्ध एवं अशुद्ध रूप मानकर छः भागों में विभाजित किया है—सामान्य रूप—(1) राजतंत्र, (2) कुलीनतंत्र एवं (3) लोकतंत्र। विकृत रूप—(1) आततायीतंत्र, (2) वर्गतंत्र एवं (3) भीड़तंत्र।

(5) **नागरिक सेना और सैनिक शक्ति सम्बन्धी विचार**—मैकियावेली की मान्यता है कि शासक को नागरिकों की शक्तिशाली सेना का निर्माण करना चाहिए, भाड़े के टट्टुओं पर आश्रित रहना खतरनाक है। उसे जहाँ कुशल वर्ग से अरुचि है, वहाँ भाड़े के सिपाहियों से घृणा है। मैकियावेली के विचार से इटली में उस समय अराजकता का मुख्य

1. *Dunning* "Machiavellie the brilliant Florentine was in the full lest sense the child of his times."

भाड़े के सिपाही थे। मैकियावेली मानता था कि फ्रांस को अपनी सेना का राष्ट्रीयकरण करने से लाभ हुआ है। मैकियावेली का विचार था कि 17 से 40 वर्ष की आयु के बीच के समस्त समर्थ नागरिकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त होनी चाहिए।

(6) साम्राज्यवाद या राज्य प्रसार सम्बन्धी विचार—मैकियावेली के मतानुसार राज्य को प्रसरणशील होना चाहिए। अपनी सीमा रेखा बढ़ाकर राजा को चाहिए कि वह दूसरे राज्यों को आत्मसात करे और साम्राज्य विस्तार द्वारा अपने गौरव का परिचय दे। मैकियावेली के अनुसार विस्तीकरण या दृढ़ीकरण से राज्य में एकरूपता आ जाती है। मनुष्य स्वभाव से महत्त्वाकांक्षी है और एक दूरदर्शी राजा का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह नई भूमि पर अधिकार करे, नए उपनिवेश बसाए, साम्राज्य को अधिक शक्तिशाली बनाए तथा शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था करे।

(7) सम्प्रभुता और विधि सम्बन्धी विचार—मैकियावेली ने स्पष्ट रूप से 'सम्प्रभुता' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया, किन्तु उसने राजा की शक्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसमें सम्प्रभुता का आभास होता है। मैकियावेली स्वयं परिवर्तन वादी था, इसलिए उसने स्थाई तथा अखण्ड सम्प्रभुता की बात नहीं की है। उसकी सम्प्रभुता एकात्मक, लौकिक, धर्म निरपेक्ष और स्वतन्त्र चेतना से संयुक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मैकियावेली सीमित सम्प्रभुता की आवश्यकता को स्वीकार करता है। विधि के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार संकुचित हैं। वह नागरिक विधि के अस्तित्व को स्वीकार करता है और विधियों को शासक के प्रभाव का माध्यम मानता है। उसके अनुसार राज्य-विहीन समाज में विधियों न होने से पूर्ण अराजकता थी। उसके अनुसार विधियों का मुख्य कार्य सामंजस्य एवं समन्वय की स्थापना करना है। उसके अनुसार सभी विधियाँ नागरिक हैं जो शासक के द्वारा प्रणीत होती हैं।

(8) सर्वशक्तिशाली विधिकर्त्ता या विधायक—मैकियावेली ने विधायक के कार्य एवं महत्व को बहुत ही संयत भाषा में व्यक्त किया है। उसके अनुसार सफल राज्य की स्थापना एक आदमी के द्वारा की जा सकती है। मैकियावेली के अनुसार, *"हमें सामान्य नियम के रूप में यह मान लेना चाहिए कि किसी गणराज्य अथवा राजतंत्र का संगठन अथवा उसकी पुरानी संस्थाओं का सुधार तभी सम्भव है जब वह व्यक्ति के द्वारा किया जाए। यहाँ तक है कि जिस व्यक्ति ने इस संविधान की कल्पना की हो वही उसे कार्यान्वित भी करे।"*

मैकियावेली आधुनिक राजनीति का जनक

मैकियावेली को 'आधुनिक राजनीति का जनक' कहा जाता है। डनिंग उसे मध्ययुग और आधुनिक युग का सम्बन्ध विच्छेद करने वाला प्रथम विचारक मानता है। प्रो. जोन्स उसे राजनीतिक सिद्धान्तवादी न मानते हुए आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों के पिता की संज्ञा से विभूषित करता है। मैकियावेली राजनीतिक विचारों के इतिहास में अमर स्थान रखता है क्योंकि वह पहला राजनीतिज्ञ है जिसने मध्ययुग के विचारों का खंडन आरम्भ किया था और आधुनिक विचारधारा का श्रीगणेश किया, यद्यपि उसे आधुनिक युग का पूर्ण प्रतिनिधि कहना अत्युक्तिपूर्ण है। मैकियावेली की स्थिति एक ऐसे विचारक की है जो मध्ययुग और आधुनिक युग की सीमाओं पर उत्पन्न हुआ था और जिसने मध्य युग के साथ सम्बन्ध विच्छेद करके आधुनिक सिद्धान्तों से नाता बनाया। उसके चिन्तन में वे तत्व ऐसे हैं जो उसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तक के रूप में स्थान प्रदान करते हैं—(1) उसने राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक एवं यथार्थवादी स्वरूप प्रदान किया। (2) उसने *धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर राजनीति को धर्म के नियन्त्रण से बाहर किया।* (3) उसने राजनीति को नैतिकता से अलग किया। (4) *उसको ही सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्य के सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय दिया जा* सकता है। यह एक आधुनिक अवधारणा है। (5) *उसने मध्ययुगीन कल्पनावाद से ऊपर उठकर यथार्थवादी राजनीतिक* दर्शन प्रस्तुत किया। (6) उसको आधुनिक राष्ट्रीयता का अग्रगामी विचारक माना जाता है। (7) उसने अपने चिन्तन में यद्यपि सशक्त राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का समर्थन किया, लेकिन व्यवहार में वह गणतंत्रात्मक-जनतांत्रिक व्यवस्था का समर्थक था। इन कारणों से मैकियावेली को 'यथार्थवादी विचारक' और 'आधुनिक राजनीतिक विचारक' के रूप में जाना जाता है।

हॉब्स

(Hobbes, 1588-1679)

जीवन-परिचय (*Life Sketch*)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में *अनुबन्धवादी सिद्धान्त* की प्रधानता 17वीं और 18वीं शताब्दी में रही है। इस सिद्धान्त का व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन हॉब्स, लॉक एवं रूसो ने किया। टॉमस हॉब्स का जन्म 5 अप्रैल, 1588 को इंग्लैण्ड के दक्षिणी तट पर स्थित माल्मस्बरी नगर में हुआ था। *अपने बाल्यकाल में हॉब्स अध्ययनशील एवं अनुशासित* स्वभाव का, किन्तु डरपोक था। उसने राज्यशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित और दर्शन *आदि का गहन अध्ययन किया था।* 1679 में 91 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

(4) हॉब्स के प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियमों सम्बन्धी विचार—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अधिकार आदि कालीन अवस्था में मानव-जीवन की रक्षा के लिए उपयोगी व्यवहार स्वातन्त्र्य था जो प्रत्येक व्यक्ति में स्वभावतः निहित था। व्यक्ति को अपने जीवन धारण के लिए किसी को लूटने या मार डालने की स्वतन्त्रता थी। टी. एच. हक्सली ने ऐसे अधिकार को 'शेर का अधिकार' कहा है। प्राकृतिक अधिकारों के साथ प्राकृतिक नियम थे जिनका पालन करने में प्राकृतिक अधिकार प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति होती थी। हॉब्स का मत है कि मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक-दूसरे की हत्या और लूटमार का अधिकार मिल जाता है जिससे जीवन असुरक्षित हो जाता है। हॉब्स ने प्राकृतिक नियमों को 'शान्ति की धाराओं' का नाम दिया है। उसने 19 प्राकृतिक नियम गिनाए हैं। हॉब्स के तीन नियमों का सार यह है कि "दूसरों के साथ तुम वैसा ही करो जैसा अपने लिए उनसे चाहते हो।" उसके कुछ नियम इस प्रकार हैं—(1) प्रत्येक व्यक्ति को अन्य लोगों के साथ मिलकर चलना चाहिए। (2) प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे को अपने समान समझना चाहिए। (3) किसी व्यक्ति को कर्म, शब्द, मुद्रा या संकेत द्वारा दूसरे के प्रति घृणा प्रकट नहीं करनी चाहिए। (4) भविष्य का ध्यान रखते हुए प्रत्येक को उन दूसरे मनुष्यों की पिछली त्रुटियों को क्षमा कर देना चाहिए जो पश्चात्ताप करके क्षमा चाहते हैं।

(5) हॉब्स के आत्म रक्षा की प्रकृति और बुद्धिसंगत आत्म रक्षा सम्बन्धी विचार—हॉब्स के अनुसार, मनुष्य अपनी जीवन-शक्ति को कायम रखने और बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। आत्म-रक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जैविक अस्तित्व को कायम रखना है। इसमें सहायक शुभ है और जो असहायक है वह अशुभ है।" हॉब्स को यह स्पष्टतः मालूम था कि आत्म-रक्षा का सिद्धान्त इतना आसान नहीं था जैसा कि वह अब तक माना गया है। जीवन आकाश नहीं है जिसमें साध्य को एक समय में हमेशा के लिए प्राप्त कर लिया जाए। जीवन में आत्म रक्षा के साधन की खोज करनी पड़ती है। चूँकि सुरक्षा के साधन कम हैं इसलिए जीवन-संघर्ष अनन्त है। मानव प्रकृति की मूल आवश्यकता सुरक्षा की *इच्छा है। इस इच्छा को शक्ति की इच्छा से पृथक् नहीं किया जा सकता है। हम में आज सुरक्षा की जितनी भावना है* उसे नित्यप्रति सशक्त करने की जरूरत है।[1] हॉब्स के अनुसार मनुष्य निरन्तर सुरक्षा की आवश्यकता का अनुभव करता है। *यह मानव प्रकृति में अभिलाषा और विवेक इन दो सिद्धान्तों की चर्चा करता है।* इच्छा अथवा अभिलाषा के कारण मनुष्य उन सभी वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है जिनको अन्य व्यक्ति चाहते हैं। इसका परिणाम यह है कि वे निरन्तर संघर्षरत रहते हैं, लेकिन विवेक अथवा बुद्धि द्वारा मनुष्य पारस्परिक संघर्षों को भूलना सीखते हैं। विवेक बतलाता है कि आत्म रक्षा का उद्देश्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब शान्ति हो।

(6) हॉब्स के राज्य की उत्पत्ति एवं स्वरूप सम्बन्धी विचार—हॉब्स बुद्धिवादी है। उसके मतानुसार जब मनुष्य जान जाता है कि उसकी मृत्यु का भय पाशविक प्रतियोगिता के कारण है तो विवेक उसे मार्ग दिखाता है। जब वह यह सिद्धान्त मान लेता है कि 'तू भी दूसरों के साथ वैसा न कर जो तू अपने साथ दूसरों द्वारा किया जाना अन्यायपूर्ण समझता है।' हॉब्स मानता है कि यदि मनुष्य स्वभाव से ही शान्तिपूर्ण होता और बिना किसी सर्वोच्च शक्ति या संविदा के रह सकता तब शासन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती पर मनुष्य ऐसा नहीं है। वह अपनी भावनाओं और अपने संवेगों को नियन्त्रण में नहीं रख सकता। उसकी स्वार्थी वृत्तियाँ संघर्ष के बीज बोती रहती है। अतः स्वभावतः एक ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय की आवश्यकता पड़ती है जो मनुष्यों को नियन्त्रण में रखकर उनको अनुशासन बद्ध करे। हॉब्स ऐसी सत्ता अथवा शक्ति राज्य में पाता है जिसकी इच्छा समस्त व्यक्तियों की इच्छाओं की प्रतिनिधि होती है और जिसमें यह सामर्थ्य होती है कि वह सबसे विवेक के अनुसार आचरण कराए और ऐसा न करने वाले को दण्ड दे। हॉब्स के मतानुसार राज्य एक सामाजिक समझौते के फलस्वरूप अस्तित्व में आता है। उसके अनुसार एक राज्य की स्थापना तब होती है जब *अनेक व्यक्ति एक-दूसरे से यह समझौता करते हैं कि समस्त व्यक्ति उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के कार्यों को अपना कार्य समझेंगे जिसे उनके अधिकांश भाग ने अपना प्रतिनिधि चुना है चाहे उनमें से किसी ने उसके पक्ष में मत दिया हो* या विरोध में। इस समझौते का उद्देश्य यह है कि मनुष्य शान्तिपूर्वक और दूसरों के विरुद्ध सुरक्षित रहे। यह समझौता इस प्रकार हुआ है *मानो प्रत्येक व्यक्ति से प्रत्येक व्यक्ति ने यह कहा हो कि ' मैं इस व्यक्ति को या व्यक्तियों के समूह* को अपना शासन स्वयं कर सकने का अधिकार और शक्ति इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम अपने इस अधिकार को इसी तरह इस *व्यक्ति या व्यक्ति समूह* को समर्पित कर दो।" इस तरह जन समुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है। इसे राज्य या लेटिन भाषा में 'सिविटास' (Civitas) कहते है। हॉब्स के अनुसार यही उस महान लेवियाथान या देवता का जन्म है जिसकी कृपा पर अविनाशी ईश्वर की छत्रछाया में हमारी शान्ति तथा सुरक्षा निर्भर है।

(7) हॉब्स के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार—हॉब्स प्रभुसत्ता का प्रचण्ड समर्थक है। उसकी प्रभुसत्ता का आधार *सामाजिक संविदा* है। स्पष्ट या अस्पष्ट किसी रूप में संविदा या अनुबन्ध से प्रभुसत्ता प्राप्त होती है। हॉब्स का 'लेवियाथान'

---

1 *सेबाइन* राजनीतिक दर्शन का इतिहास खण्ड 1, पृ 421

अथवा सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शासक निरंकुश है। उसका आदेश कानून है। उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। प्रभुसत्ता निरपेक्ष, अविभाज्य, स्थाई एवं अदेय है। राज्याज्ञा न्याय-सम्मत और कानून-सम्मत होती है। उसका हस्तक्षेप कार्यों और विचारों पर होता है। बोदाँ ने प्रभुसत्ता पर जो मर्यादाएँ लगाई हैं उन्हें हॉब्स हटा देता है। गैटिल के अनुसार "हॉब्स के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा लेखक नहीं हुआ है जिसने प्रभुसत्ता में इतना अतिवादी दृष्टिकोण अपनाया हो।"[1]

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता सभी विधेयात्मक कानूनों की स्रोत है। व्यक्ति सुरक्षा के लिए अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा वैयक्तिक शक्तियों का परित्याग कर देते हैं, अतः स्वाभाविक रूप से उन सब की तरह से विधि-निर्माण की शक्ति सम्प्रभु के पास रह जाती है। सम्प्रभु समाज की ओर से यह महत्वपूर्ण निर्णय करता है कि सामाजिक शान्ति और सुरक्षा के लिए *क्या किया जाना चाहिए?*

(8) हॉब्स के नागरिक कानून सम्बन्धी विचार—सामान्य नागरिक विधियाँ सम्प्रभु की इच्छा का प्रतिबिम्बित करती हैं। विधियों में पुरातन नियमों अथवा ऐतिहासिक परम्पराओं का नहीं, वरन् सम्प्रभु की दृढ़ सकल्प-क्रिया प्रधान है। विधि सम्प्रभु की शक्ति की द्योतक है जो प्रजाजन के लिए कर्त्तव्यों की घोषणा करती है। विधियाँ मानव व्यवहार को विनियमित करने एवं उसका मानदण्ड प्रस्तुत करती हैं। ये उस सम्प्रभु का आदेश हैं जिसमें अपने आदेशों का पालन कराने की क्षमता है। प्रजा इन विधियों को नैतिक मूल्य की दृष्टि से नहीं, बल्कि इसलिए मानती है कि वे सम्प्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। हॉब्स के अनुसार विधि के दो विभाग हैं—(1) वितरणात्मक या निषेधात्मक एवं (2) आज्ञात्मक या दण्डात्मक। प्रथम विभाग में नागरिकों को वैध-अवैध कार्यों का ब्यौरा बतलाया जाता है और दूसरे विभाग में राज्य के मन्त्रियों को, जनता के प्रति अपराधानुसार क्या दण्ड विधान है, इसकी व्याख्या की जाती है। सम्प्रभु विधि का मात्र स्रोत और व्याख्याकार है।

(9) हॉब्स के राज्य तथा चर्च सम्बन्धी विचार—हॉब्स यह स्वीकार नहीं करता कि अन्य कोई संस्था राज्य के समकक्ष है। वह धर्म को विधि एवं शासन के नियन्त्रण में मानता है। उसने चर्च को पूरी तरह नागरिक शक्ति के अधीन कर दिया। हॉब्स ने धर्म का आधार अदृश्य शक्ति का भय माना है। मनुष्य शाश्वत नरक के भय से काँपता है और आध्यात्मिक सत्ता उसकी इस कमजोरी से लाभ उठाती है, अतः उसके अनुसार राज्य को इस खतरे से अपनी तथा प्रजा की रक्षा करना चाहिए।

(10) हॉब्स के व्यक्तिवाद सम्बन्धी विचार—निरपेक्ष सम्प्रभुता का समर्थक होते हुए भी हॉब्स व्यक्तिवादी है। वह मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवादी है जिसके राजदर्शन का प्रारम्भिक सूत्र व्यक्ति है। अरस्तू के समान समाज नहीं। 'उसकी विचारधारा में व्यक्ति अलग इकाई है और राज्य बाहर की एक ऐसी शक्ति है जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है और उनके समान स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करती है। हॉब्स के अनुसार, व्यक्ति के स्वार्थ से भिन्न, किसी सत्ता का उद्देश्य न हो सकता है और न होना चाहिए। हॉब्स पहला दार्शनिक था जिसने व्यक्ति के हित को एवं उसके जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना।' हॉब्स का निरंकुशवाद कट्टर नहीं है। नागरिक विधियों के संरक्षण में स्वतन्त्रता का उपयोग करते हैं। 'लेवियाथन' अनुचित हस्तक्षेप नहीं करता। सेबाइन के अनुसार "हॉब्स के चिन्तन में व्यक्तिवाद का तत्व पूर्णरूप से आधुनिक है। इस दृष्टि से हॉब्स आगामी युग का विचारक समझा जा सकता था।"[2] हॉब्स व्यक्ति के हित का समर्थक होने के कारण प्रबल व्यक्तिवादी था।

जॉन स्टुअर्ट मिल

(John Stuart Mill, 1806-1873)

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

विख्यात बेन्थमवादी जेम्स मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद के दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। 20 मई, 1806 को लन्दन में उत्पन्न मिल को उसके पिता ने बचपन से ही बेन्थम के आदर्शों के अनुसार ढालने का पूरा प्रयत्न किया था। जेम्स के कठोर अनुशासन में स्टुअर्ट मिल ने बाल्यावस्था से गहन अध्ययन में रुचि ली। मात्र 8 वर्ष की अवस्था तक उसने जेनोफोन, हेरोडोटस, आइसोक्रेटस के ग्रन्थों का और प्लेटो के छः संवादों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था। 11 वर्ष की अवस्था में उसे नियो द्वारा लेटिन में लिखित 'रोमन शासन का इतिहास' पढ़ने को दिया गया। 13 वर्ष की अवस्था में उसने एडम स्मिथ और रिकार्डो की अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें, तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान के जटिल विषयों का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वह बचपन से इतने कठोर बौद्धिक अनुशासन में रहा कि उसकी भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाई, वह प्राकृतिक सौन्दर्य से दूर रहा और बाल-सुलभ मनोरंजन भी उसे नहीं मिल पाया। 14 वर्ष की आयु में उसे बेन्थम के छोटे भाई के साथ एक वर्ष के लिए फ्रांस भेजा गया। वहाँ उसे

---

1. *Gettle* : No writer has taken a more extreme view than Hobbes of the absolute nature of sovereignty
2. सेबाइन : राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ. 421

घूमने और प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेने का अवसर मिला। बाद में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम, यात्रा के प्रति आकर्षण और फ्रैंच भाषा के प्रति अनुराग—ये जीवन-पर्यन्त उसके साथ रहीं।

अति कुशाग्र-बुद्धि और मेधावी मिल में अध्ययन और कार्य करने की तीव्र आकांक्षा थी। फ्राँस से लौटकर उसने जॉन आस्टिन और रोमन कानून तथा अन्य कानूनों की शिक्षा प्राप्त की। वह विभिन्न सभा-सोसायटियों में भाग लेने लगा और शीघ्र ही उसने भाषण-कला में निपुणता प्राप्त करली। 16 वर्ष की अवस्था में वह 'उपयोगितावादी सोसाइटी (Utilitarian Society) का सदस्य बन गया और लगभग साढ़े तीन वर्ष तक वह वाद विवादों में प्रमुख वक्ता रहा। 17 वर्ष की अवस्था में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में एक क्लर्क के रूप में नियुक्त हुआ और सन् 1856 में अपने विभाग का अध्यक्ष बन गया। दो वर्ष बाद वह पद निवृत हो गया। नौकरी के व्यस्त काल में भी उसने अपनी साहित्यिक गतिविधियों में शिथिलता नहीं आने दी।[1] अनवरत श्रम और बौद्धिक व्यायाम के फलस्वरूप युवावस्था में ही मिल को हल्के हृदय रोग का सामना करना पड़ा। उसने वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज आदि का गहन अध्ययन किया। इन महाकवियों की रचनाओं को पढ़कर मिल में जीवन की अधिक मार्मिक वस्तुओं और मानव-मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रियाओं के प्रति आकर्षण पैदा हुआ। उसके स्वभाव और चिन्तन में एक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। डेविडसन के अनुसार, "उसके हृदय में एक नवीन मानव का आविर्भाव हुआ जिसमें अधिक गहरी सहानुभूति थी, जिसका बौद्धिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक था, जिसने मानव की आवश्यकताओं को अधिक समझा था और जिसने बुद्धि के साथ भावनाओं की तृप्ति के महत्व को अनुभव किया था।" मिल 59 वर्ष की अवस्था में संसद का सदस्य निर्वाचित हुआ। वह सन् 1865 से 1868 तक संसद सदस्य के रूप में आयरलैण्ड में भूमि-सुधार, किसानों की स्थिति, महिला मताधिकार, बौद्धिक कार्यकर्ताओं की स्थिति आदि के सम्बन्ध में अत्यन्त क्रियाशील रहा। लोकसभा में उग्र विचारक के रूप में उसने विशेष ख्याति अर्जित की। उसने समस्याओं पर स्वतन्त्र और निर्भीक विचार व्यक्त किए। शासन और विरोधी दलों ने उसे पूरा सम्मान दिया। प्रधानमन्त्री ग्लैडस्टन ने कहा था, "जब मिल का भाषण होता था तो मुझे सदैव यह अनुभूति होती थी कि मैं किसी सन्त का प्रवचन सुन रहा हूँ।"

रचनाएँ और पद्धति

मिल ने अपने संघर्षपूर्ण जीवनकाल में न्यायशास्त्र, अध्ययन-शास्त्र, आचार शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र—सभी महत्वपूर्ण विषयों पर लिखा। उसकी कृतियाँ उसके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गई थीं और कुछ मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। उसके प्रमुख ग्रन्थ हैं—

1 Plato's Dialogues, 1834 2. The System of Logic, 1841 3 Some Unsettled Questions in Political Economy, 1844 4 The Principles of Political Economy, 1848 5 Enfrenchisement of Women, 1853 6 On the Improvement in the Administration of India, 1858 7 A Treatise of Liberty, 1859 8 Parliamentary Reforms, 1859 9 *Considerations of Representative Government*, 1860 10 *Utilitarianism*, 1861 11 Examination of Hamilton's Philosophy, 1865 12. August Comte and Positivism 13 Subjection of Women, 1869 14 Autobiography, 1873 15 Three Essays on Religion, 1874 16 Letters, 1910

मिल के उपयोगितावादी विचार

(Mill on Utilitarianism)

जेम्स मिल के प्रयत्नों और बेन्थम के प्रति उसकी श्रद्धा ने स्टुअर्ट मिल को कट्टर उपयोगितावादी बना दिया। बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त पर आलोचकों ने निकृष्टता और हेयता के आरोप लगाये थे। मिल ने आलोचकों के प्रहारों का जोरदार उत्तर देते हुए उपयोगितावाद में अनेक महत्वपूर्ण संशोधन किए तथा उसमें अनेक नए सुधारवादी तत्वों का समावेश कर दिया जिसके फलस्वरूप मूल सिद्धान्त प्रायः समाप्त सा हो गया। वर्ड्सवर्थ कॉलरिज, कॉम्टे डार्विन, स्पेंसर आदि के प्रभाव तथा इंग्लैण्ड की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण मिल के प्रारम्भिक बेन्थमवादी विचारों में शनै शनै परिवर्तन आता गया और उसने नवीन सिद्धान्तों पर बल देना शुरू कर दिया। उपयोगितावाद की रक्षा करने के प्रयत्नों में उसने इतने संशोधन कर दिये कि उसका स्वरूप ही बदल गया। वेपर के अनुसार, "उपयोगितावाद पर लगाए गए आरोपों से उसकी रक्षा करने की इच्छा से मिल ने सम्पूर्ण उपयोगितावाद को एक तरफ फैंक दिया।"[2] उसने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद पर अधिक बल दिया और राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इसे प्रायः अन्तिम उपयोगितावादी तथा प्रथम व्यक्तिवादी दार्शनिक माना जाता है। मिल उपयोगितावाद पर विचार उसके प्रख्यात निबन्ध 'Utilitarianism' में उपलब्ध हैं।

---

1 *William Ebenstein* Great Political Thinkers p 530 531
2 *Wayper* Op Cit (Hindi) p. 141

मिल द्वारा उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा
(Mill's Restatement of Utilitarianism)

आरम्भ में मिल बेन्थम के सिद्धान्त के आधार पर आगे बढ़ा। उसने बेन्थम के समान सुख की प्राप्ति और दुःख की विमुक्ति को व्यक्ति का अभीष्ट माना। उपयोगितावाद की परिभाषा देते हुए उसने लिखा—"वह मत, जो उपयोगितावाद अथवा अधिकतम सुख के सिद्धान्त को नैतिकता का आधार समझता है, यह मानता है कि प्रत्येक कार्य उसी अनुपात में सही है जिस अनुपात में वह सुख की वृद्धि करता है। जो कार्य सुख से विपरीत दिशा में जाता है वह गलत है। सुख का अर्थ आनन्द की प्राप्ति और दुःख का अभाव। दुःख का अर्थ है पीड़ा या कष्ट तथा आनन्द का अभाव। इस सिद्धान्त द्वारा स्थापित नैतिक मापदण्ड को अधिक स्पष्ट करने के लिए इससे अधिक कहना अनावश्यक है, विशेष रूप से यह कि सुख और दुःख की धारणाओं में क्या सम्मिलित है और उनका उद्देश्य क्या है? यह एक खुला प्रश्न है, परन्तु ये पूर्ण व्याख्याएँ जीवन के उस सिद्धान्त को प्रभावित नहीं करतीं जिस पर नैतिकता का यह सिद्धान्त आधारित है कि सुख और दुःख से मुक्ति जीवन का एकमात्र लक्ष्य है समस्त वांछनीय वस्तुएँ, जिनका उपयोगितावादी योजना में वह स्थान है जितना अन्य किसी योजना में वांछनीय इसलिए है कि यह उनमें सुख का निवास है अथवा वे सुख-वृद्धि या दुःख निवृत्ति का साधन हैं।"[1] मिल ने बेन्थम के सुखवाद को स्वीकार किया, किन्तु कालान्तर में उनके विचारों में शनैः-शनैः एक क्रान्ति हुई तथा उसका विवरण ऐसा हो गया जिसमें बेन्थम तथा उसके उपयोगितावादी चिन्तन में गहरे अन्तर उभर आए। यह देखना उपयुक्त होगा कि कहाँ तक वह बेन्थम के साथ है और कहाँ तक उससे पृथक् रहा। उसके द्वारा किया गया बेन्थम के सिद्धान्त का रूपान्तर निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट हो सकेगा—

1. सुखों में मात्रात्मक तथा गुणात्मक अन्तर है—बेन्थम सुखों और दुःखों के मात्रात्मक भेद को स्वीकार करता था, गुणात्मक भेद को नहीं, किन्तु मिल ने इन दोनों भेदों को स्वीकार किया है। उसने कहा है कि सुख और दुःख के गुणात्मक अन्तर को मानना पूर्णतः उचित है। कुछ सुख मात्रा में कम होने पर इसलिए प्राप्त करने योग्य है, क्योंकि वे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट हैं। शारीरिक सुखों की तुलना में मानसिक सुख श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि वे अधिक स्थायी और सुरक्षित होते हैं। मिल के अनुसार सुखों में केवल कम या अधिक का अन्तर नहीं होता, बल्कि उनके गुणों का भी अन्तर होता है। वे अपने महत्व के आधार पर उच्च अथवा निम्न हो सकते हैं। सुसंस्कृत और परिमार्जित रुचियों वाले व्यक्तियों को जिनसे सुख मिलता है वह सुख मूढ़ व्यक्तियों के इन्द्रियोन्मुख आनन्द से अधिक श्रेष्ठ होता है।

2. सुखों की गणना-पद्धति में परिवर्तन—मिल द्वारा सुखों में गुणात्मक भेद मान लेने से बेन्थम का सुखवादी मापदण्ड खण्डित हो जाता है। सुखों को नापने अथवा उनका मूल्यांकन करने के बेन्थमवादी प्रयत्नों का मूल्य नहीं रहता। बेन्थम सुख की मात्रा को सुखवादी गणना पद्धति से मापना चाहता था जबकि मिल का मत था कि विद्वानों के प्रमाण ही सुखों की जाँच अथवा निर्णय के सही आधार हैं। "दो सुख प्रदान करने वाली विभूतियों की श्रेष्ठता का निर्णय उन्हीं व्यक्तियों द्वारा हो सकता है जिन्हें दोनों अनुभूतियों का ज्ञान हो।"[2]

3. बेन्थम के सिद्धान्त का उद्देश्य सुख या आनन्द-प्राप्ति और मिल का शालीनता और सम्मान पर बल—वेपर के अनुसार, "मिल की धारणा थी कि आनन्द गुण तथा मात्रा दोनों में भिन्न होते हैं।" उसके अनुसार, जीवन का अन्तिम उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं, वरन् शालीनता (Dignity) है। अपनी पुस्तक 'आन लिबर्टी' में वह लिखता है कि व्यक्तित्ववाद का प्रभाव सामान्य विचारधारा द्वारा कठिनाई से पहचाना जाता है। वह हम्बोल्ट (Humbold) के स्वयं अनुभूति (Self Realisation) के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। मिल का कहना है कि "केवल यही महत्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य क्या करता है? यह भी महत्वपूर्ण है कि उसके काम करने के तरीके क्या हैं?" मिल ने राज्य को नैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक नैतिक संस्थान घोषित किया है। राज्य का उद्देश्य उपयोगिता नहीं, वरन् व्यक्ति में नैतिक गुणों का विकास करना है। मिल उपयोगितावाद की रक्षा इसमें पूर्ण परिवर्तन लाकर कर सका है।

4. मिल की नैतिकताएँ बेन्थम से अधिक सन्तोषजनक—सम्मान अथवा शालीनता का उपयोगितावादी विचार मिल को नैतिक बाधा के अनुपयोगितावादी विवेचन की प्रेरणा देता है। बेन्थम ने नैतिक बाधा का कारण मनुष्य की स्वार्थपरता को माना है, परन्तु मिल का विचार इससे भिन्न है। उसके अनुसार, भय स्मृति, स्वार्थ, नैतिकता में उसी प्रकार बाधा पहुँचाता है जिस प्रकार प्रेम सहानुभूति तथा धार्मिक भावना में। मिल अधिक यथार्थवादी प्रतीत होता है। वह टी. एच. ग्रीन के विचार को स्वीकार करता है जिसके अनुसार सार्वजनिक कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का जन्म तार्किक आधार पर व्यक्तिगत अधिकारों तथा हितों से नहीं हो सकता। मिल के अनुसार नैतिक बाधा की भावना उपयोगितावादी सिद्धान्त द्वारा स्पष्ट नहीं की जा सकती। उसकी नैतिकताएँ बेन्थम से अधिक सन्तोषजनक हैं।

---

1 *Wayper* Political Thought, p. 115
2 *Mill* Utilitarianism, p. 10

5. स्वतन्त्रता उपयोगिता से अधिक उच्च और मौलिक—बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल एक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। वेपर के अनुसार, "मनुष्य की आत्मा को श्रेष्ठ बनाने का विचार उसे स्वतन्त्रता के अनुपयोगितावादी विश्लेषण की ओर अग्रसर करता है। सच्चे उपयोगितावादी के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से निम्न है, परन्तु मिल के लिए स्वतन्त्रता उपयोगिता से उच्च और मौलिक है।"

6. सुखों की प्राप्ति अप्रत्यक्ष ढंग से होती है—मिल ने 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की कल्पना को स्वीकार करते हुए इसमें बेन्थम की व्याख्या की त्रुटि को दूर करने की चेष्टा की है। बेन्थम के अनुसार, राज्य के कार्यों को नाप-तौल करते समय विस्तार पर भी बल दिया जाना चाहिए अर्थात् यह देखना चाहिए कि राज्य की कितनी जनसंख्या को उस कार्य से सुख पहुँचेगा। यह प्रश्न अविचारित रह गया था कि एक व्यक्ति के सुख की खोज में लगे रहने पर वह अन्य व्यक्तियों को सुख किस तरह पहुँचा सकेगा। मिल ने इसका समाधान करते हुए बतलाया कि यद्यपि अपना अधिकतम सुख प्राप्त करने की लालसा व्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य रहता है, तथापि वह सामाजिक हित के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकतम सुख का रूप धारण कर लेता है। प्रारम्भ में व्यक्ति किसी कार्य को इसलिए करता है कि उसे उससे सुख प्राप्त होता है किन्तु बाद में वही सुख साध्य बन जाता है।

7. मिल का सिद्धान्त नैतिक, बेन्थम का राजनीतिक—अन्य दृष्टिकोण से मिल की धारणा बेन्थम की धारणा से भिन्न है। बेन्थम अधिकतम सुख के सिद्धान्त को एक राजनीतिक सिद्धान्त समझता था, नैतिक नहीं। उसकी रुचि इसमें अधिक थी कि "विधि-निर्माता और शासक सामाजिक नीतियों के निर्धारण तथा विधि निर्माण में इसका प्रयोग करें।" मिल के अनुसार, "जब तक व्यक्ति के अपने और दूसरों के आनन्द की तुलना का प्रश्न है, उपयोगितावाद की माँग है कि व्यक्ति को पूर्ण रूप से निष्पक्ष रहना चाहिये जैसे वह एक निष्काम तथा करुणाशील दर्शक हो। ईसा मसीह के स्वर्णिम नियम में हमें उपयोगितावादी आचार शास्त्र की पूर्ण आत्मा के दर्शन होते हैं। जैसा आचरण आप दूसरे से चाहते हैं वैसा ही आचरण दूसरों के साथ करना और अपने पड़ौसियों से वैसा ही प्रेम करना जैसा आप स्वयं से चाहते हैं यही उपयोगितावादी नैतिकता का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।" 118224

8. मिल द्वारा अन्तःकरण के तत्व पर बल—मिल ने अन्तःकरण का अर्थ आत्मानुभूतिवादियों (Intuitionists) की तरह किसी अन्तर्नैतिक शक्ति से नहीं लिया। उसने कहा कि अन्तःकरण भावनाओं का एक पिण्ड है जिसे हमारे पापाचार के कारण दुःख पहुँचता है एवं सदाचार के नियमों का उल्लंघन करने से हमें पश्चाताप की आग में जलना पड़ता है। यही अन्तःकरण का तत्व है चाहे उसके स्वरूप और मूल में हमारे विचार कुछ भी हों। मिल ने अन्तःकरण के तत्व को 'मानवता के कल्याण की भावना' की संज्ञा दी और इसे दूसरों के दुःख-सुख की चिन्ता कहकर पुकारा। उसने इसे एक स्वाभाविक भावना माना।

मिल के उपयोगितावादी विचारों का मूल्यांकन

मिल और बेन्थम के उपयोगितावादी विचारों में गहरा अन्तर है। मिल बेन्थम के विचारों में परिष्कार और संशोधन करते हुए बेन्थम की मौलिक मान्यताओं पर कुठाराघात कर देता है। मिल ने उपयोगितावाद के राजनीतिक स्वरूप को भुलाकर उसे नैतिक जीवन के अनुकूल बनाने की चेष्टा में बेन्थम के सुखवाद के मौलिक विचारों को अस्वीकार कर दिया। उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा करने में उसने उसका स्वरूप विकृत कर दिया। यद्यपि गुणात्मक पहलू पर जोर देने से उपयोगितावादी विचारधारा में मानवीयता का अधिक समावेश हुआ है तथापि इससे बेन्थम का मापक चक्र अस्त-व्यस्त हो गया। सुखों के गुणात्मक अन्तर को किस प्रकार नापा जाए, यह भी एक जटिल प्रश्न बन गया है। प्रो. सेबाइन के अनुसार, "उसने अपने सुखवाद में सुख के उच्च और निम्न स्तर पर नैतिक सिद्धान्त और जोड़ दिया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसने उपयोगितावाद को पूर्णरूप से एक अनिश्चित सिद्धान्त बना दिया। सुखों के गुण को परखने का कोई मानक निर्धारित नहीं किया गया था और यदि यह किया भी जाता तो वह सुख नहीं होता है।" बेन्थम का उपयोगितावाद परम्परागत नैतिक मान्यताओं के मूल्यांकन की कसौटी है जबकि मिल का उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिससे उसके बौद्धिक-स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है, मैक्सी (Maxey) के अनुसार "मिल की उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा में बेन्थम की मान्यताओं का अंश कम रह गया है।" मिल ने अपनी विशाल-हृदयता से उपयोगितावाद को नैतिक जीवन के अनुकूल बनाया और कुछ काल के लिए जनता को मुग्ध कर दिया, किन्तु अन्त में इसके कारण उत्पन्न असंगतियों ने उसकी ख्याति को ठेस पहुँचाई। उपयोगितावाद की रक्षा में तर्कशास्त्र का खजाना खाली करने वाले मिल से उपयोगितावाद का पक्ष प्रबल न हो सका। उसने बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के आलोचकों को शान्त कर दिया, परन्तु बदले में बहुसंख्यक आलोचकों को जन्म दिया जो इस परिवर्तित और संशोधित उपयोगितावाद के विरुद्ध तर्कों की बौछार करने लगे। मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में नैतिक सिद्धान्तों का समावेश कर, इसे मानवीय बनाने का सराहनीय कार्य अवश्य किया, लेकिन दार्शनिकता की ओर बढ़ने का दुष्परिणाम यह हुआ कि उपयोगितावाद की व्यावहारिकता समाप्त हो गई।

मिल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा
(Mill's Concept of Liberty)

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का समावेश उसकी पुस्तक 'On Liberty' में है। मिल के समय राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ गया था और सरकार जनहित के नाम पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को विनियमित करने वाले कानून बनाने लगी थी। सामाजिक व्यवस्थापन द्वारा सामान्य जनता की सुख-वृद्धि के प्रयास में ब्रिटिश सरकार जिस प्रकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने लगी थी उससे मिल को यह भय हो गया था कि जनता का बहुमत अथवा लोकप्रिय शासन कहीं मध्यकालीन निरंकुश शासन के समान आततायी और स्वेच्छाचारी न बन जाए। उसका विश्वास था कि राज्य द्वारा अधिक अधिनियमों के निर्माण का अर्थ है—व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता पर अधिक प्रतिबन्ध द्वारा राज्य के समस्त नागरिक के व्यक्तित्व का हनन। उसकी मान्यता थी कि राज्य को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन करने का कोई अधिकार नहीं है। जनता के शासन के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबन्ध लगाना अथवा लोकमत के नाम पर अनुचित कानूनों को थोप देना सर्वदा अवांछनीय है। अपने इन्हीं विचारों के कारण मिल ने मानव-स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी स्वरूप का प्रतिपादन किया।

मिल के चिन्तन में व्यक्ति का स्थान

मिल व्यक्ति का पुजारी है। उसका सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन व्यक्ति के मूल्य पर आधारित है। मिल व्यक्ति को सामाजिक प्राणी स्वीकार करता है तथा यह विश्वास भी व्यक्त करता है कि व्यक्ति समाज के हित में स्वेच्छा से योग नहीं देगा। "व्यक्ति के हितों को व्यक्ति ही समझ सकता है, न कि समाज। अपने सर्वोत्तम हित को व्यक्ति सर्वोत्तम रूप से जानता है और वही उसे सर्वोत्तम ढंग से प्राप्त कर सकता है।" मिल का विश्वास है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकसित करने और सुन्दर बनाने की स्वतन्त्रता है। इसके लिए आवश्यक है कि उसे विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए। मिल के अनुसार व्यक्ति अपने शरीर और मस्तिष्क का स्वामी है इसलिए उसे अपने सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस क्षेत्र में समाज अथवा राज्य को व्यक्ति के आचरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए।

व्यक्ति की राज्य और समाज के हस्तक्षेप से रक्षा होना आवश्यक है

मिल की धारणा थी कि अपने व्यक्तित्व का विकास करना मनुष्य का ध्येय है, किन्तु इस ध्येय की प्राप्ति में राज्य और समाज द्वारा कुछ बाधाएँ पैदा की जाती हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। इन बाधाओं के निराकरण की अवस्था ही स्वतन्त्रता है। समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन अनुचित है। समाज यह बर्दाश्त नहीं करता कि कोई उसकी मान्य परम्पराओं को तोड़कर नवीन परम्पराओं की स्थापना करे। यदि कोई ऐसा दुस्साहस करता है तो समाज के पंजे उसे पकड़ने के लिए तत्पर रहते हैं, पर समाज को ऐसा कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। समाज को व्यक्ति के आचरण के उस भाग का नियन्त्रण करना उचित है जो दूसरों से सम्बन्धित हो। व्यक्ति अपना, अपने शरीर का तथा अपने मस्तिष्क का स्वयं स्वामी है, अतः समाज की निरंकुशता से व्यक्ति की रक्षा होनी चाहिए।

मिल की स्वतन्त्रता का स्वरूप

मिल ने जिस स्वतन्त्रता का पक्ष-पोषण किया है, वह एक व्यापक स्वतन्त्रता है। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता के अभाव में किसी प्रकार का आत्म-विकास नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता और आत्म-विकास का यही सम्बन्ध उसके अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु है और उसका तर्क है कि समाज की प्रसन्नता के लिए स्वतन्त्रता अनिवार्य है। 'आन लिबर्टी' में स्वतन्त्रता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मिल ने लिखा है कि "मानव जाति किसी घटक की स्वतन्त्रता में केवल एक आधार पर हस्तक्षेप कर सकती है और वह है आत्मरक्षा। सभ्य समाज के किसी सदस्य के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग केवल इसी उद्देश्य के लिए हो सकता है कि उसे दूसरों को हानि पहुँचाने से रोका जाए। उसका अपना भौतिक या नैतिक हित इसका पर्याप्त औचित्य नहीं है। व्यक्ति को किसी काम के निर्णय करने या न करने के लिए विवश करना इस आधार पर उचित नहीं माना जा सकता कि ऐसा करना उस व्यक्ति के हित में है या ऐसा करने से उसके हित में वृद्धि होगी या ऐसा करना बुद्धिमत्तापूर्ण है।——समाज मानव आचरण के उसी अंश को नियन्त्रित कर सकता है जो दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्धित हो। स्वयं अपने कार्यों में उसकी स्वतन्त्रता अधिकारतः निरपेक्ष है।"

"मिल की दूसरी परिभाषा के अनुसार अपनी इच्छानुसार कार्य करने की छूट स्वतन्त्रता है। आप यदि यह जानते हैं कि अमुक व्यक्ति का अमुक पुल को पार करना खतरनाक है इस पर रोक लगाकर आप उचित करते हैं। स्वतन्त्रता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होती है तथा किसी व्यक्ति की इच्छा नदी में डूबने की नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता की यह परिभाषा नियन्त्रण के लिए दरवाजा खुला रखती है। यदि एक बार यह मान लिया जाए कि कोई दूसरा व्यक्ति आपकी इच्छा को अपने अच्छी तरह जान सकता है और स्वतन्त्रता उसी को कहते हैं जो आपकी इच्छा होती है, तब अन्वेषणधिकारी

मनुष्य को नर्क में जाने से बचाने के कार्य और उसे मुक्ति दिलाने के प्रयत्न भी उचित हैं। मिल के अनुसार व्यक्ति पर स्वतन्त्र होने के लिए दबाव भी डाला जा सकता है। यहाँ वह अतिवादी हो जाता है। उसकी ये परिभाषाएँ भी बेन्थम की परिभाषाओं से भिन्न हैं।" मिल की स्वतन्त्रता का स्वरूप तब शक्तिशाली बन जाता है जब हम देखते हैं कि वह अनगिनत पुरुषों और स्त्रियों की उन्नति चाहता है, क्योंकि उसका विचार है कि सभी आदर्श और तर्क सगत वस्तुएं व्यक्तियों से आती हैं और व्यक्तियों से आनी चाहिए।

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों के दो प्रकार—मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो प्रकार हैं—(1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression) एवं (2) कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)।

1. **विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)**—विचारों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के तर्क प्रभावशाली हैं। मिल के अनुसार समाज और राज्य को व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार नहीं है। किसी व्यक्ति को किसी प्रकार के विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, फिर चाहे वे विचार समाज के अनुकूल हों या प्रतिकूल। मिल के वैचारिक स्वतन्त्रता के तर्कसंगत मत निष्कर्ष रूप में निम्न प्रकार हैं—

1. विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ सत्य पर प्रतिबन्ध लगाना है और सत्य पर प्रतिबन्ध का अर्थ समाज की उपयोगिता का ह्रास करना है परिणामस्वरूप समाज का पतन अवश्यम्भावी है।

2. अभिव्यक्ति द्वारा सत्य विचारों को पुष्टि होती है। दमनकारी उपायों द्वारा सत्य को बाधित नहीं किया जा सकता। उसे विलम्बित किया जा सकता है फलस्वरूप सामाजिक प्रगति अवश्य अवरुद्ध होती है।

3. सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। सामान्यतः एक पक्ष सत्य के एक पहलू को देखता है और दूसरा पक्ष दूसरे पहलू को। सत्य के समग्र रूप को जानने के लिए उसे जितने अधिक दृष्टिकोण से देखने की स्वतन्त्रता दी जाएगी उतना अच्छा होगा। ये विविध दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक होते हैं जिनके समन्वय से वास्तविकता का पता चलता है और सघर्षमय परिस्थितियाँ समाप्त होती हैं।

4. यदि कोई व्यक्ति असत्य बोलता है तथा मिथ्या भाषण करता है फिर भी राज्य को उसके विचार स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जनता जब उसके झूठ को समझ जाएगी, तब उसका समर्थन नहीं करेगी। यदि कोई व्यक्ति सनकी है तो उसे अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, क्योंकि हो सकता है कि सनकी व्यक्ति किसी नई चिन्तन-पद्धति का आविष्कार करने में सफल हो जाए।

5. यदि किसी व्यक्ति का विचार गलत है तो उसको व्यक्त होने देने में समाज की हानि नहीं है। इससे समाज द्वारा स्वीकृत सत्य का स्वरूप और निखरेगा। भाषणों की तुलना करके हम सत्य को परख सकते हैं। मिथ्या और सत्य में विरोधाभास है अतः सत्य को एक सजीव रूप में समाज में प्रस्तुत किया जा सकता है।

6. तर्क-बुद्धि से सत्य की परख होती है, ज्ञान का विकास होता है और मिथ्या एवं अन्ध-विश्वासपूर्ण परम्पराओं का अन्त होता है।

2. **कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)**—वैचारिक स्वतन्त्रता का महत्वपूर्ण पक्ष कार्य की स्वतन्त्रता है। मिल का मत है कि "विचारों की स्वतन्त्रता अपूर्ण है यदि उन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता न हो।" दृष्टि सकल्प, सृष्टि—ये मनुष्य के अविभाज्य अंग हैं और कार्यों द्वारा मनुष्य अपना अनुदाय समाज को देता है। यह अनुदाय उसके व्यक्तित्व का मानवीय तत्व है सामाजिक प्रगति का अन्यतम साधन है।

मिल के इन विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव-जीवन के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। इसके अनुरूप वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है—(1) स्व-सम्बन्धी कार्य (Self regarding Actions) एवं (2) पर सम्बन्धी कार्य (Other regarding Actions)। व्यक्ति के स्व-सम्बन्धी कार्य वे हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों की परिधि व्यक्ति स्वयं है जैसे—कपड़े पहनना, शिक्षा प्राप्त करना सिगरेट पीना, पान खाना आदि। व्यक्ति को ऐसे कार्यों का अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इनमें राज्य का हस्तक्षेप वांछनीय नहीं है। व्यक्ति को स्व-सम्बन्धी कार्यों की स्वतन्त्रता न देना उसे पशु बनाना है। व्यक्तिगत कार्यों की स्वतन्त्रता का अभाव समाज की प्रगति के लिए खतरा बन जाता है। पर सम्बन्धी कार्य व्यक्ति के वे कार्य हैं जिनसे समाज अथवा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं। ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है क्योंकि यद्यपि व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है तथापि इसके द्वारा दूसरों की स्वतन्त्रता का बलिदान नहीं किया जा सकता। यदि व्यक्ति समाज में अभद्रता और अनैतिकता को प्रोत्साहन देता है अथवा ऐसे सगठनों का निर्माण करता है जिनसे सामाजिक शान्ति और सुरक्षा भंग होती हो तो राज्य को अधिकार है कि वह उसके कार्यों में हस्तक्षेप करे, लेकिन वहीं तक जहाँ तक यह हस्तक्षेप

व्यक्ति के असामाजिक कार्यों को रोकने के लिए आवश्यक हो। अपना पूर्ण अहित करने वाले व्यक्तिगत कार्य मिल के अनुसार, राज्य द्वारा प्रतिबन्धित हो सकते हैं, जैसे—आत्महत्या का कार्य। मिल ने कार्यों की स्वतन्त्रता को चरित्र-निर्माण और सामाजिक विकास की दृष्टि से न्यायपूर्ण बतलाया है। चरित्र-निर्माण में व्यक्तिगत अनुभव तथा परीक्षण के बाद किया गया सकल्प कार्य रूप में व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों लाभ देता है। बुरी आदतों अथवा क्रियाओं को रोकने के लिए राज्य को परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए।

मिल की स्वतन्त्रता के मूलभूत तत्त्व—मिल द्वारा प्रतिपादित की गई स्वतन्त्रता के प्रमुख तत्व ये हैं—(1) यह नकारात्मक स्वतन्त्रता है, विधेयात्मक नहीं। कानून का अभाव ही स्वतन्त्र माना गया है। (2) मिल द्वारा स्वतन्त्रता की एक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। (3) समाज से पृथक् रहकर व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। मिल की स्वतन्त्रता की धारणा समाज की व्यक्तिवादी धारणा पर आधारित है। (4) मिल द्वारा स्वतन्त्रता के पक्ष में दिए गए तर्क उपयोगितावादी सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते हैं। जब मिल कहता है कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा सम्पूर्ण मानव-जाति के विरुद्ध की जानी चाहिए तो उसका उपयोगितावादी आधार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। (5) मिल पिछड़े हुए राष्ट्र के लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में नहीं है। (6) राष्ट्रीय प्रगति और सामाजिक उद्देश्य के लिए स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा सकता है।

मिल की राज्य सम्बन्धी धारणा
(Mill's Concept of the State)

मिल की मान्यता है कि राज्य स्वार्थ की अपेक्षा मानव इच्छा का परिणाम है। राज्य के यान्त्रिक सिद्धान्त **(Mechanistic Principles)** यदि मानव इच्छा अथवा मानव व्यक्तित्व की उपेक्षा करते हैं, तो वे अपूर्ण हैं। मिल ने राज्य और उसकी संस्थाओं को स्वाभाविक मानने वालों तथा उन्हें आविष्कार और मानव प्रयासों का फल समझने वालों के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उसका विश्वास है कि राज्य का विकास हुआ है। यह विकास जड़ वस्तुओं की तरह न होकर, चेतन वस्तुओं के समान हुआ है, राज्य की उत्पत्ति मानव-हित के लिए हुई है, क्योंकि जितने राजनीतिक संगठन हैं उन सबका अस्तित्व सार्वजनिक कल्याण के लिए है। सभी समाज अपने अस्तित्व की प्रत्येक अवस्था में अपना स्वरूप व्यक्ति के स्वैच्छिक प्रयत्नों द्वारा ग्रहण करते हैं, अतः अन्य वस्तुओं की भाँति इन्हें व्यक्ति द्वारा अच्छा या बुरा बनाया जा सकता है। यह मनुष्य की दक्षता और बुद्धि पर निर्भर करता है। राजनीतिक यन्त्र स्वयं कार्य नहीं करता। सामान्य व्यक्तियों द्वारा उसका निर्माण होता है और उन्हीं के द्वारा उसका संचालन होता है। यह उनके चुपचाप रहने से नहीं, बल्कि सक्रिय योगदान से क्रियाशील होता है, अतः राज्य को उन व्यक्तियों के गुणों और शक्तियों के अनुकूल ढाला जाना चाहिए जो इसके संचालन के लिए उपलब्ध हों।

राज्य के सकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए मिल ने व्यक्तियों के कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप को पूर्णतः निषिद्ध न ठहरा कर, वैयक्तिक विकास की कुछ स्थितियों में उसका हस्तक्षेप अनिवार्य माना है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख के लिए समाज का सुख आवश्यक नहीं है, क्योंकि जीवन-संघर्ष में सभी व्यक्ति समाज में समान नहीं हैं। यदि राज्य सभी व्यक्तियों के जीवन को सुखी बनाना चाहता है और प्रत्येक को आत्म-विकास की सुविधाएँ देना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह समाज में व्याप्त विषमताओं और भिन्नताओं को दूर करे। मिल चाहता है कि भूमि, उद्योग, धन आदि पर कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार नहीं रहना चाहिए। समाजवादी न होते हुए भी मिल के हृदय में सम्भवतः समाजवाद के प्रति प्रच्छन्न सहानुभूति विद्यमान है, तथापि उसे उग्र समाजवाद से कोई सहानुभूति नहीं है जो भूमि के राष्ट्रीयकरण का समर्थक हो। वह सम्पत्ति का उतना प्रबल पक्षधर नहीं है जितना बेन्थम है।

मिल के अनुसार राज्य को यथासम्भव इन कार्यों से अपना सम्बन्ध रखना चाहिए—(1) राज्य बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति से देश की रक्षा के लिए सेना की व्यवस्था करे। (2) सार्वजनिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए पुलिस का प्रबन्ध करे। (3) अत्यन्त उपयोगी एवं कम से कम कानून बनाने के लिए विधान-मण्डल का निर्माण करे। (4) कानून के विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्डित करने के लिए न्यायालयों की स्थापना करे। (5) व्यक्ति को उनका महत्त्व बतलाए और इसके लिए प्रचार करे। (6) चेतावनी देने का काम करे और इस तरह सम्भावित दुष्परिणामों की ओर संकेत करे।

मिल की शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली सम्बन्धी धारणा
(Mill's Concept of Best Form of Government)

मिल के अनुसार शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली वह नहीं है जो अत्यधिक कुशल हो, अपितु वह है जो नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हो और सर्वसाधारण को नागरिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती हो। श्रेष्ठ शासन की प्रधान विशेषता यह है कि वह जनता के गुणों और बुद्धि का विकास करने वाली हो।

शासन सार्वजनिक कार्य के लिए संगठित व्यवस्था का नाम ही नहीं है, वरन् इसका मानव-मस्तिष्क पर उत्तम और गहरा प्रभाव होना चाहिए। शासन का मूल्य उसके कार्यों द्वारा आँका जाना चाहिए। शासन की सार्थकता मनुष्यों एवं अन्य वस्तुओं पर पड़ने वाले प्रभाव से मापी जानी चाहिए। *शासन की उत्तमता की प्रथम कसौटी यह जाँचना है कि वह नागरिकों में मानसिक एवं नैतिक गुणों का कहाँ तक संचार करती है? उनके चारित्रिक एवं बौद्धिक विकास के लिए कितना प्रयास करती है?* इनको सर्वश्रेष्ठ रूप में क्रियान्वित करने वाली शासन प्रणाली ही 'शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली' मानी जाएगी। उत्तम शासन की एक कसौटी है कि उसके द्वारा शासितों में किस मात्रा तक वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप से गुणों की वृद्धि होती है। केवल प्रशासन के क्षेत्र में शासन की सफलता उसकी उत्तमता का चिह्न नहीं है।

मिल की प्रतिनिध्यात्मक शासन सम्बन्धी धारणा

(Mill's Concept of Representative Government)

मिल के समय प्रजातन्त्रवाद प्रगति पर था किन्तु शासन की गम्भीर त्रुटियाँ तथा संसद का उच्चवर्गीय अधिनायकत्व चिन्ता के विषय थे। *व्यक्ति स्वातन्त्र्य का प्रबल समर्थन करने के बाद मिल ने अपना ध्यान ऐसे शासन की ओर केन्द्रित किया जिसमें व्यक्ति का सच्चा प्रतिनिधित्व सम्भव हो और प्रजातान्त्रिक नियमों के अनुसार प्रत्येक योग्यता प्राप्त व्यक्ति* इसका अवसर प्राप्त कर सके। मिल ने कहा कि अच्छा प्रजातन्त्र वह है जिसमें सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन-कार्य में भाग लें। सर्वोत्तम आदर्श शासन वह है जिसमें सर्वोच्च नियन्त्रण शक्ति या सम्प्रभुता पूरे समाज की योग्यतायुक्त इकाई में निहित हो और प्रत्येक व्यक्ति इस सम्प्रभुता के निर्माण में केवल योग ही न दे वरन् समय आने पर सार्वजनिक पद ग्रहण कर तथा शासन में भाग लेकर अपना कर्तव्य पूरा करे, पर चूँकि *यह प्रयोग सम्भव नहीं है और आज के विशाल जनसंख्या वाले राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र नहीं चल सकता, अतः मिल की दृष्टि में सर्वोत्तम शासन अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अथवा* प्रतिनिधि शासन (Representative Government) होना चाहिए। यद्यपि प्रजातन्त्र का यह रूप दोषमुक्त नहीं है पर मिल का विश्वास है कि शासन का स्वरूप मनुष्य द्वारा निर्धारित होता है अतः "मनुष्य द्वारा निर्धारित अन्य चीजों की भाँति इसको अच्छा भी बनाया जा सकता है और बुरा भी।"

प्रतिनिधि शासन का सिद्धान्त—मिल के अनुसार प्रतिनिध्यात्मक सरकार वह है जो तीन शर्तों को पूरा करे—1. वे लोग जिनके लिए ऐसी सरकार का निर्माण किया जाए, ऐसी सरकार को स्वीकार करने के इच्छुक हों या इतने अनिच्छुक न हों कि इसकी स्थापना में बाधा पैदा करें। 2. ऐसी सरकार के स्थायित्व के लिए जो कुछ करना आवश्यक हो वह सब करने के लिए वे इच्छुक और योग्य हों। 3. ऐसी सरकार के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए ऐसे लोगों से जो कुछ सरकार चाहे वह करने के लिए वे तत्पर और योग्य हों। शासन की जो आवश्यक शर्तें हों वे उन्हें पूरा करने के लिए तैयार हों।

प्रतिनिधित्वात्मक सरकार में उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त निम्न तत्व हैं—

(1) सम्पूर्ण या उनकी संख्या के बड़े भाग के लोगों का सरकार के कार्यों में सहयोग। (2) सम्पूर्ण या उनकी संख्या के बहुत बड़े भाग के लोगों के हाथ में नियन्त्रण शक्ति। (3) समय-समय पर चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा लोगों का प्रतिनिधित्व।(4) अन्तिम नियन्त्रण शक्ति का संविधान में स्थान और संविधान लिखित न हो तो व्यावहारिक रूप से जनता द्वारा उसका प्रयोग। (5) राज्य की सक्रिय राजनीति में नैतिकता या स्वस्थ परम्पराएँ। (6) वे सभी तत्त्व जो एक अच्छी सरकार के लिए *आवश्यक होते हैं जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।* (7) सरकार के अंगों में कार्यों का *निश्चित बँटवारा। (8) एक संगठित विरोधी दल। (9) आनुपातिक प्रतिनिधित्व। (10)* सार्वजनिक मताधिकार। (11) निष्पक्ष न्यायपालिका। (12) अल्पसंख्यकों की रक्षा।

मिल संसद में संगठित विरोध के पक्ष में है क्योंकि ऐसा न होने पर सरकार सही रूप में प्रतिनिधित्व न कर, केवल निरकुश बहुमत पर आश्रित हो जाएगी। प्रशासकीय अंग अथवा कार्यपालिका की निरकुशता पर अंकुश रखने के लिए वह एक सजग एवं सतर्क व्यवस्थापिका चाहता है जो कार्यपालिका के कार्यों की खुलकर आलोचना करे और जरूरत पड़ने पर अविश्वास प्रस्ताव पास कर, उसे भंग करने में सक्षम हो। मिल ने लिखा है—"प्रतिनिधि सभा (पार्लियामेण्ट) *वह है जिसमें राष्ट्र के सामान्य मत का ही प्रतिनिधित्व नहीं, बल्कि उसके प्रत्येक अंग के मत का प्रतिनिधित्व हो, सम्भवतः राष्ट्र के प्रत्येक वरिष्ठ और योग्य व्यक्तियों के विचारों का प्रतिनिधित्व हो,* जहाँ विचारों पर स्वच्छन्द वाद विवाद और उनका मन्थन हो देश का प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों के सही प्रतिनिधित्व के लिए उपयुक्त वक्ता प्राप्त कर सके, लोगों के विरोधों को अनिच्छा के कारण न ठुकरा कर, विवेक और तर्क तथा सत्यता के द्वारा चुनौती दी जाए, जहाँ राष्ट्र का प्रत्येक दल या जनमत अपनी-अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग कर सके और सही या गलत विचारों की परख करने का अवसर प्राप्त कर सके, जहाँ राष्ट्र के मान्य विचारों की प्रत्यक्ष रूप में सरकार के सम्मुख अभिव्यक्ति हो सके, जहाँ सरकार को उसकी त्रुटियों के लिए झुकाया जा सके और सरकार बिना शक्ति प्रयोग किए अपदस्थ होना स्वीकार करे तथा जिसमें सभी प्रतिनिधि सही रूप में ईमानदारी के साथ चुने गये हों।"

संसद में प्रतिनिधियों की स्थिति के बारे में मिल के विचार बर्क से मिलते-जुलते हैं। वह प्रतिनिधियों को जनता का प्रत्यायुक्त (Delegate) मात्र नहीं मानता, वरन् उसकी राय में वह एक पथ-प्रदर्शक और शिक्षाप्रद व्यक्ति होना चाहिए। यदि उसे अधिक महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करने के लिए छोटी-मोटी समस्याओं पर समझौता करने पड़े तो उसे निर्भीक रूप से अपनी सम्मति प्रकट करनी चाहिए। प्रतिनिधि-शासन प्रणाली का प्रमुख दोष झूठी प्रतिज्ञाएँ करना है जो वह अपनी दृष्टि से दूर करना चाहता है। मिल की मान्यता है कि चरित्रवान व्यक्ति राज्य की जीवन शक्ति होते है और जिस शासन में व्यक्तियों के विकास के समुचित अवसर उपलब्ध नहीं है वह शासन-व्यवस्था उपयुक्त नहीं हो सकती, फिर चाहे प्रशासनिक दृष्टि से वह कितनी सक्षम और कुशल क्यों न हो। निरंकुश शक्ति सम्पन्न और सत्ता पूर्ण होने पर इसीलिए आदर्श नहीं माना जा सकता है कि उसमें नागरिकों के चारित्रिक विकास की उपेक्षा की जाती है। प्रतिनिधि शासन वाला लोकतन्त्र श्रेष्ठ इसलिए है कि अन्य किसी शासन-व्यवस्था की अपेक्षा उसमें व्यक्ति के बौद्धिक और नैतिक विकास की प्रबल सम्भावना होती है।

क्रियात्मक सरकार के कार्य—मिल के अनुसार, "निर्वाचित प्रतिनिधि-परिषद का कार्य शासन का नियन्त्रण और निरीक्षण मात्र है। इस परिषद को सक्रिय रूप में कानून-निर्माण अथवा शासन कार्य नहीं करने चाहिए।" मिल ने प्रतिनिध्यात्मक सरकार के जिन मुख्य कर्तव्यों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं—1. प्रतिनिधि-शासन व्यक्तियों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करे जिसमें सत्य की खोज करके तदनुकूल अपने विचारों का निर्माण कर सके। 2. *शासन ऐसे कानूनों का निर्माण करे जिससे व्यक्तियों का चारित्रिक सुधार हो सके।* 3. *इस सम्बन्ध में राज्य द्वारा* कानूनों का निर्माण कम से कम किया जाए, क्योंकि कानून से प्रतिबन्ध लगते हैं। शासन को अधिक कानून बनाकर नागरिकों के वैयक्तिक जीवन में, अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। जीवन के अधिकांश पहलू सरकार के विनियमों के बिना रहने चाहिए। कानून-निर्माण का कार्य विधायिका सभा को दिया जाना चाहिए। 4 प्रतिनिधि सभा को इन महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करना चाहिए—सरकार पर दृष्टि रखना, उन पर पूर्ण नियन्त्रण रखना, सरकार के कार्यों पर प्रकाश डालना, उसके आपत्तिजनक कार्यों को रोकना एवं उनका औचित्य सिद्ध करना, विश्वासघाती शासकों को पदच्युत कर उनके उत्तराधिकारी को नियुक्त करना, सरकार के हेय कार्यों की निन्दा करना आदि। संसद में जनता की या वर्ग की शिकायत पर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद होना उपयोगी है। 5. मिल के अनुसार, "प्रतिनिधि-निकायों के कार्य को इन विवेकसम्मत सीमाओं के अन्तर्गत रखकर लोकप्रिय नियन्त्रण का लाभ उठाया जा सकता है और महत्वपूर्ण कुशल व्यवस्थापन तथा प्रशासन प्राप्त हो सकता है। इन क्षेत्रों को मिलाने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि नियन्त्रण एवं आलोचना *यन्त्र को वास्तविक प्रशासन यन्त्र से अलग रखा जाए। इसमें पहले को जनता के प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाए तथा* दूसरे को विशेष ज्ञान एवं कुशलता-प्राप्त थोड़े से व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रखा जाए, जो राष्ट्र के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी हों।"

निर्वाचन के सम्बन्ध में मिल के विचार

प्रतिनिधि शासन का निर्माण निर्वाचनों द्वारा होता है। अतः मिल ने प्रतिनिधि-शासन पर विचार व्यक्त करते समय निर्वाचनों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसने कहा कि निर्वाचित-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसमे सरकार के संचालन के लिए सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान और *समतावान व्यक्ति ही पहुँच सकें। योग्य व्यक्ति ही शासन का संचालन भली प्रकार कर* सकते हैं। मिल ने निर्वाचन सम्बन्धी महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए जिनसे शासकों का चुनाव अज्ञानी एवं विवेकहीन जनता के हाथों में न पड़े सके और जिनसे सामूहिक सामान्य बुद्धि द्वारा शासक के दोष कम हो जाएँ। मिल ने इन्हीं उद्देश्यों को सामने रखकर आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) और बहुल मतदान (Plural Voting) का सुझाव दिया। मिल को आशा थी कि *"आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा एक उम्मीदवार के लिए आवश्यक* गुणों को समुचित महत्व मिल सकेगा और विवेकहीन जनता के बहुमत के दोष दूर हो सकेंगे।" आनुपातिक प्रतिनिधित्व के लिए मिल ने सुझाव दिया कि कुल मतदाताओं की संख्या में संसद की प्रतिनिधि संख्या का भाग देकर मतों की औसत संख्या निकाल लेनी चाहिए और मतों की एक ऐसी संख्या निर्धारित कर देनी चाहिए जिसको प्राप्त करने के बाद कोई प्रत्याशी संसद की सदस्यता प्राप्त कर सके। मिल के निर्वाचन सम्बन्धी महत्वपूर्ण विचार निम्नानुसार हैं—

1. मताधिकार एक ऐसा महत्वपूर्ण अधिकार है सभी को नहीं दिया जाना चाहिए। प्रजातन्त्र को बड़ा खतरा अनपढ़ और मूर्ख व्यक्तियों से है, अतः आवश्यक है कि मताधिकार उन्हीं लोगों को प्राप्त हो जो एक निश्चित शैक्षणिक योग्यता रखते हों। केवल वयस्क हो जाने से कोई मत देने का अधिकारी नहीं हो सकता।

2. मताधिकार प्रदान करने में लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। मिल महिला मताधिकार (Right of Vote to Women) की वकालत करने वाले प्रथम कोटि के विचारकों में है। उसे यह बहुत अन्यायपूर्ण प्रतीत होता था कि महिलाओं को मतदान अधिकार से वंचित रखा जाए। उन दिनों ग्रेट-ब्रिटेन में नारी का स्थान घर की चारदीवारी तक सीमित था। मिल नारी को समाज में वही स्थान प्रदान करना चाहता था जो पुरुषों को प्राप्त था। उसने

कहा कि "महिलाओं की अधीनता किसी प्रकार उनकी बौद्धिक प्रतिभा की कमी का लक्षण नहीं है, बल्कि यह उनकी सदियों की दासता का परिणाम है। यदि नारी और पुरुष में कोई अन्तर है तब भी पुरुष की अपेक्षा नारी को मतदान का अधिकार की आवश्यकता अधिक है, क्योंकि शारीरिक दृष्टि से पुरुष की तुलना में निर्बल होने के कारण उसे अपने सुरक्षा के लिए कानून और समाज पर निर्भर रहना पड़ता है।"

3. निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं बहुल मतदान के आधार पर होना चाहिए। बहुल मतदान (Plural Voting) की सिफारिश मिल ने शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में बराबर अधिकार दिलाने हेतु की।

4. विद्वान को मूर्ख से अधिक वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को कम से कम एक तथा अधिक से अधिक पाँच मत देने का अधिकार उचित है। मिल ने समाज को वर्गों में विभक्त कर यह निश्चित कर दिया कि किस वर्ग को कितने मत देने का अधिकार मिलना चाहिए।

5. मिल ने गुप्त मतदान का विरोध करते हुए खुले मतदान को उचित ठहराया। मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है जिसका प्रयोग बुद्धिमत्ता एवं ईमानदारी से किया जाना चाहिए। अतः इसमें गोपनीयता रखना 'किसी गुप-चुप किए जाने वाले अनुचित कार्य' के समान है।

6. मिल ने सुझाव दिया कि ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति जो बौद्धिक दृष्टि से योग्य हों, अच्छे लेखक या सामाजिक कार्यकर्ता हों, जिन्होंने अपने कार्यों के कारण हर जिले में प्रसिद्धि प्राप्त कर ली हो तथा किसी राजनीतिक दल के सदस्य न हों, तो उन्हें योग्यता के आधार पर चुन लेना चाहिए।

7. संसद की तानाशाही प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने की दृष्टि से द्वि-सदनीय संसद उपयोगी होती है। इसके अतिरिक्त समयाभाव के कारण निम्न सदन पर कार्यभार बढ़ जाता है यह उच्च सदन द्वारा हल्का किया जा सकता है। मिल द्वितीय सदन में कुछ सुधार चाहता था।

8. उसका विचार था कि मतदाताओं के लिए शिक्षा की योग्यता के साथ सरकारी सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualification) निर्धारित होनी चाहिए, क्योंकि सम्पत्तिवान मतदाता सम्पत्तिहीन मतदाताओं से अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से अपने मत का प्रयोग करेंगे।

मिल का योगदान और स्थान

(Mill's Contribution and Place)

यह सत्य नहीं है कि मिल ने किसी नए सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। उसके सिद्धान्त में संगति नहीं है और उसके चिन्तन में अनेक परस्पर विरोधी तत्वों का मिश्रण है, परन्तु केवल इन्हीं आधारों पर हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। यह देखना अधिक शिक्षाप्रद होगा कि उसने जो कुछ लिखा है उसमें सत्य कितना है? उसकी विधेयात्मक देन क्या है और अपने युग को उसने किस प्रकार प्रभावित किया है और यदि लेखकों की योग्यता का निर्णय इस तथ्य से होता है कि नीति पर उनका क्या प्रभाव पड़ा है तो मिल का स्थान निश्चित रूप से ऊँचा है। एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक के रूप में वह एक अवतार समझा जाता था।

मिल ने एक पीढ़ी से अधिक समय तक राजनीतिक चिन्तन के [illegible] क्षेत्र को प्रभावित रखा और उसके मन्त्रों को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त हुआ। मिल ने उपयोगितावाद के तर्कशास्त्र को विकसित किया और आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) की त्रुटियाँ दूर की। बेन्थम के उपरान्त उपयोगितावाद के बहुत से आलोचक उत्पन्न हुए और इस विचारधारा के सम्बन्ध में भ्रम पैदा हुए। मिल ने उन सब आलोचकों को निरुत्तर किया तथा उनके द्वारा फैलाये गये भ्रमों का अन्त किया। आज उपयोगितावादी अर्थशास्त्र अलग विषय बन गया है। मिल ने उपयोगितावाद की एक बड़ी त्रुटि को दूर किया। बेन्थम ने सुख को गुणात्मक नहीं केवल मात्रात्मक बतलाया था। मिल ने कहा कि सुखों में गुणात्मक अन्तर होता है। उपयोगितावादी विचारधारा को मिल की यह एक जबरदस्त देन थी। मिल इस बात के लिए प्रशंसा का पात्र है कि उसने स्वतन्त्रता की उपयोगितावादी कल्पना प्रस्तुत की। प्रजातन्त्र सम्बन्धी मिल के आलोचनात्मक विचारों का महत्व आज ज्यों का त्यों बना हुआ है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशों में वे दोष पाए जाते हैं, जिनकी ओर मिल ने संकेत किया था। मिल के इस कथन को चुनौती देना कठिन है कि "सुदृढ़ आधार के बिना प्रजातन्त्र का भवन अधिक दिन खड़ा नहीं रह सकता तथा सार्वजनिक शिक्षा के बिना सबके लिए मताधिकार निरर्थक है।" प्रजातन्त्र की सफलता के लिए दिए गए उसके सुझाव प्रशंसनीय हैं क्योंकि उनका व्यावहारिक पक्ष सबल है। प्रजातन्त्र की प्रयोगात्मक दिशा में मिल ने बहुमूल्य योगदान किया है। नारी स्वतन्त्रता सम्बन्धी उसके विचारों की सत्यता का प्रमाण यह है कि लगभग सभी देशों ने उसके विचारों पर स्वीकृति की मोहर लगा दी है। राजनीतिक चिन्तन को मिल की सर्वोच्च देन उसका व्यक्तिवाद है जिसे उदारवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा।

(3) हीगल के राष्ट्रीय राज्य, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और युद्ध सम्बन्धी विचार

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों से यह स्पष्ट है कि वह राष्ट्रीय राज्य (Nation State) का समर्थन करते हुए उसे मानव-संगठन का सर्वोच्च रूप मानता है। वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व व्यापी संगठन के राष्ट्रीय राज्य के ऊपर होने की कल्पना नहीं करता। हीगल की दृष्टि में राज्य के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न आत्म रक्षा का है। अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए राज्य कोई कार्य करने को पूर्ण स्वतन्त्र है। हीगल के अनुसार, "राज्य स्वयं पूर्ण मस्तिष्क है जो अच्छाई और बुराई, लज्जा और दुष्कर्म, लम्पटता और धोखेबाजी आदि के अमायक नियमों को स्वीकार नहीं करता।"[1] राज्य को अन्य राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने में कोई आपत्ति नहीं होती बशर्ते उससे उसकी सुरक्षा कायम रहती हो।[2] अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे प्रभुता सम्पन्न राज्यों के साथ होते हैं जो यह विश्वास करते हैं कि अपना हित उचित है तथा अपने हित के विरुद्ध कार्य करना पाप है अर्थात् जब राज्यों की विशेष इच्छाएँ आपसी समझौते से पूर्ण नहीं हो पातीं तो विवाद को केवल युद्ध द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है। हीगल का मत है कि युद्ध को पूर्ण बुराई नहीं मानना चाहिए। वह युद्ध को घोर दुष्कर्म नहीं मानता। हीगल अति राष्ट्रवादी होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं कानून का समर्थन नहीं करता। हीगल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विचारों पर स्पष्टतया अराजकता की छाप है।

(4) हीगल के दण्ड और सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

हीगल की मान्यता है किसी अधिकार के उल्लंघन होने पर राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपराधी को दण्डित करे। उसकी दृष्टि में दण्ड का उद्देश्य सार्वजनिक सुरक्षा नहीं है, बल्कि दण्ड का अभिप्राय केवल यही है कि जिस अधिकार की अवज्ञा द्वारा जिस व्यक्ति के प्रति तथा समाज एवं न्याय-विधान के प्रति अत्याचार हुआ है उसका बदला लिया जा सके। हीगल के अनुसार जब किसी अधिकार का अतिक्रमण हो उस अधिकार की स्थापना का एक मात्र उपाय है—"प्रथम, पीड़ित व्यक्ति पर किए गए अत्याचार का सार्वजनिक निराकरण और द्वितीय, उनके माध्यम से समाज और न्याय के नियमों पर अनधिकार चेष्टा का निराकरण।" सम्पत्ति के विषय में हीगल की मान्यता थी कि व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए उसकी आवश्यकता है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति की इच्छा क्रियाशील रह सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अभाव में व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। हीगल के अनुसार सम्पत्ति का निर्माण राज्य अथवा समाज नहीं करता प्रत्युत यह मानव व्यक्तित्व की अनिवार्य आवश्यकता है।

(5) हीगल के संविधान सम्बन्धी विचार

हीगल के अनुसार संविधान कोई आकस्मिक कृति नहीं होती, बल्कि उसका निर्माण समान सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं के भीतर अनेक पीढ़ियों के निवास करने वाले जन समूहों की आदतों के अनुपालन से होता है। हीगल ने संवैधानिक शक्तियों को तीन भागों में बाँटा है—(1) विधायी, (2) प्रशासनिक एवं (3) राजतन्त्रात्मक।

(6) हीगल के इतिहास सम्बन्धी विचार

हीगल के अनुसार, "इतिहास मानव आत्मा के आत्म-शोध के लिए की गई एक तीर्थ यात्रा है।" इतिहास का मार्ग मानव विवेक द्वारा प्रशस्त होता रहता है और विश्व इतिहास विश्व का निर्णय है। इस निर्णय से यही अर्थ है कि एक जाति की दूसरी जाति पर विजय जो एक जाति से दूसरी जाति में "विश्व चेतना" के स्थानान्तरित होने से है। हीगल ने विश्व इतिहास को स्वाधीनता की अनुभूति की चार अवस्थाओं में विभक्त किया है—(1) पौर्वात्य, (2) यूनानी, (3) रोमन एवं (4) जर्मनी। हीगल के अनुसार इतिहास की अपनी समस्याएँ होती हैं जिनके लिए उसके अपने समाधान होते हैं। हीगल के अनुसार, "इतिहास बुद्धिमानों का पथ प्रदर्शन करता है तथा मूर्खों को घसीटता है।" इतिहास का प्रवाह और मानव-समाज की व्यवस्थाओं का विकास निश्चित नियमों के अनुसार होता है।"

(7) हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

हीगल के राजनीतिक चिन्तन का अधिक विवादास्पद विषय उसका वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार है। हीगल ने स्वतन्त्रता को व्यक्ति के 'जीवन का सार' मानते हुए कहा था कि "स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता को अस्वीकार करना है, इसलिए स्वाधीन होने का अर्थ है अपने अधिकारों और कर्तव्यों को तिलांजलि दे देना, क्योंकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रतीक नहीं हो सकती।" हीगल के अनुसार राज्य स्वयं में एक साध्य होते हुए स्वतन्त्रता को प्रसारित करने का एक साधन है। विश्वात्मा का सार तत्व स्वतन्त्रता ही है और स्वतन्त्र चेतना की प्रगति विश्व का इतिहास है। जर्मन जाति को सर्वप्रथम इस चेतना की अनुभूति हुई कि मनुष्य एक मनुष्य के नाते स्वतन्त्र है। हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक है जिसकी प्राप्ति सामाजिक कार्यों में भाग लेने से होती है। समाज और व्यक्ति के सहयोग के बिना कोई स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। सेबाइन के अनुसार,

---

1 2 जैन : राज दर्शन का स्वाध्ययन (हिन्दी), पृ 185 186

"हीगल का विश्वास था कि स्वतन्त्रता को एक सामाजिक व्यवहार समझना चाहिए। वह उस सामाजिक व्यवस्था की एक विशेषता है जो समुदाय के नैतिक विकास के आधार पर उत्पन्न होती है। वह व्यक्तिगत प्रतिभा की वस्तु नहीं है।" वह एक प्रकार की स्थिति है जो व्यक्ति को समुदाय की नैतिक और वैधानिक संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त होती है, अतः उसे स्वेच्छा अथवा व्यक्तिगत प्रवृत्ति नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्रता व्यक्तिगत क्षमता को महत्वपूर्ण सामाजिक कार्यों के निष्पादन में लगा देने में है।[1]

कार्ल मार्क्स
(Karl Marx, 1818-1889)

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

वैज्ञानिक समाजवाद के उन्नायक कार्ल मार्क्स ने समाजवाद को स्वप्न लोक से निकालकर एक जनक्रान्ति के रूप में इस प्रकार बदल दिया है कि आज का युग समाजवाद का युग कहलाने लगा है। कार्ल मार्क्स का जन्म एक मध्यम वर्गीय परिवार में पश्चिमी एशिया के ट्रीवित नगर में 5 मई, 1818 को हुआ था। उसका पिता एक साधारण वकील तथा माता एक यहूदी महिला थी। मार्क्स बचपन से प्रतिभाशाली था। 1836 में मार्क्स ने न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। 1841 में उसने जेना विश्वविद्यालय से डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। 1849 में मार्क्स लन्दन में बस गया और अपने जीवन के शेष 34 वर्ष वहीं बिताए। 1883 में मार्क्स का निधन हो गया।

मार्क्स के ग्रन्थ (Works of Marx)—कार्ल मार्क्स की महत्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं—

(1) दी फिलासफी ऑफ पावर्टी (1847) (The Philosophy of Poverty, 1843)
(2) दी कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो (1848) (The Communist Manifesto, 1848)
(3) दास कैपीटल (1867) (Das Capital, 1867)
(4) क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस (Class Struggle in France)

1. मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद सम्बन्धी विचार

मार्क्सवादी समाजवाद को सर्वहारा समाजवाद या वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है। मार्क्स अपने समाजवाद को वैज्ञानिक मानता है, क्योंकि यह इतिहास के अध्ययन पर आधारित है। मार्क्स का दर्शन विराट तथा सुसम्बन्ध है। केटलिन के अनुसार, उसका क्रान्तिकारी कदम वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त पर स्थित है, वर्ग संघर्ष अतिरिक्त मूल्य के आर्थिक सिद्धान्त पर, आर्थिक सिद्धान्त इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर, आर्थिक व्याख्या मार्क्स हीगल के द्वन्द्ववाद पर और द्वन्द्ववाद भौतिकवादी आध्यात्मिक शिला पर स्थित है। स्पष्टतः मार्क्स की विचारधारा के चार आधार स्तम्भ हैं—(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism), (2) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic Interpretation of History), (3) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class Struggle) एवं (4) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)।

(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

कार्ल मार्क्स का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के दर्शन की वह आधारशिला है जिसका आश्रय समस्त साम्यवादी लेते हैं। शार्ट हिस्ट्री ऑफ दी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ दी सोवियत यूनियन में अधिकृत रूप से कहा गया है कि "द्वन्द्ववाद की सहायता से दल प्रत्येक स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण बना सकता है। सामाजिक घटनाओं के आन्तरिक सम्बन्धों को समझ सकता है, उनकी दिशा को जान सकता है कि वे वर्तमान में किस प्रकार और किस दिशा में चल रही हैं, वह यह भी देख सकता है कि भविष्य में उनकी दिशा क्या होगी?"[2] मार्क्स के अनुसार भौतिक पदार्थ इस जगत् का आधार है। भौतिक जगत् की वस्तुएँ तथा घटनाएँ परस्पर अवलम्बित हैं। भौतिक जगत् में परिवर्तन होता रहता है। कुछ प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं, कुछ नष्ट होती हैं तो कुछ की पुनरावृत्ति होती है। यह विकास क्रम निरन्तर चलता रहता है। मार्क्स कहता है कि विकास की पृष्ठभूमि में समस्त प्राकृतिक पदार्थों में एक आभ्यंतरिक विरोध रहता है जिससे भौतिक जगत का विकास होता है। इसके तीन अंग होते हैं—(1) वाद, (2) प्रतिवाद एवं (3) संवाद अथवा संश्लेषण।

1. सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 616.
2. Quoted in *Carew* Theory and Practice of Communism, p 28.

मार्क्स का भौतिक द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त विकासवाद का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ यदि गेहूँ के दाने (पदार्थ) के द्वन्द्व का अध्ययन करें तो विदित होगा कि उसका विकास हो रहा है। उसे जमीन में गाड़ देने से उसका वह रूप नष्ट हो जाता है यह अंकुर के रूप में प्रकट होता है। अंकुर अपनी स्थिति पर स्थाई नहीं रहता, उसका विकास एक लहलहाते पौधे के रूप में होता है। इस संघर्ष पूर्ण स्थिति का परिणाम यह होता है कि गेहूँ के एक दाने के विकास के द्वारा अनेक दाने उग आते हैं। विकास का यही द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त भौतिकवादी है। यदि गेहूँ का बीज 'वाद' है तो पौधा उसका 'प्रतिवाद' है और पौधे का नष्ट होकर नए दानों का जन्म 'संवाद' अथवा 'संश्लेषण' है। यही संघर्ष विकास के सोपान के रूप में क्रमशः चलता रहता है। यह संघर्ष बाह्य न होकर आन्तरिक होता है।

(2) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

मार्क्स के अनुसार, "वैध सम्बन्धों और राज्य के रूपों को न तो स्वतः उनके द्वारा समझा जा सकता है न ही मानव मस्तिष्क की सामान्य प्रगति द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है बल्कि वह जीवन की भौतिक अवस्थाओं के मूल में स्थिर होती है।" भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विधियों के सामान्य स्वरूप का निश्चय करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निश्चय नहीं करती, प्रत्युत् उनका सामयिक अस्तित्व उनकी चेतना का निश्चय करता है। प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाएँ, उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके व्यापार, उद्योग और कला दर्शन और रीतियों, आचरण परम्पराओं, नियम, धर्म और नैतिकता मार्क्स के अनुसार जीवन की भौतिक अवस्थाओं के द्वारा प्रभावी रूप ग्रहण करते हैं। जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उसका आशय वातावरण, उत्पादन वितरण और विनिमय से है और इसमें उत्पादन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण अर्थात् उत्पादन तथा वितरण के तरीकों में परिवर्तन के कारण होती हैं सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों या भगवान की इच्छा के कारण नहीं। उनके कारण उनके युग की आर्थिक व्यवस्था में पाये जा सकते हैं उनके दर्शन में नहीं। वस्तुतः आर्थिक उत्पादन के प्रत्येक चरण के अनुक्रमण में एक समुचित राजनीतिक स्वरूप और समुचित वर्ग का आकार है, इसलिए मार्क्स का दर्शन वह ऐतिहासिक सिद्धान्त है जो विकास के स्वाभाविक रूप को उपस्थित करता है। मार्क्स कहता है कि उत्पादन एव उत्पादन शक्ति के विकास से द्वन्द्ववादी भावना का जन्म होता है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार इतिहास की प्रत्येक अवस्था वर्ग संघर्ष का इतिहास है। इतिहास की प्रत्येक घटना, प्रत्येक परिवर्तन आर्थिक शक्तियों का परिणाम है। मार्क्स उत्पादनात्मक सम्बन्धों अथवा आर्थिक दशाओं के आधार पर इतिहास को पाँच युगों में विभाजित करता है—(1) आदिम साम्यवाद का युग, (2) दास युग, (3) सामंतवादी युग, (4) पूँजीवादी युग एव (5) समाजवादी युग।

मार्क्स के अनुसार आदिम साम्यवाद में मनुष्य कदमूल या फल खाकर अथवा शिकार के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करता था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वय उत्पादन तथा उपभोग करता था अतः समाज वर्ग संघर्ष से रहित था। दास युग में कृषि के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान हुए। भूमि के स्वामित्व की समस्या से सामंतीवर्ग का जन्म हुआ। इस तरह अब समाज में दो वर्ग हो गए। एक स्वामी वर्ग और दूसरा दास वर्ग। संघर्ष के फलस्वरूप नवीन सामंतवादी युग का जन्म हुआ। इसमें राजाओं के हाथ में शासन आ गया। उन्होंने अधीनस्थों को भूमि प्रदान की और वे बदले में सामन्त राजा को आर्थिक और सैनिक सहायता देने लगे। छोटे किसान सामन्तों से भूमि लेकर कृषि करते थे एव बदले में अनाज लगान के रूप में देते थे। उत्पादन के साधनों पर सामन्त राजा और सामंतों का अधिकार होने तथा किसानों की दशा खराब होने के कारण इस युग में सामन्त और कृषक दो वर्ग बन गए। सामंतवादी युग में संघर्ष होना स्वाभाविक था। इसके बाद पूँजीवाद का विकास हुआ। यह औद्योगिक युग था। हाथ का काम इस युग में मशीन से होने लगा। इससे कुटीर उद्योग नष्ट हो गए। इस युग में उत्पादन के साधन पूँजीपतियों के हाथों में चले गए। पूँजीपतियों के अत्यधिक शोषण से समाज में दो वर्ग पूँजीपति और श्रमिकों के बन गए। इनमें आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक होने से मार्क्स के अनुसार उत्पादन के समस्त साधनों पर श्रमजीवी वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा तथा उत्पादन के समस्त साधनों का सामाजीकरण कर दिया जाएगा। पूँजीपतियों के विनाश के बाद श्रमिक वर्ग का अधिनायकत्व समाप्त हो जाएगा और राज्य विहीन और वर्ग विहीन समाज स्थापित हो जाएगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेगा और आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेगा। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के इस काल विभाजन के मूल में मार्क्स की यह धारणा निहित है कि जब तक पूर्ण उत्पादन की स्थिति नहीं आती, सभी समाज बदले रहेंगे। वह मानव इतिहास की कुंजी वर्ग संघर्ष को मानता है।

(3) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त ऐतिहासिक भौतिकवाद की उपसिद्धि है और यह अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के अनुकूल है। मार्क्स के अनुसार वर्ग संगठन का आधार उत्पादन प्रक्रिया में व्यक्ति का स्थान है। वर्ग संगठन के अपने सिद्धान्त में 'मार्क्स मुख्य रूप से [illegible] दो वर्गों की कल्पना करता है जो आधुनिक समाज में

एक मात्र उपाय मार्क्स के अनुसार क्रान्ति है और इस क्रान्ति द्वारा साम्यवादी शासन की स्थापना होती है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में राज्य में वर्ग संघर्ष का अन्त हो जाएगा और सभी को समाज में स्वतन्त्र विकास के लिए शर्त होगी—"प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास।"

व्लादिमीर इलियच लेनिन
(V. I. Lenin, 1870-1924)

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

व्लादिमीर इलियच लेनिन रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के कर्णधार थे। उन्होंने अपनी अनेक कृतियों के द्वारा मार्क्सवाद के सिद्धान्त और व्यवहार के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। लेनिन का जन्म 1870 एवं उनकी मृत्यु 1924 में हुई थी। लेनिन ने मार्क्स और एंजिल्स के विचारों को प्रामाणिक मार्ग दर्शक के रूप में स्वीकार किया तथा उसने समाजवादी क्रान्ति के विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिए और समाजवादी व्यवस्था को व्यावहारिक रूप में चलाने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्त की नई व्याख्या प्रस्तुत की।

साम्यवादी दल की भूमिका

लेनिन ने एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के नाते यह अनुभव किया कि सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग को सचेत तथा सावधान और संगठित होने में काफी अधिक समय लगेगा और इसमें बहुत-सी कठिनाइयाँ आएँगी। पूँजीपति लोग कभी श्रमिक नेताओं को भिन्न-भिन्न प्रलोभन देकर और श्रमिक वर्ग को छोटी-छोटी सुविधाएँ एवं रियायतें देकर क्रान्ति के मार्ग से विमुख करने का प्रयत्न करेंगे। लेनिन ने साम्यवादी दल के लिए 'क्रान्ति की अग्र पंक्ति' (Vanguard of Revolution) की भूमिका निर्धारित की। लेनिन के अनुसार, पूँजीवादी व्यवस्था में समाज धनी और निर्धन दो वर्गों में बँट जाता है तथा सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध प्रतिस्पर्धा पर आधारित होते हैं। इसी कारण प्रतिस्पर्धी राजनीतिक दल बनते हैं और ये प्रतिस्पर्धी दल वर्गीय आधार के अनुसार भिन्न-भिन्न नीतियों को प्रोत्साहन देते हैं। इनमें साम्यवादी दल सर्वहारा वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीवादी दल सत्ता में होते हैं, इसलिए यहाँ साम्यवादी दल प्रमुख विपक्ष का दायित्व निभाता है। इसके अतिरिक्त, उसका कार्य जन साधारण में साम्यवादी विचारधारा का प्रचार प्रसार करना है। वहाँ यह दल क्रान्तिकारी संघर्ष को आगे बढ़ाकर पूँजीवादी व्यवस्था को गिराने का काम करता है। क्रान्ति के पश्चात् जब साम्यवादी दल सत्ता में आ जाता है तब उसकी भूमिका में परिवर्तन हो जाता है। क्रान्ति के पश्चात् यह दल समाजवादी शक्तियों को मजबूत करने के लिए 'सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र' (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित करता है। इस व्यवस्था में किसी प्रतिस्पर्धा करने वाले दल के अस्तित्व को सहन नहीं किया जाता। इस स्थिति में पुराना पूँजीपति वर्ग पराजित अवस्था में होता है फिर भी उससे यह खतरा सदैव बना रहता है कि यह वर्ग प्रति क्रान्ति (Counter Revolution) करके पुन: सत्ता में आने का प्रयत्न कर सकता है। ऐसी स्थिति में साम्यवादी दल का एक महत्वपूर्ण कार्य यह होता है कि वह पुराने पूँजीपति वर्ग तथा प्रति क्रान्तिकारी शक्तियों का दमन करके वर्ग भेद मिटाने का प्रयत्न करे। सत्ता में आने पर साम्यवादी दल उत्पादन के सारे प्रमुख ससाधनों को सामाजिक स्वामित्व में लाकर समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ़ बनाता है। यह दल उत्पादन की शक्तियों के पूर्णतम विकास के उद्देश्य से तकनीकी विकास पर विशेष ध्यान देता है तथा समाज के सभी स्वस्थ काम करने योग्य व्यक्तियों को श्रम करना अनिवार्य बना देता है। लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'स्टेट एण्ड रिवोल्यूशन' (State and Revolution) में लिखा है "समाजवादी दौर में व्यक्तियों के अधिकार इस सूत्र में निर्धारित किए जाते हैं—सबसे अपनी क्षमता के अनुसार, सबको अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार (From each according to his capacity, to each according to his need)।" इसमें सभी लोग कामगार होते हैं, इसलिए समाज वर्ग हीन हो जाता है। उत्पादन की नीतियाँ सम्पूर्ण समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती हैं अत: इसमें सब कामगारों की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करना सम्भव हो जाता है तथा समाज में प्रतिस्पर्धा की भावना पूर्णरूप से खत्म हो जाती है।

साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष

लेनिन के अनुसार, विकसित देशों के पूँजीपति अपने देशों की मंडियों में लाभ कमा लेने के पश्चात् अल्प विकसित देशों पर अपनी गिद्ध दृष्टि डालते हैं, जहाँ उन्हें कच्चा माल कौड़ियों के मोल मिल जाता है तथा तैयार माल मुँह माँगी कीमतों पर बिक जाता है। ये पूँजीपति अपने देश के मजदूरों को छोटी-छोटी रियायतें, लाभ या लालच देकर शान्त कर देते हैं और अपनी पूरी शक्ति के साथ बाहर के अल्प विकसित राष्ट्रों का भरपूर शोषण शुरू कर देते हैं, अत: लेनिन ने सुझाव दिया कि बीसवीं शताब्दी में अल्पविकसित राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवाद के विरुद्ध वही भूमिका अदा

माओ-त्से-तुंग
(Mao-tse-Tung)

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

अपने जीवनकाल में पुराण-पुरुष बन जाने वालों की संख्या अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। माओ-त्से-तुंग इन्हीं में से एक थे। मध्य चीन के दक्षिण में स्थित हुनान प्रान्त के शाओशान गाँव में चीन और जापान के बीच संघर्ष छिड़ने के एक वर्ष पहले 26 दिसम्बर, 1893 को माओ का एक किसान परिवार में जन्म हुआ। उनके पिता माओ शुन चेङ् लम्बे, तगड़े किसान थे जो कर्जदारों से मुक्ति पाने के लिए सेना में भरती हो गए, किन्तु एक साल की नौकरी के बाद घर पर लौट आए और सूअरों और चावल के व्यापार से उन्होंने नया जीवन आरम्भ किया। कुछ ही वर्षों में वह एक सम्पन्न किसान बन गए। माओ के पिता का स्वभाव कठोर था, जबकि उनकी माता वेन ची मेई ममता और दया की मूर्ति थी। माओ त्से-तुंग पिता की अपेक्षा अपनी माता के अधिक नजदीक थे। बचपन से माओ अपनी धुन के पक्के थे और जो काम करते थे सोच विचार कर करते थे। माओ-त्से-तुंग पाँच वर्ष की आयु से खेती के कामकाज में अपने पिता का हाथ बँटाने लगे थे। सात वर्ष की आयु में उन्हें एक निजी शिक्षक के यहाँ लिखना पढ़ना सीखने के लिए भेजा गया ताकि वह हिसाब किताब रख सके और चिट्ठी-पत्री लिख सके, लेकिन माओ का मन किताबों में रम गया। 14 वर्ष की आयु में 1907 में माओ का अपने से चार वर्ष बड़ी लड़की से पहला विवाह हुआ। माओ ने स्वीकार किया कि अपनी पहली पत्नी से उनकी कभी नहीं पटी और अन्त में उन्होंने उससे विवाह-विच्छेद कर लिया। 1911 में वह ऐंट्रेंस परीक्षा में सफल हुए। माओ को देशव्यापी निर्धनता, भ्रष्टाचार और शोषण का अहसास था। वे विदेशियों द्वारा बार किए गए राष्ट्रीय अपमान से परिचित थे। इन सबने उन्हें राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का इतिहास पढ़ने के लिए प्रेरित किया। 18 वर्ष की आयु में उन्होंने इस शताब्दी की चीन की पहली क्रान्ति देखी और उसमें भाग लिया और सेना में भर्ती हो गए। सुनयात सेन के नेतृत्व में 1911 में हुई इस क्रान्ति ने 267 वर्ष पुराने मांचू साम्राज्य को उखाड़ फैंका। सुन के राष्ट्रपति बनने पर माओ ने सेना छोड़ दी। उसके बाद उनका जीवन कुछ समय के लिए अव्यवस्थित रहा और अन्त में उसने हुनान स्टेट कॉलेज में प्रवेश लेकर डिग्री प्राप्त की। 1918 में वे पीकिंग गए और विश्वविद्यालय पुस्तकालय में नौकरी कर ली। यहीं वे चीन के बुद्धिजीवियों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के निकट सम्पर्क में आए। 1920 में उन्होंने हुनान में एक साम्यवादी संगठन की स्थापना की।

डॉ. सुनयात सेन के निधन पर 1925 में च्यांग काई शेक ने कोमिंटांग का नेतृत्व सम्भाला। सोवियत संघ ने इस आशा से च्यांग का समर्थन किया कि वे उत्तरी चीन के युद्ध-लोलुपों को उखाड़ फैंकने में समर्थ होंगे, किन्तु जब च्यांग ने शंघाई के कम्युनिस्टों पर प्रहार किया तो च्यांग और कम्युनिस्टों के बीच फूट पड़ गई। सितम्बर, 1927 में माओ ने च्यांगशा में विफल कृषक क्रान्ति का नेतृत्व किया। माओ अपने सहयोगियों सहित च्यांग कांग पर्वतमाला में शरण लेने पर विवश हुए। अगस्त, 1929 में माओ ने क्यांगसी में सोवियत साम्राज्य की स्थापना की। इसके बाद माओ और उसके साथियों को कदम-कदम पर मुसीबतों का सामना करना पड़ा। 1931-33 के बीच च्यांग काई शेक ने कम्युनिस्टों के सफाए के लिए ऐतिहासिक अभियान संचालित किया। माओ की दूसरी पत्नी को कोमिंटांग ने मृत्यु दण्ड दिया। च्यांग की सेना का दबाव इतना अधिक बढ़ गया कि कम्युनिस्टों को लम्बे कूच का निर्णय करना पड़ा। अक्टूबर, 1934 में कोई 90,000 स्त्री पुरुष तथा बच्चों ने शस्त्रास्त्रों और रसद सहित माओ के नेतृत्व में 6,000 मील लम्बी यात्रा आरम्भ की। इनमें से केवल 8,000 ही 1935 में येनान स्थित माओ की अपेक्षा सुरक्षित अड्डे तक पहुँच गए। अनेकों की मृत्यु हो गई और अन्य साथ छोड़ गए। स्वयं माओ को किसानों के संरक्षण में अपने बच्चे छोड़ने पड़े जिनसे वह फिर कभी नहीं मिल सका, किन्तु इस अभियान से माओ को ठोस अनुभव प्राप्त हुआ। उसे किसानों की कठिनाइयों का बोध हो गया और वह जान गया कि उनके असन्तोष से किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है। 1946 में चीन में व्यापक गृहयुद्ध छिड़ गया।

च्यांग के पास यद्यपि विशाल सेना थी, किन्तु वह माओ के सैनिकों के छापामार युद्ध का मुकाबला नहीं कर सका। जनवरी, 1949 में कम्युनिस्टों का पीकिंग पर अधिकार हो गया। उसके बाद नानकिंग का पतन हुआ और अक्टूबर, 1949 में माओ ने चीनी जनवादी गणराज्य की स्थापना की घोषणा की। उसी वर्ष वह अपनी प्रथम विदेश यात्रा पर मास्को गया। उसने दूसरी और अन्तिम विदेश यात्रा 1957 में की जो मास्को की थी। गणराज्य की स्थापना के बाद माओ चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का अध्यक्ष और राष्ट्राध्यक्ष बना। 1958 में उसने राष्ट्राध्यक्ष का पद ल्यू शाओ ची के पक्ष में छोड़ दिया। 1959 के बाद शेष विश्व के प्रति चीन का रुख उत्तरोत्तर आक्रामक होता गया जो इसका प्रतीक था कि माओ की नीति आन्तरिक मामलों की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की ओर झुक रही थी। 1963 से अध्यक्ष माओ अपनी क्रान्ति की धारणा का एशियाई, अफ्रीकी और लेटिन अमेरिकी देशों के मुक्ति आन्दोलनों के

लिए निर्यात करने लगा। सोवियत संघ से चीन के सम्बन्ध उत्तरोत्तर बिगड़ते गए और इस बिगाड़ का प्रभाव चीनी नेतृत्व पर पड़ा। यद्यपि 1961 में माओ ने लॉर्ड मॉंटगोमरी से कहा था कि वह 73 वर्ष से अधिक जीना नहीं चाहता, किन्तु वह यह सहन नहीं कर सका कि उसके नेतृत्व को कोई चुनौती दे और 73 वर्ष पूरा करने के पहले उसने एक और क्रान्ति का नेतृत्व किया। यह थी 1966 की महान् सांस्कृतिक क्रान्ति जिसमें माओ के लाल रक्षकों ने माओ विरोधियों को चुन-चुनकर मौत के घाट उतार दिया। उसके मृत्यु पर्यन्त (रात्रि 8, 9 सितम्बर, 1976) वह अपनी लगातार बीमारी के बावजूद चीन का नेतृत्व करता रहा।

चीनी मार्क्सवाद (माओवाद) के प्रमुख सिद्धान्त

माओवाद चीन की परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्सवाद-लेनिनवाद का माओवादी चीनी-संस्करण है। माओ ने अपने मनचाहे ढंग से मार्क्सवाद-लेनिनवाद को प्रतिपादित किया और उसे चीन में ऐसी व्यावहारिक दिशा प्रदान की जिसमें न केवल पूँजीवादी विश्व को बल्कि स्वयं साम्यवादी जगत् को खतरा पैदा हो गया है। चीन में माओ को देवता तुल्य, वर्तमान शताब्दी का सर्वाधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति और मार्क्सवाद-लेनिनवाद का सर्वोत्तम प्रवक्ता तथा उसके विचारों का रंचमात्र विरोध पाप और अपराध माना जाता था, परन्तु अब ऐसा नहीं है। माओ के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार है—

1 सशस्त्र क्रान्ति आज उतनी आवश्यक है जितनी मार्क्स या लेनिन के समय में थी। माओ का मार्ग है—क्रान्ति द्वारा गृह-युद्ध भड़काना और चोट पर चोट करते हुए अन्ततोगत्वा साम्यवादियों द्वारा सत्ता पर अधिकार जमा लेना। माओ की दृष्टि में सर्वहारा वर्ग क्रान्ति की संचालक शक्ति है और इस वर्ग को शक्ति प्रयोग के लिए छापामार युद्धों का आश्रय लेना चाहिए। *चीन के गृह-युद्ध अर्थात् च्यांगकाई शेक के विरुद्ध संघर्ष में माओ ने छापामार युद्धों की प्रभावशीलता को* सिद्ध कर दिखाया और आज यह एक बहुत महत्वपूर्ण युद्ध प्रणाली के रूप में सुप्रतिष्ठित है। माओ ने स्टालिनोत्तर रूसी शासकों पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया और कहा कि वे क्रान्ति के पथ से विचलित हो गए हैं। माओ की एक बड़ी देन यह मानी जा सकती है कि उसने क्रान्ति के नेतृत्व में किसानों को सम्मिलित किया। यद्यपि रूसी क्रान्ति में किसान सम्मिलित थे, लेकिन नेतृत्व केवल श्रमिकों के हाथ में था।

2. माओवाद सामन्तवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का घोर विरोधी है। वह पूँजीवाद के शव पर साम्यवाद का महल खड़ा करना चाहता है। माओ की मान्यता के अनुसार दो महायुद्ध पाश्चात्य पूँजीवाद को जर्जरित कर चुके है, अब उसे एक और प्रबल धक्का देना है और यह लड़खड़ाती हुई दीवार अपने आप गिर जाएगी। साम्यवादियों को चाहिए कि वे पूँजीवादी देशों में क्रान्तियों, युद्धों और संघर्षों को भड़काएँ। माओ के अनुसार यद्यपि पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही व्यवस्थाओं में अन्तर्विरोध है, लेकिन इनमें एक आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ पूँजीवाद के अन्तर्विरोध का अन्त केवल युद्ध और क्रान्ति द्वारा हो सकता है, वहाँ समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध शान्तिपूर्वक दूर किए जा सकते हैं।

3 माओवाद शक्ति का दर्शन (Philosophy of Power) है। राजनैतिक शक्ति के सम्पूर्ण प्रयोग से मनुष्यों के हृदय परिवर्तन कर सभी सामाजिक शक्तियों को नियन्त्रित किया जा सकता है। माओ के शक्तिवादी विचार मार्क्स की इन मौलिक धारणा के प्रतिकूल थे कि आर्थिक परिस्थितियाँ मानव-विचारों और संस्थाओं का निर्माण करती हैं। माओ का कहना था कि विचारों से समाज का निर्माण होता है और विचारों के बाद सैनिक शक्ति का महत्व है। सैनिक शक्ति तथा राजनैतिक शक्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से उत्पन्न होती है और बन्दूक से कोई वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।

4 माओवाद युद्ध की अनिवार्यता और शक्ति के प्रयोग का सन्देश देता है। माओ के लिए शान्ति तथा सहअस्तित्व की धारणा का कोई महत्व नहीं है। माओ के अनुसार अगला महायुद्ध सम्पूर्ण साम्राज्यवादी पूँजीवाद का पूर्ण रूप से विध्वंस करने वाला होगा। प्रथम महायुद्ध ने सोवियत क्रान्ति की भूमिका का निर्माण किया, द्वितीय महायुद्ध के बाद चीन की क्रान्ति सम्पन्न हुई और अब तृतीय महायुद्ध सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद के प्रादुर्भाव के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण कर देगा।

5. उस समय विश्व विरोधी शिविरों में विभाजित था। एक ओर साम्राज्यवादियों का शिविर था जिसमें अमेरिका और उसके साथी *तथा अन्य प्रतिक्रियावादी देश थे। दूसरा शिविर साम्राज्य-विरोधियों का है जिसमें साम्यवादी जगत्* और चीन थे। इन दोनों शिविरों से पृथक् तटस्थ राष्ट्रों का कोई स्थान नहीं। तटस्थता केवल धोखे की गुड़िया है। यदि भारत ने माओ के इस विचार का सही मूल्यांकन किया होता तो वह चीन के निर्लज्ज आक्रमण के प्रति आरम्भ से धोखे में न रहता। सोवियत संघ के विखण्डन से माओवादी विचारधारा विशृंखलित हो गई और रूस पूँजीवादी राष्ट्र *अमेरिका* की ओर झुका।

6 माओवाद लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद (Democratic Dictatorship) का पक्ष-पोषण करता है। उसकी रचनाओं 'New Democracy', 'On Coalition Government', 'The Present Position and Task Ahead', 'The Peoples Democratic Dictatorship' आदि के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि माओवाद साम्यवादियों के लिए लोकतन्त्र और गैर साम्यवादियों के लिए अधिनायकतन्त्र है और यह मिलकर लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद हो जाता है। माओवाद लोकतन्त्रात्मक इसलिए है कि यह 'जनता' के हितों की पूर्ति के लिए शासन करता है और अधिनायकवाद इसलिए है कि यह क्रान्ति विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए निरंकुश शक्ति का प्रयोग करता है। माओ को उदारवाद, सहअस्तित्व जैसे शब्दों से घृणा है। माओ के दर्शन में प्रतिक्रियावादियों और गैर साम्यवादियों के प्रति उदारता के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्हें विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। माओ की दृष्टि में राज्य एक विशेष वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन करने का साधन है, अत राज्य का कर्तव्य है कि श्रमिक वर्ग के हितों के विरोधी तत्वों को निर्ममतापूर्वक कुचल दो।

7 माओ व्यक्ति-पूजा का प्रतिष्ठापक है लेनिन ने यह स्वीकार किया था कि दल के उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन केवल उच्च स्तर के व्यक्ति कर सकते है, किन्तु उसने व्यक्ति-पूजा स्वीकार नहीं किया, पर माओ की 'कथनी और करनी' में अन्तर था। माओ ने एक ओर तो 'सैकड़ों फूलों के एक साथ खिलने' की बात कही, पर दूसरी ओर अपने कठोर अधिनायकवाद की इस प्रकार स्थापना की कि चीन में माओ सबसे बड़ा देवता अर्थात् भगवान बन गया। केवल माओ की तानाशाही रही जिसका हर शब्द अन्तिम सत्य का उद्बोधक था। माओ ने अपने विरोधियों को सांस्कृतिक क्रान्ति के नाम पर खत्म कर देने में कोई कसर नहीं रखी। चीनी गणराज्य के अध्यक्ष लियो शाओ ची और चीन के सुरक्षा मन्त्री लिन-प्याओ जैसे शक्तिशाली भी इस सांस्कृतिक क्रान्ति के शिकार हुए। माओ ने चीन का 'माओकरण' करने का पूरा प्रयत्न किया और 'माओ की लाल पुस्तक' का पाठ घर घर में किया जाना अनिवार्य बना दिया। इस लाल पुस्तक के कुछ नियम इस प्रकार है—(1) युद्ध में शस्त्र की तुलना में मनुष्य का महत्व अधिक है, क्योंकि निर्णायक वस्तु मनुष्य है न कि शस्त्र, (2) सेना में राजनीति को अन्य सैनिक कार्यों की तुलना में प्राथमिकता दी जानी चाहिये, (3) माओवाद सच्ची राजनीति तथा सच्चा अर्थशास्त्र है अत इसे सर्वोपरि महत्व दिया जाना चाहिये, (4) माओवाद सच्चा आदर्शवाद है एव (5) जीवन्त विचारों और रचनात्मक व्यावहारिकता को कोरे किताबी, काल्पनिक तथा सिद्धान्तवादी विचारों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

माओ के अनुसार प्रत्येक चीनी साम्यवादी को इन चार इच्छाओं को स्वीकार करना चाहिये—(1) सबसे अच्छा साथी वह है जो राजनीतिक वैचारिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। (2) उसी साथी को श्रेष्ठ मानना चाहिए जो तीन-आठ (त्रि-अष्टक) की कार्य प्रणाली के लिए उत्तम हो। इस त्रि-अष्टक का अभिप्राय तीन प्रवृत्तियों और आठ चारित्रिक गुणों से है—(अ) अपनी सही राजनीतिक प्रकृति को पकड़े रखना, (आ) अपने कर्तव्य-पालन में श्रम और सादगी का परिचय देना, (इ) अपनी युक्तियों में लचीलापन कायम रखना। आठ चारित्रिक गुणों में एकता, सतर्कता, निश्चयात्मकता, सक्रियता आदि सम्मिलित है (3) वह साथी श्रेष्ठ है जो सैनिक प्रशिक्षण की दृष्टि से उत्तम हो एव (4) जो सैनिकों के लिए जीवन व्यवस्था करने में निपुण हो।

8 माओ ने समाजवादी क्रान्ति के लिए जिस पद्धति को विकसित किया उसे 'दुन दुन (Fight, Fight), टा, टा, टा, टा (Talk, Talk, Talk, Talk) सिद्धान्त कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि सर्वप्रथम विरोधी पर आक्रमण कर उसे इतना निर्बल बना देना चाहिए, कि वह लड़ने के सिद्धान्त को छोड़कर मेज पर बातचीत के लिए तैयार हो जाए। कुछ दिनों तक समझौता-वार्ता चलनी चाहिए, लेकिन समझौते की शर्तें ऐसी रखी जानी चाहिए कि शत्रु उन्हें स्वीकार करने को तत्पर न हो। उसके ऐसा करने पर उस पर शान्ति भग का आरोप लगाना चाहिए और इस आरोप का प्रचार करना चाहिए। इसी समय शत्रु पर पुन भयकर आक्रमण कर उसके प्रदेशों पर अधिकार कर लेना चाहिये। सक्षेप में पहले लड़ो, फिर निर्बल बनाकर बात-चीत करो और तब वार्ता भग करके पुन लड़ो और अधिकार जमा लो।

माओ के कुछ अन्य विचार

ज्ञान—अपने सामाजिक व्यवहार में मनुष्य विभिन्न प्रकार के संघर्षों में व्यस्त रहता है और अपनी सफलताओं और असफलताओं से प्रचुर अनुभव प्राप्त करता है। मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियों—आँख कान नाक, जीभ और त्वचा—के जरिए उसके मस्तिष्क पर वस्तुगत बाह्य जगत् की असख्य घटनाओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ज्ञान शुरू में इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। धारणात्मक ज्ञान अर्थात् विचारों की स्थिति में तब तक पहुँचा जा सकता है जब इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान काफी मात्रा में प्राप्त कर लिया जाता है। यह ज्ञान-प्राप्ति की एक प्रक्रिया है तथा ज्ञान प्राप्ति की समूची प्रक्रिया मंजिल है—एक ऐसी मंजिल जो हमें वस्तुगत पदार्थ से मनोगत चेतना की ओर ले जाती है। मनुष्य का ज्ञान व्यवहार की कसौटी के जरिए छलाँग भर कर एक नई मंजिल पर पहुँच जाता है। यह छलाँग पूर्ववर्ती छलाँग से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि यही ज्ञान प्राप्ति की पहली छलाँग अर्थात् वस्तुगत बाह्य जगत् को प्रतिबिम्बित करने के बीच बनने वाले विचारों, सिद्धान्तों, नीतियों, योजनाओं अथवा उपायों का सही अथवा गलत होना साबित करती है। सच्चाई को परखने का दूसरा कोई तरीका नहीं है। सही ज्ञान की प्राप्ति केवल पदार्थ से चेतना की तरफ जाने और फिर चेतना से पदार्थ की तरफ लौटने की प्रक्रिया को, अर्थात्

व्यवहार से ज्ञान की ओर, और ज्ञान से व्यवहार की ओर आने की प्रक्रिया को बार-बार दोहराने से होता है। यही मार्क्सवाद का ज्ञान-सिद्धान्त अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ज्ञान-सिद्धान्त है।

आध्यात्म—आदर्शवाद और आध्यात्मवाद दुनियाँ में सुगम चीजें हैं क्योंकि इन्हें मानने वाले वस्तुगत यथार्थ को आधार बनाए बिना अथवा वस्तुगत यथार्थ की कसौटी पर परखे बिना मनचाहे अनर्गल बातें कर सकते हैं। दूसरी तरफ भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद वास्तव में प्रयत्न साध्य चीजें हैं। इसमें वस्तुगत यथार्थ को आधार बनाना और उस कसौटी पर परखना जरूरी है। यदि कोई प्रयत्न नहीं करेगा तब उसके लिए *आदर्शवाद और आध्यात्मवाद के गड्ढे में गिरने की* सम्भावना बनी रहेगी।

विश्लेषण—जब हम किसी चीज का अध्ययन करें तो हमें उसकी अन्तर्वस्तु की परीक्षा करनी चाहिए, उसके बाह्य रूप को *अन्तर्वस्तु की देहरी तक पहुँचने के लिए* मार्गदर्शक मानना चाहिए तथा एक बार देहरी पर कदम रखने पर हमें उस चीज की अन्तर्वस्तु को दृढ़ता से पकड़ लेना चाहिए। विश्लेषण की यही पद्धति एक विश्वसनीय और वैज्ञानिक पद्धति है।

अन्तर्विरोध—किसी वस्तु के विकास का मूल कारण उसके बाहर नहीं बल्कि उसके भीतर होता है। उसके आन्तरिक अन्तर्विरोध में निहित होता है। ये आन्तरिक अन्तर्विरोध हर वस्तु में निहित होते हैं इसलिए हर वस्तु गतिमान और विकासशील होती है। किसी वस्तु के भीतर विद्यमान अन्तर्विरोध उसके विकास का मूल कारण होता है जबकि उसके और अन्य वस्तुओं के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध और पारस्परिक प्रभाव उसके विकास के गौण कारण होते हैं।

अनुशासन—जनता में जनवाद केन्द्रीयता से जुड़ा रहता है और आजादी अनुशासन से। ये दोनों एक ही वस्तु के दो विपरीत पहलू हैं जो परस्पर विरोधी हैं और एकताबद्ध भी तथा हमें इनमें से एक को दबाकर दूसरे पर एकपक्षीय ज़ोर नहीं देना चाहिए। जनता का काम आजादी, अनुशासन, जनवाद, केन्द्रीयता के बिना नहीं चल सकता। हमारी जनवादी केन्द्रीयता जनवाद और केन्द्रीयता की एकता तथा आजादी और अनुशासन की एकता से बनती है। इस व्यवस्था में जनता व्यापक जनवाद और आजादी का उपभोग करती है लेकिन उसे समाजवादी अनुशासन की मर्यादाओं के अन्तर्गत रहना पड़ता है।

नौजवान—यह दुनिया तुम्हारी है यह हमारी है लेकिन अन्ततोगत्वा यह तुम्हारी ही होगी। तुम नौजवान लोग ओजस्विता और जीवन शक्ति से भरपूर सुबह के नौ बजे के सूरज की तरह अपनी जिन्दगी की पुरबहार मौसम में हो। हमारी आशाएँ तुम पर लगी हुई हैं। हमें यह समझाने में अपने तमाम नौजवानों की मदद करनी चाहिए कि हमारा देश अब बहुत गरीब है। हम थोड़े से समय में इस स्थिति को बुनियादी रूप में नहीं बदल सकते तथा मात्र अपनी युवा पीढ़ी और समस्त जनता के संयुक्त प्रयत्नों द्वारा और स्वयं अपने भुजबल के भरोसे काम करके कुछ दशाब्दियों में हम अपने देश को मजबूत और समृद्ध बना सकते हैं। समाजवादी व्यवस्था कायम होने से भविष्य के एक आदर्श समाज तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त हो गया है किन्तु इस आदर्श को वास्तविक रूप देने के लिए हमें कठिन परिश्रम करना होगा।

स्त्रियाँ—काम करने लायक हर स्त्री को समान काम के लिए समान वेतन के सिद्धान्त के अन्तर्गत श्रम के मोर्चे पर तैनात होने का मौका दो। यह कार्य यथाशीघ्र हो जाना चाहिए।

साहित्य—कला एवं साहित्य की समालोचना के दो मापदण्ड होते हैं—एक राजनीतिक मापदण्ड और दूसरा कलात्मक मापदण्ड। सभी वर्ग समाजों में हर वर्ग अपने स्वयं के राजनीतिक और कलात्मक मापदण्ड होते हैं लेकिन सभी समाजों में सभी वर्ग हमेशा राजनीतिक मापदण्ड को प्रमुख स्थान देते हैं और कलात्मक मापदण्ड को गौण। हम जिस चीज की माँग करते हैं वह राजनीति और कला की एकता, विषय-वस्तु और रूप की एकता, क्रान्तिकारी राजनीतिक विषयवस्तु और यथासम्भव अधिक पूर्ण कलात्मक रूप की एकता। वे कलाकृतियाँ जिनमें कलात्मक प्रतिभा का अभाव होता है बिल्कुल शक्तिहीन होती हैं फिर चाहे वे राजनीतिक दृष्टि से कितनी प्रगतिशील क्यों न हों। इसलिए हम ऐसी कलाकृतियों के सृजन का जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण गलत होता है तथा पोस्टरबाजी एवं नारेबाजी जैसी शैली की उन कलाकृतियों का, जिनका राजनीतिक दृष्टिकोण तो सही होता है किन्तु जिनमें कलात्मकता का अभाव हो वह कृतियाँ कितनी ही प्रगतिशील क्यों न हो, विरोध करते हैं। साहित्य और कला के प्रश्न पर हमें इन दोनों मोर्चों पर संघर्ष करना चाहिए।

अध्ययन—ज्ञान एक वैज्ञानिक वस्तु है और इस मामले में बेईमानी या घमण्ड की अनुमति नहीं दी जा सकती। उल्टा ईमानदारी और नम्रता का दृष्टिकोण निश्चित रूप से आवश्यक है। आत्मतुष्टि अध्ययन का शत्रु है। जब तक हम आत्मतुष्टि से नाता नहीं तोड़ लेंगे, तब तक हम कुछ नहीं सीख पाएँगे। हमें सीखने के लिए लालायित रहने और सिखाने का अथक परिश्रम करने का रवैया अपनाना चाहिए।

संस्कृति और समन्वय—मूलभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से संसार के सभी राष्ट्रों की कला एक है लेकिन हर देश की कला का एक विशेष राष्ट्रीय रूप और उसकी राष्ट्रीय शैली होती है किन्तु इसे कुछ व्यक्ति नहीं समझते। वे अपनी कला के राष्ट्रीय गुणों की अवहेलना करते हैं और पश्चिम की अन्धभक्ति यह स्वीकार करते हैं कि पश्चिम हर प्रकार से उत्तम है। वे पूर्ण पश्चिमीकरण की वकालत करते हैं—चीनी कला, चीनी संगीत, चित्रकला, नाटक गान और नृत्य और साहित्य

सबका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। चीनी संस्कृति को अस्वीकार करके जो लोग पूर्ण पश्चिमीकरण का आग्रह करते हैं उनका कहना है कि चीनी चीजों के अपने नियम नहीं हैं, इसलिए वे उनका अध्ययन करने या उनका विकास करने के लिए प्रस्तुत नहीं है। यह चीनी वस्तु के प्रति राष्ट्रीय नकारात्मकता की प्रवृत्ति है। हमें अन्य देशों की संस्कृति सीखनी चाहिए और उनमें दक्षता प्राप्त करना चाहिए। हमारे लिए विशेष रूप से यह आवश्यक है कि मूलभूत सिद्धान्त में निपुणता प्राप्त करें। मार्क्सवाद एक मूलभूत सिद्धान्त है जिसका जन्म पश्चिम में हुआ है। इस सम्बन्ध में हम यह अन्तर कैसे करेंगे कि क्या चीनी है क्या पश्चिमी? अतएव हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जहाँ आधुनिक संस्कृति का प्रश्न है, पश्चिम का मापदण्ड हमसे ऊँचा है। हम पीछे छूट गए हैं।

मूल्यांकन

माओ त्से तुंग क्रान्तिद्रष्टा और क्रान्तिकारी किसान थे। यदि माओ न होते तो चीनी क्रान्ति न होती। अंग्रेजी या हिन्दी में रिवोल्यूशन या *क्रान्ति का जो अर्थ है चीनी में, ग मिंग शब्द का उससे भिन्न अर्थ है—शासक वंश को शासन* करने के दैवी अधिकार से वंचित कर देना शुद्ध राजनीतिक अर्थ है। शताब्दियों से चीनी किसान दबा हुआ था। उसे समाज में कोई अधिकार प्राप्त न था। समय-समय पर उसने राजवंशों को गद्दी से उतार दिया था, परन्तु इससे कोई परिवर्तन नहीं आया था। सभी चतुर सिद्धान्तवादियों की भाँति चीनी सिद्धान्तवादियों ने राजवंशों के पतन को लेकर एक *सिद्धान्त गढ़ रखा था। यह ईश्वरेच्छा सिद्धान्त है अर्थात् यह ईश्वर की इच्छा थी कि अमुक राजवंश का पतन हो, सो* वह हुआ। इस सिद्धान्त से स्वयं को सन्तुष्ट कर चीन का ब्राह्मण वर्ग निश्चिन्त हो जाता था, परन्तु किसान पिसता रहता था और माओ और उसकी कम्युनिस्ट पार्टी ने यह स्थिति बदल दी। सन् 1926 में उसने सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि किसान आगामी क्रान्ति का वाहक होगा। उन्होंने किसान को बताया कि साम्राज्यवादी (जो उस समय केवल बीस लाख थे) *क्रान्ति करनी होगी, बाकी सब साम्राज्यवादियों की पूजा करते रहेंगे। राजवंशों को नष्ट करने से कुछ नहीं होगा।* आवश्यक यह है कि राज्य की पुरानी व्यवस्था को तोड़ दिया जाए। चीनी किसान ने माओ के सन्देश को समझा और उसका अनुसरण किया। माओ का विलक्षण योगदान यही है कि उसने विशाल चीनी किसान-समाज में जनवादी चेतना उत्पन्न की। 18 वर्ष के भीतर साठ करोड़ चीनी किसानों ने जनशक्ति का रूप ग्रहण कर लिया और समाज की काया *पलट दी, जैसा चीनी इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था।*

माओ ने क्रान्ति के दो अर्थ दिए—प्रथम, क्रान्ति शासकवर्ग को शासनाधिकार से वंचित करती है, द्वितीय, क्रान्ति शासन के विचारों और मूल्यों को अमान्य करती है। माओ इसके लिए बहुत उत्सुक था कि चीनी क्रान्ति का दूसरा विच्छेद पुराने विचारों पुरानी आदतों, पुरानी रीतियों और पुरानी संस्कृति से सम्बन्ध करे। माओ का प्रमुख *योगदान अधिरचना के मार्क्सवादी सिद्धान्त* को समग्र कर व्यवहार में परिणत करना था। वह पहला कम्युनिस्ट था जिसने ऐसा किया। उसके जीवन के अन्तिम वर्ष पुराने ढाँचे के खिलाफ क्रान्तिकारी संघर्ष का संगठन करने में बीते। उसके निरन्तर क्रान्ति के प्रयोग, उसके जन-अभियान, अधिरचना पर आक्रमण जारी रखने के लिए उसके पार्टी के परे जाने के प्रयत्न इसी 'दूसरे विच्छेद' के उद्देश्य थे। उन्होंने बहुत स्पष्ट रूप से देखा था कि दूसरा विच्छेद कायम रह *सकता है।*[1]

दुर्भाग्यवश माओ के अतिशय क्रान्तिकारी और विस्तारवादी विचार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हुए। आज के आणविक युग में माओवाद जैसी शक्ति, हिंसा और वर्ग संघर्ष को अत्यधिक प्रोत्साहन देने वाली विचारधारा मानवता को महाविनाश के कगार पर ला सकती है। हिटलर और मुसोलिनी की तरह 'युद्ध और शक्ति के *गीत गाना*' भयोत्पादक है। माओ ने इस तथ्य की उपेक्षा कर दी थी कि मार्क्सवादी साम्यवाद की जन्मभूमि सोवियत रूस तक समय की गति को पहचान कर सहअस्तित्व की बात करने लगा है और 'युद्ध की अनिवार्यता' में उसका विश्वास शिथिल पड़ने लगा है। माओ भूल गए कि आणविक युद्ध में विजेता और विजित दोनों का महाविनाश होगा। शक्ति प्रदर्शन चाहे वह माओवादी हो या कोई अन्य वादी, निश्चित रूप से सम्पूर्ण मानवता के लिए घातक है और मार्क्स की इस मौलिक धारणा के विरुद्ध है कि आर्थिक शक्तियाँ मानव-विचारों और संस्थाओं का निर्माण करती हैं।

□□□

---

1 *गोविन्द पुरुषोत्तम देशपाण्डे* दिनमान सितम्बर, 1976

11

भारतीय राष्ट्रवाद

(Indian Nationalism)

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध राजनीतिक-राष्ट्रवादी चेतना के पनपने-फूलने और एक संगठित राष्ट्रीय आन्दोलन के उद्भव और विकास का काल था। इस काल में भारत में ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने देश में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय चेतना जाग्रत की। इनमें से महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी नेताओं की जानकारी आगे दी जा रही है।

दादाभाई नौरोजी

(Dadabhai Naoroji)

गोखले के अनुसार "वह उच्चतम कोटि की देश-भक्ति के एक पूर्णतम उदाहरण थे। काँग्रेस की स्थापना से पूर्व 40 वर्षों तक वे भारत में सार्वजनिक जीवन को संगठित करते रहे और काँग्रेस की स्थापना के बाद 20 वर्षों से अधिक समय तक वे राष्ट्रीय भारत के सर्वमान्य नेता रहे। जीवन के हर क्षेत्र में दादाभाई को सम्मान मिला और देशवासियों ने प्रेमपूर्वक उन्हें 'भारत का पितामह' (Grand Old Man of India) की उपाधि दी। दादाभाई भारत में राजनीतिक जागृति के अग्रदूत तथा अर्थशास्त्री थे जिन्हें लोकवित्त, वैदेशिक व्यापार, राष्ट्रीय आय जैसी समस्याओं में गहरी रुचि थी। उनका 'निर्गम का सिद्धान्त' (Drain Theory) भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक चिन्तन में उतना विस्फोटक बन गया था जितने मार्क्स के 'शोषण' और 'वर्ग संघर्ष' के सिद्धान्त मार्क्सवादी तथा समाजवादी क्षेत्रों में बन गए हैं।"[1]

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

दादाभाई नौरोजी (1825-1917) का जन्म मुम्बई में 4 सितम्बर, 1825 को हुआ। उनके पिता नौरोजी पालनजी दौर्दी एक गरीब पारसी थे और उनकी माता का नाम मानिक बाई था। उनके नाम के साथ जुड़ा 'भाई' (भ्राता) शब्द उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। दादाभाई का विवाह 11 वर्ष की अल्पायु में सोहराबजी श्राफ की कन्या गुलबाई के साथ हो गया। दादाभाई ने 'एलफिन्स्टन संस्थान' में अपनी शिक्षा प्राप्त की। स्कूल और कॉलेज के दिनों में उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी अनेक पारितोषिक जीते। दादाभाई के प्राध्यापक उनकी प्रतिभा से प्रभावित थे और प्रो. आर्लेबार ने उन्हें 'भारत की आशा' (The Promise of India) कहा था। दादाभाई नौरोजी की सार्वजनिक जीवन में रुचि शीघ्र ही प्रस्फुटित होने लगी। 1853 में अपने कुछ सहयोगियों सहित उन्होंने मुम्बई एसोसिएशन की स्थापना की। 1854 में वे एलफिन्स्टन कॉलेज में गणित और प्राकृतिक दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। वे प्रथम भारतीय प्राध्यापक थे जो देश के किसी सम्मानित कॉलेज में नियुक्त हुए थे। 1855 में उन्होंने कॉलेज से त्यागपत्र देकर व्यापार शुरू कर दिया। 1868 में अपने कुछ साथियों के सहयोग से उन्होंने लन्दन में ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन की स्थापना की जिसकी शाखाएँ मुम्बई, कोलकाता, चेन्नई आदि बड़े भारतीय नगरों में खोली गईं।

1873 में दादाभाई भारतीय वित्त के सम्बन्ध में नियुक्त फासेट प्रवर समिति (Fawcett Select Committee) के सम्मुख उपस्थित हुए। 1874 में बड़ौदा के दीवान बने। 1875 में वे मुम्बई कारपोरेशन के सदस्य बने और 1885 में मुम्बई प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषद (Bombay Provincial Legislative Council) के अतिरिक्त सदस्य (Additional Member) बने। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन को अपने राजनीतिक जीवन का कार्य-क्षेत्र बनाया ताकि वे वहाँ रहकर भारतीय हितों के लिए लड़ सकें। 1892 में केन्द्रीय फिन्सबरी से चुनाव लड़कर वे ब्रिटिश लोकसभा के सदस्य बने ताकि इस महान् सभा में वे भारत के हितों का समुचित ढंग से प्रतिनिधित्व कर सकें। वे ब्रिटिश संसद के 1892 से 1895 तक सदस्य रहे। इसके बाद उन्हें 'रायल कमीशन' के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया। यह

---

1 *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा :* आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ. 132.

कमीशन भारत सरकार के सैनिक-असैनिक खर्चों की जाँच के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाया गया था और इसमें दादाभाई का बड़ा हाथ था। दादाभाई और उनके सहयोगी चार्ल्स ब्रेडलाफ के निरन्तर प्रयत्नों के फलस्वरूप ब्रिटिश लोकसभा में यह प्रस्ताव पारित हो सका कि साम्राज्य सेवाओं (Imperial Services) के लिए इंग्लैण्ड और भारत में साथ-साथ परीक्षाएँ हों। वृद्ध पुरुषों में दादाभाई नौरोजी ने काँग्रेस से अपना नाता जोड़ा और जीवन-पर्यन्त उसकी सेवा की तथा उसे विकास की सीढ़ियों पर चढ़ाते हुए स्वराज्य प्राप्ति के उद्देश्य तक ले गए। वे 1886, 1893 और 1906 में क्रमशः कोलकाता काँग्रेस, लाहौर काँग्रेस और पुन कोलकाता काँग्रेस अधिवेशन के सभापति रहे। 40 वर्ष के अथक परिश्रम से उन्होंने काँग्रेस के जन्म से पूर्व भारत में संगठित सार्वजनिक जीवन को जन्म दिया और इसके उपरान्त पर्याप्त समय तक वे भारत के राष्ट्रीय नेता रहे। भारत में सम्पत्ति का ह्रास या निष्कासन (Economic Drain) उनके वक्तव्य का मुख्य विषय रहा था और उन्होंने सेना पर व्यय कम करने और स्वायत्त शासन, स्वदेशी और राष्ट्रीय सुरक्षा का समर्थन किया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारत में गरीबी और गैर-ब्रिटिश शासन' (Poverty and Un British Rule in India) के अन्तर्गत आर्थिक और राजनीतिक दोनों पहलुओं को लिया। यद्यपि ब्रिटिश शासन के प्रति, अपने जीवन की सन्ध्या में, दादाभाई का रवैया कठोर हो गया और उन्होंने स्वराज्य को काँग्रेस का ध्येय घोषित किया, लेकिन उन्होंने कभी क्रान्ति और हिंसात्मक उपायों का पक्ष नहीं लिया। उदार और सांविधानिक प्रयोगों में उनका आजीवन अटूट विश्वास बना रहा। दादाभाई ने त्याग और सेवामय जीवन व्यतीत किया तथा देशवासियों के समक्ष राष्ट्र को ऊँचा उठाने का महान् आदर्श रखा। 30 जून 1917 को इनका स्वर्गवास हो गया। भारत एवं इंग्लैण्ड ने दादाभाई को श्रद्धांजलि अर्पित की।

दादाभाई नौरोजी का राजनीतिक दर्शन

(Political Philosophy of Dadabhai Naoroji)

दादाभाई नौरोजी के राजनीतिक विचार तत्कालीन उदारवादी-मितवादी चिन्तन से प्रभावित थे। उन्हें ब्रिटिश न्याय-प्रियता में विश्वास था, लेकिन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे ब्रिटिश शासन के प्रति कठोर हो गए। ब्रिटिश उपेक्षावृत्ति और शोषणवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध तीखी आलोचना करने के बावजूद उदार और सांविधानिक उपायों में उनकी मृत्यु-पर्यन्त अटूट आस्था बनी रही। दादाभाई ने निरंकुश साम्राज्यवादी व्यवस्था को हेय मानते हुए शासन की नैतिक शक्ति में विश्वास प्रकट किया और भारतीय आकांक्षाओं तथा यहाँ की समस्याओं के प्रति ब्रिटिश जनता में स्वस्थ चेतना जाग्रत करने का भरसक प्रयत्न किया। उनके राजनीतिक विचारों को हम निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत अच्छे ढंग से स्पष्ट कर सकते हैं—

राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार का पोषण

दादाभाई नौरोजी का जीवन सात्विक मान्यताओं और उच्च आदर्शों से अनुप्राणित था। उन्होंने व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में नैतिक शक्ति का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि व्यक्ति चाहे राजनीतिक गतिविधियों में भाग ले अथवा जीवन का कोई कार्यक्षेत्र चुने, उसका आधार नैतिकता होनी चाहिए, क्योंकि नैतिकता किसी कार्य या किसी सत्ता को स्थायित्व दे सकती है। राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार की उन्होंने वकालात की और कहा कि न्याय, उदारता एवं मानवता की आधारशिलाओं पर राजनीतिक व्यवस्था की एकता कायम रखी जा सकती है। कोई राजनीतिक व्यवस्था, यदि वह पाशविक बल पर आधारित है तो कभी दीर्घजीवी नहीं हो सकती। नागरिकों की इच्छाओं और आकांक्षाओं में तादात्म्य हो, तभी राजनीतिक व्यवस्था के चिरस्थाई होने की आशा की जा सकती है। 1893 में लाहौर काँग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में नौरोजी ने कहा था कि किसी साम्राज्य का निर्माण अस्त्र-शस्त्रों के बल पर किया जा सकता है, लेकिन उसका परिरक्षण केवल शाश्वत नैतिक शक्ति के आधार पर सम्भव है अत सैनिक अथवा अस्त्रबल की अपेक्षा शुभ संकल्पों और पारस्परिक विश्वास को राजनीतिक शक्ति का आधार बनाया जाए। यदि इंग्लैण्ड ने पाशविक बल और उत्तेजना की नीति का अनुसरण किया तो यह उसे साम्राज्य विघटन की ओर अग्रसर करेगा।

ब्रिटिश चरित्र और शासन-व्यवस्था की प्रशंसा तथा निर्भीक आलोचना

दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश-प्रशासन, ब्रिटिश-संस्थाओं और ब्रिटिश-चरित्र की जहाँ उन्मुक्त हृदय से प्रशंसा की, वहाँ उसकी निर्भीक आलोचना भी की। उन्होंने विश्वास प्रकट किया कि यदि ब्रिटिश जनता अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठावान बनी रही और न्याय, निष्पक्षता तथा स्वाधीनता की अपनी परम्परागत परिपाटी के अनुसार कार्य करती रही तो भारत निश्चय ही स्वशासन-प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ सकेगा। 1906 में कोलकाता काँग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने अपने मत के मूल सिद्धान्त को निम्नांकित शब्दों में पुनः दोहराया—*"ब्रिटिश सरकार की अधीनता में हमारे साथ कोई बड़ा जुल्म नहीं होता। अन्य शासकों की तुलना में इस शासन में हम अधिक सुखी हैं। हमें जो बुराई इस शासन में दिखाई देती है या जिसकी हम शिकायत करते हैं, उसका मूल कारण हाल में आने वाले यूरोपीय अफसरों का अज्ञान है। इस देश में प्रचलित रस्म-रिवाजों, धार्मिक और सामाजिक विचारों तथा रीतियों के सम्बन्ध में यह अफसर ऐसे कानून*

और नियम बना सकते हैं, जो इस देश के लिए हानिकारक हों और इसके बावजूद वे अन्त तक यह समझते रह सकते है कि उन्होंने ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्य को निभाया है। उन्हें अधिकारी ठीक समझते है, लेकिन देशवासी गलत मानते है अतः यदि हम इस तरह की एक संस्था हो, हम सुधार के सुझाव दे सकते हैं।"[1] दादाभाई नौरोजी के अनुसार भारत की जनता को अपने दुखड़ों के आगे ब्रिटिश शासन की अच्छाइयों को नहीं भूलना चाहिए। इस देश में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व को मानकर आगे कदम उठाया जा सकता है, क्योंकि उसी पर हमारी आशाएँ निर्भर हैं। भारत का भाग्य ब्रिटिश शासन के साथ जुड़ा हुआ है और किसी अन्य शासन को हम अपने सिर पर नहीं लादना चाहते।

ब्रिटिश शासन के इस गुण-गान के पीछे दादाभाई के हृदय में गोरी हुकूमत का भय नहीं था। वह एक उदारवादी राजनीतिज्ञ थे जो भारत की आवाज, माँग और आवश्यकता को संयत भाषा में रखना चाहते थे। उन्होंने ब्रिटिश शासन के दोषों को उजागर किया, उनकी भाषा में चेतावनी, तीखेपन और आक्रोश की भी गूँज रही, लेकिन वह ऐसी कभी नहीं रही जिससे हिंसा या क्रान्ति को प्रोत्साहन मिले और इंग्लैण्ड तथा भारत की जनता के बीच कटुता बढ़े। दादाभाई ने ब्रिटिश शासन प्रणाली की कमियों की ओर संकेत करते हुए निर्भीकतापूर्वक कहा कि "वर्तमान शासन-प्रणाली भारतीयों के लिए विनाशकारी और निरंकुश है तथा इंग्लैण्ड के लिए आत्मघाती और उसके राष्ट्रीय चरित्र, आदर्शों एवं परम्पराओं के प्रतिकूल है। इसके विपरीत यदि सच्चे अर्थ में ब्रिटिश मार्ग अपनाया जाए तो इससे ब्रिटेन और भारत दोनों लाभान्वित होंगे।"[2] दादाभाई ने चेतावनी दी कि निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन स्थाई नहीं रह सकता, क्योंकि बुरी और दूषित शासन-व्यवस्था विनाश की ओर अग्रसर होती है। उन्होंने इस शासन-व्यवस्था को 'क्रूर स्वांग' की संज्ञा देते हुए इसमें आमूल परिवर्तन की माँग की। ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन के 2 मई, 1867 के समारोह में दादाभाई ने स्पष्ट किया कि यद्यपि ब्रिटिश शासन के कारण भारत को शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से लाभ पहुँचा है, लेकिन उपलब्ध आँकड़े यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि इंग्लैण्ड की शक्ति और समृद्धि को बढ़ाने में भारत का विशेष योगदान रहा है। दादाभाई ने यह बताया कि इंग्लैण्ड को भारत से प्रतिवर्ष कितना धन प्राप्त होता है और किस तरह भारतीय शासन में भारतीयों की भर्ती नहीं की जाती। दादाभाई ने सेल्सबरी के इन शब्दों को दोहराया कि "अन्याय बलवान से बलवान का नाश कर देगा।" 3 सितम्बर, 1880 को भारत के राज्य अवर सचिव लुई मालेट को अपने पत्र में उन्होंने लिखा कि भारतीय को ब्रिटिश महानता, न्यायप्रियता और चरित्र में विश्वास है, इसलिए वे (भारतवासी) ब्रिटिश शासन के भक्त बने हुए हैं। विश्व में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं हुआ है जिसने विजेता के रूप में अंग्रेजों की भाँति शासितों के कल्याण को अपना कर्तव्य माना हो। यदि वर्तमान निर्गम बन्द कर दिया जाए और देश के विधि-निर्माण कार्य में भारतीय प्रतिनिधियों को अपनी राय देने का अवसर प्रदान किया जाए तो भारत को ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक ऐसे भविष्य की आशा हो सकती है जो उनके इतिहास के महानतम और सबसे गौरवशाली युग से बढ़ा-चढ़ा हो।[3]

ब्रिटिश लोकमत को भारतीय समस्याओं के प्रति जगाने की चेष्टा और भावी अनिष्ट की स्पष्ट चेतावनी

दादाभाई ने भारत के पक्ष में अथक प्रचार किया। उन्हें विश्वास था कि यदि ब्रिटिश जनता को भारतीय स्थिति और भारतीय समस्याओं तथा मानव के प्रति सही जानकारी दी गई और भारत के बारे में ब्रिटिश जनता का अज्ञान मिटा दिया गया तो दोनों देशों के सम्बन्ध सुदृढ़ हो जाएँगे और दोनों को इससे स्थाई लाभ पहुँचेगा। उन्होंने अनुभव किया कि ब्रिटिश मित्रों के सहयोग के बिना भारत के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड में स्वस्थ लोकमत नहीं बनाया जा सकेगा और न ब्रिटिश संसद के सदस्य भारत के सुधारों की आवश्यकता समझ सकेंगे। अतः दादाभाई ने डब्ल्यू. सी. बनर्जी आदि के सहयोग से 'लन्दन इण्डियन सोसाइटी' की स्थापना की जिसका उद्देश्य अंग्रेजों और भारतीयों का सम्पर्क बढ़ाना था। 1 दिसम्बर, 1866 को 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' की स्थापना का उद्देश्य ब्रिटिश जनता और सरकार को ईस्ट इण्डिया से सम्बन्धित मामलों का सही ज्ञान कराना था और भारत के कल्याण में रुचि रखने वाले सभी लोग इसके सदस्य बन सकते थे। दादाभाई ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों और जनता के सामने सिविल सर्विस में भारतीयों के प्रवेश का प्रश्न उठाया और यह प्रस्ताव किया कि भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों स्थानों में सिविल सर्विस के लिए एक साथ प्रतियोगिता-परीक्षा आरम्भ करने की व्यवस्था हो। विपक्षी आलोचक प्रायः यह आपत्ति किया करते थे कि भारतीय उत्तरदायित्वपूर्ण पदों के योग्य नहीं हैं। उन्हें यह भ्रम था कि योग्यता, ईमानदारी और कार्य-क्षमता की दृष्टि से अंग्रेजों की तुलना में भारतीय अनुपयुक्त हैं, लेकिन दादाभाई नौरोजी को भारतीयों की योग्यता और कार्य-क्षमता में पूर्ण विश्वास था और वे नहीं चाहते थे कि यूरोपीय एशियाई जातियों के सम्बन्ध में जो अनर्गल बातें कहा करते थे, उन्हें दोहराएँ। दादाभाई ने 'भारत में भारतीय कर्मचारियों की कार्य-क्षमता के प्रमाण' नामक पुस्तिका प्रस्तुत करते हुए अकाट्य प्रमाण पत्र दिए जिनसे यह सिद्ध हो गया कि शासन

---

1 आर. सी. मसानी, वही, पृ. 25
2. Poverty and Un British Rule in India, p. 236.
3 Poverty and Un British Rule in India, p. 201-202.

के विभिन्न विभागों में उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त शिक्षक भारतीयों ने योग्यता और ईमानदारी से काम किया और कर रहे हैं। इस पुस्तिका के प्रतिष्ठित अधिकारियों की सम्मतियों का रोचक संग्रह था। दादाभाई ने स्पष्ट शब्दों में ब्रिटिश शासन और जनता को चेताया कि "भारत की सिविल सर्विस में भारतीयों को भर्ती न करना वैसा ही होगा, जैसा इंग्लैण्ड की सिविल सर्विस में अंग्रेजों को भर्ती न करना। अतः भारत की सिविल सर्विस में अंग्रेजों के समान ही भारतीयों को अधिकार मिलना चाहिए।"

दादाभाई नौरोजी ने कहा कि नैतिकता और संवैधानिक विधि दोनों का तकाजा है कि इंग्लैण्ड भारत पर भारतवासियों के कल्याण के लिए शासन करे। ब्रिटिश शासन का कर्तव्य है कि भारत में फैली हुई विपन्नता, निर्गम कार्यों आदि को दूर किया जाए। भारतीयों को राजनीतिक और आर्थिक कष्टों से छुटकारा दिलाने में ब्रिटिश-चरित्र की नैतिकता है। उन्होंने कहा कि दोनों के लिए यह लाभकारी है कि "भारत को अंग्रेजों के नियन्त्रण और निर्देशन के अन्तर्गत अपना प्रशासन स्वयं चलाने दिया जाए।"[1]

निरंकुश साम्राज्यवाद पर प्रहार

भारत और अंग्रेजों के हित एक-दूसरे के पूरक हैं—इस पर बल देते हुए दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश निरंकुश साम्राज्यवाद की नैतिक बुराइयों का पर्दाफाश किया। उन्होंने कहा कि साम्राज्यवाद न केवल मनोवैज्ञानिक बुराइयों का बल्कि गहरी वित्तीय हानियों का जनक है और यह कष्टकर स्थिति है कि भारत के आर्थिक साधनों का अन्धा-धुन्ध निर्गम होने से भारत की गरीबी बढ़ रही है, भारतीयों की जीवनी शक्ति का ह्रास हो रहा है। दादाभाई ने इस पर खेद प्रकट किया कि निरंकुश शासकों को औपनिवेशिक जनता के साथ अहंकार और अत्याचारपूर्ण व्यवहार करने की आदत पड़ गई है। दादाभाई ने भविष्यद्रष्टा की भाँति चेतावनी दी कि "इंग्लैण्ड ने सांविधानिक सरकार के लिए जो वीरतापूर्ण संघर्ष किए हैं उनका इतिहास गौरवपूर्ण है किन्तु वही इंग्लैण्ड अब भारत में अंग्रेजों का एक ऐसा वर्ग तैयार कर रहा है जो निरंकुश शासन में प्रशिक्षित तथा अभ्यस्त है जिसमें असहिष्णुता, अहंकार तथा निरंकुश शासन की स्वेच्छाचारिता के दुर्गुण घर कर गए हैं और जिन्हें इसके अतिरिक्त सांविधानिकता के पाखण्ड का प्रशिक्षण मिल रहा है। क्या यह सम्भव है कि जब ये अंग्रेज अधिकारी निरंकुशता की आदतों और प्रशिक्षण लेकर स्वदेश वापस जाएँगे, तो वे इंग्लैण्ड के चरित्र और संस्थाओं को प्रभावित नहीं करेंगे? भारत में काम करने वाले अंग्रेज भारतवासियों को उठाने के बजाय पतित होकर एशियाई निरंकुशवाद के स्तर तक पहुँच रहे हैं। क्या यह उस नियति का खेल है जो समय आने पर उन्हें दिखा देना चाहती है कि उन्होंने भारत में जो दुराचरण किया है उसका क्या फल हुआ है? अभी इंग्लैण्ड पर इस नैतिक अधःपतन का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है, किन्तु यदि समय रहते उसने इस कुप्रभाव को फैलने से नहीं रोका जो उसकी जनता को उत्तेजित कर रहा है तब प्रकृति उससे उस आचरण का बदला लेगी जो उसने भारत में किया है।"[2]

स्वशासन और स्वराज्य

दादाभाई को यह देखकर प्रसन्नता हुई कि भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना की जड़ें गहरी होती जा रही हैं और उन्होंने जो बीज बोए थे, अब उनमें फल निकलने लगे थे तथा एक नया भारत पैदा हो रहा था। दादाभाई को इस से क्षोभ हुआ था कि इतनी प्रार्थनाओं और सांविधानिक याचनाओं के बावजूद ब्रिटिश शासन भारत के प्रति प्रतिक्रियावादी नीति अपनाए हुए था, अतः उन्होंने भारतीय युवकों का आह्वान किया कि वे भारतीय शासन-प्रणाली के सुधार की माँग करें। 18 मार्च 1904 को 'भारत में कु-शासन' विषय पर दादाभाई ने एक प्रभावशाली भाषण दिया। इसके बाद स्वशासन की माँग की गई। लन्दन इण्डियन सोसाइटी में दादाभाई ने घोषणा की कि "वर्तमान अपमानजनक, दम्भी और विध्वंसात्मक शासन-प्रणाली को सुधारने का एक तरीका है—ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता के अधीन स्वशासन।" लॉर्ड कर्जन के 'बंग-भंग' से जब भारतीय जनता में असन्तोष की आग भड़क उठी तो लन्दन स्थित भारतीयों की एक सभा के अध्यक्ष पद से दादाभाई नौरोजी ने अपने जीवन का सम्भवतः सर्वाधिक जोशीला और सारगर्भित भाषण दिया। उन्होंने गर्जना की कि "भारतीयों ने एकमत होकर, पूरी ईमानदारी और शक्ति के साथ यह घोषणा कर दी कि वे इस समय जिस शासन प्रणाली के अधीन हैं उसे आगे कदापि नहीं चलाया जाना चाहिए। उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन-प्रणाली की बुराइयों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यह चेतावनी दी कि यदि यही स्थिति बनी रही तो देश में विद्रोह अवश्यम्भावी है।" दादाभाई ने अपने इस विख्यात भाषण में निम्नलिखित ऐतिहासिक और चिरस्मरणीय शब्द कहे—"50 साल से अधिक पहले माउण्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन ने कहा था कि भारतीयों पर उन सिद्धान्तों द्वारा शासन चलाना अनुचित है, जिनके आधार पर गुलामों और जंगली जातियों का शासन चलाया जाता है। दुर्भाग्य से

1 Poverty and Un-British Rule in India, p 219
2 वही पृ. 214-125 (विश्वनाथ प्रसाद वर्मा से उद्धृत, वही, पृ 130)

अंग्रेजों को उन अधिकारों को क्यों स्वीकार कर लेना चाहिए। दादाभाई की राजनीतिक पद्धति में शान्तिप्रियता, विवेक, सन्तुष्टि, संयम और अहिंसा की प्रधानता थी। वे यह नहीं चाहते थे कि कोई आन्दोलन हिंसात्मक रूप ग्रहण करे अथवा असन्तुष्ट एवं असंयत रूप में चले। दादाभाई यह जानते थे कि अंग्रेज भौंकने की नहीं अपितु काटने की भाषा समझते थे, लेकिन वे यह जानते थे कि भारतीय तत्कालीन परिस्थितियों में काटने की स्थिति में नहीं थे वे लगातार भौंक कर ब्रिटिश शासकों को जगाने का प्रयत्न कर सकते थे। दादाभाई को यह अनुभूति थी कि भारत की राजनीतिक मुक्ति के लिए संघर्ष बड़ा लम्बा चलेगा और इस लम्बे रास्ते की सीढ़ियाँ शनै-शनै एक-एक करके चढ़नी होंगी। अभी प्रारम्भिक स्थिति थी, अन्तिम संघर्ष की नहीं। संवैधानिक आन्दोलन की दादाभाई की धारणा गोखले और फीरोजशाह मेहता जैसे उदारवादियों की धारणा से अधिक और व्यावहारिक थी। दादाभाई के संवैधानिक आन्दोलन में स्वदेशी और बहिष्कार के लिए स्थान था। उन्होंने इन दोनों का प्रभावपूर्ण समर्थन किया और 'बंग-भंग' से उत्पन्न वातावरण में काँग्रेस की समिति से प्रस्ताव पारित करवाया जिससे काँग्रेस के उग्रवादी और अनुदारवादी दोनों पक्ष सन्तुष्ट हो गए। स्वराज्य की माँग और उसे पाने के लिए स्वदेशी तथा बहिष्कार के साधनों को स्वीकार करने के कारण दादाभाई [illegible] दोनों पक्षों के अधिक निकट समझे जाने लगे। दादाभाई अंग्रेजों की [illegible]पूर्ण नीति से निराश और [illegible] होकर अधिक उग्र हो गए और उनकी भाषा कठोर होती गई। उनकी आलोचना [illegible] ग्रहण करने वाली हो गई लेकिन दादाभाई ने अपना सन्तुलन नहीं खोया। उन्होंने क्रान्तिकारी और हिंसात्मक प्रवृत्ति को [illegible] ठुकराया तथा संवैधानिक आन्दोलन के मार्ग से वे विचलित नहीं हुए।

बाल गंगाधर तिलक

(Bal Gangadhar Tilak)

गाँधीजी ने कहा था कि "हमारे समय के किसी व्यक्ति का जनता पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना तिलक का। स्वराज्य के सन्देश का किसी ने इतने आग्रह से प्रचार नहीं किया जितना लोकमान्य ने।"[1] प्रारम्भिक दिनों के राष्ट्रीय मंच पर बाल गंगाधर तिलक का अद्वितीय स्थान था और स्नेह तथा सम्मान से उन्हें 'लोकमान्य', 'जनता के प्रिय नायक', सर्व सम्मानित' कहकर पुकारा जाता था– लोकमान्य तिलक का राजनीतिक मन्त्र—"स्वशासन मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा"—भारतीयों के होठों पर था। तिलक पहले नेता थे जिन्होंने राजनीतिक आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने के लिए धार्मिक जोश का प्रयोग किया।

जीवन परिचय (Life-Sketch)

लोकमान्य तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 को महाराष्ट्र के कोंकण जिले के रत्नागिरी स्थान पर ऐसे महाराष्ट्रीय चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था जिसका सम्बन्ध पेशवाओं से था। बाल्यावस्था से तिलक मेधावी और प्रखर बुद्धि के थे। 1879 में उन्होंने एल.एल. बी. की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। कॉलेज जीवन से ही उनकी रुचि सार्वजनिक कार्यों की ओर बढ़ती गई और जब उनसे पूछा गया कि गणित में एम. ए. न करके (चूंकि तिलक की गणित में अत्यधिक रुचि थी) वे कानून क्यों पढ़ रहे हैं उनका उत्तर था—"मैं अपना जीवन देश के जन-जागरण में लगाना चाहता हूँ और मेरा विचार है कि इस काम के लिए साहित्य अथवा विज्ञान की किसी उपाधि की अपेक्षा कानून का ज्ञान उपयोगी होगा। मैं ऐसे जीवन की कल्पना नहीं कर सकता जिसमें मुझे ब्रिटिश शासकों से संघर्ष न करना पड़े।"[2] अपने सार्वजनिक जीवन के चार दशकों में तिलक की शक्तियाँ विभिन्न गतिविधियों और कार्यों में प्रस्फुटित हुईं। एक शिक्षाशास्त्री के रूप में उन्होंने पूना न्यू इंग्लिश स्कूल, दक्षिण शिक्षा समाज (Deccan Education Society) तथा फर्ग्युसन कॉलेज के व्यवस्थापक के रूप में ख्याति अर्जित की। अपने परिश्रम से उन्होंने महाराष्ट्र में एक शैक्षणिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। ओरियण्टल सोसाइटी के लिए ज्योतिष शास्त्र के आधार पर वेदों की प्राचीनता सिद्ध करने वाले एक विद्वतापूर्ण निबन्ध 'वेदों का उद्गम स्थल उत्तरी ध्रुव' (The Arctic Home of the Vedas) के कारण देश-विदेश में उनकी ख्याति फैल गई। उनके 'गीता रहस्य' ग्रन्थ से उनकी ख्याति में वृद्धि हो गई थी।

लोकमान्य तिलक ने आर्थिक अन्याय के विरुद्ध लोहा लिया। 1896 के अकाल में लोगों को अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने की दिशा में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया और काँग्रेस के मंच से आर्थिक मामलों से सम्बन्धित अपने महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे जैसे—वित्तीय विकेन्द्रीकरण स्थायी बन्दोबस्त आदि। 1889 में काँग्रेस में अपने प्रवेश के बाद काँग्रेस के कार्य कलापों में तिलक ने भूमिका अदा की। उदारवादियों की नीतियों से असन्तुष्ट तिलक ने अपनी शक्ति महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को सुसंगठित करने में लगाई और भारतीय नवयुवकों में यह भाव भरने की चेष्टा की कि देश अपनी स्वतन्त्रता किसी की दया के बल पर नहीं, अपनी सामर्थ्य के बल पर अर्जित करे। "अपने 'केसरी' तथा 'मराठा' नामक पत्र तथा 'शिवाजी और गणपति उत्सवों' द्वारा उन्होंने जनता में देशभक्ति

---

1 2 दुर्गादास भारत कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात्, पृ 59-60

होकर पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति एवं चकाचौंध से प्रभावित होंगे। तिलक का मत था राजनीतिक अधिकारों के अभाव में देश अपनी सांस्कृतिक धारा को सुरक्षित नहीं रख सकता।

सामाजिक धार्मिक मामलों में नौकरशाही के हस्तक्षेप का विरोध

तिलक के अनुसार सामाजिक एवं धार्मिक मामलों में नौकरशाही का हस्तक्षेप अनुचित है। किसी सामाजिक कानून को लागू करने के लिए कार्यपालिका और तत्सम्बन्धी समस्याओं के लिए न्यायपालिका की आवश्यकता रहती है फलस्वरूप नौकरशाही की शक्ति का क्षेत्र विकसित होता है। भारतीयों के हक में यह ठीक नहीं है कि ब्रिटिश नौकरशाही का कार्यक्षेत्र विकसित हो। विदेशी भारतीयों की सामाजिक समस्याओं पर निर्णय दें, यह लज्जाजनक है। इससे अधिक शर्मनाक बात क्या हो सकती है कि हम ब्रिटिश नौकरशाही के सामने गिड़गिड़ा कर कहें कि वह अपने समाज के सुधार के लिए कानून बनाए। ब्रिटिश सरकार जनता के प्रतिनिधियों की नहीं, वरन् गोरों की है जिसे भारतीय धर्म भारतीय संस्कृति और भारतीय आचार विचारों से सहानुभूति नहीं हो सकती, अतः ऐसी सरकार से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह भारतीय समाज में न्याय-संगत सुधार लाने के लिए कुछ कर सकेगी।

राजनीतिक आन्दोलन और समाज सुधार में पृथकता के समर्थक

तिलक राजनीतिक आन्दोलन और सामाजिक सुधारों को मिलाने के पक्ष में नहीं थे। उनका विचार था कि भारत जैसे देश में, जहाँ सामाजिक और धार्मिक भेद हैं सामाजिक सुधारों को राजनीतिक आन्दोलनों के साथ जोड़ने से भेदभाव राजनीतिक क्षेत्र में पनप जाएंगे और राजनीतिक मंच पर सम्पूर्ण भारत का एक शक्तिशाली संगठन नहीं बन पाएगा। यह ऐसी स्थिति होगी जिससे राष्ट्रीय जागरण को आघात पहुँचेगा और देश अपने राजनीतिक लक्ष्य से दूर हो जायेगा।

जाति पाँति, अस्पृश्यता, बाल विवाह, विधवा विवाह, मद्यपान आदि पर विचार

तिलक का जाति-पाँति के भेदभावों और अस्पृश्यता में विश्वास नहीं था। गणपति उत्सवों में वे अछूतों को सवर्ण हिन्दुओं के समान स्थान देते थे। अन्य जातियों के साथ बैठकर भोजन आदि करने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी, लेकिन उनका यह मत था कि समाज को अपने नेताओं के आचरण पर दृष्टि रखने का अधिकार है। यही कारण है कि जब एक बार ईसाई पादरी द्वारा आयोजित चाय पार्टी में उनके भाग लेने पर जन-साधारण में एक बवंडर खड़ा हो गया और उन्हें जाति-बहिष्कार की धमकी दी गई तो उन्होंने गुरु शंकराचार्य के पवित्र न्यायालय में उपस्थित होकर दण्ड को स्वीकार किया और अपने इस व्यवहार से यह स्पष्ट कर दिया कि परिस्थितियों की माँग थी कि विदेशी हुकूमत से लड़ने के लिए जनता को अपना सहयोगी बनाया जाए और जन-जीवन का अनादर नहीं किया जाए। लोकमान्य तिलक बाल-विवाह के विरोधी और विधवा-विवाह के समर्थक थे। उन्होंने विख्यात समाज-सेवक बैरामजी मलाबारी द्वारा प्रस्तावित सुधार प्रस्तावों में संकलित करने के लिए 1890 में ये प्रस्ताव पेश किए—(1) लड़कों के विवाह की न्यूनतम आयु 20 वर्ष और लड़कियों की 16 वर्ष हो। (2) 40 वर्ष के ऊपर के पुरुष विवाह न करें और यदि वे विवाह करना चाहें तो विधवाओं से करें। (3) विवाह-उत्सव पर मद्यपान बन्द कर दिया जाये। (4) दहेज का चलन रोक दिया जाए। (5) विधवाओं को विरूप नहीं किया जाए। (6) प्रत्येक समाज-सुधारक अपनी मासिक आय का दसमांश सार्वजनिक सेवा में लगाए। यद्यपि तिलक बाल-विवाह तथा अल्पावस्था-सम्भोग के समर्थक नहीं थे, तथापि उन्होंने सहमति-आयु विधेयक (The Age of Consent Act, 1891) का विरोध किया, क्योंकि वे चाहते थे कि समाज-सुधार के क्षेत्र में विदेशी सरकार हस्तक्षेप न करे, जब यह विवाह आयु विधेयक कानून बन गया तो तिलक ने उसका पालन किया हालाँकि सुधारवादी छिप कर उसका उल्लंघन करते रहे। तिलक ने अपनी पुत्रियों का विवाह तभी किया जब वे 16 वर्ष की हो गई। उनके अनुसार सुधारों के पक्ष में सामाजिक चेतना पैदा की जाए, उनको कानून द्वारा जनता पर थोपा नहीं जाए। तिलक ने विधवा-विवाह का समर्थन और मद्यपान का घोर विरोध किया। उस समय महाराष्ट्र में सरकार की आबकारी नीति के कारण मद्यपान की आदत बढ़ गई थी। विदेशी प्रभुत्व का शिकंजा इतना कठोर था कि कोई इस बुराई को दूर करने की नहीं सोचता था, लेकिन तिलक ने सरकार की आबकारी नीति की कटु आलोचना की और कहा कि "सरकार से ऐसी आशा करना मूर्खता होगी कि वह मद्यपान बन्द कर देगी अतः युवकों को चाहिए कि वे मद्यपान के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करें।" तिलक ने जनता को निमन्त्रण दिया कि मदिरा की दूकानों पर धरना देना चाहिए। "धरना देने का तरीका सीधा है और उससे कानून की अवज्ञा नहीं होती।" तिलक की प्रेरणा पर युवक धरना देने के लिए तैयार हो गए और वालण्टियरों का एक दल संगठित हो गया जिसने पूना के प्रमुख मदिरालयों पर धरना देना आरम्भ किया। "तिलक ने सार्वजनिक सभाओं में भाषण किए जिनका उद्देश्य हिन्दू और इस्लाम धर्म में मदिरा पीना वर्जित है।" तिलक ने कहा कि "अंग्रेजों के कारण भारतीयों का अधःपतन हो रहा है। अंग्रेजों ने उन्हें मदिरा पीना सिखा दिया है और वे प्रतिवर्ष 10 करोड़ रुपये भारत से इस मद के बटोर ले जाते हैं। जनता गाँवों में मदिरा की दूकानें न रहने दें। जब नशाबन्दी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो सरकार दमन पर उतर आई। प्रतिक्रियास्वरूप तिलकपंथी और सुधारवादी संयुक्त होकर काम करने लगे। एक शिष्टमण्डल सरकार के पास भेजा गया। तिलक ने आन्दोलन स्थगित कर दिया ताकि वातावरण में सुधार हो सके। उनका

विचार था कि यदि वार्ता सफल न हुई तो अन्दोलन को पुन: छेड़ दिया जाएगा, लेकिन सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और योजना असफल हो गई।

तिलक की समाज-सुधार पद्धति

लोकमान्य तिलक को समाज-सुधारकों का रुख पसन्द नहीं था। उन्हें इससे कष्ट था कि समाज-सुधारक पाश्चात्य विचारों को हिन्दू समाज में ठूँसना चाहते थे और हिन्दू धर्म तथा समाज के प्रति इनमें घृणा और उपेक्षा के भाव थे। तिलक परिवर्तन के पक्षपाती थे लेकिन उन आधारों को नहीं मानना चाहते थे जो सुदृढ़ नहीं थे। सामाजिक परिवर्तन और सुधारों को स्वीकार करते हुए वे इस पक्ष में नहीं थे कि भारतीयों का पश्चिमीकरण कर दिया जाए। तिलक उन लोगों के विरोधी थे जो समाज-सुधार का आधार वेद-पुराणों में ढूँढ़ते थे और तिलक को उनके पाखण्ड का भण्डाफोड़ करने में कठिनाई नहीं हुई।[1] तिलक इसके विरोधी थे कि राज्य द्वारा कानून बना कर सामाजिक सुधार लाया जाए। तिलक सामाजिक सुधारों के स्वाभाविक विकास के हामी थे और यह नहीं चाहते थे कि सामाजिक परिवर्तनों का नियंत्रण पश्चिम से मिले। डॉ. कुमुद शर्मा का मत है कि "तिलक का कहना था कि हमारा उद्देश्य राजनीतिक क्षेत्र में प्रगति करना तथा 'स्वराज्य' की प्राप्ति होना चाहिए। स्वराज्य की प्राप्ति के बाद सामाजिक परिवर्तनों का क्रम आरम्भ करना चाहिए।"

सामाजिक दर्शन

तिलक के सामाजिक दर्शन के महत्वपूर्ण तथ्य थे—(1) वे सामाजिक परिवर्तन के विरोधी नहीं थे वरन् उस सामाजिक परिवर्तन का विरोध करते थे जो पश्चिम के अन्धानुकरण से होता, (2) तिलक ने राजनीतिक जागरण और राजनीतिक सुधारों को सामाजिक सुधारों की तुलना में प्राथमिकता दी, क्योंकि सामाजिक और राजनीतिक दो मोर्चों पर शक्ति को विभाजित करना उन परिस्थितियों में उपयुक्त नहीं था, (3) सामाजिक सुधार सहज और स्वाभाविक रूप में होने चाहिए ताकि समाज में असन्तोष न फैले और सामाजिक संगठन में बाधा न पड़े एवं (4) तिलक नहीं चाहते थे कि भारत के सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र पर विदेशी नौकरशाही का नियन्त्रण हो जाए। तिलक का एक निश्चित सामाजिक दर्शन था जो ठोस और यथार्थवादी भूमि पर आधारित था। वे उदार परम्परावादी थे। उनमें रूढ़िवादिता देखने को मिलती थी, क्योंकि तत्कालीन समाज वैसा था और उस समाज को अपने साथ लेकर विदेशी हुकूमत के खिलाफ शक्तिशाली मोर्चा बनाना आवश्यक था। तिलक एक प्रजातन्त्रवादी नेता थे जो जनमत का निरादर करने में विश्वास नहीं करते थे। बदलते समय के अनुसार रूढ़िवादिता में भारतीय आधारों में आवश्यक परिवर्तन कर लिया जाए यह उन्हें अभीष्ट था। तिलक सामाजिक परिवर्तन क्रमिक और सावयवी रूप में पसन्द करते थे तथा पश्चिमीकरण की प्रवृत्ति के विरोधी थे।

तिलक के शैक्षणिक विचार और कार्य
(Educational Ideas and Works of Tilak)

लोकमान्य तिलक के मतानुसार, "पढ़ना-लिखना, सीख लेना ही शिक्षा नहीं है शिक्षा वही है जो हमें जीविकोपार्जन के योग्य बनाए, देश का सच्चा नागरिक बनाए, हमें हमारे पूर्वजों का ज्ञान और अनुभव दे।" लोकमान्य तिलक महान शिक्षा-शास्त्री थे। वे और आगरकर महाराष्ट्र में शिक्षा-आन्दोलन के प्रणेता थे। शिक्षा के सम्बन्ध में नरमदलीय नेताओं के विचारों से तिलक सन्तुष्ट नहीं थे। नरम दल भारत में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के लिए अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञ था, जबकि तिलक और उनके उग्रवादी सहयोगियों की शिकायत थी कि यह प्रणाली छात्रों को देश की सही स्थिति से अनभिज्ञ रखती है और उन्हें जीवन में किसी जीविका के लिए तैयार नहीं करती। तिलक शिक्षा उसी को मानते थे जो व्यक्ति को जीविकोपार्जन के योग्य बनाए, उसमें देश के सच्चे नागरिक गुणों का संचार करे और पूर्वजों का ज्ञान और अनुभव दे। तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा की वकालत की। राष्ट्रीय शिक्षा राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम का अंग रही थी और बंगाल के राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम में इसे स्थान दिए जाने से पहले तिलक, आगरकर तथा चिपलूणकर के मन में इसकी एक रूपरेखा बन चुकी था। फलस्वरूप पूना में न्यू इंगलिश स्कूल और फरग्यूसन कॉलेज की स्थापना हुई तथा दक्षिण शिक्षा समाज का निर्माण किया गया। तिलक के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा से राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हो सकेगा, देशवासी मतमतान्तरों से ऊँचे उठकर संगठित हो सकेंगे और देश की शक्ति को बढ़ा सकेंगे। तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा का ऐसा पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया जो व्यावहारिक था और देशवासियों के सर्वांगीण विकास में सहायक था। राष्ट्रीय शिक्षा के सन्दर्भ में तिलक के मुख्य विचार बिन्दु निम्नांकित थे—

(1) उद्योग एवं प्राविधिक शिक्षा शैक्षणिक पाठ्यक्रम का अंग बने

तिलक ने कहा कि स्कूलों और कॉलेजों में चलने वाली पाठ्य-पुस्तकों से छात्रों को शिक्षा का मर्म ज्ञात नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ, उन्हें ज्ञान नहीं हो पाता कि आयात-निर्यात की शोषक नीति से विदेशी हुकूमत भारत को दरिद्र बना

---

1 एस बी जोग वही, पृ 28.

रही है और भारतीयों की जीविका छीन रही है। जहाँ दूसरे देशों में औद्योगिक एवं प्राविधिक शिक्षा पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग है वहाँ भारतीय शिक्षण संस्थाएँ केवल अफसर पैदा करने के लिए बनी हैं। तिलक ने इसका आग्रह किया कि शिक्षा-पाठ्यक्रम में औद्योगिक एवं प्राविधिक शिक्षा को स्थान दिया जाना चाहिए।

(ii) धार्मिक शिक्षा पर बल

स्वातन्त्र्य आन्दोलन में क्रान्तिकारी और वैधानिक संघर्ष करने वाले वर्ग प्राचीन ग्रंथों तथा प्राचीन वीरों से प्रेरणा पाते दिखाई देते हैं। तिलक धार्मिक शिक्षा पर जोर देते थे और कहा करते थे कि "किसी को अपने धर्म पर अभिमान कैसे हो सकता है, यदि वह उससे अनभिज्ञ है? धार्मिक शिक्षा का अभाव इसका कारण है कि देशभर में मिशनरियों (ईसाई पादरियों) का प्रभाव बढ़ गया है।" तिलक का उन लोगों से मतभेद था जो कहते थे कि धर्म से झगड़े बढ़ते हैं। तिलक की मान्यता थी कि धार्मिक शिक्षा झगड़ों और पारस्परिक कलह को दूर करने की कुंजी है। हिन्दुओं को सच्चे हिन्दू धर्म और मुसलमानों को सच्चे इस्लाम की शिक्षा देने से एक-दूसरे के धर्म के लिए सम्मान और सहिष्णुता का प्रसार होगा। तिलक के अनुसार चरित्र-निर्माण के लिए धर्मनिरपेक्ष (Secular) शिक्षा पर्याप्त नहीं है उसके लिए धार्मिक शिक्षा आवश्यक है।

(iii) स्वतन्त्र देशों जैसी शिक्षा प्रणाली पर बल

तिलक के अनुसार भारतीय शिक्षण-संस्थाओं में यदि स्वतन्त्र देशों जैसी शिक्षा-प्रणाली चालू की जाए तो इससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिल जाएगी। कुछ गैर सरकारी शिक्षण संस्थाएँ तिलक के विचारों के अनुरूप शिक्षा-क्रम रखने को तैयार थीं, लेकिन उन्हें भय था कि ऐसा करने से उन्हें मिलने वाली सरकारी सहायता बन्द हो जाएगी, अतः तिलक ने निमंत्रण दिया कि "हमें अपने स्कूल स्वयं स्थापित करने चाहिए और अपना काम निःस्वार्थ भाव से शुरू करना चाहिए।" तिलक चाहते थे कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस काम को हाथ में ले, परन्तु कांग्रेस कोई खतरा उठाने को तैयार नहीं थी।

(iv) मातृभाषा को प्रधानता

तिलक ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर बल दिया। वे कहते थे कि "आज जो व्यक्ति अच्छी अंग्रेजी लिख-बोल लेता है वही शिक्षित माना जाता है, किन्तु किसी भाषा का ज्ञान हो जाना शिक्षा नहीं है। किसी विदेशी भाषा को सीखने की ऐसी बाध्यता भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश में नहीं है। मातृभाषा के माध्यम से जो शिक्षा 7-8 वर्ष में प्राप्त की जा सकती है उसमें अब 20-25 वर्ष लग जाते हैं। अंग्रेजी हमें सीखनी है, पर उसकी शिक्षा अनिवार्य करने का कोई कारण नजर नहीं आता। मुस्लिम राज में हमें फारसी सीखनी होती थी, पर उसे सीखने के लिए बाध्यता नहीं थी।"

(v) एक लिपि, एक राष्ट्रभाषा का समर्थन

तिलक का विश्वास था कि राष्ट्रभाषा राष्ट्रीयता की अनिवार्य शर्त है, अतः उन्होंने इसकी पैरवी की कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया जाए। उनके शिष्य सावरकर ने, जो इसी भाषा सम्बन्धी नीति के समर्थक थे यहाँ तक कि लन्दन के एक सम्मेलन में उन्होंने इसका आग्रह किया कि स्वराज्य के प्रस्ताव को अंग्रेजी में नहीं, भारत की सार्वजनिक भाषा हिन्दी में लिखा जाए। तिलक राष्ट्रीय एकता और भाषा-भेद से विभाजित देश की एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा को महत्वपूर्ण तत्व मानते थे। वास्तव में तिलक पहले कांग्रेसी नेता थे जिन्होंने देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सुझाव दिया। दिसम्बर, 1950 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा में एक भाषण में उन्होंने कहा कि देवनागरी न केवल सभी आर्य भाषाओं की लिपि बने बल्कि राष्ट्रभाषा की लिपि भी बने। तिलक ने देश की भाषा समस्या पर विचार किया। उन्होंने देख लिया कि इसके मार्ग में क्या बाधाएँ हैं और उनका हल ढूँढ निकाला। कालान्तर में ये बाधाएं उपस्थित हुईं और विधान-निर्मात्री परिषद ने उन्हें उसी उपाय से दूर किया जो तिलक ने सुझाया था। तिलक जानते थे कि क्षेत्रीय भाषाओं के समर्थक अपनी-अपनी लिपि पर अड़ेंगे। उन्होंने देशवासियों से समान लिपि की राष्ट्रीय आवश्यकता के समक्ष क्षेत्रीय हितों को दबा देने की अपील की। राजनीति और जेल में फँसे रहने के कारण तिलक को एक लिपि और राष्ट्रभाषा का आन्दोलन चलाने के लिए समय नहीं मिला, पर उन्होंने सूत्र रूप में एक विचार प्रस्तुत कर दिया जिसका विकास बाद में हुआ। तिलक ने रोमन लिपि अपनाने का विरोध किया।

(vi) अंग्रेजी की महत्ता स्वीकार करना

राष्ट्रीय शिक्षा के पक्ष-पोषक होते हुए भी तिलक अंग्रेजी के महत्व को अस्वीकार नहीं करते थे। उनका कहना था कि मातृभाषा को प्रधानता और अंग्रेजी को गौण स्थान दिया जाना चाहिए। उनका तर्क था कि विदेशी भाषा की शिक्षा छात्र समझ नहीं सकते, अन्यथा अंग्रेजी शिक्षा महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह प्रगति और जागृति में प्रमुख रूप से सहयोगी है। अंग्रेजी सम्बन्धी तिलक के विचारों से ध्वनित होता है कि वे शिक्षा के क्षेत्र में यथार्थवादी विचारक थे।

तिलक का राजनीतिक दर्शन
(Political Philosophy of Tilak)

तिलक भारतीय उग्र राष्ट्रवाद के जनक थे जिन्होंने भारतीय राजनीति को नई दिशा प्रदान करके कांग्रेस को एक जन-आन्दोलन के रूप में परिणत कर दिया। तिलक ने जन नेताओं के सामने एक रचनात्मक कार्यक्रम विकसित किया। उनके अनुसार "एशिया तथा संसार की शान्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भारत को ... शासन प्रदान करके पूर्व में स्वतन्त्रता का गढ़ बना दिया जाए।" तिलक उग्र राष्ट्रवादी थे, लेकिन उन्होंने हिंसा और रक्तपात को प्रोत्साहन नहीं दिया। तिलक के राजनीतिक दर्शन को निम्नांकित बिन्दुओं में समझा जाना चाहिए—

तिलक के राजनीतिक चिन्तन के आधार

तिलक ने यथार्थवादी व्यावहारिक नेता की भूमिका अदा की। उदारवादियों की निष्क्रिय नीति की प्रतिक्रिया के रूप में तिलक ने सम्पूर्ण देश को मूर्त और गतिशील विचार देकर जन-जागरण उत्पन्न किया। वे मैकियावेली और हॉब्स की भाँति यथार्थवादी नहीं थे अथवा उन्होंने प्लेटो, अरस्तू या सिसरो की भाँति सर्वोत्तम राज्य के लक्षणों और मान्यताओं का विवेचन नहीं किया। उनका मुख्य उद्देश्य भारत को राजनीतिक दासता से मुक्ति था और एक व्यावहारिक राजनीतिक नेता के रूप में उनके कार्यकलाप रहे, उनकी चिन्तनधारा बही। तिलक के राजनीतिक चिन्तन में भारतीय दर्शन की कुछ प्रमुख धारणाओं तथा आधुनिक यूरोप के राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक विचारों का समन्वय देखने को मिलता है।[1] तिलक के राजदर्शन में एक ओर भारतीय चिन्तन की आधारभूत धारणाओं के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य राष्ट्रवादी एवं लोकतान्त्रिक विचारों का प्रभाव दिखाई देता है। जॉन स्टुअर्ट मिल की राष्ट्रीयता की परिभाषा से तिलक सहमत थे। 1919 और 1920 में उन्होंने विल्सन (Wilson) की 'आत्म-निर्णय' की धारणा को स्वीकार करते हुए भारत में इसके व्यावहारिक प्रयोग की माँग की थी। तिलक मैजिनी और बर्क के विचारों से प्रभावित थे। तिलक के राष्ट्रवाद का दर्शन आत्मा की सर्वोच्चता के वेदान्तिक आदर्श और मैजिनी, बर्क, मिल तथा विल्सन की धारणाओं का समन्वय था। इस समन्वय को तिलक ने 'स्वराज्य' शब्द द्वारा व्यक्त किया।[2]

तिलक का चिन्तन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित था अतः स्वाभाविक था कि उन्होंने स्वराज्य की नैतिक और आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। तिलक ने स्वराज्य को केवल एक अधिकार ही नहीं, वरन् एक धर्म भी माना। राजनीतिक रूप में उन्होंने स्वराज्य का अर्थ स्वशासन (होम रूल) बताया, किन्तु नैतिक सन्दर्भ में इसका अर्थ आत्म-नियन्त्रण की पूर्णता माना जो कि सबसे बड़ा स्व-धर्म है। स्वराज्य का आध्यात्मिक महत्त्व बताते हुए तिलक ने कहा कि इसका आशय आत्मिक स्वतन्त्रता से है। स्वराज्य की प्राप्ति आत्मा की स्वतन्त्रता के आधार पर ही हो सकती है। वस्तुतः तिलक ने राजनीतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की स्वतन्त्रता की कामना की।

तिलक का राष्ट्रवाद और पुनरुत्थानवाद

तिलक की राष्ट्रीयता पुनरुत्थानवादी और पुनर्निर्माणवादी थी। उन्होंने वेदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने का सन्देश दिया और भारत की प्राचीन परम्पराओं के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद की स्थापना करनी चाही। 13 दिसम्बर, 1919 को 'मराठा' के अंक में उन्होंने लिखा कि "राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर निर्माण करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति असम्मान की भावना पर आधारित है, उसे राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता। हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजियत के ढाँचे में नहीं ढालना चाहते, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते।"[3] तिलक ने कहा कि भारतीय वेदों और गीता के महान् सन्देशों से नई शक्ति और नई स्फूर्ति ग्रहण करें, क्योंकि तभी राष्ट्र वह आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर सकेगा जिसके बल पर ब्रिटिश नौकरशाही से लोहा लेकर, स्वराज्य की स्थापना सम्भव होगी। सुधार के नाम पर प्राचीन का अनादर राष्ट्रीयता के पतन का सूचक है। यदि भारत में राष्ट्रीयता का प्रसार करना है तो प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण अनिवार्य है।

तिलक ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा बताया। उन्होंने कहा कि प्राचीन काल में आदिम जातियों में अपने कबीले के प्रति जो भक्ति रहती थी उसी का आधुनिक नाम राष्ट्रवाद है। राष्ट्रवाद का सम्बन्ध संवेगों और अनुभूतियों से होता है। जो आत्मिक प्रभाव और लगाव एक क्षेत्र विशेष तक सीमित थे, वे अब राष्ट्रवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो गए हैं। जो राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर आधारित होता है वही स्वस्थ राष्ट्रवाद है। तिलक की मान्यता थी कि विचारधाराओं, जाति-भेदों, मत-मतान्तरों आदि के कारण देश में राष्ट्रीयता की भावना उस तेजी से नहीं पनप सकती जिस तेजी से वह समान भाषा, समान धर्म और समान संस्कृति वाले देश में पनप सकती है। उन्होंने भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर बल दिया। ये तत्त्व प्राचीन काल से ही भारत में

---

1 2. *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा* , वही, पृ. 197
3 *तिलक* 'मराठा' पत्र

विद्यमान थे पर अब आवश्यकता उन्हें जगाने और संगठित करने की थी। लोकमान्य तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। राष्ट्रीयता के आवेश को आध्यात्मिक रंग देने के लिए उन्होंने गणपति उत्सव को जाग्रत किया और शिवाजी की उपासना का पन्थ भी शुरू किया। गणपति उत्सव द्वारा उन्होंने एक धार्मिक उत्सव को सामाजिक एवं राजनीतिक अर्थ दिया तथा शिवाजी उत्सव द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं को संगठित करने का काम किया। तिलक के अनुसार उत्सव प्रतीक का काम करते हैं जिनसे राष्ट्रवाद की भावना पनपती है। उत्सवों का दोहरा महत्व है—एक ओर तो इनके माध्यम से एकता की भावना अभिव्यक्त होती है और दूसरी ओर उत्सवों में भाग लेने वाले व्यक्ति यह अनुभव करने लगते हैं कि उनके संगठन और उनकी एकता को किसी श्रेष्ठतर कार्य में लगाया जा रहा है। राष्ट्रीय उत्सव, राष्ट्रगान, राष्ट्रध्वज आदि देशवासियों के भावों में तीव्रता लाते हैं तथा उनकी राष्ट्रवादी भावना को प्रसुप्त नहीं होने देते। इसे राष्ट्रवाद का प्रतीकात्मक प्रदर्शन कहा जा सकता है जिससे सांस्कृतिक अभिवृद्धि होती है और मधुर राष्ट्रवाद का निर्माण होता है। तिलक ने प्राचीन उत्सवों को आधुनिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल बना कर राजनीतिक और नेतृत्व प्रतिभा का सबल उदाहरण दिया।

तिलक का राजनीतिक उग्रवाद और आक्रामक राष्ट्रवाद

तिलक का राष्ट्रवाद उग्र और तेजस्वी था तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उन्हें उग्रवादी राजनीति तथा राष्ट्रीयता का अग्रदूत माना जाता है। तिलक ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी निरंकुश नीति को सहन नहीं कर सके। उन्होंने लॉर्ड कर्जन के निरंकुश कार्यों की 'केसरी' में कठोर आलोचना प्रकाशित की। उन्होंने स्पष्ट मत रखा कि ब्रिटिश सरकार पर प्रार्थनाओं और नम्र निवेदन का कोई असर होने वाला नहीं है अतः हमें अपनी माँगों को 'हक' (Right) के रूप में रखना चाहिए तथा दबावकारी उग्र साधनों (हिंसात्मक नहीं) का आश्रय लेकर विदेशी हुकूमत को यह सोचने पर मजबूर कर देना चाहिए कि भारतीयों की माँगों की उपेक्षा करना उचित नहीं है। 1905 में बंगाल-विभाजन पर तिलक को उग्र राष्ट्रवाद का बिगुल फूँकने का अवसर मिला जिसका उपयोग उन्होंने राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने तथा ऐसे राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का संचालन करने के लिए किया जिसमें सभी वर्ग और जातियों का योगदान हो और जो देश के हर नगर और गाँव तक फैला हो। बंग-भंग की घटना के बाद 'लाल-बाल-पाल' भारत में उग्र राष्ट्रीयता की त्रिमूर्ति बन गए। पंजाब, महाराष्ट्र और बंगाल संगठित रूप में सरकार की रीति-नीति पर आक्रमण करने लगे।

ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी नीति अपनाई पर उग्रवादी आन्दोलन तेजी पकड़ता गया। तिलक ने 'स्वराज्य' का मंत्र फूँका। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए तिलक तथा उनके उग्रवादी साथियों ने इन बातों पर जोर दिया—(1) स्वदेशी (Swadeshi), (2) बहिष्कार (Boycott), (3) राष्ट्रीय शिक्षा (National Education) एवं (4) निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)। यह कार्य नव राष्ट्रीय दल के माध्यम से किया जाने लगा जिसका मुख्य आधार तिलक थे। 1905 से 1909 तक इस दल ने राष्ट्रीय शिक्षा, दलित वर्ग-उत्थान, राष्ट्रीय पत्रों की स्थापना आदि के विभिन्न आन्दोलन चलाए। तिलक ने अपने प्रयासों से काँग्रेस को एक जन-आन्दोलन में परिणित कर दिया और स्वाधीनता संग्राम शिक्षित वर्ग तक सीमित नहीं रहा, बल्कि बच्चे-बच्चे की जबान पर यह नारा गूँज गया—"स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।"

तिलक का उग्रवादी दल काँग्रेस के उदारवादियों से मेल नहीं खा सका। 1907 के सूरत काँग्रेस अधिवेशन विच्छेद से पूर्व एक भाषण में तिलक ने कहा कि "हमारा उद्देश्य स्वशासन है और इसे शीघ्र प्राप्त करना चाहिए। हमारा राष्ट्र आतंकवादी दमन के लिए नहीं है। आप भीरू और कायर न बनें। जब आप स्वदेशी को स्वीकार करते हैं तो आपको विदेशी का बहिष्कार करना होगा... हमारा उद्देश्य पुनर्निर्माण है, हमारा स्वराज्य का आदर्श विशिष्ट लक्ष्य है जिसे जन-समुदाय समझे। स्वराज्य में जनता का शासन जनता के लिए होगा। उदारपंथियों डरिए मत। बहिष्कार दलित राष्ट्रों के लिए साधन है। हमारा तीसरा आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा है जिसके सम्बन्ध में पिछली काँग्रेस ने प्रस्ताव किया था।" तिलक का विश्वास संगठन-शक्ति और आत्मनिर्भरता में था। उन्होंने जनता का आह्वान किया कि वह राजनीतिक आन्दोलन चला कर सरकार पर दबाव डाले और मातृभूमि के लिए कष्ट एवं त्याग सहन करे। 2 जनवरी 1906 को कोलकाता में अपने एक भाषण में तिलक ने घोषणा की कि "प्रार्थनाओं और विरोध के दिन समाप्त हो गए हैं। हमारी प्रार्थनाओं को शासक नहीं सुनेंगे क्योंकि उनके पीछे दृढ़ संकल्प का अभाव है। शासन में परिवर्तन की आशा मत कीजिए। प्रार्थना, प्रसन्नता से प्रयत्न करना, प्रतिरोध (Prayer, Please and Protest) कोई ठीक काम नहीं करेंगे। क्या आप यह आशा करते हैं कि विशुद्ध निरंकुश तन्त्र से वे प्रबुद्ध तन्त्र की ओर बढ़ेंगे? ब्रिटिश जनता को शिक्षा देना व्यर्थ है शब्दों से उन्हें आप सन्तुष्ट नहीं कर सकते। बंग-भंग की शिकायत भारत का भावी आधार है। स्वदेशी हमारी अन्तिम पुकार है और इसी के सहारे हम आगे बढ़ेंगे फिर चाहे शासक कितनी ही अनुसनी कर दे। शासन से मोर्चा लेने के दो उपाय हैं—"स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा।"

अत्याचारी हो जाते हैं, क्योंकि जनता अपनी शक्ति नहीं जानती। अगर वह एक होकर ऐसा करे तो शासक उसके सामने शक्तिहीन हो जाएँगे।"[1] तिलक 'केसरी' में ऐसे लेख लिखते रहे जिनमें किसानों मजदूरों, कारीगरों, दूकानदारों जुलाहों, भीलों आदि की सुरक्षा और उन्नति के लिए चिन्ताएँ व्यक्त की गई थीं। यह कहा गया था कि ये जाता के मुख्य अंग हैं और उनकी दशा में सुधार होना चाहिए।[2] जन-शक्ति को व्यक्त करते हुए केसरी के एक लेख में उन्होंने लिखा कि "अगर 500 लोग चुने हुए प्रतिनिधियों की तरह वर्ष में एक बार एकत्रित हों और प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करें तो सरकार कोई प्रार्थना स्वीकार न करेगी। ऐसा प्रार्थना-पत्र तभी वजनदार हो सकेगा जबकि प्रान्तों, जिलों, नगरों और गाँवों से प्रार्थना-पत्र उसका समर्थन करें।" शिक्षितों से उनका आग्रह था "आप जनता के स्वाभाविक नेता हैं। आपको उनकी झोंपड़ियों तक जाना चाहिए, उन्हें समझना चाहिए, उन्हें संगठित करना चाहिए और उनकी दशा में सुधार करना चाहिए। स्वयं को जनता से इसलिए अलग समझना कि हमने कुछ पुस्तकें पढ़ ली हैं, मूर्खतापूर्ण है। हम उन्हीं में हैं और हमें उन्हीं के बीच रहना चाहिए।"

तिलक का कहना था कि यदि जनता संगठित होती है और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहती है तो शासक आततायी नहीं बन पाते और जनमत को सन्तुष्ट करने की फिक्र में रहते हैं। तिलक ने पत्रकारिता द्वारा जनता में चेतना फूँकी और उसे स्वराज्य के प्रति सचेत किया।

पेरिस-शान्ति सम्मेलन को ज्ञापन

तिलक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे जो राष्ट्र के हित के लिए कोई अवसर नहीं चूकते थे। अवसर आने पर वे आवेदन-पत्र की पद्धति का भी प्रयोग करते थे। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस में हुए शान्ति सम्मेलन के अध्यक्ष को उन्होंने एक ज्ञापन पेश किया था जिसमें उन्होंने लिखा था कि सम्मेलन में सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति (बीकानेर नरेश और एस. पी. सिन्हा) भारत का सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस ज्ञापन में तिलक ने एशिया और विश्व की राजनीति में भारत की राजनीतिक स्थिति का उल्लेख किया और भारत के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग की।

1919 के अधिनियम के प्रति तिलक का रुख और कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी का घोषणा-पत्र

1919 के मॉण्टफोर्ड सुधारों के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक ने व्यावहारिक राजनीतिज्ञता का परिचय देते हुए कहा कि नौकरशाही द्वारा भारत को जो दिया जा रहा है उसे हमें स्वीकार कर लेना चाहिए और अपना आन्दोलन जारी रखना चाहिए ताकि 'स्वराज्य' का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। तिलक ने गाँधीजी की 'अशर्त' सहयोग की पेशकश पसन्द नहीं की। *उनका तर्क था कि सहयोग एक पक्षीय नहीं, पारस्परिक होता है। "सत्ताधारियों को यह घोषणा करने दो कि वे किस प्रकार हमारे साथ सहयोग करने को उद्यत हैं और हम उन्हें विश्वास दिलाएंगे कि यदि वे सहयोग करते हैं तो हम उनके* साथ सहयोग करेंगे।" अमृतसर कांग्रेस ने तिलक, गाँधी आदि के विचारों को सम्मान देते हुए यह घोषित की कि मॉण्टफोर्ड सुधार यद्यपि अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशाजनक हैं, लेकिन देश को उन्हें क्रियान्वित करने में अपना सहयोग देना चाहिए, ताकि पूर्ण स्वराज्य की यथाशीघ्र स्थापना हो सके।

तिलक ने अमृतसर कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुरूप कार्य शुरू किया और मॉण्टफोर्ड सुधार योजना के *अन्तर्गत स्थापित की जाने वाली विधान-परिषदों के लिए चुनाव लड़ने हेतु 'कांग्रेस लोकतन्त्री दल' (कांग्रेस डेमोक्रेटिक* पार्टी) की स्थापना की। *20 अप्रैल, 1920 को इस दल का घोषणा-पत्र जारी किया गया जिसमें मुख्य बिन्दु निम्नांकित* थे—(1) कांग्रेस में आस्था, (2) प्रजातन्त्र का आरम्भ, (3) शिक्षा का प्रसार, (4) मताधिकार का विस्तार, (5) धार्मिक सहिष्णुता, (6) राष्ट्रसंघ के निर्माण का स्वागत, (7) 1919 के अधिनियम का बहिष्कार, (8) शिक्षा, आन्दोलन और संगठन का नारा, (9) सामाजिक और धार्मिक न्याय प्रदान करना, (10) श्रमिकों को उचित वेतन, (11) रेलों का राष्ट्रीयकरण, (12) नागरिक सेना एवं (13) भाषाई आधार पर प्रान्तों का गठन।

क्या तिलक भारतीय अशान्ति के जनक थे?

सर वेलेन्टाइन शिरोल ने *अपनी पुस्तक 'इण्डियन अनरेस्ट' (भारतीय अशान्ति) में तिलक को 'भारतीय अशान्ति* का जनक' (Father of Indian Urnest) की संज्ञा दी है और कहा है कि वह कट्टर हिन्दू धर्म पर आधारित राष्ट्रवाद के महान् पुजारी थे तथा सरकार के प्रति जनता में द्वेष फैलाने वाले अग्रदूतों में से एक थे।

तिलक के चिन्तन, उनकी कार्य-शैली और उनके कार्यकलापों के विवरण से स्पष्ट होता है कि तिलक का उद्देश्य किसी सशस्त्र विद्रोह को फैलाना नहीं था। *तिलक हिंसक क्रान्ति पैदा नहीं करना चाहते थे।* तिलक जनता को इस सीमा तक उग्र नहीं करना चाहते थे कि वह हथियारों का सहारा ले। *तिलक वैधानिक सीमाओं के भीतर रहकर भारतीय जनता*

---

1 2 *टी वी पर्वते* वही पृ. 288 290.

कारावास से मुक्त होकर सावरकर तिलक के लोकतान्त्रिक स्वराज दल में सम्मिलित हो गए और बाद में हिन्दू महासभा की सदस्यता स्वीकार कर ली। दिसम्बर, 1937 में वे अहमदाबाद अधिवेशन में हिन्दू महासभा के प्रधान चुने गए। अध्यक्षता के तीन वर्षों में वीर सावरकर ने हिन्दुओं में हिन्दू राष्ट्रवाद और संगठन की भावना का संचार करने के लिए परिश्रम किया। 26 फरवरी, 1966 को इनका देहान्त हो गया।

हिन्दुत्व का सिद्धान्त
(Theory of Hindutva)

वीर सावरकर हिन्दुत्व और हिन्दू राष्ट्र के समर्थक थे तथा हिन्दू सांस्कृतिक और दार्शनिक उपलब्धियों में उन्हें विश्वास था। उनका यौवन जेल में निकला, लेकिन सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग का जो अवसर मिला, उन्होंने हिन्दुओं को संगठित करने एवं राष्ट्रवाद की भावनाएँ भरने का प्रयास किया। हिन्दुओं का पुनरुत्थान उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। सावरकर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में हिन्दू की परिभाषा करते हुए कहा कि "हिन्दू वह है जो सिंधु नदी से समुद्र तक सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी पितृभूमि और पुण्यभूमि मानता है।"[1] सावरकर ने हिन्दुत्व अथवा हिन्दू होने की तीन कसौटियाँ बतई[2]—

(i) राष्ट्र अथवा प्रादेशिक एकता—सावरकर का विश्वास था कि प्रादेशिक सन्निकटता एकता की भावना का संचार करती है। एक हिन्दू के मन में सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भौगोलिक प्रदेश के प्रति अनुराग होता है।

(ii) जाति अथवा रक्त सम्बन्ध—हिन्दू वह है जिसकी नसों में उन लोगों का रक्त बहता है जिसका मूल स्रोत वैदिक सप्तसैंधव के हिमालय प्रदेश में बसने वाली जाति थी। सावरकर ने किसी जातिगत या नस्लगत श्रेष्ठता का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया, बल्कि इस तथ्य पर बल दिया कि सदियों के ऐतिहासिक जीवन के फलस्वरूप हिन्दुओं में ऐसी जातिगत विशेषताएँ विकसित हो गई हैं जो जर्मनों, चीनियों अथवा इथीयोपियाइयों से भिन्न हैं।

(iii) संस्कृति—जिस व्यक्ति को हिन्दू सभ्यता और संस्कृति पर गर्व है वह हिन्दू है।

उन्होंने कांग्रेस द्वारा प्रतिपादित 'भारतीय राष्ट्रवाद' के विचार से असहमति प्रकट की जिसके अनुसार राष्ट्रवाद प्रादेशिक होता है अतः भारत में उत्पन्न और पोषित सभी व्यक्ति बिना जाति और भेदभाव के भारतीय राष्ट्र का निर्माण करते हैं। सावरकर ने कहा कि राष्ट्रीयता के लिए प्रजातीय, भाषाई, धार्मिक तथा अन्य एकता का होना अनिवार्य है। यदि जनता पर प्रादेशिक राष्ट्रीयता थोपी जाए, जैसा कि पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया में किया गया, तो राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता।

सावरकर ने कहा कि हिन्दुत्व वह वस्तु है जिसे खोया नहीं जा सकता। हिन्दुओं में सदियों से जो विशेषताएँ और प्रजातिक तत्व विकसित हो चुके हैं, उनके आधार पर हिन्दुत्व को पहचान सकते हैं और जाति खो देने के बाद यह विनष्ट नहीं हो सकता। 'भारतीय राष्ट्र' जैसा न कुछ है और न हो सकता है। इस देश में हिन्दू राष्ट्र रहा है और भविष्य में हिन्दू राष्ट्र ही रहेगा। सावरकर ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता से पीड़ित होकर बताया कि मुसलमान और ईसाई भारत को इस तरह प्यार नहीं कर सकते जिस तरह हिन्दू करते हैं। ऐसा कहने में सावरकर के हृदय में मुस्लिम जमात के प्रति घृणा नहीं थी। सावरकर हिन्दुओं और मुसलमानों में प्रेम और सहिष्णुता का वातावरण देखना चाहते थे लेकिन भारत में सदियों से मुस्लिम इतिहास और ब्रिटिश हुकूमत तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि विदेशों से आई जाति भारत को उतना प्यार नहीं कर सकती जितना इसी देश में जन्मी हुई जाति। सावरकर उन मुसलमानों के प्रति पूर्ण आदर रखते थे जिनके हृदय में भारत से प्रेम था, जो भारत के लिए उसी प्रकार मर मिटने को तत्पर थे जिस प्रकार हिन्दू। सावरकर ने कहा कि मुसलमानों का भारत भूमि के साथ कोई भावनात्मक सम्बन्ध नहीं है। सावरकर का कथन उन राष्ट्रवादी मुसलमानों को पीड़ा पहुँचाने वाला था जो भारत से प्यार करते थे देश के विभाजन को आत्मघातक मानते थे और जिनमें साम्प्रदायिकता नहीं थी। बहुसंख्यक मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं से पृथक् मुस्लिम राज्य के निर्माण की माँग ने सावरकर के विचारों को सत्य सिद्ध कर दिया।

सावरकर को तुष्टीकरण की नीति में विश्वास नहीं था। वे मुसलमानों के सहयोग का स्वागत करते थे लेकिन उन्हें विश्वास था कि स्वराज्य मुसलमानों के सहयोग के बिना प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने मुसलमानों से कहा कि "हिन्दू अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए यथासामर्थ्य संघर्ष करते रहेंगे। यदि तुम साथ देते हो तो तुम से मिलकर संघर्ष करेंगे यदि तुम साथ नहीं देते तो तुम्हारे बिना लड़ते रहेंगे और यदि तुम विरोध करोगे तो उन विरोध के बावजूद युद्ध जारी

1 2. *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वही, पृ. 300*

रखेंगे।" सावरकर ने मिश्रित विद्यालयों की स्थापना पर बल दिया जिसमें अछूतों के बालक सवर्ण हिन्दू बालकों के साथ शिक्षा प्राप्त कर सकें। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप रत्नागिरि जिले में जो मिश्रित विद्यालय स्थापित हुए उनके प्रभाव स्वरूप वहाँ विदेशी मिशनरियों द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाए जाने से व्यक्तियों की संख्या नगण्य हो गई और अनेक मिशनरियों को अपना कार्य बन्द कर देना पड़ा। सावरकर ने हिन्दुत्व की सेवा और राष्ट्र की सेवा के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा कि जो *व्यक्ति जितना हिन्दू होगा, वह उतना देश-भक्त होगा। स्वतन्त्र और स्वाधीन भारत* के लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि हिन्दुत्व का विकास किया जाए। हिन्दुत्व मानव-सभ्यता को प्रकाश दे सकती है। सावरकर ने यह कहा कि यदि हिन्दुओं की जनसंख्या कम हो जाएगी और अन्य जातियों की जनसंख्या बढ़ जाएगी तो वह हिन्दुत्व के लिए अहितकर होगा। सावरकर ने राजनीति का हिन्दूकरण कर दिखाया। 'वीर सावरकर ने हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के रूप में देश को राजनीति के हिन्दूकरण तथा हिन्दुओं के सैनिकीकरण का नारा दिया।'[1] उनके इस नारे को संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का द्योतक मान गया, पर वास्तविकता यह थी कि सावरकर हिन्दुत्व के पुनर्जागरण में आस्था रखते थे, हिन्दू सामाजिक संगठन में प्रवेश करके बुराइयों को मुक्त करने के आकांक्षी थे, मुसलमानों के प्रति उनका कोई दुर्भाव नहीं था। उनको घृणा थी तो मुस्लिम लीग जैसे कट्टरपंथी धार्मिक सम्प्रदाय तथा *ब्रिटिश शासन* की 'फूट डालो और राज करो' की नीति से। सावरकर चाहते थे कि समानता की चाह रखने वाले मुसलमान देश के विभाजन की माँग त्याग कर संगठित और शक्तिशाली भारत के निर्माण का प्रयास करें।

सावरकर और अहिंसा

(Savarkar and Non-Violence)

वीर सावरकर क्रान्तिकारी थे जिनका गाँधीवादी अहिंसा में विश्वास नहीं था। डॉ. वर्मा के अनुसार, "सावरकर निरपेक्ष अहिंसा के पथ के आलोचक थे और उसे भिखारियों का पथ मानते थे। उनका कहना था कि सन्तों और देवदूतों की दुनिया में हिंसा को अपनाने की आवश्यकता नहीं रहेगी, किन्तु *अन्तर्विरोधों और बुराइयों से परिपूर्ण इस जगत्* में न्याय के खातिर की गई हिंसा उचित है।" सावरकर का विश्वास था कि यदि अन्य बातें समान रहें, तो सैनिक शक्ति से सम्पन्न राज्य प्रगति और यश का अर्जन कर सकते हैं, दुर्बल राज्यों को पतन और पराधीनता का मुख देखना पड़ता है। अपने मत की पुष्टि उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर की। जब भारत में अहिंसावादी बौद्धमत की प्रधानता रही तो उसे हूणों और शकों ने रौंद डाला, इसीलिए सावरकर ने हिन्दुओं के सैनिकीकरण का समर्थन किया और द्वितीय महायुद्ध के दौरान हिन्दुओं को फौज में भर्ती होने की सलाह दी, ताकि वे *आधुनिक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सीख जाएं*। सावरकर ने स्कूलों और कॉलेजों में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का समर्थन किया। क्रान्तिकारी सावरकर को दासता की बेड़ियाँ काट फेंकने के लिए हिंसात्मक साधनों का आश्रय लेने में तनिक भी हिचक न थी। उन्होंने क्रान्तिकारी विचारों का समर्थन तथा अहिंसक साधनों का उपहास किया।

अखण्ड भारत

वीर सावरकर ने *आजीवन अखण्ड भारत* की कामना की। अपने अथक प्रयासों के बावजूद सावरकर देश का विभाजन नहीं रोक सके। काँग्रेस ने देश के विभाजन की योजना स्वीकार की और सावरकर ने कहा—"हे देशवासियों! भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने, जिसका जन्म राष्ट्र को सुसंगठित करने के लिए हुआ था, अपने लक्ष्य के साथ विश्वासघात किया है। उसने अपने अस्तित्व के औचित्य को खो दिया है तथा कृत्रिम राष्ट्रवादी रोग का शिकार बनकर, देश की राष्ट्रीय अखण्डता पर आघात किया है।" देश का विभाजन हो जाने पर सावरकर ने अखण्ड भारत के लिए अपनी लड़ाई जारी रखी और अगस्त 1947 में एक *हिन्दू सम्मेलन आयोजित करके अपने अध्यक्षीय भाषण* में हिन्दुओं से अपील की कि वे पाकिस्तान को उसी प्रकार स्वीकार न करें जिस प्रकार उन्होंने ब्रिटिश शासन को स्वीकार नहीं किया था।

सावरकर का योगदान एवं मूल्यांकन

सावरकर के उग्र और क्रान्तिकारी विचारों, हिन्दुत्व के प्रति असीम जोश आदि के कारण उन पर छींटाकशी की गई, पर उन्हें अपने भारत देश से अगाध प्यार था, अपने देश के लिए सब कुछ लुटा देने की उनमें तमन्ना थी और वे किसी कीमत पर देश का *विभाजन नहीं* होने देना चाहते थे। उन्होंने मुसलमानों से घृणा नहीं की, उन्होंने साम्प्रदायिकता को उभारा नहीं, पर उन्हें यह सहन नहीं था कि हिन्दुओं के साथ विश्वासघात किया जाए, हिन्दुओं को उनके अधिकारों से वंचित रखा जाए, हिन्दुओं की सम्पत्ति लूटी जाए, हिन्दू माँ-बहिनों की इज्जत पर हाथ डाला जाए और हिन्दुओं को निर्बल और अशक्त बनाए रखने के प्रयास सफल हों। वे अत्यधिक जोशीले थे और जोश के प्रवाह में बहकर ऐसा कह देते थे जिनकी व्याख्या प्रस्तुत करना सम्भव था।

---

1 *शिवकुमार गोयल* - हिन्दुस्तान, दिनांक 24 मई, 1970 में प्रकाशित लेख 'स्वातन्त्र्य वीर सावरकर की कुछ स्मृति चिन्गारियाँ'।

जयप्रकाश नारायण

(Jaiprakash Narain, 1902-1979)

जयप्रकाश नारायण ने अपने 1970 के दीक्षान्त भाषण में कहा था कि "वर्तमान राजनीति में विशृंखलता फैलती जा रही है। दलों के आदर्शों के विस्तार की अपेक्षा उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण, आदर्शों का अवमूल्यन, व्यक्तिगत तथा विशेष हितों के लिए दल-निष्ठा का परिवर्तन, विधायकों का क्रय-विक्रय, दल की आन्तरिक अनुशासनहीनता, दलों के बीच अवसरवादी मित्रता तथा सरकार की अस्थिरता आदि आज के विचारणीय विषय बन गए हैं।"[1]

आधुनिक भारतीय विचारकों में जयप्रकाश नारायण का अग्रणी स्थान है। एक सर्वोदयी विचारक के रूप में उनका स्थान आचार्य विनोबा भावे के बाद लिया जाता है। कांग्रेस के तीस वर्ष के एकछत्र शासन को समाप्त कर, जनता सरकार लाने में 'लोकनायक' जयप्रकाश की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। वर्षों से जयप्रकाश सक्रिय राजनीति से दूर थे, इस दिशा में उनकी जागरूकता निरन्तर बनी रही। आपातकाल की समाप्ति के बाद उनकी जागरूकता रचनात्मक रूप में 'शान्तिपूर्ण' बन गई। 15 मार्च, 1977 को प्रेस के माध्यम से राष्ट्र के नाम अपने सन्देश में उन्होंने कहा—"मेरे सपनों के भारत में प्रत्येक जन, प्रत्येक साधन निर्बल की सेवा में समर्पित है, जिसके स. 'अन्त्योदय' अर्थात् सबसे निर्बल और निर्धनतम व्यक्ति के कल्याण से संलग्न है — मेरे सपनों के भारत में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक आदमी के काम में हाथ बँटाता है, अधिकारी और जन-प्रतिनिधि जनता के सेवक हैं और यदि वे गलत रास्ते पर चलें, जनता को उन्हें रोकने का अधिकार है, जहाँ किसी पदाधिकारी को कोई विशेषाधिकार नहीं, जनता द्वारा सौंपा गया विश्वास समझा जाता है। मेरे सपनों का भारत एक स्वतन्त्र प्रगतिशील और गाँधीजी के पद चिन्हों पर चलने वाला भारत है।" "मानव का लक्ष्य क्या है? इस की तरफ आज सारी दुनियाँ का ध्यान जाना चाहिए। मनुष्य विज्ञान और उत्पादन-वृद्धि के लिए जिएगा या उसके सामने कोई दूसरा उद्देश्य है? आज सारी दुनियाँ विज्ञान के पीछे है, इसलिए दूसरे सवालों की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। हम यन्त्र को ऐसी छूट नहीं देना चाहते कि वह मनुष्य को छिन्न-भिन्न कर डाले।"

"मेरी समझ में नहीं आता कि सत्ता में चले जाने से कैसे राष्ट्र की सेवा हो जाएगी? क्या पार्लियामेन्ट में चले जाना या मन्त्री बन जाना ही राजनीति है? जनता की विशाल राजनीति उसके बाहर पड़ी है। मैं अदब के साथ कहना चाहता हूँ कि दूसरे पक्ष और सत्ता की राजनीति के कुएँ में डुबकी लगा रहे हैं, जबकि मैं जनता की राजनीति, लोकनीति के विशाल सागर में तैर रहा हूँ।"

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

महात्मा गाँधी के अनुयायी जयप्रकाश नारायण आधी शताब्दी तक भारत के सार्वजनिक जीवन पर छाये रहे। उनमें दूसरों को प्रभावित करने की ताकत थी। निडरता, नैतिक साहस, प्रामाणिकता और देशवासियों के लिए अटूट प्रेम की भावना उनमें भरी हुई थी। जयप्रकाश जी (1902-1979) का जन्म बिहार के सिताबदियारा गाँव में, जो अब उत्तर प्रदेश में है, 11 अक्टूबर, 1902 को हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा पटना में हुई। बाल्यकाल से नैतिक तत्वों के प्रति उनका आकर्षण रहा और गीता के 'कर्म करो' के सन्देश से अनुप्राणित रहे। एम. एन. राय का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा, लेकिन उनकी राजनीतिक विचारधारा को प्रभावित करने में सबसे ज्यादा गाँधीजी का हाथ रहा।[2] अपने छात्र-जीवन में जयप्रकाश नारायण मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हुए, लेकिन रूस में बोल्शेविक पार्टी द्वारा किए गए अमानुषिक अत्याचारों से उनका हृदय काँप गया और 1940 के बाद वे रूसी साम्यवाद के आलोचक बन गए। भारत के प्रति चीन के विश्वासघात ने और तिब्बत के मामले पर चीन की विस्तारवादी नीति ने उनके इस विश्वास को पुष्ट किया कि साम्यवादी अधिकारवाद और साम्राज्यवाद के पिपासु हैं जिनके लिए नैतिक-अनैतिक सभी साधन ग्राह्य हैं। जयप्रकाश जब कॉलेज में थे तभी 1921 में गाँधीजी के नेतृत्व में चल रहे असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। वह अमेरिका गए और वहाँ 8 वर्ष तक पढ़ाई की। इस अवधि में उन्होंने मार्क्स तथा अन्य समाजवादी विशेषज्ञों के साहित्य का अध्ययन किया। जब 1929 में वह अमेरिका से लौटे तब वह पूरी तरह समाजवादी सिद्धान्तों से प्रभावित हो चुके थे। कांग्रेस समाजवादी पार्टी का गठन हुआ इसके जयप्रकाश महासचिव बने। जयप्रकाश नारायण ने भारतीय समाजवाद के अग्रणी नेता और व्याख्याता के रूप में ख्याति पाई। 1934 में उन्होंने भारतीय समाजवादी कांग्रेस दल की स्थापना एवं इसे लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भाग लिया।[3]

---

1 *जयप्रकाश नारायण* - 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का 52वाँ दीक्षान्त भाषण' 18 फरवरी, 1970 (लोकतन्त्र समीक्षा से उद्धृत पृ. 41)।

2. *जयप्रकाश नारायण* : लोक स्वराज्य, पृ. 6

3 *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा* : वही, पृ. 443

जब काँग्रेस 1937 के चुनावों में भाग लेने को तैयार हुई तब जयप्रकाश ने काँग्रेस को छोड़ दिया। 1942 में गाँधीजी ने 'करो और मरो' का आह्वान किया। उस समय जयप्रकाश हजारीबाग जेल में नजरबन्द थे। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लिया। वे 18 सितम्बर, 1943 को लाहौर रेलवे स्टेशन पर गिरफ्तार किए गए। उन्हें एक अप्रैल, 1946 को जेल से रिहा किया गया। उनकी सेवाओं और त्याग से प्रभावित होकर 1946 में गाँधीजी ने काँग्रेस के राष्ट्रपति पद के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया, किन्तु कार्यसमिति ने यह स्वीकार नहीं किया। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् उन्होंने सरकार में किसी पद पर बने रहना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने 1948 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस छोड़कर भारतीय समाजवादी पार्टी बनाई जिसे प्रजा समाजवादी पार्टी का रूप लिया। 1952 में विनोबा भावे के नेतृत्व में चलाए जा रहे सर्वोदय आन्दोलन की तरफ आकर्षित हुए। वे दलगत और सत्ता की नीति से निराश हो गए थे। सर्वोदय आन्दोलन से उन्हें व्यावहारिक जीवन में उतरने का अवसर मिला। अप्रैल, 1954 में उन्होंने अपने जीवन को सर्वोदय आन्दोलन के प्रति समर्पित करने की प्रतिज्ञा की। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नेता पद का त्याग करके उन्होंने 1954 में शोखोदर में एक आश्रम स्थापित किया और सर्वोदय आन्दोलन एवं ग्रामोत्थान के लिए नए कार्यक्रमों की शुरुआत की। 1970 और 1972 के बीच उन्होंने अपना समय और शक्ति बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में नक्सलवादी विद्रोह को समाप्त करने में लगाई। 1972 के आरम्भ में इनके आदर्शों से प्रेरित होकर चम्बल घाटी के 400 डाकुओं ने इनके समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया।

मार्च, 1974 में बिहार में उत्पन्न विद्रोह के फलस्वरूप जयप्रकाश को पुनः राजनीति में उतरना पड़ा। सरकार की नीतियों के विरुद्ध शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने छात्र संघर्ष समिति का नेतृत्व किया। यह संघर्ष एक वर्ष जारी रहा। जून, 1975 में जब इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को चुनाव में भ्रष्ट तरीके अपनाने के लिए दोषी ठहराया था, तब विपक्षी दल के नेताओं ने उनके त्याग-पत्र की माँग की थी। गैर-कम्युनिस्ट विरोधी दल के नेताओं ने जयप्रकाश नारायण की मौजूदगी में दिल्ली में 23 जून, 1975 को बैठक बुलाई। बैठक में श्रीमती गाँधी से त्याग-पत्र माँगने के लिए विशाल आन्दोलन के कार्यक्रम का मसौदा तैयार किया। 26 जून, 1975 को देश में आन्तरिक आपात स्थिति घोषित कर दी गई और जयप्रकाश नारायण और विपक्षी दलों के प्रमुख नेताओं को नजरबन्द कर दिया गया। गम्भीर रूप से बीमार पड़ जाने पर 12 नवम्बर, 1975 को जयप्रकाश को जेल से रिहा कर दिया गया। 18 जनवरी, 1977 को लोकसभा के लिए चुनावों की घोषणा की गई। जयप्रकाश आगे आए और जनता पार्टी के गठन में सक्रिय सहायता की। जनता पार्टी ने चुनावों में विजय प्राप्त की और केन्द्र में नई सरकार बनाई। जयप्रकाश को चुनावों के पश्चात् 'लोकनायक' के नाम से जाना जाने लगा। जेल में बन्दी होने के दौरान उनके स्वास्थ्य में गिरावट आई। विशिष्ट उपचार के लिए मई, 1977 में वे अमेरिका गए और स्वास्थ्य लाभ के बाद स्वदेश लौट आए।

अस्वस्थ होने के बावजूद वह अपने विवेक और दूरदर्शिता से राष्ट्र को दिशा निर्देश देते रहे। राष्ट्रीय मामलों में वे रुचि लेते रहे और अपने अनुभव और राय देते रहे। जनता सरकार के विभिन्न घटकों की आपसी फूट से वे निराश होते गए। उन्होंने यह स्वीकार किया कि जनता सरकार आपसी फूट के कारण जन-आकांक्षाओं पर खरी नहीं उतरी है। जयप्रकाश का 8 अक्टूबर, 1979 को निधन हो गया।

आधुनिक लोकतन्त्र पर विचार (Thought on Modern Democracy)

जयप्रकाश नारायण ने आधुनिक लोकतन्त्र और उसकी राजनीति पर प्रहार करते हुए फरवरी, 1970 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने दीक्षान्त भाषण में कहा था कि "आज की राजनीति में विशृंखलता फैलती जा रही है। दलों के आदर्शों के विस्तार की अपेक्षा उनका स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण, आदर्शों का अवमूल्यन, व्यक्तिगत तथा विशेष हितों के लिए दल-निष्ठा का परिवर्तन, विधायकों का क्रय-विक्रय, दल की आन्तरिक अनुशासनहीनता, दलों के बीच अवसरवादी मित्रता तथा सरकार की अस्थिरता आदि आज के विचारणीय विषय बन गए हैं।" जयप्रकाश नारायण के अनुसार लोकतन्त्र की समस्या नैतिक समस्या है। लोकतन्त्र के लिए संविधानों, शासन-प्रणाली, दलों और चुनावों का महत्त्व है, लेकिन जब तक जनता में नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक गुणों का समुचित विकास नहीं हो जाता तब तक ये वांछित फल नहीं दे सकते। लोकतन्त्र का सफल संचालन तभी सम्भव है जब देश के नागरिक सत्यप्रिय हों, अहिंसावादी, स्वतन्त्रता-प्रेमी हों तथा दमन का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने की उनमें क्षमता हो, वे सहयोग और सहअस्तित्व में पूरा विश्वास रखते हों, उनमें दूसरों के विचारों को सुनने, समझने तथा सहन करने की क्षमता हो, वे कर्तव्यपरायण हों, उनमें उत्तरदायित्व की भावना हो और सीधा तथा सरल जीवनयापन करने में वे श्रद्धा रखते हों तथा मानव बन्धुत्व और समानता की भावना से पूर्ण हों।

जयप्रकाश की दृष्टि में आधुनिक संसदीय पद्धति अनुपयुक्त है जो दलगत राजनीति पर कार्य करती है और "अनुभव यह बतलाता है कि आज के व्यापक निर्वाचनों में, जिनमें शक्तिशाली केन्द्र-नियन्त्रित दलों द्वारा प्रचुर धन और कपटपूर्ण साधनों का प्रयोग किया जाता है, मतदाता की अपेक्षा दलों और प्रचार-साधनों के पीछे निहित शक्ति तथा हितों का

प्रतिनिधित्व होता है।[1] जयप्रकाश के अनुसार, नौकरशाही बलवान होती जा रही है तथा सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों पर जनता की निर्भरता बढ़ रही है। प्रशासन का रवैया 'सेवक' का न होकर 'स्वामी' का होता जा रहा है। वे आधुनिक लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका से असन्तुष्ट थे। यह दलगत राजनीति जनता के नैतिक चरित्र को गिराती है और उसे स्वतन्त्र मनन, विचार और अभिव्यक्ति का वातावरण प्रदान नहीं करती। राजनीतिक दल और उनकी कार्यपद्धति इस प्रकार है कि जनता उनके आगे असहाय बन गई है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार आज का भारत लोकतन्त्र नहीं दलतन्त्र (Partycracy) है जहाँ धन, संगठन और प्रचार पर आधारित राजनीतिक दल शासन करता है। जयप्रकाश के अनुसार संसद से लेकर ग्राम-पंचायत तक वास्तविक लोकतन्त्र के सृजन के लिए और नागरिकता की भावना पैदा करने के लिए प्रत्येक स्तर पर एक सतत सत्याग्रह चलाया जाना चाहिए। राजनीतिक दलों के विरुद्ध किए गए सत्याग्रह से जनता यह समझ पाएगी कि वे सरकार के स्वामी हैं अथवा मात्र सेवक हैं। जयप्रकाश का यह सुझाव था कि राजनीतिक दलों को स्वयं एक आत्म-निरोधक अध्यादेश (Self denying Ordinance) पास करना चाहिए जिसमें कहा गया हो कि स्थानीय संस्थाओं के मामलों से स्वयं को दूर रखेंगे और वे जन-इच्छाओं तथा आवश्यकताओं के अनुकूल हों। उनके प्रत्यक्ष नियन्त्रण के अधीन होंगे।

जयप्रकाश आधुनिक निर्वाचन पद्धति के विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि ये निर्वाचन जनता को नियन्त्रणकारी सत्ता नहीं सौंपते। वर्तमान प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में दोष है। इससे जनता को कोई वास्तविक शिक्षा प्राप्त नहीं होती। देश की आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए आवश्यक है कि आम चुनाव की पद्धति को समाप्त किया जाए। वर्तमान निर्वाचित सदस्य कार्य करते रहें उनमें से कुछ सदस्य समयान्तर से बदल लिए जाएँ। शक्ति का हस्तान्तरण और प्रशासन का विकेन्द्रीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि स्थानीय स्वशासन के केन्द्र तथा संस्थाओं की स्थापना नहीं होती और जब तक कि सरकार के विभिन्न अंगों में वैधानिक तथा सत्ता सम्बन्ध न हों। ग्राम-सभा तथा मतदाता-परिषद् के माध्यम से चुनाव होने चाहिए। इस सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण ने एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की जो इस प्रकार है—मतदाता परिषद् द्वारा निर्वाचित उम्मीदवार का नाम उस क्षेत्र की समस्त ग्राम सभाओं को भेज दिए जाएँ और तत्पश्चात् प्रत्येक उम्मीदवार के नाम पर मतदान हो। जयप्रकाश के अनुसार निम्नलिखित विकल्पों में से कोई विकल्प अपनाया जाए—

(1) "सर्वाधिक मत प्राप्त उम्मीदवार के सम्बन्ध में एक घोषणा प्रेषित की जाए कि ग्राम-सभा, उच्चतर सभा के लिए उसे प्रतिनिधि के रूप में भेजना चाहती है। ऐसी सभी उम्मीदवारों में से जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त हों उस क्षेत्र से राज्य-विधायिका या संसद (जिसके लिए वह चुना गया है) के लिए सदस्य घोषित किया जाए।

(2) ग्राम-सभा की बैठक में प्रत्येक उम्मीदवार को मिलने वाले मतों को नोट किया जाए, ताकि पूरे निर्वाचन क्षेत्र की विभिन्न ग्राम-सभाओं की बैठक में प्रत्येक उम्मीदवार को प्राप्त मत गिने जा सकें और सर्वाधिक मत-प्राप्त व्यक्ति उस निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधि हो।"[2]

जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रस्तावित यह निर्वाचन-पद्धति ग्राम-सभा को प्रशासकीय मशीनरी का मूल आधार मानकर चलती है और लोकतन्त्र के ऊपरी स्तर को निम्न स्तर से मिलाती है।[3] जयप्रकाश जी के शब्दों में "यह ग्राम-सभाओं को स्थानीयता से ऊपर उठाती है और उन्हें सम्मान, शक्ति एवं महत्त्व प्रदान करती है। नागरिक मतदाता परिषद् और ग्राम-सभा के माध्यम से निर्वाचन में संगठित रूप से भाग ले सकता है। उनके अनुसार राज्य का ढाँचा ग्राम-समाज पर आधारित होना चाहिए न कि पृथक् बिखरे हुए मतदाता। हमारे लोकतन्त्र की मुख्य समस्या यह है कि हम किसी प्रकार "मनुष्य को मनुष्य के सम्पर्क में लाएँ ताकि वे परस्पर सार्थक, विवेकपूर्ण और नियन्त्रित सम्बन्ध रखते हुए रह सकें। जयप्रकाश नारायण दल-निरपेक्ष लोकतन्त्र के समर्थक थे तथा इस बात को मानते थे कि मतदाताओं का कर्तव्य मतदान के साथ समाप्त नहीं हो जाता, वरन् निर्वाचित प्रतिनिधि और मतदाता के बीच नियमित सम्पर्क रहना चाहिए, ताकि वे उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकें।

जनतन्त्र समाज (Jantantra Samaj)

1954 से जयप्रकाश नारायण दलीय राजनीति से विमुख रहे पर अपने चिन्तन को व्यावहारिक जामा पहनाने की आकांक्षा रही और परिणामस्वरूप अप्रैल, 1974 में 'जनतन्त्र समाज' के रूप में एक निर्दलीय संगठन अस्तित्व में आया। जयप्रकाश नारायण की प्रेरणा से 1973 में कुछ बुद्धिजीवी राजधानी में एकत्रित हुए और एक निर्दलीय संगठन बनाने की योजना बनाई। जयप्रकाश के नेतृत्व में यह स्वप्न 13 अप्रैल, 1974 को पूरा हुआ जब राजधानी के गाँधी शान्ति-प्रतिष्ठान

---

1 *Jayprakash Narain, Socialism, Sarvodaya and Democracy*, p. 215
2 निर्मला उपाध्याय के लेख से उद्धृत, वही पृ. 52
3 वही पृ. 53

ने बताया कि समाजवाद भारतीय संस्कृति का विरोधी नहीं है। भारतीय संस्कृति के मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए हम देश
मे समाजवाद ला सकते है। भारत की परम्पराएँ शोषणवादी नहीं है। भारत में बन्धुत्व और सहयोग को सर्वोपरि सम्मान
दिया गया है। भारतीय परम्परा में इसके प्रति कभी विरोध नहीं रहा है कि जीवन की सुख-सुविधाओं में दूसरों को
भागीदार बनाए जाएं। प्राचीन भारत का ग्राम्य-जीवन समाजवादी था। भारत की संयुक्त परिवार प्रणाली और जाति-परम्परा
में हमें समाजवादी उदार प्रवृत्तियों के लक्षण दिखाई देते है। यद्यपि समाजवाद के संगठित आर्थिक सिद्धान्तों का निर्माण
पश्चिम में हुआ है तथापि इनमें सन्निहित आधारभूत आदर्शवाद भारतीय संस्कृति का अंग है।

1974-75 के बिहार-आन्दोलन और परवर्ती परिस्थितियों के सन्दर्भ में जयप्रकाश के विचार

मार्च, 1974 में जयप्रकाश ने ऐतिहासिक बिहार-आन्दोलन को जन्म दिया जो 25 जून, 1975 को श्रीमती इन्दिरा
गाँधी की सरकार द्वारा राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा के बाद शान्त पड़ गया और मार्च 1977 में जनता पार्टी की सरकार
की स्थापना के बाद से 1979 के मध्य तक शान्त रहा। जयप्रकाश ने बिहार-आन्दोलन जिस उद्देश्य से प्रारम्भ किया जो
विचार व्यक्त किए और आन्दोलन के बाद की परिस्थितियों में जो सन्देश दिया, उससे हमें उनके विचार दर्शन का, वर्तमान
सन्दर्भों में, महत्वपूर्ण बोध होता है। बिहार-आन्दोलन के उद्देश्य और जयप्रकाश के विचार बिन्दु निम्नांकित हैं—

बिहार आन्दोलन

संगठित राजनीति से संन्यास लेने के बाद जयप्रकाश नारायण भारतीय लोकतन्त्र की विसंगतियों को भूल नहीं पे
बिहार के सर्वोदय आन्दोलन के अपने प्रयोग से उन्हें छटपटाहट हुई। भारत में लोकतन्त्र का संकट एक विस्फोटक स्थिति
में पहुँच गया था। जयप्रकाश नारायण ने देख लिया था कि समाज की विषमताओं का सर्वोदय के समन्वय के सिद्धान्त
के आधार पर निदान कर पाना मुश्किल है तब उनकी निगाह लोकतन्त्र की पद्धति में उन सुधारों पर केंद्रित हो गई जिनसे
उसकी विसंगतियों को दूर किया जा सके। शक्ति का केन्द्रीयकरण देश को तानाशाही की तरफ धकेल सकता है। इस
खोज के दौरान गुजरात आन्दोलन हुआ और छात्र-शक्ति के प्रति उसमें विश्वास नए सिरे से भर गया। बिहार-आन्दोलन
ने बाद में जो दिशा ग्रहण की उसका मूल जयप्रकाश नारायण की खोज में है।

क्रान्ति की उनके भाषणों में व्यापक व्याख्या हुई। "यह संघर्ष केवल सीमित उद्देश्यों के लिए नहीं हो रहा है।
इसके उद्देश्य बहुत दूरगामी है। भारतीय लोकतन्त्र को वास्तविक तथा सुदृढ़ बनाना, जनता का सच्चा राज कायम करना,
समाज से अन्याय तथा शोषण आदि का अन्त करना, एक नैतिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक क्रान्ति करना, नया बिहार
बनाना और अन्ततोगत्वा नया भारत बनाना।" इस व्याख्या में संघर्ष को किसी दिशा में कितनी दूर तक आगे बढ़ाने की
गुंजाइश थी। जनता सरकारें (बिहार में जयप्रकाश के आह्वान पर स्थापित) के लिए जो कार्यक्रम तय किया गया था वह
आन्दोलन में शामिल लोगों से हिम्मत और आदर्शवादी मूल्यमान की माँग करता था। कार्यक्रम था—जनता सरकार को
समाज में फैली [illegible] अनीति और अन्याय के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए सीलिंग तथा भूमि के प्रगतिशील
कानूनों पर अमल, अनुचित बेदखली पर रोक, भूमिहीनों के लिए बासगीत और खेती लायक भूमि का प्रबन्ध, खेती की
वैज्ञानिक व्यवस्था, मजदूर को उचित मजदूरी, घर घर उद्योग, मुनाफाखोरी और सूदखोरी पर नियन्त्रण, गाँव के लिए आवश्यक
अनाज का गाँव में संग्रह और उसकी उचित मूल्य पर बिक्री हर बच्चे बच्ची को उत्पादक शिक्षा, बीमार का इलाज, झगड़ों
का आपसी निपटारा, छुआछूत, तिलक, दहेज, ऊँचनीच के भेदभाव का अन्त, आदिवासी हरिजन मुसलमान स्त्री के साथ
समान और सम्मानपूर्ण व्यवहार आदि। दिसम्बर के बाद गाँव स्तर पर संगठन को ले जाने और समितियों तथा जनता
सरकार आदि इकाइयाँ गठित करने का काम हाथ में ले लिया गया था, लेकिन इकाइयाँ सघन रूप से उन्हीं प्रखण्डों में
गठित हो पाईं जहाँ युवा या जन-संघर्ष समितियाँ किसी प्रकार आदर्श से जुड़े व्यक्तियों के नेतृत्व में काम कर रही थी
पर जनता सरकारों या संघर्ष समितियों के लिए जो कार्यक्रम तय किया गया था उसके छोटे अंश पर अमल होना शुरू
[illegible] सका। इसकी वजह बिलकुल साफ थी। बिहार में तत्कालीन परिस्थितियाँ इतनी क्रान्तिकारी नहीं बनी थी कि यह
कार्यक्रम अमल में लाया जा पाता, पर आन्दोलन बिहार के समाज को इस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ा रहा था। आन्दोलन
अपनी नियति पर पहुँच कर समाप्त नहीं हुआ, बल्कि उन कारणों से अवरुद्ध हो गया था जो उसके नियन्त्रण से बाहर थे।

25 जून, 1975 को श्रीमती गाँधी द्वारा राष्ट्रीय आपात-स्थिति घोषित कर देने और जयप्रकाश सहित देश के विरोधी
पक्ष के सभी शीर्षस्थ नेताओं को जेल में डाल देने के कारण बिहार आन्दोलन शान्त पड़ गया। मार्च 1977 में श्रीमती गाँधी
और उनकी सरकार का जो अप्रत्याशित पतन हुआ वह बिहार आन्दोलन जयप्रकाश, भारतीय जनता और लोकतन्त्र की
विजय थी। जन-शक्ति ने निरंकुशता पर सम्पूर्ण शक्ति से प्रहार कर, उसे धराशाही कर दिया था। जनता पार्टी की सरकार
आने के बाद जयप्रकाश ने यह सलाह दी कि वे सरकार से रचनात्मक सहयोग करें। बिहार आन्दोलन का उद्देश्य किसी
प्रकार की हिंसक क्रान्ति अथवा लोकप्रिय सरकार के विरुद्ध विद्रोह नहीं था। जयप्रकाश ने कहा था कि "बिहार आन्दोलन

जनता को शिक्षित और संगठित करने की कोशिश कर रहा है ताकि जनता अपने कर्म से अपने जीवन में परिवर्तन ला सके और उसे बेहतर बना सके। सामाजिक परिवर्तन का यह पक्ष है जिसकी ओर परम्परागत राजनीति ने बहुत कम ध्यान दिया है। राजनीति, कानून और प्रशासन की प्रक्रिया अपेक्षा और विश्वास पर आश्रित रही है। कानून का क्रियान्वयन जनता के सक्रिय सहयोग के बिना नहीं हो सकता। जब तक जनता में अपने अधिकारों के प्रति जागरण पैदा नहीं होता वह संगठित नहीं हो सकती। बिहार आन्दोलन संघर्ष समितियों और जनता सरकार के माध्यम से इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील है।"

बिहार आन्दोलन अनेक कमजोरियों का शिकार बना। इसमें छात्र शक्ति पर ज्यादा बल दिया गया। ग्रामीण क्षेत्र आगे बढ़ा, लेकिन शहरी क्षेत्र नहीं। फिर भी आन्दोलन जयप्रकाश के व्यक्तित्व में बहुत दूर तक केन्द्रित हो गया। उसका फल यह हुआ कि अस्वस्थता के कारण जब जयप्रकाश सक्रिय नहीं हो पा रहे थे, उनके इर्द गिर्द की भीड़ घट रही थी। जनता पार्टी ने लोकनायक की आशाओं पर तुषारापात किया और उन्हें कहना पड़ा कि "जनता पार्टी हमारे आन्दोलन के गर्भ से पैदा हुई है, इसलिए उसकी सफलता विफलता के लिए हम जिम्मेदार हैं, विशेषकर वे युवक और छात्र जिन्होंने आन्दोलन में जनता पार्टी के निर्माण में तथा उसको विजयी बनाने के अभियान में हिस्सा लिया है। जनता पार्टी जिस ढंग से और जिस रूप से बनी है वह अपनी वर्तमान गतिविधियों के लिए उत्तरदायी है। जनता पार्टी से जो अभिलाषाएं जनता ने की थीं वे पूरी नहीं हुई। सत्ता आज कुछ हाथों में केन्द्रित है। जब तक सत्ता का केन्द्रीयकरण रहेगा, तब तक तानाशाही का खतरा बना रहेगा, इसलिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण जरूरी है। इसके अलावा आर्थिक, सामाजिक समस्याओं के हल की दिशा में वह विशेष कुछ नहीं कर पाई है। इस कारण जनता में असन्तोष फैल रहा है। ऐसी परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए, युवा जनता को तथा अन्य आन्दोलनकारी युवा संगठनों को क्या करना चाहिए, यह एक विचारणीय प्रश्न है।"

सेना संविधान के लिए

अप्रैल, 1975 के अन्तिम सप्ताह में अपनी उड़ीसा यात्रा के दौरान जयप्रकाश ने विचार प्रकट किया कि सशस्त्र सैनिकों को अनैतिक आज्ञाएँ नहीं माननी चाहिए जिसे सरकार ने गम्भीरता से लिया और तत्कालीन केन्द्रीय गृहमन्त्री ने उसे 'देशद्रोह' बताया। जयप्रकाश की मंशा कभी नहीं रही कि सेना विद्रोह पर उतरे। जयप्रकाश ने केन्द्रीय गृहमन्त्री के आरोप का जवाब देते हुए, स्पष्टीकरण किया "मैंने इस सम्भावना की ओर इशारा किया था कि देश में किसी प्रकार की तानाशाही प्रवृत्तियाँ प्रजातन्त्र का गला घोंटने का प्रयास कर सकती हैं, ऐसी स्थिति में सेना का कर्तव्य देश, उसके ध्वज और उसके संविधान के प्रति है। देश के संसदीय या सैनिक कानूनों में भले ही स्पष्ट रूप से यह न लिखा हो, सेना का यह कर्तव्य है कि वह अधिनायकवादी खतरों से देश को बचाए, अगर कोई दलीय सरकार या दलीय नेता अपने दल और सत्ता के हितों को आगे बढ़ाने के लिए सेना का इस्तेमाल करना चाहे तो सेना का यह कर्तव्य है कि वह अपना उपयोग न होने दे।"

जयप्रकाश नारायण ने सेना के सन्दर्भ में एक और स्पष्टीकरण किया—"मैं प्रायः इस तथ्य की ओर इशारा करता हूँ जो कि ऐतिहासिक तथ्य है कि एक हिंसात्मक क्रान्ति तब तक कामयाब नहीं होती जब तक कि सत्तारूढ़ दल का विघटन नहीं होता और अधिकांश सेनाएँ या तो तटस्थ रहें या फिर क्रान्ति के पक्ष में चली जाएँ। मैंने यह बताया है कि एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति में सेना को ऐसा करने की जरूरत नहीं है। मगर यदि सत्ताधारी एक शान्तिमय क्रान्ति को दबाने के लिए सेना का इस्तेमाल करे तो सेना को इस दुरुपयोग को रोकना चाहिए। मैंने नागरिक अव्यवस्था की अवस्था में सशस्त्र सेनाओं के उपयोग की आलोचना की है, क्योंकि ऐसी गड़बड़ी में असैनिक सशस्त्र दल होते हैं। अगर इस सबका मतलब देशद्रोह होता है तो मुझे उस अपराध के कटघरे में खड़े होने में कोई हिचकिचाहट नहीं।"

पुलिस के सिलसिले में उन्होंने कहा कि वर्तमान आन्दोलन में पुलिस ने ज्यादा बल का प्रयोग किया है। "मैं यह अपना फर्ज समझता हूँ कि पुलिस को यह समझाऊँ कि मैं उन्हें विद्रोह करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, उन्हें अपना फर्ज पूरा करना चाहिए मगर उन्हें ऐसी आज्ञाएँ नहीं माननी चाहिए जो गैरकानूनी हों या उनके अन्तःकरण के विरुद्ध। मैं नहीं मानता कि यह खतरनाक है। मगर यदि है तो यह शान्तिपूर्ण क्रान्ति का हिस्सा है।" जयप्रकाश नारायण का मत था कि आन्दोलनकारियों को पुलिस के प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि संघर्ष उनके साथ नहीं है। वे राज्य के स्थायी कर्मचारी हैं और सरकार बदलने पर वे सेवा में रहेंगे। जयप्रकाश नारायण ने यह गलत बताया कि उन्होंने सेना या पुलिस को जनता आन्दोलन में शामिल होने के लिए कहा है।

दलीय चरित्र सुधार

जून, 1978 में जनता पार्टी के चरित्र सुधार सम्बन्धी एक प्रश्न के उत्तर में लोकनायक ने कहा कि "मैं अपने देश के भविष्य के बारे में आश्वस्त हूँ कि चाहे जो अन्दरूनी कमजोरियाँ, झगड़े, मतभेद नजर आते हैं, उन सबके बावजूद हम इकट्ठे रहेंगे और जहाँ भी राष्ट्रहित का प्रश्न आएगा वहाँ हम सब एक होंगे। आज जो हो रहा है मैं उसको देखता हूँ

और उससे घबराता नहीं हूँ कि छोटी-छोटी पार्टियाँ बन कर और उनके आपस के अस्थिर गठबन्धनों के आधार पर फ्रांस में जैसे राजनीति चली वैसी यहाँ न चले और एक मजबूत संस्था रहे जिनके हाथ में सत्ता हो और उसका विकल्प जो हो वह उसी प्रकार का हो तो एक तरफ जनता पार्टी है उसमें बहुत-सी पार्टियाँ विलीन हो गई हैं, लेकिन विलीन होकर उन्होंने अपना अस्तित्व कायम रखा है। उनको चाहिए कि वे बाहर अपने संगठनों को तोड़ डालें तभी जनता पार्टी का सही मायने में एकीकरण हो सकता है। नहीं तो डर रहता है कि ये आपस में मतभेद के कारण पार्टी छोड़कर चले जाएँगे—अपना घर बनाकर रखा है पहले से और वहीं कुछ काम चलता है यह सब खत्म होना चाहिए और जनता पार्टी में सबको मिलकर सही मायने में एक पार्टी बनाना चाहिए। जो उसमें हों, उनकी वफादारी जनता पार्टी के साथ हो और वे जो परिवर्तन, उद्देश्य या कार्यक्रम लाना चाहते हों, वह लाने का प्रयत्न अन्दर से करें। बाहर गुट बनाकर और पार्टियाँ बनाकर और उनसे जनता पार्टी में आकर कुछ बल देकर, उसमें अपनी टुकड़ियों को बल देना गलत है।

जनशक्ति . जनसमिति का दर्शन

मार्च, 1977 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी की कांग्रेस सरकार के पतन के कुछ दिन बाद जयप्रकाश नारायण ने आकाशवाणी को एक भेंटवार्ता में 'लोकतंत्र' को निर्बाध गति से चलाने की एक चाबी लोगों के हाथ में सौंपने की कोशिश की। कांग्रेस सत्ता से हट चुकी थी—जयप्रकाश नारायण का एक तात्कालिक लक्ष्य पूरा हो चुका था, पर उन्होंने बिना समय गँवाए अपने दीर्घकालिक लक्ष्य को सामने रख दिया। जयप्रकाश नारायण ने प्रथम चरण के रूप में जनसमितियों की स्थापना का प्रस्ताव रखा। यह सुझाव नया नहीं था। 1974 में 'लोकतंत्र के लिए युवा' नामक एक अभियान में जयप्रकाश ने युवकों के बीच निगरानी समितियों के गठन का प्रयास किया था। उन समितियों का स्वरूप सीमित था। चुनाव के दौरान होने वाले भ्रष्टाचार आदि पर युवक नजर रखें। यह काम ज्यादा फैल नहीं सका। बिहार आन्दोलन की लम्बी अवधि में जयप्रकाश ने इस कार्यक्रम को विस्तृत ढंग से सोचा। चुनावी निगरानी की सीमाएँ तोड़ी और चुनाव के बाद चौड़े हुए प्रतिनिधियों और मतदाताओं के बीच संवाद और सम्पर्क के आयाम इसमें जोड़े। मार्च, 1977 के चुनाव अभियान में उन्होंने इस विचार को रखा। 20 मार्च, 1977 के फैसले ने परिस्थिति बदल दी। यह फैसला कांग्रेस को अस्वीकृत या जनता पार्टी को स्वीकृत किए जाने तक ही सीमित नहीं था, उसने रोटी और प्रगति के बदले सरकार और सत्तारूढ़ दल के हाथ में अपनी व्यक्तिगत आजादी और देश के लोकतन्त्र को गिरवी रखने से इनकार किया और बताया कि लोकतन्त्र का अर्थ 'जनता के नाम पर' चलने वाली सरकार नहीं है, बल्कि जनता की इच्छा द्वारा चलने वाली सरकार है।

जनसमितियों की जिम्मेदारियाँ कुछ इस प्रकार होंगी। अपने स्तर पर यह निगरानी करना कि सरकार की योजनाएँ और कार्यक्रम उनकी घोषित नीति के अनुरूप ही चलती रहें। पिछड़े वर्गों के लिए बनाई गई कल्याणकारी योजनाएँ निर्बाध रूप से लागू होती रहें, नागरिकों और विशेषकर पिछड़े वर्गों के अधिकारों की रक्षा करना, अपने क्षेत्र में लोकसभा और राज्यसभा के लिए चुन कर भेजे गए प्रतिनिधियों से हर तीन महीने में एक बार मिलना तथा प्रतिनिधियों से उनके वर्तमान काम और भविष्य की योजनाओं का विवरण प्राप्त करना तथा अपने चुनाव क्षेत्र की समस्याओं पर उनसे विचार विमर्श करना, वर्ष में एक बार इन प्रतिनिधियों से उनकी आय और सम्पत्ति का ब्यौरा लेना, स्थानीय अत्याचारों, अन्यायों तथा स्थानीय झगड़ों को पुलिस और अदालत की कम से कम मदद लेते हुए सुलझाने का प्रयत्न करना, स्थानीय विकास के रास्ते में आने वाली बाधाओं को हल करने के लिए स्थानीय प्रशासकीय एजेन्सियों की मदद लेना, मदद करना और जरूरत पड़ने पर जनता को संगठित करके शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह के जरिए प्रशासन और समाज को गलत कार्यों से विरत करना और सही कार्यों की तरफ प्रेरित करना।

संगठन के ढाँचे को चार स्तरों में बाँटा गया—देहाती इलाकों में गाँव को तथा शहरी इलाकों में 150 से 200 परिवारों की सभा को बुनियादी इकाई माना गया। दूसरे स्तर में पंचायत और शहर की 8 से 10 हजार तक की आबादी के मोहल्ले को शामिल किया गया। तीसरे स्तर में प्रखण्ड और वार्ड तथा चौथे स्तर में संसदीय चुनाव क्षेत्र आएगा। बुनियादी इकाई का गठन गाँवजन की उपस्थिति में सर्वानुमति से किया जाएगा। इसमें 5 से 15 सदस्य चुने जाएँगे। सावधानी बरती जाएगी कि इसमें स्त्रियाँ, हरिजन और अन्य कमजोर वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व मिले। समिति का कम से कम आधा भाग युवाओं का हो। समिति का एक संयोजक रहेगा। यह समिति किसी राजनीतिक पार्टी की समिति का रूप न ले, इसलिए यह ध्यान रखा जाएगा कि इसमें आने वाले सदस्य चाहे किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध हों या न हों, वे पूरे समाज के विश्वासपात्र हों, लेकिन संयोजक का गैर-राजनीतिक होना आवश्यक माना गया है। ग्रामीण स्तरीय जनसमितियों के संयोजकों और हर गाँव से एक अन्य प्रतिनिधि को मिलाकर पंचायत स्तरीय समिति का गठन किया जाएगा। प्रखण्ड या संसदीय स्तर की समिति में क्षेत्र की हर पंचायत समिति के तीन या चार सदस्य होंगे। यह माना गया है कि प्रखण्ड या संसदीय स्तर की समितियों के सदस्य लोकसभा या विधानसभाओं के चुनाव लड़ने का प्रयत्न नहीं करेंगे। शहरी स्तर का संगठन इसी ढाँचे पर खड़ा किया जाएगा। इस तरह कोशिश की जाएगी कि ये जनसमितियाँ देश की राजनीतिक पद्धति का एक स्थाई अंग बन सकें और मतदाताओं और उनके चुने हुए प्रतिनिधियों के बीच आम जनता

और प्रशासन के बीच एक मजबूत पुल की भूमिका निभा सकें। जयप्रकाश नारायण का कहना है कि "सरकार में जाने या कुर्सी सम्भालने के बाद गलती किसी व्यक्ति से हो सकती है इसलिए उसे यह खुशी होनी चाहिए कि दूसरे उसे या उसके सहयोगियों का गठन सरकार के हित में कर रहे हैं। जो राजनीतिक दल आज सत्ता में हैं उनसे मुझे आशा है कि वे इस तरह के कदम का स्वागत करेंगे। इन समितियों को वे अपना विरोधी नहीं, अपने सहयोगी की तरह मानेंगे।"

जयप्रकाश नारायण राष्ट्रीय जनसमिति की स्थापना के लिए उत्सुक थे। उनकी अस्वस्थता के कारण यह समिति भी विलम्ब से जिसकी पहली बैठक पटना में दिनांक 30-31 जुलाई, 1977 को जयप्रकाश नारायण की अध्यक्षता में हुई। इस समिति में 30 सदस्य नियुक्त किए गए, जिनमें प्रमुख थे—आचार्य कृपलानी, एम. सी. छागला, बी. के. जॉन, नारायण देसाई आदि। इस बैठक में कई प्रस्ताव पारित किए गए। एक प्रस्ताव में महँगाई और बेरोजगारी में वृद्धि और भ्रष्टाचार पर चिन्ता व्यक्त की गई और सरकार से आग्रह किया गया कि केन्द्र और राज्यों की सरकारें आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में सक्रिय हों—जनता ने उन्हें इसीलिए चुनकर सत्ता सौंपी है। दूसरे प्रस्ताव में आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम के तहत आर्थिक तथा अन्य अपराधियों को नजरबन्द करने के विचार को गलत बताते हुए सभी राजनीतिक बन्दियों को रिहा करने की माँग की गई। अन्य प्रस्ताव में हरिजनों तथा अन्य कमजोर वर्गों के प्रति अमानवीय व्यवहार की निन्दा की गई और कहा गया कि ऐसी घटनाओं को कानून और व्यवस्था का मामला कह कर नहीं टाला जा सकता—सरकार को इधर ध्यान देना चाहिए।

उद्घाटन भाषण में जयप्रकाश नारायण ने समिति की उपयोगिता, कार्य-विधि और लक्ष्यों की व्याख्या की—

1. समिति जनता और उन प्रतिनिधियों के बीच कड़ी का काम करेगी। यह जनता का कर्तव्य है कि उसके निर्वाचित प्रतिनिधि अपने कर्तव्य पथ से च्युत न होने पाएँ।

2. जनशक्ति को संगठित और विकसित करना समिति का कर्तव्य है—जो उसे उदाहरण प्रस्तुत करके करना है।

3. जनसमितियों को राजनीति, जाति या वर्गों के प्रभाव से मुक्त होना चाहिए और दलित तथा शोषित वर्गों के हितों की रक्षा करनी चाहिए।

हर गाँव और मोहल्ले में जनसमिति बनाने का आन्दोलन चला नहीं, पर जनसमितियों के दर्शन में हमें लोकतन्त्र के हाथ सशक्त रक्षा कवच का बोध होता है जो महत्वपूर्ण है।

नेतृत्व, लोकतन्त्र, योग्यता एवं शासन-प्रणाली पर जयप्रकाश के विचार

जुलाई, 1978 में एक साक्षात्कार में लोकनायक जयप्रकाश ने नेतृत्व की आवश्यकता, लोकतन्त्र के लिए भारतीयों की योग्यता, भारत के लिए उपयुक्त शासन प्रणाली, जनता पार्टी का संगठन एवं कर्तव्य आदि पर प्रकाश डाला, जो निम्नांकित प्रकार से है—

नेतृत्व—"बिना नेतृत्व के व्यक्ति संगठित नहीं हो सकते हैं। जब गोकुल डूब रहा था तब कृष्ण न होते तो उसका उद्धार न होता। जब नेतृत्व दिया तो सभी उस पर चले गए। नेता जो भारतीय मूल्यों को मानता हो और जिसके प्रति भारतीय जनता की श्रद्धा हो, उसका अनुसरण व्यक्ति कर सकते हैं फिर चाहे वह कितना ही क्रांतिकारी कार्यक्रम या विचार रखे।" "दक्षिण भारत का रहने वाला कोई व्यक्ति प्रधानमन्त्री हो सकता है यदि वह प्रभावशाली हो और उत्तर को स्वीकार्य हो—दक्षिण के निवासी को भारतीय नहीं मानते, यह नहीं कहा जा सकता, लेकिन उत्तर के जिस बात को कहें उसे दक्षिण के निवासी मानें, यह नहीं हो सकता। आज भारतीयता यदि है तो (अपने शुद्ध रूप में नहीं कह सकते पर बदलाव के साथ कहें) वह दक्षिण में ही है। उत्तर में मुस्लिम शासन की वजह से फर्क पड़ गया है। आज तक हमलावर लोग आते रहे उनका भी असर पड़ा है। जो बाहर से आए थे वे भारत के मुकाबले सांस्कृतिक दृष्टि से कम थे, पर वे यहीं समाप्त हो गए। आज के भारत में हमें सोचना पड़ेगा कि भाषा की नीति को किस तरह बनाएँ कि दक्षिण की रिश्तेदारी उसमें हो सके। विभिन्न भाषाओं के लिए केन्द्र में स्थान किस तरह हो यह सोचना चाहिए।"

क्या हिन्दुस्तानी लोकतन्त्र के योग्य हैं?—हम लोकतन्त्र के योग्य नहीं, यह गलत बहस है। हमारे जैसा लोकतन्त्र एशिया में और कहीं नहीं है—जापान और इज़रायल को छोड़कर जिनमें नागरिक स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति की आजादी, स्थापित सत्ता से असहमति की आजादी और उस सत्ता के विकेन्द्रीकरण के अधिकार संविधान सम्मत हैं।

"हम लोकतन्त्र के योग्य हैं इसका एक और प्रमाण है। जब इमर्जेंसी लागू हुई थी, लाखों व्यक्ति उत्तर भारत में गिरफ्तार हुए थे और दमन के जो उपाय किए गए थे वे इमर्जेंसी के आवश्यक अंग नहीं थे। कांग्रेस ने उसको बर्दाश्त किया—पुरानी कांग्रेस ने भी जनता को जब मौका मिला उसने चुनाव में जवाब दिया। अतः लोकतन्त्र कोई विदेशी पौधा नहीं है जो हमारे यहाँ लगा दिया गया हो। इस मिट्टी में उसकी गाथाएँ हैं, यादें हैं, वे हमारे मानस में काम करती हैं। मगध भारत में साम्राज्यवाद का केन्द्र रहा। लिच्छवियों का गणतन्त्र वैशाली। जनपदीय लोकतन्त्र वज्जिसंघ। यह जनतान्त्रिक

और लोकतान्त्रिक परम्परा है कि वे लोकतन्त्र जैसे अन्य लोकतन्त्र थे, वैसे ही नागरिक पर लागू होते थे दस्यु पर नहीं। चुनाव की पद्धति हमारे यहाँ रही है।"

भारत के लिए उपयुक्त शासन प्रणाली—सम्प्रा_ वर्गीय भारत में संसदीय लोकतन्त्र की जगह राष्ट्रपति प्रणाली होनी चाहिए। जयप्रकाश जी इसके विरुद्ध थे—"हमारे देश में एकात्मक सरकार नहीं हो सकती—राष्ट्रपति प्रणाली का तानाशाही में बदल जाना आसान है। उसमें एक व्यक्ति होता है जिसके चारों ओर व्यक्ति होते हैं। यह ठीक है कि बिना एक व्यक्ति के नेतृत्व में संसदीय लोकतन्त्र नहीं चल सकता, परन्तु हमारे देश में जो परिस्थितियाँ हैं, उनमें राष्ट्रपति प्रणाली लोकतन्त्र से अलग चली जाएगी। हमारे यहाँ विभिन्नताएँ हैं, भाषावार राज्य हैं। ऐसी अवस्था में राष्ट्रपति प्रणाली के पैर मजबूत नहीं हो सकते।"

दलीय संगठन और कर्तव्य—लोकनायक का विचार था कि "आज हमारे विधायकों पर जनता का अंकुश नहीं रहा। सशक्त असहमति को निरुत्साह करना गलत है।" जयप्रकाश के अनुसार पार्टी के बाहर के संगठनों को समाप्त कर देना चाहिए। "मैं बराबर इसके पक्ष में रहा हूँ। जनता पार्टी के घटक अपने बाहर के संगठनों को समाप्त नहीं करना चाहते। वे सही मायने में एकीकरण नहीं चाहते हैं और अवसरवादिता से काम ले रहे हैं।"

जयप्रकाश नारायण ने शिखर राजनीति की उपलब्धिहीनता की ओर ध्यान दिलाया। "नेता उनके साथ चिपके रहेंगे तो व्यक्ति सरकार से नहीं जुड़ सकेंगे। राजनीतिक आर्थिक विकास नहीं हो सकेगा। आज खेती में नुकसान हो रहा है क्योंकि गाँव और शहर का असन्तुलन हमारे राजनीति में व्याप्त रहा है। कारण यह है कि जो राजनीति में गाँव से आए हैं वे शहर में वैसी नीतियाँ निश्चित करते हैं जो मध्य वर्ग और उसके हितों को सामने रखती हैं। मजदूर वर्ग या भूमिहीन खेतिहरों का संगठन होना चाहिए। ग्रामीण और शहरी क्षेत्र के श्रमिकों के बीच उनके अपने नेता होने चाहिए—उम्मीद थी कि यह संघर्षवाहिनी के माध्यम से होगा, पर मैं अपनी बीमारी के कारण निर्देश नहीं दे सका।" सम्पूर्ण क्रान्ति की मेरी धारणा में ऐसा मंथन चाहिए जिसमें सब मिल जाएँ और नई चीज तैयार हो। यह शिखर राजनीति में चलते रहने पर नहीं हो सकता है। जयप्रकाश नारायण आगे की ओर देखते रहे जबकि राजनीति का चरित्र पीछे की ओर लौट रहा है। वह निराशावादियों की तरह यह नहीं मानते थे कि इस देश को सेना या पुलिस ठीक कर सकती है। "सैनिक या पुलिस तख्ता पलट तभी सम्भव होगा, जब आर्थिक गतिरोधक हो जाए और आर्थिक संकट हो। जब हम बढ़ रहे हैं यह खतरा नहीं दिखाई पड़ता है।"

भूदान आन्दोलन को एक नया आयाम

1957 में बम्बई में आयोजित एशियाई देशों के समाजवादियों के सम्मेलन में जयप्रकाश नारायण ने कहा था कि राजसत्ता के जरिए समाजवाद लाने की कोशिश मानव-जाति को 'कल्याणकारी राज्य' तक ले जा सकती है, आजादी, समता और भाईचारे तक नहीं। इस अवसर पर जे. पी. ने भूदान आन्दोलन के जरिए लोकशक्ति को जाग्रत करने की सम्भावनाओं को रेखांकित किया। भूदान आन्दोलन धीरे-धीरे समाप्त हो गया जिसके दो कारण थे—मन्त्रियों और सरकारी मशीनरी को आन्दोलन का अन्तरंग हिस्सा मान लिए जाने पर, भूदान का नैतिक पक्ष कुण्ठित हो गया। दूसरे आन्दोलन के कार्यकर्ताओं ने भूदान या भूमि वितरण के बाद पीछे मुड़कर नहीं देखा। असफलताओं के बावजूद भूदान से जितनी जमीन बँटी उतनी शायद कोई राज्य सरकार सीमाबन्दी कानून के अधीन ही बँटवा सकी है।

1970 में मुजफ्फरपुर की जनसभा में जे. पी. ने भूदान आन्दोलनों को नया आयाम दिया। ग्राम प्राप्ति की पुष्टि और स्वराज्य की स्थापना जरूरी है, जिसके लिए ग्राम सभा की स्थापना, जमीन का बीसवाँ हिस्सा भूमिहीनों में बाँटना, ग्रामकोष की स्थापना और शान्ति सेना की स्थापना की जाए। नक्सलपंथी समस्या के सन्दर्भ में जे. पी. ने बासगीत जमीन के पर्चे दिखलाने, मजदूरी की समस्याएँ समझने और सुलझाने और शक्तिशाली तत्वों के शोषण से गरीबों को बचाने के लिए खुद काम करने का संकल्प किया। मुसहरी प्रखण्ड जे. पी. की प्रयोगशाला बना।

जयप्रकाश नारायण का योगदान एवं मूल्यांकन

डॉ. वर्मा के अनुसार "जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के क्षेत्र में सुविख्यात व्यक्ति रहे हैं। यह उनका महत्वपूर्ण योगदान था कि उन्होंने भारत में समाजवादी आन्दोलन को काँग्रेस के झण्डे के नीचे चल रहे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ सम्बद्ध कर दिया। नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण ने समाजवादी विचारधारा को जनता को साम्राज्यवादी राजनीतिक आधिपत्य तथा देशी सामन्तवाद की दासता से मुक्त करवाने की दिशा में मोड़ दिया। उन्होंने समाजवादी दर्शन को दो मुद्दों का समर्पोष बनाया—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम तथा सामाजिक क्रान्ति। भारत के जर्जरित ग्रामीण समाज की विकराल दरिद्रता के सन्दर्भ में जयप्रकाश नारायण ने उन सामाजिक तथा यान्त्रिक बन्धनों के उन्मूलन पर बल दिया जो कृषि के उत्पादन में बाधा डाल रहे थे।"[1]

---

1 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वही, पृ. 446

सुभाषचन्द्र बोस

(Subhash Chandra Bose, 1897-1945)

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

सुभाषचन्द्र बोस (*1897-1945*) का नाम भारत के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है और उन्होंने भारत की आजादी के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दिया। उनके महान् त्याग के कारण जनता ने उन्हें 'नेताजी' की उपाधि से सुशोभित किया। अपने दृढ़ संकल्प और अद्भुत शौर्य द्वारा उन्होंने अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए विदेश में, बिना किसी साधन और सहायता के एक विशाल संगठन तैयार करके संसार में कर्म-भावना का एक आदर्श उपस्थित कर दिया। वह प्रतिभासम्पन्न छात्र थे। उन्होंने आई. सी. एस. की परीक्षा पास की, परन्तु मई, 1921 में त्यागपत्र दे दिया और 24 वर्ष की आयु में सक्रिय राजनीति के क्षेत्र में कूद पड़े।

वह महात्मा गाँधी के विचारों से सहमत न हो सके। मतभेद साधन और साध्य का था। महात्मा गाँधी अपनी आत्मशक्ति की प्रेरणा से कार्य करते थे, जबकि बोस बुद्धि एवं तर्क से चलते थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि गाँधीजी को अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं हुआ था और उनकी योजना में स्पष्टता का अभाव रहता था। गाँधीजी के नेतृत्व में देश के स्वाधीनता संग्राम की गति से सुभाष को बड़ी निराशा हुई और वे नया कार्यक्रम निश्चित करने के लिए विचार करने लगे। चितरंजनदास के रूप में उन्हें एक योग्य नेता प्राप्त हो गया। सुभाष की योग्यता, कार्यपटुता और संगठन क्षमता अद्वितीय थी। सरकार ने उन्हें अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न किया, पर सफलता नहीं मिली। सुभाष की गतिविधियों से आतंकित सरकार ने उन्हें नजरबन्द करके 1925 में मांडले जेल भेज दिया। तिलक को छोड़कर अन्य किसी नेता ने इतना कष्ट सहन नहीं किया जितना सुभाष ने। उन्हें दस बार कारागार में डाला गया और जीवन के आठ वर्ष उन्हें जेल में बिताने पड़े। सुभाष को समझौतावादी रवैया पसन्द न था, वे प्रकृति से विद्रोही थे।

महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में सुभाष को निष्ठा नहीं थी, तथापि उन्होंने इसमें सहयोग किया और जेल गए, पर जब 1934 में गाँधीजी ने आन्दोलन को वापिस ले लिया तो सुभाष ने आक्रोश भरे शब्दों में कहा—"हमारा यह मत है कि राजनीतिक नेता के रूप में गाँधीजी असफल रहे हैं।" कारावास में बोस का स्वास्थ्य खराब हो गया, अतः सरकार ने उन्हें यूरोप जाकर चिकित्सा कराने की अनुमति प्रदान की। यूरोप में उन्होंने विभिन्न राजनीतिज्ञों से भेंट की और उनके समक्ष भारत की स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया। वापस लौटने पर 1938 में उन्हें त्रिपुरा काँग्रेस का सभापति निर्वाचित किया गया। काँग्रेस के अनेक नेताओं से उनका तीव्र मतभेद रहा। 1939 में उन्होंने डॉ. पट्टाभिसीतारमैया को परास्त कर काँग्रेस का सभापतित्व ग्रहण किया। जब सुभाष का विरोध बढ़ता गया तो उन्होंने पद से त्यागपत्र देकर 'फारवर्ड ब्लाक' नामक दल का संगठन किया। शीघ्र ही उनके झण्डे के नीचे बहुत से नवयुवक सम्मिलित हो गए। सरकार ने उन्हें नजरबन्द कर लिया। इस पर उन्होंने सरकार को चेतावनी भरा पत्र दिया—"मुझे मुक्त कर दीजिए, अन्यथा मैं जीवित रहने से इनकार कर दूँगा। इसका निश्चय करना मेरे वश में है कि मैं जीवित रहूँ या मर जाऊँ। शहीदों का खून धर्म का बीज होता है। मुझे आज अवश्य मर जाना चाहिए, जिससे भारत स्वतन्त्र और समृद्ध हो। अपने देशवासियों को मुझे यही कहना है—भूलना नहीं कि दासता मनुष्य के लिए सबसे बड़ा पाप है।" इस पत्र का सरकार पर प्रभाव पड़ा। सुभाष के अनशन और जबरदस्त जन-आन्दोलन के भय से उन्हें मुक्त कर दिया गया।

जेल से मुक्त होते ही सुभाष जन-आन्दोलन को संगठित करने में लग गए। महायुद्ध शुरू होने पर उन्होंने आन्दोलन के लिए जनता का आह्वान किया और यह माँग रखी कि अस्थायी राष्ट्रीय सरकार स्थापित की जाए जिसे गोरी सरकार तुरन्त अपनी सारी शक्तियाँ हस्तान्तरित कर दे। बोस के इन कार्यों से आतंकित होकर सरकार ने उन्हें उनके मकान में नजरबन्द कर दिया और कठोर पहरा बैठा दिया, लेकिन सुभाष पुलिस की आँखों में धूल झोंककर गायब हो गए। यह रहस्य बाद में खुला कि वे घर से छद्मवेश में गायब होकर काबुल होते हुए पेरिस, रूस, जर्मनी और जापान गए हैं। जब सुदूर पूर्व में जापान मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को धूल चटा रहा था। भारत को गुलामी से छुटकारा दिलाने के लिए जापान की सहायता से भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्य से सुभाष ने आजाद हिन्द फौज अथवा भारतीय राष्ट्रीय सेना (Union Liberation Army) का संगठन किया। 'जय हिन्द', 'दिल्ली चलो' और 'लाल किला हमारा है' आदि उनके नारे थे। सुभाष के सेनापतित्व में आजाद हिन्द फौज ने फरवरी, 1944 में भारत पर उत्तरपूर्व की ओर से आक्रमण किया और इम्फाल (आसाम) पर अधिकार कर लिया। आजाद हिन्द फौज इम्फाल से आगे न बढ़ सकी और जापान की हार होने लगी। अगस्त, 1945 में जापान ने अणुबमों की संहारक शक्ति के सामने घुटने टेक दिए और जापान के अधीन सभी प्रदेशों पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। सुभाष को टोकियो भागना पड़ा, किन्तु रास्ते में वायुयान दुर्घटना में उनका प्राणान्त हो गया।

सुभाष चन्द्र बोस के राजनीतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि

सुभाष कर्मयोगी थे, राजनीतिक दार्शनिक अथवा सैद्धान्तिक विचारक नहीं। उनके लिए यह जगत् 'कर्म-क्षेत्र' था। प्रारम्भिक अवस्था में बोस वेदान्त दर्शन के प्रशंसक थे किन्तु कालान्तर में वे सामाजिक और राजनीतिक यथार्थवादी बन गए। 'शक्ति' को उन्होंने सम्मान दिया। भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में उन्होंने कहा कि अतिशय अहिंसा देश के पराभव के लिए उत्तरदायी थी। भारतीय भौतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पतनोन्मुख इसलिए हुए कि उन्होंने भाग्य और प्राकृतिक शक्तियों में अत्यधिक विश्वास किया, आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के सम्बन्ध में उदासीनता प्रकट की, सन्तोष की भावना रखी और अहिंसा के पीछे पागल बने रहे।[1] बोस ने भारत के राजनीतिक इतिहास में मुस्लिम शक्ति की सर्वोपरिता को चुनौती दी। उन्होंने यह मानने से इनकार कर दिया कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व भारतीय राजनीतिक व्यवस्था 'मुस्लिम व्यवस्था' थी। उन्होंने कहा कि तत्कालीन भारत के केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रशासनों में हिन्दुओं का मुस्लिम शासन के साथ सयोग था। भारतीय समाज की समन्वयकारी शक्ति ने विदेशी तत्वों को भारतीय समाज में आत्मसात कर लिया, केवल अंग्रेज इसके अपवाद थे।

सुभाष बोस के राजनीतिक विचार

राजनीतिक यथार्थवाद में विश्वास—सुभाष ने गांधीजी की तरह 'राजनीति के आध्यात्मीकरण' की बात नहीं कही। उन्हें राजनीति और नैतिक प्रश्नों को अथवा धार्मिक तथा राजनीतिक मामलों को मिश्रित करना पसन्द न था। उनका विश्वास राजनीतिक सौदेबाजी में था। उन्होंने जीवन में कहा—राजनीतिक सौदाकारी का रहस्य यह है कि आप वास्तव में जितने शक्तिशाली हैं उससे अधिक शक्तिशाली दिखाई दें। अपनी आवाज को बलशाली शब्दों में रखना चाहिए। ब्रिटिश सत्ता के सामने विनम्र शब्दावली उन्हें पसन्द नहीं आई। उनका विचार था कि महात्माजी को, जो अपने देश का राजनीतिक प्रतिनिधित्व कर रहे थे, राजनीतिक शक्ति के स्वर में बोलना चाहिए था। यदि गांधी स्टालिन, मुसोलिनी अथवा हिटलर की भाषा में बोलते तो ब्रिटिश सत्ता उनकी बात को समझती और सम्मान देती। अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सुभाष सशस्त्र संघर्ष के समर्थक थे और आजाद हिन्द फौज का गठन करके तथा देश को गुलामी से मुक्त कराने के लिए सैनिक अभियान चलाकर अपने विचार को साकार कर दिखाया।

सुभाष ने भाँप लिया था कि राष्ट्र निर्माण के लिए त्याग और कष्ट सहने की आवश्यकता है। देशवासियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए काँटों से भरे रास्ते पर चलना पड़ेगा, घोर कष्टों से जूझना पड़ेगा, बलिदान करना पड़ेगा। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए महान नैतिक तैयारियों की आवश्यकता होगी, क्योंकि नैतिक बल के अभाव में कष्ट सहने और त्याग करने की क्षमता नहीं आ सकती।

पूर्ण स्वाधीनता के उपासक—सुभाष औपनिवेशिक स्वराज्य' के विरोधी थे। वे नेहरू रिपोर्ट मानने को तैयार नहीं हुए और जवाहरलाल नेहरू के कहने पर 1929 के काँग्रेस-प्रस्ताव पर उन्होंने इसी शर्त पर हस्ताक्षर किए, कि यदि अंग्रेजों ने इसे स्वीकार न किया तो काँग्रेस के अगले अधिवेशन में 'पूर्ण स्वतन्त्रता' का लक्ष्य घोषित किया जाएगा। सुभाष की मनोकामना 1930 के लाहौर अधिवेशन में पूरी हुई। 'पूर्ण स्वाधीनता' के लिए पुनः सविनय अवज्ञा आन्दोलन चला, अन्य नेताओं के साथ सुभाष जेल गए, पर जब आन्दोलन मध्य में गांधी-इरविन समझौते से भंग हो गया, तो इस समझौतावादी नीति से उन्हें बहुत क्षोभ हुआ। सुभाष पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए इतने अधीर थे कि वे किसी भी ढिल मिल अथवा शिथिल नीति को सहन नहीं कर सकते थे। उसकी दृष्टि में अहिंसा की नीति समयानुकूल नहीं थी। उन्हें यह विश्वास न था कि अहिंसा से भारत को स्वतन्त्रता मिल सकती है इसलिए, काँग्रेस की नीति से निराश होकर, सुभाष ने भारत से बाहर सैन्य-संगठन किया और शस्त्रबल पर भारत को आजाद कराने का संघर्ष छेड़ा।

गांधीजी की नीति से असहमति, पर गांधी के प्रशंसक—सुभाष यद्यपि महात्मा गांधी की इज्जत करते थे तथापि उन्हें गांधीजी की अहिंसावादी नीति में निष्ठा नहीं थी। वे गांधीजी की भाँति राजनीतिक और नैतिक प्रश्नों को संयुक्त नहीं करते थे तथा गांधीजी की तरह धर्म और राजनीति का बन्धन स्वीकार्य न था, वे गांधीजी के दृढ़ चरित्र एवं अथक परिश्रम के प्रशंसक थे और उन्हें 'राष्ट्रपिता' के नाम से सम्बोधित करते थे। सुभाष गांधीजी के वर्ग समन्वय और ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के आलोचक थे, किन्तु देश की आजादी के लिए गांधीजी की आवश्यकता को वे अनुभव करते थे।

दलीय कार्यक्रम—सुभाष को विश्वास था कि गांधीजी के नेतृत्व में काँग्रेस संगठन की शक्ति क्षीण होगी और भारत में वामपंथी दल की शक्ति बढ़ेगी, इसीलिए उन्होंने नए दल के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया जिसमें उनके राजनीतिक विचारों का सार निहित है। इस कार्यक्रम को, जो सुभाष बोस की पुस्तक 'The Indian Struggle' में दिया गया है, डॉ. वर्मा ने अग्र रूप में प्रस्तुत किया है[2]—

1 *Subhash Bose* The Indian Struggle, p. 192

2 *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा*, वही, पृ. 399

(1) वह दल किसानों और मजदूरों के हितों का समर्थन करेगा, न कि जमींदारों, पूँजीपतियों और साहूकार वर्गों के निहित स्वार्थों का।

(2) वह भारतीय जनता की पूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक मुक्ति के लिए कार्य करेगा।

(3) वह अन्तिम उद्देश्य के रूप में संघात्मक शासन का समर्थन करेगा, किन्तु कुछ वर्षों तक वह अधिनायकवादी शक्तियों से सम्पन्न एक मजबूत केन्द्रीय सरकार में विश्वास करेगा जिससे भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

(4) देश के खेतिहर तथा औद्योगिक जीवन का पुनर्संगठन करने के लिए उसे राजकीय नियोजन की सुदृढ़ तथा समुचित व्यवस्था में विश्वास होगा।

(5) वह नई सामाजिक व्यवस्था का उन पुराने गाँव समाजों के आधार पर निर्माण करने का प्रयत्न करेगा जिनमें गाँव में पंच शासन करते थे। वह जाति जैसी वर्तमान सामाजिक दीवारों को ध्वस्त करने की भी चेष्टा करेगा।

(6) वह आधुनिक संसार में प्रचलित सिद्धान्तों तथा प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए नई मुद्रा-व्यवस्था की स्थापना करने का प्रयत्न करेगा।

(7) वह जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने तथा सम्पूर्ण भारत में समान भूमि-व्यवस्था कायम करने की कोशिश करेगा।

(8) वह उस प्रकार के लोकतन्त्र का समर्थन नहीं करेगा जैसाकि विक्टोरिया के शासनकाल के मध्य में इंग्लैण्ड में प्रचलित था। वह ऐसे शक्तिशाली दल के शासन में विश्वास करेगा जो सैनिक अनुशासन के द्वारा परस्पर आबद्ध होगा। जब भारतवासी स्वतन्त्र हो जाएँगे और उन्हें पूर्णतः अपने साधनों पर निर्भर रहना होगा, उस समय देश की एकता को कायम रखने तथा अराजकता को रोकने का यही साधन होगा।

(9) भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष को मजबूत बनाने के लिए वह अपने आन्दोलन को भारत के भीतर तक सीमित नहीं रखेगा, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार का सहारा लेगा और उसके लिए विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रयोग करने का प्रयत्न करेगा।

(10) वह सब उग्रवादी संगठनों को एक राष्ट्रीय कार्यपालिका के अन्तर्गत संगठित करने का प्रयत्न करेगा जिससे जब कोई कार्यवाही की जाए तो अनेक मोर्चों पर एक साथ कार्य किया जा सके।

फारवर्ड ब्लाक की स्थापना—काँग्रेस की अध्यक्षता का परित्याग कर मई, 1939 में सुभाष बोस ने फारवर्ड ब्लाक नामक नया राजनीतिक दल स्थापित किया। फारवर्ड ब्लाक के झण्डे के नीचे सुभाष देश की वामपंथी शक्तियों को संयुक्त करना चाहते थे। इस दल का उद्देश्य था—अहिंसावादी के चक्कर में न पड़ते हुए भारतीय स्वतन्त्रता को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने के काम में संलग्न रहना। जनवरी, 1941 में बोस ने फारवर्ड ब्लाक दल के प्रमुख सिद्धान्तों का सार इस प्रकार व्यक्त किया—(1) एक पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा उसको प्राप्त करने के लिए अविचल साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष। (2) एक पूर्णतः आधुनिक समाजवादी राज्य। (3) देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए वैज्ञानिक एवं बड़े पैमाने पर उत्पादन। (4) उत्पादन तथा वितरण पर सामाजिक स्वामित्व तथा नियन्त्रण। (5) व्यक्ति को धार्मिक पूजा-पाठ में स्वतन्त्रता। (6) हर व्यक्ति के लिए समान अधिकार। (7) हर वर्ग को भाषा विषयक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता। (8) नवीन स्वतन्त्र भारत के निर्माण में समानता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को लागू करना।

आजाद हिन्द फौज की स्थापना—सुभाष ने अपने फारवर्ड ब्लाक दल के माध्यम से देश के नवयुवकों में क्रान्तिकारी भावनाओं का संचार किया। जून, 1940 में बोस की मुलाकात वीर सावरकर से हुई। उन्होंने सावरकर से कहा कि वे कोलकाता में सार्वजनिक स्थानों से अंग्रेजों की मूर्तियाँ हटाने का आन्दोलन छेड़ने को उत्सुक हैं। सावरकर ने उन्हें छोटे आन्दोलन चलाकर अपनी शक्ति का अपव्यय न करके की सलाह दी और कहा कि उन्हें भारत से बाहर जाकर भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा कर देनी चाहिए और फासिस्ट तथा नाजी शक्तियों के हाथों में पड़ गए भारतीय कैदियों को सही नेतृत्व देकर देश को स्वतन्त्र कराने के लिए बंगाल की खाड़ी अथवा बर्मा की ओर से सैनिक अभियान करना चाहिए।[1] सरकार की नजरों में धूल झोंक कर वे काबुल पहुँच गए और जर्मनी में हिटलर ने उन्हें हर प्रकार की सहायता देने का वचन दिया। जो भारतीय सैनिक जर्मनी और इटली के हाथों में पड़ गए थे उनको मिलाकर सुभाष ने मुक्ति सेना बनाई जिसका कार्यालय ड्रेसडन (जर्मनी) में रखा गया। दिसम्बर, 1941 में जापान ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1942 में टोकियो में आजाद हिन्द फौज के गठन की घोषणा की गई जिसमें 50,000 से अधिक भारतीय सैनिक भर्ती हुए। जून, 1943 में बोस ने टोकियो रेडियो से घोषणा की कि अंग्रेजों से यह आशा करना व्यर्थ है कि वे अपने साम्राज्य को स्वयं नष्ट कर देंगे। हमें भारत के भीतर और बाहर से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। 21 अक्टूबर, 1943 को सुभाष ने आजाद हिन्द फौज के सर्वोच्च सेनापति की हैसियत से स्वतन्त्र भारत की स्थायी सरकार बनाई। जापान, जर्मनी, फिलीपाइन, कोरिया, इटली, चीन, मान्चुको और आयरलैण्ड ने इस अस्थायी सरकार को मान्यता दे दी।

1 *Balshastri Hardas* - Armed Struggle for Freedom, p. 424

जापान ने अन्डमान और निकोबार द्वीप अस्थायी सरकार को दे दिए। सुभाष ने अण्डमान का नाम शहीद द्वीप तथा निकोबार का नाम स्वराज्य द्वीप रखा। 30 दिसम्बर, 1943 को इन द्वीपों पर स्वतन्त्र भारत का झण्डा फहरा दिया गया। 4 फरवरी, 1944 को आजाद हिन्द फौज ने अंग्रेजों पर आक्रमण किया और रामू, कोहिमा, पलेल आदि भारतीय प्रदेशों को अंग्रेजों से मुक्त करा लिया। सुभाष ने 22 सितम्बर, 1944 को 'शहीद दिवस' मनाया और अपने सैनिकों से कहा—"हमारी मातृभूमि स्वतन्त्रता की खोज में है। तुम मुझे अपना खून दो और मैं तुम्हें स्वतन्त्रता देता हूं। यह स्वातन्त्र्य देवी की मांग है।" जर्मनी ने हार मानली और अगस्त, 1945 में जापान ने घुटने टेक दिए। जापान के अधीन जो प्रदेश थे, वे अंग्रेजों के अधिकार में चले गए। सुभाष को टोकियो की तरफ पलायन करना पड़ा और हवाई दुर्घटना में उनका देहान्त हो गया।

जवाहरलाल नेहरू

(Jawaharlal Nehru, 1889-1964)

महात्मा गांधी ने जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्ध में कहा था कि "जहां उनमें एक योद्धा के समान साहस और चपलता है, वहां एक राजनीतिज्ञ की सी बुद्धिमत्ता और दूरन्देशी भी है।-- वे एक निडर, निष्कलंक और निर्दोष सरदार हैं। राष्ट्र उनके हाथों में सुरक्षित है।" जवाहरलाल नेहरू एक ऐसे अद्वितीय राजनीतिज्ञ थे जिनकी मानव-मुक्ति के प्रति सेवाएं चिरस्मरणीय रहेंगी। स्वाधीनता संग्राम के योद्धा के रूप में वे यशस्वी थे और आधुनिक भारत के निर्माण के लिए उनका योगदान अभूतपूर्व था।[1] इसमें सन्देह नहीं कि पं. नेहरू की मृत्यु से हमारे देश के इतिहास का एक युग समाप्त हो गया। पं. नेहरू की यह विशेषता थी कि एक राजनीतिज्ञ होते हुए भी वे मैकियावेलीय राजनीति से बहुत दूर थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, "जवाहरलाल ने राजनीतिक संघर्ष के क्षेत्र में, जहां बहुधा छल और आत्मप्रवंचना चरित्र को विकृत कर देते हैं, शुद्ध आचरण के आदर्श का निर्माण किया।"[2]

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

पं. जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) का जन्म 14 नवम्बर, 1889 को इलाहाबाद में एक सम्पन्न कश्मीरी परिवार में हुआ था। वे मोतीलाल नेहरू और स्वरूपरानी के इकलौते पुत्र थे। उनके पिता देश के प्रसिद्ध वकील थे। 15 वर्ष की आयु में 1905 में उन्हें इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध 'हैरो स्कूल' में प्रविष्ट कराया गया, 1907 में उन्होंने ट्रिनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज में प्रवेश लिया, जहां से उन्होंने विज्ञान में आनर्स की परीक्षा पास की तथा 1912 में वे 'इनर टैम्पल' से वकील बने। अपने छात्र जीवन में नेहरू भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में दिलचस्पी लेते रहे। 1904 में जापान के हाथों रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र की पराजय ने नेहरू के हृदय में भारत राष्ट्र की स्वतन्त्रता के सपने भर दिए।

भारत लौटने पर जवाहरलाल नेहरू ने वकालत शुरू की, लेकिन शीघ्र ही वे राजनीतिक सरगर्मियों की तरफ बढ़ चले। 1912 में उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लिया। 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में महात्मा गांधी से उनकी पहली मुलाकात हुई जो इस रूप में फलीभूत हुई कि गांधीजी ने जवाहर को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और यह भविष्यवाणी कर दी कि 'मेरे मरने के बाद जवाहरलाल मेरी ही भाषा बोलेगा।' 1916 में उनका विवाह कमला कौल से हुआ। उनके एक पुत्री हुई, इन्दिरा प्रियदर्शिनी, जिसने भारत के प्रधानमन्त्री पद को सुशोभित किया। 1918 में नेहरू होमरूल लीग के सचिव बने और 1920 में वे भारत के किसानों की समस्याओं तथा आकांक्षाओं में गहरी दिलचस्पी लेने लगे। "1920 का साल नेहरू के राजनीतिक जीवन में निर्णयात्मक मोड़ का था"[3] और उनके दिमाग में "गांवों की नंगी-भूखी जनता की भारत की तस्वीर" बनी रही। 1922 में वे इलाहाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1923 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के महासचिव बने। 1927 में अन्तर्राष्ट्रीय गणतान्त्रिक आन्दोलन के साथ उनके व्यापक और दीर्घकालीन सम्पर्कों की शुरुआत हुई। ब्रुसेल्स में हुए पीड़ित राष्ट्र सम्मेलन में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। 1928 में साइमन कमीशन (Simon Commission) के विरुद्ध लखनऊ के प्रदर्शनों में उन्होंने पुलिस की लाठियाँ खाईं और Independence League की स्थापना की। 1929 में वे राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए। उनकी अध्यक्षता में अर्द्धरात्रि को पूर्ण स्वराज्य का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया गया। जवाहरलाल 1936, 1937 और 1946 में कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

नेहरू ने देश का दौरा किया और भारतीयों में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए एक अभिलाषा पैदा कर दी। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान उनका 9 वर्ष से अधिक का समय जेलों में कटा। 1931 तथा 1936 में क्रमशः उनके पिता तथा पत्नी का देहान्त हो गया। 1938 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा 1942 में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में उन्होंने भाग

1 डॉ. राधाकृष्णन, नेहरू, पृ. 7
2 हिन्दुस्तान, दिनांक [illegible] नवम्बर, 1970 (सम्पादकीय)।
3 फ्रैंक मोरेस : जवाहरलाल नेहरू जीवनी, पृ. 3 (हिन्दी अनुवाद)।

लिया। 1945 में वे 'शिमला सम्मेलन' में भाग लेने गए। 1946 में उन्होंने भारत की अन्तरिम सरकार का निर्माण किया और स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री बने। भारत की आजादी की वेला में जवाहरलाल ने अपने भाषण में कहा—"आधी रात के घण्टे के साथ, जबकि ससार सो रहा है, भारत जीवन और स्वाधीनता की ओर जागेगा। एक क्षण आता है जो इतिहास में कभी ही आता है जब हम पुराने से नए की ओर बढ़ने हैं जब एक युग समाप्त होता है और जब बहुत दिनों तक दबाई हुई राष्ट्र की आत्मा बोल उठती है। यह उचित ही है कि इस पवित्र अवसर पर भारत की और उसके निवासियों की और उससे भी बड़ी मानवता की सेवा का सकल्प लें।"[1] "भारत की सेवा का अर्थ है उन लाखों लोगों की सेवा जो कष्ट सह रहे हैं तथा गरीबी और अज्ञान और रोग और अवसर की असमानता को समाप्त करना।"[2]

जवाहरलाल नेहरू 15 अगस्त, 1947 से लेकर 27 मई 1964 तक अर्थात् अपनी मृत्यु तक भारत के प्रधानमन्त्री रहे। 17 वर्षों के अपने कार्यकाल में उन्होंने स्वतन्त्र भारत को एक सबल आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा को जमाने का श्रेय उन्हीं को है। अक्टूबर, 1962 में साम्यवादी चीन के हमले का सदमा नेहरू को झेलना पड़ा। इससे उन्हें यह आभास हो गया कि शान्ति में पूर्ण आस्था रखते हुए भारत को सैनिक दृष्टि से एक सबल राष्ट्र बनना होगा। जवाहरलाल नेहरू की कृतियों में 'विश्व इतिहास की झलक' तथा 'भारत की खोज (Glimpses of World History and Discovery of India) प्रसिद्ध हैं। नेहरू एक महान् देशभक्त, कर्मठ राजनेता शान्तिदूत, विलक्षण बुद्धिमान और युगदृष्टा पुरुष थे जिन्हें साहित्य, दर्शन एव प्रकृति से प्रेम था। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें उनकी 'आत्म-कथा' विशेष उल्लेखनीय है।

विचारों के दार्शनिक आधार
(Philosophical Foundations of Thoughts)

नेहरू का चिन्तन उनके पिता मोतीलाल नेहरू, महात्मा गाँधी, एनी बीसेन्ट, बुकस, रसेल, कार्ल मार्क्स, कॉन्ट, स्पेन्सर, आइन्स्टीन, आस्करवाइल्ड, मिल, बर्नार्ड शॉ आदि से प्रभावित था। नेहरू के चिन्तन और व्यवहार को प्रभावित करने में निर्णायक भूमिक महात्मा गाँधी की रही। गाँधीजी से उन्होंने सत्याग्रह, अहिंसा, शान्ति और नैतिकता से परिपूर्ण राजनीति का पाठ पढ़ा, परन्तु वे गाँधीजी की शिक्षाओं और आदर्शों को अटल सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण नहीं कर सके। मृत्युपर्यन्त नेहरू मानवतावादी भावना से ओत-प्रोत, भावुक और सवेदनशील रहे लेकिन गाँधीजी की आध्यात्मिकता उनमें प्रवेश नहीं कर पाई। न वे पूर्ण नास्तिक रहे न पूर्ण आध्यात्मिकतावादी और न ही पूर्ण भौतिकतावादी। कार्ल मार्क्स के भौतिकवादी विचारों का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा, लेकिन वे पूर्ण भौतिकवादी नहीं बन सके। उन्होंने भौतिक पदार्थ को अन्तिम सत्य नहीं माना। भौतिक विज्ञान के प्रति, विज्ञान का एक छात्र होने के नाते, उनकी रुचि थी। आइस्टीन, प्लेंक तथा हेसेनबर्ग के भौतिकवादी शोधों का प्रभाव उनके चिन्तन पर पड़ा, लेकिन इस दृष्टि से उन्हें हम कॉम्ट की अपेक्षा स्पेन्सर के अधिक निकट पाते हैं। नेहरू ने यह नहीं माना कि कोई ऐसा जगत् है जो हमारी दृष्टि अथवा चिन्तन से परे है।

नेहरू पर बुद्ध और ईसा के विचारों का प्रभाव पड़ा। उन्होंने बुद्ध और ईसा के समान मानव आदर्शों और नैतिकता की शक्ति में विश्वास प्रकट किया। नेहरू जीवन-पर्यन्त शान्ति और नैतिकता के उपासक रहे। नेहरू सघर्षमय जीवन के उपासक थे जिन्होंने अपने जीवन में कर्म को प्रधानता दी। बौद्ध-दर्शन से प्रभावित नेहरू ने यह समर्थन नहीं किया कि हम ससार का परित्याग कर दें अथवा मोक्ष की प्राप्ति के लिए शरीर को यातनाएँ दें।

नेहरू मूलत: एक राजनीतिज्ञ थे, हॉब्स या रूसो या सिसरो (Hobbes, Rousseau or Cicero) की भाँति राजनीतिक दार्शनिक नहीं। राजनीतिक-शक्ति-सम्पन्न होने के कारण उन्हें इस बात के अवसर मिले कि वे अपने विचारों को व्यावहारिक जामा पहना सकें। डॉ. वी. पी. वर्मा के अनुसार, "हम उन्हें एक सामाजिक आदर्शवादी कह सकते हैं जो साधारण व्यक्ति की भावनाओं के लिए एक जनतन्त्रीय दृष्टिकोण में आस्था रखता हो। नेहरू पर गीता का प्रभाव था। गीता के कर्म के सन्देश को उन्होंने अपने जीवन में उतारा और निभाया था। नेहरू ने अपने जीवन, विचारों और कार्यों से देशवासियों और सम्पूर्ण मानव जाति को सन्देश दिया कि फलाफल की चिन्ता किए बिना, हम यत्नपूर्वक अपने कर्म में लगे रहें।"

मानवतावाद (Humanism)

नैतिक आदर्शवाद में नेहरू की गहन आस्था जीवन-भर बनी रही। पीड़ित और शोषित के प्रति उनके हृदय में प्रीति और सहानुभूति थी। "एक मानव के रूप में उनके चिन्तन में सुकुमारता, भावना की अद्वितीय कोमलता और महान् एव उदार प्रवृत्तियों का अद्भुत सम्मिश्रण था।" नेहरू जीवन-पर्यन्त मानव-जीवन के उच्चतर स्तरों के लिए सघर्षशील रहे। उनका सन्देश था कि व्यक्ति को व्यावहारिक और अनुभव प्रधान, नैतिक एव सामाजिक, परोपकारी तथा मानवतावादी

1 2. वही, पृ 2

होना चाहिए। उनकी दृष्टि में मानवतावाद आधुनिक युग का आदर्श होना चाहिए। मैकियावेलीय राजनीति, शोषण, अत्याचार और अभाव को देखकर उन्हें वेदना पहुँचती थी। नेहरू का मानव-अस्तित्व और उसकी सत्ता में विश्वास था। उनकी अनुभूति थी कि मनुष्य को आत्म-बलिदान की शक्ति अपने भीतर विद्यमान किसी दिव्य तत्व से प्राप्त होती है।

नेहरू मनुष्य के गौरव में विश्वास करते थे, इसीलिए, परिस्थितियों के अनुकूल होते हुए वे एक तानाशाह बन जाने के प्रलोभन से बचे रहे। वे लोकतान्त्रिक समाजवादी बने रहे, मानवीय मूल्यों में उनकी आस्था नहीं डगमगाई और साम्यवाद के हिंसक तथा अनैतिक साधनों के प्रति उन्हें आकर्षण नहीं रहा। उन्होंने अन्याय और शोषण से यथाशक्ति संघर्ष किया। नेहरू की दृष्टि दूरगामी थी और अपने देश की ऊँची नियति में उन्हें विश्वास था। वे अन्धविश्वासों, धार्मिक संकीर्णताओं ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्गुणों से मुक्त रहे। देश की राजनीतिक समस्याओं के लिए उन्होंने नैतिक सिद्धान्तों का उपयोग करने की कोशिश की।

अहिंसा (Non violence)

नेहरू की अहिंसा गाँधी के समान कट्टरपंथी नहीं थी। अहिंसा में उन्हें विश्वास था, लेकिन इस सिद्धान्त को उन्होंने स्वीकार नहीं किया कि किन्हीं भी परिस्थितियों में हिंसा का आश्रय नहीं लिया जाए। नेहरू एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे, अतः उन्होंने यह अनुभव किया था कि अहिंसा यद्यपि देश के लिए उपयोगी है, पर, जरूरत पड़ने पर अहिंसा का त्याग आवश्यक है। गाँधीजी के समान उन्होंने यह नहीं माना कि अहिंसा ही सत्य है। उनका विचार था कि एक सरकार के लिए पूर्ण अहिंसा का पालन करना सम्भव नहीं है। व्यक्ति अहिंसा को अपना धर्म बना सकता है लेकिन सरकार नहीं। अहिंसा को एक ऐसी नीति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसे आवश्यकतानुसार बदला जा सके और छोड़ा जा सके। नेहरू इस बात से पूर्ण रूप में सहमत नहीं थे कि अहिंसा के शस्त्र के माध्यम से सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का निराकरण सम्भव है। उनका यह विश्वास था कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के निदान के लिए अहिंसा का प्रयोग उपयोगी साधन है, तथापि परिस्थितिवश हिंसा का आश्रय लिया जा सकता है। इस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त लचीला था। अहिंसा के नैतिक तत्व ने उन्हें आकृष्ट किया, लेकिन उन्होंने यह भी माना कि अहिंसा को एक अटल और सर्वदा सत्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रवाद (Nationalism)

जवाहरलाल नेहरू ने देश को सन्तुलित, संयमशील और आदर्श राष्ट्रवाद के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। राष्ट्रीयता सम्बन्धी उनकी मान्यता संकुचित नहीं थी। उनके अनुसार मातृभूमि के प्रति भावुकता से भरे सम्बन्ध को राष्ट्रीयता कहते हैं। उन्होंने कहा "हिन्दुस्तान मेरे खून में समाया हुआ है और उसमें ऐसी बात है जो मुझे स्वभावतः उकसाती है।"[1] मातृभूमि के प्रति नेहरू का प्यार अन्धा नहीं था। मानवता के कल्याण में नेहरू भारत के कल्याण का दर्शन करते थे। वे टैगोर के समन्वयात्मक विश्ववाद और विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रभावित थे। उनका विचार था कि राष्ट्रीयता एक परम्परागत शक्ति है जिसे प्रत्येक देशवासी स्वेच्छा से स्वीकार करता है। तब यह नहीं समझना चाहिए कि राष्ट्रीयता की भावनाएँ उन पर लादी जा रही हैं, क्योंकि राष्ट्रीयता देशवासियों को आपस में जोड़े रहती है। राष्ट्रवाद को नेहरू ने भावात्मक बताया और विश्वास प्रकट किया कि विदेशी शासन के दौरान राष्ट्रीयता की भावना महत्वपूर्ण हो जाती है तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिशील रखने के लिए शक्तिशाली प्रेरणा का काम करती है। जब किसी देश पर संकट उपस्थित होता है राष्ट्रवाद अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है।

नेहरू को धार्मिक राष्ट्रवाद से सहानुभूति न थी। दयानन्द, विवेकानन्द, पाल और अरविन्द के राष्ट्रवाद सम्बन्धी धार्मिक दृष्टिकोण से वह सहमत नहीं थे।[2] जिन्ना ने 'मुस्लिम राष्ट्रीयता' के लिए पैरवी की थी और उन्होंने भारत से अलग एक 'मुस्लिम राष्ट्रीयता' की माँग की थी। नेहरू को यह जानकर दुःख हुआ था और तब उन्होंने कहा था कि "यदि राष्ट्रीयता का आधार धर्म है तो भारत में तमाम राष्ट्र मौजूद हैं। भारत की राष्ट्रीयता न हिन्दू राष्ट्रीयता है, न मुस्लिम, वरन् यह विशुद्ध भारतीय है।"[3] उनके लिए, राष्ट्रवाद आत्म-विस्तार का एक रूप था।[4] उन्हीं के शब्दों में, "राष्ट्रवाद तत्वतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है और राष्ट्रवाद जितना शक्तिशाली आज है उतना कभी नहीं था। जब कभी संकट आया है, तभी राष्ट्रवादी भावना का उत्थान हुआ है और जनता ने अपनी परम्पराओं से शक्ति तथा सान्त्वना प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। अतीत और राष्ट्र का पुनरान्वेषण वर्तमान युग की एक आश्चर्यजनक प्रगति है।"

---

1 जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी, पृ. 63
2 विश्वनाथ प्रसाद : वही, पृ. 383.
3 अशोक महाजन : हिन्दुस्तान, दिनांक 14-11-1971 में लेख—"राजनीतिक एवं आर्थिक क्रान्ति के अग्रदूत नेहरू"।
4 विश्वनाथ प्रसाद : वही, पृ. 383

नेहरू ने राष्ट्रीय आत्म-निर्णय (National Self-determination) के सिद्धान्त पर बल दिया और साम्राज्यवाद का विरोध किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्षशील देश में एक स्वस्थ शक्ति होती है, लेकिन देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद वही राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादी और विकीर्ण बन सकती है, अतः ऐसी संकीर्ण राष्ट्रीयता से बचना चाहिए। नेहरू ने राष्ट्रवाद में मानवता का समावेश किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद के नाम पर धर्म, जाति और संस्कृति का सहारा नहीं लेना चाहिए। नेहरू ने मिस्र, मोरक्को, इण्डोनेशिया, अल्जीरिया, काँगो आदि देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों का स्वागत किया। अरब राष्ट्रवाद के अभ्युदय को उन्होंने शुभ लक्षण बताया।

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (Internationalism)

नेहरू अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के पोषक थे। उन्होंने अपने देश को, काँग्रेस को और सम्पूर्ण मानव समाज को व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रदान किया। उन्होंने काँग्रेस को महसूस कराया कि स्वतन्त्रता के लिए भारतीय संघर्ष एक वैश्विक संघर्ष का भाग था तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को ध्यान में रखते हुए उसे सफल बनाया जा सकता था। "विश्व शान्ति और विश्व सम्प्रदाय के विचार में नेहरू का विश्वास था। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य-पत्र के प्रति आस्था दिखाई।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नेहरू जी की धारणा थी कि "हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जबकि विदेशी मामले जैसे शब्द अप्रासंगिक है। हम एक-दूसरे पर अधिकाधिक अवलम्बित होते जा रहे हैं तथा विश्व के दृष्टिकोण को अपना रहे हैं। संकीर्ण राष्ट्रीयता राजनीतिक कट्टरता का एक रूप है। उनका विश्वास था कि युद्ध अवश्यम्भावी नहीं है और शान्ति ही व्यावहारिक है इसलिए उन्होंने गुटों से अलग रहने की नीति को अपनाया।" गुटों से अलग रहने की नीति से नेहरू का आशय यह नहीं था कि "एकांगिता (Isolation) के मार्ग पर चला जाए। संसार में शान्ति की स्थापना के लिए नेहरू भारत को विश्व के मामलों में सहायक बनाना चाहते थे। अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रोत्साहन के लिए वे हर सम्भव उपाय करने को तत्पर थे।"

नेहरू का हृदय सर्वोदय की भावना से परिपूर्ण था। वे कहा करते थे—हम सबके मित्र हैं और हमारा कोई शत्रु नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीयता में उनकी आस्था से सभी देश अवगत थे। जून, 1955 में मास्को विश्वविद्यालय ने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा था कि नेहरू ने राष्ट्रों के मूल अधिकारों की मान्यता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों और सिद्धान्तों की रक्षा की है और वे एशिया तथा विश्व में तनाव को कम करने के लिए सच्चे दिल से प्रयत्नशील रहे हैं। नेहरू को अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रेरणा विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी जैसे महान् व्यक्तियों से प्राप्त हुई थी। नेहरू ने कहा था—"मेरी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित है और आधुनिक विश्व विज्ञान, व्यापार और यातायात के साधनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता की नींव पर खड़ा है। कोई भी राष्ट्र विश्व से विमुख नहीं रह सकता।"[2] नेहरू की मान्यता थी कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना एक स्वतन्त्र देश में पनप सकती है किसी गुलाम देश का दिमाग और ताकत आजादी पाने की कोशिश में लगी रहती है। नेहरू महान् अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे अतः उन्होंने राजनीतिक आर्थिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीयतावादी आदर्शों का समर्थन किया। नेहरू अन्तर्राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण व्यवहार में लागू करना चाहते थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों के आचरण का एक नया मौलिक सिद्धान्त दिया जो 'पंचशील' के नाम से विख्यात है। इसमें पाँच सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए—(1) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोत्तम सत्ता के लिए पारस्परिक सम्बन्ध, (2) अनाक्रमण, (3) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, (4) समानता और पारस्परिक लाभ एवं (5) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा आर्थिक सहयोग।

विश्व के सभी राज्यों ने (अपवाद स्वरूप कुछ राष्ट्रों को छोड़कर) पंचशील के सिद्धान्तों में आस्था प्रकट की। पंचशील द्वारा नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे नैतिक मार्ग का अनुसरण करने में विश्वास करते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा उन्होंने मैकियावेली राजनीति और शक्ति-राजनीति में अपनी अनास्था प्रकट की और कहा कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम बल प्रयोग को पूरी तरह बहिष्कृत नहीं कर सकते तो उसे न्यूनतम अवश्य कर सकते हैं। पंचशील के सिद्धान्त के मूल में धारणा यह रही है कि राष्ट्र एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें और एक-दूसरे के अधिकारों तथा दावों का शान्तिपूर्वक और सच्चाई के साथ मूल्यांकन करें, किन्तु नेहरू शक्ति के सामने झुकने को तैयार नहीं थे। नेहरू के आलोचकों का कहना था कि कश्मीर, गोवा, पाकिस्तान तथा तिब्बत के सम्बन्ध में नेहरू का नैतिक और मानवतावादी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद विकृत होकर तुष्टीकरण की नीति में परिवर्तित हो गया। कुछ राजनीतिक क्षेत्रों में भारत पर पाकिस्तान और चीन के आक्रमण के आधार पर पंचशील सिद्धान्त की व्यावहारिकता को चुनौती दी गई है। हम इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते हैं कि आज के आणविक युग में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व ऐसा विकल्प है जिससे मानव सभ्यता की रक्षा हो सकती है, परन्तु यदि पंचशील के सिद्धान्त पर ईमानदारी से अमल किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय तनावों में कमी होगी और संघर्ष के कारणों का उन्मूलन किया जा सकेगा।

1. *डॉ. राधाकृष्णन* : नेहरू, पृ. 9
2. *अशोक महाजन* : वही, हिन्दुस्तान, दिनांक 14-11-1971.

अन्य राजनीतिक विचार (Other Political Ideas)

जवाहरलाल नेहरू युग द्रष्टा एवं कर्म प्रधान व्यक्ति थे। उन्होंने इस देश को स्वाधीनता, समृद्धि, सौहार्द और सुरुचि के ढाँचे में ढालने का प्रयास किया। जवाहरलाल राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक स्वावलम्बन और बौद्धिक विकास को आवश्यक मानते थे। नेहरू देश को लोकतन्त्र और समाजवाद की दिशा में देखते रहे। उन्होंने युद्ध का तिरस्कार करते हुए शान्ति और असंलग्नता की नीति में अपना गहन विश्वास प्रकट किया। स्वतन्त्र भारत में उन्होंने कल्याणकारी राज्य की नींव डाली।

युद्ध, शान्ति और तटस्थता (असंलग्नता) पर नेहरू के विचार

नेहरू ने युद्ध का तिरस्कार करते हुए विश्व-शान्ति को मानव-कल्याण का मार्ग बताया। अपने प्रधानमन्त्रित्व काल में उन्होंने अपने विचारों और कार्य-कलापों से विश्व-शान्ति की स्थापना की दिशा में प्रभावशाली और सराहनीय कार्य किया। इतिहास में नेहरू की गहरी रुचि थी। उन्होंने उन कारणों की खोज की जो युद्धों को जन्म देते हैं। उनका कहना था कि किसी न किसी कारणवश हर देश, काल और परिस्थिति में युद्ध होते रहे हैं। नेहरू ने युद्ध के कारणों और स्वरूप का जो चित्र खींचा वह संक्षेप में इस प्रकार था—

(1) एक समय मनुष्य की धर्मान्धता युद्ध का स्रोत थी। यूरोप में धर्म युद्ध (Crusades) इसके प्रमाण हैं। भारत पर मुस्लिम आक्रमण धार्मिक भावना से प्रेरित थे। बहुत से यूरोपीय देशों में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक मतावलम्बियों के बीच जो संघर्ष हुए उनका स्वरूप धार्मिक था।

(2) युद्धों का दूसरा स्वरूप सामन्तवादी था। उदाहरणार्थ, भारत में राजपूत नरेशों के बीच होने वाले युद्ध अपने चरित्र में मुख्यतः सामन्तवादी थे।

(3) प्रत्येक युग में राजनीतिक सत्ता और गौरव के लिए युद्ध होते रहे हैं तथा आज भी हो रहे हैं।

(4) युद्धों का एक स्वरूप राजनीतिक रहा है। उदाहरणार्थ, सिकन्दर महान् की विजय का स्वरूप राजनीतिक था। एथेन्स और स्पार्टा के बीच के युद्ध राजनीतिक थे।

(5) वर्तमान युग में युद्धों का कारण आर्थिक है। राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित हैं।

(6) युद्धों का एक कारण राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच उपस्थित वैचारिक मतभेद हैं। [illegible] वैचारिक और सैद्धान्तिक मतभेदों के फलस्वरूप शीतयुद्ध प्रबल है जो सशस्त्र युद्ध का रूप ले सकता है।

नेहरू ने युद्ध और शान्ति के विषय में विचार प्रकट किए, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और असंलग्नता (Non Alignment) की नीति की वकालत की। वे शस्त्रों के प्रयोग को हर परिस्थिति में ठुकराने का उपदेश देते थे लेकिन यथार्थवादी राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होंने अवसर पड़ने पर शत्रु का अथवा विरोधों का यथासम्भव अपनी सम्पूर्ण शक्ति से मुकाबला करने में विश्वास प्रकट किया। पाकिस्तानी एवं चीनी आक्रमण का मुकाबला करने में नेहरू ने दृढ़ता का परिचय दिया। उनकी निष्ठा समस्या के सम्मानपूर्ण और शान्तिपूर्ण समाधान में बनी रही। नेहरू के अनुसार, "हमें अपनी रक्षा करनी है-और स्वयं को संकटकालीन स्थिति के लिए तैयार रखना है। हमें आक्रमण और अन्य प्रकार के अनाचार का सामना करना है। बुराई के सामने झुकना बुरा होता है। बुराई और आक्रमण का प्रतिरोध करते समय हमें शान्ति बनाए रखनी चाहिए और अपने विरोधियों के सामने मित्रता का हाथ बढ़ाए रखना चाहिए।" नेहरू ने ऐसी शान्ति का उपदेश कभी नहीं दिया जो हमें कर्तव्य से विमुख करती हो। उनका दृष्टिकोण कितना व्यावहारिक और सन्तुलित था—उन्होंने 12 जून, 1945 को भारत की शान्तिवादी नीति के सन्दर्भ में कहा था—"हमारी पहली नीति यह होनी चाहिए कि हम भीषण आपत्ति (तृतीय महायुद्ध जैसी) को घटित होने से रोकें। दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति ऐसी स्थिति बनाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाए तो हम इसे रोकने में समर्थ हो सकें।"

नेहरू और लोकतन्त्र

जवाहरलाल नेहरू और लोकतन्त्र को विलग नहीं कर सकते। नेहरू ने लोकतन्त्र को केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं किया, अपितु आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र को लोकतन्त्र की परिधि में लिया। उनका कहना था कि नागरिकों को राजनीतिक स्वतन्त्रता देना ही पर्याप्त नहीं है उन्हें अवसरों की समानता दी जानी चाहिए, आर्थिक विषमताओं का अन्त किया जाना चाहिए। सामाजिक रूढ़ियों और आर्थिक असमानताओं से पूर्ण समाज लोकतांत्रिक नहीं हो सकता। भूखे व्यक्ति के लिए मताधिकार महत्व नहीं रखता। यदि समाज में ऊँच-नीच, छूत-अछूत के भेदभाव हों, दरिद्रों की कतार हो धन का न्यायपूर्ण वितरण न हो, कर्मभेद का प्रसार हो और मुट्ठी भर शिक्षित लोग निरक्षर जन-साधारण को अपने पैरों तले दबाए हों तो लोकतन्त्र की बात करना निरर्थक है। नेहरू महात्मा गाँधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी थे, वे साधनों की पवित्रता के सिद्धान्त में निष्ठा रखते थे। नेहरू को जनता से प्यार था, जन-सम्पर्क को वे लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का महत्वपूर्ण हिस्सा मानते थे। अपने प्रधानमन्त्रित्व काल में नेहरू ने अपनी अविराम यात्राओं और अगणित भाषणों द्वारा जनता से

सम्पर्क स्थापित करने की प्रणाली विकसित की। उन्होंने यह बताया कि शासकों और शासितों के मध्य स्थिर सम्बन्ध लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होता है। नेहरू ने जनता को अनुशासन और भ्रातृत्व की प्रेरणा दी। उनका उद्देश्य था कि जनता में उस सामुदायिक भावना को दृढ़ किया जाए जिसे मेकाइवर (MacIver) ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आधार बताया है।

नेहरू लोकतन्त्र को नैतिक मानदण्डों और मान्यताओं की योजना मानते थे। उन्होंने कहा था कि "मेरे विचार में गणतन्त्र का अर्थ सरकार तथा किसी सम-कानून संस्था से अधिक है। यह जीवन के नैतिक मानदण्डों तथा मान्यताओं की योजना है। गणतन्त्र के लिए अनुशासन, सहिष्णुता तथा पारस्परिक सद्भावना आवश्यक है। अपनी स्वतन्त्रता के लिए दूसरों की स्वतन्त्रता के प्रति आदर भाव होना आवश्यक है। गणतन्त्र में परिवर्तन पारस्परिक विचार विमर्श तथा समझने-बूझने से किए जाते हैं, हिंसक उपायों से नहीं। गणतन्त्र का अर्थ समानता है। "मैं किसी मत-मतान्तर अथवा धर्म से जकड़ा हुआ नहीं हूँ, किन्तु मैं मानव की नैसर्गिक आध्यात्मिकता में विश्वास करता हूँ—इसको कोई चाहे धर्म कहे, अथवा न कहे, मैं व्यक्ति की सहज गरिमा में विश्वास रखता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दिया जाना चाहिए। मुझे ऐसे सम-समाज में पूरा विश्वास है। एक आदर्श के रूप में इस उद्देश्य को पूरा करना हो सकता है, जिसमें भिन्नता न हो, मुझे धनी-व्यक्तियों की बेहूदगी और निर्धनों की दरिद्रता नहीं भाती।"[1]

लोकतन्त्रवादी होने के नाते व्यक्ति के महत्व में नेहरू का विश्वास था। मानवता के कूड़े-करकट के ढेर पर किसी व्यक्ति को नहीं फेंक देना चाहिए। उसे महत्वपूर्ण, उद्देश्यपूर्ण माना जाना चाहिए और किसी को चाहे वह राज्य हो अथवा संगठन—व्यक्ति को दबाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उनका मुख्य सिद्धान्त था कि राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए।[2] नेहरू अपने विरोधियों के विचारों के प्रति सहनशीलता और सम्मान की भावना रखते थे। उनकी दृष्टि में हठवादिता और रूढ़िवादिता की प्रवृत्ति लोकतन्त्र के लिए घातक थी। लोकतन्त्र एक गतिशील विचारधारा है और समयानुकूल परिवर्तनों तथा अनन्यता के साथ लोकतन्त्र का क्षेत्र अधिकाधिक विकसित होता जाता है। लोकतान्त्रिक भावना की माँग है कि हम अपनी समस्याओं का निराकरण आपसी विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क और शान्तिपूर्ण उपायों से करें। नेहरू संसदीय सरकार को अच्छा इसीलिए समझते थे कि यह समस्याओं को हल करने का शान्तिपूर्ण उपाय है। नेहरू हर काम को लोकतान्त्रिक रूप से करने के समर्थक थे। वे समुचित संवैधानिक साधनों द्वारा अपनी माँगें मनवाने और निर्णयों में परिवर्तन कराने के प्रयत्नों के पक्ष में थे, लेकिन प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) जैसी आन्दोलनात्मक तकनीक उनकी दृष्टि में अलोकतान्त्रिक थी। सर्वाधिकारवाद और हिंसात्मक साधनों के प्रति उनका विरोध इतना उग्र था कि उन्होंने ऐसे समय मुसोलिनी और हिटलर से मिलने तक से इनकार कर दिया था जब विश्व के बड़े राजनीतिज्ञ इन तानाशाहों से मिलने में अपना गौरव समझते थे। नेहरू का विश्वास था कि लोकतन्त्र की बुराइयाँ ऐसी नहीं हैं जिन्हें दूर नहीं किया जा सकता। यदि उत्कृष्ट नैतिक चरित्र का पालन किया जाए तो लोकतन्त्र के सफल संचालन में सन्देह नहीं है।

एकता और धर्म-निरपेक्षता

जवाहरलाल नेहरू ने भारत के इतिहास का विवेकपूर्ण विश्लेषण किया था तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपनी फूट और साम्प्रदायिकता की विडम्बना के कारण भारत अपने गौरव को खो बैठा है। नेहरू का विश्वास था कि एकता के अभाव में देश अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रख सकता। यदि हम दल, राज्य, भाषा, जाति आदि को महत्व देंगे और अपने देश को भूल जाएँगे तो सर्वनाश को आमन्त्रित करेंगे। यदि हम राज्य-भाषा और दल को देश से अधिक महत्व देंगे तो यह राष्ट्र का विनाश होगा। नेहरू ने देश के राजनीतिक एकीकरण को अपर्याप्त मानते हुए देश की भावनात्मक एकता पर बल दिया। विविधता को समाप्त करना आवश्यक नहीं है, लेकिन पारस्परिक कलहों में उलझ कर अपनी शक्ति खो देना मूर्खता है। विविधता में एकता को बनाए रखने में देश और समाज का कल्याण है, जो गतिविधियाँ लोगों को एक करती हैं, उनके प्रसार का प्रयत्न किया जाना चाहिए और जो फूट डालती हैं उनका परित्याग कर देना चाहिए। भारत में अनुशासन और एकता को प्रथम स्थान दिया जाना आवश्यक है।

नेहरू ने देशवासियों को एकता की समस्या का चुनौती से मुकाबला करने का सन्देश दिया। उनका कहना था कि देशवासियों की निष्ठा किसी गुट, वर्ग या दल विशेष के प्रति न होकर राष्ट्र के प्रति होनी चाहिए। नेहरू ने राजनीतिक एकीकरण की अपेक्षा भावनात्मक एकीकरण पर बल दिया। उन्होंने कहा कि "राजनीतिक एकीकरण कुछ सीमा तक हो ही चुका है, किन्तु मैं जो चाहता हूँ वह इससे अधिक है—भारतीयों का भावनात्मक एकीकरण, जिससे हम सब मिलकर संयुक्त हो सकें और एक शक्तिशाली राष्ट्रीय इकाई बन जाएँ।" जवाहरलाल नेहरू ने धर्म-निरपेक्षता के प्रति अपनी निष्ठा रखी।

---

1. प्रकाशन विभाग, भारत सरकार : वही, पृ. 106-107
2. डॉ. राधाकृष्णन : वही, पृ. [illegible]

उनका अभिमत था कि धर्म निरपेक्षता का मार्ग एकता को सुदृढ़ करने वाला है। धर्म-निरपेक्षता पर विचार व्यक्त करते हुए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा—"भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है, इसका अर्थ धर्म-हीनता नहीं, इसका अर्थ सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव तथा सभी व्यक्तियों के लिए समान अवसर है। "हम देश में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता को सहन नहीं करेंगे। हम एक ऐसे स्वतन्त्र धर्म-निरपेक्ष राज्य का निर्माण कर रहे हैं जिसमें प्रत्येक धर्म तथा मत को पूरी स्वतन्त्रता तथा समान आदर भाव प्राप्त होगा और प्रत्येक नागरिक को समान स्वतन्त्रता तथा समान अवसर की सुविधा प्राप्त होगी।"

समाजवाद

नेहरू ने समाजवाद की अपनी विचारधारा विकसित की। उनके अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता मायने नहीं रखती। 1955 में अवाडी काँग्रेस-अधिवेशन में उन्होंने स्पष्ट किया कि उनका समाजवाद रूसी साम्यवाद या अन्य देशों के समाजवाद का अनुकरण नहीं है। "समाजवाद का अर्थ धन का वितरण एवं जन कल्याणकारी राज्य का निर्माण नहीं है। समाजवादी अर्थ व्यवस्था से लोक कल्याणकारी राज्य सम्भव नहीं बन सकता। आवश्यकता है कि देश में उत्पादन बढ़ाया जाए, धन की वृद्धि हो और अर्जित धन का समुचित वितरण किया जाए।" एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा कि संसार का तथा भारत की समस्याओं का समाधान समाजवाद द्वारा सम्भव दिखाई देता है और जब मैं इस शब्द का प्रयोग करता हूँ, तब मानवीय नाते से नहीं, बल्कि वैज्ञानिक आर्थिक दृष्टि से करता हूँ, किन्तु समाजवाद आर्थिक सिद्धान्त से महत्त्वपूर्ण है। यह एक जीवन-दर्शन है इसलिए मुझे जँचता है। मेरी दृष्टि में निर्धनता, चारों ओर फैली हुई बेरोजगारी, भारतीय जनता का अधःपतन तथा दासता को समाप्त करने का मार्ग समाजवाद से सम्भव है।

अपनी समाजवादी अवधारणा पर चलते हुए नेहरू ने नियोजित विकास के अन्तर्गत मिश्रित अर्थव्यवस्था को प्रश्रय दिया। तीव्र आर्थिक विकास के लिए न केवल औद्योगिक विकास को गति दी, वरन् कृषि और भूमि सुधार द्वारा जमींदारों के शोषण से दबी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की चेष्टा की। उनका उद्देश्य एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना था जो बिना व्यक्तिगत एकाधिकार तथा पूँजी के केन्द्रीयकरण के अधिकतम उत्पादन प्रदान कर सके और शहरी एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उपयुक्त सन्तुलन पैदा कर सके। नेहरू ने जीवन, समाज और सरकार के सम्बन्ध में समाजवाद तथा लोकतान्त्रिक साधनों को संयुक्त किया और 'मध्यम मार्ग' अपनाया। उन्होंने लोकतान्त्रिक साधनों के माध्यम से समाजवादी समाज की स्थापना में निष्ठा प्रकट की। नेहरू के समाजवाद में अभावों से पीड़ित जनता के लिए करुणा थी, सभी के लिए समानता की प्रबल कामना थी।

राज्य और व्यक्ति

नेहरू पर गांधीजी का प्रभाव था, लेकिन उनमें गांधीजी के समान अराजकतावाद से कोई सहानुभूति न थी। राज्य की अनिवार्यता पर उनका विश्वास था। नेहरू के अनुसार व्यक्ति और समाज के लिए राज्य का अस्तित्व अपरिहार्य है। मानव स्वभाव की बुराइयों पर नियन्त्रण रखने के लिए राज्य अनिवार्य है। यदि राज्य रूपी संस्था का अस्तित्व न हो तो ये बुराइयाँ अराजकता में परिणित होकर समूची मानव-सभ्यता एवं जीवन की सुरक्षा को संकट पैदा कर देंगी। राज्य अपनी बाध्यकारी सत्ता द्वारा मनुष्य में व्याप्त घृणा, स्वार्थपरता, अराजक प्रवृत्ति और हिंसा पर नियन्त्रण लगा सकती है। राज्य के बिना कर वसूल नहीं होंगे, जमींदारों को उनका लगान नहीं मिलेगा और व्यक्तिगत सम्पत्ति का लोप हो जाएगा। कानून राज्य की अपनी सशस्त्र सेनाओं की सहायता से दूसरों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रयोग करने से रोकता है। राष्ट्रीय राज्य का अस्तित्व आक्रामक और सुरक्षात्मक हिंसा पर आधारित है। राज्य के मूल में हिंसा छिपी है, इस तर्क के आधार पर वे राज्य का परित्याग करने को तैयार न थे। नेहरू का विश्वास था कि हिंसा आधुनिक राज्य और सामाजिक व्यवस्था का अंग है। आमूलचूल अहिंसा अव्यावहारिक है, हिंसा का पूर्णतः परित्याग एक अव्यावहारिक विचार है।

यह दृष्टिकोण उन्हें स्वीकार न था कि राज्य का कार्य बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अव्यवस्था से व्यक्ति तथा समाज की सुरक्षा मात्र है वरन् व्यक्ति और समाज के पोषण का भार राज्य पर है। नेहरू कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान थे। नागरिकों के जीवन को सुखी बनाने के लिए आधुनिक राज्यों को विविध उत्तरदायित्वों और कार्यों का वहन करना चाहिए, राष्ट्रीय धन के न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था करनी चाहिए, व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए सभी आवश्यक और अधिकाधिक कार्य करने चाहिए।

जवाहरलाल नेहरू ने नागरिकों के अधिकारों एवं राज्य के प्रति नागरिक कर्तव्यों को समान रूप से बल दिया। बिना कर्तव्यों के अधिकारों का मूल्य नहीं रह जाता। राज्य और व्यक्ति साध्य और साधन दोनों हैं, दोनों के हित और लक्ष्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। यौगिक रूप में राज्य और व्यक्ति सम्पूर्ण इकाई है। संगठित राज्य और उसके नागरिकों के बीच कोई संघर्ष नहीं हो सकता। राज्य सामाजिक रूप से कार्य करने वाला अवयव है। नेहरू ने किसी सरकार की अच्छाई और कुशलता का मापदण्ड यही माना कि वह जनता के जीवन-स्तर को कितना ऊँचा उठाती है। इस जीवन-स्तर

में भौतिक वस्तुएँ जीवन के बौद्धिक और नैतिक मूल्य समाविष्ट हैं। जीवन का सर्वांगीण विकास करना एक अच्छे राज्य की कसौटी है, पर इस उद्देश्य में राज्य की सफलता अपने नागरिकों की चारित्रिक श्रेष्ठता पर निर्भर है, क्योंकि मानव जीवन से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान मानव चरित्र पर निर्भर करता है।

मार्क्सवाद-साम्यवाद (Marxism Communism)

विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के अनुसार "नेहरू के मन में मार्क्सवाद और साम्यवाद के प्रति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अथवा उसके विरोध में जो मानसिक सान्त्वना मिलती थी उससे जो संवेगात्मक अनुराग उत्पन्न हो गया था, वह आयु की वृद्धि तथा समय के साथ क्षीण हो गया।"

नेहरू द्वितीय महायुद्ध तक मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद के प्रति आकृष्ट रहे, लेकिन महायुद्ध के बाद यह प्रभाव क्षीण होने लगा और उनके विचारों में परिवर्तन आ गया। जैसे-जैसे नेहरू की आयु बढ़ी, प्रशासन की जिम्मेदारियाँ आई और अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की विनाशकारी कार्य-प्रणाली प्रकट हुई, उनके मन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण साम्यवाद के प्रति जो झुकाव पैदा हो गया था, वह कम हो गया, इसीलिए पश्चिम के उत्तरदायी राजनीतिज्ञ नेहरू को भारत तथा एशिया के अन्य भागों में साम्यवाद की प्रगति के विरुद्ध अवरोध मानने लगे थे। नेहरू के मार्क्सवादी-साम्यवादी चिन्तन पर दो भागों में विचार करना होगा—प्रथम, द्वितीय महायुद्ध तक का चिन्तन एवं द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् का चिन्तन।

उनकी कृतियों 'विश्व इतिहास की झलक' एवं 'भारत की खोज' के अध्ययन से नेहरू पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। 'नेहरू और मार्क्सवाद' के लेखक शशि भूषण के अनुसार, "मार्क्सवाद में यकीन करने वाली किसी पार्टी का सदस्य न होने के बावजूद नेहरू ने मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार के लिए काम किया।"[1] मार्क्सवाद की ऐतिहासिक भूमिका के सम्बन्ध में नेहरू के अनुसार, "यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव जीवन और मानव उमंगों की व्याख्या करने का तरीका है।" नेहरू को मार्क्स की विश्व तथा इतिहास की धारणा से प्रेरणा मिली। मार्क्सवादी इतिहास दर्शन के वैज्ञानिक, धर्म-विद्या विरोधी विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा अन्धविश्वास विरोधी दृष्टिकोण ने उन्हें प्रभावित किया।[2] "नेहरू ने मार्क्सवादी दर्शन के एकात्मक तथा चिन्तन और पदार्थ का अद्वैतवाद, पदार्थ की निरन्तर गतिशीलता, तत्वों के पारस्परिक संघर्ष एवं संयोगजनक घटनाओं के कारण तथा उनके व्यापक प्रभाव, क्रिया, प्रतिक्रिया और उनके संयोग के माध्यम से उनके क्रमिक विकास तथा परिवर्तनों द्वारा समाज में आने वाली क्रान्तियों का मूल्यांकन करके द्वन्द्वात्मकता के सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था प्रकट की।"[3]

मार्क्सवादी दर्शन उन्हें पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं कर सका और न उनके सभी प्रश्नों का उत्तर दे सका। समाज-व्यवस्था और वर्गों की राजनीति के सम्बन्ध में नेहरू के विचार मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। नेहरू ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त द्वारा यह साबित करने की कोशिश की कि मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो समाज में घटने वाली घटनाओं का मूल्यांकन करता है। जो मार्क्सवाद पर यह लांछन लगाते हैं वह समाज में अशान्ति पैदा करता है या वर्ग-संघर्ष को जन्म देता है उन्हें नेहरू ने कहा कि "मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष का विचार नहीं किया, उसने यह साबित किया है कि वर्ग-संघर्ष तो पहले से मौजूद है और किसी न किसी रूप में सदा चला आ रहा है। नेहरू ने यह मान्यता प्रकट की कि साम्यवाद और पूँजीवाद के बीच जो विश्व व्यापी संघर्ष चल रहा है उसी का हिस्सा भारत का स्वाधीनता संग्राम है।

नेहरू अपने जीवन के सन्ध्याकाल में मार्क्सवाद-साम्यवाद से दूर हो गए। मानव जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के महत्व में उनका विश्वास बढ़ता गया, क्योंकि साम्यवाद में इन मूल्यों का महत्व नहीं है। फलस्वरूप नेहरू गाँधीवाद के अधिकाधिक निकट आते गए और मार्क्सवाद साम्यवाद के प्रभाव से दूर हटते गए। सिंगापुर में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा कि "एशिया में साम्यवादी आन्दोलन राष्ट्रवाद का शत्रु है। भारतीय स्थिति के सन्दर्भ में नेहरू ने वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र में विश्वास करना छोड़ दिया और गाँधीजी की भाँति ये कहने लगे कि वर्ग-संघर्षों को शान्तिमय तरीकों से सुलझाया जा सकता है।"[4]

आर्थिक स्तर पर कल्याणकारी राज्य (Welfare State on Economic Level)

जन-कल्याणकारी राज्य के प्रति नेहरू की चिन्तन और व्यवहार शैली का चित्र फ्रैंक मॅरेस (Frank Morrasc) ने अपनी पुस्तक 'जवाहरलाल नेहरू जीवनी' में किया है।[5] नेहरू आर्थिक स्तर पर भारत को जन-कल्याणकारी राज्य बनाने हेतु जीवनपर्यन्त प्रयत्नशील थे। समाजवादी या कल्याणकारी राज्य वर्षों से, नेहरू का भारत के लिए आदर्श रहा, उनकी यह धारणा थी कि यह जोर-जबरदस्ती से नहीं, सहमति और विचारों से मुक्त आदान-प्रदान से लाया जाना चाहिए।

---

1. शशि भूषण नेहरू और मार्क्सवाद, पृ. 28.
2. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा वही, पृ. 381.
3. शशि भूषण नेहरू और मार्क्सवाद, पृ. 92.
4. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, वही, पृ. 382.
5. फ्रैंक मॅरेस वही, पृ. 386-395.

नेहरू चाहते थे कि इसके लिए जनता में रचनात्मक कार्यों के प्रति तीव्र आकर्षण पैदा करना होगा, नियोजित होगा और यह भावना पैदा करनी होगी कि योजना उनके लिए और उनके द्वारा है। पंचवर्षीय योजनाओं को मैं नेहरू की सरकार ने लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं का सावधानी से पालन किया।

नेहरू भारत को जन-कल्याणकारी राज्य बनाने में औद्योगीकरण को महत्वपूर्ण मानते थे। वे औद्योगीकरण की बुराइयों के प्रति सजग थे। नेहरू की दृष्टि में भारत की समस्या थी—पूंजी का अभाव और श्रमिकों का बाहुल्य। उनका कहना था कि उस जन-शक्ति का जो उत्पादन नहीं कर रही है उपयोग किया जाए। मशीनों का बड़े पैमाने पर उपयोग हो, बशर्ते वे श्रमिकों को काम में लगाने के उपयोग में लाएँ, न कि बेकारी पैदा करने के। नेहरू ने देश में व्याप्त अनुचित आत्म-सन्तोष को उचित नहीं माना।

देश को आर्थिक स्तर पर जन-कल्याणकारी रूप देने में नेहरू ने सामुदायिक योजना को महत्व दिया। सामुदायिक विकास का गाँवों का कार्यक्रम 2 अक्टूबर, 1952 को आरम्भ किया गया। किसानों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "आज जो काम यहाँ आरम्भ हुआ है, यह एक क्रान्ति का प्रतिफल है। यह अव्यवस्था पर आधारित क्रान्ति नहीं है अपितु गरीबी दूर करने के प्रयत्न पर आधारित है। यह भाषणों का अवसर नहीं है। हमें भारत को अपनी मेहनत से महान् बनाना है।" "सुधरे हुए स्वास्थ्य, बेहतर शिक्षा और समाज सेवा के बढ़ते हुए भाव से भारत नवजीवन और विस्तृत विकास की ओर अग्रसर हो रहा है।" नेहरू की कल्याणकारी भावना में 'गरीबी' और 'पिछड़ेपन' का स्थान न था।

राम मनोहर लोहिया

(Ram Manohar Lohiya, 1910-1967)

"लोहिया गाँधीजी के सत्याग्रह और अहिंसा के अखण्ड समर्थक थे, लेकिन गाँधीवाद को अधूरा दर्शन मानते थे वे समाजवादी थे, लेकिन मार्क्स को एकांगी मानते थे, वे राष्ट्रवादी थे लेकिन विश्व सरकार का सपना देखते थे, वे आधुनिकतम आधुनिक थे, लेकिन सभ्यता को बदलने का प्रयत्न करते रहते थे, वे विद्रोही और क्रान्तिकारी थे, लेकिन शान्ति और अहिंसा के अनूठे उपासक थे।"[1]

जीवन-परिचय (Life-Sketch)

डॉ. राममनोहर लोहिया (1910-1967) स्वाधीनता संग्राम के सेनानी और भारत में समाजवादी आन्दोलन के अग्रणी उन्नायक थे। वे समाजवादी विचारों के 'उग्र-प्रचारक' (Fiery Propagandist) माने जाते थे पर मास्को का पिछलग्गु बनने की बजाय वे गाँधीवादी समाजवाद के समर्थक थे। 1952 में वे काँग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष रहे और उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1953 में एशियाई समाजवादी सम्मेलन (Asian Socialist Conference) सम्पन्न हुआ। 1953 में लोहिया ने 'इक्वीडिस्टेन्ट थ्योरी' (Equidistant Theory) नामक पुस्तक लिखी और समाजवादियों को काँग्रेस तथा साम्यवादियों से दूर रहने का परामर्श दिया। जून 1953 में बैतूल अधिवेशन में डॉ. लोहिया ने अपने सहयोगियों से काँग्रेस-सहयोगी नीति की आलोचना की। जब प्रजा समाजवादी दल काँग्रेस के प्रति मैत्री एवं समझौतावादी रुख अपनाता रहा, तो लोहिया ने 1955 में नए समाजवादी दल का निर्माण कर लिया जिसका नाम 'भारतीय समाजवादी दल' रखा गया। वे संयुक्त समाजवादी दल के अध्यक्ष बने। लोहिया ने भारत की परराष्ट्र नीति की आलोचना की। नेहरू की गुट-निरपेक्षता की नीति पर प्रहार करते हुए उन्होंने माँग की कि भारत को विदेशों में मित्रों की खोज करनी चाहिए। डॉ. लोहिया का व्यक्तित्व विवादास्पद रहा। उन पर मार्क्स और गाँधी दोनों का प्रभाव रहा, लेकिन न वे पूरे मार्क्सवादी ही बने और न पूरे गाँधीवादी ही। वे 'समन्वयवादी विचारधारा' (Synthetic Ideology) के समर्थक थे और चाहते थे कि मार्क्सवाद या गाँधीवाद का अन्धानुकरण न करके उनके सिद्धान्तों की अमूल्य बातों को सीखा जाए।

राजनीतिक और सामाजिक विचार

डॉ. लोहिया ने इतिहास की नवीन व्याख्या की। उन्होंने कहा कि इतिहास अपने निश्चित चक्र के अनुसार घूमता रहता है। इस चक्र में पुनरावृत्ति होती रहती है। लोहिया का विचार विख्यात यूनानी दार्शनिक अरस्तू के 'चक्र सिद्धान्त' (Cyclical Theory) का स्मरण दिलाता है। इतिहास सरल रेखा की भाँति आगे नहीं बढ़ता, वरन् चक्रवत् गति से प्रभावित होता है। 'समय चक्र' के दौरान एक देश जो उन्नति के चरम शिखर पर है वह पतन के गर्त में गिर सकता है और पतन के गर्त में गिरा हुआ देश उन्नति करने लगे। डॉ. लोहिया की ऐतिहासिक धारणा 'ऐतिहासिक विकास' की धारणा से भिन्न थी।[2] लोहिया ने मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा को स्वीकार किया, किन्तु परम्परावादी मार्क्सवादियों की तुलना में उन्होंने चेतना पर जोर दिया। "लोहिया ऐसे सिद्धान्त की रचना के पक्ष में थे जिसके अन्तर्गत आत्मा अथवा सामान्य उद्देश्यों तथा द्रव्य अथवा आर्थिक उद्देश्यों का परस्पर सम्बन्ध हो कि दोनों का स्वातन्त्र्य अस्तित्व

---

1 *ओंकार शरद*, लोहिया के विचार, पृ. 10.

2 *Ram Manohar Lohiya The Wheel of History*, p. 13-51

कायम रह सके।"[1] लोहिया ने अपनी पुस्तक 'इतिहास चक्र' (The Wheel of History) में बताया कि इतिहास में जाति और वर्गों का संघर्ष दिखाई देता है। जातियों का रूप सुनिश्चित होता है जबकि वर्गों की आन्तरिक रचना शिथिल होती है और इन दोनों के बीच आन्तरिक क्रिया होती रहती है और वर्ग और जाति के बीच की आन्तरिक हलचल इतिहास को गति देती है। जातियों में गतिहीनता और निष्क्रियता पाई जाती है। जातियाँ रूढ़िवादी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। वर्ग सामाजिक गतिशीलता की शक्तियों के साथ जातियाँ शिथिल होकर वर्गों में परिणत हो जाती हैं और वर्ग संगठित होकर जातियों में बदल जाते है।

लोहिया ने गाँधीवाद और मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को मिलाकर भारतीय समाजवाद का निर्माण करना चाहा। उन्हें पाश्चात्य समाजवाद का अनुकरण रुचिकर नहीं था। उन्होंने मौलिक चिन्तन तथा एशियायी समाजवादियों की पहल पर जोर दिया। प्राचीन समाजवाद को लोहिया ने मृत सिद्धान्त और 'कल की बात' कहा तथा उसके स्थान पर नवीन मानववाद की वकालत की। लोहिया के अनुसार समाजवाद के तीन मुख्य तत्त्व थे—सभी उद्योगों, बैंकों तथा बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण, समूचे संसार में जीवन-स्तर का सुधार तथा एक विश्व संसद की स्थापना। यह समाजवाद आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में था। लोहिया का विश्वास था कि यह समाजवाद सहकारी कृषि और ग्राम सरकार के माध्यम से व्यावहारिक रूप ग्रहण कर सकता था।[2] 1952 में काँग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप में लोहिया ने गाँधीजी के विचारों को समाजवादी चिन्तन में अधिक स्थान देने की बात कही। उन्होंने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि साम्यवादियों की तरह बड़े कारखाने न लगा कर, लघु मशीनों को महत्त्व दिया जाए ताकि छोटी लागत लगाकर अधिकाधिक मनुष्यों को कार्य मिल सके। अपने समाजवादी सहयोगियों—जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता आदि से उनके नीति-विषयक मतभेद बने रहे। उन्होंने काँग्रेस और समाजवादियों के बीच मैत्री की समझौतावादी नीति को स्वीकार नहीं माना। जून 1953 में अशोक मेहता ने यह विचार शृंखला प्रस्तुत की कि 'पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था' की क्या 'अनिवार्य मजबूरियाँ' है? इसमें उन्होंने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि काँग्रेस की विचारधारा समाजवादी विचारधारा के निकटतम आती जा रही है। उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि ऐसी परिस्थिति में काँग्रेस और प्रजा समाजवादी दल में सैद्धान्तिक मैत्री हो जानी चाहिए, लेकिन इसके जवाब में डॉ. लोहिया ने अपना 'समानान्तर सिद्धान्त' (Equidistant Theory) रखा और यह युक्ति प्रस्तुत की कि समाजवादी आज काँग्रेस से उतने ही दूर हैं जितने साम्यवादियों से और ये समानान्तर रेखाएँ अपने विचारों एवं दृष्टिकोणों के कारण कभी मिल नहीं सकतीं। लोहिया ने यह पसन्द नहीं किया कि प्रजा समाजवादी दल काँग्रेस से मित्रता करे और वह भी नीति-विषयक मुद्दों पर।[3]

अप्रैल, 1966 में कोटा में संयुक्त समाजवादी दल ने अपने अधिवेशन में कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार किया और डॉ. लोहिया के निर्देशों के अधीन राजनीतिक कार्यक्रम तय किया। डॉ. लोहिया ने दल को 7 प्रस्तावों को पारित करने की सलाह दी। उनका मत था कि इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने पर समाजवाद के सार्वभौम सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया जा सकता था[4]—1. स्त्री-पुरुष समानता की स्वीकृति, 2. रंग-भेद पर आधारित असमानताओं की समाप्ति, 3. जन्म और जाति-सम्बन्धी असमानताओं की समाप्ति, 4. विदेशियों द्वारा दमन की समाप्ति और विश्व सरकार का निर्माण, 5. व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित आर्थिक असमानता का विरोध एवं उत्पादन की योजनाबद्ध वृद्धि, 6. व्यक्तिगत अधिकारों के अतिक्रमण का विरोध एवं 7. युद्ध शस्त्रों का विरोध तथा सविनय अवज्ञा के सिद्धान्त की स्वीकृति।

डॉ. लोहिया समाजवादी आन्दोलन के कीर्ति-स्तम्भ थे। उन्होंने भारत की अखण्डता की दृष्टि से सोचा था। समाजवादी नेताओं में जयप्रकाश नारायण और डॉ. नरेन्द्रदेव पर जहाँ मार्क्सवाद का अधिक प्रभाव रहा, वहाँ लोहिया पर गाँधीवादी विचारधारा का प्रभाव अधिक था। लोहिया समाजवादी धारा के गरम प्रवक्ता थे जिनके भाषण आँकड़ों और आलोचना से भरे रहते थे। लोहिया की विशेषता थी कि "उन्होंने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं को एशियायी दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। वे कोरे पंथवादी नहीं थे। उन्होंने कर्म तथा चिन्तन के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की समस्या को सदैव ध्यान में रखा। वे चाहते थे कि मनुष्य के जीवन और स्वभाव की अभिव्यक्ति हो। वे इस पक्ष में नहीं थे कि व्यक्तित्व के विशिष्ट पहलू की एकांगी और सीमित वृद्धि हो।"[5]

□□□

1. *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा :* वही, पृ. 447.
2. *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा :* वही, पृ. 447.
3. लोकतन्त्र समीक्षा (जनवरी-मार्च, 1972) जनेन्द्र गुप्त का लेख : भारतीय समाजवादी दल के बदलते आयाम पृ. 124.
4. वही, पृ. 123.
5. *विश्वनाथ प्रसाद वर्मा :* वही, पृ. 448.

12

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का स्वरूप एवं रणनीति

(Nature & Strategy of Indian Freedom Struggle)

राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता का पर्याय है। "जब किसी राष्ट्र के नागरिक स्थान, वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन, भाषा, साहित्य, मूल्य, मान्यताओं, जाति समूह और धर्म आदि के अन्तर होते हुए भी सभी को एक समझते हैं और राष्ट्रहित के समक्ष अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक हितों का परित्याग करते हैं यही भावना राष्ट्रीयता कहलाती है।" समाज विज्ञानी ब्रुबेचेज (Brubaches) के अनुसार "साधारण रूप में राष्ट्रीयता देश प्रेम की अपेक्षा देशभक्ति के अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत करती है। राष्ट्रीयता में स्थान, जाति, भाषा, इतिहास, संस्कृति और परम्पराओं के सम्बन्ध प्रदर्शित होते हैं।" 1961 में आयोजित राष्ट्रीय एकता सम्मेलन की रिपोर्ट (National Integration Conference Report, 1961) के अनुसार "राष्ट्रीय एकता एक मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा लोगों के हृदयों में एकता, संगठन, सन्निकटता की भावना, सामान्य नागरिकता की भावना और राष्ट्र के प्रति भक्ति एवं भावना का विकास किया जाता है।" डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार "राष्ट्रीय एकता एक ऐसी समस्या है, जिसमें सभ्य राष्ट्र के रूप में हमारे अस्तित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

भारतीय राष्ट्रवाद का उदय

भारतीय राष्ट्रवाद का उदय 1857 की क्रान्ति के समय से माना जाता है। 1857 का व्यापक सैनिक विद्रोह अंग्रेजी राज के विरुद्ध भारतीयों का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम था जिसे निर्ममता से कुचल दिया गया और फिरंगियों ने कठोर नियम, कानून लागू किये। थामसन, गैरट और मैलेसन द्वारा लिखित कुछ अंश अंग्रेजी दमन नीति को स्पष्ट करते हैं—"हर एक हिन्दुस्तानी जो अंग्रेजों की तरफ से नहीं लड़ रहा था, उसे हत्यारा माना जाए। दिल्ली निवासियों का कत्ले-आम किया जाए।"[1] ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में गवर्नर जनरल की तत्कालीन दर्ज रिपोर्ट के अनुसार, "गाँव-गाँव में आग लगाकर लोगों को मार डाला गया। फाँसी देने वाले दल जिलों में गये। फाँसी देने वाले लोग शौकिया थे जिन्होंने कलात्मक ढंग से लोगों को मारा। कई जान लेने के ढंग आविष्कृत किये गये। वीर सावरकर की पुस्तक 'स्वतन्त्रता संग्राम का पहला युद्ध' पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इससे सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीयता की धूम मच गई और जनक्रान्ति को बल मिला।"[2] अंग्रेजी शासकों ने क्रान्ति के बाद शासन व्यवस्था में सुधार किए और शासन के कार्यों में भारतीयों का सहयोग लेना आरम्भ किया, लेकिन सुधारों की गति धीमी थी। कई स्वयंसेवी राष्ट्रीय राजनीतिक संगठनों का सूत्रपात हुआ। भारत में राष्ट्रीय राजनीतिक संगठनों की स्थापना में अहम भूमिका इलबर्ट बिल की रही। इसके अनुसार भारतीय न्यायाधीशों को भी यूरोपीय अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार दे दिया गया। अंग्रेजों ने इस बिल का विरोध किया। हेनरी कॉटन के अनुसार, यूरोपियनों द्वारा इस न्याय संगत कानून का विरोध करने पर भारतीयों को राष्ट्रीय राजनीतिक सभा के निर्माण की आवश्यकता महसूस हुई जिसके माध्यम से वे अपनी आवाज सरकार तक पहुँचा सकें। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1876 में इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की। सन् 1883 के अन्तिम माह में कलकत्ता में राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें अखिल भारतीय संगठन को मूर्त रूप देने की अनुशंसा की गई। तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड डफरिन ने भारतीयों की योजना का अनुमोदन किया। डफरिन के वचनों से आश्वस्त होकर सर ए. ओ. ह्यूम ने कोलकाता विश्वविद्यालय के स्नातकों एवं पचास शिक्षित नवयुवकों से स्वातन्त्र्य हितार्थ अपील की, फलस्वरूप 28 दिसम्बर, 1885 को भारतीय राष्ट्रीय

---

1 V. D. Savarkar : First War of Freedom p. 89

2 डॉ. सुभाष कश्यप : संवैधानिक विकास और स्वतन्त्रता संघर्ष पृ. 45

धर्म सुधारक, विचारक एवं सत्यप्रिय व्यक्तित्व—राजा राममोहन राय सर्वधर्म प्रिय एवं सत्यनिष्ठ विचारक थे। उन्होंने हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई धर्मों का अध्ययन एवं चिन्तन किया। उन्होंने एकेश्वरवाद, पाप कर्मों से दूर रहने एवं सच्चे, शुद्ध जीवन पर बल दिया। ब्रह्म समाज में परमेश्वर की उपासना का ढंग सभी धर्मों के अनुयायियों के लिए उपयुक्त था। जप, माला और आडम्बर रहित जीवन को अपनाना राजा राममोहन राय ने उत्कृष्ट जीवन बतलाया।

महान् समाज सुधारक एवं अन्याय विरोधी—राजा राममोहन राय समाज सुधारक थे। सती प्रथा को अमानवीय सम्था करार देते हुए उन्होंने इसके विरुद्ध आन्दोलन चलाया। अतिवादी एवं कट्टर व्यक्तियों ने उनका विरोध किया। उनके आग्रह को मानते हुए तात्कालिक गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक ने 1829 में सती प्रथा को समाप्त कर दिया। जूरी एक्ट 1827 के अनुसार ईसाइयों के मुकदमे के दौरान कोई मुस्लिम या हिन्दू जूरी का सदस्य नहीं बन सकेगा, जबकि हिन्दू मुस्लिमों के मुकदमे की सुनवाई के दौरान ईसाई जूरी के सदस्य बन सकते थे। इस कानून का राजा राममोहन राय ने विरोध किया एवं ब्रिटिश सरकार को इसके खिलाफ ज्ञापन भेजा। सेना के भारतीयकरण की माँग राजा राममोहन राय ने ब्रिटिश शासकों के समक्ष रखी।

आधुनिक युग प्रणेता—तब राजा राममोहन राय आधुनिक युग प्रणेता हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार "राजा राममोहन राय ने आधुनिक युग का सूत्रपात किया है। वे भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पिता और राष्ट्रवाद के अग्रदूत हैं क्योंकि उन्होंने सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के द्वारा राजनीतिक जागृति के लिए मार्ग तैयार किया था।"[1]

भारतीय राष्ट्रवाद, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक नवजागरण के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883)

भारतीय राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक सांस्कृतिक महानता में विश्वास पैदा कर पुनर्जीवित करने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। मूलशंकर के नाम से पहचाने जाने वाले बौद्धिक व्यक्तित्व का जन्म 12 फरवरी 1824 को काठियावाड़ (सौराष्ट्र) के मौरवी जनपद के टंकारा ग्राम में हुआ। उन्होंने मानसिक परतन्त्रता से भारतीयों को मुक्त करने के लिए हिंदी को राष्ट्रीय एकता का माध्यम बनाकर, भारतीय राष्ट्रवाद के उत्थान में दूरदर्शी और प्रेरणास्पद कदम उठाया। स्वामी दयानन्द के शब्दों में—"जिस देश में एक भाषा, एक धर्म और एक वेशभूषा को महत्व नहीं मिलेगा, उसकी एकता लड़खड़ाती रहेगी।" स्वामीजी ने नारी प्रतिष्ठा शूद्रों के सम्मान, हिन्दू धर्म और ब्रह्मचर्य के पालन पर जोर दिया। वेदों पर अटूट श्रद्धा एवं विश्वास रखने वाले स्वामी जी मूर्ति पूजा के विरोधी थे। वे वेदों के आदेशों पर चलते थे एवं वैदिक मंत्रों से नियमित सन्ध्या एवं हवन करते थे। उनके जीवन का लक्ष्य सर्वथा सत्य का प्रचार, एकता और समस्त भारतीयों को प्रेममय बनाना था। वे ऐसी सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जिसमें संसार में कोई प्राणी जीवनपर्यन्त दुःखी न हो।

स्वामीजी स्वराज्य के समर्थक थे। उनका कहना था, "स्वराज्य से अच्छा सुराज कभी नहीं हो सकता।" स्वदेशी वस्तुओं और वेशभूषा के समर्थक थे। वे कहते थे—"जब अंग्रेजों ने भारत आकर तुम्हारी वेशभूषा नहीं अपनाया तो तुम्हें अपने देश में ही अपनी वेशभूषा को छोड़ने की क्या आवश्यकता है।"[2] स्वामीजी का विचार था, विदेशी वस्तुओं के प्रयोग से पराधीनता एवं स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग से राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग्रत होता है।" उन्होंने वेदों का हिन्दी में भाष्य किया और शास्त्रार्थ द्वारा ईसाई धर्म का हिन्दू धर्म पर आक्रमण से रक्षा की। उनकी कृति सत्यार्थ प्रकाश राष्ट्रवाद के लिए वरदान साबित हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती राष्ट्र प्रेमी थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा का अध्ययन नहीं किया था, अतः लेखन में कोई बनावट नहीं थी। सत्यार्थ प्रकाश में वर्णित लेखों में उनके द्वारा देश की पराधीनतावश हुई दुर्दशा को पढ़कर पाठक भावुक हो जाते थे। 7 अप्रैल 1875 को मुम्बई में स्वामीजी ने आर्य समाज की स्थापना की। 30 अक्टूबर, 1883 को उनका निधन दूध में जहर पिलाने से हो गया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अवसान के बाद उनके अनुयायियों ने राष्ट्रवाद की उन्नति का क्रम अनवरत रखा। लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, सरदार भगतसिंह, लाला हरदयाल और भाई परमानन्द आर्य समाज के समर्थक थे। राष्ट्रीयता के क्षेत्र में आर्य समाज के समर्थकों ने उल्लेखनीय योगदान दिया।

भारतीय राष्ट्रवाद का उत्थान और व्यावहारिक धर्म का प्रचार रामकृष्ण मिशन एवं स्वामी विवेकानन्द

स्वामी रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में 1896 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। काली देवी के उपासक रामकृष्ण परमहंस सभी धर्मों का आदर करते थे। उन्होंने धार्मिक एवं राष्ट्रीय उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। रामकृष्ण

1. डॉ. सुभाष कश्यप : सांवैधानिक विकास एवं स्वतन्त्रता संघर्ष पृ. 67
2. S. N. Banerji : A Nation in the Making, p. 40-44

परमहंस का मानना था कि पाश्चात्य संस्कृति से भारतीय संस्कृति श्रेष्ठ है, क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति भौतिक है जबकि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है। वे सभी धर्मों को सनातन धर्म का अंश मानते थे। रामकृष्ण परमहंस के उपदेश से चन्द्रसेन जैसे विद्वान् एवं नरेन्द्र जैसे नास्तिक ईश्वर के अनन्य भक्त बन गये। एक सन्त के शब्दों में, "आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसायटी की कमी रामकृष्ण परमहंस ने पूरी की। उन्होंने धर्म को व्यावहारिक बनाकर धार्मिक और सांस्कृतिक जागृति उत्पन्न की।" उनका स्वर्गवास 15 अगस्त, 1886 को हुआ। उनके देहावसान के बाद नरेन्द्र, जो विवेकानन्द बने, ने सन् 1886 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। रामकृष्ण मिशन की स्थापना के पीछे विवेकानन्द का उद्देश्य राष्ट्रवाद के उत्थान के साथ वेदान्त और व्यावहारिक धर्म का प्रचार देश-विदेश में करना था। विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन का मुख्य कार्यालय कोलकाता के बेलूर में तथा बंगलौर एवं अल्मोड़ा में मठ स्थापित किए। रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ म्यांमार, मलाया, अमेरिका, श्रीलंका तथा यूरोप में स्थापित की गईं।

विश्व धर्म सम्मेलन शिकागो में—स्वामी विवेकानन्द ने भारतवर्ष में पैदल भ्रमण कर आध्यात्मिक उपदेश दिए। 1893 में स्वामी विवेकानन्द विश्व धर्म सम्मेलन में शिकागो में भारत के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित हुए। स्वामी विवेकानन्द ने समानता के नाते जब सम्मेलन में उपस्थित लोगों को भाई-बहिन कहकर पुकारा तो सब स्तम्भित हो गये। विवेकानन्द ने स्पष्ट किया कि भारत आध्यात्मिक क्षेत्र में विश्व गुरु है और रहेगा। उनकी पहुँच एवं अभ्यास अंग्रेजी भाषा में कम न थी। उन्होंने विश्व धर्म सम्मेलन में कहा, "जब तुम हिन्दू धर्म के बारे में नहीं जानते तो हमारे धर्म के बारे में फैसला कैसे कर सकते हो?" शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन की विजय यात्रा के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी विवेकानन्द ने भारत का आह्वान किया था—"गर्व से बोलो कि हम भारतवासी हैं, और प्रत्येक भारतवासी मेरे भाई हैं भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, मेरी जवानी की फुलवारी, मेरा पवित्र स्वर्ग और मेरे बुढ़ापे का काशी है। भाई बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा सर्वोच्च है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है।"

भारतीय राष्ट्रवाद का नूतन अध्याय
थियोसोफिकल सोसायटी एवं एनी बीसेन्ट

1875 में रूसी महिला मैडम ब्लेवेटस्की एवं कर्नल अल्काट ने न्यूयार्क में थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना की। वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के निमन्त्रण पर भारत आये थे। उन्होंने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को सिद्ध किया। यद्यपि आर्य समाज एवं स्वामी दयानन्द ने "स्वधर्मे मरणं श्रेयः" पर बल दिया, तथापि अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों ने उनके तर्कों को नहीं माना और उनकी क्षतिपूर्ति का कार्य थियोसोफिकल सोसायटी ने पूरा किया। राष्ट्रवाद पर जोर देने एवं पादरियों के बहकावे में न आने के लिए मैडम ब्लेवेटस्की एवं कर्नल अल्काट ने पुरजोर प्रयास किया। मिसेज एनी बीसेन्ट इस सोसायटी की प्रमुख कार्यकर्त्री बन गयीं।

एनी बीसेन्ट—एनीबीसेन्ट मूलतः आयरलैण्ड की रहने वाली थीं। वे 1893 में भारत में थियोसोफिकल सोसायटी की सदस्या बनकर आई थीं। वे इस सोसायटी की अध्यक्ष बन गईं। वेद व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था एवं उपनिषदों में उनकी आस्था थी। *उनके अनुसार हिन्दू संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से श्रेष्ठ थी। मिसेज एनी बीसेन्ट ने सेन्ट्रल हिन्दू हाईस्कूल* एवं कॉलेज की वाराणसी में स्थापना की। उनका विश्वास मूर्तिपूजा में था एवं वे बाल-विवाह, सती प्रथा के विरुद्ध थीं। इण्डियन होमरूल आन्दोलन को चलाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। इण्डियन नेशनल काँग्रेस में उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही। 1917 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस में उन्हें अध्यक्ष चुना गया।

भारतीय राष्ट्रवाद के उत्थान के कारण

भारत में पाश्चात्य सम्पर्क और ब्रिटिश राज्य के विस्तार, पाश्चात्य शिक्षा के प्रारम्भ एवं विन्यास के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद को अभूतपूर्व दिशा मिली, परिणामस्वरूप भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। प्रारम्भिक काल में पाश्चात्य सम्पर्क हानिकारक सिद्ध हुआ, परन्तु भारतीयों के मानसिक क्षितिज के विकास के साथ परिवर्तित परिस्थितियों की परिणति एक नये दृष्टिकोण को लेकर हुई। पाश्चात्य सम्पर्क और पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीयों के जीवन में बौद्धिक एवं राजनैतिक परिवेश की नींव डाली। भारतीय विद्वानों, विचारकों एवं सुधारकों ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्राचीन स्वरूप का समन्वय पाश्चात्य संस्कृति से कर उसे सर्वोत्तम आयाम बनाया। विदेशी शासकों ने भारतीय अतीत के गौरव की उत्कृष्टता को क्षीण करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। दूसरी ओर पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओं, पाश्चात्य चिन्तन ने भारत में प्रशासनिक, राजनीतिक स्वरूप एवं सामाजिक मूल्यों पर क्रान्तिकारी छाप छोड़ी। पाश्चात्य बुद्धिवाद, उदारवाद तथा पुनर्जागरण की लहरों से भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक चिन्तन प्रभावित हुआ।[1] भारत में नवीन जागरण के अग्रलिखित कारण थे—

---

1. *विश्वनाथ प्रसाद :* आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ. 9

1. पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव—अंग्रेजों के सम्पर्क से भारत में पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का प्रसार हुआ। लॉर्ड मैकाले ने लॉर्ड विलियम बैंटिक के काल में अंग्रेजी सरकार से आग्रह किया कि "भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा दी जाए ताकि भारतीय अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के बाद ब्रिटिश सरकार जैसी लोकतन्त्रीय शासन पद्धति की माँग करेंगे।" 1813 में चार्टर एक्ट के अनुसार भारतीयों में शैक्षणिक प्रचार-प्रसार के लिए एक लाख रुपये खर्च करना तय किया गया। 1833 में लॉर्ड मैकाले ने कहा था, "अंग्रेजी इतिहास में वह गर्व का दिन होगा जब पाश्चात्य ज्ञान में शिक्षित होकर भारतीय पाश्चात्य संस्थाओं की माँग करेंगे।"[1]

2. समाचार-पत्र और साहित्य—भारतीय राष्ट्रवाद के उदय, विकास और प्रसार के मूल में अंग्रेजी एवं भारतीय प्रेस की उल्लेखनीय भूमिका रही। समाचार पत्रों ने विदेश नीति के विवादों, अन्तर्राष्ट्रीय विकास एवं ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति, प्रशासनिक खामियों की तरफ ध्यान आकर्षित किया। राजनीतिक संगठनों, नेताओं ने समाचार-पत्रों के माध्यम से राष्ट्रवाद पैदा किया। प्रारम्भिक अवस्था में प्रेस अंग्रेजी समाचार-पत्र निकालती थी, लेकिन कालान्तर में विभिन्न भाषी समाचार-पत्रों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार की दमनीय नीति की आलोचना की गई तो अंग्रेज सरकार ने 1879 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पास कर भारतीय समाचार-पत्रों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर रोक लगा दी। उस समय हिन्दू पेट्रियोट, हिन्दी मिरर, अमृत बाजार पत्रिका, केसरी, नवशक्ति तथा सन्ध्या नामक पत्र प्रमुख थे। साहित्य की भूमिका राष्ट्रवाद के उदय में कम नहीं रही। बंकिमचन्द्र चटर्जी के आनन्दमठ, उनके गीत 'वन्दे मातरम्', रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'जन गण मन' एवं मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' नामक पुस्तक ने भारतीय राष्ट्रवाद को जाग्रत करने में समर्पित भूमिका का निर्वहन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'भारत दुर्दशा' ने भारतीयों की दयनीय दशा को प्रस्तुत किया। दादाभाई नौरोजी, दीनबन्धु मित्र, लोकमान्य तिलक के साहित्य ने उत्साह एवं राष्ट्रवाद की भावना से पूर्ण कर दिया, फलस्वरूप भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई।

3. सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन—18वीं-19वीं शताब्दी में भारत में सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन हुए। जिन्होंने राष्ट्रवाद की पुनर्स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी एवं अन्य संस्थाओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की महानता, आध्यात्मवाद के साथ राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित करने में सफल हो सकी। राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, पी. सी. सरकार, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पादरियों द्वारा फैलाये जा रहे दुष्प्रचार से बचने, हिन्दुत्व को अपनाने, अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर विश्वास करने, कुरीतियों को त्यागने एवं भारत की महानता प्रचारित कर देशवासियों में स्वाभिमान एवं राष्ट्रवाद की लहर जाग्रत की। भारत के गौरवशाली अतीत के प्रति जनता में विश्वास पैदा किया।

4. यातायात के आधुनिक साधन—अंग्रेजों के अपने व्यापारिक हितों के विकास, भारत के प्रशासन पर अपना नियन्त्रण मजबूत करने एवं अधिकाधिक आर्थिक लाभ उठाने के उद्देश्य से ब्रिटिश शासकों ने रेलमार्ग, सड़कों एवं संचार व्यवस्था का निर्माण किया, परन्तु ये साधन विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को परस्पर निकट लाने में उपयुक्त साबित हुए। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय स्तर पर भारतीयों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। यातायात के साधनों के विकास ने भारतीयों को सामाजिक रूप से संगठित किया। रेल, सड़क आदि साधनों के सुलभ होने पर राष्ट्रवाद की लहरें सम्पूर्ण देश में थोड़े समय में फैल गई।

5. आर्थिक शोषण—ब्रिटिश उद्योग एवं व्यापार ने आवश्यकतानुसार भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया। उन्होंने भारत को ब्रिटेन के औद्योगिक उत्पादों की खपत के लिए उचित समझा और उद्योगों के लिए कच्चे माल प्राप्ति के लिए भारत का शोषण किया। अंग्रेज भारत से कच्चा माल सस्ते दामों पर लेकर इंग्लैण्ड भेज देते और उसके द्वारा निर्मित माल का भारत से मनमाना धन वसूला जाता था। फलस्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे चौपट हो गए और अंग्रेजों का व्यवसाय उन्नति की ओर अग्रसर हो गया। यथा—विदेशों में भारत की ढाका की मलमल विश्व प्रसिद्ध थी, लेकिन अंग्रेजों ने लिवरपुल और लंकाशायर के कपड़ा उद्योगों की उन्नति के लिए इस उद्योग को नष्ट कर दिया। उस दौरान इंग्लैण्ड में स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त प्रचलित था और 1877 में आयात शुल्क हटा लिया। इससे भारत में विदेशी कपड़े की बिक्री होने लगी। परिणामस्वरूप भारत का कपड़ा उद्योग बन्द हो गया।

6. भारत के उद्योग, व्यापार एवं कृषि का विनाश—भारतीय व्यापार को इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने तबाह कर दिया। भारतीय अर्थव्यवस्था की दयनीय दशा का प्रभाव 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में प्रदर्शित हुआ। मार्क्स ने विवरण देते हुए इस दुर्दशा को स्पष्ट किया था, "सन् 1780 से 1850 के बीच भारत में ब्रिटेन से आये माल की कुल कीमत 386152 से बढ़कर 80,24,000 पौण्ड हो गई। 1850 में ब्रिटेन का सूती कपड़ा उद्योग का जो माल विदेशों में निर्यात किया जाता था उसका चौथा हिस्सा भारत में पहुँचता था। ब्रिटेन की जनसंख्या का आठवाँ हिस्सा इस उद्योग में लगा

1 *Banerji* A Nation in the Making, p 44

हुआ था और इस उद्योग से ब्रिटेन को कुल आय का बारहवाँ हिस्सा मिलता था।"[1] 1818 से 1836 के बीच जब ब्रिटेन ने भारत को धागे का निर्यात किया उसका अनुपात में वृद्धि 1 : 5200 था। 1824 में ब्रिटेन ने भारत को 60 00 000 गज मलमल भेजा था, लेकिन 1836 में 6 40 00 000 गज मलमल का निर्यात किया था। मलमल के लिए प्रसिद्ध ढाका की आबादी 1,50 000 से घटकर 20 000 हो गई। एशिया में अभूतपूर्व क्रान्ति हुई जिससे भारतीय समाज का धुरी के रूप में पहचाने जाने वाले करघा और चरखे का अस्तित्व समाप्त हो गया। गाँवों के आर्थिक जीवन को असन्तुलित एवं औद्योगिक नगरों को नष्ट कर दिया गया। कृषि पर अत्यधिक लगान लिया गया और विस्तार के लिए असहयोग का रुख अपनाया गया जिससे कृषि के क्षेत्र का विकास अवरुद्ध हो गया। कर से प्राप्त होने वाली राशि का 0.8 प्रतिशत या न्यूनतम धन सार्वजनिक निर्माण पर व्यय किया गया।

7 लार्ड लिटन की दमनकारी नीति—लार्ड लिटन की दमनकारी नीति ने राष्ट्रीय चेतना को जगा दिया। उसका शासन काल 1876-81 भारतीय राष्ट्रीयता का बीजारोपण का समय कहलाता है। 1876 से 1878 तक दक्षिण भारत में भयंकर अकाल पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने पीड़ितों की सहायता नहीं की, इससे भारतीयों में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध रोष छा गया। लार्ड लिटन ने राजाओं, नवाबों, महाराजाओं का बहुत बड़ा दरबार किया जिस पर अत्यधिक धन व्यय किया गया एवं घोषणा की गई कि महारानी विक्टोरिया ने भारत की सम्राज्ञी की उपाधि धारण कर ली है। भारतीयों द्वारा दरबार की कड़ी आलोचना की गई। लार्ड लिटन ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए द्वितीय अफगान युद्ध में भारत का करोड़ों रुपया नष्ट कर दिया। ब्रिटेन ने शस्त्र विधेयक लागू किया जिसके अनुसार भारतीयों को शस्त्र रखने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य था, अंग्रेजों को नहीं। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट लॉर्ड लिटन की देन था, जिससे भारत के समाचार-पत्रों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को बाधित किया। आयात कर को हटाना, भारतीय वस्त्रों पर चुंगी लगाना एवं अन्य दमनकारी कानून राष्ट्रीयता की ज्वाला को प्रज्वलित करने में कामयाब हुए और समस्त भारतीयों ने अंग्रेजों से छुटकारा पाने का दृढ़ निश्चय कर लिया।[2]

8 भेदभावपूर्ण व्यवहार—भारतीयों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार राष्ट्रवाद के उदय का प्रमुख कारण बना। ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीयों के साथ निम्न स्तर का व्यवहार किया जाता था। रेलवे कम्पार्टमेन्ट में भारतीय अंग्रेजों के साथ नहीं बैठ सकते थे।

9 1857 की क्रान्ति—1857 का सैनिक विद्रोह राष्ट्रवाद के उत्थान का मूल कारण रहा। गाय के माँस वाले कारतूसों को मुँह से खोलने को लेकर मंगल पाण्डे के नेतृत्व में राष्ट्रीयता का प्रथम संग्राम हुआ। यद्यपि क्रान्ति विफल रही, पर राष्ट्रीय चेतना भारतीय मनोमस्तिष्क पर छा ही गई।

10 इलबर्ट बिल सम्बन्धी विवाद—राष्ट्रीय आन्दोलन को इलबर्ट बिल ने प्रोत्साहन दिया। लार्ड रिपन के शासन काल में 1883 में इलबर्ट विधि मन्त्री था। उसने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में विधेयक पारित किया जिसमें कहा गया कि सभी न्यायाधीशों को, चाहे वे भारतीय हों या अंग्रेज, समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। इसके अनुसार भारतीय न्यायाधीश अंग्रेजों को दण्डित कर सकते थे। इसका अंग्रेजों ने पुरजोर विरोध किया। फलस्वरूप 1883 में अंग्रेजी नीति के विरोध के लिए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने एक कान्फ्रेंस बुलाई, जिसका परिणाम राष्ट्रवाद की जागृति में सकारात्मक रहा।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

राष्ट्र के कई प्रान्तों और नगरों में अनेक राजनीतिक संगठनों की नींव डल चुकी थी, परन्तु एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता थी। इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य एक सेवानिवृत्त सरकारी अधिकारी सर ए. ओ. ह्यूम ने किया, जो 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के जनक' कहलाए। उन्हें इस संगठन के निर्माण की प्रेरणा लार्ड डफरिन से प्राप्त हुई थी। इस संगठन की उत्पत्ति का उद्देश्य असन्तुष्ट भारतीय बुद्धिजीवियों के समक्ष सुरक्षा कवच पेश करना था। सर ए. ओ. ह्यूम ने 1 मार्च, 1883 को कोलकाता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक पत्र लिखकर निस्वार्थ भाव से मातृ सेवा में जुट जाने की अपील की जिससे राष्ट्र का बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्जागरण हो सके एवं व्यवस्थित अनुशासित सेना तैयार हो सके। परिणामस्वरूप 1884 में थियोसोफिकल कन्वेंशन हुआ, जिसमें देश के बौद्धिक एवं शिक्षित बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रीय संस्था की स्थापना के विचार को मूर्त रूप देने का निश्चय किया। दिसम्बर 1884 में इण्डियन नेशनल यूनियन की स्थापना की गई, जिसके उल्लेखनीय प्रयासों से 28 दिसम्बर, 1885 को मुम्बई को गोकुलदास तेजपाल संस्कृत पाठशाला में एक कान्फ्रेंस का आयोजन हुआ। इसमें भारत के सब क्षेत्रों के 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। लम्बे विचार विमर्श एवं वाद विवाद के बाद इस संस्था का नाम 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' (Indian National Congress) रखा गया।

1. *मार्क्स* : पूँजी, खण्ड प्रथम, अध्याय-15, अनुभाग-5.
2. *Ishwari Prasad* : History of Modern India, p. 308.

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के उद्देश्य

यद्यपि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हुई थी परन्तु वही कांग्रेस भारतीय राष्ट्रवाद का माध्यम बना। जिन विद्वानों का मानना है कि ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षार्थ कांग्रेस की स्थापना हुई उनके अनुसार कांग्रेस के जनक सर ए. ओ. ह्यूम अवकाश-प्राप्त अंग्रेज पदाधिकारी थे जिन्हें तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन एवं अन्य प्रमुख अंग्रेज अधिकारियों का विश्वास प्राप्त था। जब प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम 1857 के सैनिक विद्रोह से अंग्रेज अधिकारियों को विश्वास हो गया था कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीयों में असन्तोष व्याप्त होता जा रहा । तथा राष्ट्रवाद उत्पन्न हो चुका है अत. विद्रोह की ज्वाला पुन: भड़क सकती है। इसी विद्रोह के भय से मुक्ति पाने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई। अंग्रेजों का उद्देश्य था कि उनके विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति न हो और इस संस्था के माध्यम से भारतीयों का क्रोध शब्दों से निकलता रहे। कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य भारतीय राष्ट्रवाद को एक देशव्यापी संगठन द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करने का माध्यम मानने वाली दूसरी विचारधारा के समर्थक स्वीकारते हैं कि कांग्रेस की स्थापना के पीछे देश प्रेम और राष्ट्रीयता का अस्तित्व था।

1885 1905 कांग्रेस के उद्देश्य, कार्यक्रम, प्रभाव एवं ब्रिटिश दृष्टिकोण

दिनांक 1 मार्च 1885 को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व सर ए. ओ. ह्यूम द्वारा किया गया। उन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय के स्नातकों को सम्बोधित करते हुए अपील की—"आप सर्वाधिक रूप से शिक्षित भारतीय हैं। आपको स्वाभाविक रूप से भारत की मानसिक, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का महत्वपूर्ण साधन बनना चाहिए। चाहे व्यक्तिगत हो या जातीय महत्वपूर्ण स्रोत अन्दर से होने चाहिए तथा इसका आधार आप हो जो इस देश के सभ्य, ज्ञानी एवं प्रतिभा सम्पन्न नागरिक हों। आप देश के प्रिय पुत्र हो, देश इस कार्य की शुरूआत के लिए आपको देखता है। व्यर्थ में मेरे जैसे विदेशी भारत तथा उसके बच्चों को प्यार करते हैं जो बहुत प्यारे लगते हैं इस देश के लिए तथा उनके भले के लिए समय एवं धन देते हैं तथा विचार करते हैं। वे अपना शिक्षा एवं सुझावों से सहायता कर सकते हैं। वे इन कार्यकर्ताओं के लिए लाभस्वरूप अपना अनुभव योग्यताएं तथा ज्ञान प्राप्त करें, किन्तु इसमें आत्मीयता का आवश्यक गुण नहीं। वास्तविक कार्य देशवासी स्वयं कर सकते हैं।" "आप इस भूमि के जनक हैं। आप में से 50 व्यक्ति भी आत्म त्याग की सतोषजनक शक्ति देश के लिए गर्व एवं पर्याप्त प्यार, पवित्रता एवं निःस्वार्थ देशभक्ति की भावना नहीं रखते हैं तो भारत के लिए कोई आशा नहीं रह जाती है। उसके बेटे निम्न एवं असहाय होकर विदेशी शासकों के हाथ में यन्त्र बने रहेंगे। जब वे व्यवस्था पर चोट करेंगे तभी स्वतन्त्र हो सकते हैं और जब तक नेताओं के विचार निम्न एवं स्वार्थी रहेंगे, वे देश के लिए कुछ नहीं कर सकते। हर राष्ट्र एक अच्छी सरकार अपनी योग्यता अनुसार रख सकता है। यदि आप देश का सबसे शिक्षित व्यक्ति चुनेंगे तो वह व्यक्तिगत सुख एवं स्वार्थी लक्ष्यों का तिरस्कार नहीं कर सकेगा। तुम्हारे लिए एवं देश के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए पूर्ण संघर्ष करेगा। एक अधिक निष्पक्ष प्रशासन प्रबन्ध में हिस्सा होगा तब हम तुम्हारे दोस्त गलत होंगे। पत्र के अन्त में उन्होंने अभिव्यक्त किया कि ज्ञान गतिदाता एवं निःस्वार्थ भावना स्वतन्त्रता एवं खुशी के पथ-प्रदर्शक हैं।"[1] सर ए. ओ. ह्यूम की अपील का शिक्षित भारतीयों द्वारा प्रत्युत्तर दिया गया। सम्पूर्ण देश में नेताओं से सम्बन्ध स्थापित करने के बाद ह्यूम ने दिसम्बर 1885 में देश के विभिन्न भागों के प्रतिनिधियों को संगठित कर एक सभा बुलाने का निश्चय किया। ह्यूम ब्रिटेन गये और वहां जाकर प्रसिद्ध उदारवादी राजनीतिज्ञों, जैसे लॉर्ड रिपन, जान ब्राइट आदि से समर्थन प्राप्त किया। इन गतिविधियों के उपरान्त डब्ल्यू. सी. बनर्जी की अध्यक्षता में मुम्बई में संस्कृत पाठशाला के भवन में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ। सर ए. ओ. ह्यूम ने संस्था के सचिव के रूप में उत्तरदायित्व निभाया। प्रथम अधिवेशन में 100 सदस्य उपस्थित हुए जिसमें सर्वाधिक मुम्बई के 38 चेन्नई के 21 बंगाल एवं पंजाब से तीन-तीन प्रतिनिधि थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली सभा में देश के विभिन्न भागों के जनप्रतिनिधि शामिल हुए जिनमें बैरिस्टर, व्यापारी, भूमि पति, मैनेजर, डाक्टर, पत्रकार, कानून सलाहकार, वकील, अधिवक्ता एवं सभी धर्मों के अनुयायी थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में कुछ मांगें ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखी गईं वे हैं—(i) केन्द्र और प्रान्तों में विधान परिषदों का विस्तार किया जाए। निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाई जाए तथा उन्हें सभी प्रश्नों पर बहस करने बजट पर वाद विवाद करने के अधिकार दिए जाएं। (ii) उच्च सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अवसर दिया जाए। (iii) सैनिक व्यय में कमी की जाए। (iv) एक शाही आयोग भारतीय प्रशासन की जांच करे।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में व्याख्यान और प्रस्तावों की भाषा विनम्र थी इसमें ब्रिटिश शासकों के प्रति सम्मान का प्रदर्शन हुआ था। डब्ल्यू. सी. बनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में नम्र स्वर में कहा था— अधिकारी वर्ग के प्रति राजभक्ति का इजहार करती कांग्रेस सिर्फ इतनी मांग करती है कि सरकार के आधार को विस्तृत किया जाए और जनता

1 *W. Wedderburn* Biographical Sketch of A. O. Hume p. 76 77

को सरकार में उसका उचित हिस्सा दिया जाए।" भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रथम अधिवेशन में संगठन को निश्चित आकार देने हेतु कुछ उद्देश्य डब्ल्यू. सी. बनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में रखे। नये संगठन के लिए सूचीबद्ध किए उद्देश्य थे—1. ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों में राष्ट्रीय हित के लिए कार्य कर रहे व्यवस्थित कार्यकर्ताओं में व्यक्तिगत निष्ठा और मैत्री भाव को बढ़ाना। 2. राष्ट्रवाद के भावों द्वारा राष्ट्र प्रेमियों के प्रत्यक्ष मित्रतापूर्वक व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा विभिन्न जाति, धर्म और क्षेत्रीयवाद से उत्पन्न पक्षपात को दूर करना और लॉर्ड रिपन के शासनकाल में जन्मी भावनाओं को प्रोत्साहित करना। 3 शिक्षित भारतीयों के सामयिक एवं सामाजिक सुधार से सम्बन्धित विचारों को क्रियान्वित करना। 4 आगामी वर्षों में स्वदेशी राजनैतिक हस्तियों के सार्वजनिक हित में किए जाने वाले कार्य के तरीकों का निर्धारण करना। समय के परिवर्तित होते रहने के साथ काँग्रेस के लक्ष्य आवश्यकतानुसार बदलते गए। आरम्भ में काँग्रेस ने छोटी माँगों को ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखा, किन्तु बाद में अपने उद्देश्यों को व्यापक बनाते हुए स्वशासन की माँग की गई। प्रारम्भिक वर्षों में काँग्रेस प्रार्थना पत्र, प्रस्ताव आदि पर विश्वास करती थी, आगे चलकर प्रत्यक्ष विधि—असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तक आ गई।

1885 से 1905 तक काँग्रेस के कार्यक्रम

1885 से 1905 तक काँग्रेस ने अनेक प्रस्ताव अपने अधिवेशनों में पास किए। प्रत्येक वर्ष काँग्रेस का अधिवेशन होता था। अपने विभिन्न प्रस्तावों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के समक्ष ये माँगें रखी गईं—1 गवर्नर और वायसराय की विधान परिषदों का विस्तार किया जाए, उनमें भारतीयों की संख्या बढ़ाई जाए, अधिकारियों के बजाए चुने हुए सदस्यों को इसमें शामिल किया जाए। 2. ब्रिटिश सेना की संख्या कम की जाए और सेना पर होने वाले अत्यधिक व्यय को रोका जाए। 3 भारतीय सचिव को भारत परिषद से हटाया जाए। 4 स्थानीय संस्थाओं से सरकारी नियन्त्रण हटाकर, उन्हें शक्तियाँ प्रदान की जाएँ। 5 नमक कर को हटाया या कम किया जाए। 6 बेरोजगारी को मिटाने, कृषि पर दबाव कम किए जाने के प्रयास किए जाएँ। 7 पुराने उद्योगों को पुनर्जीवित किया जाए एवं नये उद्योगों की स्थापना हो। 8. कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग किया जाए। 9 विदेशों में भारतीय हितों की रक्षा की जाए। 10 भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई.सी.एस.) की परीक्षाएँ भारत में कराई जाए। 11. भूमि कर में कमी एवं किसानों को जमींदारों के शोषण से मुक्त कराया जाए। 12. वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को हटाया जाए, प्रेस और समाचार-पत्रों को स्वतन्त्रता दी जाए। 13 किसानों को कम ब्याज पर ऋण सुलभ करने के लिए कृषि बैंक खोले जाएँ। 14 बड़े पदों पर भारतीयों की उपेक्षा न की जाए। 15 भारत की निर्धनता के कारणों को खोजकर उनको दूर किया जाए। 16 उद्योग, व्यावसायिक, टेक्नीकल कॉलेज एवं स्कूल खोले जाएँ। 17 सैनिक शिक्षा के लिए भारत में प्रशिक्षण केन्द्र लगाया जाए।

भारतीय राष्ट्रवाद काँग्रेस के प्रथम युग (1885 से 1905) में काँग्रेस का आन्दोलन ह्यूम, वेडरबर्न, व्योमेशचन्द्र बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, रासबिहारी घोष, रानाडे, मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक जैसे प्रखर बुद्धिवादी नेताओं के हाथ में रहा। 1896-97 तथा 1899-1900 में अकाल के हालात आ जाने के कारण भारतीयों की दुर्दशा बढ़ती जा रही थी। अंग्रेज सरकार इसके प्रति उदासीन रुख अपना रही थी। एक करोड़ लोग मारे जा चुके थे और अनवरत लोग भूख से मर रहे थे, परन्तु अंग्रेज अन्न विदेश भिजवा रहे थे। 1901 में कलकत्ता में हुए 17वें अधिवेशन में काँग्रेस ने इस पर गहरी चिन्ता व्यक्त की। इस स्थिति में दुःखी होते हुए तत्कालीन काँग्रेस स्वागत समिति के अध्यक्ष महाराजा जे. एन. राय ने कहा था "प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न मूल रूप से राजनीतिक प्रश्न है और इसमें आर्थिक प्रश्न का समावेश प्रमुख है। शीघ्र ही विश्व के बाजार रणक्षेत्र बन जायेंगे जहाँ विभिन्न राष्ट्रों के भाग्य का फैसला होगा।" इसी अधिवेशन में दुर्भिक्षों की पुनरावृत्ति पर खेद प्रकट करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें दुर्भिक्षों के ये कारण बतलाए गए—(अ) देशी उद्योग, व्यवसाय की अवनति, (ब) भारतीय पूँजी का निष्कासन, (स) कर भार में भयानक वृद्धि, (द) प्रशासन के सैन्य एवं नागरिक विभागों में धन का अपव्यय। काँग्रेस के 17वें अधिवेशन में देश में साधनों का विकास, खर्चे में कमी, कृषि विकास और उद्योगों के विकास की माँग उठाई गई। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रथम युग में काँग्रेस की नीति उदारवादी थी। सुधारवादी राजनीतिक संगठन की झलक थी। काँग्रेस पर उदारवादियों का प्रभुत्व था जिनका ब्रिटिश सरकार की जन्मजात न्यायप्रियता तथा प्रजातान्त्रिक भावनाओं में विश्वास था क्योंकि वे अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति के आदर्श साँचे में ढले हुए शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। उदारवादी भारत में नौकरशाही के आलोचक एवं शासन में भारतीयों को अधिक अधिकार दिए जाने के पक्षधर थे। ब्रिटिश संगठनों, संस्थाओं और अंग्रेजों की सदाशयता में उनका अटूट विश्वास था। उन नेताओं का मानना था कि भारत संवैधानिक उपायों द्वारा ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग की नीति का पालन करते हुए ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत स्वशासन के लक्ष्य को प्राप्त करता चला जाएगा।

काँग्रेस की उपलब्धियाँ

काँग्रेस की प्रार्थना, अनुनय-विनय का ब्रिटिश शासकों पर प्रभाव नहीं हुआ। वर्षों तक भारतीयों की किसी माँग पर विचार नहीं किया गया। काँग्रेस को पहली सफलता 1892 में मिली। जब इण्डियन कौंसिल एक्ट पारित किया गया। 1889 में काँग्रेस के मुम्बई अधिवेशन में ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स के वरिष्ठ सदस्य चार्ल्स ब्रेडला उपस्थित थे जो भारतीय मामलों में सक्रिय रुचि दिखाते थे जिसके कारण ब्रिटिश संसद के सदस्य उन्हें भारत के सदस्य के नाम से सम्बोधित करते थे। ब्रेडला ने विधान परिषदों में सुधार के विषय को लेकर काँग्रेस की माँगों को आधार बनाकर ब्रिटिश संसद के लिए विधेयक का प्रारूप बनाया था। वे चाहते थे कि भारतीय नेताओं के परिपक्व विचार और प्रतिक्रिया एकत्र कर, विधेयक में समावेश कर सकें।

मुम्बई के अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें भारत की प्रतिनिधि संस्थाओं की योजना की रूपरेखा तैयार की गई। इस प्रस्ताव के समर्थकों में पण्डित मदन मोहन मालवीय, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जी. सुब्रह्मण्यम अय्यर आदि थे। फरवरी, 1890 में चार्ल्स ब्रेडला ने इंग्लैण्ड पहुँचकर हाउस ऑफ कॉमन्स के सामने अपना भारतीय परिषद संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। विधेयक के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों का विस्तार होना था, सदस्यों की संख्या बढ़नी थी, परिषदों को आंशिक रूप में निर्वाचन के सिद्धान्त पर संगठित किया जाना था, उन्हें अधिक अधिकार दिए जाने थे। 1889 के काँग्रेस के अधिवेशन में पास की गई योजना तथा ब्रेडला के इस विधेयक को बाद में होमरूल स्कीम और होमरूल बिल के नामों से पुकारा गया। चार्ल्स ब्रेडला के विधेयक को पारित नहीं किया गया और 1891 में ब्रेडला की असामयिक मृत्यु हो गई। ब्रेडला के इस प्रयास की महत्ता रही क्योंकि पहली बार इसमें भारतीय विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का प्रावधान किया गया और लिबरल पार्टी के विजय होने पर इसी विधेयक के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने अपना भारतीय परिषद विधेयक पेश किया। संसद द्वारा पारित होने के बाद यही इण्डियन कौंसिल एक्ट 1892 कहलाया जिसके द्वारा ब्रिटिश संसद ने भारत में विधान परिषद के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की, निर्वाचन को स्वीकार कर लिया तथा इसकी शक्तियों में वृद्धि की।

1892 से 1906 तक ब्रिटेन में अनुदार दल का शासन रहा जिसने भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने का प्रयत्न किया। वायसराय लॉर्ड एल्गिन (1894-98) ने एक अवसर पर कहा कि "भारत को तलवार के बल पर जीता है और तलवार के बल पर इसकी रक्षा की जाएगी।" 1898 में तिलक को गिरफ्तार करके देशद्रोह का अपराध लगाकर उन्हें 18 माह के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। अनेक निर्दोषों को भी दण्डित किया गया। 1899 से 1905 तक भारत में लॉर्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन रहा। वह भारत विरोधी था, इसलिए काँग्रेस को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। तत्कालीन गवर्नर जनरल ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को 'पागलों की सभा' बकवास, हटन और हैरो की वाद विवाद सभा, बाबुओं की संसद, खुर्दबीन से देखी जाने वाली अल्पसंख्या जैसे घटिया विशेषणों का प्रयोग किया। साम्राज्यवाद के महान् प्रतिपादक लॉर्ड कर्जन ने काँग्रेस की विषम परिस्थितियों में कहा—"मेरा यह अपना विश्वास है कि काँग्रेस लड़खड़ाती हुई पतन की ओर जा रही है और मेरी आकांक्षा है कि भारत में रहते समय उसकी शांतिमय मौत में मैं सहायता दे सकूँ।"

क्रान्तिकारी आन्दोलन

(Revolutionary Movements)

भारत में उग्रवादियों के प्रति सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति और 1907 की सूरत की फूट 20वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों के क्रान्तिकारी आन्दोलन का कारण बनी। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की तीन धाराएँ बन चुकी थी—उदारवादी उग्रवादी और क्रान्तिकारी विचारधारा। क्रान्तिकारी उग्रवादी राष्ट्रीयता का अंग थे, किन्तु वे विदेशी शासन से मुक्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का प्रयोग उचित समझते थे। 1899 में क्रान्तिकारी विचारधारा का विस्फोट महाराष्ट्र में हुआ जहाँ दो अंग्रेज अधिकारियों मि. रैण्ड तथा ले. आयरेस्ट को गोली से मार दिया गया।[1] यूरोप में हुई अनेक हत्याएँ, रूस एवं इटली के राजा की हत्या, आस्ट्रिया की रानी की हत्या, स्पेन के प्रधानमंत्री, फ्रांस के राष्ट्रपति, फिनलैण्ड के गवर्नर जनरल आदि की हत्याओं ने युवा भारतीयों एवं स्वतन्त्रता को लक्ष्य मानने वालों को निश्चय करा दिया गया कि वे अपने लक्ष्यों उद्देश्यों को तीव्र गति से प्राप्ति हिंसा एवं शक्ति के आधार पर कर सकते हैं। महाराष्ट्र में वीर सावरकर, श्यामजी कृष्ण वर्मा, गणेश सावरकर और चापेकर बन्धु क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के नेता थे। बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेता बारीन्द्र कुमार घोष, भूपेन्द्र नाथ दत्त, पंजाब में सरदार अजीतसिंह, भाई परमानन्द, बाल मुकुन्द, लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को संगठित किया। क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्पूर्ण विश्व में फैल गया। इंग्लैण्ड में श्यामजी कृष्ण वर्मा और वीर सावरकर, फ्रांस में मैडम कामा, अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के संगठन में अग्रणी भूमिका निभाई।

---

1 *G N Singh* Sedition Commission Report 1918 p. 01

क्रान्तिकारी आन्दोलन के उदय के कारण

1. मध्यमवर्गीय आन्दोलन—क्रान्तिकारी आन्दोलन बंगाल में मध्यम वर्ग में फैला जिसमें पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नवयुवकों ने भाग लिया। नवयुवकों के जोश ने इस आन्दोलन को गति दी। 'लन्दन टाइम्स' के संवाददाता सर वेलेण्टाइन शिरोल का मत था कि क्रान्तिकारियों में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने एवं अन्य जाति के नवयुवकों ने भाग लिया। गैरट के अनुसार, "क्रान्तिकारी आन्दोलन ब्राह्मणों द्वारा आयोजित षड्यन्त्र नहीं था, बंगाल और पंजाब में इसके नेता अन्य जाति के थे।"

2. कांग्रेस की अक्षमता पर तीखे प्रहार—अखिल भारतीय कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप नरमवादी था, उसकी कार्यवाही धीमी थी जबकि नवयुवक वर्ग चाहता था कि सक्रिय राजनैतिक आन्दोलन के तरीके अपनाए जाएँ। अरविन्द घोष ने कांग्रेस के तरीकों की अक्षमता पर लेखमाला 1893 में 'इन्दुप्रकाश' में लिखी, जिसका नाम था 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड'। उन्होंने विधान परिषदों के और भारत तथा इंग्लैण्ड में एक साथ होने वाली परीक्षाओं को हाथ की सफाई बतलाया और इस प्रकार की बातचीत की हँसी उड़ाई कि ब्रिटिश शासन वरदान है और परमात्मा ने हमें इंग्लैण्ड के न्यायपूर्ण और उदार शासन की गोद में डाला है। अरविन्द घोष ने चेतावनी दी—"अंग्रेजी राज के दुर्ग की दीवारें अभी फूटी नहीं हैं और गरीबी की काली छाया दिन-ब-दिन देश पर छाती जा रही है।" उन्होंने कांग्रेस को मध्यमवर्गीय, स्वार्थी, सार्वजनिक कार्य में भोली तथा निःस्वार्थ देशभक्ति का खोखला दावा करने वाली संस्था कहा। बाल गंगाधर तिलक तथा अन्य नेताओं ने कांग्रेस की नरम नीति पर प्रहार किया। फलस्वरूप जहाँ एक बड़े वर्ग में उग्रवाद का जन्म हुआ, वहीं अधिक जोशीले एक छोटे वर्ग की क्रान्तिकारी भावनाएँ उमड़ी और क्रान्ति का दौर चल पड़ा। अतः अखिल भारतीय कांग्रेस को अपनी नरमवादी नीति को तिलांजलि देकर, सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन को रूप में स्वीकार करना पड़ा।

3. आर्थिक कारण—19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में देश में आर्थिक असन्तोष की लहर व्याप्त हो गयी और जनता भारत सरकार की अर्थ नीति से क्षुब्ध हो गयी। अनेक भारतीय अर्थशास्त्रियों ने प्रमाण देकर भारत के शोषण और उसके परिणामों पर प्रकाश डाला। अकाल, महामारी और भूचालों के कारण जनता की गरीबी बढ़ चुकी थी अतः सहारा पाकर नवयुवक क्रान्ति के मार्ग पर चल पड़े। लॉर्ड बेकन के अनुसार "अधिक दरिद्रता और अधिक असन्तोष क्रान्ति को जन्म देते हैं।"

4. सरकार की प्रतिक्रियावादी एवं दमनकारी नीति—क्रान्तिकारी आन्दोलन के विस्फोट में सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमनकारी नीति का हाथ रहा। लॉर्ड कर्जन की नीति ने क्रान्ति को प्रोत्साहित किया। पी. सी. राय के अनुसार उग्रवादी आन्दोलन की क्रान्तिकारी मन्जिल को लॉर्ड कर्जन की देन कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। लॉर्ड कर्जन के आफिशियल सिक्रेट्स एक्ट, भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम तथा बंगाल विभाजन जैसे कार्यों ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को बढ़ाने में योग दिया। सरकार ने जन-आन्दोलन को कुचलना चाहा, परन्तु उग्रवाद और क्रान्ति का उत्तेजक प्रसार हुआ। नवयुवकों ने देखा कि सभाओं, जुलूसों, बहिष्कार आदि के तरीके विदेशी हुकूमत पर प्रभाव नहीं डाल रहे हैं फलतः उनकी बड़ी संख्या क्रान्ति के मार्ग पर चल पड़ी जिन्होंने विस्फोटक और हिंसात्मक साधनों को अपनाना शुरू कर दिया।

1908 में भारत सचिव लॉर्ड मार्ले ने वायसराय लॉर्ड मिण्टो को लिखा कि "राजद्रोह तथा अन्य अपराधों के सम्बन्ध में जो दण्ड दिए जा रहे हैं, उनके कारण मैं चिन्तित हूँ। हम व्यवस्था चाहते हैं, लेकिन व्यवस्था लाने के लिए घोर कठोरता के उपयोग से सफलता नहीं मिलेगी। इसका परिणाम उल्टा होगा और लोग बम का सहारा लेंगे।" मॉण्टेग्यू ने 1910 में स्वीकार किया कि "दण्ड संहिता की धाराओं ने तथा चाबुक चलाने की नीति ने साधारण और बिगड़े नवयुवकों को शहीद बनाया और विप्लवकारी पत्रों की संख्या बढ़ा दी।"

5. संवैधानिक आन्दोलन की विफलता—नरम दल की असफलता के कारण भारतीय युवकों का वैधानिक मार्ग में विश्वास नहीं रहा। उन्हें विश्वास हो गया कि हाथ-पैर जोड़ने और प्रार्थना-पत्र पेश करने से देश को आजादी नहीं मिल सकेगी। आजादी पाने के लिए शक्ति संचित करनी होगी तथा उन साधनों का सहारा लेकर विदेशी हुकूमत की जड़ें उखाड़नी होंगी। क्रान्तिकारियों ने कहा, "अंग्रेजी शासक पाशविक बल का प्रयोग करते हैं जो उचित है।" उन्होंने नारा लगाया कि "तलवार हाथ में लो और सरकार को मिटा दो।" "जो लक्ष्य नैतिकता के प्रभाव से प्राप्त नहीं हो सकता, वह गोली और बम के प्रयोग से हो सकता है।"

6. विदेशी क्रान्तिकारी संस्थाओं से प्रेरणा—रूस, इटली आदि की गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाओं से भारत के जोशीले नवयुवकों को प्रेरणा मिली। उनमें यह चाह पैदा हुई कि देशी क्रान्तिकारी देश-विदेश में गुप्त संस्थाएँ कायम करें और विदेशी सत्ता को उखाड़ फैंके।

क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास

क्रान्तिकारी आन्दोलन को निर्देशित एवं नियन्त्रित करने वाली कोई केन्द्रीय संस्था नहीं थी, अतः इस आन्दोलन की गतिविधियाँ प्रान्तीय स्तर तक सीमित रहीं और एक सीमा तक विदेशों में रहीं।

महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन—क्रान्तिकारी विचारधारा का विस्फोट महाराष्ट्र में हुआ, जहाँ 1899 में मि. रैंड
तथा से. आयरेस्ट को गोली का शिकार बना दिया गया। महाराष्ट्र में वीर सावरकर, श्यामजी कृष्ण वर्मा गणेश
सावरकर और चापेकर बन्धु क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के नेता थे। उनका कहना था—"प्राण देने से पूर्व प्राण ले लो।"
वासुदेव बलवन्त फड़के तथा चापेकर बन्धु (दामोदर चापेकर और बालकृष्ण चापेकर) महाराष्ट्र में प्रारम्भिक क्रान्तिकारी
आन्दोलन के पिता थे। वासुदेव फड़के का जयघोष था "मैं अंग्रेजों को भगा कर जनता का राज कायम करूँगा।"
चापेकर बन्धु अपनी कविताओं और श्लोकों द्वारा यह कहते रहे—"मर जाओ किन्तु अंग्रेजों को मार दो, यह देश
हिन्दुस्तान कहलाता है फिर यहाँ अंग्रेजों का राज्य क्यों है?" चापेकर बन्धुओं ने 1899 में पूना में उपरोक्त दोनों
अंग्रेज अधिकारियों की हत्या की थी। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन को शक्ति प्रदान की,
किन्तु 1905 में वे लन्दन चले गए जहाँ उन्होंने 'इण्डियन होमरूल सोसायटी' की स्थापना की। विदेशों में श्यामजी
कृष्ण वर्मा क्रान्तिकारियों के पिता थे।

सावरकर बन्धुओं ने महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आन्दोलन को संगठित किया। उन्होंने गणपति उत्सव मनाने के लिए
1899 में 'मित्र मेला' नामक सोसायटी की स्थापना की जिसे 1906 में क्रान्तिकारी संगठन में बदल दिया गया और
उसका नाम 'अभिनव भारत समाज' रखा गया। इस समाज की एक शाखा ग्वालियर में 'नवभारत समाज' और सतारा
में 'अभिनव समाज' के नाम से स्थापित की गई। 1905, में जब स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, वीर सावरकर ने पूना
में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जिससे दक्षिण भारत में हलचल पैदा हो गई। नवम्बर, 1909 में अहमदाबाद में लेडी
मिन्टो की गाड़ी उड़ाने का असफल प्रयास किया गया। ग्वालियर षड्यन्त्र केस, नासिक षड्यन्त्र केस तथा सतारा षड्यन्त्र
केस क्रान्तिकारी समाजों से सम्बन्धित थे। जब गणेश सावरकर को देश-निर्वासन का दण्ड मिला तो अभिनव समाज के
एक सदस्य ने जिलाधीश जैक्सन को गोली मार दी। अभिनव समाज वर्षों से क्रियाशील था। पश्चिम भारत के अनेक
भागों में इसकी शाखाओं का जाल बिछ गया था।

क्रान्तिकारी दामोदर सावरकर, जिनको जनता वीर सावरकर कहती थी, एक महान् क्रान्तिकारी व्यक्ति थे जिनके
हृदय में हिन्दू, हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू समाज के प्रति अगाध प्रेम था। वीर सावरकर ने 1905 में भारत में बी. ए.
पास करने के बाद 1906 से 1910 तक इंग्लैण्ड में अध्ययन किया और इण्डिया हाउस में रह कर हॉस्टल के छात्रों
में क्रान्तिकारी भावनाएँ भर दीं। क्रान्तिकारी गतिविधियों के आरोप में उन्हें मार्च 1910 में लन्दन में गिरफ्तार किया
गया। 1937 में कारावास से मुक्त होने के बाद सावरकर ने हिन्दू महासभा की सदस्यता स्वीकार कर ली। वीर
सावरकर का 1966 में देहान्त हो गया।

बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन—बंगाल में बंग-भंग के दिनों में क्रान्तिकारी आन्दोलन का विस्फोट हो गया
और बरीन्द्र घोष तथा भूपेन्द्रनाथ दत्त जैसे नेताओं ने इसका नेतृत्व किया। बंगाल में बेकारी पहले फैली हुई थी,
अतः विभाजन ने आग में घी का काम किया। बरीन्द्र घोष, दत्त आदि ने शस्त्र उठाने और विदेशी शासन से जूझ
पड़ने के लिए बंगाल के युवा वर्ग का आह्वान करते हुए क्रान्तिकारी प्रचार किया। उन्होंने घोषणा की कि "इस देश
में अंग्रेजों की संख्या 1.5 लाख से अधिक नहीं है। यदि आप अपने संकल्प में दृढ़ हैं तो एक दिन में ब्रिटिश
शासन का अन्त कर सकते हैं। अपने प्राण दे दीजिए, लेकिन पहले प्राण ले लीजिए।" इन क्रान्तिकारी नेताओं ने
अनुशीलन समिति का संगठन किया, जिसकी शाखाएँ बंगाल में फैल गईं। बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन उग्र हो
उठा एवं अनेक राजनीतिक हत्याएँ कर दी गईं। घोष और दत्त ने 'युगान्तर' तथा संध्या नामक क्रान्तिकारी-पत्रों द्वारा
क्रान्ति का प्रचार किया। बरीन्द्र घोष ने अपने एक लेख 'भारत में पुनः गीता-युग' (The Age of Geeta Again
in India) में लिखा कि "श्रीकृष्ण ने गीता में कहा था कि जब कभी न्याय तथा ईमानदारी का पतन होने लगता
है तथा अन्याय और बेईमानी में वृद्धि होती है तो न्याय की रक्षा के लिए तथा अन्यायियों को दण्ड देने के लिए
ईश्वर का अवतार होता है। इस समय नेकी नष्ट हो रही है तथा बेईमानी बढ़ रही है। मुट्ठी भर विदेशी डाकू भारत
के करोड़ों मनुष्यों का शोषण कर रहे हैं। भारतीयों! डरो मत, ईश्वर असावधान नहीं है। वह अपने वचन का पालन
करेगा। ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखकर उसकी शक्ति का प्रयोग करो। जब ईश्वरीय शक्ति मनुष्यों के हृदय में चमकती
है तो मनुष्य असम्भव कार्य भी कर लेते हैं।" बंगाल में क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करने वाले पत्रों में 'नव
शक्ति', 'वन्दे मातरम्', 'न्यू इण्डिया' प्रमुख थे। बंगाल में 'अनुशीलन', 'सरस्वती', 'ईस्ट क्लब', 'युगान्तर' जैसी गुप्त
समितियाँ स्थापित की गईं। नवयुवकों ने क्रान्तिकारी संगठनों के माध्यम से क्रान्ति का प्रसार किया। 1907 में अनेक
क्रान्तिकारी कदम उठाए गए और मिदनापुर के निकट उप-गवर्नर की रेलगाड़ी को उड़ाने का प्रयास किया गया।
दिसम्बर, 1907 में ढाका के भूतपूर्व जिला मजिस्ट्रेट ऐलन पर गोली चलाई गई, किन्तु वह घातक सिद्ध नहीं हुई।
जनवरी 1910 में उप-पुलिस अधीक्षक शमसुल आलम की हत्या कर दी गई। राजनीतिक हत्याएँ, राजनीतिक डकैतियाँ,
लूट, सड़कों पर रोक लगाना आदि सामान्य घटनाएँ बन गईं। बंगाल में क्रान्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया।

पंजाब में क्रान्तिकारी आन्दोलन—1907 में क्रान्ति की आग पंजाब में फैल गई। सरदार अजीतसिंह, भाई परमानन्द, उनके छोटे भाई बालमुकुन्द तथा लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियों का संगठन करने में पहल की, तथापि पंजाब का क्रान्तिकारी आन्दोलन बंगाल और महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी आन्दोलन के समान नहीं था। वहाँ गुप्त संस्थाएँ नहीं खोली गईं और न ही राजनीतिक हत्याओं अथवा डकैतियों का दौर चला। पंजाब के प्रमुख क्रान्तिकारियों ने 'अंजुमन-ए-मुहिब्बाने वतन' नामक एक संस्था स्थापित की जो 'भारत माता' के नाम से प्रचलित थी। 'उपनिवेशीकरण विधेयक', जिससे मालगुजारी में वृद्धि हुई और सम्पत्ति-विभाजन के अधिकारों में हस्तक्षेप हुआ, का विरोध करने के लिए सरदार अजीतसिंह और सैयद हैदर रिजा ने 'इण्डियन पेट्रिओट्स एसोसिएशन' (Indian Patriots Association) नामक संस्था की स्थापना की। सरदार अजीतसिंह ने किसानों को विद्रोह के लिए भड़काया और किसानों ने सरकार का कर न देने की प्रतिज्ञा की। सत्यपाल एवं प्रबोधचन्द्र के अनुसार, "सरदार अजीतसिंह, सूफी अम्बाप्रसाद, लाला पिण्डीदास एवं लालचन्द फलक ने पंजाब में जागृति लाने के लिए वही कार्य किया जो बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा अन्य बंगाली लेखकों ने किया।" 1912 में लॉर्ड हार्डिंग के प्राण लेने का प्रयत्न क्रान्तिकारियों ने किया। पंजाब में क्रान्तिकारी आन्दोलन को अमेरिका से लौटे कुछ सिक्खों ने मजबूत किया। पंजाब में स्थिति उस समय शान्त हो गई जब गवर्नर जनरल लॉर्ड मिन्टो ने उपनिवेशीकरण विधेयक को 'वीटो' (Veto) कर दिया।

विदेशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन—भारत के बाहर क्रान्तिकारी क्रियाशील हुए। इंग्लैण्ड में श्यामजी कृष्ण वर्मा और वीर सावरकर ने, फ्रांस में मैडम कामा ने और अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के संगठन में भूमिका निभाई। इंग्लैण्ड में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 'इण्डिया होमरूल सोसायटी' की स्थापना की तथा क्रान्तिकारियों का सुसंगठित दल बनाया जिसका केन्द्र 'इण्डिया हाउस' था। इंग्लैण्ड से भारत में क्रान्तिकारियों को हथियार तथा साहित्य भेजने का प्रयास किया गया। जुलाई 1909 में क्रान्तिकारी दल के एक सदस्य ने 'इण्डिया हाउस' के सर विलियम विली की हत्या कर दी। ब्रिटिश अधिकारियों ने इस दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। श्यामजी कृष्ण वर्मा के नेतृत्व में भारतीय क्रान्तिकारी यूरोप के अनेक देशों में क्रियाशील हुए। क्रान्तिकारी नेता वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने जर्मनी के विदेश कार्यालय की सहायता से बर्लिनवासी भारतीयों की एक समिति बनाई और स्वयं उसके सचिव बने। यह समिति 'भारतीय स्वतन्त्रता समिति' के नाम से जानी गई। वीरेन्द्रनाथ और समिति ने बगदाद, इस्तम्बूल, पर्शिया और काबुल में अपने प्रचारक मण्डल भेजे जिन्होंने भारतीय सेना की टुकड़ियों और भारतीय युद्ध-बन्दियों के बीच काम किया। राजा महेन्द्र प्रताप को मौलाना बरकतुल्लाह और मौलाना उबैदुल्लाह के साथ काबुल भेजा गया, जहाँ उन्होंने भारत की अस्थायी सरकार बनाई।

लाला हरदयाल अमेरिका पहुँचे जहाँ तारकनाथ दास और सोहनसिंह ने पश्चिमी तट पर बसे भारतीय प्रवासियों के बीच क्रान्तिकारी सन्देश दिए। उन्होंने एक पार्टी की स्थापना की और 1 नवम्बर, 1913 से साप्ताहिक गदर नामक पत्र प्रकाशित किया। पार्टी ने यही नाम अपना लिया। इसके कार्यक्रमों में सैनिकों के बीच कार्य, अधिकारियों की हत्या, क्रान्तिकारी, साम्राज्यवाद विरोधी साहित्य का प्रकाशन और अस्त्र प्राप्ति सम्मिलित थे। इसका मुख्य कार्यालय सान-फ्रांसिस्को में रहा। शाखाएँ अमेरिकी तट और पूर्व के देशों में स्थापित हुईं। विचार यह था कि एक साथ सारे ब्रिटिश उपनिवेशों में क्रान्ति की जाए। गदर ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया—आवश्यकता है वीर सिपाहियों की। वेतन मृत्यु। पुरस्कार शहादत। पेंशन स्वतन्त्रता। युद्धस्थल भारत। वास्तव में विदेशों में क्रान्तिकारी विचारधारा ने अच्छी बल पकड़ा और भारतीय स्वाधीनता संग्राम में स्फूर्ति का संचार किया। सर वेलेन्टाइन शिरोल के अनुसार इण्डो-अमेरिकन एसोसिएशन और यंग इण्डिया एसोसिएशन नामक दो संस्थाएँ भारत की समस्त राजद्रोही संस्थाओं से सम्बद्ध थीं। क्रान्तिकारी आन्दोलन को असफलता इसलिए हाथ लगी क्योंकि भारतीय नेताओं में पारस्परिक समन्वय का और भारतीय क्रान्तिकारियों तथा विदेशों की गदर पार्टियों से सम्पर्क का अभाव था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार ने क्रान्तिकारियों से बदला लिया। सान-फ्रांसिस्को में गदर पार्टी के नेताओं पर मुकदमे चले, अतः अमेरिका में क्रान्तिकारी गतिविधियों की सम्भावनाएँ खत्म हो गईं।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की प्रकृति और कार्य प्रणाली

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद लाल-बाल-पाल, घोष आदि के राजनीतिक उग्रवाद से भिन्न था। उग्रवादी, उदारवादियों की राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति से असन्तुष्ट होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय विरोध का प्रतिपादन करते थे, लेकिन यह विरोध शान्तिमय और दबावपूर्ण होता था। क्रान्तिकारी नवयुवक उदार राष्ट्रवादियों के दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। उनका विचार था कि जो साम्राज्यवाद पशु बल पर आधारित है उसे शान्तिपूर्ण आन्दोलन की साधन प्रणाली से नहीं, बल्कि हिंसा द्वारा जड़ से उखाड़ सकते हैं। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी और दमनकारी नीति ने उनकी धारणा को पुष्ट कर दिया था।

क्रान्तिकारी 'बम नीति' (The Cult of the Bomb) में विश्वास रखते थे। साध्य को साधन से अधिक श्रेष्ठ मानते थे। उनकी दृष्टि में साध्य की पवित्रता साधनों का औचित्य थी, अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उन्होंने हत्याओं, लूट द्वारा सरकारी सम्पत्ति के विनाश, तोड़-फोड़ आदि को अनुचित नहीं समझा। क्रान्तिकारी युवाओं का व्यायाम सिखलाते थे, क्रान्ति

का पाठ पढ़ाते थे, अस्त्र-शस्त्र चलाने का प्रशिक्षण देते थे और बमों का निर्माण करना सिखाते थे। वे आध्यात्मिक शिक्षा देते थे, जिसमें भारत के महान् गौरव के गीत होते थे और उसका उद्देश्य भारतीयों में दासता के प्रति घृणा उत्पन्न करना था। वे धार्मिक ग्रन्थों के उद्धरण से प्राणों की बलि देना और शत्रु के प्राण लेना सिखाते थे। क्रान्तिकारी हत्यारे नहीं थे व देशभक्त थे जिनमें राष्ट्रीयता भरी हुई थी। वे देशभक्ति, आत्मोत्सर्ग और बलिदान की भावनाओं से ओत-प्रोत थे। उनमें अपनी मातृभूमि के लिए सिर कटा देने की तमन्ना थी। मातृभूमि के लिए बलिदान देने को तैयार थे। क्रान्तिकारियों का जीवन अनुशासित था। उनका उद्देश्य विदेशी शासकों के दिल में यह भय पैदा कर देना था कि देशभक्तों की हत्याओं का बदला हत्याएं होगा। उन्हें राष्ट्र का अपमान मंजूर न था, उन्होंने रैण्ड तथा उसके सहायक लेफ्टिनेन्ट को इसलिए गोली मारी कि उन्होंने धार्मिक भावनाओं का ख्याल न रखते हुए उन पर घोर अत्याचार किये थे। चापेकर बन्धु अपने इस कार्य से अमर हो गए। उधमसिंह ने इंग्लैण्ड में जनरल डायर की हत्या इसलिए की कि उसने पंजाब के जलियाँवाला बाग में बिना चेतावनी दिए निर्दोष और निहत्थे औरत, मर्द और बच्चों को गोलियों से भून दिया था। मदनलाल धींगरा ने भारत मन्त्री के ए. डी. सी. कर्जन वाइली को इण्डिया आफिस में इसलिए गोली मार दी कि गणेश सावरकर को दण्ड दिलाने में उसका हाथ था। सॉण्डर्स की हत्या इसलिए की गई कि उसने लाला लाजपतराय पर लाठियों से बौछार की जिससे उनकी मृत्यु हो गई। क्रान्तिकारियों ने ईंट का जवाब पत्थर से, गोली का जवाब गोले से देने की नीति अपनाई।

राजद्रोह सम्बन्धी जाँच समिति 1918 (Sedition Committee 1918) ने अपने प्रतिवेदन में क्रान्तिकारी कार्यक्रमों का विस्तार से विवरण दिया है। क्रान्तिकारी क्रान्तिजनक साहित्य द्वारा अपने विचारों का प्रचार करते थे। शिवाजी एवं भवानी की पूजा द्वारा विदेशी शासकों के हृदय में आतंक उत्पन्न करते थे। क्रान्तिकारियों का आदेश था कि वे मृत्यु की परछाई की भाँति छिपे रहकर विदेशी अधिकारियों पर घातक हमले करें। उन्हें सिखाया गया था कि वे अपने उन भाइयों को न भूलें जो जेलों में थे मर गए या पागल हो गए थे। जाँच समिति ने अपने प्रतिवेदन में क्रान्तिकारियों द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक सार तत्व का उल्लेख इन शब्दों में किया—"यूरोपियनों को गोली से मारने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है। गुप्त रूप से शस्त्र-हथियार तैयार किए जा सकते हैं और भारतीयों को हथियार बनाने का कार्य सीखने के लिए विदेशों में भेजा जा सकता है। भारतीय सैनिकों की सहायता अवश्य ली जानी चाहिए और उन्हें देशवासियों के कष्टों की दुर्दशा समझानी चाहिए। क्रान्तिकारी-आन्दोलन के प्रारम्भिक व्यय के लिए चन्दा इकट्ठा किया जाना चाहिए परन्तु जैसे ही काम बढ़े समाज (अर्थात् सैनिकों) से शक्ति द्वारा धन प्राप्त किया जाना जरूरी है। इस धन का प्रयोग समाज कल्याण के लिए होना चाहिए।"

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का उतार काल

क्रान्तिकारियों के षड्यन्त्र, राजनीतिक डाकेजनी तथा अंग्रेजी अधिकारियों की हत्या की घटनाएं बढ़ती गयी और अंग्रेज सरकार यह कल्पना कर घबरा रही थी कि कहीं अंग्रेज संगठन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन उग्रवादी क्रान्तिकारियों के हाथों में न चला जाए अतः ब्रिटिश सरकार ने उदारवादियों से समझौता करने का प्रयास किया और उग्रवादियों को कुचलने में कदम उठाए। राष्ट्रीय आन्दोलन को अन्दर से तोड़ने-फोड़ने के उपाय किए जाने लगे। राष्ट्रीयता को क्षीण करने के लिए साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया जाने लगा। इन कारणों से क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद में शिथिलता आने लगी और जब ब्रिटिश सरकार ने एक ओर तो दमन चक्र पूरी तेजी के साथ चलाया और दूसरी ओर संवैधानिक सुधार करने की दिशा भारत के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी का अवतरण हुआ तो क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की उपयोगिता शुरू हो गयी। गाँधीजी की तकनीक ने देशभक्त भारतीयों को प्रभावित किया और क्रान्तिकारी भावना को शान्त कर दिया। आजादी के दीवानों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त करने की क्रान्तिकारी असफल चेष्टा में अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। गाँधीवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में हिंसा अथवा उसकी धमकी विद्यमान रही और ब्रिटिश शासन को हटाने में महती भूमिका अदा की।

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता के कारण

1 क्रान्तिकारियों का केन्द्रीय संगठन नहीं था, अतः विभिन्न प्रान्तों में उनके क्रान्तिजनक कार्यों में समन्वय नहीं लाया जा सका। केन्द्रीय संगठन के अभाव में विभिन्न प्रान्तों में उनकी गतिविधियाँ एक-दूसरी से जुड़ी नहीं रही दिखाई रहीं और फलस्वरूप यह आन्दोलन अपेक्षित प्रभाव नहीं डाल सका। विभिन्न क्रान्तिकारी नेताओं में परस्पर सहयोग का अभाव रहा।

2 क्रान्तिकारी आन्दोलन जन-आन्दोलन का रूप धारण नहीं कर सका। यह मध्यम वर्ग के शिक्षित नवयुवकों तक सीमित रहा और इनमें से एक बड़ी संख्या क्रान्ति से दूर रही।

3 क्रान्तिकारी आन्दोलन को चलाने के लिए नेतृत्व सुलभ नहीं हो सका। वैधानिक आन्दोलन में कुशल नेतृत्व की कमी नहीं थी।

4. भारतीय राजनीति के अधिकांश नेता मध्यम वर्ग के थे, जिनका हिंसात्मक कार्यों में विश्वास नहीं था। उनकी आस्था संवैधानिक साधनों में थी। वे उग्रवादी तौर-तरीके अपना सकते थे, लेकिन हिंसात्मक और विस्फोटक तरीके नहीं। इन नेताओं का क्रान्तिकारी आन्दोलन को सहयोग नहीं मिल सका।

5. क्रान्तिकारी आन्दोलन धनाभाव से पीड़ित रहा। भारत का धनिक वर्ग लूटमार और हिंसात्मक तरीकों से घबराता था। उसने संवैधानिक तरीकों को आर्थिक सहायता दी परन्तु क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रति उसका रुख उपेक्षापूर्ण रहा। बहुसंख्यक हिन्दुओं को भी, जो हिंसात्मक तरीकों के विरोधी रहे हैं, क्रान्तिकारियों से कोई सहानुभूति नहीं थी।

6. अंग्रेजी सरकार की घोर दमन नीति ने भारत में क्रान्तिकारियों को पनपने नहीं दिया। सरकार ने 1907 में राजद्रोहात्मक समाज पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए 'सैडीशंस मीटिंग्स एक्ट' (*Seditions Meetings Act*) पारित किया। 1908 में फौजदारी कानून में संशोधन लाकर उग्रवादी और क्रान्तिकारी नवयुवकों को कठोर दण्ड दिए गए। 1908 में समाचार सम्बन्धी कानून तथा 1910 में प्रेस सम्बन्धी कानून बनाकर उग्रवादियों द्वारा प्रकाशित समाचार-पत्रों को बन्द कर दिया गया। 1911 में विद्रोही सभाओं सम्बन्धी कानून पास करके अधिकारियों को अधिकार सौंप दिए गए कि वे अवांछित सभाओं पर नियन्त्रण रख सकें। उग्रवादी राजनीतिक बन्दियों के साथ सरकार ने निर्दयी व्यवहार करना शुरू कर दिया, यथा—प्राणदण्ड, काला पानी, देश निर्वासन, कठोर शारीरिक यंत्रणा। सरकार की दमनकारी नीति ने जनता को भयभीत कर दिया था अतः क्रान्तिकारियों को अपना समर्थन देने से कतराती रही।

7. क्रान्तिकारी अनुशासित, उत्साही और बलिदानी प्रकृति के थे, लेकिन विदेशी हुकूमत से लड़ने के लिए उनके पास अस्त्र-शस्त्रों का अभाव था। चोरी-छिपे जो हथियार प्राप्त होते थे, वे अपर्याप्त थे।

8. भारत के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी के अवतरण ने क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की अधोगति शुरू कर दी। फिर भी अहिंसा का जादू क्रान्तिकारी भावना को नहीं मिटा सका। सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और यतीन्द्रनाथ जैसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के भक्तों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्त की असफल चेष्टा में अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया।

असहयोग आन्दोलन : प्रस्ताव और कार्यक्रम

अगस्त, 1920 में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व गांधीजी के हाथों में आ गया। 1919 तक राष्ट्रीय आन्दोलन शिक्षित वर्ग तक सीमित था, लेकिन महात्मा गांधी ने उसे जन-आन्दोलन बना दिया। उनके नेतृत्व में कांग्रेस जनता का संगठन बन गई। गांधीजी के नेतृत्व में देश की आबादी के लिए अहिंसात्मक संघर्ष चला। मोहनदास करमचन्द गांधी (1869-1948) गोपालकृष्ण गोखले की प्रेरणा से, प्रथम महायुद्ध के दौरान, जनवरी 1915 में अफ्रीका से वापस आए। गोखले के विचारों ने गांधीजी को प्रभावित किया। वे गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। सरकार के साथ सहयोग की नीति में उनका विश्वास था। महायुद्ध के बीच गांधीजी ने युद्ध प्रयासों में अंग्रेजी सरकार की पूर्ण सहायता की और इसके लिए उन्हें कैसरी हिन्द स्वर्ण पदक से विभूषित किया था, 1919 में रोलेट एक्ट के प्रश्न को लेकर शुरू का 'सहयोगी' बाद में 'असहयोगी गांधी' बन गया। 31 दिसम्बर, 1919 को 'यंग इण्डिया' में गांधीजी ने लिखा था कि 'मान्ट फोर्ड' योजना और उसके साथ की गई उद्घोषणा से स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों के साथ न्याय करना चाहती है और भारतीय जनता को अपने समस्त सन्देहों का अन्त कर लेना चाहिए, अतः हमारा यह *कर्तव्य नहीं है कि हम उनकी आलोचना करें, वरन् उनको सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।* कुछ घटनाओं और युद्धजनित परिस्थितियों ने गांधीजी को बाध्य कर दिया कि वे विदेशी हुकूमत का विरोध करें। फलस्वरूप सितम्बर, 1920 में कांग्रेस के कोलकाता अधिवेशन में उन्होंने सरकार के साथ असहयोग तथा मॉन्ट-फोर्ड सुधारों के अन्तर्गत निर्मित व्यवस्थापिका सभाओं के बहिष्कार का प्रस्ताव रख दिया।[1]

असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव पर कांग्रेस की स्वीकृति (1920) : असहयोग-कार्यक्रम

महात्मा गांधी को यह दृढ़ विश्वास था कि वे हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अपने असहयोग आन्दोलन की पताका के नीचे एकत्र कर सकते हैं। सितम्बर, 1920 को कोलकाता में कांग्रेस विशेष अधिवेशन में उन्होंने सरकार के प्रति 'अहिंसक असहयोग की नीति' अपनाने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में कहा गया कि कांग्रेस अहिंसक असहयोग की नीति पर तब तक चलेगी, जब तक अन्याय दूर नहीं हो जाएँगे। प्रस्ताव के पक्ष में 1886 और विपक्ष में 884 मत पड़े। पण्डित मदनमोहन मालवीय, विपिनचन्द्र पाल, देशबन्धु चितरंजनदास, जिन्ना तथा श्रीमती एनी बीसेंट ने प्रस्ताव का विरोध किया। इन नेताओं के हृदयों में कौंसिलों और अदालतों के बहिष्कार की योजना के प्रति सहानुभूति नहीं थी। तिलक की 3 जुलाई, 1920 को मृत्यु हो चुकी थी। उनके अनुयायियों ने खापर्डे के नेतृत्व में महात्मा गांधी की योजना का विरोध किया। इस अधिवेशन के अध्यक्ष लाला लाजपतराय गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव के विरुद्ध थे। कांग्रेस का नियमित

1. डॉ. पट्टाभिसीतारमैया : कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 110.

कांग्रेस का 'शान्तिमय तथा उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना' घोषित किया गया। कांग्रेस का प्रान्तीय संगठन प्रान्तों की भाषा के अनुसार किया गया। मुख्य परिवर्तन थे—विषय-समिति की बैठकों का कांग्रेस के खुले अधिवेशन से दो-तीन दिन पहले करना तथा उसकी सदस्यता महासमिति के सदस्यों तक सीमित रखना—विषय समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 350 कर दी गई, सभापति, मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष समेत 15 सदस्यों की एक कार्य-समिति का नियुक्त होना।

असहयोग आन्दोलन के कारण

(1) **मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों से असन्तोष**—प्रथम महायुद्ध के दौरान भारतीयों ने तन-मन-धन से अंग्रेजों की सहायता की थी, किन्तु भारतीयों के सन्तोष के लिए जो मॉण्ट-फोर्ड सुधार योजना प्रकाशित की गई, उसने भारतीयों को निराश कर दिया। 1919 के अधिनियम से भारतीय जनता के हित में कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकल सके। मॉण्ट फोर्ड सुधार योजना के उत्तरदायी शासन की स्थापना से स्वशासन को बढ़ावा नहीं मिला। शिक्षित भारतीयों ने इस सुधार योजना को अनुदार तथा अपमानजनक माना, अतः असन्तोष उत्पन्न हुआ।

(2) **आर्थिक दुर्दशा**—1917 से 1920 तक की अवधि में भारतीयों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे उनमें असन्तोष फैला। मूल्य वृद्धि, बेरोजगारी, प्लेग और इन्फ्लुएंजा के प्रकोप ने उनकी आर्थिक कमर तोड़ दी। महामारियों से बहुतों को जान से हाथ धोना पड़ा और इनके उत्थान एवं रोकथाम के लिए सरकार ने जो प्रयत्न किए वे अपर्याप्त और असन्तोषजनक थे। भारत की जनता कर्ज के बोझ से दब गई, किसानों तथा मजदूरों की दशा दर्दनाक हो गई। चम्पारन में किसानों और अहमदाबाद में मजदूरों की आर्थिक दुर्दशा ने महात्मा गाँधी को सत्याग्रह के प्रयोग का अवसर दिया।

(3) **अकाल**—1917 में अनावृष्टि के कारण देश में अकाल फैल गया और अनेक व्यक्ति भूख से मृत्यु के शिकार हो गए। सरकार ने जनता के लिए विशेष प्रयास नहीं किया, जिससे जन-असन्तोष बढ़ता गया।

(4) **सरकार का दमनचक्र**—जनता सुधार और संगठन के कार्यों का प्रचार करती थी, परन्तु सरकार ने दफा 144 और 108 का दौर आरम्भ कर दिया था। राष्ट्रीय आन्दोलन की वैधानिक धारा को कुचलने के लिए सरकार ने प्रेस एक्ट, सेडीसन एक्ट, एक्सप्लोसिव सब्सटेन्स एक्ट, क्रिमिनल अमेण्डमेंट एक्ट आदि दमनकारी कानूनों का आश्रय लिया। क्रान्तिकारियों को फाँसी, काला पानी और कठोर कारावास की सजा दी गई। शान्तिपूर्ण सभाओं पर रोक लगाई गई और राष्ट्रीय नेताओं को अनेक स्थानों पर जाने से रोका गया।

(5) **रौलट एक्ट**—युद्धकाल में क्रान्तिकारियों के दमन के लिए भारत सुरक्षा अधिनियम पारित किया गया था, जिसकी अवधि युद्ध काल तक थी, किन्तु युद्ध के बाद भी सरकार ने दमनकारी कानूनों का निर्माण जारी रखा। न्यायधीश सर सिडनी रौलेट की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी, जिसका उद्देश्य यह मालूम करना था कि भारत में किस प्रकार और किस सीमा तक क्रान्तिकारी आन्दोलन फैला हुआ था तथा किन उपायों द्वारा उसका अन्त किया जाना सम्भव था। सरकार का उद्देश्य क्रान्तिकारी देशभक्तों को तथा राष्ट्रीय आन्दोलन की सम्पूर्ण धारा को कुचल देना था। अप्रैल 1918 में समिति ने अपनी रिपोर्ट दी जिसकी सिफारिश पर सरकार ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में फरवरी 1919 में दो विधेयक प्रस्तुत किए जिन्हें रौलट एक्ट कहा जाता है। देश भर में इन विधेयकों का विरोध 'काले विधेयक' (Black Act) कहकर किया गया, प्रदर्शन किए गए, हड़तालें की गयीं। सी. वाई चिंतामणी के अनुसार, "इन दोनों विधेयकों का विरोध परिषद के गैर सरकारी भारतीय सदस्यों, निर्वाचित सदस्यों और मनोनीत सदस्यों सबने समान रूप से किया, किन्तु सरकार अपनी बात पर अड़ी रही।"[1] रौलट एक्ट द्वारा सरकार को संदिग्ध व्यक्तियों को जेलों में डाल देने का अधिकार प्राप्त हो गया। मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार मिला कि वे संदिग्ध क्रान्तिकारियों को सम्पूर्ण जाँच-पड़ताल के उपरान्त नजरबन्दी का आदेश जारी कर सकें। इण्डियन एवीडेंस एक्ट की उस धारा को समाप्त कर दिया गया जिसके अनुसार पुलिस अधिकारी के सामने दी गयी गवाही सच्चई की गवाही नहीं मानी जा सकती थी। रौलट एक्ट को 'अराजकतावादी और अपराध अधिनियम' (Anarchist and Revolution Crimes Act) की संज्ञा दी गई। महात्मा गाँधी ने इस अधिनियम के विरोध में देशव्यापी हड़ताल का आह्वान किया। 30 मार्च और 6 अप्रैल, 1919 को 'शोक दिवस' तथा हड़ताल का आयोजन किया गया। विरोध में हिन्दुओं और मुसलमानों ने समान रूप से भाग लिया। देश भर में शान्तिपूर्ण हड़तालें हुई, उपवास किए गए। कहीं-कहीं आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप ग्रहण किया। दिल्ली में जनता और पुलिस में झगड़ा हुआ और पुलिस की गोली से अनेक व्यक्ति हताहत हुए। गाँधीजी की गिरफ्तारी के समाचार से जनता उत्तेजित हो गई। सरकार ने शान्त आन्दोलन को कठोरता और निर्ममता से दबाने की नीति अपनाई। पंजाब के गवर्नर डायर ने

1. *Koopland* India, A Statement, p. 119

कांग्रेसी नेताओं के पंजाब प्रवेश पर निषेध लगा दिया। डॉ. किचलू तथा डॉ. सत्यपाल को बन्दी बनाकर अज्ञात स्थान पर भेज दिया गया, जिससे उत्तेजित अमृतसर के नागरिकों ने जुलूस निकाला। शान्तिपूर्ण जुलूस पर गोलियाँ चलाई गयीं और उत्तेजित जनता ने कई अंग्रेजों की हत्या कर दी तथा सार्वजनिक भवनों को आग लगा दी।

(6) जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड—पंजाब में मार्शल ला प्रेस एक्ट तथा सेडीसन एक्ट का प्रयोग किया गया। नलों में पानी बन्द कर दिया गया, बिजली काट दी गयी, जनता को पेट के बल रेंगकर चलने को बाध्य किया गया, स्त्रियों के सामने पुरुषों को नंगा करके पीटा गया, सार्वजनिक रसोईघरों को बन्द करवा दिया गया और वकील चुनने की आज्ञा नहीं दी गई। संदिहास्पद कारण पर व्यक्तियों को बिना किसी वारन्ट के गिरफ्तार करना मामूली बात हो गयी। अमृतसर की उत्तेजित जनता को कुचलने के लिए नगर को सेना के अधिकार में सौंप दिया गया, जिसका सर्वेसर्वा जनरल डायर था। 12 अप्रैल को शहर में सार्वजनिक सभा करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया जिसकी सूचना जनता को नहीं दी गई। 13 अप्रैल को, बैसाखी के अवसर पर सरकार की नीति का विरोध करने हेतु जलियाँवाला बाग में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन हुआ, बाग शहर के बीच में था और चारों ओर से दीवारों से घिरा हुआ था उसमें आने-जाने के लिए एक संकरी गली थी। सभा का कार्य शान्तिपूर्वक चल रहा था, तो जनरल डायर 200 देशी और 50 अंग्रेज सिपाहियों को लेकर आ पहुँचा। बाग के एक मात्र दरवाजे को रोक दिया गया और निर्दोष जनता पर गोलियों की बौछारें कर दी गयी। सेना ने गोलियाँ चलाना तभी बन्द किया जब कारतूस समाप्त हो गए। आतंकग्रस्त भीड़ गोली चलते ही तितर बितर होने लगी थी, किन्तु दस मिनट बाद तक निहत्थी भीड़ पर गोलियों की बौछार होती रही। जनरल डायर हथियारों से लैस एक गाड़ी आर्मडकार गोली चलाने के लिए लाया था, लेकिन तंग दरवाजे के कारण गाड़ी बाग में नहीं जा सकी। इस हत्याकाण्ड में अनेक व्यक्ति मारे गये और कई घायल हो गए। अधिकारियों ने मृतकों और घायलों की देखभाल [illegible] लिए कोई प्रबन्ध नहीं किया।[1] जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड ने देश में आक्रोश की लहर फैला दी, जिसका विस्फोट असहयोग आन्दोलन के रूप में हुआ। जलियाँवाला हत्याकाण्ड के दो दिन बाद सैनिक शासन लागू करके कठोरता पूर्ण व्यवहार किया गया।

(7) खिलाफत आन्दोलन—मुसलमानों के खलीफा तुर्की-सुल्तान के प्रति ब्रिटिश सरकार की क्रूर नीति से भारतीय मुसलमानों में उत्तेजना फैली और उन्होंने स्वयं को खिलाफत सम्मेलन में संगठित किया। खिलाफत आन्दोलन की माँग थी कि 'टर्की साम्राज्य का संधारण किया जाए और खिलाफत का आध्यात्मिक सत्ता के रूप में अस्तित्व बना रहे। महात्मा गाँधी ब्रिटिश सरकार के प्रति कट्टर असहयोगी बन गए। उन्होंने तत्कालीन वायसराय की वापसी की माँग की और कहा कि हत्याकाण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को समुचित दण्ड मिलना चाहिए, लेकिन सरकार ने अपने कार्यों को उचित ठहराया। जनरल डायर को नौकरी से अलग कर दिया गया, पंजाब के गवर्नर तथा भारत के वायसराय के कार्यों की सराहना की गई। ब्रिटिश लॉर्ड सभा में जनरल डायर को माफ करने सम्बन्धी प्रस्ताव लाया गया तथा उसे इनाम दिया गया।

असहयोग का वेग (1921-22)

अगस्त 1920 में कलकत्ता काँग्रेस अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पारित हुआ उसकी पुष्टि दिसम्बर 1920 की नागपुर काँग्रेस में हुई। नागपुर के प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए कार्य समिति की बैठक 1921 में हर महीने विभिन्न स्थानों पर हुई। महासमिति की पहली बैठक (नागपुर) ने कार्य समिति का चुनाव किया और प्रान्तों में महासमिति के सदस्यों की संख्या का बँटवारा किया। जनवरी 1921 में नागपुर काँग्रेस के स्वागताध्यक्ष सेठ जमनालाल बजाज ने राय बहादुरी की पदवी छोड़ दी और असहयोगी वकीलों की सहायता के लिए तिलक स्वराज्य कोष में एक लाख रुपये दिये। इस कोष से वकील को 1000 रु और राष्ट्रसेवक को 50 रु मासिक से अधिक नहीं मिल सकते थे। कोलकाता अधिवेशन के बाद ही गाँधीजी ने भारत की यात्रा कर असहयोग आन्दोलन का प्रचार किया। पंचायतों का निर्माण हुआ जो सफलतापूर्वक काम करने लगीं। उम्मीदवारों ने अपने नाम वापस ले लिए और दो-तिहाई मतदाताओं ने अपने मत नहीं डाले। कौंसिलों के बहिष्कारों में सराहनीय सफलता मिली। वकीलों ने वकालत छोड़ दी। राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में आशातीत सफलता दिखाई पड़ी। जनवरी 1921 के मध्य तक ही हजारों विद्यार्थियों ने अपने कॉलेजों और परीक्षाओं का बहिष्कार किया। राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों का निर्माण किया गया। काशी विद्यापीठ, बंगाल तथा पंजाब के राष्ट्रीय विद्यालयों और दिल्ली के जामिया मिल्लिया की स्थापना की गयी। चरखा कातना राष्ट्रीय एकता का प्रतीक और चरखा राष्ट्रीय चिह्न बन गया। खद्दर तथा गाँधी टोपी ने राष्ट्रीय पोशाक का रूप ले लिया। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया और राज्य कर्मचारियों ने नौकरियाँ छोड़ दीं। राष्ट्रीय स्वयंसेवकों को संगठित किया गया। जुलाई 1921 में मुम्बई में काँग्रेस महासमिति की बैठक के बाद खादी बुनने तथा खादी सम्बन्धी विविध क्रियाओं की ओर देश का ध्यान गया। महासमिति ने यह सलाह दी कि काँग्रेसी 1 अगस्त से विदेशी कपड़ों का उपयोग छोड़ दें। मुम्बई और अहमदाबाद के मिल मालिकों से अनुरोध किया गया कि वे कपड़ों की कीमत मजदूरों की मजदूरी के अनुपात में रखें और वह ऐसी हो

1 *डॉ. पट्टाभिसीतारमैया* : काँग्रेस का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 182.

जिससे गरीब उस कपड़े को खरीद सके। विदेशी कपड़े मँगाने वालों से कहा गया कि वे विदेशी कपड़े न मगाएं और अपने पास के माल को हिन्दुस्तान के बाहर खपाने का उद्यम करें।

असहयोग आन्दोलन को खिलाफत आन्दोलन ने समर्थन दिया। 8 जुलाई, 1921 को कराची में हुए अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन में सेना की भर्ती का बहिष्कार करने का निश्चय किया गया। मोपला के खिलाफत आन्दोलन ने जोर पकड़ा। सरकार ने अली बन्धुओं को गिरफ्तार कर दो वर्ष की सजा दी। इससे देश में रोष बढ़ गया। जुलाई 1921 में गाँधीजी के आह्वान पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई। दिल्ली में नवम्बर 1921 में सत्याग्रह किस प्रकार आरम्भ किया जाए, इसके निर्णय का भार प्रान्तीय काँग्रेस कमेटियों पर छोड़ दिया गया। यह आवश्यक था कि प्रत्येक सत्याग्रही ने असहयोग के कार्यक्रम के उस अंश को जो उस पर लागू होता हो, पूर्ति कर ली हो, वह चरखा चलाना जानता हो, विदेशी कपड़ा त्याग चुका हो, खद्दर पहनता हो, हिन्दू-मुस्लिम एकता में विश्वास रखता हो, खिलाफत और पंजाब के अन्यायों को दूर करने और स्वराज्य प्राप्त करने के लिए अहिंसा में विश्वास रखता हो और यदि हिन्दू हो तो अस्पृश्यता को राष्ट्रीयता के लिए कलंक समझता हो।

सरकार का दमनचक्र तेजी से चला और दफा 144 और 108 का दौर आम बात हो गई। राष्ट्रीय नेताओं को अनेक स्थानों पर जाने से रोका गया। मार्च 1921 में ननकाना काण्ड हुआ। मार्च के पहले सप्ताह में गुरुद्वारा में कुछ सिक्ख इकट्ठे हुए। वह शान्तिमय समुदाय था। एकाएक उन पर गोलियाँ चलाई गईं जिसमें जनता के कथनानुसार 195 और सरकार के अनुसार 70 मौतें हुईं। सरकार ने आन्दोलन को दबाने की चेष्टा की, परन्तु यह अधिक जोर पकड़ता गया। 17 नवम्बर, 1921 को ब्रिटिश युवराज के भारत आगमन के विरोध में सर्वत्र प्रदर्शन किया गया। युवराज की अगवानी से सम्बन्ध रखने वाले उत्सवों का बहिष्कार किया गया। विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। युवराज के मुम्बई पदार्पण में चार दिनों तक दंगे और खून-खराबे होते रहे। फलस्वरूप 53 आदमी मारे गए और 400 घायल हुए। ये दंगे सरोजिनी नायडू और गाँधीजी के रोके न रुके। गाँधीजी ने जब तक शान्ति स्थापित न हो जाए, जनता की ज्यादतियों का प्रायश्चित करने के निमित्त 5 दिन का उपवास किया। देश भर में स्वयंसेवकों के दल संगठित हुए। युवराज 25 दिसम्बर को कोलकाता जाने वाले थे। बंगाल सरकार ने क्रिमिनल लॉ-अमेण्डमेण्ट-एक्ट के अनुसार स्वयंसेवक भर्ती करना गैर कानूनी करार दे दिया था, बहुत से व्यक्ति गिरफ्तार हुए, जिनमें देशबन्धु दास, उनकी धर्मपत्नी और पुत्र भी थे। इसके बाद उत्तर प्रदेश और पंजाब की बारी आई। अहमदाबाद जाते हुए लाला जी पण्डित मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू जेल में बन्द कर दिए गए।[1]

काँग्रेस सरकार में समझौते की बातचीत चली जो असफल रही। 21 दिसम्बर, 1921 को पण्डित मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल वायसराय से मिला। देशबन्धु कोलकाता की अलीपुर जेल में थे। उनसे मध्यस्थों की टेलीफोन द्वारा बात हुई। शीघ्र ही गाँधी जी से अहमदाबाद में तार द्वारा सम्पर्क करना आवश्यक समझा गया। सरकार इस पर राजी हो गई कि सत्याग्रह के कैदियों को छोड़ दिया जाए और मार्च 1922 में गोलमेज परिषद बुलाई जाए, जिसमें काँग्रेस की ओर से 22 प्रतिनिधि हों। इस परिषद में सुधार योजना पर विचार किया जाए। देशबन्धु दास की माँग थी कि नए कानून के अनुसार सजा पाए हुए कैदियों को छोड़ दिया जाए। समझौते के निश्चय का फल यह हुआ कि लाला जी जैसे कैदी और फतवे के कैदी, जिनमें मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, डॉ. किचलू और अन्य नेता शामिल थे, जेल में रह गये, परन्तु गाँधी जी कराची के कैदियों का छुटकारा चाहते थे। सरकार ने आंशिक रूप में इसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने माँग पेश की कि फतवे के कैदियों को छोड़ा जाए और निर्धारित जाति रखने का अधिकार माना जाए। ये माँगें नामंजूर कर दी गईं। फलतः समझौते की बात असफल रही और युवराज के आगमन के सम्बन्ध में बहिष्कार के कार्यक्रम का पालन भारत की जनता ने किया।

दिसम्बर 1921 के अन्तिम सप्ताह में अहमदाबाद काँग्रेस अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति हकीम अजमल खाँ थे। जो हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रतिमूर्ति थे। उनके सभापतित्व में असहयोग और उसके प्रति देश के कर्तव्य के सम्बन्ध में मुख्य प्रस्ताव पास हुए जिसमें कहा गया काँग्रेस के पिछले अधिवेशन के समय से अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप भारतीय जनता ने निर्भयता, आत्म-बलिदान और आत्म-सम्मान के मार्ग पर पर्याप्त प्रगति करने के साथ सरकार के सम्मान को बहुत धक्का पहुँचाया है और देश की प्रगति स्वराज्य की ओर तीव्र गति से हो रही है इसलिए काँग्रेस, कोलकाता के विशेष अधिवेशन द्वारा स्वीकृत और नागपुर में दोहराए गए प्रस्ताव को स्वीकार करती है और दृढ़ निश्चय प्रकट करती है कि जब तक स्वराज्य की स्थापना नहीं हो जाएगी तब तक अहिंसात्मक असहयोग का कार्यक्रम चलता रहेगा। इस प्रस्ताव के अगले अंशों में जनता को स्वयंसेवक बनने के लिए प्रोत्साहित किया गया। स्वयंसेवकों के लिए कुछ प्रतिज्ञाएँ निश्चित की गयीं जो इस प्रकार थीं—ईश्वर को साक्षी करके मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि—(1) मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सदस्य होना चाहता हूँ। (2) जब तक मैं संघ का सदस्य रहूँगा तब तक वचन और कर्म में अहिंसात्मक

1 J. L. Nehru The Autobiography

रहूँगा। (3) मुझे साम्प्रदायिक एकता पर विश्वास है और इसकी उन्नति के लिए मैं सदैव प्रयत्न करता रहूँगा। (4) मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष के आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक उद्धार के लिए स्वदेशी का प्रयोग आवश्यक है और मैं दूसरी तरह के कपड़ों को छोड़कर केवल हाथ के कते और बुने खद्दर का इस्तेमाल करूँगा। (5) हिन्दू होने की हैसियत से मैं अस्पृश्यता को दूर करने की न्यायपरता और आवश्यकता पर विश्वास करता हूँ। (6) मैं अपने धर्म और अपने देश के लिए बिना विरोध किये जेल जाने, आघात सहने और मरने के लिए तैयार हूँ। (7) अगर मैं जेल जाऊँगा तो अपने कुटुम्बियों आश्रितों की सहायता के लिए काँग्रेस से कुछ नहीं माँगूँगा।

31 जनवरी, 1922 को काँग्रेस कार्य समिति की बैठक में प्रस्ताव पास कर सरकार को चेतावनी दी गई कि वह नीतियों में परिवर्तन करे और उन असहयोगी कैदियों को मुक्त कर दे जो अहिंसात्मक कार्यों के लिए जेल गए हैं या जिनका मामला विचाराधीन है। सरकार से अनुरोध किया गया कि वह साफ शब्दों में देश के अहिंसात्मक आन्दोलन में सरकार की तटस्थता की घोषणा कर दे। अहिंसा की शर्तें सदा लागू रहें। गाँधी जी ने वायसराय को फरवरी 1923 के अपने पत्र में लिखा कि यदि सात दिन के भीतर सरकार ने घोषणा कर दी और प्रेस से कठोर प्रतिबन्ध हटा लिया तो मैं उस समय तक के लिए उग्र सत्याग्रह मुलतवी करने की सलाह दूँगा जब तक सारे कैदी छूट कर नए सिरे से विचार न कर लें। यदि सरकार यह घोषणा कर दे तो मैं इसे सरकार की ओर से लोकमत के अनुकूल कार्य करने की इच्छा का सबूत समझूँगा। मैं सलाह दूँगा कि दूसरे पर हिंसात्मक दबाव न डालते हुए देश अपनी निश्चित माँगों की पूर्ति के लिए ठोस लोकमत तैयार करे। उग्र सत्याग्रह तभी किया जाएगा जब सरकार तटस्थ रहने की नीति का पालन न करेगी अथवा जब वह जन-समुदाय की माँगों को मानने से इनकार कर देगी। ब्रिटिश सरकार ने गाँधी जी के वक्तव्य का जो उत्तर छपवाया उसमें दमन नीति का यह कह कर समर्थन किया गया कि यह नीति मुम्बई के दंगों अनेक स्थानों पर खतरनाक और गैर-कानूनी प्रदर्शनों और स्वयंसेवक दलों द्वारा हिंसा, डराने धमकाने और कामकाज में बाधा डालने के फलस्वरूप है। सरकार ने गाँधी जी की चेतावनी की परवाह नहीं की कि यदि सात दिनों के अन्दर सरकारी नीति में कोई परिवर्तन न किया गया तो कर नहीं तो आन्दोलन (No Tax Campaign) आरम्भ कर दिया जाएगा।

चौरी चौरा काण्ड और असहयोग आन्दोलन का स्थगन

गाँधीजी का वक्तव्य और सत्याग्रह समिति की रिपोर्ट

असहयोग आन्दोलन से बड़ी आशाएँ थीं लेकिन सब कुछ व्यर्थ रहा। सात दिन बीते भी नहीं थे कि गोरखपुर जिले की चौरी चौरा नामक स्थान पर दुर्घटना हो गई। 5 फरवरी को चौरी चौरा में काँग्रेस ने जुलूस निकाला जहाँ 21 सिपाहियों और एक थानेदार को भीड़ ने एक थाने में खदेड़ दिया और आग लगा कर मार डाला। ऐसे ही हत्याकाण्ड 13 जनवरी को मद्रास में तथा 17 सितम्बर को मुम्बई में हो चुके थे। आन्दोलन में हिंसात्मक प्रवृति के प्रवेश से गाँधीजी दुखित हुए, अतः उन्होंने आन्दोलन को 12 फरवरी, 1922 से अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया।

गाँधीजी की गिरफ्तारी और उनका वक्तव्य

आन्दोलन के समाप्त होने के बाद 22 मार्च 1923 को गाँधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। गाँधीजी को राजद्रोह के अपराध में सेशन सुपुर्द कर दिया गया। यह ऐतिहासिक मुकदमा 18 मार्च को अहमदाबाद में शुरू हुआ। सरोजिनी नायडू ने एक पुस्तक की भूमिका में लिखा कि "जब गाँधीजी की कृश, शान्त और अजेय देह ने अपने शिष्य और सहबन्दी शंकरलाल बैंकर के साथ अदालत में प्रवेश किया, कानून की निगाह में उस अपराधी के सम्मान के लिए सभी उठ खड़े हुए।" कानूनी अहलकारों ने तीन लेख छाँटे जिनके लिए गाँधी जी पर मुकदमा चलाया गया था—(1) राजभक्ति में दखल (2) समस्या और उसका हल एवं (3) गर्जन-तर्जन। जब अभियोग पढ़कर सुनाये गए, गाँधी जी ने अपना अपराध स्वीकार किया। बैंकर ने भी स्वयं को अपराधी कबूल किया। इसके बाद गाँधीजी ने अपना लिखित बयान पढ़ा।

जज ने गाँधीजी को छः वर्ष की सजा सुना दी। अपने उत्तर में गाँधीजी ने कहा कि उनके लिए परम सौभाग्य की बात है कि उनका नाम तिलक के साथ जोड़ा गया है। गाँधीजी की सजा के बाद काँग्रेस महासमिति ने असहयोग सविनय भंग और सत्याग्रह के सिद्धान्त तथा व्यवहार का मूल्य फिर से निश्चित करने का प्रयत्न किया, किन्तु गाँधीजी की गिरफ्तारी के साथ असहयोग आन्दोलन समाप्त हो चुका था। देशबन्धु दास तथा विट्ठलभाई पटेल ऐसा असहयोग चाहते थे जिसका प्रवेश नौकरशाही के गढ़ में हो सके।

काँग्रेस समिति की रिपोर्ट—गाँधीजी की गिरफ्तारी के बाद काँग्रेस कार्यसमिति ने असहयोगी वकीलों को चेतावनी दी कि वे मुकदमें हाथ में लें और असहयोगियों को आदेश दिया गया कि वे अपनी पैरवी न करें। काँग्रेस महासमिति ने सत्याग्रह समिति नियुक्त की जिसे देश का दौरा करके वर्तमान हालत की रिपोर्ट देनी थी। सत्याग्रह समिति ने जो विशेष सिफारिशें प्रस्तुत की, उन्हें संक्षेप में डॉ. पट्टाभिसीतारमैया ने इस प्रकार प्रस्तुत किया[1]—

1 *Annie Besant India Bound as Free* p 170 175

(1) **सत्याग्रह**—देश सामूहिक सत्याग्रह के लिये तैयार नहीं है। हम सिफारिश करते हैं कि प्रान्तीय काँग्रेस कमेटियों को अधिकार दे दिया जाए कि यदि महासमिति की सत्याग्रह सम्बन्धी शर्तें पूरी हो तो वे अपनी जिम्मेदारी पर छोटे पैमाने पर सामूहिक सत्याग्रह की मंजूरी दे सकती हैं।

(2) **कौंसिल प्रवेश**—कौंसिल प्रवेश के सम्बन्ध में डॉ. एम. ए. अन्सारी, राजगोपालाचार्य तथा एस. कस्तूरी रंगा आयंगर की सिफारिश थी कि काँग्रेस की नीति में तत्सम्बन्धी किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाए। इसके विरुद्ध हकीम अजमल खाँ, पं. मोतीलाल नेहरू और सरदार वल्लभ भाई पटेल का मत था कि—(i) असहयोगियों को उम्मीदवारी के लिए पंजाब और खिलाफत की दादरसी और तत्काल स्वराज्य प्राप्ति के उद्देश्य से खड़ा होना चाहिए और अधिकाधिक संख्या में पहुँचने की कोशिश करनी चाहिये। (ii) यदि असहयोगी अधिक संख्या में पहुँच जाएँ कि उनके बगैर कोरम पूरा न हो सके तो उन्हें कौंसिल भवन में जाकर बैठक में शामिल नहीं होना चाहिए। वे कौंसिल में केवल इसलिए जाएँ कि उनके रिक्त स्थान पूरे न हो सकें। (iii) यदि असहयोगी इतनी संख्या में पहुँचे कि अधिक होने पर उनके बिना कोरम पूरा हो सकता हो तो, उन्हें प्रत्येक सरकारी कार्यवाही को जिसमें बजट भी शामिल है, विरोध करना चाहिए और केवल पंजाब खिलाफत और स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करने चाहिए। (iv) यदि असहयोगी अल्पसंख्या में पहुँचें तो इस कौंसिल के बल को घटाना चाहिए। (v) कौंसिलों के बहिष्कार के सम्बन्ध में काँग्रेस की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

(3) **स्थानीय संस्थाएँ**—हमारी सिफारिश है कि असहयोगी रचनात्मक कार्यक्रम के लिए म्युनिसिपैलिटियों, जिला बोर्डों और लोकल बोर्डों की उम्मीदवारी के लिये खड़े हैं, परन्तु असहयोगी सदस्यों के आचरण के सम्बन्ध में नियम-उपनियम न बनाएँ जाएँ।

(4) **स्कूल एवं कॉलेजों का बहिष्कार**—प्रचार बन्द करके विद्यार्थियों को स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करने की सलाह नहीं देनी चाहिए।

(5) **अदालतों का बहिष्कार**—पंचायतें स्थापित लोक प्रवृत्ति जाग्रत करनी चाहिए। वकीलों पर लगे प्रतिबन्ध उठा लेना चाहिए।

(6) **आत्मरक्षा अधिकार**—सबका मत था कि कानून आत्मरक्षा की स्वतन्त्रता सबको दी जाए, तथा इससे हिंसा की नौबत न आ जाए। धर्म के मामले में, स्त्रियों की रक्षा करने में या पुरुषों पर अनुचित अत्याचार होने पर शारीरिक बल का प्रयोग मना नहीं है। श्री पटेल का मत था कि असहयोगियों को कानून में आत्मरक्षा करने का अधिकार रहना चाहिए परन्तु इससे सामूहिक हिंसा की नौबत न आ जाए।[1]

(7) **अंग्रेजी माल का बहिष्कार**—सत्याग्रह समिति की रिपोर्ट से स्पष्ट हो गया कि असहयोग के पुराने और नवीन दल समान रूप से विभाजित थे। डॉ. पट्टाभिसीतारमैया के शब्दों में, "दोनों असहयोग के दल थे और सरकार से सहयोग करने को कोई तैयार न था। अन्तर केवल इतना था कि नवीन दल असहयोग की कमान में एक दूसरी डोरी चढ़ाकर उससे नौकरशाही के गढ़ कौंसिल के भीतर से तीर छोड़ने का समर्थक था।" कौंसिलों और सहयोगियों ने म्युनिसिपैलिटियों और स्थानीय बोर्डों के लिए खड़ा होना आरम्भ कर दिया था। सफल होने पर वे अस्पतालों के लिए खद्दर और नौकरों के लिए खादी की वर्दियों के व्यवहार पर जोर देते थे। इमारतों पर राष्ट्रीय झण्डा फहराने का आग्रह करते थे, म्युनिसिपल स्कूलों में चरखा और हिन्दी के प्रचार की सिफारिश करते थे और गवर्नर एवं मिनिस्टरों के आगमन का बहिष्कार करने पर बल देते थे। गाँधीजी ने चौरी-चौरा काण्ड के बाद 12 फरवरी, 1922 को असहयोग आन्दोलन को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया था जो गाँधीजी की गिरफ्तारी के बाद शिथिल पड़ चुका था और अब कौंसिलों में प्रवेश करके सरकार के काम में बाधा डालने या सरकार से असहयोग करने की नीति जोर पकड़ने लगी। इस नीति के समर्थकों ने काँग्रेस से अलग होकर स्वराज्य दल की स्थापना की (1 जनवरी, 1923)।

असहयोग आन्दोलन का मूल्यांकन

12 फरवरी, 1922 को गाँधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन समाप्त करने से उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। गाँधीजी को मार्च, 1922 को गिरफ्तार करके छः वर्ष का कारावास दिया गया था। स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण उन्हें दो वर्ष बाद छोड़ दिया गया। अनेक दुर्बलताओं के बावजूद असहयोग आन्दोलन महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। यथा—1. यह पहला जन-आन्दोलन था जिसने भारत की राष्ट्रीयता में नूतन प्राण फूँके और देशवासियों में स्वतन्त्रता तथा निर्भीकता की भावनाएँ पैदा कर दीं। 2. काँग्रेस ने खादी, चरखा कातना, राष्ट्रीय शिक्षा मन्दिरें, पंचायत, स्वदेशी आदि अपना लिए। इससे भारतीयों में स्वदेशी वस्तुओं के लिए प्रेम जाग्रत हुआ तथा देश के कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। 3. राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं से देशभक्त उत्पन्न होने लगे, जिससे काँग्रेस को लम्बे स्वतन्त्र संघर्ष में कार्यकर्ताओं की कमी महसूस नहीं हुई।

---

1. डॉ. पुखराज जैन, संवैधानिक विकास और राष्ट्रीय आन्दोलन, पृ. 133.

स्वराज्य दल : उदय और अस्त

1922 में *असहयोग आन्दोलन के स्थगन से कांग्रेस के* अधिकांश नेताओं और जनता में भारी क्षोभ फैला। चितरंजनदास, पं. मोतीलाल नेहरू, एन. सी. कलेकर सत्याग्रह समिति की रिपोर्ट से स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस में नया दल बन रहा था। 1922 में कांग्रेस अधिवेशन हुआ जिसके अध्यक्ष चितरंजनदास ने अधिवेशन के समक्ष अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया, कौंसिल प्रवेश की नीति को पराजय मिली। असन्तुष्ट चितरंजनदास ने अध्यक्ष पद से और मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। तदनन्तर मोतीलाल नेहरू ने 'स्वराज्य दल' की स्थापना की।

स्वराज्य दल का सिद्धान्त और कार्यक्रम

स्वराज्य दल का लक्ष्य 'स्वराज्य' प्राप्त करना था। 'स्वराज्य' से उसका अभिप्राय साम्राज्य के अन्तर्गत 'औपनिवेशिक स्थिति' (Dominion Status) उपलब्ध करना था। स्वराजिस्ट चाहते थे कि निर्वाचनों में भाग लेकर व्यवस्थापक मण्डलों की सीटों पर कब्जा कर लिया जाए। इस प्रकार व्यवस्थापक मण्डलों में पहुँच जाने के उपरान्त वहाँ सरकार के प्रति असहयोग किया जाए और सरकारी नीति में रोड़ा अटकाया जाए। पं. मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चितरंजन दास ने 'अड़ंगा' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा था, "हमने अपने कार्यक्रम में अड़ंगा शब्द का व्यवहार किया है जो ब्रिटिश *संसद के इतिहास के वैधानिक अर्थ में नहीं, मातहत और सीमित अधिकारों वाली कौंसिलें उस अर्थ में अड़ंगा डालना* असम्भव है, क्योंकि सुधार कानून के अन्तर्गत असेम्बली और कौंसिल के अधिकार गिने-चुने हैं पर हम यह कह सकते हैं कि हमारा विचार अड़ंगा डालने की अपेक्षा स्वराज्य के मार्ग में नौकरशाही द्वारा डाली गई रुकावटों का मुकाबला करना अधिक है।"[1]

स्वराजिस्टों के अनुसार कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम असहयोग सिद्धान्त के अनुकूल था। वह उचित था कि नौकरशाही के गढ़ (व्यवस्थापिका) में प्रवेश कर असहयोग का झण्डा फहराया जाए। कौंसिलों में प्रवेश करके वे बजटों को रद्द करने के पक्ष में थे और उन कानूनी प्रस्तावों को अस्वीकार करना चाहते थे जो नौकरशाही की स्थिति सुदृढ़ करने वाले हों। 'अड़ंगा' स्वराज्य दल के कार्यक्रम का विध्वंसात्मक पक्ष था। रचनात्मक पक्ष में इसका कार्यक्रम उन प्रस्तावों, योजनाओं और विधेयकों को प्रस्तुत करना था जो राष्ट्रीय जीवन को प्राणवान बनाने वाले हों और अन्त में नौकरशाही को उखाड़ फैंकने में सहायक बनें। कौंसिलों के बाहर स्वराजिस्टों ने महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यों में सहयोग देने का वचन दिया।

स्वराज्य दल का मूल्यांकन

मॉण्ट-फोर्ड सुधारों और द्वैध-शासन प्रणाली विनष्ट करने के अपने कार्यक्रम को सामने रखकर स्वराज्य दल ने नवम्बर, 1923 के निर्वाचनों में भाग लिया और कुछ स्थानों पर सफलता प्राप्त की। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में 145 *सीटों में से 45 सीटें स्वराज्य दल के कब्जे में आ गईं।* उदाहरणार्थ 1924-25 के बजट के पत्तानेही माग को अस्वीकार कर दिया गया और सरकार को उसकी पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार का प्रयोग करना पड़ा। प्रान्तों में स्वराज्य दल ने बंगाल और मध्य प्रान्त में सफलता अर्जित की। इन प्रान्तों में द्वैध-शासन प्रणाली की क्रियान्विति को रोक दिया गया। *स्वराज्य दल की सफलता के सम्बन्ध में* एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड ने कहा—"मेरे विचार से *अड़ंगा लगाने* की नीति सही थी, क्योंकि उसने ब्रिटिश अनुदार दल को कायल कर दिया था कि द्वैध शासन प्रणाली अव्यवहार्य है।"

1925 में देशबन्धु चितरंजनदास की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल की शक्ति में ह्रास होने लगा और दल सरकार के साथ सहयोग करने की दिशा में झुकता गया। *"व्यवस्थापक मण्डलों को छिन्न-भिन्न कर, देश की नीति का स्थान व्यवस्थापक-मण्डलों में भाग लेने, उनका उपयोग करने और सरकार के साथ सहयोग तक करने की नीति लेने लगी।"* बंगाल और मध्य प्रान्त में स्वराज्य दल का प्रभाव घट गया। 1926 के बाद इस दल में फूट पैदा हो गयी और वह दो दलों में विभाजित हो गया। एक दल शासन के साथ प्रतियोगी सहयोग करने की नीति का प्रतिपादक था, दूसरा असहयोग करने की नीति का। *1926 के अन्त तक स्वराज्य दल अपनी शक्ति खो बैठा।*

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रारम्भ से पूर्व घटनाक्रम

कांग्रेस का लाहौर-अधिवेशन (1929)

1922 से 1927 तक का काल अशान्ति का रहा। *इस अवधि में राष्ट्रीयता का अत्यधिक प्रसार हुआ।* नवम्बर, 1927 *में* ब्रिटिश सरकार की ओर से 1919 के शासन विधान के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने के लिए सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन भारत भेजा गया। इस कमीशन के सातों सदस्य अंग्रेज थे। एक भी भारतीय सदस्य नहीं रखे जाने से भारतीय जनता को असंतोष हुआ। कमीशन का भारत में पूर्ण बहिष्कार हुआ। उसे काले झण्डे दिखाये गये।

---

1 *डॉ. कश्यप* : संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष पृ. 179 180

'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाए गए। सरकार ने अपना दमन चक्र चलाया। प्रदर्शनकारियों पर लाठियाँ बरसाई गईं और घोड़े दौड़ाए गये। लाहौर में पुलिस की लाठियों से लाला लाजपतराय घायल हुए एवं चल बसे। लखनऊ में नेहरू और गोविन्द वल्लभ पंत पर लाठियाँ पड़ीं। विरोध के बावजूद साइमन कमीशन ने दो बार यात्रा की और अपना रिपोर्ट दी, जो मई, 1930 में प्रकाशित हुई। साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने देश में व्याप्त असंतोष को तीव्र कर दिया। भारतीय लोकमत ने रिपोर्ट को ठुकरा दिया, जिसमें अधिराज्य स्थिति या औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) का जिक्र नहीं किया गया। केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए कुछ नहीं कहा गया था, प्रान्तों में रक्षा कवचों (Safeguards) के साथ उत्तरदायी शासन की स्थापना की बात कहकर महत्वपूर्ण मामलों में गवर्नरों को अपने मन्त्रियों के निर्णयों का उल्लंघन करने की बात कही गई थी और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को दबे स्वरों में निन्दा करते हुए उसे अनिवार्य ठहराया गया। एन्ड्रूज के अनुसार साइमन कमीशन की रिपोर्ट का दोष यह था कि इसने अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन से सम्पूर्ण देश में सम्पन्न हुये परिवर्तन और जनता की अभिलाषाओं एवं आकांक्षाओं की उपेक्षा की।[1]

भारतीयों के विरोध ने ब्रिटिश शासन को क्षुब्ध कर दिया। अंग्रेजी सरकार ने चुनौती दी कि भारतीय सम्मिलित रूप से अपना विधान नहीं बना सकते हैं। अंग्रेजों को विश्वास था कि हिन्दू मुसलमान एक नहीं हो सकेंगे, लेकिन सरकार की चुनौती मंजूर की गई। कांग्रेस द्वारा 1928 में दिल्ली में एक सर्व-दलीय सम्मेलन बुलाया गया। पं. जवाहरलाल नेहरू इस समिति के मन्त्री बने। समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें भारत के भावी संविधान का ढाँचा प्रस्तुत किया गया। भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग रखी गई। 1928 में लखनऊ सर्वदलीय सम्मेलन में नेहरू रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई, लेकिन बाद में मतभेद उठ खड़े हुए। रिपोर्ट से सरकार बौखला गई। उसने मुसलमानों को तोड़ने की नीति अपनाई। फलस्वरूप मुस्लिम समुदाय में मतभेद हो गया। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया, किन्तु पृथकतावादी तत्वों ने इसका विरोध किया। कांग्रेस द्वारा दिसम्बर, 1928 में यह प्रस्ताव मंजूर कर लिया गया कि नेहरू रिपोर्ट में शासन विधान की जो योजना प्रस्तुत की गई है वह स्वागत-योग्य है और यदि ब्रिटिश संसद इसे 31 दिसम्बर, 1929 तक या इससे पूर्व स्वीकार कर लेगी तो कांग्रेस इस विधान को अपना लेगी। प्रस्ताव में स्पष्ट कर दिया गया कि यदि 31 दिसम्बर, 1929 को ब्रिटिश संसद प्रस्तावित विधान को मंजूर नहीं करेगी या इससे पूर्व ही उसे नामंजूर कर देगी तो कांग्रेस देश को कर बन्दी की सलाह देकर अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलायेगी। पृथकतावादी मुस्लिम तत्वों ने नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया और जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट के मुकाबले चौदह सूत्रीय योजना प्रस्तुत की। मुस्लिम हितों को अनुचित रूप से संरक्षण देने वाली ब्रिटिश सरकार ने जिन्ना-योजना का विरोध नहीं किया और ये शर्तें मैक्डोनाल्ड के 'साम्प्रदायिक पंचाट' (Communal Award) में सम्मिलित कर ली गईं। जनता में रोष भड़क उठा और 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन के लिए वातावरण तैयार हो गया।

लाहौर-कांग्रेस (1929) का 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव और 26 जनवरी, 1930 का स्वाधीनता घोषणा-पत्र

सरकार द्वारा नेहरू रिपोर्ट के ठुकरा दिये जाने और पृथकतावादी मुस्लिम तत्वों को प्रोत्साहन देने पर कांग्रेस ने दिसम्बर, 1929 में लाहौर अधिवेशन किया। पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में भारत के अपमान पर तीव्र क्रोध व्यक्त किया तथा भारत को स्वतन्त्र कराने के अपने दृढ़ निश्चय को प्रकट किया। लाहौर कांग्रेस में 31 दिसम्बर, 1929 को मध्य-रात्रि को पं. नेहरू की अध्यक्षता में 'पूर्ण स्वराज्य' सम्बन्धी प्रस्ताव पास किया गया।

कांग्रेस के आदेश से 26 जनवरी, 1930 को देश में 'स्वतन्त्रता दिवस' के रूप में मनाया गया। कांग्रेस की नई कार्य समिति की बैठक 2 जनवरी, 1930 को हुई, उसमें 26 जनवरी, 1930 के पूर्ण स्वराज्य दिवस के लिए एक घोषणा-पत्र तैयार करके जनता के सम्मुख पढ़कर सुनाना और उस पर हाथ उठाकर श्रोताओं की सम्मति लेना तय हुआ। उस दिन सुनाया जाने वाला घोषणा-पत्र संक्षेप में यह था— "हम भारतीय प्रजाजन अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल स्वयं भोगें और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों, जिससे हमें विकास का पूरा मौका मिले। अंग्रेजी सरकार ने भारतवासियों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतवर्ष का शोषण किया है। अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य प्राप्त कर लेना चाहिए।"

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ

स्वाधीनता-दिवस मनाने से स्पष्ट हो गया कि स्वदेश भक्ति और आत्म-बलिदान की भावना विद्यमान है जिसे जाग्रत करने की आवश्यकता है। 25 जनवरी, 1930 को असेम्बली में दिया गया वायसराय का भाषण प्रकाशित हुआ

1 *Dr Pattabhi Sitaramaya* : The History of Indian National Congress, p. 436.

जिसमें भारत के आशावादी और विश्वासशील राजनीतिज्ञों की आशाओं पर पानी फिर गया। गाँधीजी ने यंग इण्डिया में लॉर्ड इर्विन के सामने ये शर्तें रखी[1]—1. सम्पूर्ण मदिरा निषेध। 2. विनिमय की दर घटा कर एक शिलिंग चार पेंस कर दी जाए। 3. जमीन का लगान आधा कर दिया जाए और उस पर कौंसिलों का नियन्त्रण रहे। 4. नमक-कर हटा दिया जाए। 5. सैनिक-व्यय में 50 फीसदी कमी कर दी जाए। 6. विदेशी कपड़े के आयात पर निषेध कर लगा दिया जाये। 7. भारतीय समुद्र तट भारतीय जहाजों के लिये सुरक्षित रखने का प्रस्तावित कानून पास कर दिया जाए। 8. हत्या या हत्या के प्रयत्नों में साधारण ट्रिब्यूनलों द्वारा सजा पाए लोगों के सिवाय समस्त राजनीतिक कैदी छोड़ दिए जाएं तथा समस्त राजनीतिक मुकदमे वापस ले लिए जाएँ, 124 अ धारा और 1818 का तीसरा रेग्यूलेशन उठा दिया जाय। 9. खुफिया पुलिस हटा दी जाए अथवा उस पर जनता का नियन्त्रण कर दिया जाए। 10. आत्म-रक्षार्थ हथियार रखने हेतु लाइसेन्स दिए जाएँ और उन पर जनता का नियन्त्रण रहे।

महात्मा गाँधी ने कहा—"अन्य देशों के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के दूसरे उपाय भले ही हों परन्तु भारतवर्ष के लिए अहिंसात्मक असहयोग के सिवाय दूसरा मार्ग नहीं है। परमात्मा करे, आप स्वराज्य के इस मंत्र को सिद्ध और प्रकट करें और स्वाधीनता की जो लड़ाई निकट आ रही है उसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने का वह आपको बल और साहस प्रदान करे।"

सदस्यों का असेम्बली और कौंसिलों से त्याग पत्र—कांग्रेस के आदेश पर कौंसिलों के 172 सदस्यों ने फरवरी 1930 तक त्याग-पत्र दे दिए। इनमें से 21 असेम्बली के और 9 राज्य परिषद के सदस्य थे। तत्कालीन वातावरण सरकार के अनुकूल नहीं था और गाँधीजी के आन्दोलन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार थी। लार्ड इर्विन की घोषणा से स्पष्ट था कि ब्रिटिश सरकार भारत को औपनिवेशिक स्थिति प्रदान नहीं करेगी।

सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश और सरकार को अन्तिम चेतावनी

दिसम्बर 1929 में 'पूर्ण स्वाधीनता' का प्रस्ताव पास होने के बाद गाँधीजी गम्भीरता से विचार कर रहे थे कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन किस प्रकार प्रारम्भ किया जाए। 14 से 16 फरवरी 1930 तक साबरमती में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई जिसमें एक प्रस्ताव पारित करके गाँधीजी को आन्दोलन शुरू करने के लिए अधिकृत कर दिया गया। कुछ समय बाद अहमदाबाद में महासमिति की बैठक हुई जिसमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने का अधिकार उन्हें दे दिया गया। गाँधीजी ने 2 मार्च 1930 को लॉर्ड इर्विन को 'अन्तिम चेतावनी' के रूप में एक पत्र लिखा जिसमें 'सविनय अवज्ञा' का उद्देश्य स्पष्ट किया। इस चिट्ठी को रेजिनाल्ड नामक अंग्रेज युवक दिल्ली ले गया जो कुछ समय तक आश्रम में रह चुका था। गाँधीजी के इस पत्र को अन्तिम चेतावनी का नाम दिया गया। लॉर्ड इर्विन ने खेद प्रकट किया कि गाँधी जी ऐसा काम करने वाले हैं जिससे कानून और सार्वजनिक शान्ति भंग होगी।

गाँधीजी का कूच अनिवार्य हो गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ 'दाण्डी यात्रा' (Dandi March) की ऐतिहासिक घटना से हुआ। 12 मार्च, 1930 को अपने 79 साथियों सहित महात्मा गाँधी ने साबरमती आश्रम से समुद्र तट पर स्थित दाण्डी नामक ग्राम के लिए प्रस्थान किया ताकि वहाँ नमक बनाकर सरकारी नमक कानून का उल्लंघन किया जाए। 200 मील की लम्बी यात्रा पैदल 24 दिनों में तय की गई। दाण्डी पहुँच कर महात्मा गाँधी ने नमक कानून तोड़कर 6 अप्रैल, 1930 को आन्दोलन का उद्घाटन किया और सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हो गया।

गाँधीजी द्वारा आरम्भ किए गये इस आन्दोलन को संख्या, धन और प्रभाव का बल मिलता चला गया। गांधीजी की कूच यात्रा से सरकार विचलित हो गई एवं आज्ञा दी कि लँगोटी और दण्डधारी गाँधीजी की पैदल यात्रा का सिनेमा चित्र न दिखाया जाए। गाँधीजी ने घोषित किया कि स्वराज्य नहीं मिला तो मैं रास्ते में मर जाऊंगा अथवा आश्रम के बाहर रहूँगा। नमक-कर न उठा सका तो आश्रम लौटने का इरादा नहीं है। अंग्रेजी राज्य ने भारत का नैतिक, भौतिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नाश कर दिया है। मैं इस राज्य को अभिशाप समझता हूँ और इसे नष्ट करने का प्रण कर चुका हूँ। गाँधीजी ने मार्मिक शब्दों में कहा—"मैंने स्वयं 'गाड सेव दि किंग' के गीत गाए और दूसरों से गवाये हैं। मुझे 'भिक्षा देहि' की राजनीति में विश्वास था, पर वह व्यर्थ हुआ। मैं जान गया कि इस सरकार को सीधा करने का यह उपाय नहीं है। अब तो राजद्रोह ही मेरा धर्म हो गया है, पर हमारी लड़ाई अहिंसा की लड़ाई है। हम किसी को मारना नहीं चाहते किन्तु इस शासन को खत्म कर देना हमारा परम कर्तव्य है। 6 अप्रैल को गाँधीजी ने अपनी यात्रा की समाप्ति पर अपने साथियों सहित समुद्र तट से नमक बना कर नमक कानून तोड़ा और गाँधीजी ने कहा "नमक-कानून विधिवत भंग हो गया है। मेरी सलाह है कि सर्वत्र कार्यकर्ता नमक बनाएँ, जहां उन्हें शुद्ध नमक तैयार करना आता हो वहाँ उसे काम में लाएँ और ग्रामवासियों को सिखा दें, परन्तु उन्हें यह अवश्य जता दें कि कानून छिप कर नहीं खुलकर भंग करना है।" सरकार हमारी बहिनों से लड़ाई मोल नहीं लेगी और यदि सरकार सीमोल्लंघन करती है तो स्त्रियां जी खोलकर स्वाधीनता संग्राम में कूद सकती हैं।

1. डॉ. सूद : भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास पृ. 140-145

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण

1. ब्रिटिश सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को ठुकरा कर भारतीयों के लिए संघर्ष के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं छोड़ा।

2. देश की आर्थिक हालत निरन्तर शोचनीय होती जा रही थी और विश्वव्यापी आर्थिक मंदी ने हालत और बिगाड़ दी थी। वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गयी थीं और किसानों की हालत दयनीय थी, वे कर, लगान या कर्ज नहीं चुका सकते थे।

3. औद्योगिक संस्थाओं में हड़तालें आम बात हो गयी थी। मेरठ षड्यन्त्र केस में गिरफ्तार 36 मजदूर नेताओं को लम्बी कैद की सजा होने की घटना ने देश भर के मजदूरों में सनसनी फैला दी थी और वे संगठित होने लगे थे। पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, श्रमिक आन्दोलन सिद्धान्त एवं संगठन में वर्ग-चेतना खतरनाक हो रही थी।[1]

4. सरकार का हर कदम अंग्रेजों को फायदा पहुँचाने का होता था, इसलिए रुपये के मूल्य में परिवर्तन कर दिया गया था, अतः औद्योगिक और व्यावसायिक वर्ग सरकार के विरुद्ध कांग्रेस द्वारा संचालित आन्दोलन में भाग लेना चाहता था।

5. वातावरण अशान्त और उग्र था। अतः हिंसात्मक संघर्ष की सम्भावना अधिक हो गयी थी। कांग्रेस के उचित निवेदन को ठुकराने की नीति सरकार ने अपना ली थी। अतः महात्मा गाँधी ने समझ लिया कि अहिंसा जाति शक्ति द्वारा ही दब सकती है।

आन्दोलन का कार्यक्रम, प्रगति और सरकार का दमन चक्र

सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने के पहले महात्मा गाँधी ने अपनी 11 शर्तों अथवा माँगों की सूची वायसराय को भेजी थी, जो सविनय अवज्ञा आन्दोलन का कार्यक्रम थीं। इस आन्दोलन का कार्यक्रम था—सम्पूर्ण मदिरा निषेध, स्वतन्त्रतापूर्वक नमक बनाना, शराब एवं अफीम तथा विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देना, सरकारी नौकरियों तथा न्यायालयों तथा शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार करना, चरखा चलाना आदि। जनता ने उत्साह से भाग लिया। सरकार का दमनचक्र बढ़ता गया। नेताओं को बंदी बना लिया गया, निहत्थे सत्याग्रहियों पर लाठियाँ बरसाई गयीं, प्रदर्शन करने वाली भीड़ों पर गोलियाँ चलाई गईं और व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया। गाँधीजी ने वायसराय को लिखे दूसरे पत्र में सूरत जिले के धारासना और छरसाड़ा के नमक के कारखाने पर धावा करने का इरादा जाहिर किया। जिन्ना ने कहा, "हम गाँधीजी के साथ शामिल होने से इनकार करते हैं, क्योंकि उनका आन्दोलन भारत की स्वतन्त्रता के लिए नहीं है अपितु भारत के सात करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा के आश्रित बना देने के लिए है, किन्तु राष्ट्रवादी और देशभक्त मुसलमानों ने कांग्रेस के ध्वज के नीचे खड़े होकर इस आन्दोलन में भाग लिया।

जून 1930 में देश में क्रान्ति हिलोरें ले रही थी और अनेक स्थलों पर ब्रिटिश शासन ठप्प हो गया था। मुम्बई शहर शासन सूत्र ब्रिटिश नौकरशाही के हाथ से खिसककर कांग्रेस के साथ आ गया था। सरकार का दमनचक्र पूरे वेग पर था। लाठी-प्रहार दिन प्रतिदिन की घटना हो गयी और लोगों के प्रमुख अंगों पर आघात किया जाने लगा। कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया। महिलाओं को पीड़ित किया गया। देश को अध्यादेश शासन के अन्तर्गत कर दिया और दमन कानून का सहारा लिया गया। करबन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात् ग्रहण, हरण और नीलामी का सहारा लिया। पुलिस के अत्याचारों से कई गाँव उजड़ गए।

समझौते के प्रयास : गोलमेज परिषद् : गाँधी-इर्विन समझौता, 1931

सरकार और सत्याग्रहियों के बीच समझौते के प्रयत्न असफल रहे। जेल में महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह आन्दोलन को तब तक जारी रखने का निश्चय प्रकट किया जब तक भारत को सार रूप में स्वतन्त्रता प्रदान न कर दी जाए। साइमन कमीशन की जो रिपोर्ट मई 1930 में प्रकाशित हुई थी उसने भारतीयों को निराश किया और सभी राजनीतिक दलों ने उसके सुझावों को अस्वीकार कर दिया। अतः सरकार को गोलमेज परिषद् (Round Table Conference) बुलानी पड़ी।

प्रथम गोलमेज परिषद्, नवम्बर, 1930

12 नवम्बर, 1930 को लन्दन में प्रथम गोलमेज परिषद् कांग्रेस के अतिरिक्त सभी भारतीय प्रतिनिधि उपस्थित थे, पर उनका मनोनयन वायसराय ने किया था, अतः वे सरकार के पिट्ठू थे। प्रधानमन्त्री मैकडोनाल्ड ने परिषद् के उद्घाटन भाषण में तीन आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा की। प्रथम, केन्द्रीय व्यवस्थापिका का निर्माण संघ शासन के आधार पर होगा तथा ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी राज्य संघ शासन की इकाई का रूप धारण करेंगे, द्वितीय केन्द्र में यद्यपि उत्तरदायी

---

1. *Dr Pattabhi Sitaramayya* : The History of the National Congress, p. 450.

शासन स्थापित किया जाएगा, लेकिन सुरक्षा तथा वैदेशिक विभाग गवर्नर जनरल के अधीन रहेंगे एवं तृतीय अतिरिक्त काल में कुछ रक्षात्मक विधान (Statutory Safeguards) की व्यवस्था रहेगी।

वायसराय द्वारा मनोनीत और चुने हुए भारतीय प्रतिनिधि संघ शासन के उपरोक्त सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। देशी नरेशों ने ब्रिटिश सरकार के इशारे पर संघ राज्य में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया, संरक्षण (Safeguards) और उत्तरदायी मंत्रियों पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में प्रतिनिधियों में मतभेद पाया गया है। जयकर एवं सर तेज बहादुर सप्रू ने भारत के लिए 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की माँग की। जयकर के अनुसार, "यदि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जायेगा तो स्वतन्त्रता की माँग स्वत समाप्त हो जाएगी।" सम्मेलन में साम्प्रदायिकता की समस्या विवादग्रस्त रही। मुसलमान पृथक् तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पर अड़े रहे। जिन्ना ने अपनी चौदह सूत्री योजना स्वीकार करने की वकालत की। डॉ. अम्बेडकर ने अनुसूचित जातियों की हितों की दृष्टि से पृथक् निर्वाचक मण्डल का समर्थन किया। हिन्दू प्रतिनिधि संयुक्त निर्वाचन पद्धति और अल्पसंख्यकों के लिए स्थान संरक्षण के पक्ष में थे। फलस्वरूप साम्प्रदायिकता की समस्या पर मतैक्य नहीं हो पाया। दूसरी ओर काँग्रेस ने गोलमेज सम्मेलन की किसी घोषणा को स्वीकार नहीं किया। 19 जनवरी, 1931 को सम्मेलन अनिश्चित काल के लिए बिना निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे, स्थगित हो गया। सम्मेलन की समाप्ति पर प्रधानमन्त्री मैक्डोनाल्ड ने आशा व्यक्त की कि काँग्रेस भविष्य में सम्मेलन में भाग लेगी और भारत के लिए संविधान निर्माण में मदद करेगी। सरकार समझ गई कि काँग्रेस की अनुपस्थिति में कोई निर्णय फलीभूत नहीं हो सकता।

गाँधी-इर्विन समझौता, 1931 और आन्दोलन की समाप्ति

काँग्रेस के साथ समझौता करने और द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में उसे शामिल करने की दृष्टि से सरकार ने महात्मा गाँधी तथा काँग्रेस कार्यकारिणी के अन्य सदस्यों को 26 जनवरी, 1931 को मुक्त कर दिया। महात्मा गाँधी एवं लॉर्ड इर्विन में पत्राचार हुआ। अन्ततः तेज बहादुर सप्रू एवं जयकर के प्रयत्नों से 17 फरवरी 1931 को गाँधीजी और लॉर्ड इर्विन की मुलाकात हुई। फलस्वरूप गाँधी इर्विन समझौता 5 मार्च को हुआ। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नांकित थीं—

1. सरकार सभी अहिंसक कैदियों को मुक्त कर देगी।
2. समुद्र के समीप रहने वालों के लिए नमक एकत्र करने एवं नमक बनाने के लिए कर नहीं देना होगा।
3. सरकार सभी अध्यादेश एवं मुकदमे वापस ले लेगी।
4. शान्तिपूर्वक विदेशी सामान पर धरने देने की छूट होगी।
5. काँग्रेस द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया जायेगा।
6. सरकार सत्याग्रहियों की जब्त सम्पत्ति लौटा देगी।
7. काँग्रेस का बहिष्कार कार्यक्रम बन्द हो जायेगा।
8. महात्मा गाँधी पुलिस की ज्यादतियों की निष्पक्ष जाँच की माँग छोड़ देंगे।
9. काँग्रेस द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी और उत्तरदायी शासन को रक्षा कवचों सहित भारतीयों के हित में स्वीकार कर लेगी।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द बोस एवं दक्षिण पक्ष के नेताओं ने समझौते को पसन्द नहीं किया। काँग्रेस के वाम पक्ष ने समझौते को सरकार के समक्ष आत्म-समर्पण की संज्ञा दी, जबकि दक्षिण पक्ष ने इस पर असंतोष प्रकट किया। इस समझौते के बाद संघर्ष तथा संग्राम समाप्त हो गया। काँग्रेस का झण्डा लहराने लगा।

द्वितीय गोलमेज परिषद्, 1932

18 अप्रैल 1931 को लार्ड इर्विन ने भारत से प्रस्थान किया तथा 17 अप्रैल 1931 को नए वायसराय लॉर्ड विलिंगटन ने अपना कार्यभार संभाला। देश की स्थिति से वायसराय लॉर्ड विलिंगटन अपरिचित थे। प्रतिदिन काँग्रेस के दफ्तरों में उनमें समझौते की शर्तों का ठीक से पालन नहीं करने की शिकायत मिली। इस सम्बन्ध में गाँधीजी ने काँग्रेसियों को झगड़ा न शुरू करने की सख्त चेतावनी दी। फलस्वरूप सरकार की ओर से सहानुभूति दिखाई गई लेकिन स्थिति में सुधार नहीं हुआ। गाँधीजी ने सरकार से जो पत्र-व्यवहार किया उससे स्पष्ट हो गया कि समझौते में दम नहीं है अतः उन्होंने द्वितीय गोलमेज परिषद में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया, परन्तु अन्त में गाँधीजी सहमत हो गये।

लन्दन में दूसरा गोलमेज परिषद् 7 सितम्बर 1931 को शुरू हुआ। काँग्रेस की ओर से महात्मा गाँधी ने भाग लिया। पण्डित मदन मोहन मालवीय और श्रीमती सरोजनी नायडू व्यक्तिगत क्षमता से परिषद में सम्मिलित हुए। परिषद शुरू होने के पूर्व श्रमिक सरकार अपदस्थ हो गई, राष्ट्रीय सरकार बनी और सर सैम्युअल होर भारत मंत्री नियुक्त हुए। द्वितीय गोलमेज परिषद अपने उद्देश्य में सफल न हो सकी। इसमें नये संविधान के ब्यौरे निश्चित कर लिए गए। संघीय न्यायपालिका का ढाँचा, संघीय विधान मण्डल का संगठन और भारतीय राज्यों के अखिल भारतीय संघ में प्रवेश से सम्बद्ध

नीति निश्चित हो गई। महात्मा गाँधी ने कृषि के राष्ट्रीय स्वरूप का प्रतिपादन किया और सुरक्षा बलों एवं वैदेशिक मामलों में पूर्ण नियन्त्रण सहित औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की, लेकिन विशेष प्रभाव नहीं हुआ। साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णित रहा। गाँधीजी ने अल्पसंख्यक वर्गों के साथ समझौते की बातचीत की, लेकिन साम्प्रदायिक प्रश्न का हल नहीं निकल सका। सम्मेलन में महात्मा गाँधी ने 30 नवम्बर, 1931 को अपने भाषण में बताया कि अन्य दल साम्प्रदायिक हैं तथा काँग्रेस भारत में सबके हितों के प्रतिनिधित्व का दावा करती है। यह साम्प्रदायिक संस्था नहीं है तथा उसकी कट्टर शत्रु है। काँग्रेस नस्ल, रंग और धर्म का भेदभाव नहीं जानती। काँग्रेस ही सारे अल्पमतों (Minorities) का प्रतिनिधित्व करती है। गाँधीजी के प्रयत्न करने पर गोलमेज सम्मेलन हो सका। प्रत्येक प्रतिनिधि ने सम्मेलन में अपनी जाति के लिए माँग की। ब्रिटिश सरकार ने प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि ऐसे चुने थे जिनमें कोई समझौता न हो सके। ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम प्रतिनिधियों के साथ गठजोड़ कर काँग्रेस के विरुद्ध उसे प्रयुक्त किया। फलस्वरूप सम्मेलन असफल होकर 1 दिसम्बर, 1931 को विसर्जित हो गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पुनरावृत्ति और आन्दोलन की समाप्ति

महात्मा गाँधी दिसम्बर, 1931 को इंग्लैण्ड से खाली हाथ वापस लौट आए। महात्मा गाँधी की अनुपस्थिति में ब्रिटिश सरकार ने अपना दमन चक्र तेज कर दिया और गाँधी-इर्विन समझौते की शर्तों का उल्लंघन होने लगा। जब महात्मा गाँधी लौटे तब तक प. जवाहरलाल नेहरू, खान अब्दुल गफ्फार खाँ आदि विभिन्न नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था। बंगाल, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा मध्य प्रदेश में अध्यादेशों (Ordinances) द्वारा शासन चलाया जा रहा था। बंगाल में सैनिक शासन लागू कर दिया गया था।[1]

28 दिसम्बर को मुम्बई में काँग्रेस कार्य-समिति की बैठक हुई, जिसमें एक प्रस्ताव में कहा गया कि देश की घटनाएँ और सरकार का रवैया यह असम्भव बना रहा है कि काँग्रेस सरकार के साथ सहयोग करे। काँग्रेस का सहयोग तब तक असम्भव है जब तक सरकार की नीति में आमूल परिवर्तन नहीं हो जाता। प्रस्ताव में कहा गया कि नौकरशाही हुकूमत सौंपना नहीं चाहती। इससे यह प्रकट होता है कि सरकार काँग्रेस से सहयोग की उम्मीद करती है तथा उस पर विश्वास करना चाहती है। प्रस्ताव में कहा गया कि पूर्ण स्वाधीनता से, जिसमें राष्ट्र के हित के लिए आवश्यक सिद्ध होने वाले संरक्षणों के साथ सेना, वैदेशिक सम्बन्ध तथा आर्थिक मामलों पर पूर्ण अधिकार सम्मिलित है, जरा भी कम हो काँग्रेस संतोषजनक नहीं मान सकती। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि आर्डिनेन्सों तथा कृत्यों के सम्बन्ध में राहत दी जाए, भावी विचारों और परामर्श में काँग्रेस के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा पेश करने की आजादी रहे और स्वतन्त्रता मिलने तक देश का शासन लोक-प्रतिनिधियों की सलाह से चलाया जाए तो कार्य-समिति सहयोग देने के लिए तैयार है। इन शर्तों के आधार पर यदि सरकार की ओर से सन्तोषजनक उत्तर न मिले, तो कार्य-समिति इसे सरकार की ओर से दिल्ली के समझौते को रद्द किए जाने की सूचना समझेगी। सन्तोषजनक उत्तर न मिलने की दशा में कार्य-समिति राष्ट्र को निश्चित शर्तों पर सविनय अवज्ञा, जिसमें लगान-बन्दी सम्मिलित है, आरम्भ करने के लिए आह्वान करती है। वायसराय ने गाँधीजी को सूचित किया कि "अपने उत्तरदायित्व का ख्याल रखने वाली सरकार राजनीतिक संस्था की गैर कानूनी कार्यवाही की धमकी युक्त शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकती।" सरकार ने यह स्वीकार नहीं किया कि दिल्ली समझौते पर सावधानी से अमल नहीं किया जा रहा है। सरकार का उत्तर 1 जनवरी, 1932 को तार द्वारा मिला और 3 जनवरी 1932 को गाँधीजी ने अपना उत्तर दिया कि—"प्रामाणिक मत-प्रदर्शन को धमकी समझना भूल है। क्या मैं सरकार को याद दिलाऊँ कि सत्याग्रह के जारी रहते हुए दिल्ली की सन्धि चर्चा आरम्भ हुई और चलती रही। जब समझौता हुआ सत्याग्रह स्थगित किया गया था। मेरे लन्दन जाने से पहले, गत दिसम्बर में शिमला में इस बात पर दुबारा जोर दिया गया था। आपने तथा आपकी सरकार ने इसे स्वीकार किया था। यद्यपि मैंने यह स्पष्ट कर दिया था कि सम्भव है कुछ हालातों में काँग्रेस को सत्याग्रह जारी करना पड़े, तो भी सरकार ने बातचीत बन्द नहीं की थी। यदि सरकार इस रवैये के विरुद्ध थी, तो वह मुझे लन्दन न भेजती, किन्तु इसके विपरीत मेरी विदाई पर आपने शुभकामना प्रदर्शित की थी। आपका यह कहना उचित नहीं है कि मैंने कभी दावा किया है कि सरकार की नीति मेरे निर्णय पर निर्भर रहनी चाहिए। समय बतायेगा कि किसने सच्ची स्थिति ग्रहण की थी। मैं सरकार को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि काँग्रेस की ओर से संग्राम को सर्वदा द्वेष रहित तरीके से चलाने का प्रयत्न किया जाएगा।"

जब वायसराय परिस्थिति को सुलझाने को तैयार नहीं हुए, तो काँग्रेस कार्य-समिति ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय कर लिया। आन्दोलन का नेतृत्व पुनः गाँधीजी के हाथ में आया, जिन्होंने 3 जनवरी 1932 को राष्ट्र का इस अग्नि-परीक्षा का सामना करने के लिए आह्वान किया। ब्रिटिश सरकार अपना दमन चक्र चलाने की तलाश में थी, अतः अगले दिन 4 जनवरी को महात्मा गाँधी एवं काँग्रेस को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। कार्यकर्ताओं को जेलों में ठूँस दिया गया और पुलिस को शक्ति दे दी गई कि वह सन्देह पर किसी को गिरफ्तार कर सके। काँग्रेसियों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई।

1 *Dr Pattabhi Sitaramaya* : The History of the National Congress, p. 468.

सरकार ने आन्दोलन को कुचलने के लिए बर्बरता का परिचय दिया। इसका पता इसी तथ्य से चल जाता है कि नेताओं के अतिरिक्त सवा लाख व्यक्तियों को जेलों में ठूंस दिया गया था। यह आन्दोलन ढाई वर्ष तक 19 मई 1933 तक चलता रहा, जब तक महात्मा गाँधी द्वारा 12 सप्ताह के लिए स्थगित न कर दिया गया। 14 जुलाई 1933 को महात्मा गाँधी ने जन-आन्दोलन रोक दिया, यद्यपि व्यक्तिगत सत्याग्रह एक वर्ष तक चलता रहा, तथापि जनता का उत्साह आन्दोलन के प्रति कम हो गया था और नैतिक पतन के चिह्न दिखाई देने लग गये थे, अतः 7 अप्रैल 1934 को महात्मा गाँधी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को समाप्त कर दिया, लेकिन ब्रिटिश सरकार कांग्रेस एवं राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलने में असमर्थ रही।

1932 से 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन से पूर्व की मुख्य घटनायें

नवम्बर, दिसम्बर, 1932 में लन्दन में तीसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ। इसमें भारत से कांग्रेस का प्रतिनिधि नहीं गया। ब्रिटेन श्रमिक दल ने इस सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार नहीं किया। ब्रिटेन में अनुदार दल की सरकार थी। मैक्डोनाल्ड प्रधानमंत्री नहीं थे। नई सरकार ऐसा कोई सुधार करने को तैयार नहीं थी जिसमें भारतीयों को अधिकार मिलें और भारत पर अंग्रेजों का राजनीतिक और आर्थिक अधिपत्य कमजोर पड़े। भारत के लिये नये संविधान के प्रारूप के बारे में निर्णय लिए गए। सम्मेलन के समापन पर भारत सचिव ने घोषणा की कि प्रस्तावित संविधान में जो व्यवस्था होगी उसके अनुसार (i) संख्या और आमदनी में आधे देशी राज्यों के संघ में मिलने के लिए तैयार हो जाने पर संघ-व्यवस्था का सूत्रपात हो सकेगा (ii) केन्द्रीय विधान मण्डल में ब्रिटिश भारत के स्थानों में से $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत स्थान भारतीय मुसलमानों को मिलेंगे एवं (iii) सिन्ध और उड़ीसा के दो नये प्रान्त बनाए जाएंगे।

मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार ने श्वेत-पत्र प्रकाशित किया जिसमें नये संविधान के प्रस्तावों को लेखबद्ध किया गया। प्रस्तावों में संघात्मक व्यवस्था और प्रान्तीय स्वायत्तता का प्रावधान था। केन्द्रीय और प्रान्तीय स्तरों पर विशेष उत्तरदायित्व और रक्षोपाय कार्यपालिका के हाथों में सुरक्षित रखे गये। गाँधी इर्विन समझौते में रक्षोपाय भारत के हित में होने थे, परन्तु श्वेत-पत्र के अनुसार ये भारत और ब्रिटेन दोनों के समान हित में होने थे। नये भारत सचिव सैम्युअल होर ने हाउस ऑफ कामन्स में बोलते हुए 21 मार्च, 1933 को कहा कि श्वेत-पत्र की योजना भारत को स्वशासन देने की योजना नहीं है, यह भारत के संवैधानिक प्रगति की दिशा में नई किस्त है। इस परिवर्तन से संवैधानिक सुधारों की योजना का सन्दर्भ बदल गया।

इन प्रस्तावों पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इनसे कोई सन्तुष्ट नहीं था इसलिए इन प्रस्तावों पर आगे विचार करने के लिए तथा पूरी योजना का परीक्षण करने के लिए ब्रिटिश संसद ने दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर समिति बनाई। समिति में बहुमत अनुदार दल का था और इसके अध्यक्ष लॉर्ड लिनलिथगो थे। लॉर्ड लिनलिथगो के सामने गवाही के रूप में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को उपस्थित होने का निमन्त्रण दिया गया। नवम्बर, 1934 में इस समिति की रिपोर्ट में दोहराया गया कि संघ की स्थापना तभी हो सकेगी जब कम से कम 50 प्रतिशत देशी राज्य उसमें शामिल होने को तैयार हो जाएँ। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय विधान-मण्डल के लिए परोक्ष निर्वाचन, देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का नरेशों द्वारा नामांकन, उच्च सदन समाप्त करने की शक्ति ब्रिटिश संसद के हाथों में रखने आदि के प्रस्ताव थे जो श्वेत-पत्र में दी गई योजना से इतर थे। संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद ने एक विधेयक का प्रारूप बनाया जो संसद में पास होने और सम्राट की अनुमति के बाद अगस्त 1935 में कानून बन गया। 1935 का अधिनियम दोष पूर्ण था। कांग्रेस ने इससे सहयोग करने का निश्चय किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत हुए चुनावों में बंगाल और पंजाब के अतिरिक्त अन्य सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने बहुमत प्राप्त किया। सरकार से यह आश्वासन लेकर कि गवर्नर मंत्रियों के वैधानिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, कांग्रेस ने जुलाई 1937 में 12 में से 8 प्रान्तों में अपने मन्त्रिमण्डल बनाये, लेकिन पं. जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस इन मन्त्रिमण्डलों में शामिल नहीं हुए।

3 सितम्बर, 1939 को द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजी सरकार ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों से बिना अनुमति लिए भारत को युद्ध में शामिल कर लिया, अतः विरोध स्वरूप कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने अक्टूबर, 1939 में त्याग-पत्र दे दिया। मुस्लिम लीग इस घटना से प्रसन्न हुई और उसने इस दिन को 'मुक्ति-दिवस' के रूप में मनाया। मुस्लिम लीग अधिक सक्रिय हो गई। मार्च 1940 में जिन्ना ने 'द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त' को प्रस्तुत करके पाकिस्तान की माँग रखी जो लीग के लाहौर अधिवेशन में सर्वसम्मति से स्वीकार कर ली गई।

अंग्रेजी सरकार ने महसूस किया कि युद्ध काल में कांग्रेस का सहयोग जरूरी है अतः 3 अगस्त 1940 को एक घोषणा की गई कि युद्ध समाप्ति के बाद भारत को यथा शीघ्र औपनिवेशिक पद दे दिया जायेगा तथा इसके नवीन संविधान का निर्माण भारतीयों द्वारा कराया जायेगा, लेकिन कांग्रेस ने इस घोषणा को अस्वीकार कर दिया। महात्मा गाँधी ने सांकेतिक विरोध के रूप में नवम्बर, 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया जो पूर्णतः शान्तिमय था। इसका उद्देश्य सरकार के युद्ध कार्यों में बाधा डालना नहीं था। सरकार ने सैकड़ों व्यक्तियों को बन्दी बना लिया। युद्ध पूर्व में फैलने लगा। जून 1941 में जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया और दिसम्बर, 1941 में जापान ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान भारत की सीमा पर आ डटा। इन परिस्थितियों ने अंग्रेजों को चिन्तित कर दिया। ब्रिटिश सरकार भारत का सहयोग पाने की कोशिश करने लगी। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस गायब होकर गुप्त रूप से विदेश

चले गये। उन्होंने जर्मनी और जापान के सहयोग से 'आजाद हिन्द फौज' का संगठन किया और 'दिल्ली चलो' का नारा लगाया। आजाद हिन्द फौज के वीर सैनिकों ने असम की पहाड़ियों और मैदानों में अंग्रेजी सैनिकों से लोहा लिया।

परिस्थितियों से बाध्य होकर ब्रिटिश सरकार ने प्रमुख काँग्रेसी नेताओं को जेल से रिहा कर दिया और अप्रैल 1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स को काँग्रेस से समझौता करने के लिए भारत भेजा। सर स्टेफर्ड क्रिप्स 22 मार्च, 1942 को भारत पहुँचे। उन्होंने जो प्रस्ताव 30 मार्च को प्रकाशित किए, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) भविष्य से सम्बन्धित प्रस्ताव और (2) वर्तमान से सम्बन्धित प्रस्ताव। क्रिप्स प्रस्ताव में भविष्य के सम्बन्ध में निम्न योजनाएँ थीं—(क) नए भारतीय संघ की स्थापना होगी जिसे स्वशासिक उपनिवेश का पद प्राप्त होगा। वह किसी घरेलू या बाहरी सत्ता के अधीन नहीं होगा और यदि वह चाहेगा तो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद कर सकेगा। (ख) युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद भारत में एक संविधान सभा की स्थापना होगी जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। (ग) इस प्रयोजन के लिए प्रान्तीय विधान मण्डलों के निम्न सदनों के सभी सदस्य एक निर्वाचक-मण्डल की स्थापना करेंगे और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान सभा का चुनाव करेंगे। संविधान सभा के कुल सदस्यों की संख्या निर्वाचक-मण्डल के कुल सदस्यों की संख्या का दसवाँ भाग होगा। देशी राज्य अपनी जनसंख्या के अनुपात से अपने प्रतिनिधि नियुक्त करेंगे। (घ) ब्रिटिश सरकार इस संविधान सभा द्वारा तैयार किये गये संविधान को तभी क्रियान्वित करेगी जब निम्नलिखित शर्तें पूरी होती हों—(i) यदि ब्रिटिश भारत के प्रान्त नए संविधान को स्वीकार करना न चाहें, तो उन्हें वर्तमान संवैधानिक स्थिति बनाए रखने का अधिकार होगा। यदि किसी प्रान्त की विधान सभा 60 प्रतिशत बहुमत से संघ में सम्मिलित होने का निश्चय न करे, तो उसके संघ प्रवेश का अन्तिम निर्णय जन-निर्णय के द्वारा हो सकेगा। नई संवैधानिक व्यवस्था में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तों को सम्राट की सरकार अलग से नया संविधान देगी। (ii) ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण से सम्बन्धित मामलों के लिए ब्रिटिश सरकार और भारतीय संविधान सभा के बीच एक सन्धि की जायेगी। इस सन्धि में उन विषयों का समावेश होगा जो ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों के हाथों में सत्ता सौंपने से उत्पन्न होंगे। सम्राट की सरकार ने जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा के लिए जो वचन दिये हैं, सन्धि में उनकी पूर्ति के लिए व्यवस्था की जायेगी, लेकिन भारत संघ ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्य राज्यों के साथ जो सम्बन्ध रखना चाहेगा, रख सकेगा। सन्धि में भारत संघ की शक्ति पर प्रतिबन्ध नहीं होगा। क्रिप्स प्रस्ताव को भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने अस्वीकार किया। गाँधीजी ने कहा कि क्रिप्स योजना ऐसे जो कि फेल होने जा रहे बैंक के पोस्ट डेटेड अथवा आगे की तारीख पड़े चैक के समान थी। नेहरू जी के अनुसार उनके पुराने मित्र क्रिप्स 'शैतान के वकील' बनकर आये थे और उनकी योजना के क्रियान्वयन का परिणाम देश के अनगिनत विभाजनों की सम्भावना के दरवाजे खोल देना था। क्रिप्स योजना को मुस्लिम लीग ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इसमें साम्प्रदायिक आधार पर देश विभाजन की माँग नहीं मानी गयी थी। क्रिप्स प्रस्ताव भारतीय नेताओं—काँग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों को अस्वीकार्य थे, अतः उनमें परिकल्पित संविधान सभा की स्थापना नहीं हुई। दोनों दलों ने इस प्रस्तावों को भिन्न आधारों पर अस्वीकार किया था।

भारत छोड़ो आन्दोलन या अगस्त क्रान्ति, 1942

11 अप्रैल, 1942 को क्रिप्स प्रस्ताव वापस ले लिये गये और क्रिप्स एकाएक भारत छोड़ गए। यह स्पष्ट हो गया कि क्रिप्स मिशन का तमाशा मित्र देशों की, जो भारत की माँग के प्रति सहानुभूति रखते थे तथा भारतीयों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयास था। परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासकों और भारतीय नेताओं के बीच खाई और चौड़ी हो गयी और सरकार के विरुद्ध असंतोष की लहर जोर पकड़ गयी।

महायुद्ध छिड़ने के बाद सुभाषचन्द्र बोस ने युद्ध प्रयत्नों का विरोध करना शुरू कर दिया था। उन्हें जेल में डाल दिया गया था और बाद में अस्वस्थता के कारण जेल से निकालकर नजरबन्द कर दिया गया था। जनवरी 1941 में वे पुलिस और सरकार को चकमा देकर देश से बाहर निकल गये। यह एक रोमांचकारी वीर गाथा है। मार्च 1942 में बर्लिन रेडियो से देश के नाम सुभाष बोस ने अपना पहला संदेश दिया। वे युद्ध की स्थिति से लाभ उठाकर देश की स्वाधीनता को निकट लाने के पक्ष में थे। अप्रैल 1942 के बाद महात्मा गाँधी के विचारों में उग्रता आने लगी थी। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का तुरन्त समाप्त होना आवश्यक है।' 'भारत छोड़ो' विचार उनके मन में जमने लगा और उन्होंने 'हरिजन' में एक लेखमाला लिखकर उसे विकसित किया। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भिक दिनों में गाँधीजी का विचार था कि ब्रिटिश सरकार को उसकी मुसीबत के समय और तंग न किया जाए तथा मित्र देशों के युद्ध प्रयासों में नैतिक सहयोग दिया जाए। उस समय काँग्रेस के बहुमतीय उग्र पक्ष ने गाँधीजी की राय नहीं मानी। जवाहरलाल नेहरू मानते थे कि नाजी और तानाशाही शक्तियों को परास्त किया जाना चाहिए और ऐसा कुछ नहीं किया जाना चाहिए जिससे मित्र देशों की शक्ति क्षीण हो और विश्व में लोकतन्त्र विरोधी शक्तियों को बल मिले। गाँधीजी का ब्रिटिश सरकार के वायदों से तथा देश की जापानी आक्रमण से रक्षा करने की क्षमता और तत्परता से विश्वास उठ गया था। वे चाहते थे कि अंग्रेज शासकों को तुरन्त भारत से चले जाने के लिए मजबूर किया जाना चाहिए ताकि भारत

अपनी समस्या स्वयं सुलझा सके। अन्त में गाँधीजी की विचारधारा की विजय हुई। भारत की सुरक्षा के लिये भारत भूमि पर अमेरिकी सैनिकों को लाये जाने की ब्रिटिश सरकार की कार्यवाही से गाँधीजी को कष्ट हुआ था।

मई 1942 में 'हरिजन' में गाँधीजी ने ब्रिटिश जनता से अपील की थी और कहा था कि मैं ब्रिटेन के हर नागरिक से अनुरोध करता हूँ कि वह मेरी अपील में मेरा साथ दे कि अंग्रेजों को एशिया और अफ्रीका में हर एक जगह से कम से कम भारत से [illegible] घड़ी हट जाना चाहिए। यह कदम नाजीवाद और तानाशाही के नाश के लिए तथा संसार की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। इसमें जापान शामिल है। मई-जून 1942 तक ऐसा लगने लगा कि अंग्रेज हार जायेंगे। गाँधी जी का विचार था कि "अगर जापानी फौज भारत में घुसी तो वह अंग्रेजों के दुश्मन की तरह आयेगी, भारत की दुश्मन होकर नहीं" अतः इस बात पर बराबर जोर देते रहे कि "अंग्रेज भारत छोड़कर चले जायें तो भारत पर हमला करने का कोई कारण नहीं रह जायेगा।"

कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक, जुलाई, 1942

जुलाई, 1942 में कांग्रेस कार्यकारिणी का अधिवेशन हुआ जो 6 से 14 जुलाई तक चलता रहा। उस समय संसार की सुरक्षा और नाजीवाद, फासिस्टवाद, सैनिकवाद तथा साम्राज्यवाद के अन्त के लिए भारत में तत्काल ब्रिटिश शासन की समाप्ति नितान्त आवश्यक समझी जा रही थी। सितम्बर 1939 से अक्टूबर 1940 तक कांग्रेस ने ब्रिटेन को परेशानी में डालने की नीति अख्तियार की और अक्टूबर 1940 से 1941 तक उसने व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन के जरिये अपना विरोध प्रकट करते हुए संयम से काम लिया, लेकिन ब्रिटेन पर इसका असर नहीं हुआ। ब्रिटिश सरकार के भारत से हट जाने की जो माँग की जा रही थी उसके पीछे सद्भावना थी। फलस्वरूप देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना में मदद मिलेगी।

कांग्रेस महासमिति द्वारा पास किया गया भारत छोड़ो प्रस्ताव (8 अगस्त, 1942)

14 जुलाई, 1942 को कांग्रेस कार्य समिति द्वारा पास किए गए प्रस्ताव के बाद जो घटनाएँ हुईं उनके परिणामस्वरूप अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के पास मुम्बई अधिवेशन में कार्य समिति के प्रस्ताव को पास करने के अलावा कोई चारा नहीं रहा। अन्ततः 8 अगस्त, 1942 को कांग्रेस महासमिति ने प्रस्ताव पास कर दिया गया, जिसकी निम्नांकित शर्तें थीं—

1. भारत में ब्रिटिश शासन का तत्काल अन्त और स्वतन्त्रता की स्वीकृति।
2. स्वातन्त्र्य विचारों से ही भारत में ब्रिटिश विरोधी भावना सद्भावना में बदल सकती है।
3. भारत की आजादी केवल भारत के लिए नहीं, बल्कि संयुक्त राष्ट्रों की सफलता और स्वतन्त्र भारत साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है।
4. साम्प्रदायिक समस्या के मूल में ब्रिटिश सरकार की विभाजन नीति जिम्मेदार है।
5. आजादी की घोषणा पर एक अस्थाई सरकार की घोषणा की जायेगी और जिसके माध्यम से भारत अन्य राष्ट्रों का साथी बन जायेगा।
6. अस्थाई सरकार का गठन देश के प्रमुख दलों, समूहों के सहयोग से किया जायेगा।
7. एक संवैधानिक सभा की स्थापना की जायेगी जो सर्वस्वीकृत संविधान का निर्माण करेगी जो संघात्मक होगा। इसमें इकाइयों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान की जायेगी।
8. भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति की माँग करके कांग्रेस ब्रिटेन तथा मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयासों में बाधा नहीं डालना चाहती थी और न ही आक्रमण को बढ़ावा देना चाहती थी।
9. यदि ब्रिटिश सरकार भारत की स्वतन्त्रता की माँग को स्वीकार नहीं करती, तो कांग्रेस इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए विशाल पैमाने पर अहिंसात्मक आन्दोलन करती। 'भारत छोड़ो' शब्दों का प्रयोग कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव में नहीं था, इसे एक अमेरिकन पत्रकार ने उच्चारित किया था।

भारत छोड़ो आन्दोलन का सूत्रपात, वेग और दमन

भारत छोड़ो आन्दोलन महासमिति के 8 अगस्त के प्रस्ताव के बाद ही शुरू हो गया। पूर्व नियोजित ढंग से नौ अगस्त को प्रातः कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों और मुम्बई के 40 प्रमुख नागरिकों को गिरफ्तार करके उन्हें विक्टोरिया टर्मिनल स्टेशन पहुँचा दिया। यह कार्य अप्रत्याशित एवं तीव्र ढंग से किया गया। प्यारेलाल और कस्तूरबा गाँधी को भी गाँधीजी के नजरबन्द कैम्प में भेज दिया गया। नेताओं को अफ्रीका ले जाने की योजना को रद्द कर, उन्हें अहमदनगर के किले में रखा गया। कांग्रेस को गैर कानूनी संगठन घोषित कर उसकी सभा, कार्यालय, जुलूसों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 'करो या मरो' का नारा देश भर में गूँज उठा। पुराने नेताओं की अनुपस्थिति में आन्दोलन का नेतृत्व युवकों ने सम्भाला। आन्दोलन को अहिंसक न रहने दिया। संचार साधन, बिजली के तार, सरकारी इमारतें जला दी गईं। बंगाल, बिहार, यू.पी., चेन्नई, मुम्बई प्रान्तों ने मनोयोग से भाग लिया। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने नृशंसता से दमन चक्र चलाया। सरकार ने गोलीबारी और बमबारी की। सरकारी तथ्यों के अनुसार 538 बार गोलियाँ चलाई गईं।

हजारों आदमी गोलियों के शिकार हो गए। दस हजार लोगों को जेलों में ठूंस गया। देश भर में आतंक का शासन फैलाकर सरकार ने तीन महीने के भीतर आन्दोलन को दबा दिया, पर भूमिगत आन्दोलन चलता रहा। जयप्रकाश नारायण, अरुणा आसफ अली तथा राममनोहर लोहिया जैसे नेताओं ने समाजवादी दृष्टिकोण द्वारा व्यापक रूप से मार्गदर्शन किया।

भारतीय राष्ट्रीय सेना

(Indian National Army)

सुभाषचन्द्र बोस का विचार था कि द्वितीय विश्व युद्ध भारत के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है, यदि ब्रिटेन के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध लड़ा जाए। अपनी गिरफ्तारी की स्थिति में सुभाषचन्द्र बोस 26 जनवरी, 1941 को मुंगे पठान का वेश धारण करके पुलिस की कड़ी सुरक्षा से बचकर निकल भागे। 28 मार्च, 1941 को वह बर्लिन पहुँचे। जर्मनी में भारतीयों ने उन्हें 'नेताजी' कहा तथा 'जय हिन्द' के साथ अभिवादन किया।

1915 से रास बिहारी बोस जापान में थे। उन्होंने 28 से 30 मार्च, 1942 को टोकियो में एक सम्मेलन बुलाया जिसमें राजा महेन्द्र प्रताप ने भाग लिया। 16-22 जून, 1942 को बैंकाक में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें कैप्टेन मोहनसिंह के नेतृत्व में भारत के युद्धबंदियों की ओर से 60 प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिसमें रास बिहारी बोस को निर्विरोध अध्यक्ष चुन लिया गया। इस सम्मेलन में 35 प्रस्ताव पारित किए गए जिनमें से एक 'इंडियन इंडिपेंस लीग' द्वारा 'इंडियन नेशनल आर्मी' का गठन करने से सम्बन्धित था। 'इंडियन नेशनल आर्मी' का गठन भारतीयों में से करना था। 'इंडियन नेशनल आर्मी' का विचार मलाया में कैप्टेन मोहनसिंह ने दिया था। इंडियन नेशनल आर्मी का गठन 1 सितम्बर, 1942 को 17,000 सदस्यों के साथ हुआ। दिसम्बर, 1942 में मोहनसिंह तथा जापानियों में आइ. एन. ए. के संगठन तथा कार्य को लेकर मतभेद पैदा हो गए। रास बिहारी बोस के नेतृत्व में आन्दोलन चलता रहा। 5 जुलाई, 1943 को सुभाषचन्द्र बोस को इंडियन इंडिपेंस लीग का अध्यक्ष तथा 25 अगस्त, 1943 को आई. एन. ए. का सर्वोच्च सेनापति बना दिया गया। सुभाषचन्द्र बोस ने आई एन ए के दो मुख्यालय एक रंगून तथा दूसरा सिंगापुर में स्थापित किए।

21 अक्टूबर, 1943 को सुभाषचन्द्र बोस ने मुक्त भारत की प्रोवीजनल सरकार का गठन किया। जापानियों ने अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह ब्रिटेन से जीत कर इस सरकार को दे दिए। 30 दिसम्बर, 1943 को सुभाषचन्द्र बोस ने यहाँ आजाद भारत का राष्ट्रीय ध्वज फहराया। अण्डमान का नाम 'शहीद' तथा निकोबार का नाम 'स्वराज्य' रखा गया। 4 फरवरी, 1944 को इंडियन नेशनल आर्मी ने भारत के पहाड़ी क्षेत्र से आक्रमण किया तथा कोहिमा पर कब्जा कर लिया। 4 जुलाई, 1944 को सुभाषचन्द्र बोस ने नारा दिया 'तुम मुझे खून दो मैं तुम्हें आजादी दूँगा'। आई. एन. ए. की एक टुकड़ी शाह नवाज खाँ के नेतृत्व में जापानियों के साथ इम्फाल में लड़ी। जापानियों की असहयोग एवं भेदभाव पूर्ण नीति के कारण यह अभियान सफल नहीं हो सका। सुभाषचन्द्र बोस की वायुयान दुर्घटना में 18 अगस्त, 1947 को मृत्यु होने की घोषणा कर दी गई। आई एन ए ने ब्रिटिश सेना के सामने आत्म समर्पण कर दिया। आई. एन. ए. के नारे 'जयहिंद', 'नेताजी जिन्दाबाद' व 'चलो दिल्ली' थे। काँग्रेस के तीव्र विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने आई. एन. ए. के मुख्य गिरफ्तार अधिकारियों—मेजर सहगल, मेजर जनरल शाहनवाज खाँ और कर्नल ढिल्लो पर खुले आम दिल्ली के लाल किले में मुकदमा चलाया। नवम्बर, 1945 में मुकदमा शुरू हुआ। भूला भाई देसाई ने इनकी ओर से वकालत की, लेकिन इनको सरकार ने मृत्यु दण्ड दिया। जनमत के तीव्र विरोध के कारण सरकार को इस दण्ड को स्थगित करना पड़ा।

भारतीय नौसैनिक विद्रोह

(Indian Naval Upring)

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की गतिविधियाँ यद्यपि भारत से बाहर चल रही थी, किन्तु उनका सीधा प्रभाव भारत पर पड़ रहा था। उनकी सैन्य गतिविधियों से प्रभावित होकर 1946 में अंग्रेज अधिकारियों एवं भारतीय अधिकारियों के समान वेतन के प्रश्न को उठाकर मुम्बई स्थित भारत की वायु सेना की टुकड़ी ने विद्रोह कर दिया। इससे प्रेरित होकर अगले महीने में नौ सेना ने भी नौ सेना के 'तलवार' नामक जहाज पर विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों ने कई अंग्रेज अफसरों को मौत के घाट उतार दिया और भारतीय नौ सैनिक हड़ताल पर चले गए। मुम्बई की हड़ताल का प्रभाव अन्य बन्दरगाहों पर पड़ा और चेन्नई एवं कराची स्थित नौ सेना के जहाजों पर भारतीय सैनिकों ने ब्रिटिश सरकार के झण्डे हटाकर भारतीय राजनीतिक दलों के झण्डे फहरा दिए। सैनिक इन्कलाब जिन्दाबाद, ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुर्दाबाद, हिन्दू-मुस्लिम एक हों, आदि के नारे लगाने लगे। जनता ने विद्रोहियों को समर्थन देना शुरू किया। ऐसी स्थिति में अंग्रेज सरकार ने विद्रोहियों को कुचलने के लिए सेना भेजी। भारतीय सैनिकों ने शस्त्र उठाने से मना कर दिया। इस पर अंग्रेज सैनिक भेजे गए। वे विद्रोह पर उतारू सेना पर गोलियाँ बरसाने लगे। इस पर जनता में तीव्र रोष फैला। 20 लाख से भी अधिक मेहनती मजदूरों ने हड़ताल की। अंग्रेज पुलिस और सैनिक गोलियाँ बरसा कर मजदूरों एवं जनता का दमन करने लगे। सरदार

13

राष्ट्रवादी आन्दोलन के सामाजिक-आर्थिक आयाम

(Socio-Economic Dimensions of the Nationalist Movement)

साम्प्रदायिक समस्या तथा विभाजन की माँग

(Communal Question & Demand for Partition)

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में उदारवाद, उग्रवाद और आतंकवाद का प्रभाव विशेष रूप से प्रथम विश्वयुद्ध तक रहा। गाँधी युग में यह प्रवृत्तियाँ प्रभावी नहीं रहीं, लेकिन साम्प्रदायिकता की लहर राष्ट्रीय आन्दोलन पर छाई रही। इस विष-लहर ने अन्त में देश का विभाजन किया। भारत में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में अंग्रेजों ने कसर नहीं रखी। सर्वप्रथम मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय हुआ और प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन अस्तित्व में आए। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को तावतन रूप में उभरने और अखण्ड भारत के दो टुकड़े करके 1947 में पाकिस्तान का निर्माण करने में मुस्लिम लीग का निर्णायक हाथ रहा जिसकी स्थापना 1906 में हुई थी। अंग्रेजों ने राष्ट्रवादी तत्वों को दबाते हुए मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया फलस्वरूप अगस्त, 1932 में 'साम्प्रदायिक पंचाट' सामने आया। साम्प्रदायिक पंचाट जिसे साम्प्रदायिक परिनिर्णय अथवा मैकडोनाल्ड पंचाट भी कहते हैं, भारतीय राष्ट्रवाद को कमजोर करने की सशक्त चाल थी। पंचाट का राष्ट्रवादियों ने एक स्वर से विरोध किया, गाँधीजी ने इसके विरोध में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया और फलस्वरूप सितम्बर, 1932 को 'पूना-पैक्ट' सामने आया। मुहम्मद अली जिन्ना भारतीय राष्ट्रवाद पर चोट करते रहे, उन्होंने द्विराष्ट्र सिद्धान्त (Two Nation Theory) का विचार किया और ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दीं कि भारत का विभाजन अनिवार्य हो गया और पाकिस्तान अस्तित्व में आया।

मुस्लिम लीग की स्थापना से पूर्व मुस्लिम साम्प्रदायिकता

(Muslim Communalism before the Emergence of the League)

भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या धार्मिक की अपेक्षा राजनैतिक रही। भारत की राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने के लिए अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज्य करो' का आश्रय लिया। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धार्मिक-सामाजिक मतभेदों का लाभ उठाते हुए अंग्रेजों ने इसका प्रयोग राष्ट्रीयता के प्रभाव को कम करने में किया। प्रारम्भ में अंग्रेजों ने मुस्लिम विरोधी नीति अपनाई, क्योंकि अंग्रेजों की प्रभुता के पूर्व मुसलमान इस देश के भाग्य विधाता थे। 1857 के विद्रोह में अंग्रेजों का विश्वास था कि इस क्रान्ति में प्रमुख हाथ मुसलमानों का था। इससे पूर्व वहाबी आन्दोलन के बारे में भी अंग्रेजों का इसी प्रकार का विचार रहा था। सर जॉन रे के अनुसार विद्रोह के प्रमुख षड्यन्त्रकारी मुसलमान थे और एच. सी. बाउन की दृष्टि में ये मुसलमान निश्चित रूप से बागी थे।[1]

1871 तक ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों के साथ विरोध और हिन्दुओं के साथ पक्षपात की नीति पर आचरण किया। शासन, वाणिज्य और उद्योगों में मुसलमानों का भाग था तो बहुत कम था अथवा बिल्कुल नहीं था, लेकिन इसके बाद ब्रिटिश नीति में निश्चित परिवर्तन आया। हिन्दुओं ने अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति से लाभ उठाया और उनके हृदय में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विचार घर करने लगे, अतः अंग्रेजों ने मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति अपनाई, क्योंकि उन्हें डर लगा कि कहीं मुसलमानों पर राष्ट्रीयता का रंग न चढ़ जाए। हिन्दू-मुस्लिम गठबन्धन ब्रिटिश हितों के लिए घातक हो सकता था। इस में सर्वाधिक सहयोग सर सैयद अहमद खाँ से मिला। अंग्रेज यह भाँप गए कि मुसलमानों की ओर से ब्रिटिश साम्राज्य को कोई खतरा नहीं रह गया है। इस अनुभूति का परिणाम था कि अंग्रेजों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित कर

---

1. *Mehta & Patwardhan* The Communal Triangle, p. 69

हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट डालना आ म्भ कर दिया। उन्होंने मुसलमानों की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाना शुरू किया और दूसरे पक्ष की ओर से इसका सकारात्मक उत्तर मिला। सर सैयद के विशेष प्रयत्नों से मुसलमानों ने ब्रिटिश राज्य के प्रति वफादारी दिखलानी शुरू की। मुस्लिम राजनीति में सर सैयद ने पदार्पण करके 'दो राष्ट्र सिद्धान्त' (Two Nation Theory) का प्रतिपादन किया। 1885 में काँग्रेस की स्थापना के बाद अंग्रेजों ने भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतिकार के रूप में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का सुविचारित ढंग से पोषण स्वरूप संगठन आरम्भ कर दिया।

अंग्रेजों की प्रेरणा से 1873 में मुस्लिम एंग्लो-ओरिएण्टल रक्षा परिषद की स्थापना हुई जिसका मूल उद्देश्य मुसलमानों को ब्रिटिश राज्य की स्वामिभक्त प्रजा बनाना था। इसके कुछ समय बाद ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से काँग्रेस के विरुद्ध एंग्लो-मुस्लिम डिफैंस एसोसिएशन की स्थापना की गई। 1905 में बंगाल का विभाजन किया गया। बंगाल विभाजन की योजना के मूल में हिन्दू और मुसलमानों के बीच विभाजन की खाई खोद कर राष्ट्रीयता की उमड़ती हुई धारा को अवरुद्ध करने की नीति सक्रिय रही थी।[1] 1906 के अन्त में वायसराय के निजी सचिव डनलप स्मिथ तथा थियोडोर बेक के उत्तराधिकारी आर्चबाल्ड की प्रेरणा से मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल आगा खाँ के नेतृत्व में वायसराय लॉर्ड मिण्टो से मिला और उसने मुसलमानों के लिए विशेष रियायतों तथा साम्प्रदायिक चुनावों की माँग की। वायसराय ने सहानुभूति दिखाई और सिद्धान्त रूप में शिष्टमण्डल की माँगों के साथ सहमति प्रकट की। मौलाना मुहम्मद अली के शब्दों में यह 'सिखाया-पढ़ाया तमाशा' था। मिण्टो ने मुसलमानों को साम्प्रदायिकता की दिशा में प्रोत्साहित करते हुए कहा—"तुम्हारी यह माँग ठीक है कि मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाए जाएँ, क्योंकि अल्प संख्या में होने के कारण तुम्हारी जाति के उम्मीदवारों को बहुमत वाली हिन्दू जाति के सामने जीतने की कोई आशा नहीं है। तुम यह ठीक कहते हो कि तुम्हारी जाति का महत्व संख्या के आधार पर न लगाया जाए, बल्कि राजनीतिक राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्य की सेवाओं के आधार पर लगाया जाए।" दिसम्बर 1906 में मुस्लिम हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। "मुस्लिम सामंती तत्वों द्वारा संचालित यह एक उच्चवर्गीय संस्था थी, किन्तु इसे अंग्रेजों ने प्रोत्साहन दिया, क्योंकि वे चाहते थे कि मुसलमानों की नई पीढ़ी को काँग्रेस से अलग रखा जाए ताकि मुस्लिम हितों के नाम पर काँग्रेस की शक्ति पर अंकुश रखा जा सके जिससे ब्रिटिश हितों पर आँच न आए।"

मुस्लिम साम्प्रदायिकता के जन्म के कारण
(Factors Responsible for Encouraging Muslim Communalism)

1. मुसलमानों की अधोगति और उनमें असन्तोष की भावना—भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना से मुसलमानों की स्थिति पर गहरा कुठाराघात हुआ। देश से उनकी राजनीतिक प्रभुता समाप्त हो गई। राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी उनकी स्थिति दयनीय होती गई। सरकारी नौकरियों और दस्तकारी के पतन ने उनकी आर्थिक हालत को बिगाड़ दिया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रति मुसलमानों में प्रारम्भ में अरुचि रही, अतः सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने के क्षेत्र में वे हिन्दुओं से पिछड़े रहे। दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के विकास से मुस्लिम सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति को आघात पहुँचने लगा। राजनीतिक चेतना उनमें से जाती रही।

2. बहावी आन्दोलन—मुसलमानों के इस आन्दोलन में उनके असन्तोष की अभिव्यक्ति पाई जाती है। हिन्दू समाज में ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि के रूप में जो धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आंदोलन शुरू हुए उनसे हिन्दुओं में राजनीतिक और सामाजिक चेतना का पुनर्जागरण हुआ। हिन्दुओं के नव-जागरण का प्रभाव मुसलमानों पर पड़ा उनमें बहावी आन्दोलन शुरू हुआ, जिसका उद्देश्य इस्लाम की कमजोरियों को देखकर उसमें नई स्फूर्ति और जागृति पैदा करना था। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अरब पुनरुत्थानवादियों ने बहावी आन्दोलन आरम्भ किया जिससे प्रभावित होकर सैयद अहमद बरेल्वी ने इस्लाम धर्म को मौलिक पवित्रता प्रदान करने के लिए इस आन्दोलन का भारत में सूत्रपात किया। बहावीवाद ने सिक्खों तथा अंग्रेजों के विरुद्ध 'जिहाद' का रूप लिया। ब्रिटिश सरकार ने इस आन्दोलन को कुचल दिया तथापि इसने मुसलमानों में जिस कट्टर धार्मिक और साम्प्रदायिक चेतना को जगाया वह नहीं दब सकी।

3. अलीगढ़ आन्दोलन तथा अहमदिया आन्दोलन—इन मुस्लिम सुधार आन्दोलनों ने मुस्लिम धार्मिक कट्टरता और साम्प्रदायिकता को उभारा। सर सैयद के अलीगढ़ आन्दोलन ने इसमें विशेष योगदान किया। सर सैयद अहमद खाँ ने अलीगढ़ में एक कॉलेज की स्थापना करके मुस्लिम विश्वविद्यालय की नींव डाली। सैयद अहमद खाँ की उदार विचारधारा 1885 से पीछे हटने लगी और उनमें यह विश्वास पनपता गया कि "भारत के लिए स्वराज्य [illegible] कल्पना अव्यावहारिक और हानिकारक है मुसलमानों की सुरक्षा और दृढ़ता (अलीगढ़ आन्दोलन के बुनियादी विचार) अंग्रेजों से मेल से ही होगी।" भारत में मुसलमानों के प्रति अंग्रेजों का रुख बदल चुका था और उनकी नीति मुस्लिम समाज को

1 डॉ. सुभाष कश्यप : वही, पृ. 62

अपनी ओर मिलाने की थी। डब्ल्यू एस ब्लण्ट ने मुसलमानों में अपना 'हक' माँगने की अपील की और कहा—"यदि मुसलमान केवल अपनी शक्ति पहचान लें तो उनकी अवहेलना नहीं होगी तथा सरकार उनसे बुरा व्यवहार नहीं करेगी। इंग्लैण्ड से हमें बराबर भारत में मुस्लिम विद्रोह का भय बना रहता है और यदि मुसलमान एक शब्द कह देता है तो उस पर 20 हिन्दुओं से ज्यादा ध्यान दिया जाता है, अतः यदि मुसलमान चुपचाप बैठे रहे तो स्वाभाविक है कि ब्रिटिश जनता को उन पर ध्यान देने की कोई जरूरत नहीं होगी।"[1] अहमदिया आन्दोलन मिर्जा गुलाम अहमद कादियानी के नेतृत्व में शुरू हुआ। इस आन्दोलन ने सभी धर्मों में सुधार का लक्ष्य बनाया। 1885 में अन्जुमन-ए-हिमायत-इस्लाम की स्थापना की जिसने मुसलमानों की सामाजिक नैतिकता में वृद्धि करने की और बौद्धिक उन्नति करने की चेष्टा की। फलस्वरूप भारतीय मुसलमानों में राजनीतिक जागृति फैली, उनकी शिक्षा में सुधार हुआ और उनके दृष्टिकोण में व्यापकता आई लेकिन इन मुसलमानों ने साम्प्रदायिकता की भावना को आगे बढ़ाया, कम नहीं किया।

4 हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव—19वीं शताब्दी के हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों से मुसलमानों में संगठित होने की भावना को प्रश्रय मिला। हिन्दू नव-जागरण की प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों में धार्मिक जागृति की भावना को बल मिला। तिलक के शिवाजी समारोह और गणपति महोत्सवों को कट्टरतावादी मुसलमानों ने विपरीत अर्थों में लिया और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को कट्टर हिन्दू धार्मिकता के साथ सम्बन्ध कर दिया। हिन्दू धर्म-सुधार आन्दोलनों उत्सवों और कार्यक्रमों से मुसलमानों में शंका के भावों को सबल मिला और साम्प्रदायिकता में उभार आया। पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप जिस धार्मिक उदासीनता का विस्तार हुआ था उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों और अनुष्ठानों के प्रचार के लिए बहुत सक्रियता दिखाई पड़ी। यह आन्दोलन उच्चतर वर्गों तक सीमित नहीं था। यह बहुत-सी ऐसी जातियों पर असर डाल रहा था जो अब तक छोटी समझी जाती थीं। इन छोटी जातियों ने हिन्दू समाज के ऊपर उठने की कोशिश की तथा वे हिन्दू धर्म के अनुष्ठानों में और कट्टर होते गए। हिन्दू पुनरुज्जीवनवाद ने उनमें प्राचीन परम्पराओं के लिए सम्मान की भावना उत्पन्न कर दी।

दोनों सम्प्रदायों में समानान्तर आन्दोलन चले, जिनके उद्देश्य और उपाय एक-से थे। इस सम्बन्ध में उनमें कोई सहयोग नहीं हुआ कि उनके अन्दर की उदारता तथा सहिष्णुता को बल पहुँचाया जाए। वे एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। वे आन्दोलन प्रतिवाद पर जोर देते थे और आक्रामक थे। दोनों आन्दोलनों में यह भावना थी कि हम सही हैं और दूसरे से श्रेष्ठता की ओर "मैं तुमसे अधिक पवित्र हूँ"। ये दोनों सम्प्रदाय संकीर्ण स्वार्थ का रुख ग्रहण कर रहे थे। यह सरकार के भेदभाव और पक्षपात से और बढ़ गया। धार्मिक पुनरुज्जीवनवाद के कारण साम्प्रदायिक भावनाएँ बढ़ीं, क्योंकि देश की आर्थिक स्थिति में बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिए गुंजाइश नहीं थी।

इस स्थिति में दूरदृष्टि और संयम की आवश्यकता थी। दोनों सम्प्रदायों के स्थायी स्वार्थ एक थे और तात्कालिक प्रभाव उनकी सामान्य पराधीनता से उत्पन्न हुए थे। हर वर्ग अपनी उन्नति करने के लिए ऐसी नीतियों का अनुकरण करता रहा, जिससे उनके बीच की खाई और चौड़ी हो गई। परस्पर दोषारोपण के कारण वे तीसरे पक्ष के हाथ में पड़ गए जिसने इन घटनाओं का दोहरा लाभ उठाया। भारत पर अंग्रेजों की पकड़ और मजबूत हो गई।

विभिन्न कारणों से 1885 से पहले साम्प्रदायिक सन्देह और अनैक्य पैदा हो गया। इस समय मुसलमानों में उग्र पृथकतावादी थे, जो यह कहते थे कि हिन्दुओं से बिलकुल अलग हो जाए और अंग्रेज शासकों के साथ दोस्ती की जाए। इनमें सैयद अमीर अली प्रमुख थे, जिन्होंने 1877 में नेशनल मोहम्मडन एसोसिएशन की स्थापना इस उद्देश्य से की कि मुसलमान नौजवानों को राजनीतिक प्रशिक्षण दिया जाए। इंग्लैण्ड में पढ़ते समय वह इस विषय में दिलचस्पी रखते थे। उन्होंने तब यह कहा था कि यदि भारतीय मुसलमानों का राजनीतिक प्रशिक्षण हिन्दुओं के साथ समानान्तर रेखा में नहीं चलेगा, तो वे निश्चित रूप से नई राष्ट्रीयता के उठते हुए ज्वार में डूब जाएँगे। सैयद अहमद खाँ ने उस समय सैयद अमीर अली के इस कार्य का समर्थन करने से इनकार किया था। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का आरम्भ हुआ, तो सैयद अमीर खाँ के सन्देह और भय सतह पर आ गए।

5. ब्रिटिश नीति में परिवर्तन—सर सैयद अहमद और बेक की भूमिका—ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक चरणों में अंग्रेजों ने मुस्लिम विरोधी नीति अपनाई। उनका विचार था कि मुसलमान अंग्रेजी राज के शत्रु थे और हिन्दू मित्र, लेकिन हिन्दू राष्ट्रवाद के उदय के साथ विदेशी शासकों की नीति में परिवर्तन आया। मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ और प्रिंसिपल बेक ने अंग्रेजों और मुसलमानों के मेल की दिशा में प्रयास किया। सैयद अहमद को विश्वास हो गया कि जब तक अंग्रेजों से मुसलमानों का गठबन्धन नहीं होगा तब तक मुसलमानों की दशा में सुधार नहीं हो सकता, अतः उन्होंने प्रयत्न किया कि मुसलमानों से राजद्रोह के कलंक को मिटा दिया जाए। 1857 के विद्रोह से अंग्रेज नाराज थे। विद्रोह

1 डॉ. ताराचन्द : भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, दूसरा खण्ड, पृ. 323

की विफलता हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों के लिए विपत्तिजनक थी। सर सैयद ने 'भारत के वफादार मुसलमान' (Loyal Mohammadans of India) नामक पत्र का प्रकाशन कर अपने विचारों का प्रचार किया। 'पायोनियर (Pioneer) नामक समाचार पत्र में उन्होंने ऐसे लेख प्रकाशित किए जिनसे अंग्रेजों और मुसलमानों के बीच सद्भावना उत्पन्न हुई। सर सैयद के विचारों और कार्यों के फलस्वरूप मुसलमानों की राजभक्ति पर सन्देह के बादल दूर हो गए। 1885 में काँग्रेस की स्थापना के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद को यह एक खतरा महसूस होने लगा। प्रति-तौलन (Counter Poise) के सिद्धान्त पर आचरण करते हुए, उत्साही पदाधिकारियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतिभार (Counter Weight) के रूप में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। 'फूट डालो और राज्य करो' के इस खेल में सफलता प्राप्त करने के लिए, सर सैयद अहमद खाँ के सहयोग को प्राप्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। अग्रवाल के अनुसार, सर सैयद को विश्वास दिला दिया कि अंग्रेजों और मुसलमानों का गठबन्धन मुसलमानों की दशा को उन्नत करने में सहायक होगा और उनका राष्ट्रवादियों से मिलना उन्हें खेद, श्रम और अश्रु में डुबा देगा। सर सैयद ने अपने मुसलमान साथियों को चेतावनी दी कि काँग्रेस ने भारतवर्ष में ब्रिटिश पद्धति के प्रतिनिध्यात्मक शासन की माँग की है इसमें मुसलमानों को सहयोग नहीं देना चाहिए। भारतवर्ष में प्रतिनिध्यात्मक शासन का अभिप्राय है बहुमत का शासन जिसका अभिप्राय है हिन्दुओं का शासन। सर सैयद अहमद खाँ का तर्क था कि चूँकि हिन्दुओं का देश के अधिकतर भाग में बहुमत है अतः वे ही सदैव सत्तारूढ़ रहेंगे और मुसलमानों को उनकी अधीनता सहनी पड़ेगी।

साम्प्रदायिक वातावरण के निर्माण में प्रिंसिपल बेक की विशेष भूमिका रही। यह अलीगढ़ कॉलेज का यूरोपीय प्रिंसिपल था। सर सैयद के साम्प्रदायिक विचारों के पीछे थियोडोर बेक ने प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य किया। "बेक ने विशेष रूप से प्रयास किया कि सर सैयद राष्ट्रवाद से अलग रहें और अंग्रेजों तथा मुसलमानों में निकटतम सम्पर्क स्थापित हो।"[1] डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है।[2] बेक ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उकसाने और भारत की दो महान् जातियों में फूट डालने, फूट पैदा करने के लिए यहाँ तक कह दिया कि मुसलमान हिन्दुओं के बहुमत के अधीन हो जाएँ—इस स्थिति में मुसलमान कभी चुपचाप स्वीकार नहीं करेंगे। प्रिंसिपल बेक के प्रभाव से सर सैयद का प्रतिक्रियावादी-सम्प्रदायवादी स्वरूप अधिक उभर आया। बेक के प्रभाव से वे राष्ट्रीय आन्दोलन से विमुख हो गए और काँग्रेस से असहयोग करते हुए, उन्होंने काँग्रेस के निर्णय में एक प्रतिक्रियावादी संगठन की स्थापना की। उनके प्रभाव के अन्तर्गत 'सेण्ट्रल नेशनल मोहम्मडन एसोसिएशन' तथा 'मोहम्मडन लिटरेरी सोसाइटी' ने काँग्रेस से असहयोग किया। 1886 में सर सैयद ने 'मोहम्मडन एजूकेशन काँग्रेस' की स्थापना की जिसका उद्देश्य शिक्षित मुसलमानों को राष्ट्रीय काँग्रेस में शामिल होने से रोकना था। 1883 में उन्होंने 'मोहम्मडन डिफेंस एसोसिएशन ऑफ अपर इण्डिया (Mohammadan Defence Association of Upper India) की स्थापना की जिसके सचिव वे और बेक थे। इस संगठन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे—(i) अंग्रेजों और सरकार को मुस्लिम विचारधारा से परिचित कराना तथा मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना। (ii) ऐसे उपायों पर बल देना जिनसे भारत में ब्रिटिश शासन सुदृढ़ बने। (iii) जनता में ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति की भावना का प्रसार करना। (iv) मुसलमानों में राजनीतिक आन्दोलन को फैलने से रोकना।

सर सैयद ने बेक के प्रभाव से विभिन्न राष्ट्र विरोधी कार्य किए जिनमें यथा 'संयुक्त भारतीय देशभक्ति संघ' (United Indian Patriotic Association) की स्थापना। इसका उद्देश्य था—अंग्रेजी राज्य को सुदृढ़ बनाना और भारतीय जनता के हृदय में काँग्रेस द्वारा प्रचारित भावनाओं के प्रति घृणा उत्पन्न कराना ताकि जनता में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष की लहरें शान्त रहें।

■ 'फूट डालो और शासन करो' की नीति—'अंग्रेजों ने फूट डालो और शासन करो' की नीति द्वारा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। इसका उद्देश्य भारतीय राष्ट्रवाद के उमड़ते हुए ज्वार को रोकना था। अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने यह महसूस किया कि हिन्दू और मुसलमानों में 'फूट डाल कर' नवजाग्रत राष्ट्रवाद का मार्ग अवरुद्ध किया जा सकता है और अन्दर से विभाजित भारतीय उपनिवेश पर इच्छानुकूल शासन किया जा सकता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में मुम्बई के गवर्नर एलफिन्स्टन ने कहा—'फूट डालो और शासन करो' पुराना रोमन मन्त्र है और यही हमारा होना चाहिए। अशोक मेहता एवं अच्युत् पटवर्द्धन ने लिखा कि—"अपने विख्यात कौशल से जिसने हाल तक उनकी कूटनीति को विश्व में अधिक शक्तिशाली बना दिया था, ब्रिटिश शासकों ने इस मंत्र को हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच रखकर साम्प्रदायिकता त्रिकोण (Communal Triangle) निर्माण का निश्चय किया जिसका ये आधार थे।"[3]

---

1 *Mehta and Patwardhan* : The Communist Triangle, p 958
2 *Rajendra Prasad* India Divided p 96
3 *Mehta and Patwardhan* Op Cit, p 59

अंग्रेजों ने सबसे पहले मुसलमानों को सेना में उच्च पदों से वंचित करके उनका स्थान हिन्दुओं को दे दिया। सरकारी सेवाओं में यही किया गया। कुछ अन्य क्षेत्रों में मुस्लिम विरोधी और हिन्दू-पक्षी नीति अपनाई गई, लेकिन 19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ब्रिटिश शासकों के रुख में परिवर्तन आने लगा और यह नीति मुस्लिम पक्षी तथा हिन्दू विरोधी हो गई। अब अंग्रेज मुसलमानों से साँठगाँठ बढ़ाने लगे और उन्हें साम्प्रदायिक आधार पर विशेष राजनीतिक अधिकार देने की कहने लगे। विधानसभाओं को पृथक् प्रतिनिधित्व देकर मुस्लिम साम्प्रदायिकता की जड़ मजबूत बनाई गई।

7. पृथक् शिक्षण संस्थाओं की स्थापना—भारत में नवजागरण के फलस्वरूप विभिन्न सम्प्रदाय और जातियाँ अपनी पृथक् शिक्षण संस्थाएँ खोलने लगे। कुछ शिक्षण संस्थाओं की प्रकृति से साम्प्रदायिक भावना को प्रोत्साहन मिला। मुसलमानों ने देवबन्द में दारुल-उलूम खोला, आर्य समाजियों ने गुरुकुल स्थापित किए और सनातनियों ने ऋषि कुलों की नींव डाली। धार्मिक आधार पर अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय और बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय का सूत्रपात हुआ। इन संस्थाओं ने विभिन्न सम्प्रदायों को निकट लाने की अपेक्षा एक-दूसरे से पृथक् करने में सहयोग दिया।

8. बंगाल का विभाजन—लॉर्ड कर्जन की कुटिल नीति ने हिन्दू मुस्लिम भेदभाव को बढ़ाया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को तेजी से उभारने के लिए कर्जन ने बंगाल के विभाजन की योजना बनाई। उसने पूर्वी बंगाल का दौरा किया और मुसलमानों ने यह प्रचार किया कि बंगाल के विभाजन की योजना को मुस्लिम समाज के लाभ के लिए लागू किया गया है। कर्जन को अपनी कूटनीति में सफलता मिली और मुसलमानों को विश्वास हो चला कि ब्रिटिश सरकार का रुख सही है और मुसलमानों तथा हिन्दुओं के हित में कोई मेल नहीं है। डॉ. के. आर. बम्बवाल के अनुसार, 'बंगाल का विभाजन' देशवासियों के विरुद्ध देशवासियों के सन्तुलन (Counter Poise of Natives Against Natives) के कार्यक्रम में एक कदम था। कर्जन ने शासन सम्बन्धी सुविधाओं के आधार पर बंगाल-विभाजन का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की, परन्तु सत्य यह है कि बंगाल-विभाजन के मूल में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विभाजन की खाई खोदने की प्रबल नीति थी।

इन कारणों से मुस्लिम साम्प्रदायिकता के उदय और विकास को बल मिला। गैर सरकारी हस्तियों में सर सैयद अहमद, अमीर अली, प्रिंसिपल बेक आदि की प्रमुख भूमिका रही और सरकारी हस्तियों में लॉर्ड मिण्टो एवं लार्ड कर्जन का योग उल्लेखनीय रहा।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता
(Muslim Communalism)

1906 से 1909 तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता

दिसम्बर, 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना के पूर्व 1 अक्टूबर, 1906 को ब्रिटिश हुकूमत के संकेतानुसार मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल लॉर्ड मिण्टो से मिला जिसके नेता सर आगा खाँ थे। मुस्लिम शिष्टमण्डल ने भारत के वायसराय के समक्ष एक स्मृति-पत्र पेश करके निम्नलिखित माँगें पेश कीं—

1. मुसलमानों के लिए पृथक् चुनाव क्षेत्र की व्यवस्था हो।
2. सुधार के बाद बने हुए विधान-मण्डलों में मुसलमानों को उनकी आबादी से अधिक स्थान दिए जाएँ।
3. सरकारी नौकरियाँ मुसलमानों को अधिक दी जाएँ।
4. सरकारी विश्वविद्यालयों की स्थापना में सरकारी सहायता दी जाए।
5. यदि गवर्नर जनरल की कौंसिल में किसी भारतीय को नियुक्त किया जाए तो मुसलमानों के हितों का ध्यान रखा जाए।

मुस्लिम शिष्टमण्डल ने वायसराय को यह विश्वास दिलाया कि सरकार मुसलमानों के हितों की वृद्धि करके, उनकी राजभक्ति को सुदृढ़ बना सकेगी। लॉर्ड मिण्टो ने मुस्लिम शिष्टमण्डल की साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँगों को सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार भारतीय इतिहास में पहली बार साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को सरकारी स्तर पर स्वीकार कर साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया गया। लॉर्ड मिण्टो ने मुस्लिम शिष्टमण्डल को बलपूर्वक यह आश्वासन दिया कि मुसलमानों के राजनीतिक हितों को अवश्यमेव रक्षा की जायेगी। लॉर्ड मिण्टो काँग्रेस की प्रतिद्वन्द्वी संस्था चाहते थे और उनकी कूटनीति सफल हुई। ब्रिटिश समर्थन से प्रोत्साहित होकर 30 दिसम्बर, 1906 को ढाका में मुस्लिम लीग की नींव रखी गई। यह भारतीय मुसलमानों का प्रथम साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठन था। मुस्लिम लीग की स्थापना के उद्देश्य निम्नांकित रखे गए—

1. भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश राज्य के प्रति भक्ति उत्पन्न करना और ब्रिटिश सरकार की नीति के सम्बन्ध में कोई गलत धारणा हो, तो उसे दूर करना।

2. मुसलमानों की माँगों को ब्रिटिश सरकार के सामने रखना और उनके हितों की रक्षा करना।

3. उपर्युक्त उद्देश्यों के विरुद्ध न जाते हुए मुसलमानों एवं अन्य जातियों में यथासम्भव मेल-मिलाप पैदा करना।

मुस्लिम लीग के उद्देश्यों से भारत के राष्ट्रवादियों को यह विश्वास हो गया कि इसका दृष्टिकोण साम्प्रदायिकता और हठधर्मिता का दृष्टिकोण रहेगा। लीग का उद्देश्य विदेशी हुकूमत के प्रति राजभक्ति में वृद्धि करना और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह को रोकना था। कई मुस्लिम नेताओं ने मुस्लिम लीग की स्थापना का विरोध किया। एक राष्ट्रवादी मुस्लिम नेता ने कहा था—"मेरे सहधर्मियों द्वारा भारत में असमाधेय भाव पैदा करने का प्रयत्न प्रशंसनीय नहीं है - यह पन्डोरा की पेटी सिद्ध होगी और भारत को भयंकर स्थिति का सामना करना पड़ेगा।" 1908 में मुस्लिम लीग ने अमृतसर अधिवेशन में मुसलमानों को आबादी से अधिक स्थान विधान-मण्डलों में दिए जाने की माँग की। यह माँग की गई कि प्रिवी-कौंसिल में यदि एक हिन्दू नियुक्त किया जाए तो मुसलमान भी अवश्य नियुक्त किया जाए तथा सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को प्रतिनिधित्व दिया जाए। 1909 के अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने पुनः इन्हीं माँगों को दोहराया और इंग्लैण्ड ने अपने शिष्ट-मण्डल भेजे। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं ने लीग के साम्प्रदायिक प्रयत्नों का घोर विरोध किया, पर कोई परिणाम नहीं निकला। लॉर्ड मिन्टो के इस आग्रह पर कि भारतीय मुसलमानों को सन्तुष्ट करने के नाम पर पृथक् निर्वाचनों की माँग को मानना जरूरी है, भारत सचिव लॉर्ड मार्ले को अपनी इच्छा और विचारों के विपरीत यह प्रस्ताव मान लेना पड़ा और 1909 के मार्ले-मिण्टो सुधारों में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् चुनावों की व्यवस्था का समावेश कर दिया गया। इसके बाद हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई बढ़ती चली गई और पृथक् चुनाव का परिणाम हुआ कि पृथक् राष्ट्रीयता की विचारधारा और अन्त में देश का विभाजन तथा दो पृथक् राष्ट्रों की स्थापना।

1910 से 1929 तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता

1909 के अधिनियम के उपरान्त लीग की प्रतिक्रियावादी नीति कुछ शिथिल पड़ गई। 12 दिसम्बर, 1911 को बंग-भंग समाप्त कर दिया गया। दूसरी ओर 1912 में टर्की साम्राज्य के यूरोप स्थित बालकान प्रान्तों ने स्वाधीनता के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया और अंग्रेजों ने उनकी सहायता की। टर्की में नवयुवक आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसका उद्देश्य टर्की को एक शक्तिशाली साम्राज्य बनाना था। अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को दबाने में टर्की सम्राट की सहायता की। फलस्वरूप भारतीय मुसलमान अंग्रेजों से खार खा बैठे और डॉ. अंसारी, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद आदि राष्ट्रवादी नेताओं के प्रयत्नों से काँग्रेस और लीग में सहयोग की सम्भावनाएँ प्रबल हो गईं। 1916 में लीग-काँग्रेस समझौता हो गया जो लखनऊ पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। आंशिक रूप में इस समझौते तथा खिलाफत आन्दोलन को काँग्रेसी सहायता के कारण 1920-22 के असहयोग आन्दोलन के दौरान दोनों सम्प्रदायों के बीच सहयोग चलता रहा। इस बीच अंग्रेजों की कुटिल नीति यही रही कि हिन्दू और मुसलमानों में सहयोग के सूत्रों को खत्म कर दिया जाए। 1919 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति का विस्तार करके अंग्रेजों ने अपनी कुटिल नीति का परिचय दिया। इस अधिनियम द्वारा मुसलमानों के लिए प्रचलित साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति को बनाए रखा गया, पंजाब के सिक्खों के लिए साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति की व्यवस्था की गई, मुम्बई के मराठों और चेन्नई के ब्राह्मणों के लिए बहु-सदस्यीय चुनाव-क्षेत्र में कुछ सीटें सुरक्षित कर दी गई तथा अन्य हितों और वर्गों को प्रतिनिधित्व देने के लिए विशेष चुनाव-पद्धति जारी की गई। यह सब राष्ट्रीय एकता के प्रतिकूल कार्य था।

1922 से अगले 10 वर्षों तक भारत में साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति रही। 1916 के लखनऊ समझौते का महत्त्व नहीं रहा। ब्रिटिश नौकरशाही ने हिन्दू-मुस्लिम दंगों को रोकने में आवश्यक सावधानी नहीं बरती तथा प्रच्छन्न रूप से इन्हें उत्तेजित और किया। 1927 में मुस्लिम लीग के दो दल हो गए—एक दल का अधिवेशन मोहम्मद शफी के नेतृत्व में लाहौर में और दूसरा जिन्ना के सभापतित्व में कोलकाता में हुआ। इसी समय देश के संविधान की रूपरेखा तैयार करने के लिए सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित संविधान में पृथक् निर्वाचन को कोई स्थान नहीं दिया गया, अतः मुस्लिम लीग के शफी दल ने इसे स्वीकार नहीं किया। इधर जिन्ना ने इंग्लैण्ड से लौटकर शफी दल से समझौता कर लिया और 1919 में लीग के दिल्ली अधिवेशन में 14 सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें यह आग्रह किया गया कि—

1. केन्द्रीय विधान-मण्डल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कम से कम 1/3 हो।
2. साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन-पद्धति से हो, परन्तु कोई सम्प्रदाय जब चाहे तब संयुक्त निर्वाचन-पद्धति स्वीकार कर सके।
3. किसी प्रादेशिक पुनर्विभाजन द्वारा पंजाब, बंगाल और पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त में मुसलमानों के बहुमत पर कोई प्रभाव न पड़े।
4. किसी विधान-सभा अथवा लोक प्रतिनिधि संस्था में ऐसा कोई विधेयक या प्रस्ताव स्वीकृत न हो जितना किसी सम्प्रदाय के 3/4 सदस्य अपने समुदाय के हितों के विरुद्ध बताते हुए विरोध करें।

5 विधान में सभी नौकरियों में योग्यता की आवश्यकता के अनुरूप मुसलमानों को उचित भाग मिले।
6 मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा, धर्म, व्यक्तिगत कानून और श्रमिक संस्थाओं की रक्षा एवं उन्नति के लिए संरक्षण एवं सरकारी सहायता मिले।
7 केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में कम से कम 1/3 मन्त्री मुसलमान रहें।

जिन्ना की इन शर्तों ने मुसलमानों की माँग का रूप धारण कर लिया। यद्यपि मुस्लिम लीग के राष्ट्रीय दल ने इन्हें स्वीकार नहीं किया, तथापि आगे मैक्डोनाल्ड के साम्प्रदायिक पंचाट में इन्हें पूर्ण स्थान दिया गया।

1930 से 1947 तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता और विभाजन की माँग

अंग्रेज हर प्रकार से साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देना चाहते थे अतः इस तर्क की आड़ में कि भारतीय स्वयं आपस में कोई समझौता नहीं कर पा रहे हैं, ब्रिटिश सरकार ने 16 अगस्त, 1932 को विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधित्व में एक पंचाट प्रकाशित किया जो 'साम्प्रदायिक पंचाट' (Communal Award) के नाम से जाना जाता है। इस पंचाट में पृथक् निर्वाचन पद्धति को दलित वर्गों के ऊपर लागू कर दिया गया। मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों, आँग्ल-भारतीयों तथा महिलाओं तक के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई। श्रम, वाणिज्य, उद्योग, जमींदारों तथा विश्वविद्यालयों के लिए पृथक् चुनाव-क्षेत्र निर्धारित किए गए। निर्वाचकों को 17 विभिन्न भागों में बाँट दिया गया। स्पष्ट था कि यह साम्प्रदायिक पंचाट भारतीय राष्ट्रवाद को निर्बल करने के लिए भारत के सम्प्रदायगत तथा वर्ग गत मतभेदों को उग्र बनाने के लिए किया गया था। यह योजना प्रान्तीय विधान-मण्डलों में ही लागू की जानी थी, केन्द्रीय विधान-मण्डल के निर्णय का प्रश्न अनिर्णित छोड़ दिया गया था। इस पंचाट में पुनः इस तथ्य की पुष्टि कर दी गई कि ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यक वर्गों और विशेष रूप से मुसलमानों पर कृपालु थी। सौभाग्यवश महात्मा गाँधी के अनशन के कारण सितम्बर, 1932 में पूना पैक्ट हो गया। फलस्वरूप हिन्दुओं के अन्दर हरिजनों को प्रतिनिधित्व देने के लिए निर्णय लिया गया और उनका पृथक् निर्वाचन बन्द कर दिया गया।

भारत में फूट डालकर हुकूमत करने की नीति पर चलते हुए अंग्रेजों ने 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत विनाशकारी साम्प्रदायिक चुनाव-पद्धति का हरिजनों के लिए विस्तार कर दिया। मुसलमानों को केन्द्रीय विधान-मण्डल में ब्रिटिश भारत के $33\frac{1}{2}$ प्रतिशत स्थान दिए गए, जबकि उनकी जनसंख्या इस अनुपात में नहीं थी। विशेष रियायतों और ब्रिटिश संरक्षण से मुसलमानों का उत्साहित हो उठना स्वाभाविक था। 1935 का अधिनियम लागू होने के बाद देश में मुस्लिम राजनीति ने नया मोड़ ले लिया। मुस्लिम लीग ने प्रतीक्षा की नीति अपनाई और काँग्रेस तथा अंग्रेज सरकार के बीच मतभेदों से लाभ उठाने की कोशिश की। अधिनियम के अन्तर्गत हुए निर्वाचनों के फलस्वरूप अनेक प्रान्तों में काँग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। लीग ने काँग्रेस के साथ मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाना चाहा, लेकिन काँग्रेस ने इनकार कर दिया और इस पर लीग ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि बहुसंख्यक सम्प्रदाय अपनी नीति से यह स्पष्ट करता जा रहा है कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिए है। इसके साथ ही मुस्लिम लीग ने यह नारा भी बुलन्द किया कि इस्लाम खतरे में है। यह वह समय था कि जब द्वितीय महायुद्ध के बादल अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर छाए जा रहे थे। मुहम्मद अली जिन्ना ने चालाकी से काम लेते हुए वायसराय के साथ सौदेबाजी की। युद्ध प्रयासों में सरकार की सहायता करने के लिए लीग की ओर से दो शर्तें रखी गईं—एक यह कि काँग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में मुसलमानों के साथ न्याय हो और दूसरे यह कि भारत के लिए कोई भावी संविधान मुस्लिम लीग की अनुमति बिना न बनाया जाए।[1] अब तक मुस्लिम पृथकतावादियों ने अपनी माँगों को पृथक् निर्वाचक-मण्डलों, गुरु-भार और आरक्षणों तक सीमित रखा था, लेकिन 1938 में हिन्दू और मुस्लिम दो राष्ट्रों का सिद्धान्त सामने आया। मुस्लिम लीग ने यह दावा करना आरम्भ कर दिया कि भारतीय मुसलमान एक 'समुदाय' नहीं, प्रत्युत् एक 'राष्ट्र' है इसलिए उन्हें 'राजनीतिक आत्म-निर्णय' का अधिकार है।[2]

अगस्त 1940 में मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन में 'पाकिस्तान प्रस्ताव' पास किया तथा मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों का एक अलग पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न मुस्लिम राज्य स्थापित किए जाने की माँग पेश की जिसमें 'भारत के उत्तर पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्र' जैसे मुस्लिम बहुल क्षेत्र सम्मिलित होते।[3] उल्लेखनीय है कि भारत के मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य का विचार सबसे पहले डॉ. मुहम्मद इकबाल ने 1930 में इलाहाबाद में मुस्लिम लीग के एक विशेष अधिवेशन में प्रकट किया था। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य की स्थापना की योजना प्रतिपादित की, लेकिन उस समय लोगों ने इसे दार्शनिक की कल्पना का एक चित्र समझा, अतः उनके संकेत पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, पर दूसरी ओर रहमत अली के प्रभाव में रहने वाले मुस्लिम कैम्ब्रिज विद्यार्थियों में यह विचार जोर पकड़ता गया। रहमत अली ने ब्रिटिश संसद के सदस्यों को अपनी पत्रिकाएँ प्रस्तुत की जिनमें कहा गया था

1 2. डॉ. सुभाष कश्यप वही, पृ. 162.
3. डॉ. सुभाष कश्यप वही, पृ. 163.

कि भारत के मुसलमानों को पाकिस्तान का राज्य बना दिया जाए, जिसमें पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा-प्रान्त, कश्मीर, सिंध तथा बलूचिस्तान के भाग मिलाए जाएँ। यूसुफ अली ने इस योजना को विद्यार्थियों की देन कहा तथा जफरुल्ला खाँ ने इसे स्वप्नलोकीय एवं अव्यवहार्य बताया। 1940 तक जिन्ना तक ने इस बात को नहीं माना। लन्दन से प्रकाशित पत्रिका 'टाइम एण्ड टाइड' (*Time and Tide*) में 19 जनवरी, 1940 को जिन्ना ने लिखा—भारत में दो राष्ट्र हैं जिन्हें एक ही मातृभूमि के प्रशासन में भागीदार होना चाहिए, लेकिन तीन महीने बाद ही जिन्ना पूरी तरह पाकिस्तान की माँग का नेता बन गया।[1]

जब 1942 में काँग्रेस द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया गया, तो मुस्लिम लीग ने आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रकट नहीं की, प्रत्युत् प्रत्येक सम्भव तरीके से अंग्रेज सरकार की सहायता की। 1942 से 1944 तक काँग्रेस के सभी नेता जेल में थे, अतः उनकी अनुपस्थिति का मुस्लिम लीग ने भरपूर लाभ उठाया। यह प्रचार किया गया कि काँग्रेस एक कट्टर हिन्दू संस्था है जो भारत में हिन्दू राज्य कायम करना चाहती है। लीग ने पाकिस्तान की स्थापना के लिए धुआँधार प्रचार किया, 1946 के अन्तरिम चुनावों में मुस्लिम लीग को 1937 के चुनावों की तुलना में अधिक सफलता प्राप्त हुई। चुनावों से स्पष्ट हो गया कि काँग्रेस और लीग दो ही बड़ी राजनीतिक संस्थाएँ भारत में हैं जो क्रमशः हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती हैं। चुनावों में अपनी सफलता से प्रेरित होकर लीग ने पाकिस्तान की स्थापना के लिए आन्दोलन छेड़ दिया। लीग ने अड़गे की नीति अपनाते हुए अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया और 27-29 जुलाई को लीग की परिषद ने स्वतन्त्र पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न पाकिस्तान राज्य की स्थापना के लिए 'सीधी कार्यवाही' (Direct Action) की धमकी दी। 16 अगस्त सीधी कार्यवाही शुरू करने की तारीख निश्चित हुई। 'सीधी कार्यवाही का उद्देश्य था हिन्दुओं की मार-काट शुरू कर, साम्प्रदायिक दंगों और आतंक का वातावरण फैलाकर, यह सिद्ध करना कि हिन्दू और मुसलमान साथ नहीं रह सकते और देश के विभाजन के अतिरिक्त और कोई रास्ता है ही नहीं।'[2] 16 अगस्त को देश के विभिन्न भागों में दंगे हुए और बंगाल तथा सिंध में जहाँ मुस्लिम लीग की सरकारें थीं, सरकारी छुट्टी की गई। कलकत्ते में भीषण रक्तपात हुआ। सरकारी अनुमानों के अनुसार 500 हिन्दू मार डाले गए और 15-20 हजार के चोटें आई। सम्पत्ति लूटने की तथा महिलाओं के साथ विभिन्न प्रकार के अत्याचार और बलात्कार करने की असंख्य घटनाएँ हुई।[3] साम्प्रदायिक दंगों की यह आग सारे देश में फैल गई और एक वर्ष से अधिक समय तक यही स्थिति रही।

परिस्थितियों से विवश होकर काँग्रेस ने देश का विभाजन करना स्वीकार कर लिया। गाँधीजी अन्त तक विभाजन के विरुद्ध रहे। उन्होंने यहाँ तक कहा कि "यदि सारा भारत भी आग की लपटों में घिर जाए फिर भी पाकिस्तान नहीं आ सकेगा। भारत का विभाजन मेरे शव पर ही हो सकेगा।" 3 जून, 1947 को ब्रिटिश सरकार ने एक नीति सम्बन्धी वक्तव्य दिया जिसमें दी गई योजना (माउंट बैटेन योजना) में भारत के विभाजन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया गया। परिणामस्वरूप माउण्ट बेटन योजना के आधार पर ब्रिटिश संसद ने 18 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 को पास किया जिसके अनुसार 15 अगस्त, 1947 से भारत और पाकिस्तान नामक दो डोमीनियनों की स्थापना हो गई। टुकड़ों में विभक्त होकर भारत स्वतन्त्र हो गया।

हिन्दू साम्प्रदायिकता
(Hindu Communalism)

मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने अनिवार्य रूप से हिन्दू साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया। डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार "इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया थी। उसने साम्प्रदायिक विद्वेष की ज्वाला उत्पन्न नहीं की, पर उसकी लपटों को अवश्य ऊँचा रखा जिससे मुस्लिम-नीतियों को पाकिस्तान की दिशा में सोचने की प्रेरणा मिली। पृथकतावाद की भावना को बढ़ाने में हिन्दू साम्प्रदायिक संस्थाओं से अधिक ब्रिटिश नौकरशाही ने काम किया।"

बंगाल-विभाजन और मुस्लिम लीग की स्थापना के बाद जब मुसलमानों ने साम्प्रदायिक दंगे शुरू कर दिए, हिन्दुओं की सम्पत्ति को लूटा और हिन्दू औरतों की इज्जत पर हाथ डाले तो हिन्दुओं ने विशेषकर बंगाल और पंजाब में, स्वयं को संगठित करना शुरू कर दिया। बंगाल में हिन्दुओं द्वारा अनुशीलन समितियाँ और पंजाब में हिन्दू-सभाएँ गठित की गईं। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के वीभत्स रूप ने अनेक हिन्दू बुद्धिजीवियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे हिन्दू महासभा स्थापित करके हिन्दू जाति को संगठित और शक्तिशाली बनाएँ। 1915 में हिन्दू महासभा की स्थापना हुई।

1 रामानन्द अग्रवाल : हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तथा संवैधानिक विकास, पृ. 274-75
2-3 डॉ. सुभाष कश्यप : वही पृ. 218.

प्रारम्भिक अवस्था में महासभा का नेतृत्व पण्डित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपत राय जैसे राष्ट्रवादी नेताओं के हाथ में रहा, लेकिन धीरे-धीरे कट्टरपंथी और प्रतिक्रियावादी तत्वों ने महासभा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। हिन्दू महासभा मुस्लिम लीग की अपेक्षा अधिक सयुक्त और उदार सस्था रही है। इसका मूल उद्देश्य था कि हिन्दुओं को एक जाति के रूप में उनके अधिकारों की रक्षा के लिए सगठित किया जाए तथा मुस्लिम जाति को प्रभावित करने वाले प्रश्नों पर जनमत का निर्माण किया जाए। हिन्दू महासभा ने हिन्दुओं में एक राष्ट्र होने की भावना पैदा की। वीर सावरकर के प्रयत्नों से हिन्दू राष्ट्र का विचार हिन्दू महासभा का 'घोष शब्द' बन गया। यह कहा जाता है कि हिन्दू राष्ट्र के विचार की प्रतिक्रिया स्वरूप मुसलमानों के इस दावे को प्रोत्साहन मिला कि मुस्लिम समाज हिन्दुओं से भिन्न एक पृथक् राष्ट्र है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मुस्लिम लीग ने अपने जन्म के तुरन्त बाद ही पृथकतावादी प्रवृति का स्पष्ट संकेत दे दिया था। हिन्दू अपनी उदार मनोवृति के कारण अपनी जरा-सी कमी अथवा खामी को तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं और बहुधा उसे अनावश्यक रूप से महत्वपूर्ण बना देते हैं। यह मनोवृति इस विचार के विकसित होने में सहायक रही है कि हिन्दू महासभा जैसे सगठनों की कार्यवाहियों ने मुस्लिम-लीगियों को पाकिस्तान की दिशा में सोचने की प्रेरणा दी। यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण घटना-चक्र एक प्रतिक्रिया द्वारा दूसरी प्रतिक्रिया को और दूसरी प्रतिक्रिया द्वारा पुनः पहली प्रतिक्रिया को जन्म देने और भड़काने का था। यह एक विचित्र बात थी कि मुस्लिम सगठन बनने पर कोई तूफान खड़ा नहीं होता था, लेकिन हिन्दू सगठन बनने पर एक तूफान खड़ा कर दिया जाता था।

यह अभियान चलाया गया कि जिन हिन्दुओं को मुसलमान या ईसाई बना दिया गया था, उन्हें और उनके वंशजों को पुनः हिन्दू बनाया जाए। हिन्दुओं के सगठन और शुद्धि आन्दोलन की प्रतिक्रिया यह हुई कि मुसलमानों ने तन्जीम और तब्लिक का अपना आन्दोलन चला दिया। अखिल इस्लामी आन्दोलन की प्रतिक्रिया हिन्दुओं पर हुई और 1936 में लाहौर के हिन्दू महासभाई अधिवेशन में जगत् गुरु शकराचार्य के अध्यक्षीय भाषण में अखिल हिन्दूवाद का स्वर प्रकट हुआ।

पिछड़ी जाति के आन्दोलन, ट्रेड यूनियन तथा किसान आन्दोलन, नागरिक अधिकार आन्दोलन

(Backward Caste Movements, Trade Union and Peasant Movements, Civil Right Movement)

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन क्षेत्रीय दृष्टि से ही नहीं था। इसका विस्तृत सामाजिक आधार था। विभिन्न सामाजिक समूह इसमें सम्मिलित हुए। भारतीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विभिन्नताएँ रही हैं। यहाँ पर विभिन्न धार्मिक समूह भी हैं। ब्रिटिश शासन में यह विभिन्नता अधिक थी। समाज हिंदू और मुसलमानों में बँटा हुआ था। मुसलमानों में सामाजिक विभाजन था। समाज में विभिन्न आर्थिक समूह थे, जिनमें बहुत विषमता थी। इन समूहों के सामाजिक और आर्थिक हित भिन्न थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में अधिकाधिक समूह सम्मिलित होते गए।

बीसवीं शताब्दी तक काँग्रेस एक जन आन्दोलन का रूप ले चुकी थी। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन, इसका चरम बिन्दु था, जिसमें सामाजिक-आर्थिक विभिन्नता को भुलाकर सभी सामाजिक समूह सम्मिलित हुए। विदेशी शासन से स्वतन्त्रता के लक्ष्य ने विभिन्न समूहों को एक कर दिया। विभिन्न समूहों में लक्ष्य की एकता की भावना लाने में राष्ट्रीय आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इस आन्दोलन ने एक ऐसे लक्ष्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि विभिन्न आर्थिक समूह एक मच पर इकट्ठे हो गए। भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों में बहुत दिनों से असंतोष की भावना थी, जिसके कई कारण थे। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना से पहले जनता के विरोध के उदाहरण मिलते हैं। बगाल के पावना जिले में 1873 में सगठित जमींदारों के खिलाफ भूमि सम्बन्धी सगठन (Agrarian League), महाराष्ट्र के दक्षिण क्षेत्र में 1875 में साहूकारों के खिलाफ दगा, आन्ध्र प्रदेश के 'रपा' क्षेत्र में 1879 में जनजातियों का विद्रोह, ऐसे कुछ उदाहरण हैं। किसानों और औद्योगिक श्रमिक वर्गों का अपना सगठन था। उनका विद्रोह अपने निकटस्थ दमनकारी वर्गों—जमींदारों, साहूकारों और उद्योगपतियों के खिलाफ था। राष्ट्रीय आन्दोलन ने इनके समक्ष 'ब्रिटिश राज्य को उखाड़ फैंकने' का उच्च लक्ष्य रखा। इस लक्ष्य के द्वारा किसान और जमींदार, श्रमिक और उद्योगपति सभी राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो गए। भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों का आपसी सघर्ष ब्रिटिश सरकार के लिए लाभकारी था, लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन ने इसके स्थान पर विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समूहों में एकता की भावना की स्थापना की। आने वाले वर्षों में यह राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के लिए लाभकारी सिद्ध हुआ।

कोई भी आन्दोलन विशेष सामाजिक आर्थिक समूहों के हितों की उपेक्षा नहीं कर सकता। किसान, श्रमिक, उद्योगपति, जमींदार—सभी वर्गों का महान भारतीय विचारक और नेता महात्मा गाँधी जिन्होंने 1920 में 'असहयोग आन्दोलन', 1930

में 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' और 1942 में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' की शुरुआत की वे भारतीय स्वतन्त्रता के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी थे। उन्होंने एक अहिंसा प्रधान समाज का स्वप्न दिया था। उन्होंने अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए विशेष रूप से कार्य किया। प्रसिद्ध पुस्तकें 'वीमेन एण्ड सोशल जस्टिस', 'सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका', 'इकनॉमिक्स ऑफ खादी' आदि पुस्तकों ने चेतना जाग्रत की। सभी वर्ग अपने अपने हितों को सुरक्षित रखना चाहते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन ने इन वर्गों को संगठित करने के हितों का भी ध्यान रखा।

महात्मा गाँधी ने 1917-18 में बिहार में गरीब किसानों के हितों की रक्षा के लिए 'चम्पारन सत्याग्रह' किया। इसके बाद 1919 में 'खेड़ा सत्याग्रह' हुआ। उत्तर प्रदेश के रायबरेली और फैजाबाद क्षेत्र में 1920 में किसान आन्दोलन अधिक व्यापक थे। 1921 में मालाबार क्षेत्र में 'मोपला विद्रोह' में जो कृषि श्रमिक और काश्तकार सम्मिलित हुए, वे अधिकतर मुसलमान थे। किसान सभाओं की स्थापना हुई, जो बंगाल, पंजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार क्षेत्रों में सक्रिय थीं। औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक संगठनों की स्थापना हुई। उद्योगों की स्थापना और व्यापारिक बैंकों के विस्तार के साथ ही भारतीय मध्यम वर्ग उभर आया, जिसका सम्बन्ध व्यापार और उद्योग से था। बंगाल के व्यापार संगठन—चैम्बर ऑफ कामर्स की स्थापना 1887 में की और भारतीय व्यापारी संघ—इंडियन मर्चेन्ट्स चैम्बर की स्थापना मुम्बई में 1907 में हुई। कोलकाता में 1900 में मारवाड़ी व्यापार संगठन की स्थापना की गई। अन्ततः 1925 में एक भारतीय व्यापार संघ की स्थापना हुई। स्वदेशी आन्दोलन ने ब्रिटेन में बनी वस्तुओं के बहिष्कार पर बल दिया, जिसके द्वारा राष्ट्रीय उद्योगपति विशेषकर कपड़ा उद्योग के उद्योगपति [illegible] ओर आकर्षित हुए। इसका असर यह हुआ कि भारत में निर्मित वस्तुओं को प्रोत्साहन मिला, जिसका उद्योगपतियों ने स्वागत किया। बिड़ला, बजाज, अंबालाल, साराभाई, कस्तूर भाई जैसे उद्योगपतियों का काँग्रेस को समर्थन मिलने लगा। हितों की रक्षा के लिए संगठन जोर पकड़ रहे थे और राष्ट्रीय आन्दोलन के मंच पर वे सम्मिलित हो रहे थे। विशेष समूहों से सम्बन्धित विषयों के साथ स्वतन्त्रता के व्यापक लक्ष्य को सामने रखने से समूहों का समर्थन ज्यादा यथार्थवादी हो गया। आन्दोलन विशेष हितों की रक्षा और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए प्रभावकारी था।

स्वतन्त्रता संग्राम के नेता समाज के विभिन्न वर्गों के समर्थन के प्रयास के साथ समाज सुधार और नागरिक अधिकारों में भी सजग थे। स्वतन्त्रता संग्राम के कई नेता सर्वमान्य समाज सुधारक थे। राजा राममोहन राय ने जिन्हें 'भारतीय राष्ट्रीयता का पिता' कहा जाता है 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। यह आन्दोलन हिन्दू समाज की सती प्रथा और बाल विवाह जैसी बुराइयों के निषेध के लिए उत्तरदायी था। ब्रह्म समाज ने विद्यालयों की स्थापना तथा पत्रिकाओं और पुस्तकों के प्रकाशन के माध्यम से शिक्षा के प्रसार का काम किया। 118284

महादेव गोविन्द रानाडे ने 1867 में मुम्बई में प्रार्थना सभा की स्थापना की। दयानन्द सरस्वती ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। 1886 में पहले दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना के बाद डी. ए. वी. स्कूल और कॉलेजों की शृंखला प्रसिद्ध हो गई। ए. आर. देसाई के अनुसार, 'राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ में आर्य समाज ने एक प्रगतिशील भूमिका निभाई थी।' स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन का लक्ष्य था—"भारत को पश्चिमी सभ्यता के भौतिकवादी प्रभाव से बचाना।" श्रीमती एनी बीसेन्ट द्वारा स्थापित थियोसोफिकल सोसाइटी एक आध्यात्मिक आन्दोलन था। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध बाल विवाह पर्दा प्रथा और निरक्षरता जैसी कुरीतियों को मिटाने से था। काँग्रेस के कार्यक्रमों में विशेषतः होमरूल और स्वदेशी आन्दोलन में इसका योगदान था। मुस्लिम समुदाय में जिन संस्थाओं द्वारा सुधार लाए गए वे अहमदिया आन्दोलन, अंजुमन ए हिमायते इस्लाम, नवदतुलउल उलेमा, अलीगढ़ आन्दोलन अब्दुल गफ्फार खाँ का खुदाई खिदमतगार आन्दोलन और खाकसार आन्दोलन, सिक्खों द्वारा शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक सुधार आन्दोलन और सिंह सभाओं की स्थापना की गई। राष्ट्रीय आन्दोलन के सभी नेता समाज सुधार और नागरिक अधिकारों के कार्य के लिए प्रसिद्ध थे। ऐसे कुछ नेताओं के नाम हैं—राजा राममोहन राय गोपाल कृष्ण गोखले बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, लाला लाजपत राय, मुहम्मद इकबाल और महात्मा गाँधी।

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रगतिशील विचार सुधार के तीन कार्यक्रमों से स्पष्ट होते हैं—(1) वर्ण व्यवस्था (2) स्त्रियों की स्थिति एवं (3) अस्पृश्यता।

ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज सबने समाज के विभिन्न वर्णों में बँटवारे का विरोध किया। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले के 'सत्य शोधक समाज' और चेत्रई के 'स्व सम्मान आन्दोलन' (Self Respect Movement) ने उच्च वर्ण के प्रभुत्व के खिलाफ आवाज उठाई। सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, देवदासी और विधवाओं की दयनीय स्थिति, जैसी कुरीतियों का विरोध नारी मुक्ति की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे। नेताओं ने नारी शिक्षा पर जोर दिया। 1919 के बाद राजनीति में अधिक महिलाओं ने भाग लेना शुरू कर दिया। महिलाओं को राजनीति की मुख्य धारा में लाने में महात्मा गाँधी की विशेष भूमिका रही। महिलाएँ किसान आन्दोलन में सक्रिय थीं।

छुआछूत वर्ग व्यवस्था की विकृति के रूप में प्रकट हुई। समाज सुधार और नागरिक अधिकार आन्दोलन और काँग्रेस ने छुआछूत दूर करने पर बल दिया। महात्मा गाँधी ने जिन्होंने इस समूह को 'हरिजन' की संज्ञा दी, इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। बी. आर. अम्बेडकर को इनका प्रवक्ता माना गया। अछूतों के लिए आवाज़ उठाने में अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ का योगदान महत्वपूर्ण था। प्रान्तों में 1937 की काँग्रेस सरकारों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं द्वारा ये प्रश्न समानता और लोकतांत्रिक अधिकार के सिद्धान्तों की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। ये सिद्धान्त ब्रिटेन के शासन से स्वतन्त्रता की उनकी माँगों का आधार था। स्वतन्त्रता संग्राम के नेता उदार विचारधारा और कार्यक्रम को महत्वपूर्ण मानते रहे। कुछ समूहों तक सीमित संकीर्ण विचारों का कोई स्थान नहीं था। नेताओं में मतभेदों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई—नरम दल, उदारवादी और उग्रवादी, परिवर्तन न चाहने वाले, स्वराज्यवादी, काँग्रेस समाजवादी पार्टी आदि। काँग्रेस समाजवादी पार्टी के निर्माण के बाद आन्दोलन का समाजवाद की ओर स्पष्ट झुकाव हो गया। इस विचारधारा को जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस जैसे प्रभावशाली नेताओं का समर्थन प्राप्त था। काँग्रेस के नेता देश की गरीबी और पिछड़ेपन की समस्या के प्रति सजग थे और आर्थिक उत्थान तथा समानता पर अधिक बल देने के कारण, समाजवाद की ओर आकर्षित हुए। स्वतन्त्रता आन्दोलन के विस्तार के साथ भारत की जनता के विभिन्न समूहों में राजनीतिक चेतना आती गई। इस चेतना में जीवन का सामाजिक आर्थिक पक्ष और समाज के विभिन्न स्तरों का हित निहित था। भारतीय राष्ट्रवाद के अलावा, लोगों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना आई। जनता लोकतन्त्र के नेताओं और कार्य विधि से परिचित हो गई। नागरिकता की इस चेतना के साथ उसमें किसान, श्रमिक और उद्योगपति जैसे वर्गीय हितों के सम्बन्ध में चेतना आई।

□□□

14

साँवैधानिक विकास

(ब्रिटिश शासन में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ)

(Landmarks in Constitutional Development during British Rule)

भारत में संविधानवाद के विकास में देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का
महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसका राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन आवश्यक है। संविधान के विकास और
राष्ट्रीय आन्दोलन में अन्तःक्रिया रही है। इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है कि 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम ने अंग्रेजों को
1858, 1861, 1892, 1919, 1935 और 1947 के महत्वपूर्ण अधिनियमों को पारित करने के लिए विवश किया।

भारत शासन अधिनियम, 1858—1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम ने ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के प्रशासन को
झकझोर कर रख दिया था। परिणामस्वरूप ब्रिटिश पार्लियामेंट को भारत शासन अधिनियम 1858 पारित करना पड़ा।
इससे भारतीय शासन सीधे सम्राट के नियन्त्रण में आ गया। भारत का शासन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया द्वारा
15 सदस्यीय भारत परिषद की सहायता से किया जाने लगा जिसमें 8 सदस्य सम्राट द्वारा नामांकित और शेष ईस्ट इण्डिया
कम्पनी के निदेशकों के प्रतिनिधि होते थे। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होता
था। गवर्नर जनरल कार्यकारी परिषद की सहायता से कार्य करता था। इस अधिनियम में भारतीय जनता के दृष्टिकोणों
और सुझावों को कोई स्थान नहीं था।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1861—इस अधिनियम में लोक प्रतिनिधित्व की अवधारणा का नाममात्र का समावेश
किया गया था। मुख्यतः यह अधिनियम भारत के सांवैधानिक विकास में दो कारणों से महत्वपूर्ण स्थान रखता है—(i) कानून
बनाने के कार्य में भारतीयों का सहयोग लेना प्रारम्भ किया गया। (ii) प्रान्तीय विधानसभाओं को कानून बनाने का
अधिकार दिया गया। प्रान्तीय स्वायत्तता तथा गवर्नर जनरल को विधान सभा में भारतीयों को मनोनीत करने का अधिकार
इस अधिनियम की मुख्य विशेषता थी।

भारतीय परिषद अधिनियम 1892 के मुख्य बिन्दु हैं—(i) भारतीय विधान परिषद में शासकीय सदस्यों का
बहुमत रखा गया, किन्तु गैर सरकारी सदस्य कुछ स्थानीय निकायों द्वारा नाम निर्दिष्ट किए जाने लगे। ये स्थानीय निकाय
थे—विश्वविद्यालय, जिला बोर्ड, नगरपालिका। (ii) परिषदों को बजट पर विचार विमर्श करने की और कार्यपालिका से
प्रश्न पूछने की शक्ति दी गई। यद्यपि इस अधिनियम ने भारत में प्रतिनिधि सरकार की नींव डाली तथा इसमें अनेक
त्रुटियाँ थीं। निर्वाचन की पद्धति अन्यायपूर्ण थी, अतः वे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे तथा सदस्यों को अनुपूरक
प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं था। भारतीय राष्ट्रवाद की भावनाएँ निरन्तर विकसित हो रही थी, फलतः राष्ट्रवादी 1892
के अधिनियम से पूर्णतः असन्तुष्ट थे। विधान परिषदों में गैर सरकारी निर्वाचित सदस्यों के बहुमत और बजट पर मतदान
करने के अधिकार की माँग कर रहे थे।

जॉन मार्ले मिण्टो सुधार और भारतीय परिषद अधिनियम, 1909—नवम्बर 1905 में लॉर्ड कर्जन के स्थान पर
लॉर्ड मिण्टो भारत के वायसराय नियुक्त हुए और जॉन मार्ले भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट बनाये गये। मार्ले उदारवादी
थे और भारतीय प्रशासन में सुधारों के समर्थक थे। इनके द्वारा किये गये सुधारों को मार्ले मिण्टो सुधार के नाम से जाना
जाता है। मार्ले मिण्टो के सुधारों द्वारा प्रतिनिधित्व और निर्वाचित तत्व का समावेश करने का प्रयत्न किया गया। केन्द्रीय
विधानसभा में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गयी जिससे परिषद की कुल सदस्य संख्या 69
हो गयी। इनमें आधे 32 गैर सरकारी सदस्य तथा 37 सरकारी सदस्य थे जिनमें से 28 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत
और शेष 9 पदेन सदस्य थे। 32 गैर सरकारी सदस्यों में से 5 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत और शेष 27 निर्वाचित
होते थे। निर्वाचित सदस्यों को वर्गों, हितों और श्रेणियों के आधार पर मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की गयी थी।
अधिनियम ने सदस्यों को अवसर दिया कि वे बजट या लोकहित के किसी विषय पर संकल्प प्रस्तावित करके प्रशासन

की नीति पर प्रभाव डाल सकें। सशस्त्र बल, विदेश कार्य और देशी रियासतें आदि विषय इसके बाहर थे। 1909 के अधिनियम में निर्वाचन की जो पद्धति अपनाई गई उसमें एक बहुत बड़ा दोष था। इसमें प्रथम बार मुस्लिम समुदाय के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी थी। इसी से भारत में पृथकतावाद का बीजारोपण हुआ जिसकी परिणति देश के दुखद विभाजन में हुई।

मार्ले-मिन्टो सुधार भारतीयों की उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना की माँग पूर्ण नहीं कर सका। परिणामस्वरूप विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध आन्दोलन तेज गति से बढ़ने लगा। 1914 के प्रथम विश्व युद्ध ने भारतीयों की महत्वाकांक्षा को बढ़ा दिया, अतः अब अंग्रेजों के लिए काँग्रेस की माँगों के प्रति उदासीन रहना दुष्कर हो गया। परिणामस्वरूप 1917 में भारत के राज्य सचिव मॉन्टेग्यू ने भारत में अधिक सुधारों का समर्थन किया। उन्होंने ब्रिटिश पार्लियामेंट में घोषणा की कि भविष्य में प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों की भागीदारी को बढ़ाया जाएगा ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन का विकास होता रहे। इस घोषणा के बाद वे भारत की राजनीतिक स्थिति की जाँच के लिए भारत आये, परिणामस्वरूप 1918 में एक रिपोर्ट प्रकाशित की जो चेम्सफोर्ड योजना कहलाई। रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद में एक विधेयक लाया गया जो भारत सरकार अधिनियम 1919 कहलाया।

मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन और भारत शासन अधिनियम 1919—मॉन्टेग्यू घोषणा भारत में संविधानवाद के विकास की महत्वपूर्ण घटना है। इस अधिनियम में निम्नांकित प्रावधान थे—

(i) प्रान्तों में द्वैध शासन अधिनियम द्वारा उत्तरदायी सरकार की स्थापना का प्रयास किया गया। प्रशासन के विषयों को दो भागों में बाँटा गया—केन्द्रीय विषय जो केन्द्र सरकार के नियन्त्रण में तथा प्रान्तीय विषय प्रान्तों के लिए। प्रान्तों को सौंपे गए विषयों में से हस्तांतरित-विषयों का प्रशासन गवर्नर द्वारा विधान परिषद के उत्तरदायी मन्त्रियों की सहायता से किया जाना था। विधान परिषद में निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर 70 प्रतिशत कर दिया गया। दूसरी ओर आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर और उसकी कार्यकारी परिषद द्वारा किया जाना था। इसमें विधान मंडल के प्रति कोई उत्तरदायी नहीं था।

(ii) भारतीय विधान मंडल को अधिक प्रतिनिध्यात्मक बनाया गया। केन्द्र में उत्तरदायित्व को स्थान नहीं दिया गया। भारत के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ब्रिटिश संसद का उत्तरदायी बना रहा। पहली बार विधान मंडल द्विसदनीय किया गया—उच्चतर सदन जिसे राज्य परिषद का नाम दिया गया, 60 सदस्यों से मिलकर बनती थी जिनमें 34 निर्वाचित थे। निचले सदन में जिसे विधान सभा का नाम दिया गया, 144 सदस्य थे जिनमें 104 निर्वाचित थे, शेष नामांकित किये जाते थे। मताधिकार का अधिकार अत्यन्त सीमित एवं संकुचित था। मताधिकार की अर्हता सम्पत्ति के अधिकार पर निर्धारित की जाती थी। स्त्रियों को न मताधिकार प्राप्त था और न वे परिषदों की सदस्या बन सकती थीं।

केन्द्रीय विधान मण्डल के दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त थे। वे केन्द्रीय सूची में वर्णित विषयों पर कानून बना सकते थे। कुछ प्रान्तीय विषयों पर गवर्नर जनरल की अनुमति से कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय विधान मण्डल को प्राप्त था। केन्द्रीय कानूनों की वैधता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती थी। केन्द्र और प्रान्तों में यदि कोई मतभेद उठता था तो गवर्नर जनरल निर्णय करता था कि अमुक विषय पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र को है या प्रान्तों को। विशेष विषयों से सम्बन्धित विधेयक बिना उसकी अनुमति के विधानमण्डल में नहीं लाये जा सकते थे तथा अपने विशेषाधिकार के प्रयोग द्वारा वह किसी विधेयक को नामंजूर कर सकता था और ऐसे किसी विधेयक को वह पास कर सकता था जिसे परिषद ने अस्वीकृत कर दिया हो। गवर्नर जनरल को आपातकाल में अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। यह अधिनियम भारतीय नेताओं की उत्तरदायी सरकार की माँग को पूरा नहीं कर सका, क्योंकि केन्द्रीय सरकार का स्वरूप एकात्मक बना रहा। सम्पूर्ण शक्ति केन्द्र में (गवर्नर जनरल के हाथों में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के माध्यम से जो कि ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी थे) निहित थी। 1919 के अधिनियम को भारत के संवैधानिक इतिहास में प्रतिनिध्यात्मक शासन के विकास का एक महत्वपूर्ण सीमा चिह्न माना जाता है। इस अधिनियम ने देश में संसदीय शासन के स्वरूप को यथार्थ और वास्तविक स्वरूप प्रदान किया।

1919 से 1935 के बीच राष्ट्रीय आन्दोलन की उग्रता बढ़ती गई। राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य घटनाओं में महात्मा गाँधी का राष्ट्रीय राजनीति में अभ्युदय और उनके द्वारा असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन का नेतृत्व प्रमुख है। जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के कारण सम्पूर्ण देश में ब्रिटिश शासन विरोधी भावना, खिलाफत आन्दोलन, स्वराज्य दल का अभ्युदय, साइमन कमीशन का भारत आगमन और भारतीयों द्वारा इस कमीशन के प्रतिवेदन को अस्वीकार करना, नेहरू रिपोर्ट और गोलमेज सम्मेलनों की राजनीति को सम्मिलित किया जा सकता है। इस घटनाक्रम का नतीजा था ब्रिटिश संसद द्वारा 1935 का भारतीय शासन अधिनियम। 1919 से 1935 के बीच गाँधीजी का राजनीति में अभ्युदय, जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड, खिलाफत आन्दोलन, स्वराज्य दल का अभ्युदय आदि घटनाओं ने 1935 के अधिनियम की पृष्ठभूमि तैयार की।

साइमन कमीशन (Simon Commission)

1919 के 'भारत शासन अधिनियम' की अन्तिम धारा में कहा गया था कि भारत में सांवैधानिक सुधारों की छानबीन के लिए ब्रिटिश संसद दस वर्ष बाद एक 'शाही आयोग' नियुक्ति करेगी। इसके अनुसार नवम्बर, 1927 में ब्रिटिश संसद के द्वारा सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया, जिसे 'साइमन कमीशन' कहा जाता है। इस कमीशन के सभी सदस्य अंग्रेज थे। इसमें भारतीयों को सम्मिलित नहीं किया गया था इसलिए भारत में इसका बहिष्कार किया गया। 7 फरवरी, 1928 को आयोग के मुम्बई उतरने से लेकर जब तक आयोग भारत में रहा उसका सभी जगह हड़तालों, काले झण्डों और 'साइमन वापस जाओ' के नारों से स्वागत हुआ। जब यह लाहौर पहुँचा वहाँ लाला लाजपतराय ने एक विशाल विरोध जुलूस निकाला। अंग्रेज पुलिस अधिकारी साडर्स ने लाठी चार्ज कराया। लाला लाजपतराय लाठी लगने से गम्भीर रूप से घायल हो गए परिणामस्वरूप उनका देहान्त हो गया।

साइमन रिपोर्ट

मिस विलिकिन्सन के अनुसार, "जलियांवाला बाग की दुखान्त घटना के पश्चात् सम्पूर्ण देश में जितनी इस कमीशन की निन्दा हुई, उतनी अंग्रेजों के और किसी काम की नहीं हुई।" इस व्यापक विरोध के होते हुए कमीशन ने दो बार भारत का दौरा किया। इस कमीशन की रिपोर्ट मई, 1930 में प्रकाशित हुई जिसकी मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं—

(1) प्रान्तों में द्वैध शासन की समाप्ति—कमीशन की सिफारिश थी कि प्रान्तों में द्वैध शासन को समाप्त करके, वहाँ उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाए।

(2) केन्द्र में कोई परिवर्तन नहीं—कमीशन ने केन्द्र के शासन में किसी प्रकार का परिवर्तन न करने की सिफारिश की।

(3) संघ शासन की स्थापना—इस कमीशन ने यह सिफारिश की कि भारत में संघ शासन की स्थापना की जाए।

(4) अल्पसंख्यकों के हितों के लिए गवर्नर जनरल एवं गवर्नरों की विशेष शक्ति—साइमन कमीशन ने यह सिफारिश की थी कि अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए गवर्नरों व गवर्नर जनरल के लिए विशेष शक्तियाँ दी जाएँ।

(5) मताधिकार का विस्तार—साइमन कमीशन की रिपोर्ट में मताधिकार के विस्तार की सिफारिश की गई। अब तक 2.8 प्रतिशत जनता को मताधिकार प्राप्त था। अब 10 से 15 प्रतिशत जनता को मताधिकार देने की सिफारिश की गई।

(6) वृहत्तर भारतीय परिषद की स्थापना—साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि संघ की स्थापना से पूर्व भारत में एक 'वृहत्तर भारतीय परिषद' की स्थापना की जाए, जिसमें भारत के प्रान्तों और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि शामिल हों। इस परिषद के माध्यम से प्रान्त एवं रियासतों को अपनी समस्याओं पर विचार विमर्श करने की सुविधा दी जाए।

(7) प्रान्तीय विधानमण्डलों की सदस्य संख्या में वृद्धि—कमीशन ने प्रान्तीय विधान मण्डलों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की सिफारिश की तथा कहा गया कि सरकारी सदस्यों की व्यवस्था समाप्त की जाए।

(8) बर्मा भारत से पृथक्—इस कमीशन ने बर्मा को भारत से अलग करने का सुझाव दिया।

(9) कमीशनों की नियुक्ति की समाप्ति—साइमन कमीशन की रिपोर्ट में यह कहा गया कि 1919 के अधिनियम की प्रति 10 वर्ष बाद जाँच-पड़ताल के लिए कमीशन की नियुक्ति की व्यवस्था समाप्त की जाए तथा नया संविधान ऐसा लचीला बनाया जाए कि वह स्वयं ही विकसित होता रहे।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट का मूल्यांकन—भारतवासियों ने साइमन कमीशन की रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया, जिसके प्रमुख कारण निम्नांकित थे—(1) भारतीयों की औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग पूरी नहीं हुई थी। (2) केन्द्र में पूर्व की भाँति ही अनुत्तरदायी शासन की सिफारिश की गई थी। (3) यद्यपि प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की सिफारिश की गई थी किन्तु गवर्नरों को विशेष शक्तियाँ देने की सिफारिश की गई थी।

फलस्वरूप भारतीयों ने साइमन कमीशन रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया। सर शिवा स्वामी अय्यर के अनुसार, "आयोग की रिपोर्ट रद्दी की टोकरी में फेंक देने योग्य थी।" एण्ड्रूज ने इस रिपोर्ट की निन्दा करते हुए कहा था कि "आयोग ने अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन से समस्त देश में उत्पन्न हुए परिवर्तन और जनता की आकांक्षाओं की पूर्ण उपेक्षा की। आयोग ने उस भारत को अपने समक्ष रखा जो राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भ होने से 30 वर्ष पहले था। राष्ट्रीय जागृति के फलस्वरूप उदीयमान युवक भारत का इसमें परिचय नहीं मिलता।"

भारतीय शासन अधिनियम 1935—1935 के अधिनियम में मुसलमानों के अतिरिक्त सिक्खों, यूरोपीय ईसाइयों और एंग्लो इंडियन लोगों के लिए भी पृथक् प्रतिनिधित्व था। इसके कारण राष्ट्रीय एकता के निर्माण में गम्भीर बाधाएँ उपस्थित हुईं। 1935 के अधिनियम के मुख्य लक्षण निम्नलिखित थे—

(1) संघात्मक व्यवस्था और प्रान्तीय स्वायत्तता—इस अधिनियम में संघात्मक शासन की स्थापना की गई जिसमें इकाइयाँ प्रान्त और देशी रियासतें थी। देशी रियासतों के लिए परिसंघ में सम्मिलित होने का विकल्प था परन्तु देशी रियासतों के शासकों ने अपनी सहमति नहीं दी थी। 1935 के अधिनियम में जिस संघात्मक शासन की व्यवस्था थी वह

नहीं बन सकी। यद्यपि संघात्मक शासन से सम्बन्धित भाग निष्प्रभावी रहे, तथापि प्रान्तीय स्वायत्तता से सम्बन्धित भाग को भारत के लिए 1937 में प्रभावी किया गया। इस अधिनियम ने विधायी शक्तियों को प्रान्तीय और केन्द्रीय विधान मण्डलों के बीच विभाजित किया। गवर्नर सम्राट की ओर से प्रान्त की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करता था। वह गवर्नर जनरल के अधीन नहीं था। गवर्नर से यह अपेक्षा थी कि वह मन्त्रियों की सलाह से काम करेगा और मंत्री विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी थे, परन्तु कुछ विषयों में गवर्नर को स्व-विवेकानुसार कार्य करने की शक्ति थी। ऐसे विषयों में गवर्नर मंत्रिमण्डल की सलाह के बिना कार्य करता था।

(ii) केन्द्र में द्वैध शासन—केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर जनरल में निहित थी जिसके कार्यों को दो समूहों में बाँटा गया था—

(अ) प्रतिरक्षा, विदेश कार्य, धर्म और जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन गवर्नर जनरल को स्वविवेकानुसार और अपने द्वारा नियुक्त परामर्शदाताओं की सहायता से करना था। ये परामर्शदाता विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी थे।

(ब) आरक्षित विषयों से भिन्न विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को मन्त्रिपरिषद की सलाह से कार्य करना था। मन्त्रिपरिषद विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी थी, किन्तु इन विषयों पर गवर्नर जनरल का विशेष उत्तरदायित्व निहित था। गवर्नर जनरल सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के नियन्त्रण और निर्देश के अधीन कार्य करता था।

विधायी शक्तियों का विभाजन—1935 के अधिनियम की विधायी शक्तियों को केन्द्र और प्रान्तीय विधान मंडलों में निम्नांकित प्रकार से विभाजित किया गया था—

(i) संघीय सूची—संघीय सूची पर संघीय विधान मंडल को विधान बनाने की शक्ति थी। जैसे—विदेश कार्य, करेंसी और मुद्रा, नौ सेना, थल सेना और वायु सेना, जनगणना आदि।

(ii) प्रान्तीय सूची—जिस पर प्रान्तीय विधान मंडलों की अधिकारिता थी। जैसे—पुलिस, प्रान्तीय लोकसेवा और शिक्षा।

(iii) समवर्ती सूची—समवर्ती सूची पर प्रान्तीय और संघीय विधान मंडलों को समान रूप से अधिकार था। जैसे—दण्ड और विधि एवं उसकी प्रक्रिया, सिविल प्रक्रिया, विवाह और विवाह विच्छेद।

गवर्नर जनरल द्वारा आपात की उद्घोषणा किए जाने पर परिसंघ विधानमंडल को प्रान्तीय सूची में वर्णित विषयों पर विधान बनाने की शक्ति प्राप्त थी। संघीय विधान मंडल उस परिस्थिति में प्रान्तीय सूची के विषयों पर विधि बनाने की शक्ति रखता था जब दो या अधिक विधान मंडल अपने सामान्य हित में ऐसा किये जाने की इच्छा प्रकट करते थे। इस अधिनियम में अवशिष्ट शक्तियों का आवंटन महत्त्वपूर्ण था। वह न संघीय विधान मंडल में निहित था और न प्रान्तीय विधान मंडल में। गवर्नर जनरल को यह शक्ति दी गई थी कि वह परिसंघ या प्रान्तीय विधान मंडल को किसी ऐसे विषय में विधि अधिनियम करने के लिए प्राधिकृत करे जो विधायी सूची में नहीं है। यह अधिनियम जिस प्रान्तीय स्वायत्तता की परिकल्पना पर आधारित था वह व्यवहार में क्रियान्वित किया गया। 1937 में प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के निर्वाचन सम्पन्न हुए। 11 प्रान्तों में हुए चुनाव में 6 प्रान्तों में काँग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। ये प्रान्त थे—संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मुम्बई, चेन्नई और मध्य प्रान्त। आसाम, बंगाल और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त में काँग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आई। बंगाल, पंजाब और सिन्ध में मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ हुए। इन मन्त्रिमण्डलों ने उल्लेखनीय जन-कल्याणकारी कार्य किये। प्रान्तीय स्वायत्तता के इस व्यावहारिक परीक्षण के कारण काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों को जनता में प्रतिष्ठा स्थापित हुई। भारतीय नेताओं को प्रशासनिक कार्यों के संचालन का अनुभव प्राप्त हुआ तथा यह प्रमाणित हो गया कि भारतीयों में वांछित प्रशासनिक क्षमता है। प्रान्तीय स्वायत्तता के इस परीक्षण ने भारत में संघात्मक व्यवस्था की बुनियाद को संस्थागत और प्रक्रियागत स्वरूप प्रदान किया। परिणामस्वरूप प्रान्तीय स्वराज्य से पूर्ण स्वराज्य तक भारत में संवैधानिक विकास के विभिन्न आयाम जुड़ते चले गये। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन से यह स्पष्ट हो गया कि अब भारत को पराधीन नहीं रखा जा सकता है फिर भी अंग्रेज अन्तिम क्षण तक देश में अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए कृत संकल्प थे। इस परिप्रेक्ष्य में ब्रिटिश सरकार ने भारत के लिए विभिन्न संवैधानिक सुधारों की योजनाएँ प्रस्तावित की, उनमें मुख्य हैं—1. अगस्त योजना, 1940 (The August Offer, 1940); 2. क्रिप्स प्रस्ताव योजना, 1942 (The Cripps Proposals, 1942); 3. वेवल योजना, 1945 (Wavell Plan, 1945); 4. केबिनेट मिशन योजना, 1946 (The Cabinet Mission's Plan, 1946); 5. माउन्टबेटन योजना, 1947 (The Mountbatten Plan, 1947)।

क्रिप्स मिशन

(Cripps Mission)

प्रथम विश्वयुद्ध में जापान की निरन्तर विजय ने और मित्र राष्ट्रों की बिगड़ती स्थिति ने चर्चिल की सरकार को भारत के प्रति अपना रवैया बदलने के लिए विवश कर दिया। इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने भारत में राजनीतिक गतिरोध दूर करने के लिए 11 मार्च, 1942 को ब्रिटिश कॉमन सभा में घोषणा की कि वे सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को भारत भेज रहे हैं। इस घोषणा के अनुसार 22 मार्च, 1942 को क्रिप्स भारत आये।

अंग्रेज सरकार के द्वारा क्रिप्स मिशन को भारत भेजने के निम्नांकित कारण थे—

(1) अंग्रेजों को जापान से खतरा था। जापानी सेनाएँ फिलीपीन्स, मलाया, इण्डोनेशिया, इण्डोचाइना, सिंगापुर को विजय कर बर्मा को रौंदती हुई भारत की सीमाओं में प्रवेश कर चुकी थी।

(2) भारत की राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने के लिए इंग्लैण्ड पर मित्र राष्ट्रों का भारी दबाव था।

(3) ब्रिटिश संसद एवं जनता भारत की स्वतन्त्रता का समर्थन कर रही थी।

(4) महात्मा गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस ने यह मत व्यक्त किया कि भारत युद्ध में उसी स्थिति में सहयोग करेगा जब उसे स्वतन्त्रता की घोषणा का आश्वासन मिले।

(5) माइकेल ब्रेचर के अनुसार क्रिप्स मिशन का भारत आने का कारण महात्मा गाँधी का सत्याग्रह आन्दोलन था।

क्रिप्स योजना के मुख्य बिन्दु

उन्होंने अपने 20 दिन के प्रवास के दौरान काँग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, उग्रवादी दलित वर्ग और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों से भेंट की। इसके पश्चात् उन्होंने अपने प्रस्ताव रखे जिन्हें क्रिप्स प्रस्ताव कहा जाता है। इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—(1) युद्ध के बाद लागू होने वाले प्रस्ताव एवं (2) तुरन्त लागू होने वाले प्रस्ताव।

(अ) युद्ध के बाद लागू होने वाले प्रस्ताव—(1) उपनिवेश अथवा अधिराज्य की स्थापना, (2) संविधान सभा की स्थापना, (3) संविधान सभा में भारतीय रियासतों का प्रतिनिधित्व, (4) संविधान सभा का गठन, (5) भारतीय संविधान सभा और ब्रिटिश सरकार के बीच कुछ विषयों पर संधि, (6) प्रान्तों एवं देशी रियासतों को पृथक् संविधान बनाने का अधिकार एवं (7) राष्ट्रमण्डल से पृथक् होने का अधिकार।

(ब) तुरन्त लागू होने वाले प्रस्ताव—(1) युद्धकाल में भारत की सुरक्षा का दायित्व ब्रिटिश सरकार का होगा एवं (2) प्रस्तावों सम्बन्धी कार्य भारतीयों के सहयोग से हो सकेंगे।

क्रिप्स प्रस्तावों का मूल्यांकन

क्रिप्स प्रस्ताव अगस्त, 1940 के प्रस्तावों से अच्छे थे, किन्तु वे भारतीयों को सन्तुष्ट नहीं कर सके। प्रस्तावों को लेकर जब क्रिप्स महात्मा गाँधी से मिले तो उनकी प्रतिक्रिया थी—"यदि आपके पास यही प्रस्ताव थे तो आपने आने का कष्ट क्यों उठाया। यदि भारत के सम्बन्ध में आपकी यही योजना है, तो मैं आपको परामर्श दूँगा कि आप अगले हवाई जहाज से इंग्लैण्ड लौट जाएँ।" काँग्रेस और मुस्लिम लीग ने क्रिप्स प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया तथा 11 अप्रैल, 1942 को ब्रिटिश सरकार ने इन प्रस्तावों को वापस ले लिया।

अन्ततः ब्रिटिश संसद द्वारा माउण्टबेटन योजना के अनुसार जुलाई, 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य देश का विभाजन कर भारत और पाकिस्तान नाम के दो स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करना था। भारत में संविधान सभा द्वारा संविधान के निर्माण करने के दायित्व का निर्वाह किया गया। संविधान सभा ने देश के लिए उदार लोकतान्त्रिक प्रतिमान (Liberal Democratic Model) स्वीकार किया। इसके लिए देश का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवेश उत्तरदायी है। यह सांवैधानिक विकास उदारवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के सूत्रपात करने में सहायक बना। स्वतन्त्रता के पश्चात भारत ने जिस उदारवादी लोकतान्त्रिक मॉडल को अपनाया उसकी जड़ें इस विकास-क्रम में समाहित हैं।

भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति—लॉर्ड माउण्ट बेटन की योजना को स्वीकार कर लेने के बाद लन्दन सरकार ने 4 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक लोकसभा में पेश किया और 15 दिन के अन्दर संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाने पर इस विधेयक ने अधिनियम का रूप ले लिया। इस भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 (The Indian Independence Act, 1947) में 15 धाराएँ थीं। यह अधिनियम एक नवीन युग के आरम्भ का सूचक था। इस अधिनियम द्वारा भारत में ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया। लॉर्ड माउण्ट बेटन ने 13 अगस्त, 1947 को कराची जाकर पाकिस्तान संविधान सभा को सत्ता सौंपी और 14 अगस्त की मध्य रात्रि को वन्देमातरम् के गीत के साथ भारत को सत्ता हस्तान्तरण हुआ। डोमिनियन मन्त्रिमण्डल के प्रधानमन्त्री नेहरू के नेतृत्व में 14 मन्त्री नियुक्त हुए और लॉर्ड माउण्ट बेटन भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने।

भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947
(Indian Independence Act, 1947)

4 जुलाई, 1947 को ब्रिटेन की सरकार ने भारत को स्वतन्त्र करने के लिए एक विधेयक वहाँ के निचले सदन "हाउस ऑफ कामन्स" में रखा और पास कराया। 6 जुलाई, 1947 को यह विधेयक वहाँ के उच्च सदन "हाउस ऑफ लार्ड्स" में पास हुआ और यह विधेयक "भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947" बना।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम की प्रमुख धाराएँ—16 जुलाई, 1947 को पारित 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम' की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित थीं—

1. 15 अगस्त, 1947 को भारत दो स्वतन्त्र अधिराज्यों—भारत और पाकिस्तान में विभाजित कर दिया जाएगा। उत्तरी पूर्वी सीमा प्रान्त असम का सिलहट जिला, बलूचिस्तान, सिन्ध और पश्चिमी पंजाब का भाग पाकिस्तान अधिराज्य कहलाएगा और बाकी भारतीय भू-भाग भारत कहलाएगा।

2. 14 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान एवं 15 अगस्त, 1947 को भारत की स्वतन्त्रता के लिए 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम' लागू होगा।

3. पन्द्रह अगस्त, 1947 के बाद ब्रिटेन की सरकार का दोनों राज्यों, उनके प्रान्तों के किसी भाग पर कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा।

4. दोनों अधिराज्यों की संविधान सभाएँ अपना संविधान बनाने के लिए स्वतन्त्र होंगी। दोनों को यह निर्णय करने का अधिकार होगा कि उनके देश राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहना चाहते हैं अथवा नहीं।

5. नये संविधान की रचना तक दोनों अधिराज्यों में शासन का संचालन 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार होगा, किन्तु आवश्यकतानुसार दोनों अधिराज्य उसमें संशोधन करने के लिए स्वतन्त्र होंगे तथा अपने राज्य के लिए कानून बनाने के मामले में स्वतन्त्र होंगे।

6. 15 अगस्त, 1947 से ब्रिटेन की सरकार का 'भारत सचिव' का पद समाप्त कर दिया जाएगा तथा 'इंडिया ऑफिस' को बन्द कर दिया जाएगा।

7. 15 अगस्त, 1947 से ब्रिटेन के सम्राट की 'भारत सम्राट' पदवी समाप्त हो जाएगी।

8. 15 अगस्त, 1947 से भारत के देशी राज्यों से ब्रिटेन के सम्राट की सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो जाएगी तथा ब्रिटेन सरकार द्वारा भारत के देशी राज्यों के साथ की गई सन्धियाँ स्वतः समाप्त हो जाएँगी। देशी राज्यों को भारत अथवा पाकिस्तान के साथ सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता होगी।

9. ब्रिटेन का सम्राट दोनों अधिराज्यों में एक गवर्नर जनरल नियुक्त करेगा, जिसकी नियुक्ति उनके (अधिराज्यों के) मन्त्रिमण्डलों के परामर्श से होगी।

भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 के अनुसार भारत के स्वाधीन होने के पश्चात् नवीन भारत का संविधान बनकर तैयार हो गया और 26 जनवरी, 1950 से इस नवीन संविधान के अनुसार देश का शासन-संचालन होने लगा।

भारत के विभाजन के कारण[1]

1. **मुसलमानों में पृथकता की भावना का उदय**—कुछ मुस्लिम नेताओं के प्रभाव में आकर मुसलमान हिन्दुओं से अलग ढंग से सोचने लगे। सैयद अहमद खाँ ने इस पृथकतावादी प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहित किया। देश के मुसलमानों में यह भावना भर दी गई कि उनके और हिन्दुओं के हित पृथक्-पृथक् हैं।

2. **बहुसंख्यक हिन्दुओं के हावी होने का भय पैदा होना**—मुस्लिम लीग और कट्टर एवं पृथकतावादी मुस्लिम नेताओं के प्रभाव से मुसलमानों में यह विश्वास जम गया कि यदि भारत को उत्तरदायी शासन दिया गया तो बहुसंख्यक हिन्दू अल्पसंख्यक मुसलमानों पर हावी हो जाएँगे।

3. **मुसलमानों में शैक्षणिक पिछड़ेपन का भय**—मुसलमानों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि शिक्षा की दृष्टि से मुस्लिम जनता पिछड़ी हुई है, अतः वह हिन्दुओं से स्पर्द्धा नहीं कर सकेगी। इस कारण मुसलमान हिन्दुओं से दूर होते चले गए।

4. **जिन्ना का द्विराष्ट्र सिद्धान्त**—1940 में मुहम्मद अली जिन्ना ने द्विराष्ट्र सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। अब मुसलमान इस पर अड़े हुए थे कि उनका अपना अलग देश होना चाहिए।

5. **ब्रिटिश सरकार की 'फूट डालो' नीति और मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन**—ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम रीति-नीति को प्रोत्साहन दिया। 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का अनुसरण कर ब्रिटिश सरकार ने अन्य सम्प्रदायों को हानि पहुँचाकर मुसलमानों का पक्ष लिया। मुस्लिम जनता की प्रसन्नता के लिए बंगाल का विभाजन किया गया। 1909 में मुसलमानों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया। विधान मण्डलों में उन्हें जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया और इण्डिया कौंसिल एवं गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे गए। इससे हिन्दुओं और मुसलमानों में मतभेदों की खाई चौड़ी होती गई। ब्रिटिश मुसलमानों को अपने पक्ष में करने के लिए रियायतें पेश करती रही। ब्रिटिश सरकार ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं कि भारत के मुसलमान अपनी प्रत्येक बात के लिए

---

1. एस. एल. जैन : आधुनिक भारत में भारतीय राजनीतिक विचारक, पृ. 155-158.

ब्रिटिश सरकार पर निर्भर हो गए। उन्हें काँग्रेस अथवा हिन्दुओं से समझौता करने में कोई रुचि नहीं रही। 1946 और 1947 में मुस्लिम लीग के आन्दोलन में ब्रिटिश नौकरशाही ने सक्रिय सहायता दी। हिन्दुओं के प्रदर्शन पर उनका दमन किया गया जबकि मुस्लिम लीग बिना सरकारी दमन के अपने उग्र और हिंसक प्रदर्शन करती रही।

6. मुसलमानों के प्रति काँग्रेस की तुष्टिकरण की नीति—काँग्रेस ने मुसलमानों को खुश करने का रवैया अपनाया और उन्हें अपनी अनुचित माँगें बढ़ाने को प्रोत्साहन दिया। मुसलमानों को अपने पक्ष में करने की प्रबल भावना से काँग्रेस ने अनेक बार अपने सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। साम्प्रदायिक रोग अत्यधिक बढ़ गया। अन्ततः भारत का विभाजन हो गया। काँग्रेस ने मुसलमानों के पृथकतावादी और आक्रामक स्वरूप को समझने की चेष्टा नहीं की और यह सोचा कि साम्प्रदायिक समस्या अचानक दूर हो जाएगी।

काँग्रेस ने स्वयं को धोखा देने की गलती की। काँग्रेस ने कई गलत कदम उठाए। पहली गलती 1916 में लखनऊ पैक्ट में सम्मिलित होने की, की गई। इसमें काँग्रेस ने मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन की माँग स्वीकार कर ली। विधान-मण्डलों में मुसलमानों को एक निश्चित अनुपात में स्थान देने की शर्त स्वीकार करना दुर्भाग्यपूर्ण रहा। दूसरी गलती 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय के बारे में हुई। काँग्रेस की नीति से मुसलमानों की पृथकतावादी प्रवृत्ति को बल मिला। एक गलती यह थी कि मुस्लिम लीग को संविधान-सभा में भाग लेने के लिए सहमत किए बिना अन्तरिम सरकार में सम्मिलित कर लिया गया। अन्तरिम सरकार के लीगी सदस्यों ने अड़ंगेबाजी की नीति अपनाई जिससे पाकिस्तान स्थापित किए जाने के वातावरण को बल मिला। अन्तरिम सरकार के लीगी सदस्यों ने अपने विभागों के महत्वपूर्ण पदों से हिन्दुओं और सिक्ख अधिकारियों को हटाकर ऐसे मुसलमानों को नियुक्त कर दिया जिन पर पाकिस्तान के पक्ष में मिलने का भरोसा किया जा सकता था।

7. साम्प्रदायिक झगड़े—अन्तरिम सरकार के समय विशाल पैमाने पर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए, अतः काँग्रेस कार्य-समिति विवश हो गई कि वह भारत-विभाजन की दृष्टि से विचार करे। फरवरी, 1947 में ब्रिटिश सरकार की इस घोषणा ने कि भारतीयों को शीघ्र सत्ता सौंपने का निश्चय कर लिया गया है, देश की साम्प्रदायिक स्थिति को बिगाड़ दिया। इस घोषणा से पाकिस्तान निर्माण के आन्दोलन को सहायता मिली।

8. काँग्रेस की भारत को शक्तिशाली बनाने की इच्छा—देश के साम्प्रदायिक और राजनीतिक वातावरण से बाध्य होकर मई 1947 में काँग्रेस ने अनुभव किया कि भारत का विभाजन होना आवश्यक है। सरदार पटेल के शब्दों में "मैंने यह अनुभव किया कि यदि हम विभाजन को स्वीकार न करते तो भारत अनेक टुकड़ों में बँट जाता और बर्बाद हो जाता। एक वर्ष पदासीन रहने पर मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय हो गया कि जिस मार्ग पर हम जा रहे थे वह विनाश की ओर ले जा रहा था। मैंने अनुभव किया कि हमारे देश में अनेक पाकिस्तान बन जाएँगे तथा प्रत्येक दफ्तर में पाकिस्तानी सैल होंगे। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि देश का विभाजन कर इन विदेशियों का यहाँ से शीघ्रातिशीघ्र चले जाना श्रेयस्कर है। मैंने यह अनुभव किया कि देश को सुरक्षित और समृद्ध बनाने का हल यही है कि शेष भारत को एक कर दिया जाए।"

9. अखण्ड भारत के लिए पाकिस्तान—अनेक नेताओं का विचार था कि राजनीतिक, आर्थिक, भौगोलिक और सैनिक दृष्टिकोण से पाकिस्तान एक कमजोर राष्ट्र सिद्ध होगा और विषम परिस्थितियों तथा आन्तरिक कमजोरियों के कारण नहीं टिक सकेगा। उन्हें आशा थी कि अन्त में पाकिस्तान समाप्त हो जाएगा और भारत एक हो जाएगा। आचार्य कृपलानी ने कहा था—"एक दृढ़ और सुखी प्रजातान्त्रिक भारत अलग होने वाले भाग को वापिस ले सकता है, क्योंकि हमारी स्वतन्त्रता भारत की एकता के बिना पूर्ण नहीं हो सकती।" इस प्रकार की विचारधारा ने तत्कालीन परिस्थितियों में भारत के विभाजन को प्रोत्साहित किया।

10. सत्ता हस्तान्तरण की धमकी—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली द्वारा 20 फरवरी, 1947 को यह घोषणा की गई कि एक निश्चित तिथि तक भारतीयों को सत्ता सौंप दी जाएगी। इस घोषणा से भारतीय नेताओं को भय हो गया कि यदि भारत विभाजन न हुआ तो सत्ता-हस्तान्तरण के समय गृह-युद्ध छिड़ सकता है और देश दो से अधिक टुकड़ों में बँट सकता है। यह आशंका थी कि यदि भारत-विभाजन के माउण्ट बेटन फार्मूले को स्वीकार न किया गया तो ब्रिटिश सरकार अपना निर्णय भारतीयों पर लाद देगी जो अधिक हानिकारक सिद्ध होगा।

11. सत्ता का लालच—माइकेल बेचर का विचार था कि काँग्रेसी नेता 1935 के संविधान के अन्तर्गत सत्ता अनुभव कर चुके थे और शीघ्रातिशीघ्र सत्ता हथियाने के पक्ष में थे अतः उन्होंने भारत के विभाजन को अधिक टालना उचित नहीं समझा।

12. माउण्ट बेटन का प्रभाव—भारत के विभाजन को मनवाने में माउण्ट बेटन दम्पत्ति का व्यक्तिगत प्रभाव सर्वाधिक रहा। माउण्ट बैटन का विचार था कि देश के विभाजन की कीमत पर भारतीयों को आजादी ले लेनी चाहिए और यह अंग्रेजों के लिए हितकारी होगा। उनकी व्यावहारिक राजनीतिक चतुरता, प्रशासनिक निपुणता और विनय व्यवहार ने महात्मा गाँधी प. नेहरू आदि नेताओं के हृदय को जीत लिया। श्रीमती माउण्ट बेटन की बुद्धिमता, चतुराई नेहरू और गाँधी के प्रति उनकी समर्पणशीलता और आकर्षक स्वभाव ने भारत विभाजन में मुख्य भूमिका निभाई।

उपर्युक्त सभी भूलों, प्रभावों और विषम परिस्थितियों ने काँग्रेस के सामने यह समस्या उत्पन्न कर दी कि दो बुराइयों में से एक को चुन लिया जाए अर्थात् या तो सारे देश पर मुस्लिम आधिपत्य हो जाए या भारत-भूमि का विभाजन हो जाए। काँग्रेस ने विभाजन को स्वीकार कर लिया।

भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति में सहायक तत्त्व—भारत का विभाजन जब काँग्रेस को मान्य हो गया तो इसे मूर्त रूप देने के लिए जुलाई 1947 में ब्रिटिश संसद द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम (The Indian Independence Act, 1947) पारित कर दिया गया, जिसके द्वारा 15 अगस्त, 1947 को भारत से ब्रिटिश शासन का अन्त हो गया और भारत तथा पाकिस्तान दो अधिराज्यों की स्थापना हो गई, जिन्हें ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार दिया गया।

1. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति—भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन उग्रवादी, क्रान्तिकारी और वैधानिक रूप लिए हुए था। सभी जातियों और वर्गों ने एक स्वर से स्वतन्त्र भारत का नारा लगाया था। 1942 का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन अंग्रेजों के लिए भारत छोड़ने की चुनौती थी। आजाद हिन्द फौज और सैनिक विद्रोह ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ें हिला दी थीं। महायुद्ध के बाद स्वतन्त्रता के बारे में भारतीयों का नारा हो गया था—'अभी नहीं तो कभी नहीं' (Now or Never)। इन परिस्थितियों में अंग्रेज यह समझ गए थे कि भारतीयों को स्वतन्त्रता देनी होगी।

2. महायुद्ध के कारण ब्रिटेन का निर्बल हो जाना—द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप ब्रिटेन राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इतना कमजोर हो गया था कि उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह भारतीय साम्राज्य का भार वहन करता तथा भारत को बलपूर्वक अपने अधीन रख सकता।

3. एशिया में जागरण—एशिया में जो स्वतन्त्रता आन्दोलन चल रहे थे, उनका भारत पर प्रभाव पड़ा था। राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत एशियाई राष्ट्रों में भारत अग्रणी था। एशिया के इस राष्ट्रीय जागरण ने ब्रिटेन को विवश कर दिया कि वह भारत को स्वतन्त्र कर दे।

4. ब्रिटेन में मजदूर दलीय सरकार का निर्माण—1945 के आम चुनावों में विजय प्राप्त कर मजदूर दल द्वारा सरकार का निर्माण महत्त्वपूर्ण घटना थी। मजदूर दल पहले ही घोषणा कर चुका था कि सत्तारूढ़ होते ही वह भारतीय संवैधानिक गतिरोध को दूर कर भारतीयों को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। मजदूर दल ने अपनी बात निभाई। मौलाना आजाद के शब्दों में भारत को तेजी से और सौजन्यपूर्ण तरीकों से अंग्रेजों द्वारा छोड़ने के लिए मजदूर सरकार बधाई की पात्र थी।

5. अन्तर्राष्ट्रीय दबाव—ब्रिटेन पर भारत को स्वतन्त्र करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दबाव सहायक सिद्ध हुए। जापान और जर्मनी को सहन नहीं था कि पराजय के बाद उनके उपनिवेश छीन लिए जाएँ और अंग्रेज अपने उपनिवेश कायम रखें। इसके अतिरिक्त अमेरिका भारत को स्वतन्त्रता देने के लिए आग्रह कर रहा था। रूस अंग्रेजों के उपनिवेशवाद का घोर विरोधी था। सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि "अमेरिका और रूस जैसी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के दबाव के कारण भारत पर आधिपत्य कायम रखना असम्भव हो गया है।" चीन भी भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थक था।

6. भारतीय शासन अलाभकारी—द्वितीय महायुद्ध तक भारत औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति कर चुका था और युद्ध के बाद इंग्लैण्ड भारत को अधीन रखना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं था। इस समय तक इंग्लैण्ड से भारत में आयात घट गया था। अंग्रेजों ने आर्थिक लाभ के लिए भारत पर आधिपत्य स्थापित किया था और अब आर्थिक लाभ के लिए उन्होंने भारत को छोड़ देना उपयुक्त समझा।

7. साम्यवाद का भय—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के संविधान को पूर्ण करने और शरणार्थियों को बसाने का कार्य सम्पन्न किया गया। देश के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का शुभारम्भ किया गया। साम्यवाद पर जनता का विश्वास नहीं था, परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति में काँग्रेस की विफलता से जनता साम्यवाद की तरफ झुकने लगी थी। यह स्थिति लोकतन्त्र के लिए घातक थी और अंग्रेजों को भय था यदि सत्ता का हस्तान्तरण शीघ्र नहीं किया तो भारत में साम्यवाद तेजी से फैलेगा। अंग्रेज जाते समय अधिराजत्व (Paramountacy) केन्द्रीय सरकार को नहीं दे पाए, अतः देशी रियासतों ने स्वतन्त्र रहने की आकांक्षा से भारत की राजनीतिक एकता में संकट पैदा कर दिया, लेकिन तत्कालीन गृह मन्त्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने चतुराई से उन्हें भारतीय संविधान को मानने के लिए राजी कर लिया। देशी रियासतों को भारतीय संघ में शामिल किया गया और देश की एकता की रक्षा की गई।

8. ब्रिटिश राज्य और भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की देन—ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत जाने-अनजाने में ऐसे कार्य हुए जो भारत की स्वतन्त्रता के लिए उत्तरदायी थे—जैसे प्रशासकीय एकता, यातायात और संदेशवाहन के साधनों का विकास, शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का विकास आदि। दूसरी ओर काँग्रेस ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्तिकारी और सक्रिय बना दिया था।

□□□

15

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

(Salient Features of the Indian Constitution)

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की दार्शनिक मान्यताएँ

(Philosophical Postulates of Indian Political System)

संविधान सभा ने संविधान के निर्माण में भारत के उदारवादी दार्शनिक दृष्टिकोण और मान्यताओं को स्थान दिया है। संविधान में समाहित मुख्य दार्शनिक मान्यताएँ निम्नांकित हैं—

1. यह निश्चय किया गया कि भारतीय संघ एक धर्म निरपेक्ष राज्य होगा। संविधान के धार्मिक स्वतंत्रता सम्बन्धी उपबन्ध धर्म-निरपेक्ष राज्य की आधारशिला है। धर्म-निरपेक्ष राज्य अधार्मिक या धर्म विरोधी न होकर विभिन्न धर्मों के मध्य तटस्थ रहता है और उसकी किसी धर्म विशेष में आस्था नहीं होती। वह किसी धर्म विशेष को प्रोत्साहन नहीं देता और किसी भी धर्म के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं करता।

2. संविधान ने जाति, सम्प्रदाय, मूल वंश अथवा लिंग के भेदभाव के बिना सभी भारतीयों के लिए समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। संविधान निर्माताओं ने प्रस्तावना में 'समता' अथवा 'समता—सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक' नहीं कहा, बल्कि 'स्थान और अवसर की समता' पर बल दिया है।

3. संविधान-सभा ने राज्य रूपी संयन्त्र की रचना करते समय संसदीय लोकतन्त्र का प्रतिपादन किया। देश में संसदीय राजनीतिक व्यवस्था ने अपनी सार्थकता और सफलता सिद्ध की है।

4. भारतीय संविधान और राजनैतिक व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त हैं—बंधुता और राष्ट्रीय एकता के मूल्य। भारत में विभिन्न धर्मों, भाषाओं जातियों और रीति-रिवाजों के बावजूद एक बुनियादी एकता है और इस एकता को दृढ़ता प्रदान करना राष्ट्र का सर्वसम्मत लक्ष्य है। संविधान ने साम्प्रदायिक निर्वाचनों का और अस्पृश्यता का अन्त कर भारतीय समाज के विभिन्न तत्वों को एक-दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया और एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना कर देश की एकता पर बल दिया है।

5. भारतीय संविधान में फेबियनवाद की छाप विशेष रूप से प्रस्तावना तथा नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में दिखाई देती है। प्रस्तावना नीति-निर्देशक सिद्धान्तों और सामाजिक सिद्धान्तों में आर्थिक न्याय का उल्लेख किया गया है।

6. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में गाँधीवादी दर्शन की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। संविधान में पंचायती राज, कुटीर उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन, मद्य-निषेध और दुधारू पशुओं की रक्षा आदि का उल्लेख है। यह गाँधीवादी दर्शन की व्यवस्थापरक छाप है।

7. लोक-कल्याणकारी राज्य तथा सामाजिक न्याय, आर्थिक विकास तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना इसके मूलाधार हैं।

(1) प्रस्तावना

(Preamble)

भारतीय संविधान की अपनी एक प्रस्तावना है जो संविधान-निर्माताओं के विचारों की कुंजी है।[1] प्रस्तावना में संविधान का सार एवं दर्शन है। प्रस्तावना में निरूपित तथ्यों सिद्धान्तों और आदर्शों की छाप समूचे संविधान पर है और प्रस्तावना के आधार पर समूचे संविधान का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। प्रस्तावना की शब्दावली में अनेक शब्द और

1 इन री बेरुबारी यूनियन, ए. आई. आर. 1960 सु. को 845

पद ऐसे है जिसमें भारत की प्राचीन एवं पाश्चात्य परम्पराओं के सर्वश्रेष्ठ तत्व समाहित है और जो प्रयोग की दृष्टि से सार्वभौम हैं। प्रस्तावना पर तीन महान क्रान्तियों का प्रभाव पड़ा है—फ्रांसीसी, अमेरिकी, रूसी। फ्रांसीसी क्रान्ति में स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व पर, अमेरिकी क्रान्ति में राजनीतिक स्वतन्त्रता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर और रूसी क्रान्ति में आर्थिक समानता पर बल दिया गया था। भारतीय क्रान्ति के सूत्रधारों ने इन तीनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।[1] हमारे संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है—

"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक, धर्म-निरपेक्ष समाजवादी[2] गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता[3] सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज दिनांक 26 नवम्बर, 1949 को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते है।"

संविधान के उपबन्धों के निर्वाचन में प्रस्तावना का महत्त्व

प्रस्तावना को संविधान में कोई विधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। बेरुबारी के मामले में उच्चतम न्यायालय ने एक मत व्यक्त किया था कि प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं है। 'इन-री-इण्डो-पाकिस्तान एग्रीमेन्ट' के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि प्रस्तावना को संविधान का प्रेरणा तत्त्व कहा जाए, किन्तु उसे संविधान का आवश्यक अंग नहीं कहा जा सकता है। इसके न रहने से संविधान के मूल उद्देश्य में अन्तर नहीं पड़ता है। यह न तो सरकार को शक्ति प्रदान करने का स्रोत है और न ही उस शक्ति को संकुचित करता है, किन्तु केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के वाद में उच्चतम न्यायालय ने बेरुबारी के मामले में दिए गए निर्णय को बदल दिया है और यह निर्धारित किया कि प्रस्तावना संविधान का एक भाग है।[4] यदि संविधान की भाषा अस्पष्ट और संदिग्ध हो, तो अर्थ स्पष्ट करने के लिए प्रस्तावना का सहारा लिया जा सकता है। प्रस्तावना को भारतीय संविधान की 'आत्मा' कहा जा सकता है।

प्रस्तावना की व्याख्या

'हम भारत के लोग'—इन शब्दों में संविधान के निर्माताओं के अनुसार अन्ततः शक्ति जनता में निहित है। सरकार की राज्यसत्ता के विभिन्न अंगों में जो शक्तियाँ हैं, वे सब जनता से मिलती हैं। संविधान जनता के प्राधिकार पर आधारित है। 'हम भारत के लोग' से तात्पर्य है संविधान का निर्माण राज्यों के लोगों ने नहीं किया, बल्कि समूचे भारत के लोगों ने अपनी सामूहिक क्षमता से किया है इसलिए सांविधानिक दृष्टि से न कोई राज्य अथवा राज्य-समूह हमारे संविधान का अन्त कर सकता है और न वह संविधान द्वारा निर्मित संघ से बाहर आ सकता है। प्रस्तावना में प्रयुक्त 'हम भारत के लोग' इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं। पदावली से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान का स्रोत भारत की जनता है, अर्थात् जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा द्वारा संविधान का निर्माण किया गया है।

'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न'—प्रस्तावना के 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' पद से यह व्यक्त होता है कि भारत पूर्ण रूप से प्रभुता-सम्पन्न राज्य है और कानूनी दृष्टि से इसके ऊपर किसी आन्तरिक शक्ति का प्रतिबन्ध नहीं है और न किसी बाहरी शक्ति का। प्रस्तावना के अनुसार प्रभुता समूची भारतीय जनता में अथवा भारतीय गणराज्य में निहित है। आन्तरिक क्षेत्र में भारतीय संघ के क्षेत्राधिकार पर भारतीय जनता का प्रभुत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में प्रभुसत्ता का अभिप्राय है कि राज्य अन्य राज्यों के सन्दर्भ में पूर्ण स्वतन्त्र है और उसकी विदेश नीति पर कोई अंकुश नहीं है।

'लोकतन्त्रात्मक'—भारतीय संविधान के दर्शन में लोकतन्त्र को जीवनयापन की पूरी व्यवस्था के रूप में तथा जीवन के समग्र दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया है। लोकतन्त्र के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पहलू हैं। राजनीतिक पहलू में राजनीतिक समानता के आदर्श को माना गया है और राजनीतिक शक्ति पर किसी वर्ग-विशेष का एकाधिकार स्वीकारा नहीं गया है। सामाजिक आदर्श के रूप में लोकतन्त्र मनुष्य में समानता का प्रतिपादन करता है। लोकतन्त्र में कोई सुविधा सम्पन्न वर्ग विशेष को नहीं हो सकती और जाति, भाषा, धर्म, वंश, धन और लिंग के आधार पर व्यक्ति में भेदभाव नहीं किया जा सकता है। लोकतन्त्र में आर्थिक पक्ष का अभिप्राय है कि समाज की आर्थिक शक्ति का ऐसा समानतायुक्त वितरण हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सुखी एवं समृद्ध हो सके, उसे आत्मविकास के समान अवसर मिल सकें और उसके व्यक्तिगत अधिकार एवं चुनाव में मतदान के अधिकार, उसका सम्मान और उसकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सके। प्रस्तावना में 'लोकतन्त्रात्मक' शब्द 'गणराज्य' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे यह सन्देह हो

1. डॉ. सुभाष कश्यप : वही, पृ. 319
2 3. 42वें संविधान संशोधन, 1976 द्वारा सम्मिलित।
4. ब्रजकिशोर पाण्डेय : वही, पृ. 36.

सकता है कि संविधान में न केवल राजनीतिक लोकतन्त्र का प्रवर्तन किया है, पर प्रस्तावना के आगे के शब्द 'न्याय', 'स्वतन्त्रता', 'समता', 'व्यक्ति की गरिमा', 'बन्धुता' आदि इस के सबूत हैं कि संविधान-निर्माताओं का लक्ष्य देश में राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र की नींव डालना था।

'धर्म-निरपेक्ष'—यह शब्द संविधान की मूल प्रस्तावना में नहीं था, वरन् 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया है। धर्म निरपेक्षता की अवधारणा संविधान में प्रयुक्त 'विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता' की पदावली में पहले से अन्तर्निहित है। इस संशोधन द्वारा उसे स्पष्ट कर दिया गया है। 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से है जो सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करता है तथा उन्हें सम्मान संरक्षण प्रदान करता है। धर्म मानने, आचरण करने तथा प्रचार करने में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है।[1]

'समाजवादी'—यह शब्द मूल प्रस्तावना में नहीं था, वरन् 42वें संविधान अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया है। प्रस्तावना में प्रयुक्त 'आर्थिक न्याय' पदावली में समाजवाद की अवधारणा अन्तर्निहित है। संविधान-निर्माताओं ने इस 'आर्थिक न्याय' पदावली की निश्चित परिभाषा नहीं दी है। यह संशोधन इस 'आर्थिक न्याय' को एक निश्चित दिशा देता है। भारतीय संविधान में एक मध्यम मार्ग अपनाकर मिश्रित अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्रस्तावना में 'समाजवाद' शब्द के साथ 'लोकतान्त्रिक' शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है। लोकतन्त्र और समाजवाद के इस अनोखे सामंजस्य के प्रयास की परिकल्पना इस दिशा में एक नवीन कदम है।

'गणराज्य'—प्रस्तावना ने देश को एक 'गणराज्य' की संज्ञा दी है इससे स्पष्ट है भारत में राज्य का प्रधान कोई आनुवंशिक नरेश नहीं, प्रत्युत् निर्वाचित राष्ट्रपति है। देश में विशेषाधिकार-सम्पन्न वर्ग नहीं है। राज्य के छोटे पद से लेकर राष्ट्रपति पद तक जाति, धर्म, प्रदेश या लिंग के बिना किसी भेद के सभी नागरिकों के लिए उन्मुक्त व्यवस्था है। हमारे गणराज्य में उच्चतम शक्ति सार्वभौम वयस्क मताधिकार से सम्पन्न भारतीय जन-समुदाय में निहित है।

'न्याय'—हमारे संविधान में बुनियादी और मौलिक धारणा 'न्याय' की है इसलिए प्रस्तावना में 'न्याय' को 'स्वतन्त्रता' और 'समता' से ऊपर रखा गया है। भारतीय संविधान में न्याय का आदर्श है—'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया'। संविधान के चौथे भाग, अनुच्छेद 38 में इस आदर्श का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि राज्य का कर्तव्य होगा कि वह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे और लोक-कल्याण की उन्नति का पथ प्रशस्त करे। संविधान ने न्याय को आदर्श मानकर उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पक्षों पर बल दिया है।

'सामाजिक न्याय'—सामाजिक न्याय का अभिप्राय है कि मनुष्य के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों के समुचित विकास के समान अवसर उपलब्ध हों, किसी रूप में शोषण न हो और उसके व्यक्तित्व को एक पवित्र सामाजिक विभूति माना जाए, किसी परोक्ष लक्ष्य की सिद्धि का साधन-मात्र नहीं है। सामाजिक न्याय के इस मूलभूत मानवीय सिद्धान्त को संविधान में अनेक रूपों में मान्यता मिली है। संविधान के तीसरे और चौथे भाग में सामाजिक न्याय की सिद्धि के विविध उपायों का उल्लेख किया गया है।

'आर्थिक न्याय'—अनुच्छेद 39 में आर्थिक न्याय के आदर्श को स्वीकार किया गया है। इसमें राज्यों से कहा गया है कि वह अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करे कि सभी नर-नारियों को आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण ऐसा हो जिससे अधिकाधिक सामूहिक हित सम्भव हो सके, आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत धन का और उत्पादन एवं वितरण के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकर केन्द्रीकरण न हो, पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले श्रमिकों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमारता का दुरुपयोग न हो आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर किसी ऐसे व्यवसाय में न जाना पड़े जो उसकी आयु अथवा शक्ति के उपयुक्त न हो शैशव और किशोर अवस्था का शोषण तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो। 'समाजवादी ढंग के समाज', 'लोकहितकारी राज्य' और 'मिश्रित राज्य नीति' जैसे पदों में व्यक्त होता है कि भारतीय राज्य आर्थिक क्षेत्र में किन्हीं प्रतीकों की ओर न जाकर, राष्ट्रीय लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहता है।

'राजनीतिक न्याय'—भारतीय संविधान सार्वभौम वयस्क मताधिकार की स्थापना, साम्प्रदायिक निर्वाचनों के अन्त और अनुच्छेद 19 से 22 तक के अन्तर्गत विधि स्वातन्त्र्य अधिकारों तथा अनुच्छेद 32 के अधीन सांविधानिक उपचारों द्वारा राजनीतिक न्याय के आदर्श को मूर्त रूप प्रदान करता है।

'स्वतन्त्रता'—विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता को व्यक्तियों तथा राष्ट्र के आत्मिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक माना है। संविधान के भाग 3 में मूल अधिकारों के अन्तर्गत स्वातन्त्र्य-अधिकारों का विस्तार

1 जयनारायण पाण्डेय वही पृ 38

से प्रतिपादन किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 19-22 के द्वारा भारत के सभी नागरिकों को प्राप्त स्वतन्त्रताओं को सामूहिक रूप से 'स्वातन्त्र्य अधिकारों' की संज्ञा दी गई है। अनुच्छेद 19 में नागरिकों को ऐसी वैयक्तिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं जो उदारवादी लोकतन्त्र के लिए अनिवार्य हैं।

'समता'—प्रस्तावना में 'प्रतिष्ठा और अवसर की समता' की बात कही गयी है। समानता के सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए संविधान-निर्माताओं ने प्रस्तावना में 'समता' शब्द नहीं कहा और न ही 'समता-सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक' कहा है उन्होंने स्पष्टतः 'प्रतिष्ठा और अवसर की समता' पर बल दिया है। प्रतिष्ठा और अवसर की समता के कई पहलू हैं—वैधिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक। वैधिक रूप से विधि के समक्ष सब नागरिकों को समान होना चाहिए। सामाजिक दृष्टि से धन, जाति, बिरादरी और वंश आदि के आधार पर मनुष्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में सभी नागरिकों—अपराधियों तथा पागलों को छोड़कर—देश के शासन में समान भाग मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा धन के आधार पर राजनीतिक अधिकारों का निषेध राजनीतिक समता का उल्लंघन करना है। आर्थिक सन्दर्भ में समता का अभिप्राय है कि योग्यता और समान श्रम के लिए वेतन समान हो। आर्थिक समता में एक वर्ग को दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण करने का कोई अधिकार नहीं है।

'व्यक्ति की गरिमा' और 'बन्धुता'—प्रस्तावना में अन्य दो आधारभूत सिद्धान्त एवं आदर्श हैं—व्यक्ति की गरिमा तथा बन्धुता। संविधान में समानता के आदर्श ने 'व्यक्ति की गरिमा' को प्रतिष्ठित किया है। सारे देश के लिए एक प्रशासन, नागरिकता, ध्वज, कानून व्यवस्था आदि की स्थापना करके देश को एकता के सूत्र में बाँधने और राष्ट्रीय बन्धुता को सुदृढ़ करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व बन्धुता की भावना के प्रचार प्रसार का निरन्तर प्रयास किया है।

'राष्ट्र की एकता और अखण्डता'—प्रस्तावना में इसका मन्तव्य यह है कि विभिन्नताओं के बावजूद देश में एक बुनियादी एकता है जिसे दृढ़ता प्रदान करना राष्ट्र का सर्वसम्मत लक्ष्य है। 'अखण्डता' शब्द मूल प्रस्तावना में नहीं था वरन् 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा इसे प्रस्तावना में समाविष्ट किया गया है।

प्रस्तावना में संशोधन

यह विवादास्पद प्रश्न है कि प्रस्तावना में अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन किया जा सकता है अथवा नहीं? केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के वाद में यह प्रश्न सर्वप्रथम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ उपस्थित हुआ था। सरकारी पक्ष द्वारा यह कहा गया है कि चूँकि प्रस्तावना संविधान का एक अंग है, अतएव अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत उसमें संशोधन किया जा सकता है। अपीलार्थी की ओर से कहा गया कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन की शक्ति सीमित है। प्रस्तावना में संविधान का आधारभूत ढाँचा सन्निहित है जिसे संशोधन करके नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे सांविधानिक स्थिति का चरमरा जाना निश्चित है। यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि प्रस्तावना संविधान का भाग है, तथापि विद्वान न्यायाधीशों में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं था कि इसमें संशोधन किया जा सकता है या नहीं। न्यायाधीशों के बहुमत का विचार इसी पक्ष में रहा कि प्रस्तावना में अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संशोधन नहीं किया जा सकता है। संविधान के 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि संसद को प्रस्तावना में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है, किन्तु जब तक केशवानन्द भारती का विनिर्णय उलट नहीं दिया जाता, प्रस्तावना में किए गए संशोधन को कभी न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है कि वह उसमें निहित आधारभूत ढाँचे में परिवर्तन है।

भारत का संविधान भारतीय शाश्वत मूल्यों, मान्यताओं एवं आस्थाओं के समेकित दार्शनिक आधारों पर आधारित है जिसमें व्यक्ति की गरिमा, उसकी प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को समाविष्ट किया गया है।

(2) मूल अधिकार और कर्त्तव्य
(Fundamental Rights and Duties)

विश्व के संविधानों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का समावेश हुआ है, इसलिए भारतीय संविधान के अध्याय 3 को भारत का अधिकार-पत्र (Bill of Rights) कहा गया है। संविधान के भाग 3 (अनुच्छेद 12 से 35) में भारत के नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख है। संविधान-निर्माताओं को विश्वास था कि भारत में पहली बार प्रजातन्त्र का प्रयोग हो रहा है अतः मूलाधिकारों का उल्लेख करना व्यक्ति स्वातन्त्र्य की आधारशिला के समान है।

मौलिक अधिकारों के विशिष्ट लक्षण

(Special Features of Fundamental Rights) -

1. मौलिक अधिकार संघीय सरकार और राज्यों तथा प्रत्येक अधिकारी जिसे विधि-निर्माण की शक्ति हो, सीमाएँ (Limitations) आरोपित करते हैं। ये उन सभी पर बन्धनकारी (Binding) हैं।

2. ये अधिकार भारत की आधारभूत एकता (Basic Unity of India) पर बल देते हैं। भारत विभिन्न इकाइयों में बँटा है और पृथक् अधिकारियों (Separate Authorities) की व्यवस्था है, किन्तु नागरिकों को अधिकार है कि वह सभी अधिकारियों से समान व्यवहार प्राप्त करें।

3. ये अधिकार पूर्णतः निरपेक्ष (Absolute) नहीं हैं। प्रत्येक मामले में संविधान में अपवादों, परिसीमाओं और अर्हताओं को बताया गया है। संविधान ने राज्य को इन अधिकारों पर सीमाएँ लगाने का अधिकार दिया है।

4. अधिकारों के उपयोग में संविधान ने नागरिकों (Citizens) और विदेशियों (Aliens) में अन्तर किया है। कानून के समक्ष समानता, धार्मिक स्वतन्त्रता आदि अधिकार नागरिकों और विदेशियों के लिए समान हैं जबकि भाषण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता (Freedom of Speech & Conference) तथा सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार नागरिकों को दिए गए हैं। यह अन्तर संविधान में प्रयुक्त 'नागरिकों' (Citizens) और 'व्यक्तियों' (Persons) शब्दों से स्पष्ट है।

5. कोई व्यक्ति (Individual) मौलिक अधिकारों के बाहर राज्य के विरुद्ध किसी मौलिक अधिकार का दावा नहीं कर सकता है। भारतीय न्यायालयों के लिए ऐसे मौलिक अधिकार की खोज करने का अधिकार नहीं है जो संविधान में न रखे गए हों। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन क्षेत्र पर यह प्रतिबन्ध (Restriction) है।

6. भारतीय मौलिक अधिकार प्रयोग में राज्य और उनके अभिकरणों को नहीं, निजी व्यक्तियों और संगठनों (Private Persons and Organisations) को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए किसी रूप में अस्पृश्यता का व्यवहार व्यक्ति के लिए दण्डनीय अपराध है।

7. मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए और उन्हें वास्तविक बनाने की दृष्टि से सांविधानिक उपचारों की व्यवस्था की गई है। इन सांविधानिक उपचारों के अधिकारों को मौलिक अधिकार मान लिया गया है।

8. संविधान में परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख है जिनमें राज्य सम्पूर्ण देश के हित में नागरिकों के मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सके या उनके उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा सके। प्रतिबन्धित अवस्थाएँ निम्नांकित हैं—

(अ) प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों के सम्बन्ध में (अनुच्छेद 33)—अनुच्छेद 33 के अनुसार संसद को विधि द्वारा यह अधिकार है कि प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों के मौलिक अधिकारों को इस सीमा तक प्रतिबन्धित किया जाये ताकि वे अपने कर्तव्यों का उचित पालन कर सकें और उनमें अनुशासन बना रहे। अनुच्छेद 33 के प्रयोग में संसद ने अनेक अधिनियम पारित किए, जैसे—सेना अधिनियम, 1950, वायु सेना अधिनियम 1950, नौ सेना अधिनियम 1950।

(ब) जब मार्शल लॉ लागू हो (अनुच्छेद 33)—अनुच्छेद 34 के अन्तर्गत संसद विधि द्वारा मार्शल लॉ (सैनिक विधि) के दौरान नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। मार्शल लॉ के दौरान साधारण नागरिक हेतु न्यायालयों का स्थगन हो जाता है और उनके स्थान पर सैनिक न्यायालय कार्य करने लगते हैं। संसद क्षतिपूर्ति अधिनियम पारित करके अधिकारियों द्वारा किये गये कार्यों के दायित्व से उन्हें विमुक्ति प्रदान कर सकती है।

(स) संविधान में संशोधन द्वारा (अनुच्छेद 368)—अनुच्छेद 368 के अनुसार सांविधानिक संशोधन द्वारा मौलिक अधिकारों के निलम्बन की संसद की शक्ति महत्वपूर्ण है। अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधन से सम्बन्धित कानूनों को पारित करने की प्रक्रिया निहित है। वह संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति प्रदान नहीं करता है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत पारित विधि अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत आती है और यदि वे भाग 3 में दिये गये उपबन्धों से असंगत हैं तो अवैध एवं असांविधानिक घोषित किये जा सकते हैं, किन्तु संविधान के 24वें संशोधन अधिनियम, 1971 ने इस निर्णय के प्रभाव को समाप्त कर दिया। चौबीसवें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 13 में नया उपखण्ड 4 जोड़ा गया है और अनुच्छेद 368 में संशोधन किया गया है। इस संशोधन का उद्देश्य संसद के मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति को पुनः स्थापित (Restore) करना है। उपखण्ड 4 यह उपबन्धित करता है कि इस अनुच्छेद 368 के अधीन पारित सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13 के 'विधि' शब्द के अर्थान्तर्गत नहीं आएँगे। यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने चौबीसवें संशोधन अधिनियम को सांविधानिक घोषित कर दिया, किन्तु संसद की संविधान-संशोधन शक्ति पर महत्वपूर्ण परिसीमा लगा दी। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यद्यपि संशोधन शक्ति विस्तृत है, किन्तु असीमित नहीं है और संसद संविधान की शक्ति का प्रयोग इस तरह नहीं कर सकती जिससे संविधान का आधारभूत ढाँचा (Basic Structure) नष्ट हो जाये। केशवानन्द भारती के निर्णय से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 पारित किया गया। इस संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 में नया खण्ड जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया गया कि संसद की संविधान संशोधन शक्ति सर्वोच्च है और उस पर परिसीमा नहीं लगाई जा सकती है। अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत किये गये संशोधनों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है।

(द) आपातकालीन घोषणा के अन्तर्गत (अनुच्छेद 352)—अनुच्छेद 352 के अनुसार आपातकालीन स्थितियों में मौलिक अधिकारों के निलम्बन की व्यवस्था है। आपात-उद्घोषणा के दौरान राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह मौलिक अधिकारों को लागू कराने के लिए न्यायालयों की शरण में जाने के अधिकार को निलम्बित कर दे। 1962 के चीन के आक्रमण के अवसर पर अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा की और अनुच्छेद 359 के अन्तर्गत एक आदेश जारी कर अनुच्छेद 14, 21 एवं 22 द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन को निलम्बित कर दिया। संकट से उत्पन्न स्थिति का सामना करने के लिए भारत सुरक्षा अधिनियम, 1962 (Defence of India Act, 1962) पारित किया गया। यह आपातकालीन स्थिति 10 जनवरी, 1968 तक चलती रही। पाकिस्तान के आक्रमण के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति ने 3 दिसम्बर, 1971 को आपात उद्घोषणा इस आधार पर की कि बाह्य आक्रमण से देश की सुरक्षा को खतरा था। अनुच्छेद 359 के अधीन एक आदेश द्वारा अनुच्छेद 14, 21, एवं 22 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित कराने के अधिकारों को निलम्बित कर दिया गया। 25 जून, 1975 को राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 352 के अधीन पुनः आपात उद्घोषणा की कि गम्भीर आन्तरिक आपातस्थिति विद्यमान है जिससे देश को खतरा है।

संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अनुच्छेद 19(क) में प्रदत्त अधिकारों को देश पर 'बाह्य आक्रमण 'या' सशस्त्र विद्रोह' के कारण देश की सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न होने की दशा में निलम्बित किया जा सकता है, 'आन्तरिक अशान्ति' के आधार पर नहीं। दूसरे अनुच्छेद 358 केवल उन कानूनों को संरक्षण प्रदान करेगा जो आपात-स्थिति से सम्बन्धित हैं, अन्य कानूनों को आपातकाल के दौरान न्यायालयों में चुनौती दी जा सकती है। अनुच्छेद 359 में संशोधन करके यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति को अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त प्राण एवं दैहिक स्वाधीनता के अधिकारों को निलम्बित करने की शक्ति नहीं होगी। भविष्य में अब अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त अधिकार को निलम्बित नहीं किया जा सकेगा जैसा कि 1975 में प्रवर्तित आपातकाल के दौरान कांग्रेस सरकार द्वारा किया गया था। इस संशोधन अधिनियम का उद्देश्य 1975 में प्रवर्तित आपातकाल के दौरान हुई घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकना है।[1] आपातकाल में मौलिक अधिकारों का अवाछनीय रूप से हनन न हो, इस दृष्टि से विभिन्न संवैधानिक व्यवस्थाएँ की गई हैं।

9. मौलिक अधिकारों की व्यवस्था ऐसी की गई है कि व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में सामंजस्य स्थापित हो सके। मौलिक अधिकारों के माध्यम से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखा गया है, वहीं दूसरी ओर समाज और राज्य-हित में उन पर राज्य द्वारा प्रतिबन्ध आरोपित किये जा सकते हैं।

10. मौलिक अधिकारों को न्यायिक संरक्षण प्राप्त है। अगर राज्य इनका अपहरण करने का प्रयास करे तो नागरिकों को राज्य के विरुद्ध न्यायिक संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार है। न्यायपालिका राज्य के अतिक्रमण से इन अधिकारों की रक्षा करती है। मौलिक अधिकारों के संरक्षण की उचित व्यवस्था की गई है।

संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकार

(Fundamental Rights under the Constitution)

भारतीय संविधान में अनुच्छेद 14 से 32 तक निम्नलिखित मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है—

1. समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14-18), 2. स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19-22), 3. शोषण से मुक्ति का अधिकार (अनुच्छेद 23-24), 4. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25-28), 5. सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी (अनुच्छेद 29-30) एवं 6. संविधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)।

26 जनवरी, 1950 को मौलिक अधिकारों की जो स्थिति थी, तदनुसार 'सम्पत्ति के अधिकार' को अनुच्छेद 19(1) (च) और अनुच्छेद 31 में मौलिक अधिकार के रूप में अन्तर्निहित किया गया था, किन्तु 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा सम्पत्ति को मौलिक अधिकार समाप्त कर इसे अनुच्छेद 300 (अ) में सम्मिलित कर दिया गया है। सम्पत्ति का अधिकार साधारण विधिक अर्थात् कानूनी अधिकार रह गया है।

समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14-18)

(Right to Equality)

अनुच्छेद 14 (कानून के समक्ष समानता)

इस अनुच्छेद में घोषणा की गई है कि "भारत राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जाएगा।" यह वाक्यांश 'विधि अथवा कानून के समक्ष समानता' (Equality before Law) इंग्लिश सामान्य विधि (English Common Law) का प्रयोग है, किन्तु 'कानून का

1 जयनारायण पाण्डेय : वही, पृ. 70.

समान संरक्षण (Equal Protection of Law) यह वाक्यांश अमेरिकी संविधान की देन है। इन दोनों वाक्यांशों का उद्देश्य स्तर एवं अवसर की समानता स्थापित करना है। कानून के समक्ष समानता नकारात्मक वाक्यांश है जिसके द्वारा सुविधा प्राप्त नहीं होती वरन् साधारण विधि के अनुसार प्रत्येक वर्ग को समान सजा हो सकती है। कानून का समान संरक्षण एक सकारात्मक वाक्यांश है क्योंकि यह समान परिस्थितियों में समान व्यवहार का आश्वासन देता है। अनुच्छेद 14 ऐसी परिस्थितियों की स्थापना करना चाहता है जिसके अन्तर्गत स्वेच्छाचारी एवं भेदभावपूर्ण कानूनों की रचना नहीं हो पाएगा न कानूनों के प्रयोग में भेदभाव किया जा सकेगा।[1] अनुच्छेद 14 के स्वरूप की व्याख्या करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने चिरंजीतलाल चौधरी बनाम भारत संघ नामक वाद में यह व्यवस्था[2] दी थी कि—

(क) *समान संरक्षण का अर्थ समान परिस्थितियों में समान संरक्षण है।*

(ख) विधि-निर्माण करने के लिए राज्य युक्तिसंगत (Reasonable) विधि के पक्ष में की जाती है।

(ग) युक्तिसंगत होने की प्रकल्पना (Presumption of Reasonableness) वर्गीकरण कर सकता है।

(घ) जो विधि के युक्तिसंगत होने को चुनौती देते हैं उन्हीं का दायित्व है कि वे इसके प्रमाण (The Burden of Proof) प्रस्तुत करें।

युक्तिसंगत वर्गीकरण (Reasonable Classification) के क्षेत्र (Scope) की व्याख्या करते हुए न्यायालय ने कहा है कि एक निगम (Corporation) अथवा व्यक्ति समूह (A Group of Persons) को कानून बनाने के लिए वर्ग (Class) माना जा सकता है यदि ऐसा करने का उचित कारण मौजूद हो। आवेदनकर्ता (Petitioner) पर यह प्रमाणित करने का दायित्व है कि य उसी श्रेणी के नियम हैं किन्तु इस नियम के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है। अनुच्छेद 14 के अनुसार युक्तिसंगत वर्गीकरण के सम्बन्ध में तीन उदाहरण (1) बैंक राष्ट्रीयकरण केस,[3] (2) के. ए. अब्बास बनाम भारत संघ[4] एवं (3) मनका गाँधी बनाम भारत संघ[5] उल्लेखनीय हैं।

उक्त सिद्धान्त के अनुसार अनुच्छेद 14 मनमानेपन (Arbitrariness) के विरुद्ध संरक्षण है। यदि वर्गीकरण दो शर्तों को पूरा करता है तो उसे युक्तियुक्त माना जाता है—(1) वर्गीकरण बोधगम्य अन्तरक पर आधारित है, (2) अन्तरक और कानून के उद्देश्य में सम्बन्ध है किन्तु नए सिद्धान्त के अनुसार युक्तियुक्त वर्गीकरण (Reasonable Classification) सिद्धान्त एक न्यायिक सूत्र (Judicial Formula) है जिसका प्रतिपादन इस तथ्य की जाँच करने के लिए किया गया था कि क्या कोई कार्यपालिका या विधायिका का कृत्य मनमाना है या नहीं? अनुच्छेद 14 का क्रियाशील विस्तार (Activist Magnitude) है और मनमानेपन (Arbitrariness) के विरुद्ध संरक्षण है। यदि राज्य का कार्य मनमाना है तो वह समता का अतिक्रमण होगा और उसे युक्तियुक्त वर्गीकरण के सिद्धान्त पर न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता है।[6] सिरवई[7] ने नए सिद्धान्त की आलोचना और पुराने सिद्धान्त का समर्थन किया है। समानता का अधिकार इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यह विधान-मण्डलों द्वारा पारित भेदभावपूर्ण कानूनों से रक्षा करता है तथा कार्यपालिका की निरंकुशता पर अंकुश रखता है। कानून के समक्ष समानता का अर्थ व्यक्तियों के बीच पूर्ण समानता से नहीं है क्योंकि व्यवहार में यह सम्भव नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जन्म, मूल वंश आदि के आधार पर व्यक्तियों के बीच विशेषाधिकारों को प्रदान करने तथा कर्तव्यों के अधिरोपण में कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा और प्रत्येक व्यक्ति, देश की साधारण विधि के अधीन होगा। इस समानता के मौलिक अधिकार ने भारत में सच्चे अर्थों में लोकतान्त्रिक व्यवस्था को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

अनुच्छेद 15 (सामाजिक समानता)

इस अनुच्छेद के *अनुसार* धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान के आधार पर किसी नागरिक के प्रति राज्य भेदभाव नहीं करेगा। अनुच्छेद 15 में दिए गए अधिकार नागरिकों को प्रदान किए गए हैं विदेशियों को नहीं जबकि अनुच्छेद 14 के अधिकार नागरिकों तथा गैर नागरिकों दोनों को समान रूप से प्राप्त हैं। इस अनुच्छेद में की गई अन्य व्यवस्था के अनुसार धर्म वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान के आधार पर किसी नागरिक पर निम्नलिखित विषयों पर शर्त या प्रतिबन्ध नहीं होगा—

(क) दूकानों सार्वजनिक भोजनालयों होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश,

---

1 2 *एम वी पायली* वही पृ 77 78
3 आर सी. कपूर बनाम भारत संघ, ए आई आर 1970 सुप्रीम कोर्ट, 564
4 ए आई आर, 1971 सुप्रीम कोर्ट, 481
5 ए आई आर, 1978 सुप्रीम कोर्ट, 507
6 *जयनारायण पाण्डेय* पूर्वोक्त, पृ 90
7 एच एम *सिरवई* कॉन्स्टीट्यूशनल लॉ आफ इण्डिया, पृ 274

(ख) ऐसे कुओं, तालाबों, स्नान-घरों, सड़कों तथा सार्वजनिक स्थानों के, जिनकी व्यवस्था पूर्ण अथवा आंशिक रूप से राज्य की निधियों द्वारा की जाती है।

अनुच्छेद 15 की व्यवस्था राज्य को स्त्रियों, बच्चों, पिछड़ा जातियों के लिए विशेष प्रबन्ध करने से नहीं रोकता है। उदाहरणार्थ, यदि सरकार बच्चों एवं स्त्रियों के लिए पृथक् पार्क बनाती है और उसमें पुरुषों के प्रवेश को निषिद्ध ठहराती है। सरकार के इस कदम को अनुचित भेदभाव पर आधारित नहीं समझा जाएगा और ऐसा विशेष व्यवस्था अनुच्छेद 15 का उल्लंघन नहीं होगी। राज्य को अधिकार है कि बाल-विवाह, बहु-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों को रोकने के लिए विशेष कानून बनाए। यूसुफ अब्दुल अजीज बनाम मुम्बई राज्य[1] के वाद में भारतीय दण्ड विधान की धारा 497 की सांविधानिकता को चुनौती दी गई था। प्रार्थी ने धारा 497 को संविधान के अनुच्छेद 15(1) के विरुद्ध बताया और तर्क दिया कि अपराध के लिए पुरुष को दण्डनीय मानना और व्यभिचारिणी को गौण अभियुक्त (Abettor) के रूप में दण्डित न करना अनुचित है। यह विभेद लिंग के आधार पर है। सर्वोच्च न्यायालय ने धारा 497 को वैध माना, क्योंकि वर्गीकरण 'लिंग' के आधार पर नहीं, वरन् समाज में स्त्रियों की विशेष स्थिति के आधार पर किया गया है। उल्लेखनीय है कि इस कानून को संशोधित कर दिया गया है फलस्वरूप अब स्त्री समान रूप से दण्डनीय है यदि वह अपराध को उकसाने में भाग लेती है।

अनुच्छेद 15 भेदभाव को समाप्त करता है इकहरी नागरिकता की भावना का प्रोत्साहन देता है और सामाजिक समानता को सबल बनाता है।[2] यह राज्य के न्यायोचित भेदभाव को निषेध नहीं करता, अनुचित भेदभाव की अवश्य वर्जित है। एक नागरिक के नाते उसे जो अधिकार, सुविधाएँ और उन्मुक्तियाँ (Immunities) प्राप्त हैं उनमें उसमें कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। यह मौलिक अधिकार देश में सामाजिक न्याय की स्थापना करने की दृष्टि से परमावश्यक है।

अनुच्छेद 16 (अवसर की समानता)

यह अनुच्छेद पाँच भागों में विभक्त है। अनुच्छेद 16(1) में लिखा है कि "राज्याधीन नौकरियों अथवा पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी।" अनुच्छेद 16(2) में उल्लेख है कि "केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म-स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर किसी एक नागरिक के लिए राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जाएगा।" अनुच्छेद 16 के अन्य तीन भागों में इसके अपवादों का उल्लेख है। अनुच्छेद 16(3) के अनुसार संसद चाहे विधि द्वारा किसी राज्य या स्थानीय पद को वहाँ के निवासियों के लिए आरक्षित कर सकती है। अनुच्छेद 16(4) के अनुसार, जिन जातियों का लोक-सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व न हो, उनके लिए पदों तथा नौकरियों का राज्य आरक्षण कर सकता है। अनुच्छेद 16(5) में उपबन्धित है कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के अन्तर्गत किसी पद का अधिकारी उस सम्प्रदाय या धर्म का सदस्य हो सकता है अतः अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत नागरिक को राज्य के अधीन नौकरियों में अवसर की समानता का अधिकार प्राप्त है व्यक्तिगत नौकरियों में नहीं।

अनुच्छेद 17 (अस्पृश्यता का अन्त)

इस अनुच्छेद के अनुसार छुआछूत को पूर्णतः समाप्त कर इन्हें व्यवहार में लाना अपराध घोषित किया गया है। अस्पृश्यता को अवैध ठहराने वाला यह अनुच्छेद संविधान के अन्तर्गत दी जाने वाली समता के सभी अधिकारों से मूल्यवान है। अनुच्छेद 17 इसी सामाजिक बुराई का निवारण करता है जो जाति-प्रथा की देन है न कि शाब्दिक अस्पृश्यता की[3]—देखिए देवराजी बनाम पद्मना[4] का विनिश्चय। पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ[5] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 17 द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार राज्य के विरुद्ध नहीं, वरन् प्राइवेट व्यक्तियों के विरुद्ध उपलब्ध है और यह राज्य का सांविधानिक कर्तव्य है कि वह इन अधिकारों का अतिलंघन रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाए।[6]

अनुच्छेद 18 (उपाधियों का अन्त)

इस अनुच्छेद में उपाधियों के उन्मूलन की व्यवस्था है ताकि जनता में कृत्रिम भेदभाव फैलाने की परिस्थितियों पर अंकुश रहे। यह अनुच्छेद चार भागों में बाँटा गया है—

18(1) के अनुसार, "सेना या शिक्षा सम्बन्धी उपाधि के सिवाय और कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा।"

---

1 ए. आई. आर. 1954 सुप्रीम कोर्ट, 321
2 M. V. Pylee, Constitutional Government in India, p. 207
3 जयनारायण पाण्डेय, वही, पृ. 133.
4 ए. आई. आर. 1958, मैसूर 84
5 ए. आई. आर. 1982, सुप्रीम कोर्ट, 1473.
6 जयनारायण पाण्डेय, वही, पृ. 133.

18(2) में लिखा है, "भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा।"

18(3) के अनुसार, "कोई व्यक्ति जो भारत का नागरिक नहीं है, राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।"

18(4) में उल्लेख है, "राज्य के अधीन लाभ-पद या विश्वास-पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से या अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।"

भारत सरकार हर वर्ष गणतन्त्र दिवस पर नागरिकों को 'भारत-रत्न', 'पद्म-विभूषण', 'पदमश्री' आदि उपाधियों से अलंकृत करती है। सैनिक क्षेत्र में 'परमवीर चक्र', 'महावीर चक्र' और 'वीर चक्र' तथा अन्य उपाधियां दी जाती हैं। ये उपाधियां उन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट योगदान देने पर प्रदान की जाती हैं। अनुच्छेद 18 निदेशात्मक है आदेशात्मक नहीं अर्थात् इस अनुच्छेद के उपबन्धों की अवहेलना करने वालों के लिए संविधान में किसी दण्ड-व्यवस्था का उपबन्ध नहीं है।

समता के अधिकार के सम्बन्ध में इन पाँच अनुच्छेदों से यह स्पष्ट है कि संविधान के अन्तर्गत देश में सामाजिक और राजनीतिक समानता को स्थापित करने का जितना प्रभावशाली प्रयत्न किया गया है उतना आर्थिक समानता लाने की दिशा में नहीं।

स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19-22)

(Right to Freedom)

सामूहिक रूप से स्वतन्त्रता के ये चारों अनुच्छेद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अधिकार पत्र हैं।[1] इनमें से 19वां अनुच्छेद सबसे महत्वपूर्ण है जो नागरिकों को ये छः स्वतन्त्रताएं प्रदान करता है—(क) वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, (ख) सभा करने की स्वतन्त्रता, (ग) संघ बनाने की स्वतन्त्रता, (घ) भ्रमण की स्वतन्त्रता, (ङ) आवास की स्वतन्त्रता, (छ) पेशा, व्यापार, व्यवसाय एवं वाणिज्य की स्वतन्त्रता।

अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त अधिकार केवल भारत के नागरिकों को उपलब्ध हैं विदेशियों को नहीं। पूर्व में ये सात स्वतन्त्रताएँ थीं, किन्तु 44वें संविधान संशोधन से सम्पत्ति के 19(1) (च) अधिकार को 1978 में विलोपित कर दिया गया। वर्तमान में भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर निम्नलिखित सात प्रतिबन्ध लागू हैं—(1) राज्य की सुरक्षा और भारत में प्रभुसत्ता एवं अखण्डता, (2) विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, (3) सार्वजनिक व्यवस्था, (4) सदाचार और नैतिकता, (5) न्यायालय की अवमानना (Contempt of Court) (6) मानहानि एवं (7) हिंसा को प्रोत्साहन। वर्तमान प्रतिबन्ध संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 एवं सोलहवें संशोधन अधिनियम, 1963 के अनुसार हैं। अनुच्छेद 19(2) से (6) तक में 'युक्तियुक्त निर्बन्धन' (Reasonable Restriction) की व्यवस्था की गई है अर्थात् यदि राज्य समाज के हित में आवश्यक समझे तो नागरिकों की स्वतन्त्रताओं पर निर्बन्धन लगा सकता है बशर्ते ये निर्बन्धन युक्तियुक्त हों।

'युक्तियुक्त निर्बन्धन' शब्द इस अनुच्छेद का महत्वपूर्ण शब्द तथा आत्मा और प्राण है। 'युक्तियुक्त' शब्द की व्याख्या करते हुए 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' नामक वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था—युक्तियुक्त निर्बन्धन का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति के अधिकार-उपयोग पर स्वेच्छापूर्ण एवं सार्वजनिक हित की आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्ध न लगाये जायें, अतः जो विधि से स्वेच्छाचारी ढंग से अथवा अत्यधिक मात्रा में एक अधिकार का अतिक्रमण करे उसे 'युक्तियुक्त' नहीं कहा जा सकता। यदि एक विधि मत्वाभूत स्वतन्त्रता तथा 19वें अनुच्छेद के अन्तर्गत निर्धारित सामाजिक नियन्त्रण में उचित सन्तुलन स्थापित नहीं करती तो उसे 'युक्तियुक्त' की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती।

अनुच्छेद 19(1) (क) वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता

वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अभिप्राय है शब्दों, लेखों, चित्रों, मुद्रण, अन्य प्रकार से अपने विचारों को व्यक्त करना। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में प्रेस की व्याख्या सम्मिलित है। 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने व्याख्या की थी कि "वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में विचारों के प्रसार की स्वतन्त्रता सम्मिलित है और यह स्वतन्त्रता विचारों के प्रसारण की स्वतन्त्रता द्वारा सुनिश्चित है। उस स्वतन्त्रता के लिए परिचालन की स्वतन्त्रता उतनी ही आवश्यक है जितनी की प्रकाशन की स्वतन्त्रता। निःसन्देह परिचालन के बिना प्रकाशन का कोई महत्व नहीं होगा।"

'अभिव्यक्ति' शब्द वस्तुतः बहुत व्यापक है। "आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने अभिव्यक्ति के नये-नये साधनों का आविष्कार किया है और करती जा रही है, उदाहरण के लिए रेडियो, चलचित्र, टेलीफोन, टेलीविजन, मोबाईल आदि अतः इन सब साधनों का संविधान में उल्लेख करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। 'अभिव्यक्ति' शब्द द्वारा इन सभी

1 एम वी पायली वही, पृ 117

साधनों की ओर संकेत हो जाता है।" सॉकल पेपर्स लि. बनाम भारत संघ में यह स्पष्ट न्यायिक व्याख्या की गयी थी कि वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता में प्रेस की स्वतन्त्रता शामिल है। 'बृजभूषण बनाम दिल्ली राज्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि समाचार-पत्रों पर पूर्व-अवरोध (Censorship) लगाना प्रेस की स्वतन्त्रता पर अनुचित प्रतिबन्ध है। 'वीरेन्द्र बनाम पंजाब राज्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि किसी समाचार-पत्र को तत्कालीन महत्त्व के विषय पर अपने विचार प्रकाशित करने से रोकना वाक् तथा अभिव्यक्ति का अतिक्रमण है। प्रेस की स्वतन्त्रता अप्रतिबन्धित नहीं है, किन्तु राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था के हित में नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना राज्य के लिए आवश्यक हो सकता है।

प्रभुदत्त बनाम भारत संघ के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि प्रेस की स्वतन्त्रता में सूचनाओं तथा समाचारों को जानने का अधिकार (Right to Know) शामिल है। प्रेस को व्यक्तियों से साक्षात्कार के माध्यम से सूचनाएँ जानने की स्वतन्त्रता है, किन्तु जानने की स्वतन्त्रता असीम (Absolute) नहीं है उस पर युक्तियुक्त निर्बन्धन अधिरोपित किये जा सकते हैं। अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताओं को किसी भौगोलिक परिसीमा से बाँधा नहीं जा सकता। नागरिक इन अधिकारों का प्रयोग भारत की सीमा में तथा विश्व के किसी भी देश की भूमि पर कर सकता है। यदि राज्य किसी व्यक्ति द्वारा इन अधिकारों के प्रयोग पर देश की सीमा के आधार पर रोक लगाता है तो यह अनुच्छेद 19 का अतिक्रमण होगा। उक्त सिद्धान्त मेनका गांधी बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निश्चित किया है। इसमें वादी को विदेश जाने के लिए दिये गये पासपोर्ट को वापस करने का आदेश दिया गया था। वादी ने इस आदेश की विधि मान्यता को चुनौती दी। न्यायालय के निर्णय के अनुसार यद्यपि विदेश-भ्रमण का अधिकार अनुच्छेद 19 के अधीन एक मूल अधिकार नहीं है, किन्तु यदि नागरिक के अनुच्छेद 19 के अधिकारों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा तो उससे अनुच्छेद 19 का अतिक्रमण हो सकता है। यह तथ्य और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है।

अनुच्छेद 19(1) (ख) एवं 19 (3) : एकत्रित होने का अधिकार

संविधान का अनुच्छेद 19(1) (ख) नागरिकों को शान्तिपूर्वक तथा निरायुध अथवा निरास्त्र एकत्रित होने का मूल अधिकार प्रदान करता है। सभा एवं सम्मेलन की स्वतन्त्रता में सभाएँ करने, सम्मेलन करने एवं जुलूस निकालने का अधिकार सम्मिलित है। जुलूस निकालने के अधिकार का स्पष्ट रूप में अनुच्छेद 19(1) (ख) में उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि यह एकत्रित होने के अधिकार में सम्मिलित है। कुछ देशों के संविधानों में इसका पृथक् से उल्लेख किया गया है।[1] यह अधिकार वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का आधार है। यह अधिकार अप्रतिबन्धित नहीं है। सार्वजनिक व्यवस्था की रक्षा के लिए 'युक्तियुक्त प्रतिबन्ध' लगा सकता है। पटना उच्च न्यायालय ने 'इन्द्रदेवसिंह विरुद्ध बिहार राज्य' के मामले में इस उपबन्ध की व्याख्या की थी। निम्नलिखित मर्यादाओं तथा सीमाओं में रहते हुए नागरिकों द्वारा इस अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है—

1. सभा सम्मेलन, जुलूस शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न किये जाने चाहिए। अशान्त भीड़ हिंसात्मक जुलूस इस अधिकार के अधीन वैध नहीं माने जायेंगे।

2. सभा, सम्मेलन, जुलूस निरास्त्र होने चाहिए अर्थात् सशस्त्र सभा, सम्मेलन, जुलूस पर संविधान के अनुच्छेद 19 (ख) के अधीन प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं, किन्तु शस्त्र रखने का अधिकार प्राप्त व्यक्तियों पर इस अनुच्छेद द्वारा प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता है, जैसे—सिक्खों की धार्मिक सभा आदि।

3. अनुच्छेद 19(3) के अधीन लोकव्यवस्था तथा भारत की सम्प्रभुता एवं एकता के आधार पर विधि द्वारा युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाये जा सकते हैं।

भारतीय दण्ड विधान के अध्याय ■ के अनुसार यदि किसी सभा से जन शान्ति भंग होने की आशंका हो तो भारतीय दण्ड प्रक्रिया संहिता की अनुच्छेद 127 के अन्तर्गत उसे भंग करने का आदेश दिया जा सकता है। इस आदेश की अवज्ञा अपराध है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की अनुच्छेद 107 के अनुसार एक मजिस्ट्रेट को यह अधिकार है कि वह किसी व्यक्ति जिससे शान्ति भंग किये जाने की आशंका हो, शान्ति बनाये रखने की जमानत ले। अनुच्छेद 144 के अन्तर्गत मजिस्ट्रेट को अधिकार है कि वह हिंसा एवं क्षति की आशंका में किसी सभा, सम्मेलन तथा जुलूस को मनाही कर दे। पुलिस एक्ट, 1861 के अधीन पुलिस अधिकारी सभाओं एवं जुलूसों को सम्पादित करने के ढंग, समय, स्थान तथा उनके जाने के मार्गों के, लोकव्यवस्था के हित में, उचित निर्देश दे सकता है। इस एक्ट की धारा 30 की व्यवस्था के अनुसार जुलूस निकालने से पहले पुलिस अधिकारी से पूर्व-अनुज्ञा लेना आवश्यक है। राज्य सरकार को यह शक्ति

---

1 गणपतदत्त शर्मा वही, पृ. 118.

है कि वह किसी प्रान्त अथवा उसके किसी भाग को सुरक्षित क्षेत्र घोषित कर दे। तत्पश्चात उस भाग में बिना जिलाधीश या पुलिस कमिश्नर की अनुमति से कोई सभा, सम्मेलन या जुलूस का आयोजन नहीं किया जा सकता है।

अनुच्छेद 19 (1) (ग) एवं 19 (4) : संस्था एवं संघ बनाने का अधिकार

अनुच्छेद 19(1) (ग) के अधीन भारत के सभी नागरिकों को विधि-सम्मत उद्देश्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से संस्थाएँ एवं संघ बनाने का मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है। यह संस्थाएँ या संघ व्यापारिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा मनोरंजन कार्यों के लिए हो सकती हैं। इस अधिकार में संस्था या संघ बनाने के अधिकार के साथ ही उन्हें संचालित करने का अधिकार सम्मिलित है। अन्य स्वतन्त्रताओं की भाँति संस्था संघ बनाने का अधिकार निरपेक्ष (Absolute) नहीं है। अनुच्छेद 19(4) के अधीन राज्य नागरिकों की इस स्वतन्त्रता पर निम्नलिखित आधारों पर युक्तियुक्त निर्बन्धन स्थापित कर सकता है—1. भारत की सम्प्रभुता एवं एकता, 2. लोक व्यवस्था एवं 3. नैतिकता। किसी अवैध षड्यन्त्रकारी उद्देश्य के लिए संघ नहीं बनाया जा सकता। संस्था और संघ स्थापित करने के अधिकार नागरिकों को समान रूप से प्राप्त नहीं है। सरकारी कर्मचारी अपनी सेवाओं के नियमों से बँधे होते हैं, अतः वे इन नियमों के विरुद्ध जाकर संस्था या संघ स्थापित करने के अधिकार का अन्य नागरिकों के समान उपयोग नहीं कर सकते हैं। यह बात सर्वोच्च न्यायालय ने 'बालकोटिया बनाम भारत संघ' के विवाद में स्पष्ट कर दी थी।

प्रतिरक्षा सेना तथा संघ बनाने का अधिकार—ओ. के. नायर बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय के समक्ष मुख्य विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या प्रतिरक्षा प्रतिष्ठानों में नियुक्त सेवक, जैसे—रसोइये, चौकीदार, लश्कर, नाई, बढ़ई, मिस्त्री, जूता बनाने वाले, दर्जी आदि प्रतिरक्षा सेना के सदस्य माने जा सकते हैं जिन्हें संघ बनाने का अधिकार नहीं है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उपर्युक्त व्यक्ति अनुच्छेद 33 के अधीन प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों में शामिल हैं अतः सेना अधिनियम की धारा 21 के अधीन केन्द्रीय सरकार उनके संघ बनाने का अधिकार का नियम बनाकर निर्बन्धन कर सकती है। ऐसे सेवकों का कर्तव्य सेना के सदस्यों को सक्रिय सेवा पर जाने का अनुसरण करना या साथ रहना होता है। यद्यपि वे युद्ध में भाग नहीं लेते (Non Combatant), तथापि वे प्रतिरक्षा सेना के एक आवश्यक अंग हैं।

अनुच्छेद 19(1) (घ) एवं खण्ड 19(5) : भ्रमण की स्वतन्त्रता

अनुच्छेद 19(1) (घ) के अनुसार भारत में नागरिकों को सारे देश में स्वतन्त्र रूप से भ्रमण या संचरण का बिना किसी प्रतिबन्ध के भारत संघ के एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने तथा राज्य की सीमा के भीतर भ्रमण करने का अधिकार है। सम्पूर्ण क्षेत्र नागरिकों के लिए एक इकाई के समान है। अनुच्छेद 19(5) के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक संचरण का यह अधिकार राज्य द्वारा दो परिस्थितियों में परिसीमित हो सकता है—(क) साधारण जनता के हित में (ख) अनुसूचित आदिम जातियों के हितों की रक्षा में। संक्रामक रोग से ग्रसित व्यक्ति एवं वेश्या के संचरण के अधिकार को प्रतिबंधित किया जा सकता है। यह कदम सामान्य जनता के हित में होगा। अनुसूचित आदिम जातियों के हित में राज्य प्रतिबन्ध लगा सकता है ताकि उनकी अपनी सांस्कृतिक और सम्पत्ति सम्बन्धी परम्पराओं की रक्षा हो सके। आदिम जातियों की सुरक्षा और हित की दृष्टि से साधारण नागरिकों द्वारा इनके क्षेत्रों में बसने अथवा सम्पत्ति क्रय करने पर प्रतिबन्ध लगाए गए हैं।

अनुच्छेद 19(1) (ङ) एवं 19(5) : निवास की स्वतन्त्रता

अनुच्छेद 19(1) (ङ) द्वारा सभी नागरिकों को भारत में कहीं बसने या आवास की स्वतन्त्रता है। इसके लिए किसी पूर्व अनुमति की आवश्यकता नहीं है किन्तु अनुच्छेद 19(5) के अनुसार इस अधिकार पर सर्व साधारण तथा अनुसूचित जनजातियों के हित में प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। निवास और भ्रमण की स्वतन्त्रता एक-दूसरे की पूरक है क्योंकि दोनों का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन देना है। भ्रमण एवं निवास की स्वतन्त्रता को आपातकालीन स्थिति में समाप्त अथवा निलम्बित किया जा सकता है। फॉरेनर्स एक्ट 1864 तथा 1966 के अन्तर्गत किसी विदेशी व्यक्ति के भ्रमण एवं निवास के अधिकार पर राज्य प्रतिबन्ध लगा सकता है अथवा उसे भारत से चले जाने का आदेश दे सकता है।

अनुच्छेद 19(1) (छ) एवं 19(6) : व्यापार वृद्धि या उपजीविका की स्वतन्त्रता

अनुच्छेद 19(1) (छ) सभी नागरिकों को कोई पेशा, व्यापार, व्यवसाय या वाणिज्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है, किन्तु इस अधिकार पर राज्य 'युक्तियुक्त प्रतिबन्ध अथवा निर्बन्धन लगा सकता है। खण्ड 19(6) के अधीन निम्नलिखित आधारों पर राज्य को प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति प्राप्त है—

(क) साधारण जनता के हित में

(ख) विशेष प्रकार के व्यवसायों के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर एवं

(ग) नागरिकों को पूर्ण एवं आंशिक रूप में किसी व्यापार से बहिष्कृत करके।

कार्यपालिका के कृत्यों के विरुद्ध बल्कि विधानमण्डल के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है। विधान-मण्डल द्वारा पारित कानून युक्तियुक्त तथा नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के अनुरूप होने चाहिए अन्यथा उन्हें असांविधानिक घोषित कर दिया जाएगा। दूसरों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए व्यक्ति के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है अतः भारतीय संविधान में व्यक्ति के जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) के अधीन रखा गया है। यह व्यवस्था अमेरिकन संविधान की व्यवस्था से मेल खाती है, लेकिन दोनों व्यवस्थाओं में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ भारतीय संविधान में 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' शब्दावली है वहाँ अमेरिकन संविधान में 'विधि की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। अमेरिकन न्यायालयों ने इस पदावली का विस्तृत अर्थ लेते हुए इसकी तुलना नैसर्गिक न्याय (Natural Justice) से की है। भारत के उच्चतम न्यायालय ने 'नैसर्गिक न्याय' के सिद्धान्त को अनुच्छेद 21 का आवश्यक तत्व मान लिया है। अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त 'दैहिक स्वतन्त्रता' पदावली विस्तृत अर्थ लिए हुए है और उस रूप में इसके उद्देश्य दैहिक स्वतन्त्रता के सभी आवश्यक तत्व सम्मिलित हैं जो व्यक्ति को पूर्ण बनाने में सहायक हैं। इस अर्थ में इस पदावली में अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता के सभी अधिकार आ जाते हैं।

अनुच्छेद 22 : बन्दीकरण तथा नज़रबन्दी से बचाव

संविधान के इस अनुच्छेद द्वारा बन्दी व्यक्तियों को कुछ सांविधानिक अधिकार प्रदान किए गए हैं और निवारक नज़रबन्दी (Preventive Detention) व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 22 (1) और 22(2) द्वारा निम्नलिखित सांविधानिक अधिकार प्रदान किए गए हैं—

(क) किसी गिरफ्तार व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी के कारण यथाशीघ्र अवगत कराए बिना बन्दी बनाकर नहीं रखा जा सकेगा।

(ख) उसे अपनी रुचि के वकील से परामर्श करने तथा अपने पक्ष की सफाई दिलवाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा।

(ग) उसे गिरफ्तारी से 24 घण्टे के अन्दर नजदीक के मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाएगा।

(घ) उसे न्यायालय की आज्ञा बिना 24 घण्टे से अधिक हिरासत में नहीं रखा जाएगा।

अनुच्छेद 22 में बन्दी बनाए जाने की अवस्था में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। अनुच्छेद 22 (3) में उल्लेख है कि अनुच्छेद 22(1) तथा अनुच्छेद 22(2) द्वारा बन्दियों को जो उपर्युक्त सांविधानिक अधिकार दिए गए हैं वे दो प्रकार के बन्दियों को उपलब्ध नहीं होंगे—प्रथम जिन बन्दियों का विदेशी शत्रु राष्ट्र के साथ सम्बन्ध है। द्वितीय, जिन व्यक्तियों को निवारक नजरबन्दी कानून के अन्तर्गत नजरबन्द किया गया है। अनुच्छेद 22 अनुच्छेद 21 का पूरक है और दोनों को साथ पढ़ा जाना चाहिए। अनुच्छेद 22 स्वयं में पूर्ण नहीं है। मेनका गाँधी के मामले में यह स्पष्ट हो गया था कि अनुच्छेद 22 के अधीन पारित विधियों को अनुच्छेद 21 में विहित युक्तियुक्त और उचित प्रक्रिया की कसौटी पर जाँचा जाएगा।

निवारक निरोध—अनुच्छेद 22 (4) से 22(7) तक निवारक निरोध (Preventive Detention) की चर्चा की गई है। निवारक निरोध संकटकाल तथा साधारण काल में लागू रहता है। 'निवारक' (Preventive) शब्द दण्डात्मक (Punitive) का विलोम है। 'निवारक गिरफ्तारी' दण्डात्मक गिरफ्तारी से भिन्न है। दण्डात्मक गिरफ्तारी निरुद्ध व्यक्ति को दण्ड देने के उद्देश्य से की जाती है किन्तु निवारक बन्दीकरण का उद्देश्य दण्ड देना नहीं वरन् अपराध करने से रोकना या निरुद्ध व्यक्ति को किसी निश्चित उद्देश्य को पूरा करने से रोकना है। इसमें निरुद्ध व्यक्ति अपराध का आरोप नहीं लगाया जाता है। यह एहतियाती कार्यवाही है जो किसी व्यक्ति को अपराध करने से रोकने के लिए अपनाई जाती है। इसमें व्यक्ति को सन्देह के आधार पर गिरफ्तार कर लिया जाता है। अनुच्छेद 22 (4-7) के अन्तर्गत निवारक निरोध कानून के उद्देश्य निरुद्ध किए गए व्यक्ति को ये संरक्षण प्रदान किए गए हैं—(क) सलाहकार बोर्ड द्वारा पुनर्विलोकन। (ख) गिरफ्तारी के कारण जानने एवं अभ्यावेदन प्रस्तुत करने का अधिकार। (ग) सलाहकार बोर्ड की प्रक्रिया।

अनुच्छेद 22(4) में 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा महत्वपूर्ण संशोधन किया गया। खण्ड (4) (ख) में उपबन्धित करता है कि निरोध अधिकतम अवधि से अधिक नहीं हो सकता है जो संसद विधि द्वारा उस प्रकार के मामलों में निरुद्ध व्यक्तियों के वर्गों के लिए विहित करेगी। अब 44वें संशोधन द्वारा यह सुनिश्चित कर दिया गया है कि 'निवारक नजरबन्दी' सम्बन्धी कोई कानून किसी दशा में 2 महीने से ज्यादा के लिए नजरबन्द रखने का अधिकार नहीं दे सकता जब तक एक सलाहकार बोर्ड ने यह स्वीकृति न दी हो कि ऐसी नजरबन्दी के लिए पर्याप्त कारण है। अनुच्छेद 22(5) के अनुसार यह आवश्यक है कि निवारक निरोध के अन्तर्गत बन्दी व्यक्ति को कारणों से अवगत कराया जाए और यह अवसर दिया जाए कि वह उन कारणों को न्यायालय में चुनौती दे सके। अनुच्छेद 22(6) में व्यवस्था है कि लोकहित के आधार पर निरोध के कारण बताने से इनकार किया जा सकता है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 एवं 24)
(The Right against Exploitation)

अनुच्छेद 23 में मानव का दुर्व्यापार और बेगार तथा ज़बरदस्ती लिए जाने वाले श्रम को निषिद्ध किया गया है पर राज्यों को सार्वजनिक प्रयोजन के लिए बाध्य सेवा लागू करने में रुकावट न होगी और ऐसी सेवा लागू करने में राज्य धर्म, मूल वंश, जाति या वर्ग आदि के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।

अनुच्छेद 24 के द्वारा चौदह वर्ष से कम आयु के किसी बालक को नौकरी में संलग्न नहीं किया जा सकता। बाल-श्रम का निषेध करने वाले अनुच्छेद 24 का राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है जिसमें 14 वर्ष के बालकों को निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देना राज्य का कर्त्तव्य बताया गया है।

अनुच्छेद 23 में 'मानव दुर्व्यापार' विस्तृत शब्दावली है जिसमें न केवल मनुष्यों या स्त्रियों का वस्तुओं की भाँति क्रय-विक्रय अपितु स्त्रियों और बच्चों के अनैतिक व्यापार को निषेध किया गया है और ऐसे अन्य प्रयोजनों के लिए उनका प्रयोग न करना शामिल है।[1] संविधान के अनुच्छेद 35 के अन्तर्गत संसद को अधिकार है कि वह अनुच्छेद 23 द्वारा वर्जित कार्यों को करने पर कानून दण्ड की व्यवस्था करे। इस शक्ति के प्रयोग में संसद ने 'Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Act, 1956' पारित किया है, जिसके अधीन 'मानव दुर्व्यापार' दण्डनीय अपराध है। अनुच्छेद 23 का संरक्षण नागरिकों और अनागरिकों को प्राप्त है। इस अनुच्छेद में 'दास प्रथा' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु मानव दुर्व्यापार शब्दावली में यह निश्चित रूप से शामिल है।[2] 'पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ' के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 23 के क्षेत्र को विस्तृत करते हुए यह निर्णय दिया था कि 'बेगार' से तात्पर्य ऐसे कामों से है जिन्हें किसी व्यक्ति से ज़बरदस्ती बिना पारिश्रमिक ली जाती हो। अनुच्छेद 23 के अनुसार 'बेगार' ही नहीं वरन् किसी प्रकार के सभी 'ज़बरदस्ती' लिए जाने वाले कार्य वर्जित हैं, क्योंकि इसमें मानव प्रतिष्ठा और गरिमा पर आघात पहुँचता है। अनुच्छेद 23 प्रत्येक प्रकार के 'बलात् श्रम' (Forced Labour) को वर्जित करता है और यह इन दोनों में कोई अन्तर नहीं करता कि बलात् श्रम के लिए पारिश्रमिक दिया गया है या नहीं। यदि किसी व्यक्ति को अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है चाहे उसे पारिश्रमिक दिया गया हो, वह कार्य अनुच्छेद 23 के अधीन 'बलात् श्रम' माना जाएगा। 'बलात् श्रम' में शारीरिक दबाव, विधिक दबाव के अतिरिक्त आर्थिक कठिनाइयों से उत्पन्न दबाव शामिल है।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार (अनुच्छेद 25-28)
(The Right of Freedom of Religion)

भारतीय संविधान के स्वतन्त्र्य अधिकारों में धर्म-स्वतन्त्र्य के अधिकार का विशेष महत्व है। अनुच्छेद 25 से 28 एवं संविधान की प्रस्तावना में संविधान-निर्माताओं की इच्छा का आभास हो जाता है। भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता सम्बन्धी निम्नलिखित चार आदर्श हैं[3]—

1. राज्य स्वयं को किसी धर्म-विशेष से सम्बद्ध नहीं करेगा, न किसी धर्म-विशेष के अधीन रहेगा।
2. राज्य जब किसी व्यक्ति को धार्मिक मान्यता, आचरण एवं प्रचार प्रसार सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्रदान करेगा तो वह किसी व्यक्ति विशेष को अपेक्षाकृत (Preferential) सुविधा नहीं देगा।
3. व्यक्ति-विशेष के विरुद्ध धर्म अथवा धार्मिक विश्वास के आधार पर राज्य कोई भेदभाव नहीं करेगा।
4. राज्य के अधीन किसी पद को प्राप्त करने हेतु सभी धर्मावलम्बियों को समान अवसर प्राप्त होंगे।

अनुच्छेद 25(1) के अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के उपबन्धों के अधीन रहते हुए सभी को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार है, लेकिन इस अनुच्छेद में ऐसे वर्तमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव रुकावट नहीं डाल सकती जो (क) धार्मिक आचरण से सम्बन्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य लौकिक क्रियाओं को नियन्त्रित करती हों, (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करती हो, हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म-संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलती हो। संविधान ने कृपाण धारण करना सिक्ख धर्म का अंग मान लिया है तथा हिन्दुओं के प्रति निर्देश में सिक्ख, जैन या बौद्ध धर्मावलम्बियों को निर्देश सम्मिलित कर लिया है।

अनुच्छेद 26 : धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध में स्वतन्त्रता

लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी अनुभाग को

---

1. राजबहादुर बनाम लीगल रिमेम्बरर, ए. आई. आर. 1953, कलकत्ता, 523
2. दुबर गोविन्द बनाम भारत संघ, ए. आई. आर. 1952, कलकत्ता, 496.
3. रामस्वरूप शर्मा : पूर्वोक्त, पृ. 170.

(क) धार्मिक और पूर्त प्रयोजन के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का, (ख) अपने धर्म विषयक कार्यों के प्रबन्ध करने का, (ग) जंगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का और (घ) ऐसी सम्पत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का अवसर प्रदान करता है।

अनुच्छेद 27 : किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करों के संदाय की स्वतन्त्रता

किसी व्यक्ति को ऐसे करों का संदाय करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किए जाते हैं।

अनुच्छेद 28 : शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा उपासना में उपस्थित होने के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता

(1) राज्य विधि से पूर्णतः पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।

(2) खंड (1) की कोई बात ऐसी शिक्षा संस्था पर लागू नहीं होगी जिसका प्रशासन राज्य करता है, किन्तु जो किसी ऐसे विन्यास या न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसके अनुसार इस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।

(3) राज्य से मान्यता प्राप्त या सहायता पाने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित व्यक्ति को दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जब तक उस व्यक्ति ने या अवयस्क होने पर उसके संरक्षक ने इसकी सहमति नहीं दी हो।

संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (अनुच्छेद 29 एवं 30)

(Culture and Educational Rights)

अनुच्छेद 29 : अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण

(1) 'भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के नागरिकों को, जिनकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार होगा।'

(2) 'राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य-निधि से सहायता पाने वाले किसी शिक्षा-संस्थान में प्रवेश में किसी नागरिक को मात्र धर्म, मूल, वंश, जाति, भाषा के आधार पर वंचित न रखा जायेगा।'

अनुच्छेद 30 : शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यकों का अधिकार

(1) 'धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा।'

(2) *'शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है।'*

अनुच्छेद 29 और 30 एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, क्योंकि शिक्षा-संस्थाओं के माध्यम से यह सम्भव है कि *अल्पसंख्यक अपनी भाषा, लिपि अथवा धर्म की रक्षा कर सकें। संविधान के सातवें संशोधन द्वारा राज्यों का पुनर्गठन* भाषायी आधार पर किया गया था। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह किसी राज्य की भाषा को सरकारी स्वीकृति प्रदान करे। प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है कि वह यह प्रयत्न करे कि अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा उनकी *मातृ-भाषा में दी जाए। राष्ट्रपति को ऐसे निर्देश देने का अधिकार है।* उसे यह अधिकार है कि भाषायी अल्पसंख्यक समूहों की समस्याओं के निराकरण के लिए वह विशेष अधिकारी नियुक्त करे।

सांविधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32-35)

(Right to Constitutional Remedies)

सांविधानिक उपचारों का अधिकार भारतीय संविधान का महत्वपूर्ण उपबन्ध है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था—"यदि मुझसे पूछा जाए कि संविधान में कौन-सा अनुच्छेद सबसे महत्वपूर्ण है जिसके बिना यह संविधान शून्य हो जाएगा तो मैं इसके (अनुच्छेद 32) *सिवाय किसी दूसरे अनुच्छेद का नाम नहीं लूँगा। यह संविधान की आत्मा है।"*[1] ये शब्द सांविधानिक उपचारों के अधिकारों के सम्पूर्ण महत्व को स्पष्ट कर देते हैं। हमारे संविधान में मूल अधिकारों के अतिक्रमण पर उन्हें प्रवर्तित कराने के लिए सांविधानिक उपचार उपलब्ध कराए गए हैं।[2] अनुच्छेद 32 जो सांविधानिक उपचार का अधिकार देता है, *संविधान के भाग 3 में होने के कारण स्वयं एक मौलिक अधिकार है।* अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय और अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों द्वारा मूल अधिकारों के प्रवर्तन की व्यवस्था की गई है।

अनुच्छेद 32(1) नागरिकों को संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायालय को समुचित *कार्यवाहियों द्वारा प्रचालित करने के लिए अधिकार की गारण्टी करता है।*

1. *संविधान सभा की कार्यवाही : भाग 7,* पृ. 853.
2. *गंगासहाय शर्मा :* पूर्वोक्त, पृ. 189

अनुच्छेद 32(2) उच्चतम न्यायालय को इन अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित निर्देश या रिट, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिट सम्मिलित है, जारी करने की शक्ति प्रदान करता है।

अनुच्छेद 32(3) के अधीन संसद विधि द्वारा किसी अन्य न्यायालय को अपनी उसकी स्थानीय सीमाओं के भीतर उच्चतम न्यायालय द्वारा खण्ड (2) के अधीन प्रयोग की जाने वाली किसी या सभी शक्तियों का प्रयोग करने के लिए सशक्त कर सकेगी।

अनुच्छेद 32(4) यह उपबन्धित करता है कि संविधान द्वारा अन्यथा उपबन्धित के सिवाय इस अनुच्छेद द्वारा गारण्टी किए गए अधिकारों को निलम्बित किया जाएगा।[1] अनुच्छेद 32 को चार खण्डों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक नागरिक को मौलिक अधिकार लागू कराने के लिए उच्चतम न्यायालय में अपील करने का अधिकार दिया गया है। अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता संविधान का 'आधारभूत ढाँचा'[2] (Basic Structure) है, अतः इसे अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधित करके नष्ट नहीं किया जा सकता है जब तक कि केशवानन्द भारतीय का निर्णय उलट नहीं दिया जाता।[3] अनुच्छेद 32 के अधीन समुचित सांविधानिक उपचार देने की शक्ति विवेकीय (*Discretionary*) नहीं है, *अर्थात् यदि कोई नागरिक अपने किसी मूल अधिकार के अतिलंघन को दिखाने में सफल* होता है तो वह उच्चतम न्यायालय के अनुच्छेद 32 के अधीन एक अधिकार के रूप में समुचित उपचार पाने का अधिकारी होगा।[4] भारतीय उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सामान्य अधिकार दिए जाने के साथ बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo-warranto) तथा उत्प्रेषण लेख (Certiorari) जारी करने जैसे विशेष उपचारों के प्रयोग का अधिकार प्राप्त है जिसका विस्तृत विश्लेषण निम्नांकित है—

(i) **बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)**—'हैबियस कार्पस' का शाब्दिक अर्थ है 'शरीर प्रस्तुत करना।' इस रिट द्वारा न्यायालय उस व्यक्ति को सशरीर अपने सामने उपस्थित कराता है जिससे न्यायालय उसके कारावास के कारणों को जान सके और यदि बंदी रखने का विधिक औचित्य नहीं है तो उसे मुक्त कर सके। यह रिट किसी व्यक्ति या अधिकारी को सम्बोधित हो सकती है जिसकी अभिरक्षा में कोई व्यक्ति है। *रिट की अवहेलना न्यायालय की अवमानना* की श्रेणी में आता है। यह स्मरणीय है कि किसी को निवारक निरोध कानून के अन्तर्गत नजरबन्द किया गया है तो *न्यायालय उक्त लेख जारी नहीं कर सकता है।*

(ii) **परमादेश (Mandamus)**—अंग्रेजी शब्द 'मैन्डमस' का अर्थ है 'हम आज्ञा देते हैं।' न्यायालय के इस आदेश द्वारा किसी व्यक्ति अथवा संस्था को उसके कर्तव्य पालन की आज्ञा दी जाती है। यह आदेश उस समय जारी किया जाता है जब न्यायालय किसी सार्वजनिक संस्था या सार्वजनिक पदाधिकारी को अपना कानूनी कर्तव्य पूरा करने के लिए विवश करना चाहता है।

भारत में, परमादेश उन अधिकारियों और अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध दिया जा सकता है जो किसी लोक कर्तव्य के लिए आबद्धकर और सरकार के विरुद्ध, क्योंकि अनुच्छेद 226 और 361 में यह उपबन्ध है कि संयुक्त सरकार के विरुद्ध समुचित कार्यवाहियाँ की जा सकती है। यह रिट अवर न्यायालयों और अन्य न्यायिक निकायों के विरुद्ध जारी की जा सकती है। यदि वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करने से इनकार करते हैं और अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते हैं।[5] परमादेश *निम्नलिखित व्यक्तियों के लिए नहीं दिया जाएगा—*

(क) राष्ट्रपति या राज्यपाल के विरुद्ध अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्य के पालन के लिए या उन शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करने हेतु किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के लिए।

(ख) परमादेश संविधान या अधिनियम कानूनी नियम के किसी उपबंध का उल्लंघन करने के लिए, निजी व्यक्ति या निकाय के विरुद्ध नहीं किया जा सकता चाहे वह निगमित हो या नहीं, चाहे राज्य की प्राइवेट पक्षकार के साथ दुरभिसंधि ही क्यों न हो।

(iii) **प्रतिषेध (Prohibition)**—प्रतिषेध का अर्थ है 'मना करना'। यह लेख उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा अपने अधीन न्यायालय को जारी किया जाता है जिसका उद्देश्य अधीन न्यायालय को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य करने से रोकना होता है। प्रतिषेध और परमादेश की रिटों में अन्तर यह है कि परमादेश कुछ कार्य करने

1. *जयनारायण पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृ. 243*
2. फर्टीलाइजर कॉरपोरेशन कामगार संघ बनाम भारत संघ ए. आई. आर. 1981, सुप्रीम कोर्ट 344
3. *जयनारायण पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृ. 243.*
4. रामवती बनाम मद्रास राज्य, ए. आई. आर. 1975, सुप्रीम कोर्ट, 623.
5. *दुर्गादास बसु : भारत का संविधान — एक परिचय, पृ. 127.*

का समादेश करती है जबकि प्रतिषेध निष्क्रिय बनाती है। परमादेश न्यायिक और प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध उपबन्ध है जबकि प्रतिषेध ऐसे लोक अधिकारी के विरुद्ध नहीं दी जाती जो न्यायिक कृत्य नहीं करता।

(iv) उत्प्रेषण लेख (Certiorari)—इस लेख का अर्थ है—'और अधिक सूचित होना'। यह लेख उच्च न्यायालयों द्वारा किसी अधीन न्यायालय के लिए भेजा जाता है जिसमें अधीन न्यायालय से उस मामले से सम्बन्धित कागजातों को माँगा जाता है जो अब तक उस अधीन न्यायालय में विचाराधीन थे। प्रतिषेध लेख और उत्प्रेषण लेख में अन्तर यह है कि प्रथम तो रोग के रूप में होता है जबकि दूसरा उपचार के रूप में होता है।

(iv) अधिकार-पृच्छा (Quo-warranto)—इस लेख का अर्थ है कि किस आज्ञा से न्यायालय इस लेख के द्वारा किसी व्यक्ति को ऐसे सार्वजनिक पद पर कार्य करने से रोकता है जिसके लिए वह कानूनन योग्य नहीं है।

भारतीय संविधान में इन लेखों को सम्मिलित करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुनिश्चित कर दी गई है। संविधान लागू होने पर ये अधिकार मौलिक कानून का अंग बन गए और अब संविधान संशोधन किए बिना इनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता, किन्तु संसद किसी न्यायालय को लेख जारी करने का अधिकार न्यायाधिकार सीमा में प्रयुक्त करने देती है। सांविधानिक उपचारों का अधिकार किसी घोषित संकटकाल को छोड़कर स्थगित नहीं किया जा सकता, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह अधिकार सम्पूर्ण भारत में स्थगित हो जाए। इन्हें स्थगित करने का अधिकार अनियन्त्रित नहीं होता है। यद्यपि केन्द्र के कार्यपालक प्रधान को इन अधिकारों को स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है, तथापि यह आदेश संसद के समक्ष प्रस्तुत करना अनिवार्य है। संसद इसे अस्वीकार कर सकती है। संकटकाल समाप्त होने पर ये अधिकार पुनः लागू हो जाते हैं।

सांविधानिक उपचार के अधिकार का निलम्बन

अनुच्छेद 32(4) के अनुसार संविधान द्वारा अन्यथा उपबन्धित परिस्थिति को छोड़कर सपठित अधिकारों को निलम्बित नहीं किया जा सकेगा। ऐसी परिस्थिति आपातकालीन स्थिति से उत्पन्न होती है जबकि अनुच्छेद 32 द्वारा प्रदत्त अधिकार निलम्बित किए जा सकते हैं। अनुच्छेद 352 के अधीन जब भारत के राष्ट्रपति आपातकाल की उद्घोषणा करते हैं तो अनुच्छेद 358 के अनुसार अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का अधिकार स्वत: निलम्बित हो जाता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 359 राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह सम्पूर्ण भारत में अथवा भारत के किसी भाग में आपातकाल में किसी निश्चित समय के लिए भाग 3 में उपबन्धित मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के सांविधानिक उपचार को निलम्बित कर सकता है। सांविधानिक उपचार के अधिकार के निलम्बन से नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्रभावित होती हैं। इससे देश में निरंकुश शासन की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

मौलिक अधिकार : एक समीक्षा

(A Critical Evaluation of Fundamental Rights)

एम. वी. पायली के अनुसार मौलिक अधिकारों के आलोचकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—प्रथम वे जिनके अनुसार संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकार नाममात्र हैं क्योंकि जिन अधिकारों को मौलिक अधिकारों में स्थान पाना चाहिए उन्हें माना नहीं गया, जैसे काम पाने का अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि। दूसरे वे जिनके कथनानुसार निवारक निरोध (Preventive Detention) तथा सांविधानिक अधिकारों के स्थान आदि असाधारण उपबन्धों से इस अध्याय का सार विलुप्त हो चुका है। इनका कहना है कि संविधान एक हाथ से देता है वह दूसरे हाथ से छीन लेता है। तीसरे आलोचक वे हैं जो कहते हैं कि जिन अधिकारों को प्रत्याभूत करने का प्रयास किया गया है वे इतनी अर्हताओं, अपवादों में बंधे हैं कि यह समझना कठिन है कि व्यक्ति को मौलिक अधिकारों में क्या मिला। एक आलोचक ने व्यंग्यपूर्वक यह कहा है कि मौलिक अधिकार अध्याय का नाम बदल कर 'मौलिक अधिकारों की परिसीमाएँ' अथवा 'मौलिक अधिकार एवं इनकी परिसीमाएँ' रख देना चाहिए।

मौलिक कर्तव्य

(Fundamental Duties)

चीन, इटली, जापान, नीदरलैण्ड्स आदि कुछ गैर साम्यवादी देशों के संविधानों में मौलिक कर्तव्यों का समावेश किया गया है। भारत के मूल संविधान में नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख किया गया था लेकिन मूल कर्तव्यों का कोई उल्लेख नहीं था, इसी मान्यता के कारण कि अधिकारों के साथ कर्तव्य जुड़े होते हैं। संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा संविधान के भाग (4) के पश्चात् एक नया भाग (4-क) जोड़कर संविधान में नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों को समाविष्ट कर दिया गया है। इसमें नागरिकों के 10 मौलिक कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है—संविधान के अनुच्छेद 51-क के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि—

1. संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र गान का आदर करे।

2. स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे।
3. भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे।
4. देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।
5. भारत में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।
6. हमारी मिश्रित (Composite) संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे।
7. प्राकृतिक पर्यावरण (Environment) की जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उनका संवर्द्धन करे तथा प्राणी के प्रति दया भाव रखे।
8. वैधानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।
9. सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे।
10 व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले।

मौलिक कर्त्तव्यों की व्यवस्था के पक्ष में तर्क

भारतीय संविधान में नागरिकों के कर्तव्य लोकतन्त्र की व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाले है, यदि उनका पालन किया जाए। राष्ट्रीय जीवन का उच्च-स्तरीय बनाने की दृष्टि से वैयक्तिक एवं सार्वजनिक रूप में योग्यता तथा श्रेष्ठता प्राप्त करने का कर्तव्य महत्वपूर्ण है। संविधान में मौलिक कर्त्तव्यों का समावेश करने से मौलिक अधिकारों की स्थिति सुदृढ़ होगी, देश के *नागरिक उचित उत्तरदायित्व की भावना से प्रेरित होकर कार्य करेंगे। फलस्वरूप देश की एकता और अखण्डता* को सुरक्षित रखने में सहायता मिलेगी। देश की एकता और अखंडता की सुरक्षा में मौलिक कर्त्तव्यों की महत्वपूर्ण भूमिका है जो नागरिकों में अधिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास कर सशक्त राष्ट्र की भावना साकार करती है।

मौलिक कर्त्तव्यों की व्यवस्था के विपक्ष में तर्क

डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार[1]—

1. मूल कर्तव्यों की व्यवस्था में जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है, उससे यह सम्भव है कि शासन उसकी आड़ में लोगों को अनावश्यक रूप से तंग कर सके। उदाहरणार्थ, संविधान के पालन के कर्तव्य के नाम पर लोगों को उसकी व्यवस्थाओं के प्रति मतभेद व्यक्त करने से रोका जा सकता है। भारत की प्रभुसत्ता की मान्यता के नाम पर शासन द्वारा प्रभुसत्ता पर अनावश्यक बल दिया जा सकता है तथा इसके कार्यों की आलोचना एवं विरोध को संविधान का उल्लंघन माना जा सकता है। 'धार्मिक, भाषायी क्षेत्रीय एवं वर्गीय विभिन्नता एवं सद्भावना, मिश्रित संस्कृति, जीवधारियों के प्रति सहानुभूति तथा सुधार की भावना' आदि ऐसे विचार हैं जिनका सर्वसम्मत अर्थ नहीं तथा इनके आधार पर शासन एवं व्यक्तियों तथा विविध समुदायों एवं वर्गों में *अनावश्यक टकराव हो सकता है तथा* शासन की ओर से जनता के साथ कठोर व्यवहार किया जा सकता है।

2. *अनेक मूल कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हें न समझा जा सकता है और न उनका पालन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ,* स्वतन्त्रता संग्राम के आदर्श विविध प्रकार के थे। उन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से समझ सकता है। मिश्रित संस्कृति ऐसी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवता आदि से सम्बन्धित कर्तव्य ऐसे हैं जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि से परे हैं।

3. अनेक मूल कर्तव्य व्यावहारिक न होकर आदर्शवादी हैं। उदाहरणार्थ, सौहार्द, भाईचारे की भावना, अहिंसा तथा मानवता के सम्बन्धों को ले सकते हैं, जो आदर्श की वस्तुएँ हैं तथा जिन्हें व्यवहार में क्रियान्वित किया जाना सम्भव नहीं है।

4. राष्ट्रीय आन्दोलन के आदर्शों के पालन, वैज्ञानिक तथा मानवीय दृष्टिकोण के विकास तथा सांस्कृतिक विभिन्नता के आदर सम्बन्धी ऐसे कर्तव्य हैं, जिनका पालन कराने के लिए कानूनी व्यवस्था किया जाना सम्भव नहीं है।

संविधान में जिन मूल कर्तव्यों का उल्लेख है उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए तो उनका महत्व और कम होता प्रतीत होता है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता एन. ए. पालखीवाला के अनुसार, "संविधान में प्रदत्त मूल कर्तव्य नागरिकों के अधिकार में निहित हैं अर्थात् जब कोई व्यक्ति किसी देश की नागरिकता ग्रहण करता है तो उस पर यह कर्तव्य रोपित हो जाता है कि वह उस देश के राष्ट्रीय ध्वज, गान और संविधान का आदर तथा पालन करे तथा देश की प्रभुता, एकता और अखण्डता को बनाए रखे। इस दृष्टि से अनुच्छेद 51-ओ के कोष्ठक क, ख, ग, घ में उल्लिखित कर्तव्यों का संविधान

1. *डॉ. इकबाल नारायण : पूर्वोक्त, पृ. 269-70*

में वर्णन करना अनावश्यक प्रतीत होता है।" शेष मूल कर्तव्यों में ऐसे कर्तव्य हैं जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मूल अधिकारों और नीति-निर्देशक तत्वों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ धर्म भाषा तथा प्रदेश या वर्ग के आधार पर आपस में भेदभाव न करना, अनुच्छेद 14, *प्राकृतिक पर्यावरण की जिसके अन्तर्गत वन्य जीव सम्मिलित हैं रक्षा करो का कर्तव्य* अनुच्छेद 48 तथा एतिहासिक स्थानों की सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व अनुच्छेद 40 में पाया जाता है और यह आशा की जाती है कि सरकार नीति-निर्देशक अनुच्छेदों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक कानूनों का निर्माण करेगी। उन कानूनों का पालन करना नागरिक का कर्तव्य होगा। नीति-निर्देशक तत्वों के कार्यान्वयन का स्वाभाविक परिणाम नागरिकों द्वारा उन कर्तव्यों का पालन करना होगा। मूल कर्तव्यों में एक व्यावहारिक कठिनाई यह है कि ये कर्तव्य अस्पष्ट अनिश्चित तथा काल्पनिक प्रतीत होते हैं।

(3) राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त
(The Directive Principles of State Policy)

राज्य के नीति निर्देशक तत्व भारतीय संविधान की विशेषता है। इन सिद्धान्तों का वर्णन संविधान के भाग 4 में अनुच्छेद 36 से 51 तक किया गया है। इनका मूल लक्ष्य आर्थिक और सामाजिक लोकतन्त्र स्थापित करना है। *राज्य के नीति निर्देशक तत्व सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के आदर्श तथा देश के शासन के आधारभूत सिद्धान्त भी* हैं। अनुच्छेद 37 के अनुसार संविधान के भाग 4 में दिए गए उपबन्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होंगे किन्तु इनमें दिए गए तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा। ये निर्देशक तत्व अपनी रूपरेखा में लचीले एवं व्यापक हैं अतः देश की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल उन्हें ढाला जा सकता है। इन तत्वों में किसी दल-विशेष की विचारधारा को नहीं अपनाया गया है। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का उल्लेख है और देश में प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर इन्हें लागू करना है। राज्य के नीति *निर्देशक सिद्धान्तों में राज्य और समाज के भावी स्वरूप की रूपरेखा पाई जाती है जिनका मूल लक्ष्य देश में शोषणमुक्त और* समतायुक्त लोकतान्त्रिक, समाजवादी और धर्म-निरपेक्ष गणराज्य की स्थापना पर लोक-कल्याणकारी राज्य की भावना को साकार करना है।

निर्देशक सिद्धान्त सवैधानिक प्रावधान (अनुच्छेद 36 से 51)

संविधान के अनुच्छेद 36 में राज्य की परिभाषा दी गई है। तद्नुसार राज्य के अन्तर्गत भारत सरकार और संसद तथा राज्य सरकार और विधान-मण्डल तथा भारत राज्य क्षेत्र के भीतर भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन स्थानीय और अन्य प्राधिकारी हैं।

अनुच्छेद 37 के अनुसार निर्देशक तत्व न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होने पर देश के शासन में मूलभूत हैं।

अनुच्छेद 38 व्यवस्था देता है कि लोक-कल्याण की उन्नति के लिए राज्य सामाजिक व्यवस्था बनाएगा। 44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा अनुच्छेद 38 में एक नया खण्ड (2) जोड़कर एक नया निर्देशक तत्व जोड़ा गया है जो यह उपबन्धित करता है *कि राज्य प्रयास करेगा कि विशेष रूप से व्यक्तियों की आय में असमानता कम हो* पद सुविधाओं और अवसरों के सम्बन्ध में व्यक्तियों में नहीं, वरन् विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले या विभिन्न व्यापार में लगे सभी वर्गों में असमानता दूर हो।[1]

अनुच्छेद 39 से 51 तक नीति निर्देशक तत्व

राज्य द्वारा अनुसरणीय नीति, भाग 39. राज्य अपनी नीति का ऐसा संचालन करेगा कि—

(क) नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार विभाजित हो ताकि सामूहिक हित का साधन हो

(ग) आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत धन और उत्पादन के साधनों का सर्व-साधारण के लिए अहितकारी केन्द्रीकरण न हो

(घ) पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन हो,

(ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति, बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो

1 जयनारायण पाण्डेय वही, पृ. 254

(च) बालकों को स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधायें दी जायें तथा शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से, नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

अनुच्छेद 39 क - समान न्याय और निशुल्क विधिक सहायता—राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ कराके और यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान द्वारा या किसी रीति से निशुल्क सहायता की व्यवस्था करेगा।

अनुच्छेद 40 : ग्राम पंचायतों का संगठन—राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने हों।

अनुच्छेद 41 कुछ अवस्थाओं में काम, शिक्षा और लोक-सहायता पाने का अधिकार राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम, शिक्षा, बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीन तथा अन्य अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त करने का कार्य उपबन्ध करेगा।

अनुच्छेद 42 . काम की न्याय तथा मानवोचित दशाओं तथा प्रसूति सहायता उपबन्ध राज्य काम की न्यायोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करेगा।

अनुच्छेद 43 श्रमिकों के लिए निर्वाह-मजदूरी आदि : उपयुक्त विधान या आर्थिक संगठन द्वारा अथवा किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि, उद्योग तथा अन्य प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह, मजदूरी, शिष्ट जीवन-स्तर तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपयोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा तथा ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 43 क उद्योगों के प्रबन्ध में कर्मकारों का भाग लेना - राज्य किसी उद्योग में लगे हुए उपक्रमों, स्थापनों या अन्य संगठनों के प्रबन्ध में कर्मकारों का भाग लेना सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त विधान द्वारा या किसी अन्य रीति से कदम उठाएगा।

अनुच्छेद 44 : नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार संहिता भारत में समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य समान व्यवहार-संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 45 : बालकों के लिए निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध : राज्य संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष तक निशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 46. अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों तथा अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति राज्य जनता के दुर्बलतर वर्गों के विशेषतया अनुसूचित आदिम-जातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति का सामाजिक अन्याय और शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

अनुच्छेद 47 : आहार-पुष्टि और जीवन-स्तर ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार करने का राज्य का कर्त्तव्य - राज्य लोगों के आहार-पुष्टि-तल और जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा लोक-स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों में से मानेगा तथा विशेषतया मादक पेय पदार्थों और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक औषधियों के औषधीय प्रयोजनों से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 48 : कृषि और पशुपालन का संगठन राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने, गायों, बछड़ों अन्य दुधारू और वाहक पशुओं की नस्ल के परिरक्षण और सुधारने के लिए उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए अग्रसर होगा।

अनुच्छेद 48 क - पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्धन और वन तथा अन्य जीवों की रक्षा राज्य देश के पर्यावरण के संरक्षण तथा संवर्धन का और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 49 : राष्ट्रीय महत्त्व के स्मारक स्थलों और वस्तुओं का संरक्षण - विधि के द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व के घोषित कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरुचि वाले प्रत्येक स्मारक स्थान, वस्तु का दुरुपयोग, लुण्ठन, विरूपण, विनाश, अपसारण, व्ययन अथवा निर्यात से रक्षा करना राज्य का दायित्व होगा।

अनुच्छेद 50 : कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण : राज्य की लोक सेवाओं में, न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिए राज्य अग्रसर होगा।

अनुच्छेद 51 : अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति : (क) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाए रखने का, (ख) संगठित लोगों के एक-दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि-बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का, (ग) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करेगा।

नीति निर्देशक तत्वों और मूल अधिकारों में अन्तर

नीति निर्देशक तत्व और मूल अधिकार हमारे संविधान की अन्तरात्मा हैं जिनका लक्ष्य देश में सच्चे अर्थों में लोकतान्त्रिक गणराज्य की भावना को साकार करना है। दोनों भारतीय नागरिकों की स्वतन्त्रता के प्रतीक हैं तथापि दोनों के मध्य निम्नांकित अन्तर हैं—

1. मूल अधिकार नकारात्मक हैं क्योंकि ये राज्य पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। निर्देशक तत्व सकारात्मक हैं क्योंकि ये राज्य को किन्हीं निश्चित कार्यों को करने का आदेश देते हैं।

2. मूल अधिकार वाद योग्य (Justiciable) हैं निर्देशक तत्व वाद योग्य नहीं हैं। अनुच्छेद 37 स्पष्ट रूप से कहता है कि निर्देशक तत्वों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकेगी। ये तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि-निर्माण में इन तत्वों का प्रयोग राज्य का कर्तव्य है। दूसरी ओर मूल अधिकार न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हैं अर्थात् वे मूल अधिकार से असंगत किसी कानून को अवैध घोषित कर सकते हैं लेकिन कोई विधि इस आधार पर अवैध घोषित नहीं की जा सकती कि वह निर्देशक तत्वों के विरोध में है और न ही न्यायालय सरकार के इन तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए आदेश दे सकते हैं।

3. मूल अधिकारों का विषय व्यक्ति है निर्देशक तत्व राज्य के लिए हैं। ये राज्य को नैतिक निर्देश देते हैं कि वह सार्वजनिक हित के लिए इन्हें लागू करे।

4. मूल अधिकार नागरिकों को संविधान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दिए गए हैं जबकि निर्देशक तत्वों का उपयोग नागरिक तभी कर सकते हैं जब राज्य विधि इन्हें कार्यान्वित करे।

5. निर्देशक तत्वों का क्षेत्र मूल अधिकार के क्षेत्र से व्यापक है। मूल अधिकारों का क्षेत्र भारत-राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत है जबकि निर्देशक तत्वों में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के सिद्धान्त तथा विश्व-बन्धुत्व और विश्व शान्ति का संदेश अन्तर्निहित है। ग्लैडहिल (Gladhill) के अनुसार "मौलिक अधिकार राज्य के लिए कुछ निषेध आज्ञाएँ (Negative Injuctions) हैं। राज्य के निर्देशक सिद्धान्त यह बतलाते हैं कि राज्य को क्या करना चाहिए।

न्यायालयों का दृष्टिकोण (Judicial View)

सन् 1971 में संविधान के 25वें संशोधन के पारित होने के पश्चात् निर्देशक सिद्धान्तों के प्रति न्यायालयों के दृष्टिकोण को निम्नानुसार तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) मूल अधिकारों को निर्देशक तत्वों से उच्च मानने का न्यायिक निर्णय—न्यायाधीशों का तर्क यह है कि मूल अधिकार वाद योग्य है। निर्देशक तत्व वाद योग्य नहीं है अतः ये कम महत्वपूर्ण हैं मूल अधिकारों के अधीन हैं और उन्हें अधीन रहना चाहिए। न्यायालयों के निर्णय इस सम्बन्ध में निम्नांकित मुकदमों में दिए गए थे—

1. चम्पाकम दोरायजन बनाम मद्रास राज्य का यह पहला मामला था जिसमें संविधान के लागू होने के बाद मूल अधिकारों और निर्देशक तत्वों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था दी गई। मद्रास राज्य ने एक आदेश जारी किया जिसमें राज्य के मेडिकल और इन्जीनियरिंग कॉलेजों में प्रवेश के लिए विभिन्न समुदायों के लिए स्थानों का एक निश्चित प्रतिशत निर्धारित किया गया। आदेश को इस आधार पर चुनौती दी गई कि वह धर्म या जाति के आधार पर लोगों को कॉलेजों में प्रवेश का प्रावधान करता है और इसमें अनुच्छेद 15(1) तथा 29(2) में दिए गए मूल अधिकारों का उल्लंघन है। पिटीशनर को ब्राह्मण होने के नाते कॉलेज में प्रवेश से इन्कार कर दिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास राज्य के आदेश को अनुच्छेद 29(2) के विरुद्ध होने के कारण अवैध घोषित किया। अपने निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया कि निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों वाले अध्याय के अनुकूल होना चाहिए और उसके सहायक के रूप में रहना चाहिए। न्यायमूर्ति एस. आर. दास के अनुसार, "राज्य-नीति के निर्देशक तत्व जिन्हें स्पष्टतः अनुच्छेद 37 द्वारा न्यायालयों में वाद योग्य नहीं माना गया है संविधान के तीसरे भाग में दिए गए उपबन्धों का अतिक्रमण नहीं कर सकते।"

2. पी. डी. आर. श्रीनिवास बनाम मद्रास राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में उसी प्रकार के विचार प्रकट किए जो चम्पाकम के मामले में किए थे।

3. गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार की दलील कि वह बदलती हुई जन-आकांक्षाओं के अनुसार निर्देशक तत्वों को लागू कर सकती है को अस्वीकार करते हुए निर्णय दिया कि "निर्देशक तत्वों को तीसरे भाग द्वारा व्यवस्थित स्वयं नियमित करने वाले यन्त्र (Self Regulating Machinery) के भीतर लागू किया जा सकता है।"

4. 'मुहम्मद हमीद कुरेशी और अन्य बनाम बिहार राज्य' में बिहार पशु प्रारक्षण और सुधार अधिनियम, 1955 के कुछ उपबन्धों की विधि-मान्यता पर विचार करते हुए न्यायाधिपति एस. आर. दास ने चम्पाकम दोरायजन मामले में की

गई इस युक्ति का आश्रय लिया कि संविधान के चौथे भाग में निर्धारित राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों को संविधान के तीसरे भाग में दिए गए मूल अधिकार और उसके अधीन रहना होता है।

(ख) मूल अधिकारों तथा निर्देशक तत्वों को एक-दूसरे के पूरक मानने सम्बन्धी निर्णय—

1. 'बिहार राज्य बनाम कामेश्वरसिंह के मामले' में सर्वोच्च न्यायालय के अनुच्छेद 39 पर बल देते हुए यह निर्णय दिया कि जमींदारी उन्मूलन 'लोक प्रयोजन' के लिए पारित किए गए हैं अतः सांविधानिक है। न्यायाधिपति महाजन के अनुसार "संविधान के चौथे भाग में दिए गए उपबन्ध तीसरे भाग में दिए गए उपबन्धों का प्रतिपूरण करते हैं और ये दोनों मिलकर कल्याणकारी लोकतन्त्रात्मक राज्य के निर्माण के लिए योजना प्रस्तुत करते हैं।"

2. 'सज्जनसिंह बनाम स्टेट आफ राजस्थान' के मामले में न्यायाधीश मधोलकर ने कहा कि निर्देशक तत्व देश के शासन के आधारभूत सिद्धान्त हैं और संविधान के भाग 3 के उपबन्ध इन सिद्धान्तों के साथ समझे जाने चाहिए।

3. 'चन्द्र भवन बोर्डिंग एण्ड लोजिंग बंगलौर बनाम मैसूर राज्य और अन्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय का मत रहा कि "यह सोचना मिथ्या धारणा है कि हमारे संविधान के अधीन अधिकारों की व्यवस्था है कर्तव्यों का नहीं, जबकि तीसरे भाग में प्रदान किए गए अधिकार मूल अधिकार हैं। चौथे भाग में दिए गए निर्देश देश के शासन में मूलभूत हैं। संविधान के तीसरे और चौथे भाग में दिए गए उपबन्धों में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। चौथे भाग के उपबन्ध विधान-मण्डल और सरकार को नागरिकों पर विभिन्न कर्तव्य आरोपित करने योग्य बनाते हैं। संविधान का आदेश एक ऐसे कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है जिसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय अनुप्राणित करेगा। अगर हमारे नागरिकों के निम्नतम वर्गों की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जाता तो संविधान में दी गई आशाएँ और आकांक्षाएँ झूठी सिद्ध होंगी।"

(ग) वे न्यायिक निर्णय, जिनमें मूल अधिकारों पर प्रतिबन्धों को स्पष्ट करने के लिए निर्देशक तत्वों का सहारा लिया गया—इस प्रकार के निर्णयों में न्यायालयों ने मूल अधिकारों की तुलना में निर्देशक तत्वों को महत्व दिया है। कुछ उल्लेखनीय मामले निम्नलिखित हैं—

1. 'एस. नारायण पल्लवी बनाम दी स्टेट ऑफ ट्रावन्कोर कोचीन' के मुकदमे में न्यायिक निर्णय में स्वीकार किया गया कि मद्यनिषेध एक निर्देशक सिद्धान्त है जो अनुच्छेद 19(1) (छ) पर युक्तियुक्त निर्बन्धन अर्थात् प्रतिबन्ध लगाता है। मुकदमें में अनुच्छेद 19(1) छ के अनुसार कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने के अधिकार पर लगाए जाने वाले निर्बन्धों (प्रतिबन्धों) की वैधता का प्रश्न था।

2. 'जुगलकिशोर बनाम लेबर कमिश्नर' के मुकदमे में अनुच्छेद 19(1) (छ) पर लगाए जाने वाले युक्तियुक्त निर्बन्धनों के क्षेत्र का प्रश्न था। न्यायिक निर्णयों में स्वीकार किया गया कि जनहित में इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। न्यायालय ने इन प्रतिबन्धों का जिक्र करते हुए अनुच्छेद 41, 43 तथा 46 में दिए गए निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया।

न्यायालय का दृष्टिकोण समयानुसार बदलता रहा है अतः 25वाँ संविधान संशोधन विधेयक पारित कर अनुच्छेद 31-ग को जोड़ा गया। इसके दूसरे भाग में यह कहा गया कि यदि अनुच्छेद 39 (ख) और 39 (ग) में वर्णित निर्देशक तत्वों को लागू करने के लिए व्यवस्था की गई है (उसमें यह घोषणा कर दी गई है कि वह ऐसी नीति को प्रभावी करने के लिए है) तथा उसके कारण मूल अधिकारों का हनन होता है तो नागरिक न्यायालय की शरण में नहीं जा सकेंगे, लेकिन 24 अप्रैल, 1973 के 'केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य' वाले मामले के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 31-ग के इस दूसरे भाग को अवैध ठहरा दिया। फलस्वरूप नागरिकों के लिए न्यायालय की शरण लेना सम्भव हो गया और न्यायालय यह जाँच करने में सक्षम हो गया कि कोई कानून अनुच्छेद 39 (ख) एवं 39 (ग) में वर्णित निर्देशक तत्वों को लागू करने के लिए बनाया गया है। अनुच्छेद 31-ग का पहला भाग वैध है जो कहता है कि 'अनुच्छेद 13 में किसी तत्व के न होते हुए भी, कोई विधि, जो अनुच्छेद 39 के खण्ड (ख) या खण्ड (ग) में उल्लिखित तत्वों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने वाली हो, इस आधार पर शून्य नहीं समझी जाएगी कि वह अनुच्छेद 14, अनुच्छेद 19 या अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है, उसे छीनती या न्यून करती है।' सर्वोच्च न्यायालय ने उपर्युक्त निर्णय में 24वें, 25वें और 19वें संशोधन को वैध ठहराया (केवल अनुच्छेद 39-ग के दूसरे भाग को छोड़कर) इस मामले में अपना निर्णय देते हुए न्यायाधिपति हेगड़े और मुखर्जी ने कहा था—

"निर्देशक तत्वों के महत्व को कोई इनकार नहीं कर सकता है—संविधान का भाग 4 उस सामाजिक तथा आर्थिक क्रान्ति को लाने के लिए बनाया गया था जिसकी पूर्ति स्वतन्त्रता के बाद होने की माँग थी। संविधान का उद्देश्य कुछ स्वतन्त्रताओं की गारण्टी थोड़े से नागरिकों को ही नहीं, बल्कि सब नागरिकों को देना है। संविधान में हमारे समाज की कल्पना उसके सम्पूर्ण रूप में की गई और उसमें यह ध्यान रखा गया कि समाज का प्रत्येक सदस्य मूलभूत स्वतन्त्रताओं

में भाग ले। भाग 4 की उपेक्षा करने का अर्थ है संविधान में उपबन्धित शक्ति, राष्ट्र को दिखाई गई आशाओं तथा उन आदर्शों की उपेक्षा करना है जिन पर हमारे संविधान का निर्माण किया गया है। निर्देशक तत्वों का निष्ठापूर्वक चालन किए बिना संविधान में परिकल्पित कल्याणकारी राज्य की प्राप्ति असम्भव है।"

कुछ नवीनतम न्यायिक निर्णय

'रणधीर सिंह बनाम भारत संघ' के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यद्यपि 'समान कार्य के लिए समान वेतन' संविधान के अधीन एक मूल अधिकार नहीं है, वरन् केवल निर्देशक तत्व है, किन्तु यह एक सांविधानिक लक्ष्य है और अनुच्छेद 32 के अधीन न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय (*Enforciable*) है। रजन द्विवेदी बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि निर्देशक तत्व प्रथमतः विधान-मण्डल और कार्यपालिका के लिए निर्देश (Directives) है किन्तु न्यायालय भी इस निर्देश से बाध्य है। न्यायालयों का यह परम कर्तव्य है कि वे संविधान का इस तरह निर्वचन करें ताकि निर्देशक तत्वों को क्रियान्वित किया जा सके और इनमें सामाजिक लक्ष्यों एवं व्यक्तिगत अधिकारों में सामंजस्य स्थापित किया जा सके।

निर्देशक तत्वों की आलोचना

प्रो. के. टी. शाह के अनुसार "राज्य नीति के ये निर्देशक तत्व एक ऐसे चैक के समान है जिनका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।"[1] कुछ आलोचकों ने निर्माताओं की पवित्र भावनाओं और आकांक्षाओं का समूह-मात्र कहा है उन्हें 'थोथे वचनों' की संज्ञा दी है। नीति निर्देशक सिद्धान्तों की आलोचना में निम्नलिखित तर्क दिये जाते है—

1. ये तत्व वाद योग्य नहीं हैं अतः इनके पीछे कोई बाध्यता नहीं है। यह राज्य की इच्छा पर निर्भर है कि वह इन्हें कहाँ तक लागू करता है। ये राजनीतिक घोषणा मात्र हैं।

2. इन तत्वों में वर्णित अनेक विषय अनिश्चित और अस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ, समाजवादी सिद्धान्तों में श्रमिकों और मालिकों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित व्यवस्था नहीं है और न ही राष्ट्रीय योजनाओं का कोई विवरण दिया गया है।

3. कुछ ऐसे तत्व बताए गए हैं जिनका पालन व्यवहार में असम्भव है, जैसे—मद्यनिषेध। इस प्रकार के तत्वों या सिद्धान्तों का अनुपालन न होने से अन्य सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा कम हो जाती है।

4. संविधान में कुछ तत्व ऐसे हैं जिन्हें एक निश्चित अवधि में पूरा किया जाना था। उदाहरणार्थ, संविधान लागू होने के 10 वर्ष के भीतर 14 वर्ष के बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करनी थी, किन्तु 53 वर्षों के बाद भी सभी राज्यों में ऐसा नहीं हो पाया है। इसी प्रकार उत्पादन और वितरण के साधनों की न्यायपूर्ण व्यवस्था नहीं हो सकी है।

5. निर्देशक तत्वों का संविधान में समावेश कुछ निहित राजनीतिक स्वार्थों के कारण किया गया था। देश के कुछ राज्यों की यह माँग थी कि संविधान में शिक्षा सम्बन्धी, विश्राम सम्बन्धी और बेकारी सम्बन्धी अधिकारों को सम्मिलित कर लिया जाए तथा यथासम्भव उन्हें मौलिक अधिकारों के अध्याय में स्थान दिया जाए। राजनीतिक सतोष एवं उनकी इच्छापूर्ति के लिए निर्देशक सिद्धान्तों की व्यवस्था की गई है।

6. कुछ निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों के अध्याय में रखना उचित था यथा—काम करने का अधिकार, आर्थिक सुरक्षा आदि।

7. संविधान-सभा में काँग्रेस का प्रचण्ड बहुमत था, अतः निर्देशक तत्वों पर काँग्रेस की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

8. मूल अधिकारों और निर्देशक तत्वों में द्वन्द्व की स्थिति है।

9. निर्देशक तत्वों के सम्बन्धों में दिए गए न्यायिक निर्णय बदलते रहे हैं और नौकरशाही तथा जनता के बीच तनाव के बिन्दु पनपते रहे हैं।

10. निर्देशक तत्वों के अध्याय में लक्ष्यों की चर्चा है, लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों की नहीं। जब तक साधन स्पष्ट नहीं होते हैं, तब तक लक्ष्यों की प्राप्ति सभव नहीं है।

11. आइवर जैनिंग्स के अनुसार निर्देशक तत्व किसी निश्चित और संगतपूर्ण दर्शन पर आधारित नहीं हैं, ये समुचित रूप से क्रमबद्ध और वर्गीकृत नहीं हैं।

12. निर्देशक तत्वों की कार्यान्विति की प्रगति धीमी है, अतः संविधान में इन्हें स्थान देने की उपयोगिता संदेहास्पद हो जाती है। संविधान के लागू होने के 53 वर्षों के पश्चात् आज देश में व्याप्त गरीबी और विपन्नता की स्थिति, सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न तथा आर्थिक विषमता की स्थिति नीति निर्देशक सिद्धान्तों के महत्व के आगे प्रश्न चिह्न खड़ा करती है।

---

1. *K. T. Shah*, C. A. D. Vol. III, p. 208

13 अनुच्छेद 44 में उल्लेख है कि समस्त देश में एक समान व्यवहार संहिता होना चाहिए जिसे मुसलमान अपने धर्म के विपरीत मानते हैं तथा उसका प्रबल विरोध कर रहे हैं।

निर्देशक तत्वों की उपलब्धियाँ

निदेशक तत्वों की उपयोगिता, संवैधानिक महत्ता और पवित्रता निर्विवाद है जिसके लिए निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

(क) ये तत्व देश में सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लाने के लिए राज्य के मार्गदर्शक हैं। सदियों की गुलामी और शोषण के बाद देश आज़ाद हुआ अतः आर्थिक और सामाजिक समृद्धि लाने में कुछ कठिनाइयों का आना स्वाभाविक है।

(ख) निर्देशक तत्वों की कार्यान्विति के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा निरन्तर प्रयत्न किए जा रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से किए गए जन-हितकारी कार्य ठोस प्रमाण हैं।

(ग) संविधान के पच्चीसवें संशोधन के बाद मूल अधिकारों और निर्देशक सिद्धान्तों में द्वन्द्व समाप्त हो गया है।

(घ) निर्देशक तत्व देश के कल्याण की भावना को दृष्टिगत रखकर संविधान में रखे गए हैं। ये तत्व प्रगतिशीलता के द्योतक हैं। इन पर वर्तमान में पूर्ण राष्ट्रीय सहमति की स्थिति है। देश के सभी राजनीतिक दल तथा राजनीतिक व्यक्तित्व इनकी उपयोगिता पर एकमत हैं।

(ङ) काम करने का अधिकार, आर्थिक सुरक्षा आदि के निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों में मिलाया जाना इसलिए उचित नहीं था कि भारत की आर्थिक स्थिति इसके लिए उपयुक्त नहीं थी, अतः मार्ग-निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में इस संविधान में रखा जाना उपयुक्त है।

(च) नीति निर्देशक तत्वों के महत्व को उपलब्धियों के रूप में नहीं मापना चाहिए। उनका महत्व प्रेरणा के स्रोत और मार्गदर्शक प्रकाश-स्तम्भ के रूप में है।

(छ) भारतीय जनता का बहुमत इनके साथ एकाकार हो चुका है। वह इनके प्रति विश्वस्त तथा आशान्वित है।

(ज) निर्देशक सिद्धान्त सत्तारूढ़ दल के लिए व्यवहार की नियमावली (Code of Conduct) हैं जो विश्वास दिलाते हैं कि चाहे कोई भी राजनीतिक दल सत्तारूढ़ क्यों न हो वह जनता के कल्याण के लिए इन सिद्धान्तों के अनुरूप अपनी नीति का निर्धारण करेगा। यदि कोई सरकार अपने शासन में इन सिद्धान्तों की अवहेलना करेगी तो उसे न केवल विधान-मण्डलों में वरन् सम्पूर्ण देश में प्रबल विरोध का सामना करना पड़ेगा और उसके लिए सत्तारूढ़ बने रहना कठिन हो जाएगा। एम. वी. पायली के अनुसार "इन हानिकारक परिणामों से डरते हुए कोई सत्तारूढ़ दल निर्देशक सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकता, ये उनके व्यवहार की नियमावली हैं।"[1]

(झ) राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्त इस दृष्टि से उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं कि ये भारत में वास्तविक लोकतन्त्र के विकास का विश्वास दिलाते हैं। इनका मूल उद्देश्य भारत में आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है ताकि राजनीतिक लोकतन्त्र स्थिर बन सके।

(ञ) कानूनी शक्ति के अभाव के बावजूद इनके पीछे भारतीय जनमत की शक्ति है।

(ट) निर्देशक तत्व मूल अधिकारों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। ग्रेनविल ऑस्टिन के अनुसार, "भारतीय संविधान प्रथमतः और सर्वोपरि रूप में एक सामाजिक दस्तावेज है। इसके अधिकांश उपबन्ध या तो प्रत्यक्षतः सामाजिक क्रान्ति के उद्देश्य को पूरा करने के लिए आवश्यक दशाओं की स्थापना करते हुए सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए या सीधे उपबन्धित हैं या सम्पूर्ण संविधान में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का लक्ष्य व्यक्त होते हुए भी सामाजिक क्रान्ति के लिए वचनबद्धता का जो मर्म है वह भाग 3 और 4 के मूल अधिकारों तथा राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों में है। ये संविधान की आत्मा हैं।"

(ठ) 25वें तथा 42वें संविधान संशोधनों ने नीति निर्देशक सिद्धान्तों के महत्व को असाधारण रूप से प्रतिष्ठित कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि नीति-निर्देशक तत्व न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं, किन्तु इनकी संवैधानिक महत्ता एवं पवित्रता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है।

---

1. M. V. Pylee Constitutional Government in India, p. 33[illegible]

(4) भारतीय संघवाद : संघ और उसका राज्य-क्षेत्र

(Indian Federalism : The Union and its Territory)

संविधान के भाग-1 के प्रथम तीन अनुच्छेदों में संघ और उसके राज्य-क्षेत्रों का उल्लेख है। तदनुसार—

संघ का नाम और राज्य क्षेत्र—भारत (India) राज्यों का एक संघ है। इसके राज्य और राज्य-क्षेत्र प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किए गए हैं। भारत के भू भाग में राज्यों के राज्य-क्षेत्र और संघ राज्य क्षेत्र, जो प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किए गए हैं तथा दूसरे राज्य-क्षेत्र जो अर्जित किए जाएँ, समाविष्ट होंगे।[1]

नए राज्यों का प्रवेश—संसद विधि द्वारा ऐसे निर्बन्धनों और शर्तों के साथ जिन्हें वह उचित समझे, संघ में नए राज्यों का प्रवेश या स्थापना कर सकेगी।[2]

नए राज्यों का निर्माण और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों का बदलना—संसद विधि द्वारा—(क) किसी राज्य से उसका प्रवेश अलग करके अथवा दो या दो से अधिक राज्यों या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी प्रदेश को किसी राज्य के भाग के साथ मिला कर नवीन राज्य बना सकेगी, (ख) किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी, (ग) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी, (घ) किसी राज्य की सीमाओं को बदल सकेगी, (ङ) किसी राज्य के नाम को बदल सकेगी। इस प्रयोजन के लिए कोई विधेयक संसद के किसी सदन में तब तक पेश नहीं किया जा सकता जब तक उस पर राष्ट्रपति की सिफारिश न हो। यदि विधेयक किसी राज्य के रकबे, सीमा या नाम को प्रभावित करता है तो राष्ट्रपति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस विधेयक को उन प्रभावित राज्यों के विधान-मण्डल को निर्दिष्ट करे ताकि वे उस पर अपने विचार प्रकट करने में समर्थ हो सकें।[3] किसी नए राज्य को सम्मिलित करने अथवा वर्तमान राज्य की सीमाओं को बदलने के बाद संसद साधारण बहुमत से और विधान के सामान्य क्रम में, संविधान में सभी आनुषंगिक परिवर्तन कर सकती है।[4] पूर्वोक्त प्रयोजनों के लिए संसद का अधिनियम संविधान का संशोधन समझा जाएगा।[5] चन्द्रनगर 9 जून, 1952 की एक संधि के आधार पर फ्रांस द्वारा भारत को अर्पित किया गया और यह भारत का अंग बन गया। आन्ध्र राज्य अधिनियम, 1953 द्वारा मद्रास राज्य से कुछ क्षेत्र को अलग करके आन्ध्र प्रदेश बनाया गया।

अपने राष्ट्र का कोई भाग किसी विदेशी राष्ट्र को अर्पित करना—भारत और पाकिस्तान के बीच बेरूबारी यूनियन न. 12 के विभाजन और पुराने कूच-बिहार क्षेत्र के विनिमय के सम्बन्ध में करार हुआ। इसको लागू करने में यह सन्देह उठा कि संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार एक संसदीय कानून द्वारा वैधानिक कार्यवाही अपेक्षित है अथवा संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान संशोधन अपेक्षित है। उच्चतम न्यायालय ने अपने परामर्श में कहा कि मामला सीमा-निर्धारण का नहीं बल्कि एक भारतीय भू-भाग के अर्पण या हस्तान्तरण का है अतः संसद को संविधान के अनुच्छेद 3 को संशोधित करने वाला कानून पारित करना चाहिए ताकि किसी विदेशी राज्य के पक्ष में भारत के किसी भू-भाग के अर्पण के मामले उसमें शामिल हो जाएं। इस पर संविधान (नवम् संशोधन) अधिनियम, 1960 के द्वारा सीमा-विवाद सम्बन्धी 10 सितम्बर, 1958, 23 अक्टूबर, 1959 और 11 जनवरी, 1960 को हुए भारत-पाकिस्तान समझौतों की शर्तों को कार्यान्वित करने और कुछ क्षेत्र पाकिस्तान को हस्तान्तरण करने के लिए संविधान की प्रथम अनुसूची में संशोधन किया गया।[6]

भारतीय संघ के राज्य—भारत संघ के क्रमिक विकास के साथ राज्यों की संख्या बढ़ी है। इसका प्रारम्भ 1 नवम्बर, 1956 में राज्यों के पुनर्गठन से हुआ। वर्तमान में भारत 28 राज्यों और 7 केन्द्र शासित क्षेत्रों का एक संघ है।

भारतीय संघवाद की प्रकृति : सिद्धान्त और व्यवहार
क्या भारत एक संघ है?

(The Nature of Indian Federalism : Theory & Practice
Is India a Federation?)

भारतीय संघ की प्रकृति के सम्बन्ध में विभिन्न संविधानवेत्ताओं राजनीतिक टीकाकारों समीक्षकों तथा शोधकर्ताओं ने अपने ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। संविधान में भारत 'राज्यों का संघ' (Union of States) कहा गया है किन्तु भारतीय संघवाद विद्वानों के लिए एक प्रश्न-चिह्न बना हुआ है। इसका कारण यह है कि भारतीय संघवाद अपनी

1 भारत का संविधान (रजत जयन्ती संस्करण), अनुच्छेद 1, पृ. 1
2 पूर्वोक्त, अनुच्छेद 2 पृ. 1
3 पूर्वोक्त, अनुच्छेद 3 पृ. 1 एवं 2
4 भारत का संविधान (रजत जयन्ती संस्करण), अनुच्छेद 4(1), पृ. 2
5 पूर्वोक्त अनुच्छेद 4(2) पृ. 3
6 सुभाष कश्यप पूर्वोक्त, पृ 355

प्रकृति में अनोखा है। इसके अनेक रूप देखने को मिलते हैं। समय और आवश्यकता के अनुसार यह अपने स्वरूप में शिथिल और कठोर हो जाता है, शान्तिकाल में संघवाद प्रभावी रहता है आपातकाल में एकात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। संविधान-निर्माताओं ने देश के अतीत को ध्यान में रखकर एक विशिष्ट प्रकार के संघवाद को जन्म दिया जो संसदीय प्रणाली के प्रमुख लक्षणों को और एकात्मक शासन-व्यवस्था के गुणों को अपनाए हुए है। एच. वी. पाटसकर के अनुसार, "हमने संघ ढाँचे को बनाए रखा है, लेकिन उसकी अन्तर्वस्तु में परिवर्तन कर दिया है।" संविधान-सभा में देश की शासन-व्यवस्था के स्वरूप पर खुलकर बहस हुई और एक ऐसा संविधान अपनाया गया जो 'स्वरूप में संघात्मक, किन्तु आत्मा में एकात्मक' है।' संविधान-सभा में डॉ. देशमुख की टिप्पणी थी कि "भारतीय संघ न तो संघात्मक है न एकात्मक।" कुछ सदस्यों का मत था कि संविधान में संघात्मक सिद्धान्त की हत्या कर दी गई है। कुछ के द्वारा यह तर्क दिया गया कि भारत का संविधान 75 प्रतिशत एकात्मक और 25 प्रतिशत संघात्मक है।

भारतीय संविधान में संघात्मक और एकात्मकता का समन्वय—भारतीय संविधान स्वरूप में संघवाद के प्रमुख लक्षण ग्रहण किए गए हैं, किन्तु एकात्मकता की ओर उसका झुकाव है। भारतीय संघ की विशेषताओं को निम्नानुसार रखा जा सकता है—

1. लिखित और सर्वोपरि प्रलेख के रूप में—संघीय सिद्धान्त के अनुरूप भारतीय संविधान 'विश्व का सबसे बड़ा और लिखित संविधान' है। यह देश की सर्वोपरि विधि है और संविधान के उपबन्ध जो संघीय व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं, कम से कम आधे राज्य सरकारों की सहमति के बिना परिवर्तित या संशोधित नहीं किए जा सकते। हमारा संविधान अमेरिका के संविधान की भाँति न कठोर है और न ब्रिटिश संविधान की भाँति लचीला है। संविधान की प्रथम प्रक्रिया (संसद के साधारण बहुमत द्वारा संशोधन करने वाली) संविधान की सुपरिवर्तनशीलता का द्योतक है और शेष दोनों प्रक्रियाएँ (संसद के विशेष बहुमत वाली तथा संसद के विशेष बहुमत के साथ आधे राज्यों की स्वीकृति वाली) संविधान की दुष्परिवर्तनशीलता को प्रकट करती है। इस प्रकार लचीलेपन और कठोरता के आदर्श का समन्वय किया गया है।

2. दोहरी शासन प्रणाली—संघात्मक शासन-व्यवस्था के अनुरूप भारतीय संविधान में दो प्रकार की सरकारों और दोहरे शासन-तन्त्र की व्यवस्था है। संघ का शासन केन्द्र तथा राज्यों से चलाया जाता है और दोनों सरकारों का प्रशासन तन्त्र अलग है, लेकिन यह विशेषता पूरी तरह संघात्मक नहीं है, क्योंकि अखिल भारतीय सेवा एकात्मकता का लक्षण उपस्थित करती है।

3. शक्तियों का विभाजन—संघीय सिद्धान्त के अनुरूप केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है। तीन सूचियों—संघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची का निर्माण किया गया है। अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गई हैं। सिद्धान्त रूप में यही लगता है कि प्रत्येक सरकार अपने क्षेत्रों में सर्वोपरि है और एक-दूसरे की सहयोगी हैं। संघ-सूची के विषयों पर संसद का और राज्य-सूची के विषयों पर राज्य विधान-मण्डलों का अनन्य क्षेत्राधिकार है। समवर्ती सूची के विषयों पर संसद और राज्य विधान-मण्डल दोनों कानून बना सकते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि शक्तियों के इस विभाजन में केन्द्र को शक्तिशाली बनाकर एकात्मकता की प्रवृत्ति आरोपित की गई है। संघीय सिद्धान्त के अनुकूल शक्ति-विभाजन इस तरह किया जाना चाहिए कि केन्द्र की शक्तियाँ को गिना दिया जाए और अवशिष्ट शक्तियाँ इकाइयों में निहित की जाएँ, केन्द्र को इतनी अधिक शक्तियाँ भी न दी जाएँ कि राज्यों के पास कुछ नहीं रहे जैसा कि संयुक्त सोवियत संघ में किया गया था। भारत में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति-विभाजन के इन मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लंघन किया गया है। इनमें महत्वपूर्ण शक्तियाँ संघ सूची में है तथा विशेष परिस्थितियों में केन्द्रीय संसद को राज्यों के अनन्य क्षेत्र में भी कानून बनाने का अधिकार दिया गया है। संसद राज्यों के अनुरोध पर राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बना सकती है तथा जो विषय तीनों में से किसी सूची में नहीं आते उन पर संसद को शक्ति प्राप्त है। संघीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में किसी सूची के किसी विषय पर चाहे वह राज्य-सूची में हो, संसद कानून बना सकती है। विधान बनाने में हर प्रकार से संसद की सर्वोच्चता पर बल दिया गया है। राज्य का कानून उसकी सीमाओं से बाहर लागू नहीं हो सकता जबकि संसद का कानून न केवल सारे भारत में बल्कि उसके बाहर भी प्रभावी हो सकता है।[1] यदि संसद किसी ऐसे विषय पर कानून बनाती है जिसकी उसे शक्ति प्राप्त है और उसी विषय पर किसी राज्य द्वारा कोई कानून बनाया जाता है और वह संसद के कानून के प्रतिकूल है तो संसद का कानून ही प्रभावी होगा, जिस सीमा तक राज्य का कानून संसदीय कानून के प्रतिकूल है, उस तक वह प्रभावहीन हो जाएगा।[2] इस नियम का एक अपवाद है कि "यदि समवर्ती सूची के किसी विषय पर किसी राज्य का कानून संसद के किसी पहले कानून के प्रतिकूल हो, तो वही प्रभावी होता है, बशर्ते कि वह राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित

---

1 अनुच्छेद 245, *कौल एवं शकधर*, पूर्वोक्त, पृ. 2

2 अनुच्छेद 245(1); *कौल एवं शकधर*: पूर्वोक्त, पृ. 4

रखा गया हो और उस पर राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई हो परन्तु इस विषय में संसद चाहे तो राज्य विधान-मण्डल द्वारा पास किए गए कानून में संशोधन कर सकती है और चाहे तो उसका निरसन (Repeal) कर सकती है।"[1] पुनश्च, जब आपात उद्घोषणा लागू हो तो संसद की विधायी क्षमता इतनी विस्तृत हो जाती है कि वह राज्य-सूची के किसी विषय पर कानून बना सकती है। शक्ति-विभाजन अपने ढाँचे में संघात्मक होते हुए भी एकात्मकता की प्रवृत्ति लिए हुए है और संविधान की संरचना एकात्मकता का द्योतक है।

4. स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका—संघात्मक व्यवस्था की माँग के अनुरूप भारतीय संविधान स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था करता है जो संविधान की संरक्षक है। देश का उच्चतम न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षक, केन्द्र और राज्यों के विवादों का निपटारा करने वाला और संविधान का व्याख्याकर्ता है किन्तु यहाँ संविधान का एकात्मक लक्षण बना रहता है क्योंकि आपात उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में उच्चतम न्यायालय संविधान का संरक्षक नहीं रहता, जबकि अमेरिका में संकटकालीन परिस्थिति के दौरान वहाँ का सर्वोच्च न्यायालय संविधान का संरक्षक बना रहता है। हमारा संविधान न्याय की दोहरी व्यवस्था स्थापित नहीं करता अर्थात् ऐसा नहीं है कि केन्द्र और राज्य इकाइयों के अपने उच्चतम न्यायालय हों और सांविधानिक मामलों के अतिरिक्त अन्य मामलों की अपील केन्द्र के उच्चतम न्यायालय में नहीं की जा सके। भारत का संविधान एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना करता है जिसमें सांविधानिक मामलों के अतिरिक्त दीवानी और फौजदारी मामलों में उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध (विशेष शर्तों को पूरा करने के उपरान्त) अपील की जा सकती है। संविधान की एकात्मक प्रवृत्ति इससे स्पष्ट होती है कि उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। सारे देश के लिए एक ही दण्ड-संहिता और प्रक्रिया संहिता है।

5. राज्यपालों की नियुक्ति—राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है (अनुच्छेद 155, 156) और वे राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। राज्यपाल राज्य विधानमण्डल के प्रति नहीं वरन् राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होता है और राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित कोई विधेयक राज्यपाल की अनुमति के बिना कानून का रूप नहीं ले सकता है। कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयकों को वह राष्ट्रपति के विचारार्थ भेज सकता है[2] और अन्य में वह अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता है।[3] ऐसा कहा जाता है कि भारतीय संविधान की उक्त व्यवस्था संघीय सिद्धान्त के प्रतिकूल है और इससे राज्यों की स्वायत्तता पर आघात पहुँचता है लेकिन यह आरोप उचित नहीं है क्योंकि राज्यपाल एक सांविधानिक प्रमुख है जो सर्वदा मन्त्रिमण्डल के परामर्श से कार्य करता है। व्यवहार में ऐसे उदाहरण नगण्य हैं जबकि राष्ट्रपति ने राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित कानूनों पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया हो। केरल एजूकेशन बिल में केन्द्र ने पहले उच्चतम न्यायालय का परामर्श प्राप्त किया था उसके पश्चात् ही उसमें उचित संशोधन के लिए राज्य विधान मण्डल को पुन: विचारार्थ भेजा था।[4] राज्यपाल 'केन्द्रीय एजेन्ट या अभिकर्ता' के रूप में अपनी भूमिका का मुखरित रूप से निर्वाह करता है।

6. आपातकालीन स्थिति—आपातकाल में केन्द्र की शक्तियों में भारी वृद्धि हो जाती है। केन्द्र आपातकाल में राज्यों के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता है। युद्ध और राष्ट्रीय आपात काल में केन्द्र की शक्ति में वृद्धि हो सकती है। राष्ट्रपति द्वारा आपात की उद्घोषणा किए जाने पर राज्यों की स्वायत्तता को स्थगित किया जा सकता है और इस दिशा में राष्ट्रपति राज्य का सारा काम अपने प्रतिनिधि राज्यपाल के माध्यम से चला सकता है।[5] राष्ट्रपति वित्तीय आपात की घोषणा करके राज्यों के वित्तीय क्षेत्र में संसद का नियन्त्रण स्थापित कर सकता है और सभी पदाधिकारियों के वेतनों में कटौती कर सकता है। आपातकाल में जब आवश्यक हो राष्ट्रपति संघ तथा राज्यों में शक्ति-विभाजन को परिवर्तित कर सकता है।

7. नए राज्यों के निर्माण तथा वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों को बदलने की संसद की शक्ति—संविधान का अनुच्छेद 3 संसद को नवीन राज्यों के निर्माण और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों सीमाओं तथा नामों को बदलने की शक्ति देता है। इस प्रकार राज्यों का अस्तित्व केन्द्र की इच्छा पर निर्भर है। यह व्यवस्था संघीय सिद्धान्तों पर आघात पहुँचाती है।

8. इकाइयों (राज्यों) के पृथक् संविधान का अभाव—अमेरिकन और स्विस संघीय व्यवस्थाओं के विपरीत भारत की संघीय व्यवस्थाओं में राज्यों के लिए पृथक् संविधान नहीं है। यद्यपि जम्मू और कश्मीर की स्थिति अनुच्छेद 370(2) के कारण अपवाद है, तथापि इसका संविधान भारतीय संविधान के मुख्य ढाँचे के विपरीत नहीं हो सकता है। यह संविधान

1 अनुच्छेद 254(2) जौहरी एवं शास्त्री : पूर्वोक्त, पृ. 2
2 अनुच्छेद 201(3) 288(2) और (31)
3 अनुच्छेद 163
4 जयनारायण पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृ. [illegible]
5 सुभाष कश्यप : पूर्वोक्त, पृ. 346

देश की समूची शासन-व्यवस्था का प्रबन्ध करता है। संविधान का भाग 6 (अनुच्छेद 152 से 237) राज्यों के प्रशासनिक ढाँचे की व्यवस्था करता है।

9. इकहरी नागरिकता और एक राष्ट्रध्वज—संविधान देश भर में एक नागरिकता और एक राष्ट्रध्वज की व्यवस्था करता है। अमेरिका की भाँति संघ की इकाइयों (राज्यों) की कोई पृथक् नागरिकता नहीं है। 'भारतीय नागरिकता' का यह तत्व 'एक देश एक लोग' (One Country One People) के आदर्श की पूर्ति करता है और राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को बल प्रदान कर क्षेत्रीय भावना को निर्बल बनाता है।

10. द्वितीय सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नहीं—भारत में संघीय व्यवस्था की परम्परागत विशेषता को नहीं अपनाया गया कि द्वितीय सदन में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व मिले। भारत में राज्यसभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के अनुपात में है, अतः बड़े राज्यों से अधिक और छोटे राज्यों से कम प्रतिनिधित्व निश्चित किए गए है।

11. संविधान की एकात्मकता बढ़ाने वाले कुछ अन्य संविधानिक तत्व—(i) देश में संघीय भू-भागों अथवा केन्द्र-शासित प्रदेशों की स्थिति ऐसी है जैसी एकात्मक राज्यों में उनके प्रदेशों की होती है। संघीय भू-भागों का शासन राष्ट्रपति द्वारा चलाया जाता है। वह इन क्षेत्रों के प्रशासकों की नियुक्ति अपने एजेण्ट के रूप में करता है। संसद को अधिकार है कि वह किसी भू-भाग के लिए उचित व्यवस्था करे। अण्डमान-निकोबार, लक्षद्वीप, मिनिकाय और अमीनदीव द्वीपों के प्रशासन के लिए राष्ट्रपति को विनियमों (Regulations) के निर्माण का अधिकार है जिन्हें संसदीय कानून जैसी मान्यता प्राप्त होती है।

(ii) अनुसूचित जन-जातियों तथा पिछड़े वर्गों का कल्याण राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है। उसे विशेष आयोग नियुक्त करने का अधिकार है जो अनुसूचित जन-जातियों तथा पिछड़े वर्ग की दशाओं की जाँच करके अपने सुझावों सहित राष्ट्रपति को प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह इन जातियों और वर्गों के कल्याण के सम्बन्ध में राज्य सरकारों को आवश्यक निर्देश दे।

(iii) सम्पूर्ण भारत के लिए एक चुनाव आयोग की व्यवस्था एकात्मकता के तत्व को सम्बल प्रदान करती है।

(iv) एकात्मक व्यवस्था वाले देशों की भाँति सारे देश की वित्तीय शासन व्यवस्था को भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के अधीन रखा गया है।

(v) राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग की नियुक्ति करता है जो केन्द्र और राज्यों के राजस्व वितरण के सुझाव देता है।

(vi) एकात्मक शासन-व्यवस्था के अनुरूप भारत में राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करने के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को समन्वयकारी शक्ति प्राप्त है। इसी उद्देश्य से केन्द्र को अन्तर्राज्यिक परिषद की स्थापना का अधिकार दिया गया है।

(vii) संविधान में संशोधन के फलस्वरूप एकात्मकता के तत्व जुड़ते रहे हैं।

(viii) क्षेत्रीय परिषदों की व्यवस्था—क्षेत्रीय परिषदों और प्रादेशिक समितियों के माध्यम से केन्द्र राज्य सरकारों की शक्तियों और कार्यप्रणाली पर अच्छा नियन्त्रण रखता है। देश में राज्य और संघीय क्षेत्र (उन्हें छोड़कर जो कि पूर्वोत्तर प्रदेश में हैं) कई क्षेत्रों में बाँट दिए गए हैं और प्रत्येक क्षेत्र में एक उच्च स्तरीय सलाहकार संस्था होती है जिसे 'क्षेत्रीय परिषद' कहा जाता है। क्षेत्रीय परिषद में उस क्षेत्र के राज्यों और संघीय क्षेत्रों के समान हितों पर विचार-विमर्श का अवसर मिलता है। उत्तरी क्षेत्र में हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, जम्मू तथा कश्मीर, पंजाब, राजस्थान, चण्डीगढ़ और दिल्ली संघीय क्षेत्र शामिल हैं। मध्य क्षेत्र में उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल और मध्य प्रदेश राज्य शामिल हैं। पूर्वी क्षेत्र में बिहार, झारखण्ड,उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल राज्य शामिल हैं। गुजरात, महाराष्ट्र तथा गोआ राज्य, दमन और दीव एवं दादरा और नगर हवेली संघीय क्षेत्र पश्चिमी क्षेत्र में हैं। दक्षिणी क्षेत्र में आन्ध्र प्रदेश, केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु राज्य और पाण्डिचेरी संघीय क्षेत्र शामिल है। पूर्वोत्तर प्रदेश के लिए क्षेत्रीय परिषद की तरह एक संस्था है जो असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैण्ड, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश तथा मिजोरम जैसे राज्यों के समान हित के मामलों पर विचार करती है। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति एक केन्द्रीय मन्त्री की नियुक्ति करता है। संविधान के अनुच्छेद 371 को संशोधित करके आन्ध्र प्रदेश और पंजाब के विधान-मण्डलों में प्रादेशिक समितियों की व्यवस्था की गई है, जिनके गठन, कार्य आदि के सम्बन्ध में आदेश जारी करने का अधिकार राष्ट्रपति को है।

12. बाह्य संविधानिक तत्व—भारत में संघवाद और एकात्मकता के समन्वय को दर्शाने वाले तीन बाह्य संवैधानिक तत्व हैं—

(i) भारत की एक संघीय राज्य व्यवस्था का केन्द्रवाद की ओर झुकाव योजना आयोग से प्रकट है जो कि एक संविधानेतर संस्था है। अशोक चन्दा के अनुसार "योजना ने भारत में लोकतन्त्र और संघवाद दोनों को मात दे दी है।[1] योजना आयोग ने केन्द्र की शक्तियों में भारी वृद्धि की है।

(ii) राष्ट्रीय विकास-परिषद् की स्थापना योजना आयोग की भाँति एक प्रशासकीय आदेश द्वारा हुई है तथापि इसके फैसलों का प्रभाव भारत सरकार और राज्य सरकार दोनों पर पड़ता है। दोनों सरकारें इसके फैसलों को मानती हैं। यह आरोप लगाया जाता है कि इस परिषद् का उपयोग राज्यों के मुख्यमन्त्रियों पर दबाव डालने के लिए किया जाता है।

भारत का संविधान न तो विशुद्ध संघात्मक और न विशुद्ध एकात्मक, बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है।[2] यह अपने ढंग का अनोखा संघ है जो इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करता है कि संघवाद के बावजूद देश का हित सर्वोपरि है। यह अमेरिकी संघीय संविधान की अपेक्षा कनाडा के संविधान के समीप है। भारत में केन्द्र राज्य सम्बन्धों को इस प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है—(क) संविधान की व्यवस्थाएँ—(i) विधायी सम्बन्ध, (ii) प्रशासनिक सम्बन्ध, (iii) वित्तीय सम्बन्ध, (iv) न्यायिक सम्बन्ध, (ख) जम्मू-कश्मीर राज्य की विशेष व्यवस्था, (ग) आयोजन में केन्द्र राज्य सम्बन्ध, (घ) केन्द्र राज्य सम्बन्धों का मूल्यांकन, (ङ) क्या राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी है? (च) केन्द्र राज्य विवाद के मुख्य कारण और (छ) केन्द्र राज्य मतभेदों को दूर करने के लिए सुझाव।

(क) संविधान की व्यवस्थाएँ

(I) विधायी सम्बन्ध (Legislative Relations)

संविधान के अनुच्छेद 245 से 255 तक भारतीय संविधान में केन्द्र राज्य सम्बन्धों का उल्लेख करते हुए विधायी शक्तियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है—1. विधान-विस्तार की दृष्टि से 2. विधान-विषय की दृष्टि से।

विधान विस्तार की दृष्टि से—राज्य-क्षेत्र के सन्दर्भ में अनुच्छेद 245 यह उपबन्धित करता है कि इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए संसद भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा तथा किसी राज्य का विधान-मण्डल उस सम्पूर्ण राज्य के भाग के लिए विधि बना सकेगा। खण्ड (2) यह उपबन्धित करता है कि संसद द्वारा निर्मित कोई विधि इस कारण से अमान्य नहीं समझी जायेगी कि वह भारत के राज्य क्षेत्र से बाहर लागू होती है। ए. आई. इण्डिया बनाम इन्कम टैक्स कमिश्नर बम्बई[3] के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि प्रभुसत्ता सम्पन्न विधान मण्डल द्वारा निर्मित किसी विधि को देश के न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि वह भारत राज्य-क्षेत्र के बाहर लागू होती है। ऐसा विधान जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन कर सकता है विदेशी न्यायालय द्वारा मान्य नहीं किया जा सकता था। उन्हें लागू करने में व्यावहारिक कठिनाइयाँ हो सकती हैं लेकिन ये सब नीति के प्रश्न हैं जिन पर देश के न्यायालयों में विचार नहीं किया जा सकता है।[4] संसद की विधायी शक्ति एक परिपूर्ण (Plenary) शक्ति है। संविधान में उपबन्धित परिसीमाओं के अधीन विधान-मण्डल को भूतलक्षी और भविष्यलक्षी दोनों प्रकार की विधियों को बनाने की शक्ति प्राप्त होती है।[5] भारतीय संविधान में शक्तियों के वितरण की योजना और वितरण के सिद्धान्त 1935 के भारत सरकार अधिनियम के समान ही हैं। 1935 के अधिनियम में तीन सूचियों का समावेश किया गया था—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची।

(1) संघ सूची (Union List)—इस सूची में साधारणतः वे विषय रखे गए हैं, जिनका महत्व अखिल भारतीय है या जो राष्ट्रीय महत्व के हैं और जिन पर संघीय सरकार कानून बना सकती है। इस सूची में कुल 97 विषय हैं जिनमें प्रमुख हैं—भारत की सुरक्षा, देशीयकरण, सैन्य, अस्त्र-शस्त्र तथा गोला-बारूद, परमाणु शक्ति, वैदेशिक सम्बन्ध, राजनयिक सन्धियाँ, रेलें, देशी जल-मार्गों पर जहाजरानी तथा नौ परिवहन, वायुमार्ग, डाक एवं तार, टेलीफोन एवं बेतार, मुद्रा निर्माण, लोक ऋण, विदेशी ऋण, भारत का रिजर्व बैंक, विदेशी व्यापार, अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य नियमन तथा उसका विनियमन, आयात-निर्यात, तम्बाकू एवं अफीम आदि पर महसूल, बैंकिंग, बीमा, शेयर बाजार, तोल तथा अन्य मापों के प्रतिमानों को निर्धारित करना, उद्योग-नियन्त्रण, खानों, खनिज पदार्थों तथा तेल संसाधनों का विनियमन तथा विकास, राष्ट्रीय संग्रहालयों का आरक्षण, ऐतिहासिक स्मारक, भारत का सर्वेक्षण, संघीय लोक सेवाएँ, संसद एवं राष्ट्रपति के निर्वाचन, सर्वोच्च न्यायालय का गठन, जनगणना, शान्ति निकेतन, सीमा शुल्क तथा निर्यात शुल्क, निगम कर, उत्पादन शुल्क, सम्पदा

1. भारतीय सरकार एवं राजनीति खण्ड 1 पृ. 130
2. *Jennings*: Some Characteristics of Indian Constitution p. 65
3. ए. आई. आर. 1925 फैडरल कोर्ट, 1825
4. *जयनारायण पाण्डेय* : भारत का संविधान 1985 पृ. 394
5. वही पृ. 394 इन्दिरा गाँधी बनाम राजनारायण ए. आई. आर. 1975 सुप्रीम कोर्ट, 2229 आन्ध्र प्रदेश सरकार बनाम हिन्दुस्तान मशीन टूल्स ए. आई. आर. 1957 सुप्रीम कोर्ट, 2037

शुल्क, समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय पर कर, अलीगढ़, बनारस एवं उस्मानिया विश्वविद्यालय आदि । राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद को दिया गया है।

(2) राज्य सूची (State List)—राज्य सूची में 66 विषय हैं। स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप इन विषयों को राज्य सूची में रखा गया है। राज्यों की विधायी शक्ति के क्षेत्र में प्रमुख विषय हैं—सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, न्याय प्रशासन, जेल तथा सुधारालय, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, मादक पेय, शिक्षा, पुस्तकालय, अजायबघर, *कृषि, सिंचाई, पशु-पालन, मछली व्यवसाय, अस्पताल एवं औषधालय, जंगली पशुओं की रक्षा, ग्राम सुधार,* सार्वजनिक निर्माण कार्य, गैस एवं गैस-निर्माण, मण्डियाँ और मेले, साहूकार, राज्यगत व्यापार एवं वाणिज्य, कृषि आय कर, भूमि कर, मनोरंजन कर, विलासिता की वस्तुओं पर कर, स्थानीय क्षेत्र के माल पर प्रवेश कर, समाचार-पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं पर बिक्री कर, विज्ञापन पर कर, व्यापार-कर, वस्तुओं की उत्पत्ति और उनका वितरण, नाटकघर आदि।

(3) समवर्ती सूची (Concurrent List)—इस सूची में स्थानीय और राष्ट्रीय दोनों महत्व के 47 विषय सम्मिलित हैं। इस सूची में प्रमुख मदें हैं—फौजदारी कानून एवं प्रणाली, व्यवहार प्रणाली निवारक निरोध, *विवाह और* विवाह-विच्छेद, दिवालियापन तथा ऋण शोधन क्षमता, पागलपन, ठेके और साझेदारी, मजदूर संघ, आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन, सामाजिक सुरक्षा और बीमा, शरणार्थियों की सहायता, पुनर्वास, खाद्य पदार्थों में मिलावट, रोजगार और बेरोजगारी, विधि, औषधियाँ, जन्म-मरण के आँकड़े, श्रम-कल्याण, मूल्य-नियन्त्रण, कारखाने, बिजली, समाचार पत्र, पुस्तकें तथा मुद्रणालय आदि। संविधान के तृतीय संशोधन (1954) द्वारा समवर्ती सूची के तैंतीसवें विषय 'व्यापार-वाणिज्य' का अर्थ निश्चित और व्यापक करते हुए उसमें स्पष्ट रूप से आवश्यक वस्तुओं के व्यापार-वाणिज्य का समावेश कर दिया गया है। समवर्ती सूची में वे विषय हैं जिन पर समस्त देश के सामान्य कानून को होना वांछनीय है, किन्तु अनिवार्य नहीं, इसलिए इन विषयों को केन्द्र और राज्य दोनों के क्षेत्राधिकार में रखा गया है। संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा *सातवीं अनुसूची को संशोधित किया गया है। तदनुसार 'संघ सूची में संघ और सशस्त्र बल पर संघ का नियन्त्रण' विषय* जोड़ा गया है और राज्य से 'शिक्षा' को निकालकर समवर्ती सूची में समाविष्ट कर दिया गया है ताकि शिक्षा के मामले में राष्ट्रीय नीति निर्धारित की जा सके।

(4) अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers)—जिन विषयों का उल्लेख तीनों सूचियों में नहीं है वे अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को संविधान के अनुच्छेद 248 के अन्तर्गत प्रदान की गई हैं। अमेरिका में अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को प्राप्त हैं। भारत में इस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्र ऐसे कर लगा सकता है *जिनका राज्य और समवर्ती सूचियों* में उल्लेख नहीं है। संघ सूची के विषयों पर निर्मित विधि के उपयुक्त प्रशासन की दृष्टि से संसद नये न्यायालय स्थापित कर सकती है। संसद को अधिकार है कि वह किसी देश अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से की गई सन्धि, करार अथवा उपसन्धि की क्रियान्विति के लिए आवश्यक विधि-निर्माण कार्य कर सकती है।

विधायी शक्तियों का समीक्षात्मक अध्ययन : संघीय सर्वोच्चता—शक्ति-विभाजन की उपर्युक्त व्यवस्था से स्पष्ट है कि भारत में कनाडा के संविधान में समाविष्ट सबल केन्द्र की प्रणाली का अनुसरण किया गया है। यह निम्नलिखित तथ्यों से सिद्ध है—

1. साधारणतया जो विषय राष्ट्रीय महत्व के हैं वे केन्द्र को तथा स्थानीय महत्व के विषय राज्यों को सौंपे गए हैं। *समवर्ती सूची के विषय केन्द्र और राज्य दोनों के क्षेत्राधिकार में रखे गये हैं, किन्तु दोनों सरकारों द्वारा निर्मित विधियों* में असंगति (Conflict) की स्थिति में केन्द्रीय विधि मान्य होती है। नियम का एक अपवाद है और वह यह है कि यदि समवर्ती सूची के विषय पर किसी राज्य का कानून संसद के किसी पहले कानून के प्रतिकूल हो तो वह प्रभावी होता है, बशर्ते कि वह राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखा गया हो और उस पर राष्ट्रपति की अनुमति मिली हो, परन्तु इस विषय में संसद चाहे तो राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित कानून में संशोधन कर सकती है और चाहे तो उसका परिवर्द्धन, परिवर्तन या निरसन कर सकती है। [अनुच्छेद 245(2)]

2. संसद भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कानून बना सकती है। संसद द्वारा बनाया गया कोई कानून इस कारण अमान्य नहीं हो सकता है कि वह भारत राज्य-क्षेत्र से बाहर लागू होता है। कोई राज्य *अपने-आप क्षेत्रातीत (उस राज्य-क्षेत्र से बाहर) विधि नहीं बना सकता। राज्य की विधायिनी शक्ति का विस्तार राज्य-क्षेत्र* तक सीमित है।

3. कुछ अपवादों को छोड़कर संसद निर्मित विधियों और राज्य विधान-मण्डलों द्वारा निर्मित विधियों में असंगति की स्थिति में संसद निर्मित विधि प्रभावी होती है।

4. कुछ विशेष परिस्थितियों में संविधान के अन्तर्गत संसद को राज्यों के अनन्य क्षेत्र में कानून बनाने का अधिकार *दिया गया है। उदाहरणार्थ, यदि राज्यसभा अनुच्छेद 249 के अन्तर्गत विशेष बहुमत से संकल्प पास करके यह घोषणा* कर दे कि राष्ट्रीय हित में राज्य सूची के किसी विशिष्ट विषय पर संसद द्वारा कानून बनाना आवश्यक या समीचीन है

तो संसद उस विषय पर कानून बना सकती है। आपात उद्घोषणा के दौरान संसद की विधायी शक्ति ऐसी है कि वह राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बना सकती है।

5 शक्ति-सूचियों की व्याख्या में छद्म विधायन के सिद्धान्त (Doctrine of Colourable Legislation) का महत्व है। यदि संविधान केन्द्र और राज्यों में विधायन शक्ति का विभाजन करता है और मूल अधिकार के रूप में उन पर आवश्यक सीमाएं निर्धारित करता है जैसे हमारे संविधान के अन्तर्गत है तो ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं कि क्या विधायिका ने इस शक्ति के प्रयोग में संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण किया है या अपनी शक्ति से बाहर कार्य किया है? इस प्रकार का अतिक्रमण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकता है। यद्यपि विधायिका किसी कानून में अपनी शक्तियों के भीतर कार्य करती है तथापि यथार्थ में वह संविधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करती है। ऐसे परोक्ष विधायन को छद्म विधायन कहते हैं। ऐसे मामलों में अधिनियम का सार (Substance) महत्वपूर्ण होता है उसका वाह्य रूप या आकृति (Form) नहीं। यदि किसी विधान की विषय-वस्तु सारतः उस विधान-मण्डल की शक्ति के बाहर है तो उसका वाह्य रूप उसे न्यायालय द्वारा अमान्य घोषित करने से नहीं बचा सकेगा। विधानमण्डल अप्रत्यक्ष या परोक्ष तरीका अपनाकर संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। कामेश्वरसिंह बनाम बिहार के वाद में इस विषय पर उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय है जिसमें छद्म विधायन के सिद्धान्त पर किसी अधिनियम को अवैध घोषित किया गया है। इसमें बिहार लैण्ड्स एक्ट, 1950 की वैधता को चुनौती नहीं दी गई थी।

6 संघ सूची में कुछ प्रविष्टियां ऐसी हैं जिनमें संसद को अधिकार है कि वह कानून द्वारा आवश्यक घोषणा करने के बाद राज्यों के क्षेत्र के कार्य या विषय अपने हाथ में ले ले। केन्द्रीय सरकार की नियन्त्रण शक्ति को बढ़ाकर संघीय सर्वोच्चता स्थापित की गई है। संघ सूची में ऐसे विषयों का उल्लेख है जिनके द्वारा केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों पर नियन्त्रण रख सकती है। इनमें उल्लेखनीय है—राज्य विधानसभाओं के चुनाव संसद के नियन्त्रण में हैं और राज्यों के खातों की जाँच केन्द्र का विषय है।

7 संसद किसी देश के साथ की गई सन्धि, करार या अभिसमय, किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या संस्था में किए गए निर्णय को लागू करने के लिए कानून बना सकती है चाहे उसका विषय राज्य सूची के अन्तर्गत आता हो। जब अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति किसी राज्य विशेष के शासन को अपने हाथ में ले लेता है तो राज्य विधान मण्डल के अधिकार संसद को प्राप्त हो जाते हैं।

8 सर्वोच्च न्यायालय के अनेक निर्णयों से संघ की सर्वोच्चता सिद्ध होती है। पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम भारतीय संघ के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने पश्चिमी बंगाल की सरकार के राज्यों की सम्पत्ति के अधिग्रहण के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गए दावे को अमान्य करते हुए संसद की शक्ति को वैध ठहराया है।

9 संविधान के कुछ संशोधनों ने संसद की विधायी शक्तियों को बढ़ाया है। उदाहरणार्थ 24वें संशोधन ने गोलकनाथ मामले को दूर नहीं किया वरन् संसद की संशोधन शक्ति को और विस्तृत करने के लिये ये शब्द जोड़ दिये कि संशोधन की शक्ति में किसी उपबन्ध के जोड़ने परिवर्तित करने और निरसित करने की शक्ति सम्मिलित है।

(ii) प्रशासनिक सम्बन्ध (Administrative Relations)

संविधान के भाग 11 के दूसरे अध्याय में अनुच्छेद 256 से 263 तक केन्द्र राज्य प्रशासनिक सम्बन्धों की चर्चा की गई है। केन्द्र को राज्यों की तुलना में कर्तव्य और दायित्व सौंपे गये हैं। संविधान की धारा 73 के अनुसार केन्द्र की कार्यपालिका अथवा प्रशासनिक शक्तियों का विस्तार उन विषयों तक सीमित है जिन पर संसद को विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 162 के अनुसार राज्यों की प्रशासनिक शक्तियों का विस्तार उन विषयों तक सीमित है जिन पर राज्य विधानमण्डल को कानून बनाने का अधिकार है। यह स्पष्ट कर दिया है कि जिन विषयों पर राज्य विधान मण्डल और संसद को विधि-निर्माण की शक्ति है उनमें राज्य की कार्यपालिका शक्तियाँ संघ की उन कार्यपालिका शक्तियों से परिसीमित रहेंगी जो संविधान द्वारा अथवा किसी संसदीय विधि द्वारा प्रदत्त हैं। यह अनुच्छेद जम्मू कश्मीर राज्य के लिए लागू नहीं है।[1]

भारत में प्रशासन के लिए केन्द्र और राज्य-स्तरों पर अलग-अलग सम्प्रभु अभिकरणों की स्थापना नहीं की गई है। एक ओर राज्यों का यह उत्तरदायित्व है कि वे संघीय कानूनों को लागू करें और दूसरी ओर संघीय सरकार को अधिकार है कि राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सके। इस व्यवस्था का उद्देश्य देश के बहुमुखी विकास में संघ और राज्यों के बीच तालमेल बढ़ाकर तथा दोनों सरकारों को एक होकर कार्य करने की प्रेरणा देना है। केन्द्र राज्य प्रशासन सम्बन्धों को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

---

1 अनुच्छेद 162 पर [illegible] पाद टिप्पणी।

(1) संघ द्वारा राज्यों को निर्देश—संघ सरकार द्वारा राज्यों को निर्देश देने की व्यवस्था संघीय सिद्धान्त के विरुद्ध है और भारतीय संविधान को छोड़कर अन्य संघीय संविधान में नहीं पाई जाती है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने 1935 के अधिनियम के अनुच्छेद 126 से इस विचार को ग्रहण किया है। आपातकाल की उद्घोषणा के दौरान केन्द्र राज्य सरकारों को आदेश दे सकता है, शान्तिकाल में यह अपेक्षित है कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो कि वह संसद निर्मित विधियों के अनुकूल हो। ऐसा करने के लिए केन्द्र राज्यों को वांछित निर्देश दे सकता है।

(क) अनुच्छेद 256 में यह व्यवस्था है कि "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा जिससे संसद द्वारा विधियाँ तथा राज्य विधियों का पालन सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे।" केन्द्रीय सरकार को शक्ति प्रदान की गई है ताकि केन्द्रीय विधान के प्रशासन में कोई बाधा उत्पन्न न हो।

(ख) अनुच्छेद 257(1) में केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देश देने के अधिकार का उल्लेख किया गया है—"प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा जिससे संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में अड़चन या प्रतिकूल प्रभाव न हो तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे।" इस व्यवस्था का उद्देश्य यह है कि राज्य की कार्यपालिका सत्ता का संघ की कार्यपालिका सत्ता से संघर्ष न होने पाये।

(ग) अनुच्छेद 257 (2), (3), (4) द्वारा कुछ अवस्थाएँ गिनाई गई हैं जिनमें राज्यों पर संघ का नियन्त्रण प्राप्त होता है। सामरिक महत्व की सड़कों तथा संचार साधनों की देखभाल, मरम्मत, निर्माण आदि के लिए केन्द्र राज्य सरकार को निर्देश दे सकता है। संसद राज्य-पथों या जल-पथों को, बड़ी सड़कों या नहरों को, नौकागम्य नदियों को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है। संघीय कार्यपालिका को यह अधिकार है कि वह किसी राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत रेल-पथ की रक्षा के लिए उस राज्य को आवश्यक निर्देश दे। इनकी सुरक्षा, मरम्मत या निर्माण पर जो अतिरिक्त व्यय होगा वह संघ सरकार द्वारा व्यय किये जाने का प्रावधान है।

अनुच्छेद 256 और 257 का संयुक्त रूप में लागू करने पर भारत सरकार की शक्तियाँ व्यापक हो जाती हैं और राज्यों के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश बढ़ जाता है। ये अनुच्छेद राज्यों की कार्यपालिका सत्ताओं पर विधेयात्मक (Positive) और निषेधात्मक (Negative) प्रतिबन्ध लगाते हैं। ये भारत सरकार को विस्तृत अधिकार प्रदान करते हैं कि वे राज्यों में किसी प्रकार के प्रशासनिक कृत्य निर्बाध रूप से कर सकें। राज्यों द्वारा केन्द्र के निर्देशों की अवहेलना न की जा सके, इसके लिए संविधान में उपबन्ध हैं। अनुच्छेद 356 के अनुसार यदि राज्य इन निर्देशों का पालन करने में विफल हो जाता है तो राष्ट्रपति यह घोषणा कर सकता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य सरकार संविधान के अनुसार संचालित नहीं की जा सकती है वह राज्य की समस्त शक्ति को अपने हाथ में ले सकता है।

अनुच्छेद 339(2) में उल्लेख किया गया है कि "संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को उस प्रकार के निर्देश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए योजनाओं को बनाने और कार्यान्वित करने से सम्बन्ध रखते हों।"

(2) संघीय कृत्यों को राज्यों को सौंपना—केन्द्र राज्यों को दो प्रकार कार्य सौंप सकता है—प्रथम, राज्य सरकार की सलाह से और द्वितीय संसद के माध्यम से। अनुच्छेद 258(1) के अनुसार, "संसद किसी राज्य सरकार की सहमति से संघीय कार्यपालिका शक्ति से सम्बन्धित किसी विषय को उस सरकार को अथवा उसके पदाधिकारियों को सौंप सकती है।" अनुच्छेद 258(2) के अनुसार संसद को संघीय विधानों के संचालन के लिए राज्य के प्रशासन-तंत्र का प्रयोग करने का शक्ति प्राप्त है और उस प्रयोजन के लिए राज्य अथवा उसके पदाधिकारियों को ऐसी शक्ति सौंप सकता है जिससे संघीय कानूनों को उस राज्य में समुचित रूप से लागू किया जा सके। इस अनुच्छेद के खण्ड 1 और खण्ड 2 में मुख्य अन्तर है कि जहाँ खण्ड 1 के अन्तर्गत राज्यों को शक्तियाँ राज्य सरकारों की सहमति से सौंपी जाती हैं वहाँ खण्ड 2 के अन्तर्गत राज्यों की सहमति आवश्यक नहीं है।

राज्य सरकारें अपने कृत्यों को संघ सरकार को सौंप सकती हैं, अनुच्छेद 258 (क) यह उपबन्धित करता है कि किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सम्मति से ऐसे किसी विषय सम्बन्धी कृत्य, जिस पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है सशर्त या बिना शर्त के उसे सौंप सकता है। यह स्पष्ट है कि जहाँ किसी सरकार के लिए अपने प्रशासनिक कार्यों के साथ संचालन में असुविधा होता हो तो वह दूसरी सरकार द्वारा उसे सम्पादित करवा सकता है, किन्तु राज्य केन्द्र को अपने कार्य केन्द्र की सहमति से दे सकते हैं जबकि केन्द्र अपने कार्यों को राज्यों को उनकी सहमति के बिना सौंप सकता है। संविधान ने प्रशासकीय सम्बन्धों में केन्द्र की प्रमुखता स्वीकार की है।[1]

क्षेत्रीय स्तर पर सम्मेलन बुलाए जाने की परम्परा महत्त्वपूर्ण है। ये सम्मेलन राजनीतिक, प्रशासकीय और व्यावसायिक स्तरों पर आमन्त्रित किए जाते है। मुख्यमंत्री और राज्यपाल सम्मेलन उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक केन्द्र राज्य सम्बन्धों के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। निम्न सूची में इन सम्मेलनों को प्रस्तुत किया गया है—

1 सैन्ट्रल कौंसिल ऑफ लोकल सैल्फ गवर्नमेन्ट (स्थानीय स्वशासन की केन्द्रीय परिषद) 2 दि सेन्ट्रल कौंसिल ऑफ हैल्थ (केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद), 3 दि फूड मिनिस्टर्स कॉन्फ्रेन्स (खाद्य मन्त्री सम्मेलन), 4 दि कान्फ्रेंस ऑफ स्टेट होम मिनिस्टर्स (राज्यीय गृहमन्त्री सम्मेलन), 5 दि कॉन्फ्रेंस ऑफ स्टेट फाइनेन्स मिनिस्टर्स (राज्यीय वित्तमन्त्री सम्मेलन), 6 दि कान्फ्रेंस ऑफ स्टेट एजूकेशन मिनिस्टर्स (राज्यीय शिक्षामंत्री सम्मेलन) 7 दि कॉन्फ्रेंस आफ मिनिस्टर्स आफ एग्रीकल्चर (कृषि मन्त्री सम्मेलन), 8 दि कॉन्फ्रेंस ऑफ स्टेट मिनिस्टर्स ऑफ को आपरेशन (राज्यीय सहकारिता मन्त्री सम्मेलन), 9 दि स्टेट लेबर मिनिस्टर्स कॉन्फ्रेंस (राज्यीय श्रममन्त्री सम्मेलन) 10 दि कान्फ्रेंस आफ स्टेट मिनिस्टर्स आफ कम्युनिटी डेवलपमेंट (राज्यीय समुदाय विकास मन्त्री सम्मेलन) 11 दि कॉन्फ्रेंस ऑफ मिनिस्टर्स ऑफ सोशियल वेलफेयर एण्ड वेलफेयर ऑफ बैकवर्ड क्लासेज (समाज कल्याण एव पिछड़े वर्ग सम्बन्धी मन्त्री सम्मेलन) 12 दि स्टेट हाउसिंग मिनिस्टर्स कॉन्फ्रेंस (राज्यीय गृह निर्माण मन्त्री सम्मेलन) 13 दी कॉन्फ्रेंस आफ स्टेट मिनिस्टर्स आफ इरिगेशन एण्ड पावर (राज्यीय सिंचाई तथा बिजली मन्त्री सम्मेलन) 14 दी कॉन्फ्रेंस ऑफ स्टेट इन्फॉरमेशन मिनिस्टर्स (राज्यीय सूचना मन्त्री सम्मेलन), 15 दी कॉन्फ्रेंस ऑफ स्टेट मिनिस्टर्स फॉर टाउन एण्ड कन्ट्री प्लानिंग (राज्यीय प्रादेशिक एवं देशीय योजना मन्त्री सम्मेलन), 16 दी कॉन्फ्रेंस ऑफ स्टेट मिनिस्टर्स ऑफ कल्चरल अफेयर्स (राज्यीय सॉस्कृतिक मन्त्री सम्मेलन) आदि।

(6) योजना आयोग तथा सघ राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध—भारतीय सघ में योजना आयोग के कारण केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है। हानियों की तुलना में इस व्यवस्था से लाभ कही अधिक हुआ है और राष्ट्रीय विकास के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम योजनाबद्ध रूप से लागू किए जा सके हैं। यह स्पष्ट है कि प्रशासनिक दृष्टि से राज्यों की तुलना मे केन्द्र की स्थिति प्रभावी और शक्तिशाली है। केन्द्र आपातकाल तथा शांतिकाल में राज्यों पर वर्चस्व स्थापित कर सकता है। इस स्थिति के कारण केन्द्र और राज्य सरकारों में अविश्वास और शका की मनःस्थिति के वातावरण का विकास होता है। अगर केन्द्र और राज्यों में भिन्न-भिन्न दलों की सरकारें सत्तारूढ़ हों तब यह स्थिति और विकट बन जाती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से वर्तमान तक के इतिहास को देखने से पता चलता है कि कुछ मतभेदों के बावजूद भारतीय सघ की दोनों सरकारों ने पारस्परिक सहयोग और समन्वय की भावना से कार्य करके राष्ट्रीय एकता को बनाए रखा है तथा सघात्मक व्यवस्था को सुदृढ़ किया है। इससे भारत की लोकतान्त्रिक व्यवस्था को स्थिरता और परिपक्वता प्राप्त हुई है। केन्द्र राज्य सम्बन्धों से साझदारी की भावना विकसित हुई है।

(iii) वित्तीय सम्बन्ध (Financial Relations)

भारतीय सविधान के अनुच्छेद 264 से 291 केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों का वर्णन करता है। केन्द्र और राज्य में राजस्व वितरण की व्यवस्था भारतीय शासन अधिनियम 1935 का अनुसरण मात्र है। संविधान निर्माताओं द्वारा वित्त आयोग की स्थापना का उपबन्ध संविधान में रखा गया है जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल वित्तीय स्थिति पर पुनर्विचार कर सशोधन एव परिवर्तन के सुझाव देता है। यह "व्यवस्था भारत का अपना मौलिक योगदान है जिसने केन्द्र और राज्यों के जटिल वित्तीय सम्बन्धों का सरलीकरण कर दिया है।"[1] सघ एव राज्यों के मध्य राजस्व साधनों के विभाजन के वित्तीय आधार तीन सिद्धान्तों पर अपनाए गए हैं—कार्यक्षमता पर्याप्तता और उपयुक्तता। इन उद्देश्यों की एक साथ प्राप्ति कठिन कार्य है अत हमारे सविधान में समझौतावादी प्रवृत्ति अपनाई गई है। तदनुसार वित्त विषय को दो भागों में विभक्त किया गया—प्रथम, सघ एव राज्यों के मध्य राजस्व का विभाजन द्वितीय सहायक अनुदानों का वितरण। सघ एव राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों का विवेचन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) विधि के प्राधिकार के बिना करारोपण का निषेध—अनुच्छेद 265 में स्पष्ट लिखा गया है—"विधि के प्राधिकार के अतिरिक्त कोई कर न तो आरोपित और न एकत्र किया जाएगा।" इसका अर्थ है कि कोई कर वैध विधि द्वारा आरोपित और एकत्र किया जा सकता है किसी कार्यपालिका आदेश द्वारा नही। यदि सविधान के उपबन्ध द्वारा करारोपण का निषेध है वह कर विधि अवैध होगी। उदाहरणार्थ वह कर विधि नही मानी जाएगी जो सविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समता के मूल अधिकार का उल्लघन करती हो। यह ध्यान रखना है कि अनुच्छेद 265 में निहित व्यवस्था करों के सम्बन्ध में लागू होती है शुल्क के सम्बन्ध में नही।

(2) संघ और राज्यों में राजस्व वितरण—अनुच्छेद 268 सघ और राज्यों में राजस्व वितरण की व्यवस्था करता है। राज्य सूची के विषयों पर राज्यों को और संघ सूची के विषयों पर केन्द्रीय सरकार को कर लगाने का अधिकार है। समवर्ती सूची में कुछ करों का उल्लेख है। सघ सरकार के राजस्व स्रोत निम्नलिखित हैं—कृषि आय को छोड़कर अन्य

---

1 *M V Paylee* Constitutional Government in India p 344

2 अनुच्छेद 273 में पटसन अथवा पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर निर्यात शुल्क से आने वाली कुल राशि के किसी भाग को असम उड़ीसा पश्चिमी बंगाल और बिहार राज्यों को सहायक अनुदान के रूप में दिए जाने की व्यवस्था है। *केन्द्रीय अनुदान की राशि राष्ट्रपति वित्त आयोग के परामर्श से नियत करता है।*

3 यदि राज्य केन्द्र की स्वीकृति से अनुसूचित जाति एव आदिम जातियों के कल्याण के लिए कोई योजना प्रारम्भ करे, उसकी पूर्ति के लिए केन्द्र वित्तीय अनुदान प्रदान करता है। अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए केन्द्र द्वारा राज्यों को सहायक अनुदान दिये जाने का प्रावधान है।

4 केन्द्र ऐसे विषय में अनुदान दे सकता है जिस पर विधि-निर्माण का अधिकार ससद के पास नही है। ऐसे *विवेकाधीन अनुदानों का अनुपात दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और राज्यों के बजटीय घाटों की पूर्ति के लिए केन्द्र से* अनुदान दिये जा रहे हैं। वित्तीय अनुदान महत्वपूर्ण शक्ति है जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में नियन्त्रण करने में सहायता मिलती है। इसके द्वारा केन्द्र राष्ट्रीय विकास की योजनाओं में राज्यों से सहयोग प्राप्त करने में समर्थ होता है।

(4) केन्द्र एव राज्य सरकारों के उधार लेने की शक्ति—सविधान के अनुच्छेद 292 के अनुसार केन्द्रीय सरकार ससद द्वारा *निर्धारित सीमाओं में भारत की सचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकती है और इन सीमाओं तक* ऋण की गारण्टी दे सकती है। अनुच्छेद 292 के अनुसार कोई राज्य भारत की सीमाओं के अन्दर राज्य विधानमण्डल द्वारा नियत सीमाओं के भीतर रहते हुए राज्य की सचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकता है और इन्ही सीमाओं के भीतर किसी ऋण की गारण्टी दे सकता है लेकिन राज्यों की धन उधार लेने की शक्ति पर यह प्रतिबन्ध है कि (i) कोई राज्य भारत से बाहर के कर्ज नही ले सकता, (ii) किसी ऐसे राज्य को केन्द्रीय सरकार तब तक उधार देने से इनकार कर सकती है *जब तक राज्य ने पिछला उधार लौटा नही दिया है (iii) यदि पिछला कर्ज शेष रहते हुए राज्य* धन उधार लेने का आग्रह करे तो केन्द्र सरकार को अधिकार है कि वह उन शर्तों के साथ धन उधार दे जिन्हें लगाना वह उचित समझे। भारत में राज्य सरकारें सघ सरकार के ऋण भार से दबी हैं अत उन्हें सघ सरकार की शर्तों को मानना पड़ता है लेकिन यह सत्य है कि सघ सरकार अवाछनीय शर्तें लादने से हमेशा बचती रही है।

(5) वित्त आयोग—सविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। *सविधान लागू होने के दो वर्ष बाद और तत्पश्चात् प्रति पाँचवें वर्ष अथवा जरूरत पड़ने पर इससे पूर्व वित्त आयोग* की नियुक्ति की व्यवस्था है। आयोग में एक सभापति और चार अन्य सदस्य होते हैं जिन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करता है। नियत समयोपरान्त पदाधिकारियों की नियुक्ति होने से आयोग के कार्य में अविच्छिन्नता आ जाती है। प्रत्येक आयोग पूर्ववर्ती आयोग के कार्य से लाभ उठाता है।[1] अनुच्छेद 280 के अनुसार वित्त आयोग निम्नलिखित विषयों पर अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता है—

(क) सघ और राज्यों के उन करों की शुद्ध प्राप्तियों के वितरण के सम्बन्ध में जो सघ एव राज्यों में विभाजित होते हैं। (ख) भारत की सचित निधि में से राज्यों के राजस्व के लिए सहायक अनुदान देने में किन सिद्धान्तों पर चला जाए। (ग) अन्य विषय राष्ट्रपति, सुव्यवस्थित वित्त-व्यवस्था के हितों में आयोग को सौंपे उनके सम्बन्ध में। वित्त आयोग यद्यपि वित्तीय प्रावधानों में परिवर्तन की सिफारिश नहीं कर सकता, तथापि केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धों के क्षेत्र में आयोग का प्रभाव अधिक है क्योंकि सविधान यह बताता है कि उनको किस प्रकार वितरित किया जाएगा और वितरण सिफारिश वित्त आयोग द्वारा ही की जाती है। साधारणतया वित्त आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली जाती हैं। केन्द्र राज्य सरकारों के बीच जटिल वित्तीय समस्याओं को सुलझाने वाले एक सॉवैधानिक उपकरण के रूप में वित्त आयोग की *भूमिका प्रमुख रही है। वित्त वितरण-व्यवस्था वित्त आयोगों की सिफारिशों पर आधारित है। आयोग के कार्य का मुख्य* महत्व इसमें है कि वह सघात्मक शासन पद्धति की वित्त-व्यवस्था को स्थिर बनाने में निष्पक्ष तथा तटस्थ दृष्टिकोण अपनाता है। वित्त-वितरण के प्रश्न को सघ तथा राज्यों के मध्य अन्य राजनीतिक विवादों से दूर रखने का श्रेय इसी को प्राप्त है। वित्त आयोग राज्यों तथा सघ के मध्य एक प्रत्यावरोध का कार्य करता है जो एक ओर निरन्तर अधिक वित्त की माँग करने वाले राज्यों में राजनीतिक दबाव से सघ की रक्षा करता है दूसरी ओर आवश्यकताग्रस्त राज्यों को यथासम्भव सहायता प्रदान करने के लिए सघ को विवश करता है।

(6) अन्य वित्तीय व्यवस्थाएँ—सविधान के अन्तर्गत ऐसे विशिष्ट उपबन्ध हैं जिनके अनुसार सघ और राज्य एक-दूसरे की सम्पत्ति तथा आय पर कर नही लगा सकते हैं। राष्ट्रपति की वित्तीय आपातकालीन शक्तियाँ केन्द्र की निर्णायक शक्ति की परिचायक है। भारत में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (The Comptroller and Auditor General

1 *एम वी पायली* भारतीय सविधान, पृ 274

of India) द्वारा केन्द्रीय सरकार अपना नियन्त्रण रखने में समर्थ है। यह अधिकारी भारत सरकार और राज्य सरकारों के लेखा रखने के ढंग और हिसाब-किताब की जाँच करता है। इन अधिकारों के माध्यम से संसद राज्यों की आय पर नियन्त्रण रखती है।

(b) न्यायिक सम्बन्ध (*Judicial Relations*)

भारतीय संविधान ने अनेक संघीय शासन-प्रणालियों की न्यायिक व्यवस्था के विपरीत, देश में एक न्यायिक व्यवस्था (A Single Judicial System) की स्थापना की है। एकल न्यायिक व्यवस्था ने भारत में न्यायिक क्षेत्राधिकार सम्बन्धी एकता स्थापित कर समूचे देश के लिए एकल न्यायिक संवर्ग (Cadre) की स्थापना कर दी है। राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। राज्यों के आपसी विवादों का निपटारा उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाता है। उच्चतम न्यायालय को अधिकार है कि वह राज्य के उच्च न्यायालयों को निर्देश दे। उच्चतम न्यायालय के निर्णय नजीरों के रूप में राजकीय न्यायालयों द्वारा प्रयोग में लाए जाते हैं। उच्चतम न्यायालय के निर्णयों को लागू करना राजकीय अधिकारियों का सांवैधानिक कर्तव्य है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी किया गया लेख समूचे देश में और विधि के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है।

(ख) जम्मू-कश्मीर राज्य की विशेष व्यवस्था

यद्यपि जम्मू-कश्मीर राज्य साधारणतया भारतीय संघ के अन्य राज्यों की तरह है पर उसके विषय में हमारे संविधान के अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत विशेष व्यवस्था की गई है, जिसके प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं—

1. जम्मू-कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में विधि-निर्माण के विषय में संसद की शक्ति सीमित है। इस राज्य के सम्बन्ध में संघीय संसद उसी प्रकार विधि-निर्माण नहीं कर सकती जिस प्रकार वह भारतीय संघ के अन्य राज्यों—राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल आदि के विषय में कर सकती है। जम्मू-कश्मीर के सम्बन्ध में संसद संघीय सूची और समवर्ती सूची में उन विषयों पर कानून बना सकती है जिन्हें उस राज्य से शासन के परामर्श से राष्ट्रपति उन विषयों के अनुसार घोषित कर दे, जिनका उल्लेख राज्य द्वारा भारतीय उपनिवेश में प्रविष्ट होने के समय प्रवेश पत्र में भारतीय उपनिवेश के संसद की विधि-निर्मात्री शक्ति के अधीन विषयों के रूप में किया गया था। इसके अतिरिक्त संसद उन विषयों पर विधि-निर्माण कर सकती है जिनके विषय में राज्य के शासन की स्वीकृति से राष्ट्रपति अपने आदेश में ऐसा निश्चय कर दे।[1]

2. संविधान के अन्य उपबन्धों की व्यवस्था अपवादों संशोधनों सहित राज्य के शासन की स्वीकृति से राष्ट्रपति द्वारा जारी किए हुए आदेश के अनुसार लागू होती है।

(ग) आयोजना से केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

भारतीय संघवाद पर नियोजन के प्रभाव के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाए जाते हैं। अशोक चन्दा के अनुसार योजना आयोग ने संघवाद का स्थान ले लिया है। मोरिस जोन्स का मत है कि योजना आयोग ने संघवाद का स्थान न लेकर केन्द्रीकरण को बढ़ावा है। नियोजन ने व्यवहार में केन्द्र राज्य सम्बन्धों को प्रभावित किया है।[2] के. सन्थानम् का विचार है कि आयोजन ने संघवाद को स्थानच्युत न करके केन्द्रीकरण को बढ़ा दिया है और नीति तथा वित्त-विषयक मामलों में राज्यों की स्वायत्तता को छाया का रूप प्रदान किया है।[3] कुछ आलोचक कहते हैं कि योजना आयोग समानान्तर सरकार (Parallel Government) है सुपर केबिनेट (*Super Cabinet*) है गाड़ी का पाँचवाँ पहिया (*The Fifth* Wheel of the Coach) है आदि।

भारत में नियोजन इस प्रकार का है जिससे राष्ट्रीय योजना और राज्यीय योजनाएँ कार्यान्वित होती हैं। राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है और प्रान्तीय एवं स्थानीय हितों की भी। मुख्य उद्देश्य यही रहता है कि दोनों एक-दूसरे के विरोधी होने के स्थान पर एक-दूसरे के पूरक बनें। यदि इस उद्देश्य की पूर्ति में केन्द्रीकरण को बढ़ावा मिलता है और केन्द्र तथा राज्य सम्बन्ध एकात्मकता के लक्षणों से प्रभावित होते हैं तो इसमें अशुभ या अनुचित जैसा कोई तत्व नहीं है। सामान्य हितों की पूर्ति के लिए उठाए जाने वाले कदमों को खेदजनक नहीं कहा जा सकता है। योजना आयोग परामर्शात्मक निकाय है जो केन्द्र और राज्यों के विभिन्न स्तरों पर व्यापक विचार विमर्श के बाद निर्णय पर पहुँचता है।

नियोजन की विषय-वस्तु की प्रकृति, योजना-निर्माण का स्वरूप, वित्तीय पहलू, राष्ट्रीय नीति, विदेशी सहायता योजना का कार्यान्वयन, योजना आयोग की सदस्यता आदि ऐसे पक्ष हैं जिनमें केन्द्र राज्य सहयोग और समन्वय के बीच केन्द्र की

---

1. डॉ. इकबाल नारायण पूर्वोक्त, पृ. 312 13
2. *Morris Jones* Op Cit p 115
3. *K. Santhanam* Democratic Planning, Problems and Pitfalls p 20

प्रधानता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। राष्ट्रीय विकास परिषद्, केन्द्र एवं राज्यों के मध्य समायोजन के लिए स्थापित की गई है, में प्रधानमन्त्री, केन्द्रीय सरकार के मन्त्री, राज्यों के मुख्यमन्त्री और योजना आयोग के सदस्य सम्मिलित होते हैं। कोई मुख्यमन्त्री परिषद की बैठक में उपस्थित न हो सके तो उसे अपने प्रतिनिधि को भेजने का अधिकार होता है। परिषद में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की सदस्यता और योजना आयोग द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों पर उनकी स्वीकृति के कारण योजना को राज्यों की ओर से पूर्व-स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। योजना निर्माण में, राष्ट्रीय विकास परिषद से परामर्श लिया जाता है। योजना आयोग द्वारा केन्द्रीय मन्त्रियों एवं राज्य सरकारों से परामर्श के बाद योजना का जो प्रारूप तैयार किया जाता है, वह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति बाद राष्ट्रीय विकास परिषद् के समक्ष, जो सहकारी संघवाद (Co-operative Federalism) के सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करती है, आवश्यक सुझाव हेतु प्रस्तुत किया जाता है। परिषद की सिफारिशों के आधार पर योजनाओं तथा कार्यक्रमों में आवश्यक सुधार किया जाता है और उन्हें केन्द्रीय मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों के पास प्रारम्भिक निर्देशों सहित भेज दिया जाता है। योजना-निर्माण को अन्तिम रूप देने से पूर्व परिषद की सिफारिशें ली जाती हैं और योजना अन्तिम स्वरूप और आकार ग्रहण करती है जिसे संसद द्वारा स्वीकृति मिलने पर प्रकाशित कर दिया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद की योजना-निर्माण के सन्दर्भ में निर्णायक भूमिका होती है इसीलिए उसे 'सुपर कैबिनेट' (Super Cabinet) कहा जाता है। इसके उच्च स्वरूप के कारण इसके परामर्श को केन्द्रीय और राज्य सरकारें सर्वाधिक महत्व प्रदान करती हैं। परिषद के सदस्य सरकारी नीति के निर्माता होते हैं अतः योजना आयोग व कैबिनेट द्वारा परिषद के दृष्टिकोण की अवहेलना नहीं की जाती है, लेकिन अनेक अवसरों पर असहमति के मामले उपस्थित हुए हैं जिन्हें आपसी सहयोग से सुलझाया जाता है।

योजना क्षेत्र की प्रमुखता और एकात्मकता की प्रवृत्ति इस विचार से प्रेरित है कि योजना को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संचालित करने, उसे राष्ट्रीय स्वरूप देने और सम्पूर्ण देश में नियोजन को समान गति से चलाने के लिए सामान्य केन्द्र का निर्देशन और नियन्त्रण उपयुक्त है। स्थानीय योजनाओं और राज्यीय योजनाओं का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व राज्यों पर है, लेकिन केन्द्र को राज्यों के कार्य में सहायता, समायोजन और निर्देशन करना चाहिए ताकि राष्ट्रीय नीतियों का क्रियान्वयन और विकास सन्तोषजनक ढंग से हो सके। यह आरोप अतिरंजित है कि योजना क्षेत्र में राज्य सरकारों की स्थिति केन्द्र के हाथ में कठपुतलियों जैसी हो गई है। इसके विपरीत पल एप्लबी जैसे विद्वानों का मत है कि विकास के सम्पूर्ण क्षेत्र में केन्द्र वास्तविक शक्तियों का उपयोग नहीं करता। उसका कार्य 'स्टाफ कर्तव्यों' (Staff Functions) का है न कि 'लाइन कर्तव्यों' (Line Functions) का। समय की माँग है कि हम केन्द्र की प्रमुखता या राज्यों की प्रमुखता के विवादों में पड़ने के बजाय यह मानकर चलें कि योजना एक राष्ट्रीय उद्यम है जिसे राजनीतिक सौदेबाजी और दबावों से दूर रखा जाना चाहिए। केन्द्र और राज्यों के सहयोग पर ही योजनाओं का सफल क्रियान्वयन और राष्ट्र की समृद्धि निर्भर है।

(घ) केन्द्र-राज्यों के सम्बन्धों का मूल्यांकन

(ङ) क्या राज्यों की स्थिति 'नगरपालिकाओं' जैसी है?

संविधान में केन्द्र को अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं और योजना आयोग जैसी शक्तिशाली संविधानेतर संस्था केन्द्र-राज्यों पर अपना प्रभाव जमाए रखती है, तथापि यह आरोप अतिशयोक्तिपूर्ण है कि "राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के समान हो गई है।" संघात्मक शासन-व्यवस्था में शक्तियों का केन्द्रीकरण होना अथवा केन्द्र का राज्य सरकारों की अपेक्षा सशक्त होना कोई महत्व नहीं रखती है। संविधान सभा में डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अत्यधिक केन्द्रवाद सम्बन्धी आलोचना का उत्तर देते हुए कहा था—"राज्यों को नगरपालिकाओं का स्तर देकर संविधान ने केन्द्र को अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान कर दी हैं यह गम्भीर शिकायत है। यह दृष्टिकोण अतुक्तिपूर्ण है, तथा संविधान के उद्देश्यों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा पर आधारित है।" "केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय इस आधारभूत सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए कि संघात्मक शासन में विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वितरण स्वयं संविधान द्वारा किया जाता है, केन्द्र-निर्मित विधि द्वारा नहीं। हमारा संविधान यह कार्य करता है इसलिए राज्य अपनी विधायी तथा कार्यपालिकाओं की शक्तियों के लिए किसी प्रकार केन्द्र पर आश्रित नहीं हैं। राज्य तथा केन्द्र एक स्तर पर हैं।"

"संघात्मक सरकार का मुख्य लक्षण संविधान द्वारा विधायी तथा कार्यपालिका की सत्ता का केन्द्र और इकाइयों में वितरण करना है। इस सिद्धान्त का हमारे संविधान में अनुसरण किया गया है, अतः यह कथन असत्य है कि राज्यों को केन्द्र के अधीन रखा गया है। केन्द्र अपनी इच्छा से विभाजन रेखा बदल नहीं सकता। इसमें कोई न्यायालय परिवर्तन नहीं ला सकते। वे संशोधन कर सकते हैं, किन्तु इस वितरण को बदल नहीं सकते हैं। नई युक्तियों तथा दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर न्यायालय इन उपबन्धों की व्याख्या में अन्तर ला सकता है। उपान्तक मामलों (Marginal Cases) में

सीमा-रेखा को इधर उधर कर सकता है किन्तु विपरीत सत्ता द्वारा ऐसी सीमा-रेखा बन जाती है जिसे वह लाँघ नहीं सकता शक्ति का पुनर्विभाजन नहीं कर सकता है। सत्ता-वितरण की वर्तमान् व्यवस्था को व्यापक रूप न्यायालयों द्वारा दिया जा सकता है किन्तु एक अधिकारी को दी गई शक्तियाँ वे दूसरे अधिकारी को नहीं सौंप सकते हैं।"[1]

डॉ. अम्बेडकर के उपर्युक्त विचारों का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माताओं ने राज्यों की संस्थागत स्थिति को स्वीकार किया है। वे अपने अस्तित्व के लिए केन्द्र की कृपा के मोहताज नहीं हैं। संविधान निर्माताओं ने उन्हें व्यापक अधिकार प्रदान किये हैं। राज्य-सूची में उन्हें पर्याप्त अधिकार दिए हैं। राज्यों द्वारा समवर्ती सूची पर कानून बनाया जा सकता है अतः शक्ति-विभाजन में केन्द्र को सर्वोच्चता दी गई है किन्तु राज्य पूर्णतया शक्ति-हीन नहीं हैं। वे अपने अधिकार क्षेत्र की शक्तियों का प्रयोग करके लोक-कल्याण के विभिन्न कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक लागू कर सकते हैं। वित्तीय क्षेत्र में यद्यपि केन्द्र की तुलना में राज्यों के आर्थिक संसाधन बहुत कम हैं अगर राज्य मितव्ययता से कार्य करें और अपने संसाधन जुटाने का प्रयास करें तो केन्द्र पर उनकी निर्भरता कम हो सकती है। प्रशासनिक क्षेत्र में केन्द्र राज्यों को निर्देश दे सकता है और आपातकालीन प्रावधानों का प्रयोग कर राज्यों पर अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर सकता है उसे राज्यों में लोकतान्त्रिक सरकार अनिवार्य रूप से बहाल करनी ही पड़ती है। एक निश्चित समयावधि पूरी होने के बाद राज्य विधानसभाओं के चुनाव अनिवार्य रूप से कराने पड़ते हैं। केन्द्र राज्यों के संस्थागत स्वरूप को न तो समाप्त कर सकता है और न ही लोकतान्त्रिक सरकार के सिद्धान्त को समाप्त कर सकता है। निष्कर्षतः राज्यों का स्थिति नगरपालिकाओं जैसी नहीं है। यह एक अतिरंजित तथा अतिशयोक्तिपूर्ण दृष्टिकोण है।

(च) केन्द्र-राज्य विवाद के मुख्य कारण

तनाव के संवैधानिक कारण

1 भारतीय संविधान में शक्तियों का वितरण केन्द्र के पक्ष में अधिक है। संघ-सूची और समवर्ती सूची में केन्द्रीय कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को अधिकार प्रदान किए गए हैं कि राज्यों की स्वायत्तता पर आँच आ सकता है। 1970 में तमिलनाडु सरकार द्वारा नियुक्त राजामन्नार समिति ने सिफारिश की थी कि—(i) संघ-सूची और समवर्ती सूची में से कुछ शक्तियाँ निकाल कर राज्य-सूची में डाल देनी चाहिए, (ii) वित्त आयोग को एक स्थायी अभिकरण बना देना चाहिए, (iii) केन्द्रीय राजस्व स्रोतों को घटा कर राज्यों को हस्तान्तरित कर देना चाहिए ताकि केन्द्र पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता कम हो।

2. राज्य यह अनुभव करते हैं कि उनकी विधायी और प्रशासनिक शक्तियाँ इतनी सीमित हैं [illegible] उन्हें अपने निर्णयों के कार्यान्वयन में केन्द्र का मुँह ताकना पड़ता है। जब केन्द्र और राज्यों में एक दल की सरकार रहती है तब समस्या नहीं होती, लेकिन विपरीत स्थिति में तनाव प्रायः बढ़ जाता है।

3 राज्यपाल केन्द्र द्वारा नियुक्त अभिकरण हैं जो राज्यों में केन्द्र का वर्चस्व बनाये रखने में सहयोग देते हैं। संविधान उन्हें अधिकार देता है कि समवर्ती सूची से सम्बद्ध विधेयकों को वे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख लें और केन्द्रीय सरकार को यह अवसर प्रदान करें कि वह राष्ट्रपति द्वारा विधेयक या विधेयकों को अस्वीकृत करा दें। केरल के राज्यपाल ने ई. एम. एस. नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व वाली साम्यवादी सरकार को प्रगतिशील भूमि सुधार विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख लिया था। बाद में केन्द्रीय सरकार ने इस विधेयक को राष्ट्रपति द्वारा अस्वीकृत करा दिया। आन्ध्र प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री एन. टी. रामाराव ने उन्हें केन्द्रीय जासूस की संज्ञा दी थी। अनेक अवसरों पर राज्य सरकारों द्वारा राज्यपाल पद को समाप्त करने की माँग की गई है। राज्यपाल पद ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों में परिलक्षित तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न की है।

4 आपातकालीन उपबन्धों ने संविधान को एकात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया है और आपातकाल के दौरान राज्य सम्पूर्णतः केन्द्र निर्देशित इकाइयाँ बन जाते हैं। यह स्थिति कुछ राज्य सरकारों के लिए अप्रिय रही है।

तनाव के संवैधानिक कारणों का अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि राज्य चाहते हैं कि उन्हें स्वायत्तता प्रदान की जाये तथा उन पर केन्द्र का अंकुश न रहे।

तनाव के व्यवहारिक कारण

केन्द्र राज्य सम्बन्धों में तनाव के लिए व्यावहारिक कारण उत्तरदायी रहे हैं जिनका उल्लेख निम्नानुसार किया जा सकता है—

1 केन्द्र और राज्यों में यह तनाव पैदा हो जाता है कि राज्य द्वारा आर्थिक अनुदान या आर्थिक सहायता माँगने पर केन्द्रीय सरकार एक ओर उदार रवैया न अपनाकर यह आरोप लगाती है कि राज्य सरकारें स्वयं के राजस्व स्रोतों का

---

1 *M V Pylee* Indian Constitution p 289 90

समुचित विदोहन नहीं करती। केन्द्र का यह आरोप रहा है कि कुछ राज्य सरकारें उपलब्ध राशि का विकास योजनाओं पर उचित समय पर व्यय नहीं करतीं।

2. ओवर-ड्राफ्ट को लेकर केन्द्र और राज्यों के बीच संघर्ष और तनाव की स्थिति बनी रहती है।

3. अन्तर्राज्यीय विवादों को हल करने के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार की निष्पक्षता को लेकर आरोप-प्रत्यारोप लगाए जाते रहे हैं।

तनाव के राजनीतिक कारण

1. केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा एक-दूसरे पर संकीर्ण दलबन्दी की भावना के आरोप लगाए जाते हैं। केन्द्र में काँग्रेसी शासन के समय जब कभी किसी राज्य में गैर-काँग्रेसी सरकार बनी तो उसका आरोप रहा है कि केन्द्र राज्य सरकार को गिराने या नीचा दिखाने को प्रयत्नशील है। दूसरी ओर केन्द्र का आरोप रहा है कि राज्य सरकार केन्द्र के साथ असहयोग की राजनीति खेल रही है। इस तरह के आरोप-प्रत्यारोपों से पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव पैदा होता है।

2. कुछ विपक्षी दल क्षेत्रीय साम्प्रदायिक भावनाओं की मदद से जनता में लोकप्रिय होना चाहते हैं और क्षेत्रीय स्तर पर निर्वाचन में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से केन्द्र और राज्य के बीच तनाव पैदा करते हैं। वामपंथी दल, जिनकी लोकप्रियता कुछ क्षेत्रों तक सीमित है निर्वाचन नीति के रूप में केन्द्र के विरुद्ध राजनीतिक प्रचार करते रहते हैं।

(छ) केन्द्र-राज्य मतभेदों को दूर करने के सुझाव

1. भारतीय संविधान स्वरूप में संघात्मक, किन्तु आत्मा से एकात्मक है, अतः इसे आत्मा से संघात्मक बनाया जाए। इस हेतु समवर्ती सूची के विषयों का पुनर्विभाजन इस प्रकार हो कि शक्ति-विभाजन का सन्तुलन राज्यों के पक्ष में हो जाए।

2. राज्यों को लचीले वित्तीय स्रोत प्रदान किए जाएँ ताकि उनकी आय बढ़ सके। राज्यों को अपने वित्तीय साधनों में वृद्धि तथा अपने प्रशासनिक व्यय में मितव्ययता के लिए प्रयत्न करने चाहिए।

3. केन्द्र के पास राज्यों को विवेकानुसार अनुदान देने की शक्ति न रहे।

4. वित्त आयोग को स्थायी संस्था के रूप में परिवर्तित किया जाए और इस आयोग का परामर्श केन्द्र के लिए बन्धनकारी होना चाहिए।

5. योजना आयोग को स्वायत्त संवैधानिक स्तर प्रदान किया जाए।

6. राज्यों की आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए स्थायी, किन्तु गैर-राजनीतिक समिति गठित की जाए जो केन्द्र एवं राज्यों के मध्य आर्थिक समन्वय का कार्य करे।

7. अनुच्छेद 263 के अनुसार अन्तर्राज्यीय परिषद **(Inter-State Council)** स्थापित की जाए जो राष्ट्रपति को सलाह देने का कार्य करे।

8. राष्ट्रपति एवं राज्यपाल सम्बन्धी संवैधानिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन करके उनकी शक्तियों में वृद्धि की जाए ताकि वे किसी विवशता से हटकर स्वविवेक से काम कर सकें।

9. किसी व्यक्ति को एक बार राज्यपाल नियुक्त किया जाए, सेवा-मुक्त होने पर न तो उसे लाभ का पद दिया जाए और न उसे राजनीति में भाग लेने के लिए स्वतन्त्र छोड़ा जाए। राज्यपाल को हटाने के लिए महाभियोग की व्यवस्था होनी चाहिए। राज्यपाल पद पर राजनीतिक आधार पर नियुक्ति नहीं की जाकर, योग्यता के आधार पर, उचित नागरिक को नियुक्त किया जाना चाहिए।

10. राष्ट्रपति के परामर्श के लिए एक समिति बनाई जाए, जिसके परामर्श पर राज्यपालों, न्यायाधीशों, योजना आयोग के सदस्यों आदि की नियुक्ति हो। इससे इन पदों पर औसत दर्जे के नागरिकों के स्थान पर योग्यतम नागरिक प्रतिष्ठित हो सकेंगे।

11. केन्द्र राज्य सूची के विषयों में हस्तक्षेप न करे। राज्य-सूची के विषयों सम्बन्धी कार्यक्रम लागू करने, उन पर धन व्यय करने आदि का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर रहे। अपवाद रूप में राष्ट्रीय हितों की माँग पर राज्य सूची पर केन्द्र को हस्तक्षेप करना चाहिए।

12. प्रशासन, वित्त और विधायी सभी क्षेत्रों में केन्द्रीय नियन्त्रण की व्यवस्थाएँ शिथिल की जाएँ। इससे राज्यों को अपना विकास करने का समुचित अवसर प्राप्त होगा।

13. अखिल भारतीय सेवा के जो अधिकारी राज्य-सेवा में रहें उन पर पूर्ण नियन्त्रण राज्य सरकार का हो।

14. अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना के अलावा प्रत्येक राज्य के लिए संवैधानिक सलाहकार समिति की स्थापना हो, यह समिति संघीय प्रश्नों पर राज्य को परामर्श दे।

15 संविधान के अनुच्छेद 249 पर पुनर्विचार किया जाए।

16 समवर्ती सूची के ऐसे विषय राज्य-सूची में रख दिए जाएँ जिनसे राज्यों के अधिकारों में वृद्धि होती हो लेकिन केन्द्र की शक्ति पर कोई आपत्ति न आती हो। इन विषयों को सशर्त राज्यों को सौंपा जाए।

17 राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण मामलों में परामर्श के लिए एक उच्च-स्तरीय सांविधानिक सलाहकार समिति स्थापित की जाए जो राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, नियन्त्रक एवं महालेखापाल, योजना आयोग के सदस्य आदि की नियुक्ति में, मंत्रिमण्डल निर्माण के समय, अनुपालनीय अभिसमयों में, व्यवस्थापिका को भंग करने और विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति हेतु आरक्षित करने के सम्बन्ध में और अन्य राष्ट्रीय विषयों पर सलाह दे। इस समिति में उच्चतम न्यायालय के सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों, भूतपूर्व राष्ट्रपतियों, देश के सांविधानिक वकीलों को अवश्य स्थान दिया जाए। प्रधानमंत्री की सिफारिशों के महत्व को किसी रूप में कम न करते हुए सांविधानिक सलाहकार समिति की नियुक्ति की व्यवस्था विचारणीय हो सकती है। व्यावहारिक राजनीति की आवश्यकता है कि समिति की सलाह प्रधानमंत्री अथवा मंत्रि-परिषद द्वारा अनुमोदित हो।

सरकारिया आयोग की सिफारिशें—9 जून 1983 को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर विचार करने के लिए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश जस्टिस आर. एस. सरकारिया की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया था जिसे 'सरकारिया आयोग' के नाम से जाना जाता है। बी. शिवरमन् और एस. आर. सेन की इस आयोग के सदस्यों के रूप में नियुक्ति की गई। आयोग ने देश के सभी राजनीतिक दलों और संविधान विशेषज्ञों से विचार विमर्श किया। विभिन्न राजनीतिक दलों ने आयोग के सम्मुख प्रतिवेदन देते हुए अपना मत प्रकट किया। 30 जनवरी, 1988 को आयोग के प्रतिवेदन की मुख्य सिफारिशों का प्रकाशन किया गया जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—

1. आयोग के प्रतिवेदन में सुदृढ़ केन्द्र की अवधारणा पर बल दिया गया है।
2. आयोग का यह मत है कि केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकारों के विभाजन की जो व्यवस्थाएँ संविधान में की गई हैं उनमें परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।
3. आयोग ने राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में केन्द्र और राज्यों की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए 'सहकारी संघवाद की अवधारणा' का समर्थन किया है।
4. आयोग ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण करने के पक्ष में अपना अभिमत प्रकट किया है।
5. आयोग ने यह सिफारिश की है कि किसी राज्य को उपद्रव-ग्रस्त घोषित करने और किसी राज्य में केन्द्र द्वारा सुरक्षा बलों को भेजने से पूर्व राज्य सरकार से सलाह लेनी चाहिए। यद्यपि आयोग का यह स्पष्ट मत है कि केन्द्र सरकार को ऐसा करने का अधिकार है।
6. आयोग ने राष्ट्रीय विकास परिषद के नाम में परिवर्तन करने का सुझाव दिया है। आयोग के मत में इसका नाम 'राष्ट्रीय आर्थिक और विकास परिषद' कर देना चाहिए।
7. आयोग ने केन्द्र और राज्यों के बीच विवादों का समाधान करने हेतु एक अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना के पक्ष में विचार व्यक्त किया है।
8. आयोग का यह सुझाव है कि केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी का नेता राज्यपाल न बने और राज्यपाल पद से निवृत्त होने के बाद उसे लाभ का पद नहीं दिया जाना चाहिए।
9. आयोग का मानना है कि अनुच्छेद 356 का सहारा सोच विचार कर लिया जाना चाहिए।
10. आयोग ने अखिल भारतीय सेवाओं को सुदृढ़ और सक्षम बनाने की वकालत की है।
11. आयोग ने आकाशवाणी और दूरदर्शन पर केन्द्र के अधिकार की पुष्टि करते हुए कहा है कि इन्हें प्रतिदिन के मामलों का संचालन करने के लिए उचित सीमा तक 'विकेन्द्रीकरण' की स्थिति प्रदान करनी चाहिए।
12. राष्ट्रपति के विचारार्थ रखे जाने वाले विधेयकों की समय सीमा निश्चित करने में आयोग ने कहा है कि इस में अनावश्यक विलम्ब को रोका जाना चाहिए।

सरकारिया आयोग ने 'सुदृढ़ केन्द्र' की अवधारणा पर बल दिया है। भारत की एकता और अखण्डता की सुरक्षा के लिए केन्द्र का सुदृढ़ होना परम आवश्यक है, अतः सरकारिया आयोग की सिफारिशों को लागू कर केन्द्र राज्य सम्बन्धों में नये युग का सूत्रपात किया जा सकता है।

राज्य स्वायत्तता की उठती माँग

(Demand for State Autonomy)

राज्य-स्वायत्तता का प्रश्न भारतीय संघवाद का मुख्य प्रश्न बिन्दु है। 1967 के पूर्व केन्द्र तथा राज्यों में एक दल की सरकारों के सत्तारूढ़ होने के कारण यह समस्या कभी नहीं उठी, लेकिन 1967 के बाद केन्द्र राज्य सम्बन्धों के स्वरूप

में परिवर्तन हुए। अनेक राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों के सत्तारूढ़ होने के कारण केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई। केन्द्र और राज्यों में तनाव का मुख्य बिन्दु यही है कि राज्य चाहते हैं कि उन्हें अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाए, उन पर केन्द्र का अंकुश न रहे। चौथे आम चुनावों के बाद चेन्नई में तत्कालीन द्रमुक-मन्त्री अन्नादुराई ने कहा था—"हमें संविधान-निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए। संघात्मक संविधान में केन्द्र द्वारा उतनी शक्तियाँ व्यवहार में लाई जानी चाहिए, जिससे कि देश की सम्प्रभुता और एकता की रक्षा हो सके। राज्यों को संविधान की ओर से स्वायत्तता प्राप्त है और उनके साथ नगरपालिकाओं जैसा व्यवहार नहीं किया जा सकता।" इस माँग को पश्चिमी बंगाल में अजय मुखर्जी के नेतृत्व वाली वामपंथी सरकार और पंजाब में सरदार गुरनामसिंह के नेतृत्व वाली अकाली सरकार का समर्थन प्राप्त हुआ। मार्च, 1977 में कांग्रेस शासन के पराभव के बाद स्वायत्तता की माँग जोर-शोर से उठी। पश्चिमी बंगाल के वामपंथी मोर्चे की सरकार के मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने एक परिपत्र तैयार कर सभी राज्यों को भेजा जिसमें निम्नलिखित माँगें रखी गईं—

(1) केन्द्र के पास प्रतिरक्षा, विदेश सम्बन्ध, व्यापार, मुद्रा संचार तथा आर्थिक समन्वय जैसे विषय रहें। शेष सभी विषय राज्यों को सौंप दिए जाएँ। अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों को दे दी जाएँ। (2) संविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को समाप्त कर दिया जाए और राज्यपाल के पद को पूर्ण सांविधानिक बनाया जाए। (3) संविधान की प्रस्तावना में 'यूनियन' (Union) शब्द के स्थान पर 'फैडरेशन' (Federation) शब्द रखा जाए। (4) राज्य विधान-मण्डल जो कानून पारित करे उसे किसी स्थिति में राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित न रखा जाए। (5) योजना आयोग के स्वरूप और गठन का निश्चय राष्ट्रीय विकास परिषद करे। (6) केन्द्रीय सरकार की आय का 75 प्रतिशत भाग राज्यों को दिया जाए। (7) राज्य-सभा के सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाए। उसमें सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व हो। (8) संसद के दोनों सदनों के अधिकार समान हों।

जम्मू-कश्मीर राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला तथा अन्य द्वारा ज्योति बसु की माँगों का समर्थन किया गया। जम्मू-कश्मीर राज्य को देश के अन्य राज्यों की तुलना में अधिक स्वायत्तता प्राप्त है। जनता पार्टी द्वारा शासित राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने दबे स्वर में इस प्रकार का विचार व्यक्त किया कि राज्यों को अधिक वित्तीय साधन प्रदान किए जाने चाहिए। तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने कहा था कि राज्यों को और अधिक स्वायत्तता देना आवश्यक नहीं है। यद्यपि केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के स्वरूपों पर विचार किया जा सकता है। सरकारिया आयोग ने इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में अपने विचार प्रस्तावित करते हुए सुदृढ़ केन्द्र की अवधारणा पर बल दिया है। इस प्रसंग में नया आयाम तब जुड़ गया जब जम्मू-कश्मीर विधान सभा ने 26 जून, 2000 को राज्य को स्वायत्तता प्रदान करने सम्बन्धी प्रस्ताव को ध्वनिमत से मंजूर कर केन्द्र के सामने एक संकट खड़ा कर दिया। इस प्रस्ताव को केन्द्र ने नामंजूर कर दिया है किन्तु ध्यान में रखने योग्य यह है कि जम्मू-कश्मीर में सत्तारूढ़ दल की तत्कालीन केन्द्र सरकार में साझेदारी थी।

व्यवहार में सहकारी संघवाद
(Co-operative Federalism in Practice)

भारत में संघवाद के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचन के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान को 'सहकारी संघवाद'[1] (Co operative Federalism) की संज्ञा दी जाए। सहकारी संघवाद ऐसी व्यवस्था है जिसमें केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली होती है, किन्तु राज्य सरकारें अपने क्षेत्र में कमजोर नहीं होती हैं। सहकारी संघवाद का यह मुख्य लक्षण है कि दोनों सरकारें एक-दूसरे की पूरक तथा निर्भर होती हैं। राष्ट्रीय और राज्य सरकार शासन की एक व्यवस्था के स्वैच्छिक परिपूरक अंग (As Mutually Complementary Part of a Single System of Government) समझी जाती हैं जिनकी शक्तियों का प्रयोग सम्पूर्ण राज्य के सामान्य उद्देश्यों (Common Objectives) को प्राप्त करना होता है।[2] सहकारी संघवाद में केन्द्र और राज्य कानूनी रूप से एक-दूसरे से संघर्षों में न उलझकर, स्वयं को जनता की सेवा करने वाली संस्थाएँ मानते हैं।

ग्रेनविल ऑस्टिन के अनुसार कुछ अपवादों को छोड़कर सहकारी संघवाद के उपरोक्त लक्षण भारत पर लागू होते हैं।[3] परिस्थितियों, सांविधानिक प्रावधानों, संविधानेत्तर संस्थाओं (Extra-Constitutional Institutions) और स्वाधीनता-संग्राम के साथियों द्वारा प्रशासनिक उत्तरदायित्व सम्भालने के कारण व्यवहार में भारत में सहकारी संघवाद का

---

1 *A. H Birch* Federalism, Finance and Social Legislation in Canada, Australia and United States p 305

2. *M. V Pylee* · Constitutional Government in India, p 601

3 *Granville Austin* Op Cit., p 187

विकास हुआ है। इसको व्यवहृत करने में जिन व्यवस्थाओं का योग है वे हैं—1 योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद, 2. वित्त आयोग और वित्तीय सहायता, 3 नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, 4 क्षेत्रीय परिषदें 5 राष्ट्रपति की आपात शक्तियों का संघ के रक्षार्थ व्यवहारिक प्रयोग एवं 6 अन्य व्यवस्थाएँ सामुदायिक विकास योजना, अखिल भारतीय सेवाएँ, एकल न्यायिक व्यवस्था आदि।

1 योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद—योजना आयोग की रचना संविधानेतर संस्था (An Extra Constitutional Body) के रूप में हुई है। यह देश में सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में गतिविधियों का विनियमन और निर्देशन करती है। इसे राज्यों पर केन्द्र के नियन्त्रण का महत्वपूर्ण साधन कहा जाता है परन्तु यह सवैधानिक स्थिति नहीं है। यदि कोई राज्य कहे कि योजना आयोग को सांविधानिक स्थिति नहीं है अतः वह निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नहीं है तो भारत सरकार उसे सांविधानिक प्रावधान से विवश नहीं कर सकती।[1] सम्पूर्ण नियोजन व्यवस्था ऐसी है कि भारत सरकार पचवर्षीय योजना स्वीकार करने में राज्यों की सहमति और सलाह का पूरा आदर कर, योजनाओं की पूर्ति के लिए उन्हें आवश्यक आर्थिक सहायता देती है। नियोजन राज्यों के हित में है और इस कल्याण कार्य में जनता का विमुख होना किसी रूप में सम्भव नहीं है अतः राज्य केन्द्र की भारी वित्तीय सहायता प्राप्त करने हेतु आयोग के निर्देशों को स्वीकार करते हैं।

योजना आयोग राज्यों पर अपना निर्देश लादने का प्रयत्न नहीं करता है। राज्यों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) की स्थापना की गई है जिसका गठन प्रधानमंत्री केन्द्रीय मन्त्रियों, योजना आयोग के सदस्यों और राज्यों के मुख्यमन्त्रियों से किया गया है। योजना आयोग के निर्णयों का अनुसमर्थन राष्ट्रीय विकास परिषद द्वारा किया जाता है। परिषद के सभी निर्णयों को केन्द्र और राज्य सरकारें मानती हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थिति सम्पूर्ण भारतीय संघ के लिए एक सर्वोपरि कैबीनेट (Super Cabinet) की है—कम से कम आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में यह ऐसी कैबिनेट है जो भारत सरकार और राज्य सरकारों के लिए कार्य करती है।[2] योजनाओं को कार्यरूप देने का उत्तरदायित्व राज्य वहन करते हैं किन्तु संघ सरकार के मन्त्रालय राज्य सरकारों के समानान्तर मन्त्रालयों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। केन्द्रीय मन्त्रालय राज्यों के सम्मेलन आयोजित करके उनसे कार्यक्रमों को लागू करवाने का प्रयास करते हैं। योजना के निर्माण में केन्द्र अथवा योजना आयोग राज्यों के विचारों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। नियोजन कार्य में सहयोग और समायोजन के लिए राज्यों के मन्त्रियों विभागाध्यक्षों के होने वाले सम्मेलन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं और जिनमें लिए गए निर्णय एक पक्षीय नहीं होते। इससे सहकारी संघवाद, केन्द्र और राज्यों में तारतम्य की भावना विकसित होती है।

2 वित्त आयोग और वित्तीय सहायता—संघ और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों के निर्धारण में वित्त आयोग की महत्वपूर्ण भूमिका है। संघ के लिए वित्त आयोग की सिफारिशों के विरुद्ध जाना असम्भव है। वित्त आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्य सरकारों को कर आय और अनुदान के रूप में भारी धनराशि केन्द्र से प्राप्त होती रही है। वित्त आयोग की भूमिका 'सहकारी संघवाद' को आगे बढ़ाने वाली है।

3 नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक—भारत का नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, केन्द्र और राज्य सरकारों के सहयोग को रखने तथा केन्द्र के आवश्यक नियन्त्रण सहित सहकारी संघवाद को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। संघ और राज्यों के हिसाब उसी प्रकार रखे जाते हैं जैसा पदाधिकारी राष्ट्रपति की स्वीकृति से निर्धारित करे। इसके प्रतिवेदनों को राष्ट्रपति संसद के प्रत्येक सदन में रखवाता है और राज्य के हिसाब एवं जाँच की रिपोर्ट राज्यपाल द्वारा राज्य विधान-मण्डल के सामने रखी जाती है। सम्पूर्ण देश के हिसाब की जाँच आदि के लिए संघ द्वारा संगठित व्यवस्था है। फलस्वरूप केन्द्र और राज्य सरकारें वित्तीय सहयोग के सूत्र में बँधी हैं। भारत में इकहरी नागरिकता है और करदाता के हित की सुरक्षा की दृष्टि से इस पदाधिकारी का कार्य महत्वपूर्ण है।

4 क्षेत्रीय परिषदें—राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 के अधीन स्थापित क्षेत्रीय परिषदें (Zonal Councils) तीन दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं—प्रथम, वे राज्यों और संघीय क्षेत्रों के बीच तथा केन्द्र और राज्यों के बीच सामान्य समस्याओं में घनिष्ठ सहयोग के लिए मिलन-भूमि तैयार करती हैं। इस दृष्टि से संघ सरकार के स्वराष्ट्र मन्त्री को परिषद का अध्यक्ष बनाया गया है। द्वितीय, प्रत्येक क्षेत्र (Zone) में आने वाले राज्यों और संघीय क्षेत्रों के मध्य आर्थिक सहयोग एवं प्रशासनिक समन्वय को इनसे प्रोत्साहन मिलता है। ये परिषदें विकास कार्यक्रमों के उचित एकीकरण में सहायक होती हैं। तृतीय ये परिषदें पृथकतावादी प्रवृत्तियों और अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विताओं पर रोक का कार्य करती हैं। ये परिषदें सहकारी संघवाद (Co operative Federalism) की भावना का प्रतीक हैं।

1 *M V Paylee* Op Cit p 599
2 *Santhanam* Union State Relations p 44

राज्यसभा के उप-सभापति का पद धारण करने वाला व्यक्ति यदि सभा का सदस्य नहीं रह जाता तो वह अपना पद रिक्त कर देगा। वह अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है। राज्यसभा अपने तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से प्रस्ताव पारित करके उसे उसके पद से हटा सकती है।[1] इसी प्रक्रिया द्वारा राज्यसभा अपने सभापति (उप-राष्ट्रपति) को हटा सकती है। राज्यसभा की किसी बैठक में उप-राष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई प्रस्ताव विचाराधीन हो तब उप-राष्ट्रपति उस सभा की अध्यक्षता नहीं करेगा।[2]

राज्यसभा को स्थाई और निरन्तर चलने वाली संस्था बनाकर हमारे संविधान-निर्माताओं ने दूरदर्शिता का परिचय दिया है। सदस्यों के आवर्तन (Rotation) की पद्धति के कारण न केवल सदन की निरन्तरता बनी रहती है वरन् हर राज्य की विधानसभा को यह अवसर मिल जाता है कि वह इस सदन में कुछ नए सदस्यों का निर्वाचन करता रहे। राज्यसभा में वर्तमान दलीय शक्ति और प्रत्येक राज्य में व्याप्त समकालीन दृष्टिकोण और मनोवृत्ति परिलक्षित होता रहती है परिणामस्वरूप राज्यसभा में सदैव नवीनता व्याप्त रहती है। फलतः राज्यसभा में अनुभवी और योग्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सम्भव हो पाता है।

लोकसभा की रचना एवं अवधि—लोकसभा (House of the People) एक लोकप्रिय सदन है जिसका निर्वाचन जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर, प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा किया जाता है। निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए आवंटित स्थानों का निर्धारण इस प्रकार किया जाता है कि प्रत्येक राज्य को दिए गए स्थानों और उसकी जनसंख्या का अनुपात समस्त राज्यों के लिए जहाँ तक व्यवहार्य हो एक जैसा बना रहे परन्तु यदि किसी राज्य की संख्या 60 लाख से कम है तो उपर्युक्त विधि का उपयोग नहीं किया जा सकेगा। संविधान के अनुच्छेद 82 के अन्तर्गत प्रत्येक जनगणना के पश्चात् विभिन्न राज्यों में लोकसभा के स्थानों का आवंटन करने सम्बन्धी राज्यों के निर्वाचन क्षेत्रों का पुनः समायोजन करने के लिए संसद को अधिकृत किया गया है। वह इस विषय पर विधि की संरचना करे तथा समुचित निर्देशन प्रदान करे, परन्तु 2020 तक ऐसे किसी पुनः समायोजन की आवश्यकता नहीं है। 2020 तक 1971 की जनगणना के आधार पर प्रतिस्थापित व्यवस्था ही प्रभावी बनी रहेगी।[3]

लोकसभा में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था की गई है। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन के लिए जनसंख्या से तात्पर्य 1971 में की गई जनगणना पर आधारित जनसंख्या है और यह 2020 तक वैसे बनी रहेगी। इसका तात्पर्य यह है कि अनुसूचित जातियों जनजातियों के लिए लोकसभा एवं राज्य विधानसभाओं में स्थानों का आरक्षण 2020 तक 1971 की जनगणना के आधार पर बना रहेगा।

अवधि (Period)—लोकसभा यदि पहले विघटित न कर दी जाए तो अपने प्रथम अधिवेशन की तारीख से पाँच वर्ष तक चालू रहेगी। राष्ट्रपति इस अवधि से पहले उसे विघटित कर सकता है।[4] संकटकाल की स्थिति में लोकसभा के कार्यकाल में एक समय में एक वर्ष की वृद्धि की जा सकती है परन्तु घोषणा के प्रवर्तन की समाप्ति के बाद यह अवधि [illegible] मास के लिए बढ़ायी जा सकती है। 1976 में लोकसभा के कार्यकाल को बढ़ाया गया था 1977 के प्रारम्भ में कार्यकाल को एक बार बढ़ाया गया था। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री के परामर्श से समय से पूर्व लोकसभा को भंग कर सकता है। 1971 1980 1991 1996 और 1998 2004 में ऐसा किया गया था, अतः इस सदन की अवधि निश्चित होते हुए भी अनिश्चित है।

लोकसभा की अर्हताएं एवं अनर्हताएं—लोकसभा का सदस्य बनने के लिए किसी व्यक्ति में ये अर्हताएं होना चाहिए—(1) वह भारत का नागरिक हो (2) 25 वर्ष से कम का न हो (3) वे सब अन्य अर्हताएं होनी चाहिए जो संसद निश्चित करे। उसे भारत की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता के प्रति शपथ लेनी होती है। जो व्यक्ति (1) भारत में किसी सरकार के अधीन किसी ऐसे पद पर हो जिस पर होना संसद के कानून द्वारा अनर्हता ठहराई गई हो (2) विकृत मस्तिष्क का हो (3) उन्मुक्त दिवालिया हो (4) स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य का नागरिक बन गया हो एवं (5) संसद द्वारा निर्मित किसी कानून द्वारा अयोग्य ठहराया गया हो तो वह संसद का सदस्य नहीं बन सकता। सदस्यों की अनर्हता सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न, निर्णय के लिए राष्ट्रपति को सौंपा जाएगा, किन्तु इन मामलों में उसे निर्वाचन आयोग के निर्णय के अनुसार ही कार्य करना होगा।

---

1 अनुच्छेद [illegible]
2 अनुच्छेद [illegible]
3 *गंगासहाय शर्मा* पूर्वोक्त, पृ 239
4 अनुच्छेद 83(2)

एक साथ दोनों सदनों की सदस्यता वर्जित

कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों (लोकसभा एवं राज्यसभा) का एक साथ सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हो जाता है तो संसद विधि द्वारा यह व्यवस्था करेगी कि उसका किस सदन का स्थान रिक्त माना जाए।

संसद सदस्यों के विशेषाधिकार

भारतीय संविधान की व्यवस्थाओं और संसद के स्थायी आदेशों तथा नियमों के अनुकूल संसद सदस्यों के लिए वाक् स्वतन्त्रता निश्चित की गई है। फलतः उनके द्वारा दिए गए किसी भाषण अथवा मत के सम्बन्ध में देश की किसी न्यायपालिका में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती है। यह संरक्षण सदन के नियन्त्रण में प्रकाशित सदन की कार्यवाहियों के लिए लागू होता है। संसद सत्र के प्रारम्भ होने के 40 दिन पूर्व और पश्चात् किसी सदस्य को फौजदारी विषयों से सम्बन्धित अपराधों के अतिरिक्त बन्दी नहीं बनाया जा सकता है। किसी संसद सदस्य की गिरफ्तारी की सूचना तुरन्त अध्यक्ष को दिया जाना आवश्यक है। यदि संसद का अधिवेशन चल रहा हो तो अध्यक्ष की अनुमति के बिना किसी सदस्य को संसद भवन के परिसर से गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। यदि कोई अधिकारी संसद सदस्य का अपमान करे अथवा दुर्व्यवहार करे और यदि वह इसकी शिकायत अध्यक्ष से करे तो उसे दण्डित किया जा सकता है। संसद अपनी विधि द्वारा सदस्यों के विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों के नियम बना सकती है। संसद सदस्यों के ये विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। वे अपने दायित्वों का निर्भीकता से पालन करने में सक्षम होते हैं। इनके दुरुपयोग किये जाने की आशंका भी बनी रहती है।

संसद सदस्यों के वेतन-भत्ते

संसद सदस्यों के वेतन-भत्तों के निर्धारण करने का अधिकार संसद को है। संसद द्वारा उसमें परिवर्तन किया जाता रहा है। संसद सदस्य वेतन, भत्ता और पेंशन (संशोधन) अधिनियम, 1998 (1998 का 28) के द्वारा संसद सदस्यों का वेतन एक हजार पाँच सौ रु. से बढ़ाकर चार हजार रुपये प्रतिमास, दैनिक भत्ते को दो सौ रुपये से बढ़ाकर चार सौ रुपये, एक वर्ष में वायु मार्ग द्वारा की जाने वाली एकल यात्राओं की संख्या को 28 से बढ़ाकर 32 करने, जिसके साथ यह उपबन्ध है कि वायुमार्ग द्वारा वर्ष में जितनी यात्राएँ नहीं की जाएँगी उन्हें पश्चात्वर्ती वर्ष में अग्रनीत कर दिया जाएगा। इसी के साथ सड़क एवं रेल द्वारा यात्रा की सुविधा उपलब्ध है, न्यूनतम पेंशन को एक हजार चार सौ रुपये से बढ़ाकर दो हजार पाँच सौ रुपये प्रतिमास ऐसे सदस्य के रूप में सेवा के पाँच वर्ष से अधिक प्रति वर्ष के लिए दो सौ पचास रुपये की अतिरिक्त पेंशन को बढ़ाकर पाँच सौ रुपये, किसी ऐसे संसद सदस्य की जिसकी मृत्यु ऐसे सदस्य के रूप में उसकी पदावधि के दौरान हो जाती है, पत्नी या पति को या ऐसे सदस्य के आश्रित को पेंशन की राशि को पाँच सौ रुपये प्रतिमास से बढ़ाकर एक हजार रु. कर दिया गया है।

प्रतिवर्ष सांसदों को दो करोड़ रुपये के विकास कार्य के सुझाव देने का अधिकार

23 दिसम्बर, 1993 को तत्कालीन प्रधानमन्त्री पी. वी. नरसिम्हाराव ने संसद में घोषणा की कि स्थानीय क्षेत्र विकास योजना में लोकसभा और राज्यसभा के सदस्य अपने क्षेत्रों में प्रतिवर्ष एक करोड़ रुपये की विकास योजनाएँ कार्यान्वित करा सकेंगे। प्रधानमन्त्री ने कहा कि सांसद अपने राज्य के चुनिंदा क्षेत्र में अपनी पसन्द की विकास परक योजनाएँ सुझा सकेंगे। कोई परियोजना दस लाख रुपये से ज्यादा की नहीं होगी तथा एक साल में अधिकतम एक करोड़ रुपये तक की योजनाएँ सुझाई जा सकेंगी। प्रधानमन्त्री ने उन कार्यों की सूची जारी की, जिन्हें इस योजना के तहत लाया जा सकता है। इसमें अस्पताल एवं स्कूल भवनों का निर्माण, नलकूप जैसे पेयजल स्रोत उपलब्ध कराना, गाँवों को जोड़ने वाली सड़कें बनाना, वृद्ध लोगों के लिए आश्रयस्थल तथा ग्राम पंचायत भवनों का निर्माण, सामाजिक वानिकी, तालाबों की भराई, नए तालाबों की खुदाई और नहरें बनाना आदि शामिल हैं। इसके अलावा गोबर गैस संयन्त्रों एवं छोटी सिंचाई परियोजनाओं का निर्माण, गन्दी बस्तियों में शौचालय, श्मशान स्थल, बस स्टैण्ड और क्रीड़ा स्थल बनाने का काम इस योजना के तहत किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि इस सूची में परिवर्तन किया जा सकता है। इस योजना को व्यवहार में कार्यान्वित किया जा चुका है। इससे संसद सदस्यों की शक्ति में वृद्धि हुई है। इस योजना के अन्तर्गत जो कार्य हाथ में लिये जाते हैं, उनका निष्पादन प्रशासन करता है। वर्तमान में यह राशि बढ़ाकर 2 करोड़ रु. कर दी गई है।

संसद के दोनों सदनों के पदाधिकारी

राज्यसभा—भारत का उप-राष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। राष्ट्रपति का आसन ग्रहण करते समय वह राज्यसभा का सभापतित्व नहीं कर सकता और न ही इस पद से सम्बन्धित वेतन अथवा अन्य भत्ते ले सकता है।

सभापति की अनुपस्थिति में राज्यसभा का सभापतित्व उप-सभापति करता है जो सदन का सदस्य होता है और सदन के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किया जाता है। राज्यसभा का सचिवालय होता है जिसका प्रधान एक सचिव होता है। राज्यसभा के सभापति और उप-सभापति का वेतन भारत की संचित निधि से दिया जाता है। उनको वे अधिकार प्राप्त हैं जो सामान्यतया विधान-मण्डलों के अध्यक्षों को प्राप्त रहते हैं। यथा—सदस्यों को भाषण की अनुमति प्रदान करना, कार्य प्रणाली सम्बन्धी प्रश्नों को तय करना, वाद विवाद को अनुशासित और सुसंगत बनाए रखना, विचाराधीन प्रश्नों पर मतदान कराना और मतदान का परिणाम घोषित करना आदि। सभापति का कार्यकाल पाँच वर्ष है किन्तु उप-सभापति को छः वर्ष के लिए चुना जाता है। सदन के सदस्यों के वोट बराबर रहने पर सभापति अपने निर्णायक मत (Casting Vote) का प्रयोग करता है किन्तु अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता है।

लोकसभा—लोकसभा अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) का निर्वाचन करती है। संसद के प्रत्येक सदन को अपना सचिविक कर्मचारीवृन्द (Secretarial Staff) रखने का अधिकार है। लोकसभा के सचिवालय का प्रमुख एक सचिव (Secretary) होता है जो स्थायी पदाधिकारी होता है और अध्यक्ष की ओर से सदन के कार्य से सम्बन्धित प्रशासनिक तथा कार्यपालक (Executive) कर्तव्यों का पालन करता है। कई मामलों में वह सदन के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा साधारण सदस्यों का परामर्शदाता है। सरकार की संसदीय प्रणाली में संसद में प्रत्येक दल का संगठन होता है। उसके कई अधिकारी होते हैं जिन्हें सचेतक (Whips) कहा जाता है। ये दल के सदस्यों में से चुने जाते हैं। संसदीय लोकतंत्र का सुचारू रूप और बिना किसी बाधा के चलना सत्तारूढ़ दल तथा विरोधी दलों के सचेतकों पर निर्भर करता है।[1] लोकसभा में सरकारी दल का मुख्य सचेतक संसदीय-कार्यमंत्री होता है।

लोकसभा का अध्यक्ष

(Speaker of the House of the People)

भारत के लोकसभाध्यक्ष का पद प्रतिष्ठा, गौरव और गरिमा का है। लोकसभा के सभी अध्यक्षों ने अभी तक अपना निष्पक्षता और गरिमा को बनाए रखा है। अध्यक्ष राजनीतिक दल से जुड़ा होता है परन्तु अध्यक्ष चुने जाने के बाद दल की सदस्यता से त्याग पत्र दिये जाने के उदाहरण हैं। भारत में अध्यक्ष शासक दल से और उपाध्यक्ष विपक्ष से बनाये जाने की परम्परा विकसित की जा रही है। इसका उद्देश्य अध्यक्ष की निष्पक्षता को बनाये रखना है। लोकसभा अध्यक्ष अपनी शक्तियों और प्रभाव में ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स के अध्यक्ष से अधिक शक्तिशाली है। लोकसभा अध्यक्ष सभा की शक्तियों का प्रतीक है। लोकसभा का अध्यक्ष-पद जिसे 1947 से पहले सभापति कहा जाता था, 1921 से चला आ रहा है। जब मॉन्टेग्यू चैम्सफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत पहली केन्द्रीय विधानसभा बनी थी, उससे पहले विधान परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता गवर्नर जनरल किया करते थे।[2] स्वतन्त्र भारत के संविधान में अनुच्छेद 93 में लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की व्यवस्था है।

अध्यक्ष का निर्वाचन (Election of the Speaker)—निश्चित तिथि पर अध्यक्ष का निर्वाचन राष्ट्रपति के आदेश पर, लोकसभा के सदस्य करते हैं। इसके पूर्व प्रस्तावक, अनुमोदक तथा प्रत्याशी की सहमति के साथ नामांकन किया जाता है और निर्वाचन बहुमत के आधार पर होता है। बहुमत दल अर्थात् शासक दल की ओर से प्रधानमंत्री प्रस्तावक होते हैं। बहुमत का समर्थन प्राप्त व्यक्ति निर्वाचित घोषित हो जाता है। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय तथ्य है कि चाहे प्रत्याशी एक ही हो, प्रस्ताव विधिवत पारित होता है और निर्वाचन की घोषणा की जाती है। निर्वाचन के उपरान्त प्रधानमंत्री और मुख्य विरोधी दल के नेता मनोनीत अध्यक्ष के पास जाते हैं उसका अभिवादन करते हैं तथा उसे अध्यक्ष के आसन तक ले जाते हैं।

अध्यक्ष का कार्यकाल, उसकी पदमुक्ति, वेतन एवं भत्ते

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष लोकसभा के सदस्य रहने तक पद पर बने रहते हैं तत्पश्चात् उन्हें अपना पद रिक्त करना होता है किन्तु लोकसभा के विघटित हो जाने के बावजूद अध्यक्ष नवनिर्वाचित लोकसभा के प्रथम अधिवेशन तक अपने पद पर बने रहते हैं। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष अपने पदों से त्यागपत्र दे सकते हैं। ये लोकसभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से पारित किए गए एक प्रस्ताव द्वारा अपने पद से हटाए जा सकते हैं। प्रस्ताव तब तक प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है जब तक उसे प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम 14 दिन की पूर्व सूचना न दी गई हो। लोकसभा

---

1 कौल एवं शकधर पूर्वोक्त, पृ. 128-129
2. कौल एवं शकधर पूर्वोक्त, पृ. 72

को किसी बैठक में जब अध्यक्ष को हटाने के लिए प्रस्ताव विचाराधीन हो, तब अध्यक्ष और जब वह उपाध्यक्ष के विरुद्ध हो तो उपाध्यक्ष उपस्थित रहने पर भी बैठक की अध्यक्षता नहीं करेंगे। ऐसी बैठक की कार्यवाहियों में वह भाग ले कर अपना मत दे सकता है, किन्तु मत समान होने की दशा में उसे मत देने का अधिकार नहीं होगा। अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते दिए जाएंगे जिसे संसद विधि द्वारा नियत करे। जब तक कोई विधि पारित नहीं की जाती है, तब तक उसे वही वेतन और भत्ते दिए जाएंगे जो द्वितीय अनुसूची में उल्लेखित हैं।[1]

अध्यक्ष पद की गरिमा[2]

लोकसभा का औपचारिक प्रधान लोकसभा का अध्यक्ष है। अध्यक्ष निष्पक्षता का प्रतीक है और उस अपने प्राधिकार का प्रयोग निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह तटस्थता से करना चाहिए। निष्पक्ष रहने की जिम्मेदारी संविधान ने उस पर डाली है। मत-साम्य की अवस्था में उसका निर्णायक मत होगा और वह उसका प्रयोग करेगा। अध्यक्ष के कठिन कर्तव्यों के निर्वहन में उसे न्याय तथा औचित्य की भावना से प्रेरित होकर सभा को यह विश्वास दिलाना होता है कि वह स्वयं को सभा की अन्तरात्मा और रक्षक समझता है। सभा का प्रमुख वक्ता होने के नाते वह उसकी सामूहिक आवाज है और बाहर की दुनियाँ के लिए सभा का एकमात्र प्रतिनिधि। राष्ट्रपति से लोकसभा के नाम जो सन्देश आते हैं वे अध्यक्ष के माध्यम से आते हैं। वह उसे सभा को पढ़कर सुनाता है और उस सन्देश में उल्लिखित विषयों पर विचार के लिए अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में निर्देश देता है। राष्ट्रपति को जो सन्देश भेजे जाते हैं वे अध्यक्ष के माध्यम से भेजे जाते हैं। राज्यसभा के साथ सम्बन्धों की दृष्टि से अध्यक्ष लोकसभा का प्रतिनिधि होता है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम लोकसभाध्यक्ष जी. वी. मावलंकर थे। उनको इस पद पर रहते हुए असाधारण रूप से सम्मान प्राप्त हुआ।

अध्यक्ष की शक्तियाँ और कृत्य[3]

1. अध्यक्ष लोकसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है और उसके संचालन का नियन्त्रण करता है। सभा के सदस्य उसकी बात ध्यान से सुनते हैं और जब वह बोलने के लिए खड़ा होता है तो उसे सभी खामोशी से सुनते हैं। उस समय सदस्यों से आशा की जाती है कि वे सदन से उठकर नहीं जाएँ। अध्यक्ष के निर्णय पर आपत्ति नहीं की जा सकती। अध्यक्ष के निर्णयों को भविष्य में मार्गदर्शन के लिए एकत्र कर लिया जाता है।

2. लोकसभा का अध्यक्ष अन्तिम निर्णय देता है कि कोई विधेयक वित्त-विधेयक है अथवा नहीं। वित्त-विधेयक जब राज्यसभा को भेजा जाता है तो उसके साथ अध्यक्ष का प्रमाण पत्र होता है कि वह वित्त-विधेयक है। राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजे जाने वाले वित्त-विधेयक के साथ यही प्रमाण पत्र होता है।

3. दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है। बैठक के सम्बन्ध में प्रक्रिया-नियम उसके निर्देशों तथा आदेशों के अन्तर्गत लागू होते हैं, किन्तु लोकसभा की बैठक यदि अध्यक्ष को उसके पद से हटाने के किसी संकल्प पर विचार कर रही हो तो वह उस बैठक की अध्यक्षता नहीं कर सकता है। ऐसे विकल्प पर वह पहला मत दे सकता है, पर निर्णायक मत देने का उसे अधिकार नहीं रहता है।

4. लोकसभा की बैठक स्थगित करने या गणपूर्ति (कोरम) पूरा न होने की स्थिति में बैठक निलम्बित करने की शक्ति उसे प्राप्त है। वह किसी सदस्य को, जो हिन्दी या अंग्रेजी भली-भाँति नहीं बोल सकता, अपनी मातृ-भाषा में बोलने की अनुमति दे सकता है।

5. अध्यक्ष सभा की बैठक के प्रारम्भ और समाप्त होने का समय तथा दिन नियत करता है। वह सभा स्थगित करने के निश्चित समय से पहले उसे बुला सकता है और अनिश्चित काल के लिए सभा को स्थगित करने के बाद परन्तु सत्रावसान से पहले उसे बुला सकता है।

6. वह शासक पक्ष के नेता से परामर्श करके सरकारी कार्यों का क्रम निर्धारित करता है। निर्धारित कार्यक्रम में परिवर्तन के निश्चित एवं ठोस आधार ज्ञात होने पर वह उसमें संशोधन कर सकता है।

7. किसी विषय पर पक्ष एवं विपक्ष के मत बराबर हों तो वह निर्णायक मत देता है।

8. वह सदन में दलों तथा समूहों को मान्यता प्रदान करता है।

9. लोकसभा की गुप्त बैठकों की कार्यवाही का विवरण इस प्रकार किया जाए तथा ऐसे अवसरों पर क्या प्रक्रिया अपनाई जाए, इसके निर्णय का अधिकार लोकसभा अध्यक्ष को प्राप्त है।

---

1. वचनारायण पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृ. 302-303
2. कौल एवं शकधर : पूर्वोक्त, पृ. 103-105.
3. कौल एवं शकधर : पूर्वोक्त, पृ. 105-114.

10 वह लोकसभा में विचारार्थ प्रश्न प्रस्तावित कर, उस प्रश्न को सभा के निर्णय के लिए प्रस्तुत करता है तथा निर्णयों के परिणाम की घोषणा करता है। सदस्य जो व्यवस्था का प्रश्न उठाते हैं उन पर अन्तिम निर्णय देता है।

11 वह अपने विवेक से निर्णय लेता है कि प्रस्तावित विषय सदन में विचार करने योग्य है अथवा नहीं? मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध जो अविश्वास प्रस्ताव आते हैं उनके विषय में वह यह सुनिश्चित करता है कि वे नियमानुकूल हैं अथवा नहीं? अनुदानों के प्रश्न पर जो कटौती के प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते हैं उनके विषय में वह निर्णय देता है कि प्रस्ताव नियमानुसार है अथवा नहीं?

12. उसे अधिकार है कि वह विधेयकों तथा संकल्पों के सम्बन्ध में जो संशोधन रखे हुए हैं उनमें से किसी को सदन के विचारार्थ रखे अथवा नहीं।

13 वह याचिकाएँ प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करता है। वह सदन के नेता से परामर्श करके बजट आदि विधेयकों पर विचारार्थ तिथि एवं समय निर्धारित करता है। उसकी सहमति के बिना विशेषाधिकार भंग के विषय में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

14 वह संसद की समितियों के अध्यक्षों को मनोनीत कर उन्हें परामर्श देता है उनका मार्गदर्शन करता है तथा समितियों की कार्य-प्रणाली निर्धारित करता है। वह 'कार्य मन्त्रणा समिति, 'सामान्य प्रयोजनार्थ समिति' तथा नियम समिति का पदेन सभापति होता है जो उसके प्रत्यक्ष रूप से निर्देशन में कार्य करती हैं।

15 वह संविधान तथा नियमों की व्याख्या करता है। जो विचार वह अध्यक्ष पद से व्यक्त करता है उनके विषय में वह सार्वजनिक रूप से किसी विवाद में नहीं पड़ता। वह पारित विधेयक की प्रत्यक्ष अशुद्धियों को दूर कर, स्वीकृत संशोधनों के अनुसार उसमें परिवर्तन करने का अधिकार रखता है।

16 राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिए भेजने के पूर्व किसी पारित प्रस्ताव को वह प्रमाणित करता है।

17 अध्यक्ष का सचिवालय होता है जो उसके निर्देशन एवं नियन्त्रण में कार्य करता है। लोकसभा के कर्मचारियों उसके परिसर तथा सुरक्षा विषयक अधिकार उसे प्राप्त हैं। लोकसभा परिसर में सभी उसके आदेशों का पालन करने को बाध्य हैं।

18 लोकसभा का अध्यक्ष सदस्यों के अधिकारों की रक्षा तथा उसकी समुचित सुविधाओं की व्यवस्था करता है। उसकी अनुमति के बिना लोकसभा परिसर में किसी सदस्य को बन्दी नहीं बनाया जा सकता है। फौजदारी अथवा दीवानी कानूनों के अनुसार कोई आदेशिका सदस्य को उस समय तक नहीं दी जा सकती जब तक अध्यक्ष अनुमति न दे।

19 मन्त्रियों से जो प्रश्न पूछे जाते हैं वह उनकी ग्राह्यता का निर्णय करता है। मन्त्री द्वारा उत्तर न देने की स्थिति में अध्यक्ष उसे उत्तर देने का आदेश दे सकता है।

20 अध्यक्ष भारतीय संसदीय समूह का पदेन सभापति है जो कि भारत में अन्तर्संसदीय संघ के राष्ट्रीय समूह के रूप में और राष्ट्रमण्डल संसदीय संस्था की मुख्य शाखा के रूप में काम करता है। वह राज्यसभा के सभापति से परामर्श करके विदेशों को जाने वाले विभिन्न प्रतिनिधि-मण्डलों के लिए सदस्यों का नाम निर्देशित करता है। वह स्वयं इन प्रतिनिधि-मण्डलों का नेतृत्व करता है। अध्यक्ष भारत की विधायिनी संस्थाओं की अध्यक्षता करने वाले अधिकारियों के सम्मेलन का सभापति है। वह लोकसभा की अवधि समाप्त होने पर और महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के औपचारिक अवसरों पर भाषण देता है। नियमों के अन्तर्गत अध्यक्ष पारित विधेयक में व्याप्त प्रत्यक्ष गलतियों को शुद्ध कर सकता है तथा उसमें अन्य ऐसे परिवर्तन कर सकता है जो सदन द्वारा स्वीकृत संशोधनों के आनुषंगिक हों। विधेयक संसद द्वारा पास कर अध्यक्ष उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के लिए उस पर हस्ताक्षर करके उसे प्रमाणित करता है।

21 52वाँ दल-बदल विरोधी संविधान संशोधन अधिनियम 1985 ने लोकसभा के अध्यक्ष की भूमिका को शक्तिशाली बना दिया है। दल-बदल सम्बन्धी विवाद में यह यह व्यवस्था देता है कि दल का विधिवत रूप से विभाजन हुआ है अथवा नहीं? वह दल-बदल कानून के अन्तर्गत सदस्यों को सदन की सदस्यता के अयोग्य करार दे सकता है। दल-बदल विधेयक ने लोकसभाध्यक्ष की शक्तियों में विस्तार कर उसकी भूमिका को चुनौतीपूर्ण बना दिया है। यहाँ अध्यक्ष की निष्पक्षता पर उसकी साख और प्रतिष्ठा निर्भर करती है। अध्यक्ष को न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं।

हाउस ऑफ कामन्स के अध्यक्ष से तुलना

इग्लैण्ड में हाउस ऑफ कामन्स का अध्यक्ष एक बार अपने पद पर निर्वाचित होने के बाद दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे देता है। वह संसद में और सदन के बाहर पूर्णरूपेण निर्दलीय रूप में व्यवहार करता है। एक बार अध्यक्ष निर्वाचित होने के बाद वह बहुत लम्बी अवधि तक अपने पद पर बना रहता है। वह निर्विरोध रूप से निर्वाचित होता है। विपक्षी दल उसके विरुद्ध अपना प्रत्याशी खड़ा नहीं करते हैं तथा उसके निर्वाचन क्षेत्र में कार्यों का सम्पादन करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सदन में सत्तारूढ़ और विपक्षी दल और उसके गौरव और प्रतिष्ठा को बनाये रखने

निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ—संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्य विधान-मण्डलों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचक-मण्डल की रचना करते हैं। इस सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा की शक्तियाँ समान हैं। संयुक्त अधिवेशन में समवेत संसद के दोनों सदनों के सदस्यों द्वारा उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाता है। लोकसभा अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है। राज्यसभा अपने उपसभापति का निर्वाचन करती है।

प्रशासकीय शक्तियाँ—संसद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। राज्यसभा का देश की कार्यपालिका पर वास्तविक नियन्त्रण नहीं है। उत्तरदायित्व का अभिप्राय है कि लोकसभा की विश्वासपात्र बने रहने तक सत्तारूढ़ रहेगी। लोकसभा का दायित्व है कि वह शासन के विभिन्न क्रिया-कलापों पर दृष्टि रखे। लोकसभा के पास नियन्त्रण के कई उपाय हैं, जैसे शासन के विभिन्न कार्यों की सूचना माँगना, शासन कार्यों की आलोचना करना, मन्त्रियों से प्रश्न पूछना, सार्वजनिक महत्व के विषय में आँकड़े माँगना, संसदीय समितियों के माध्यम से कार्यपालिका से विभिन्न सूचनाएँ प्राप्त करना आदि। यद्यपि राज्यसभा कार्यपालिका से प्रश्नों के उत्तर माँगती है कार्यपालिका की आलोचना करती है और लोकसभा के समान स्थगन प्रस्ताव का अधिकार रखती है तथा ऐसा प्रस्ताव पास कर सकती है कि जिसमें आग्रह किया हो कि शासन को विशेष प्रकार की नीति पर चलना चाहिए।

सांविधानिक शक्तियाँ—संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति से संविधान में संशोधन हो सकता है। संशोधन विधेयक किसी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है पर यह आवश्यक है कि संसद के प्रत्येक सदन में सम्पूर्ण सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 (दो-तिहाई) मतदान से यह संशोधन विधेयक पारित हो तथा राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे। संविधान में कुछ ऐसे विषय रखे गये हैं जिनमें संशोधन करने से पूर्व राज्य विधान-मण्डलों की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं है और अकेले संसद संशोधित कर सकती है। संविधान (चौबीसवें संशोधन) अधिनियम, 1971 के द्वारा केशवानन्द भारती वाले मुकदमे में उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसार संसद को मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भाग में अनुच्छेद 368 के अनुसार संशोधन करने का पूर्ण अधिकार है लेकिन वह संविधान के मूलभूत या आधारभूत ढाँचे में परिवर्तन नहीं कर सकती है।

दोनों सदनों के परस्पर सम्बन्ध

(Mutual Relations of Both the Houses)

विधायी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए लोकसभा और राज्यसभा का मिल-जुलकर कार्य करना आवश्यक है किन्तु निम्नलिखित मामलों में राज्यसभा की अपेक्षा लोकसभा को श्रेष्ठता प्रदान की गई है—

1 प्रत्येक मंत्री अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से और मन्त्रि-परिषद के निर्णय के लिए सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी है जो यथार्थ में लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। संसद में उठाए गए शासन सम्बन्धी प्रश्नों के विषय में पूर्ण विवरण प्राप्त करने का राज्यसभा को अधिकार है परन्तु तत्कालीन सरकार के विरुद्ध निन्दा प्रस्ताव (Censure Motion) पारित करने का अधिकार राज्य सभा को नहीं है। संसद के विश्वास का तात्पर्य लोकसभा के विश्वास से है कार्यपालिका का उत्तरदायित्व इस प्रकार लोकसभा के प्रति है। इस सिद्धान्त का आधार लोकसभा का भारतीय जनता पर आधारित होना है।[1] लोकसभा द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पास होने पर सरकार को त्याग-पत्र देना पड़ता है। राज्यसभा को सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

2 वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में राज्यसभा की सत्ता नगण्य है। प्रत्येक वित्त विधेयक की पुनर्स्थापना (Introduction) लोकसभा में ही हो सकती है किन्तु संविधान द्वारा वित्त विधेयक के सम्बन्ध में जो प्रक्रिया निर्धारित की गई है उसमें राज्यसभा को जाँच करने की रोक नहीं लगाई गई उसे परामर्श देने का अधिकार प्राप्त है। लोकसभा द्वारा पारित प्रत्येक वित्त विधेयक राज्यसभा को प्रेषित किया जाता है। इसे प्राप्ति के चौदह दिन के भीतर राज्यसभा उसके सम्बन्ध में उचित निर्णय कर सकती है। यदि वह उसे पारित कर दे तो विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। यदि इस विधेयक को राज्यसभा अस्वीकृत करे अथवा संशोधित कर दे तो वह लोकसभा के पास वापस भेज दिया जाता है जहाँ उस पर पुनः विचार किया जाता है और साधारण बहुमत द्वारा पारित कर उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। वित्तीय मामलों में राज्यसभा का कार्य परामर्श देने तक सीमित है तथा अन्तिम निर्णय लोकसभा लेती है।

3 अन्य विधायी कार्यों में जिनमें सांविधानिक संशोधन सम्मिलित हैं राज्यसभा की सत्ता लोकसभा के बराबर है। विधेयक की पुनःस्थापना लोकसभा या राज्यसभा में हो सकती है। लोकसभा द्वारा पारित विधेयक राज्यसभा द्वारा रद्द या संशोधित किया जा सकता है। यदि दोनों सदनों के मध्य गतिरोध उत्पन्न हो जाये तो इसका निर्णय दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में बहुमत द्वारा किया जाता है।

1 एम वी पायली पूर्वोक्त, पृ 189

4. आवश्यकतानुसार संसद के दोनों सदनों को एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है जिसके अन्तर्गत एक सदन लिखित सन्देश दूसरे सदन को भेजता है। सम्पर्क के अन्य तरीके हैं सदनों की संयुक्त समितियों की बैठकों और दोनों सदनों की बैठकें।[1]

5. भारतीय राज्यसभा न अमेरिका की सीनेट के समान निम्न सदन से श्रेष्ठ है, न आस्ट्रेलिया की सीनेट के समान शक्तियाँ रखती है, परन्तु यह कनाडा की सीनेट से शक्तिशाली है। कुछ मामलों में संविधान लोकसभा को राज्यसभा की अपेक्षा वरीयता प्रदान करता है, किन्तु प्रत्येक स्थिति में नहीं। संविधान के संशोधन के लिए राज्यसभा को समानाधिकार प्राप्त है। यह विशेष महत्व का विषय है, क्योंकि इसका तात्पर्य है कि राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में राज्यसभा की सम्मति के बिना संविधान में संशोधन नहीं किया जा सकता है। इस उपबन्ध से स्पष्ट है कि संविधान-निर्माता राज्यसभा को महत्वपूर्ण कार्य सौंपना चाहते थे। उदाहरणार्थ जनता सरकार ने संविधान का जो 44वाँ संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया उसमें मूलरूप में 54 खण्ड थे। लोकसभा ने जिस मूल संशोधन विधेयक को पारित करके राज्यसभा में भेजा वहाँ कांग्रेस पार्टी के बहुमत ने पाँच खण्डों को स्वीकार नहीं किया और फलस्वरूप 44वाँ संशोधन विधेयक 49 खण्डों का ही पारित हुआ। संविधान के महत्वपूर्ण पहलुओं में संशोधन करने के सम्बन्ध में अनुच्छेद 368 में जनमत-संग्रह की व्यवस्था करने, दूसरे विषयों के लिए उच्च न्यायालय के स्थान पर प्रशासनिक न्यायाधिकरण और न्यायाधिकरण से सम्बन्धित भाग 14-ए को निकालने, मूलाधिकारों को राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के ऊपर रखने के 42वें संविधान संशोधन अधिनियम के पूर्व की स्थिति को बहाल करने के लिए अनुच्छेद 31-सी में संशोधन करने, प्रस्तावना में उल्लिखित 'धर्मनिरपेक्ष' और समाजवादी शब्दों के महत्व की व्याख्या के लिए अनुच्छेद 366 में संशोधन करने तथा शिक्षा को पुनः राज्य सूची में शामिल कर देने सम्बन्धी प्रस्तावों को राज्यसभा द्वारा अस्वीकार कर दिया गया तथा राज्यसभा द्वारा अनुमोदित विधेयक को लोकसभा ने फिर स्वीकृति प्रदान की। इससे राज्यसभा की शक्तिशाली भूमिका प्रकट हुई।

6. राज्यों की प्रतिनिधि संस्था होने के नाते राज्यसभा को संविधान के अन्तर्गत ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं हैं। अनुच्छेद 249 के अन्तर्गत यह सदन में उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत तथा कुल सदस्यता के पूर्ण बहुमत द्वारा यह घोषित कर सकता है कि राष्ट्र के हित में यह आवश्यक है कि संसद राज्य सूची (State List) में दिए गये किसी विषय पर जो कि उक्त प्रस्ताव (Resolution) में बताया गया है, विधि निर्माण करे। उक्त प्रस्ताव के पारित होने पर संसद के लिए उस विषय पर भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए एक वर्ष तक की अवधि के लिए विधि निर्माण किया जा सकता है।

7. राज्यसभा का दूसरा अधिकार राष्ट्रहित के लिए अखिल भारतीय सेवाएँ (All India Services) स्थापित करने से सम्बद्ध है। इस प्रस्ताव को उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत तथा कुल सदस्यता के पूर्ण बहुमत से पारित किया जा सकता है। लोकसभा दोनों स्थितियों में तभी कार्य कर सकती है जब पहले राज्यसभा संकल्प द्वारा उसे कार्य करने की शक्ति प्रदान करे। यह शक्ति लोकसभा को प्राप्त नहीं है।

8. सरकारी कार्य के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ संविधान ने संसद के दोनों सदनों को समानता का दर्जा दिया है यथा—(i) राष्ट्रपति के निर्वाचन और उस पर महाभियोग के सम्बन्ध में दोनों सदनों के समान अधिकार, (ii) उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन के मामले में समान अधिकार, (iii) संसदीय विशेषाधिकार को परिभाषित करने और अपमान के लिए दण्ड देने के मामलों में समान अधिकार, (iv) आपातकाल की उद्घोषणा (अनुच्छेद 355 के अन्तर्गत) और राज्यों में सांविधानिक तन्त्र के विफल होने पर (अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत) उद्घोषणाओं का अनुमोदन करने के मामले में लोकसभा के समान अधिकार एवं कुछ मामलों में एकाधिकार एवं (v) विभिन्न सांविधानिक अधिकारियों से प्रतिवेदन और पत्र प्राप्त करने का लोकसभा के समान अधिकार यथा—(क) वार्षिक वित्तीय विवरण, (ख) भारत के नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक से लेखा प्रतिवेदन, (ग) संघ लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदन, (घ) अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के विशेष पदाधिकारी के प्रतिवेदन, (ङ) पिछड़े वर्गों के आयोग का प्रतिवेदन की जाँच एवं (च) भाषायी अल्पसंख्यकों के विशेष पदाधिकारी का प्रतिवेदन।[2]

9. संविधान के अन्तर्गत मन्त्रियों के चयन में दोनों सदनों में कोई भेद नहीं किया गया है और कुछ मन्त्री राज्यसभा के लिए जाते हैं। श्रीमती इन्दिरा गाँधी सर्वप्रथम प्रधानमन्त्री राज्यसभा से थी। संसदीय लोकतन्त्र के अन्तर्गत संसद का कोई सदन जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं से अप्रभावित नहीं रह सकता और राज्यसभा के प्रतिवेदनों से यह प्रतीत होता है कि इसने लोकमत के प्रति पर्याप्त जागरुकता प्रदर्शित की है। राज्यसभा में उच्च-कोटि के सांसदों ने अपनी प्रेरणास्पद उपस्थिति से इस सदन को गरिमा प्रदान कर अपने आचरण से भारतीय जनमानस को प्रभावित किया है।

1 कोल एवं शक्धर : पूर्वोक्त, पृ. 38.
2. महेन्द्र बनर्जी : भारतीय संविधान में राज्यसभा का स्थान, संसदीय पत्रिका, जनवरी-मार्च, 1967, पृ. 9-10.

राज्यसभा की तुलना अमेरिकी सीनेट या ब्रिटिश हाउस ऑफ लॉर्ड्स से की जा सकती है, किन्तु अपनी शक्तियों और अपने स्थान की दृष्टि से यह इन दोनों से भिन्न है। व्यवहार में राज्यसभा न अमेरिकी सीनेट जितनी शक्तिशाली है और न ब्रिटिश हाउस ऑफ लार्ड्स जितनी प्रभावहीन। उदाहरणार्थ राज्यसभा को वित्त विधेयक के सम्बन्ध में कम शक्तियाँ प्राप्त हैं जबकि अन्य मामलों में इसकी विधायी शक्तियाँ उच्च सदन के समान हैं। वित्तीय मामलों के अतिरिक्त अन्य सभी मामलों पर राज्यसभा में विधेयक लाए जा सकते हैं और दोनों सदनों के मतभेद हो जाने पर किसी प्रश्न विशेष पर निर्णय करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त सभा की व्यवस्था है। लोकसभा राज्यसभा की उपेक्षा नहीं कर सकती। सांविधानिक उपबन्ध के अन्तर्गत राज्यसभा महत्वपूर्ण परामर्श देती है। यह ठोस संस्था है जो स्थायी होने के कारण विचार एवं कार्यों में स्थिरता तथा निरन्तरता ला सकती है।

भारतीय संसद की सर्वोच्चता

(Supremacy of the Indian Parliament)

संविधान निर्माताओं के सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न था कि संसद की स्थिति के विषय में ब्रिटेन की व्यवस्था को अपनाते हुए उसे पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था बनाए जाए या अमेरिका की व्यवस्था को अपनाते हुए एक सीमित शक्तियों वाली संस्था बनाए जाए। वे ब्रिटेन में प्रचलित संसद की सर्वोच्चता के आदर्श को अपनाना चाहते थे, किन्तु संघीय व्यवस्था, लिखित संविधान तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था आदि के कारण संसद की शक्ति को ब्रिटेन की तरह सर्वोच्च नहीं बनाया जा सकता था तथा इन विषयों से सम्बन्धित संसद की विधियों के लिए न्यायिक पुनर्विलोकन (*Judicial Review*) की व्यवस्था का रखा जाना अत्यावश्यक था अतः भारतीय संविधान के निर्माताओं ने राज्यों के विधान-मण्डलों की तुलना में संसद को अधिक शक्तियाँ प्रदान करके, उसे एक शक्ति-सम्पन्न संस्था के रूप में प्रतिष्ठित अवश्य किया, परन्तु उसकी विधि-निर्माण की शक्ति पर न्यायिक पुनर्विलोकन का अंकुश रखा। यद्यपि न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था उस प्रकार असीमित नहीं रखी जिस प्रकार यह अमेरिकी की सांविधानिक व्यवस्था में है। दुर्गादास के अनुसार भारतीय संविधान में अमेरिका की न्यायिक सर्वोच्चता की व्यवस्था एवं संसदीय सम्प्रभुता ने इंग्लैण्ड के सिद्धान्तों के मध्य मार्ग को अपनाया गया है।

भारतीय संसद की सर्वोच्चता के पक्ष में तर्क

1. संसद संघ सूची एवं समवर्ती सूची पर कानून बना सकती है। किसी राज्य की प्रार्थना पर उस राज्य के लिए राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने में वह सक्षम है। राज्यसभा 2/3 के बहुमत से ऐसे विषय को जो राज्य सूची में है *राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है। तत्पश्चात संसद को उस विषय पर कानून* बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।
2. भारत की संसद जनता का प्रतिनिधित्व करती है और लोकतन्त्र में जनता सर्वोपरि है।
3. भारत के राष्ट्रपति को व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। आपातकाल की स्थिति में देश में शासन का स्वरूप एकात्मक हो जाता है और उसे शासन की समस्त शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह मौलिक अधिकारों को निलम्बित कर सकता है। इन अधिकारों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल करता है जो संसद के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल तब तक पदासीन रह सकता है जब तक उसे संसद का विश्वास प्राप्त है अतः संसद का कार्यपालिका पर पूर्ण नियन्त्रण है।
4. संविधान में संशोधन करने में संसद पूर्णतः सक्षम है।
5. संसद संविधान के 9वें परिशिष्ट में उल्लिखित किसी विषय को सम्मिलित करके उसे न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र से पृथक् करने में सक्षम है।

संसद की सर्वोच्चता पर सीमाएँ

1. जिस देश में लिखित संविधान होता है वहाँ शासन के अंगों की रचना, उसका कार्य एवं शक्तियाँ संविधान के अनुसार सम्पन्न होती हैं और संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का उल्लंघन संसद नहीं कर सकती है।
2. भारतीय संसद संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करती है। वह राज्य के *कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर* सकती है। *आपातकाल में स्थिति भिन्न हो* सकती है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन सामान्य स्थिति के आधार पर किया जाता है।
3. भारतीय संविधान ने नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए हैं जिनकी प्रकृति निषेधात्मक है अतः राज्य नागरिक के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इन अधिकारों में सांवैधानिक उपचारों की व्यवस्था है। संसद द्वारा अपने अधिकारों को सीमित किये जाने पर नागरिक न्यायपालिका की शरण में जा सकते हैं।

संसदीय समितियाँ

(Parliamentary Committees)

भारतीय संसद् विशेषकर लोकसभा अपना कार्य-संचालन करने के लिए समितियों का प्रयोग करती है। विभिन्न विधेयकों पर विचार-विमर्श करने वाली समितियाँ विधेयकों पर विस्तृत वाद विवाद करती हैं। वे सभी प्रकार के रिकार्डों एवं गवाहों को माँग सकती है और आवश्यक छान-बीन करती हैं। उनकी बैठकों की कार्यवाही गुप्त रहती है। वे अपने विचाराधीन विधेयकों पर अपनी रिपोर्ट निश्चित अवधि के भीतर तैयार करती हैं जिस पर बाद में सदन द्वारा विचार किया जाता है।

भारतीय लोकसभा में समितियों के सदस्य सदन द्वारा निर्वाचित होते हैं या अध्यक्ष द्वारा मनोनीत होते हैं। किसी सदस्य का नाम किसी समिति में प्रस्तुत करने से पूर्व उस सदस्य की स्वीकृति ली जाती है। किसी समिति की कार्यवाही के लिए एक तिहाई सदस्यों की अनुमति आवश्यक है। समस्त प्रश्नों पर उपस्थित सदस्यों के बहुमत से निर्णय लिये जाते हैं। बराबर मत आने पर समिति के अध्यक्ष को निर्णायक मत (Casting Vote) देने का अधिकार होता है। समिति की बैठकें संसद-भवन की सीमा के अन्तर्गत होती हैं। लोकसभाध्यक्ष या स्पीकर किसी समिति को उसकी प्रक्रिया में निर्देश दे सकता है। संसद अपने विधेयकों पर रिपोर्ट प्रवर समितियों (Select Committees) अथवा संयुक्त प्रवर समितियों द्वारा प्राप्त करती है। प्रवर समिति विशेष विधेयक हेतु बनाई जाती है और रिपोर्ट देने के बाद उसका अन्त हो जाता है। ऐसी समिति के निर्माण का प्रस्ताव, उसके सदस्यों की संख्या और उसकी गणपूर्ति का निर्णय प्रस्तावक पर सदन करता है। विधेयक के प्रस्तावक (Mover) और कानून-मन्त्री ऐसी समिति के सदस्य अवश्य होते हैं। प्रवर समितियों के सभापतियों की नियुक्ति सदन का अध्यक्ष करता है।

लोकसभा समितियाँ

लोकसभा में समितियों की सगठित व्यवस्था है। समितियों की नियुक्ति, कार्यकाल, कृत्य तथा समिति का कार्य चलाने के लिए प्रक्रिया की मुख्य दिशाओं का विनियमन नियमों के उपबन्धों के अन्तर्गत और उन नियमों के उद्देश्य अध्यक्ष द्वारा जारी किए गए निर्देशों के अनुसार किया जाता है। संसदीय समितियों के तीन नियम हैं—'सामान्य नियम' जो समितियों पर लागू होते हैं, 'विशिष्ट नियम' जिनमें विशेष समितियों के लिए विशेष उपबन्ध किए गए हैं और 'आन्तरिक नियम' जिनके माध्यम से प्रत्येक संसदीय समिति की आन्तरिक प्रक्रिया का विनियमन किया जाता है। पहले दो प्रकार के नियम प्रक्रिया नियमों तथा अध्यक्ष द्वारा जारी किए गए निर्देशों में दिए गए हैं। 'आन्तरिक नियम' सम्बद्ध समितियों द्वारा अध्यक्ष के अनुमोदन से बनाए जाते हैं और वे कार्य करने की विस्तृत प्रक्रिया से सम्बन्धित होते हैं। इन्हें नियमों द्वारा 'निर्देशों' के उपबन्धों के अनुसार बनाया जाता है।[1]

मुख्य वर्गीकरण—लोकसभा की समितियों को मुख्य रूप से निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है[2]— (अ) स्थायी समितियाँ (ब) तदर्थ समितियाँ (स) नवीन विभागीय स्थाई समितियाँ।

(अ) स्थायी समितियों को निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटा जा सकता है—

(i) जाँच करने वाली समितियाँ (उदाहरणार्थ, याचिका समिति और विशेषकर समिति),

(ii) संवीक्षा करने वाली समितियाँ (उदाहरणार्थ सरकारी आश्वासनों सम्बन्धी समिति और अधीनस्थ विधान समिति),

(iii) सभा के दिन-प्रतिदिन के कार्य सम्बन्धी समितियाँ (उदाहरण के लिए सभा की बैठकों से सदस्यों की अनुपस्थिति समिति, कार्य-मत्रणा समिति, गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयकों तथा सकल्पों सम्बन्धी समिति और नियम समिति),

(iv) सदस्यों को सुविधाएँ दिलाने वाली समितियाँ (उदाहरण के लिए सामान्य प्रयोजन समिति, आवास समिति और पुस्तकालय समिति),

(v) सरकारी वित्तीय तथा प्रशासनिक शक्तियों पर नियन्त्रण करने वाली समितियाँ (उदाहरण के लिए प्राक्कलन समिति, लोक लेखा समिति और सरकारी उपक्रम समिति)।

इन समितियों का गठन नियमों के अनुसार किया जाता है और प्रत्येक समिति के निर्धारित कार्यकाल के अनुसार यथास्थिति, प्रतिवर्ष या कालान्तर में पुनर्गठित की जाती हैं।

(ब) तदर्थ समितियों को दो शीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वे तदर्थ समितियाँ हैं, जो लोकसभा द्वारा प्रस्ताव पास कर या अध्यक्ष द्वारा बनाई जाती हैं जिससे कि वे विशेष विषयों की जाँच करके अपनी रिपोर्ट दे सकें।

1-2 कौल एवं शकधर, पूर्वोक्त, पृ. 606

समिति के सदस्यों के रूप में अपने सदस्यों का नाम निर्देशित करते समय यह ध्यान रखें कि जहाँ तक सम्भव हो एक-तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष निवृत्त हो जाएँ और दो-तिहाई समिति के सदस्य फिर चुने जाएँ, परन्तु जो सदस्य निवृत्त हो जाते हैं, उनका एक वर्ष बाद फिर नाम निर्देशित किया जा सकता है। किसी मन्त्री को समिति का सदस्य नहीं चुना जाता। इसके अतिरिक्त, यदि कोई सदस्य समिति का सदस्य चुने जाने के बाद मन्त्री नियुक्त हो जाए तो वह मन्त्री नियुक्त होने की तिथि से समिति का सदस्य नहीं रहता।[1]

सभापति—समिति के सभापति की नियुक्ति अध्यक्ष द्वारा समिति के सदस्यों में से की जाती है। वह संसदीय समितियों के सभापतियों के साथ-साथ दूसरे काम करता है, जिनका सम्बन्ध समिति के काम से है। इस बात का निर्णय सभापति करता है कि कोई विशेष दस्तावेज या जानकारी सरकार से माँगी जानी चाहिए या नहीं और ऐसी जानकारी या दस्तावेज समिति के सभी सदस्यों को उपलब्ध कराई जानी चाहिए या नहीं। सभापति यह निर्णय करता है कि बजट में 'भारित' मदों के वर्गीकरण से सम्बन्धित मामलों की समिति द्वारा जाँच की जानी आवश्यक है या नहीं। यदि आवश्यक हो तो वह विशेष मामलों के सम्बन्ध में मन्त्रियों या मन्त्रालय के प्रतिनिधियों के साथ अनौपचारिक बातचीत करता है।

शक्तियाँ एवं कार्य[2]—समिति ऐसे प्राक्कलनों की जाँच करती है जो सभा या अध्यक्ष द्वारा विशेष जाँच के लिए सौंपे गए हों, जिससे कि

(i) यह रिपोर्ट दी जा सके कि प्राक्कलनों में निहित नीति के अनुरूप क्या बचत की जा सकती है तथा संगठन, कार्यकुशलता या प्रशासनिक व्यवस्था में और क्या सुधार किए जा सकते हैं,

(ii) प्रशासन में कार्यकुशलता तथा बचत लाने के लिए वैकल्पिक नीतियों का सुझाव दिया जा सके,

(iii) यह पता लगाया जा सके कि प्राक्कलनों में निहित नीति की सीमाओं में रहते हुए सारी धनराशियों का उपयोग ठीक ढंग से किया गया है या नहीं और

(iv) यह सुझाव दिया जा सके कि प्राक्कलनों को किस रूप में संसद के समक्ष पेश किया जाना चाहिए।

समिति प्रत्येक वर्ष अपने कार्यकाल के प्रारम्भ में, किसी मन्त्रालय या सरकारी उपक्रमों के प्राक्कलनों के किसी अंश से सम्बन्धित विषय अगले वर्ष जाँच के लिए चुन लेती है जो सरकारी उपक्रमों सम्बन्धी समिति को उस वर्ष न सौंपे गए हों। जाँच के लिए प्राक्कलनों का चुनाव इस सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है कि सभी मन्त्रालयों के महत्वपूर्ण प्राक्कलन, प्रत्येक लोकसभा की अवधि में कम से कम एक बार समिति के सामने आ जाएँ। समिति चाहे तो भारत की संचित निधि पर भारित व्यय का ब्यौरा माँग सकती है और इसकी जाँच कर सकती है कि 'भारित' और 'मंजूर' की जाने वाली खर्च की मदों का वर्गीकरण संविधान तथा संसद के अधिनियमों के उपबन्ध के अनुसार किया गया है या नहीं। वित्त मन्त्रालय समिति को उन निर्णयों की सूचना देता है जो सरकार समय-समय पर खर्च की किसी 'भारित मद' को पहली बार बजट में सम्मिलित करने के सम्बन्ध में करे या जब तक खर्च की किसी मद को 'भारित' की श्रेणी से निकाल कर 'मंजूर' खर्च की श्रेणी में डाले या किसी 'मंजूर' होने वाले खर्च को 'भारित' मदों की श्रेणी में डाल दे।

विशेष रुचि के उन मामलों की समिति जाँच करती है जिनका सम्बन्ध यद्यपि विशेष प्राक्कलनों से नहीं होता, परन्तु समिति यह समझती है कि उनकी ओर सरकार का ध्यान दिलाना चाहिए। जब समिति विषयों का चुनाव कर लेती है तो सम्बद्ध मन्त्रालय से कहा जाता है कि वह अपने संगठन, व्यवस्था, कार्यकलाप, प्राक्कलनों सम्बन्धी ब्यौरे निहित प्रपत्र में जानकारी दें। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का अध्ययन करने के बाद सदस्य अपने सुझाव भेजते हैं, जिनके सम्बन्ध में कोई और जानकारी चाहिए। ये सुझाव एक प्रश्नावली के रूप में संकलित कर दिए जाते हैं और उन पर समिति, उप-समिति या अध्ययन दल विचार करता है। सभापति द्वारा उसका अनुमोदन होने के बाद उसे उत्तर हेतु मन्त्रालय के पास भेजा जाता है। समिति की जाँच का मूल उद्देश्य यह है कि प्रशासन में मितव्ययिता और कार्यकुशलता व्याप्त हो तथा प्राक्कलनों में निहित नीति की सीमाओं में रहते हुए धनराशियों का उचित ढंग से उपयोग किया जा सके। समिति संसद द्वारा अनुमोदित नीति की जाँच नहीं करती, किन्तु किसी अवांछनीय नीति पर धन व्यय होने की स्थिति में समिति का यह कर्तव्य है कि वह सभा का ध्यान इस ओर दिलाए कि नीति में परिवर्तन करना वांछनीय होगा। समिति को इसका अधिकार प्राप्त है कि वह संसद द्वारा अनुमोदित नीतियों से अलग कोई निर्धारित नीतियाँ नहीं हो। समिति ने कई बार प्रशासन में कार्यकुशलता और मितव्ययिता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियों का सुझाव दिया है।

महत्व—प्राक्कलन समिति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह सरकार को अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। समिति स्वेच्छा से सरकार के किसी विभाग को परीक्षा के लिए चुन लेती है। इस समिति के निर्माण में कुछ त्रुटियाँ होने के कारण वह अपने कार्य को अधिक सुन्दरता से नहीं कर पाती है। समिति को सौंपा जाने वाला कार्य विशेषज्ञों का कार्य ***(Expert's Job)*** होता है, लेकिन इस समिति के

1-2. कौल एवं शकधर : पूर्वोक्त, पृ. 817-824

सदस्य विशेषज्ञ नहीं होते और अपने कार्य में विशेष अनुभव प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि सदस्यों का निर्वाचन प्रतिवर्ष होता है। इस समिति को किसी विशेषज्ञ जैसे कम्पट्रोलर तथा आडिटर जनरल की सहायता नहीं मिलती। यदि इन कमियों को दूर कर दिया जाए तो समिति की कार्य-क्षमता में निश्चित ही और अधिक वृद्धि हो सकती है।

6. **लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)**—लोक लेखा समिति प्राक्कलन समिति के भाई के समान है। प्राक्कलन समिति प्राक्कलन (Estimates) का परीक्षण करती है तो लोक लेखा समिति सार्वजनिक धन के व्यय का निरीक्षण करती है। इस समिति के महत्व के सम्बन्ध में कौल एवं शकधर ने लिखा है—"लोक लेखा समिति करदाताओं की राशि के खर्चे की मंजूरी देने के बाद करदाताओं के हित में आशा करती है कि उचित समय पर ब्यौरेवार हिसाब कर दिया जाए कि यह धन किस प्रकार खर्च किया गया है। लोकसभा को अपना समाधान करना पड़ता है कि उसने जिन धनराशियों के खर्चे की मंजूरी दी थी, वे उन्हीं प्रयोजनों के लिए खर्च हुई हैं और मितव्ययिता तथा विवेकशीलता से खर्च हुई या नहीं, जिनके लिए मंजूरी दी गई थी। नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक सरकार के वार्षिक लेखों की पड़ताल करता है और पड़ताल के बाद लेखों का प्रमाण-पत्र देता है। वह अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को देता है जो उन्हें संसद के सामने रखवा देते हैं। लोकसभा के लिए इन लेखों की जाँच करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, क्योंकि ये बड़े जटिल और तकनीकी ढंग के होते हैं और विस्तृत जाँच के लिए समय नहीं है इसलिए लोकसभा ने यह समिति बनाई है, जिसे लोक लेखा समिति कहा जाता है। इन लेखों की ब्यौरेवार जाँच का काम लोक लेखा समिति को सौंपा गया है।"

संरचना—समिति में संसद के अधिकतम 22 सदस्य होते हैं जिनमें 15 लोकसभा और 7 राज्यसभा से लिए जाते हैं। सदस्यों का चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार 1 वर्ष की अवधि के लिए होता है। कोई मंत्री समिति का सदस्य नहीं चुना जाता है और यदि कोई सदस्य समिति का सदस्य निर्वाचित होने के बाद मंत्री हो जाता है तो उस नियुक्ति की तिथि से वह समिति का सदस्य नहीं रहता है। सामान्यतया समिति प्रत्येक वर्ष मई में बनाई जाती है और उसका कार्यकाल अगले वर्ष 30 अप्रैल को समाप्त हो जाता है। समिति में होने वाली आकस्मिक रिक्तियों की पूर्ति सम्बन्धित सभा में प्रस्ताव पास करके की जाती है। लोकसभा में यह प्रस्ताव समिति के सभापति द्वारा रखा जाता है और राज्यसभा में उसके किसी ऐसे सदस्य द्वारा जो समिति का सदस्य हो। आकस्मिक रिक्तियों की पूर्ति करने के लिए चुने हुए सदस्य समिति के बाकी कार्यकाल में कार्य करते हैं। जब समिति का कोई राज्यसभा का सदस्य, संविधान के उपबन्धों के अन्तर्गत, राज्यसभा की सेवा से निवृत्त होता है तो उस सेवा-निवृत्ति के कारण समिति में हुई रिक्तता की पूर्ति उस सभा के किसी अन्य सदस्य का नाम निर्देशित करके की जाती है। ऐसे मामलों में लोकसभा में एक प्रस्ताव रखा जाता है, जिसमें राज्यसभा से सिफारिश की जाती है कि वह राज्यसभा के किसी अन्य सदस्य का नाम निर्देशित करना स्वीकार कर ले, जिसे समिति के शेष कार्यकाल में समिति में सम्मिलित किया जाए। उस सभा द्वारा नियुक्त सदस्य के नाम की सूचना लोकसभा को दी जाती है। राज्यसभा की सेवा से निवृत्त होने के बाद चुन लिए जाने पर वह पुनः समिति का सदस्य बनाया जा सकता है। समिति का सभापति अध्यक्ष द्वारा समिति के सदस्यों में से नियुक्त किया जाता है। उसके पद का कार्यकाल समिति की तरह एक ही वर्ष का होता है।

शक्तियाँ एवं कृत्य (Powers and Functions)—लोकसभा की प्रक्रिया नियम 24(1) के अनुसार, "यह समिति भारत सरकार के व्यय के लिए लोकसभा द्वारा अनुदत्त राशियों का विनियोग दिखाने वाले लेखों, भारत सरकार के वार्षिक वित्तीय लेखों और लोकसभा के सामने रखे गये ऐसे अन्य लेखों की जाँच करती है।" भारत सरकार के विनियोग लेखे और इनमें नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) के प्रतिवेदन की छानबीन करते समय लोक लेखा समिति का यह कर्त्तव्य होगा कि वह अपना समाधान कर दे कि—(क) लेखों में व्यय के रूप में दिखाया गया धन उन सेवा प्रयोजनों के लिए विधिवत उपलब्ध और लगाए जाने योग्य था जिनमें वह लगाया गया है या भारित किया गया है। (ख) व्यय उस प्राधिकार के अनुसार है जिसके वह अधीन है। (ग) पुनर्विनियोग सक्षम अधिकारी द्वारा निर्मित नियमों के अन्तर्गत एवं किए गए उपबन्धों के अनुसार किया गया है। (घ) राज्य निगमों, व्यापार तथा निर्माण-योजनाओं और परियोजनाओं की आय तथा व्यय दिखाने वाले लेखा-विवरणों की तथा सन्तुलन पत्रों (Balance Sheets) अर्थात् लाभ-हानि के लेखों के ऐसे विवरणों की जाँच करना, जिन्हें तैयार करने की राष्ट्रपति ने अपेक्षा की हो जो किसी खास निगम, व्यापार संस्था परियोजना के लिए वित्त व्यवस्था नियमित करने वाले संविहित नियमों के उपबन्धों के अन्तर्गत तैयार किए गए हों और उन पर नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की जाँच करना। (ङ) स्वायत्तशासी और अर्द्ध-स्वायत्तशासी निकायों की आय तथा व्यय दिखाने वाले विवरणों की जाँच करना, जिनकी लेखा-परीक्षा, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा राष्ट्रपति के निर्देशों के अन्तर्गत या संसद की किसी संविधि के अनुसार की जा सके। (च) उन मामलों में नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार करना, जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रपति ने उससे किन्हीं प्राप्तियों की लेखा-परीक्षा करने की या भण्डार के और स्कन्ध के लेखों की परीक्षा की अपेक्षा की हो।

यदि किसी वित्तीय वर्ष के दौरान किसी सेवा या उस प्रयोजन के लिए संसद द्वारा अनुदत्त राशि से अधिक धन व्यय किया गया हो तो समिति प्रत्येक मामले जिसके कारण अधिक व्यय हुआ हो के तथ्यों के सम्बन्ध में उन परिस्थितियों की जाँच कर आवश्यकतानुसार सिफारिशें करता है। यदि आवश्यक समझा जाए तो समिति अतिरिक्त खर्चों के सम्बन्ध में अलग रिपोर्ट देता है। रिपोर्ट में विभिन्न अतिरिक्त खर्चों के सम्बन्ध में कारण बताए जाते हैं और यदि उनकी मंजूरी पर आपत्ति हो तो यह बताई जाती है। यदि समिति ने यह सिफारिश की हो कि अतिरिक्त खर्चे को नियमित रूप दिया जाए तो अतिरिक्त अनुदानों की माँग सभा के सामने पेश की जाती है और वित्त मन्त्री सभा से प्रार्थना करता है कि अतिरिक्त खर्चे को पूरा करने के लिए अनुदान/विनियोग स्वीकृत कर लिए जाएँ। समिति का महत्वपूर्ण कार्य वित्तीय अनुशासन और सिद्धान्त पर विचार करता है।

व्यापक अर्थों में नीतिगत प्रश्नों से समिति का कोई सम्बन्ध नहीं है सामान्य नीति पर कोई विचार प्रकट नहीं करती परन्तु यह बताना समिति के अधिकार क्षेत्र में है कि उस नीति का कार्यान्वित करते समय फिजूलखर्ची हुई है या नहीं, क्योंकि समिति का एक काम यह है कि खर्च के अविवेकशील तरीकों पर नियन्त्रण रखा जाए, इसलिए उसे इस बात की शक्ति प्राप्त है कि यदि वह आवश्यक समझे तो प्रशासन के मामलों में हस्तक्षेप कर उन व्यवस्थाओं की जाँच करे जिनके अन्तर्गत मन्त्रालय काम करते हैं लेकिन हस्तक्षेप के मामले बहुत कम हैं। समिति सामान्यतया मितव्ययिता लाने के लिए सामान्य नियन्त्रण पर शक्ति केन्द्रित करती है और आन्तरिक प्रशासन के प्रश्न सम्बद्ध मन्त्रालय के लिए छोड़ देता है परन्तु यह प्रशासन की कमजोरियों की ओर ध्यान आकृष्ट कर सकती है और मन्त्रालय से कह सकती है कि वह उनका उपचार करे। समिति लेखा-परीक्षा रिपोर्ट के संसद में पेश किए जाने से पहले उसकी जाँच करती है परन्तु उसके सम्बन्ध में तब तक सभा कोई रिपोर्ट नहीं दे सकती जब तक कि तत्सम्बन्धी लेखे और लेखा परीक्षा रिपोर्ट औपचारिक रूप से सभा के सामने पेश नहीं कर दी गई हो। समिति भारत सरकार द्वारा किन्हीं गैर सरकारी कम्पनियों व अन्य गैर सरकारी संस्था के साथ किए गए करार के कार्यान्वयन की जाँच प्रारम्भ करती है तथा आवश्यकतानुसार वह कम्पनी या यथास्थिति, गैर सरकारी संस्था के प्रतिनिधियों को अवसर दे सकती है कि वे उसके सामने पेश होकर वार्तालापन से सम्बन्धित साक्ष्य दें, जिसके सम्बन्ध में समिति और आगे जानकारी चाहती हो या प्रतिनिधि स्वयं कुछ और स्पष्टीकरण देना चाहते हों।

जहाँ तक इस समिति की उपलब्धियों का प्रश्न है इसे सराहनीय कहा जायेगा। अपने गठन से लेकर आज तक समिति ने अपनी ओर से बहुत-सी अनियमितताओं की जाँच की है। समिति ने विभिन्न उपकार निधियों की कार्यान्विति की परीक्षा की है। यदि समिति यह अनुभव करे कि न्यायालय के निर्णयाधीन मामले की जाँच से उस मामले पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, समिति उस मामले पर विचार स्थगित कर देती है। वास्तव में संसद की लोक लेखा समिति एक विशेषज्ञ संस्था है जिसके सदस्य नियन्त्रक महालेखापाल से निकट सम्पर्क बनाए रखते हैं। यह समिति अपनी कार्यवाही एक न्यायालय के समान करती हुई अपने काम को दलीय विचारों से पृथक् बनाए रखती है। सारांश में लोकलेखा समिति संसद के आर्थिक नियन्त्रण को स्थापित करने में अहम् भूमिका निभाती है।

7 विशेषाधिकार समिति (The Privilege Committee)—15 सदस्यीय इस समिति की नियुक्ति सदन में लोकसभा के स्पीकर द्वारा की जाती है। इस समिति का कार्य सदस्यों के विशेषाधिकार (Privileges) का निरीक्षण करना है। सदस्यों के विशेषाधिकारों को ठेस पहुँचाने वाले मामले इसके समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं और उन पर यह अपना निर्णय देती है।

8. सब आर्डिनेट व्यवस्थापन समिति (The Committee of Sub ordinate Legislation)—इस समिति का उद्देश्य मन्त्रियों को प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) सम्बन्धित अधिकारों का निरीक्षण करना और उसके सम्बन्ध में सदन को रिपोर्ट प्रस्तुत करना है। 15 सदस्यीय इस समिति के सदस्यों की नियुक्ति 1 वर्ष की अवधि के लिए स्पीकर द्वारा की जाती है। मन्त्री इस समिति के सदस्य नहीं हो सकते।

9 सरकारी आश्वासनों सम्बन्धी समिति (The Committee on Government Assurances)— मन्त्रियों द्वारा समय-समय पर सदन को दिए गए आश्वासनों, वचनों अथवा प्रतिज्ञाओं की छानबीन करने और इन पर प्रतिवेदन देने के लिए 15 सदस्यीय इस समिति की नियुक्ति 1 वर्ष की अवधि के लिए स्पीकर द्वारा की जाती है। इस समिति के प्रमुख कार्य ये हैं—(क) मन्त्रियों द्वारा दिए गए आश्वासनों प्रतिज्ञाओं और वचनों आदि का कहाँ तक परिपालन किया गया है एवं (ख) जहाँ परिपालन किया गया है वह उस प्रयोजन के लिए आवश्यक समय के भीतर हुआ है या नहीं।

10 सदन की बैठकों से अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों हेतु समिति (The Committee on Absence of Members from Sitting of the House)—इस समिति में 15 सदस्य होते हैं जिन्हें 1 वर्ष के लिए स्पीकर मनोनीत करता है। यह समिति अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों की छुट्टी के प्रार्थना पत्रों पर विचार करती है और 60 दिन या इससे अधिक दिनों तक सदन की पूर्व स्वीकृति के बिना अनुपस्थित रहने वाले सदस्य की स्थिति पर विचार करके सदन को सूचित करती है कि उसकी अनुपस्थिति को क्षमा कर दिया जाए अथवा उस स्थान को रिक्त घोषित कर दिया जाए

11. नियम समिति (The Rules Committee)—इस समिति के 15 सदस्यों की नियुक्ति स्पीकर द्वारा होती है। स्पीकर अपने पद के कारण इस समिति का पदेन सभापति (Ex officio Chairman) होता है। समिति का प्रमुख कार्य सदन की प्रक्रिया और कार्य-संचालन सम्बन्धी विषयों पर विचार करना और उनसे सम्बन्धित नियमों में आवश्यक संशोधन आदि का सुझाव देना है।

12. लोक उपक्रम समिति (Public Enterprises Committee)—इस समिति का गठन कृष्ण मेनन समिति की अनुशंसा पर 1963 में किया गया था। समिति में [illegible] लोकसभा एवं राज्यसभा के सदस्य [illegible] समिति में लोकसभा से 15 तथा राज्यसभा से 10 सदस्य होते हैं जो एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक पद्धति से चुने जाते हैं। समिति के सदस्यों का कार्यकाल 5 वर्ष है तथा 1/5 सदस्य बारी-बारी से प्रतिवर्ष सेवा निवृत्त होते हैं। समिति के कार्यक्षेत्र में वे सभी उपक्रम जो भारतीय कम्पनी अधिनियम 1956 के अन्तर्गत गठित हैं तथा वे सरकारी उपक्रम जिनका निर्धारण कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 619 की उपधारा (1) के अन्तर्गत गठित है, संसद के समक्ष रखा जाता है।

(ख) नवीन भारतीय स्थायी समितियाँ—संसद की गतिविधियों को अधिक कारगर बनाने तथा कार्यपालिका को विधायिका के प्रति अधिक जवाबदेह बनाने के लिए 1989 में आठवीं लोकसभा के कार्यकाल में तीन विभागों (1) कृषि, (2) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा (3) पर्यावरण एवं वन के प्रत्येक विषय से सम्बन्धित समितियों का गठन करके शुरुआत की गई थी। इन समितियों के रचनात्मक कार्यों को देखते हुए 21 मार्च, 1993 को दसवीं लोकसभा द्वारा पारित नियमावली समिति के तृतीय प्रतिवेदन ने सम्बद्ध स्थायी समितियों के लिए 17 विभागीय समितियों की स्थापना की माँग प्रस्तुत किया जिनके अधीन केन्द्रीय सरकार के सभी मंत्रालय/विभाग आ जाते हैं। पिछली तीन समितियों का स्थान भी इन स्थायी समितियों ने ले लिया है। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(1) वाणिज्य समिति, (2) गृह मामलों की समिति, (3) मानव संसाधन विकास समिति, (4) उद्योग समिति, (5) विज्ञान, प्रौद्योगिकी, पर्यावरण एवं वन समिति, (6) परिवहन एवं पर्यटन समिति, (7) कृषि समिति, (8) संचार समिति, (9) रक्षा समिति, (10) ऊर्जा समिति, (11) विदेश मामलों से सम्बन्धित समिति, (12) वित्त समिति, (13) खाद्य, नागरिक आपूर्ति एवं सार्वजनिक वितरण समिति, (14) श्रम एवं कल्याण समिति, (15) पैट्रोलियम एवं रसायन समिति, (16) नगर एवं विकास समिति एवं (17) रेलवे समिति।[1]

नई समिति प्रणाली का उद्घाटन 31 मार्च, 1993 को उपराष्ट्रपति के. आर. नारायणन द्वारा किया गया। समितियों ने गठन होने के बाद कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

स्थायी समितियों का संगठन—प्रत्येक समिति में अधिकतम 45 सदस्य नामजद किये जाते हैं। लोकसभा के सदस्यों में से 30 सदस्य लोकसभा अध्यक्ष द्वारा और 15 सदस्य राज्यसभा द्वारा नामजद किये जाते हैं। किसी मंत्री को समिति का सदस्य नामजद नहीं किया जाता है और यदि कोई समिति सदस्य मंत्री नियुक्त हो जाता है तो वह नियुक्ति की तिथि से समिति का सदस्य नहीं रहता है। लोकसभा प्रक्रिया एवं कार्य संचालन नियमावली की पाँचवीं अनुसूची के भाग प्रथम में आबद्ध 6 समितियों के सभापति राज्यसभा के सभापति द्वारा नामजद होते हैं और शेष 11 समितियों के सभापति लोकसभा अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। समितियों का कार्यकाल एक वर्ष होता है। राज्यसभा के सभापति और लोकसभा अध्यक्ष द्वारा समितियों के सदस्यों की नियुक्ति राजनीतिक दलों द्वारा नामांकित व्यक्तियों में से की जाती है। सामान्यतः समितियों में विभिन्न राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व सदन में उनके प्रतिनिधित्व के अनुपात में होता है।[2]

समितियों के कार्य

- (अ) सम्बन्धित मंत्रालय/विभाग की अनुदान की माँगों पर विचार करना और सभा को अपनी राय देना। समिति अपने प्रतिवेदन में कटौती प्रस्ताव की प्रकृति के सुझाव नहीं दे सकती।
- (आ) राज्यसभा सभापति अथवा लोकसभा अध्यक्ष द्वारा सौंपे गये सम्बन्धित विभाग के विधेयकों की पड़ताल कर प्रतिवेदन करना।
- (इ) मंत्रालयों/विभागों के वार्षिक प्रतिवेदनों पर विचार करना और सभा को अपनी राय देना।
- (ई) सदन में प्रस्तुत उन नीतिगत विषयों पर विचार करना जो कि सभापति अथवा अध्यक्ष द्वारा समिति को सौंपे जायें।

मंत्रालयों/विभागों के दिन-प्रतिदिन के प्रशासन से जुड़े मामलों को समितियों के क्षेत्राधिकार से मुक्त रखा गया है। इन स्थायी समितियों की उपलब्धि यह होगी कि सरकार के मंत्रालय/विभागों की अनुदान माँगों पर संसद के कम से

---

1. [illegible] (अध्यक्ष, दिल्ली विधानसभा) का लेख संसदीय प्रणाली में स्थायी समितियों की भूमिका विधानसभा, [illegible]
2. विधानसभा जुलाई-सितम्बर 1994 पृ. 31

कम 45 सदस्यों द्वारा छानबीन की जाएगी तथा नीतियों एवं कार्यक्रम योजनाएँ, परियोजनाएँ, सिद्धान्तों तथा सरकार द्वारा उनके कार्यान्वयन पर विचार विमर्श करने में सदस्यों की भागीदारी सुनिश्चित हो सकेगी। अब बजट पर सामान्य चर्चा के समाप्त होने के बाद लोकसभा निश्चित अवधि के लिए स्थगित हो जाएगी और समितियाँ इस मध्यावकाश के दौरान अनुदान माँगों पर विचार करेंगी। तत्पश्चात् इन समितियों के प्रतिवेदनों को ध्यान में रखते हुए लोकसभा द्वारा अनुदान माँगों पर विचार विमर्श किया जायेगा। वास्तव में कार्यपालिका को आम व्यक्ति के प्रति जवाबदेह बनाने के लिए निरन्तर विकासशील संसदीय निगरानी पद्धति की नवीनतम उपलब्धि स्थायी समिति प्रणाली है। अतः समिति प्रणाली प्रशासन पर संसदीय निगरानी रखने का महत्वपूर्ण प्रयत्न है।

(6) संशोधन प्रक्रिया

(Amending Procedure)

संघीय संविधान एक कठोर संविधान होता है। इसके संशोधन की प्रक्रिया प्रायः जटिल होती है किन्तु भारत के संविधान में संशोधन के लिए एक सरल प्रक्रिया अपनाई गई है। भारत के संविधान के अध्याय 20 का शीर्षक है—"संविधान संशोधन और इसमें एक ही अनुच्छेद 368 है। इस अनुच्छेद में संविधान में संशोधन की प्रक्रिया है।" डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा में संशोधन के प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए कहा था—"जो संविधान से असन्तुष्ट हैं उन्हें *केवल दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना होगा। यदि वे वयस्क मत के आधार पर निर्वाचित संसद में दो तिहाई मत भी नहीं* पा सकते तो यह समझा जाना चाहिए कि संविधान के प्रति असन्तोष में जनता उनके साथ नहीं है।"[1]

संशोधन का स्वरूप

संशोधन पद से मूल दस्तावेज की रूपरेखा में ऐसा परिवर्धन या परिवर्तन विवक्षित है जो उसमें सुधार करेगा या उस प्रयोजन को जिसके लिए वह बनाया गया था अधिक अच्छी तरह से कार्यान्वित करेगा।[2] उच्चतम न्यायालय ने संविधान में परिकल्पित संशोधन के तीन प्रकार बताए हैं जिनके द्वारा उसके उपबन्धों में संशोधन किया जा सकता है—

पहला, वे जिन्हें बहुमत द्वारा कार्यान्वित किया जा सकता है जो साधारण विधि से पारित किए जा सकते हैं। संविधान के *अनुच्छेद 4, 169 और 240 के अन्तर्गत वर्णित विषयों के संशोधन इस वर्ग में आते हैं और वे विनिर्दिष्ट* रूप से अनुच्छेद 368 की परिधि से निकाल दिए गए हैं।[3]

दूसरा, वे जो विशेष बहुमत से कार्यान्वित किए जा सकते हैं जैसा कि अनुच्छेद 368 में उल्लेख किया गया है।

तीसरा, वे जो *अनुच्छेद 368* में उल्लिखित विशेष बहुमत के अतिरिक्त अनुसूची एक में विनिर्दिष्ट कम से कम आधे राज्यों द्वारा पारित संकल्पों द्वारा *अनुसमर्थन की अपेक्षा करते हैं लेकिन संसद संविधान की आधारिक संरचना में* कोई संशोधन नहीं कर सकती।

संशोधन की शक्ति और प्रक्रिया

(क) संसद की *शक्ति—अनुच्छेद 368(1) के अनुसार, इस संविधान में किसी प्रावधान के होते हुए भी संसद* अपनी संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबन्ध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में उल्लिखित प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

(ख) विशेष बहुमत—अनुच्छेद 368(2) के अनुसार संविधान के सभी संशोधन संसद के प्रत्येक सदन की कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के *उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया* जाएगा।

(ग) विशेष बहुमत तथा राज्यों का अनुसमर्थन (By Special Majority and Ratification by the States)—*इस श्रेणी में संविधान के वे उपबन्ध आते हैं, जो संघात्मक ढाँचे से सम्बन्धित है और जिनमें संशोधन के* लिए संसद के प्रत्येक सदन के दो तिहाई *बहुमत तथा 50 प्रतिशत राज्यों के विधान मण्डलों का अनुसमर्थन आवश्यक* है। निम्नलिखित उपबन्धों के संशोधन के लिए विशेष बहुमत तथा राज्यों का अनुसमर्थन आवश्यक है[4]—

(1) राष्ट्रपति का निर्वाचन (अनुच्छेद 54 55), (2) संघ एवं राज्यों की कार्यपालिका (अनुच्छेद 73 162) (3) संघ एवं राज्य कार्यपालिका (अनुच्छेद 124 147, 214 231, 241) (4) संघ और राज्यों के मध्य विधायी शक्ति का विभाजन (अनुच्छेद 245 255) (5) संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व (अनुसूची 4) एवं (6) अनुच्छेद 368 के उपबन्धों में।

1 सी ए डी दिन 25 11 1949 पृ 225-226.
2 शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ ए आई आर 1951 एस सी 458
3 *डॉ. जय राम उपाध्याय* भारत का संविधान पृ 560
4 *जयनारायण पाण्डेय* भारत का संविधान पृ 425

महत्वपूर्ण संविधान संशोधन बिना किसी कठिनाई के सम्पन्न हो गये। एलेक्जेंड्रोविच के अनुसार, "भारतीय संविधान को दुष्परिवर्तनशील कहना ठीक नहीं है।"

(2) भारत एक संघात्मक राज्य है फिर भी राज्यों को संविधान संशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार नहीं दिया जाना संघीय भावना के प्रतिकूल है अतः राज्यों को संविधान संशोधन प्रस्तावित किये जाने का अधिकार दिया जाना चाहिए, लेकिन इस सन्दर्भ में इस पहलू को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि संविधान और संघीय शासन व्यवस्था से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर राज्य-विधानमण्डलों की स्वीकृति का प्रावधान रखा गया है अतः राज्यों को संविधान संशोधन का महत्व है।

(3) संशोधन प्रणाली में आधे राज्यों का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में राज्यों की जनसंख्या [illegible] के पहलू की तरफ ध्यान नहीं दिया गया है। यह हो सकता है कि किसी संविधान संशोधन को [illegible] प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, राजस्थान, कर्नाटक, उड़ीसा और गुजरात के विधान-मण्डलों से पुष्टि प्राप्त कराई जाय जो देश के तीन-चौथाई जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसी स्थिति में क्या छोटे [illegible] राज्यों के विधान-मण्डलों के अनुसमर्थन से पुष्ट किये गये संविधान संशोधन की वैधता और औचित्यता पर प्रश्न-वाचक चिह्न नहीं लग जायेगा। संविधान निर्माताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था होनी ही चाहिए कि किसी संविधान संशोधन का अनुसमर्थन करने वाले राज्य विधान-मण्डल देश की आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करें, इससे यह कमी दूर हो जायेगी।

(4) संविधान संशोधन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की स्वीकृति की अनिवार्यता के प्रावधान की यह कहकर आलोचना की जाती है कि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद और राज्यों के विधान-मण्डलों की स्वीकृति के बाद संशोधन को पारित मान लिया जाना चाहिए और राष्ट्रपति की स्वीकृति की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए जैसा कि संयुक्त राज्य अमरिका में प्रचलित है। वहाँ संविधान संशोधन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति का प्रावधान नहीं है अतः भारत में राष्ट्रपति की स्वीकृति का प्रावधान रखना आवश्यक नहीं होना चाहिए।

(5) स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में किये गये संविधान संशोधन के अन्धाधुन्ध क्रम ने संशोधन पद्धति की असफलता को उजागर कर दिया है। आलोचकों के अनुसार इन व्यापक संविधान संशोधन के कारण मूल संविधान प्रायः समाप्त हो गया है केवल संशोधन बाकी रह गये हैं।

☐☐☐

16

सिद्धान्त तथा व्यवहार में कार्यपालिका प्रणाली

(The Executive System in Theory and Practice)

भारत संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद से मिलकर बनती है। मंत्रिपरिषद का प्रधान प्रधानमंत्री होता है। भारत में शासन का स्वरूप संसदीय प्रणाली का है, क्योंकि मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। राष्ट्रपति राज्य का और सरकार का औपचारिक अध्यक्ष है। संघ सरकार के सभी काम राष्ट्रपति के नाम से किए जाते हैं।

राष्ट्रपति

(The President)

संविधान ने भारत में संसदीय सरकार की स्थापना की है। संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यकारी शक्ति राष्ट्रपति में निहित है और वही इस शक्ति का केन्द्र है। अनुच्छेद 74 और 75 के अनुसार राष्ट्रपति व्यवहार में संवैधानिक अध्यक्ष है और वास्तविक शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित है। अनुच्छेद 74 के अनुसार राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग मंत्रिपरिषद की सहायता और मंत्रणा से करेगा वहीं अनुच्छेद 75 यह व्यवस्था देता है कि मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।

राष्ट्रपति पद के लिए अर्हताएँ (Qualifications for Election of President)—अनुच्छेद 58 के अनुसार वही व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र है जो—

(1) भारत का नागरिक हो,

(2) 35 वर्ष की उम्र पूरी कर चुका हो,

(3) लोकसभा सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो,

(4) भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन या इन दोनों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण न किए हो, लेकिन अनुच्छेद 58(2) में उपबन्धित व्याख्या के अनुसार भारत संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति, राज्य का राज्यपाल, संघ एवं राज्यों के मन्त्रियों के पदों को लाभ का पद न मानते हुए उन्हें राष्ट्रपति के उम्मीदवार के रूप में योग्य माना गया है।

अनुच्छेद 58 में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन और न किसी राज्य के विधान मण्डल के सदन का सदस्य होगा। यदि ऐसे सदन का सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो गया है तो यह समझा जाएगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया (Election Process of the President)—भारत का राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष (Indirect) निर्वाचन द्वारा चुना जाता है (अर्थात् आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत के माध्यम से निर्वाचक मण्डल द्वारा)।

निर्वाचक मण्डल—अनुच्छेद 54 के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु निर्वाचक मण्डल में निम्नांकित को शामिल किया गया है—

(क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा

(ख) राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य।

राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल अर्थात् संसद अथवा राज्यों की विधानसभाओं में यदि कोई स्थान राष्ट्रपति के चुनाव के समय रिक्त हो तो इससे निर्वाचक मण्डल अपूर्ण नहीं माना जाता है तथा रिक्तता के आधार पर राष्ट्रपति के चुनाव के विरुद्ध आपत्ति नहीं की जा सकती।

नामांकन—राष्ट्रपति पद के लिए जो व्यक्ति उम्मीदवार होगा उसे 15,000 रुपये जमानत के रूप में जमा कराने होंगे तथा उसका नामांकन पत्र कम से कम 10-10 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित तथा अनुमोदित किया जाना आवश्यक है। ऐसा इसलिए किया गया है कि केवल वे ही चुनाव लड़ सकें जिनका वास्तविक जनाधार है तथा ऐसे लोग निर्वाचन में भाग न ले सकें जो केवल अपना नाम समाचार पत्रों में देखने हेतु चुनाव में भाग लेते हैं। यदि किसी प्रत्याशी को कुल मतों के छठे भाग के बराबर मत नहीं मिलेंगे तो उसकी जमानत राशि जब्त हो जाएगी।

निर्वाचन-पद्धति एवं मतों के मूल्यों का निर्धारण—राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक-मण्डल परोक्ष रीति से एकल संक्रमणीय मत द्वारा समानुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर किया जाता है। इस पद्धति के अनुसार चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार को 'न्यूनतम कोटा' (Quota) प्राप्त करना होता है। इस न्यूनतम कोटा को निर्धारित करने का सूत्र इस प्रकार है—

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचन होने वाले प्रत्याशियों की संख्या} + 1} + 1$$

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था ऐसी है जिससे मतदाताओं के स्पष्ट बहुमत का समर्थन प्राप्त व्यक्ति ही राष्ट्रपति पद प्राप्त कर सके तथा वह पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सके। राष्ट्रपति के निर्वाचन में परस्पर राज्यों के सदस्यों के मतों में एकरूपता लाने के लिए तथा एकत्रित रूप से राज्यों तथा संघ के मतदाताओं के मतों में समानता लाने के लिए प्रत्येक संसद-सदस्य तथा राज्य विधानसभाओं के प्रत्येक सदस्य के मतों के मूल्यों के निर्धारण की एक विशेष व्यवस्था है। इसका सूत्र इस प्रकार है—

1. विधानसभा सदस्य के मत का मूल्य—

$$\text{राज्य की संख्या} = \frac{\text{राज्य की संख्या}}{\text{राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}} \div 1000 = \text{उस राज्य के प्रत्येक निर्वाचन के मतों की संख्या}$$

एक हजार के उक्त गुणितों को गिनने के बाद यदि शेष 500 से कम न हों तो प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जायेगा।

इस प्रकार सब राज्यों के मतों की संख्या प्राप्त हो जाए तो उन सब के योग को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या में भाग देने पर जो संख्या प्राप्त होगी वह संसद के प्रत्येक सदस्य की मतसंख्या होगी। अपूर्ण संख्या जो आधे से अधिक है, एक मानी जायेगी और आधे से कम संख्या छोड़ दी जायेगी।

2. संसद सदस्य के मत का मूल्य—

$$\frac{\text{सब राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों से प्राप्त मतों की संख्या}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} = \text{संसद के दोनों सदनों के प्रत्येक निर्वाचित सदस्यों के मतों की संख्या}$$

इस प्रकार से निर्धारित मतों के मूल्यों के आधार पर दिए गए मतों की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता (First Preference) के मतों की गणना में प्रत्याशी को निर्वाचित होने के लिए आवश्यक पचास प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त नहीं होते तो द्वितीय वरीयता (Second Preference) के मतों की गणना की जाती है, जिसमें प्रथम मतगणना में सबसे कम मत प्राप्त प्रत्याशी के मतों का हस्तान्तरण किया जाता है तथा यह क्रम इसी प्रकार चलता जाता है।

निर्वाचन पद्धति का मूल्यांकन—संसदात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति संवैधानिक अध्यक्ष होता है, अतः भारत में अमेरिका की भाँति सभी निर्वाचकों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन (वास्तविक प्रथा) की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई, पर यह प्रयत्न किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जहाँ तक हो सके जनता पर ही आधारित रहे। भारत में राष्ट्रपति की वर्तमान निर्वाचन व्यवस्था से ये दोनों ही उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। पुनश्च राष्ट्रपति के निर्वाचन में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के साथ राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों को भी निर्वाचक मण्डल में लिये जाने का विशेष महत्त्व है। यदि राष्ट्राध्यक्ष के निर्वाचन में संसद के दोनों सदन भाग लेते हों तो संसद में बहुमत प्राप्त दल द्वारा अपने प्रत्याशी का सरलता से निर्वाचन सम्भव रहता, किन्तु राज्य विधान सभाओं द्वारा निर्वाचन में भाग लेने से स्थिति में आधारभूत अन्तर आ गया है। यह सम्भव है कि संसद में जो बहुसंख्यक दल है उसे अधिकांश राज्यों में बहुमत न मिला हो। ऐसी स्थिति में संसद में बहुमत रखने वाला दल राज्य विधानसभाओं के समर्थन के बिना अकेला ही अपने प्रत्याशी को राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं करवा सकता अर्थात् राष्ट्रपति के चुनाव में राज्यों के जन-प्रतिनिधित्व को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति के चुनाव में देश की जनता ही भाग लेती है।

(ख) उस सदन की कुल सदस्य संख्या के दो तिहाई बहुमत द्वारा ऐसा संकल्प पारित न किया गया हो।

जब आरोप संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार लगाया गया है तब दूसरा सदन उस आरोप का अन्वेषण करेगा या कराएगा और ऐसे अन्वेषण में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राष्ट्रपति को अधिकार होगा।

यदि अन्वेषण के परिणामस्वरूप यह घोषित करने वाला संकल्प कि राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया आरोप सिद्ध हो गया है आरोप का अन्वेषण करने या कराने वाले सदन की कुल सदस्य संख्या के दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाता है तो ऐसे संकल्प का प्रभाव उसके पारित किये जाने की तारीख से राष्ट्रपति को उसके पद से हटाना होगा। [अनुच्छेद 61(4)]

भारतीय और अमेरिकन संविधानों में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ भारत के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'संविधान के उल्लंघन या अतिक्रमण' के लिए लगाया जा सकता है वहाँ अमेरिका के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'राजद्रोह, घूस लेने तथा अन्य अपराध' करने के आधार पर लगाया जा सकता है।

महाभियोग प्रणाली का मूल्यांकन—इस प्रणाली में अनेक कमियाँ हैं। सर्वप्रथम यह न्याय का स्थापित सिद्धान्त है कि जो नियुक्त करता है वही पदच्युत कर सकता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य भाग लेते हैं परन्तु उसके महाभियोग में निर्वाचित सांसद ही भाग ले सकते हैं जो न्याय संगत नहीं है। द्वितीय, निर्वाचन में केवल निर्वाचित सांसद एवं विधायक भाग लेते हैं परन्तु महाभियोग में मनोनीत सदस्य भी भाग ले सकते हैं जो त्रुटियुक्त है।

राष्ट्रपति के विशेषाधिकार—संविधान का अनुच्छेद 361 राष्ट्रपति को निम्नलिखित विशेषाधिकार प्रदान करता है—

1. राष्ट्रपति अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन के लिए या उन शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करते हुए अपने द्वारा किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित कार्य के लिए न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा, किन्तु अनुच्छेद 61 के अधीन महाभियोग के आरोप की जाँच के लिए संसद के सदन द्वारा नियुक्त या निर्दिष्ट न्यायालय, न्यायाधिकरण या निकाय द्वारा राष्ट्रपति के आचरण का पुनर्विलोकन किया जा सकेगा।

2. राष्ट्रपति के विरुद्ध उसकी पदावधि में किसी प्रकार की दण्डनीय कार्यवाही न्यायालय में संस्थित (Instituted) नहीं की जाएगी और न चालू रखी जाएगी।

3. राष्ट्रपति की पदावधि में उसे बन्दी या कारावास के लिए न्यायालय से कोई आदेशिका जारी नहीं होगी। अर्थात् राष्ट्रपति को उसके कार्यकाल में बन्दी नहीं बनाया जा सकता है।

4. राष्ट्रपति के रूप में अपना पद ग्रहण करने के पूर्व या पश्चात् अपने वैयक्तिक रूप में किए गए अथवा कथित अभिप्रेत किसी कार्य में राष्ट्रपति के विरुद्ध अनुतोष (Relief) वाली कोई दीवानी कार्यवाही उसके कार्यकाल में संस्थित (Instituted) नहीं की जाएगी जब तक कि (क) इसकी लिखित सूचना राष्ट्रपति को न दे दी गई हो (ख) ऐसी सूचना के बाद दो माह बीत न गए हों एवं (ग) इस सूचना में उस कार्यवाही की प्रकृति, वाद कारण, पक्षकार का नाम विवरण, निवास-स्थान तथा माँग किए जाने वाले अनुतोष का विवरण न दिया गया हो।

राष्ट्रपति द्वारा पद की शपथ लेना—अनुच्छेद 60 में लिखा है "प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन करता है अपने पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के प्राप्य अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष निम्न रूप में शपथ या प्रतिज्ञा करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा।"

"मैं अमुक ईश्वर की शपथ लेता हूँ/सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्यपालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

पूर्व में ईश्वर की शपथ का प्रावधान था, परन्तु बाद में संविधान निर्मात्री सभा ने सत्यनिष्ठा शब्द यह सोच कर जोड़ दिया कि यदि सदस्य नास्तिक हुआ तो वह ईश्वर की शपथ कैसे लेगा।

राष्ट्रपति के पद में रिक्ति

(i) पाँच वर्ष की अवधि की समाप्ति पर

(ii) मृत्यु से

(iii) पद त्याग से

(iv) महाभियोग द्वारा हटाये जाने पर

(v) उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य कारणों से [अनुच्छेद 65(1)]

राष्ट्रपति के पद में रिक्ति या उसकी अनुपस्थिति में राष्ट्रपति के कृत्यों के सम्बन्ध में व्यवस्थायें

(क) जब रिक्ति राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई है तो निर्वाचन पदावधि की समाप्ति के पहले कर लिया जायेगा। [अनुच्छेद 62(1)]।[1] यदि उसे पूरा करने में विलम्ब हो जाता है तो 'राज अन्तराल' न होने पाए, इसलिए यह उपबन्ध है कि राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी पद धारण नहीं कर लेता है। [अनुच्छेद 56(1)]। ऐसी परिस्थिति में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा।[2]

(ख) पदासीन राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से भिन्न किसी कारण से उत्पन्न परिस्थिति में नवीन राष्ट्रपति के लिए निर्वाचन रिक्ति होने की तारीख के पश्चात् यथाशीघ्र प्रत्येक दशा में छह माह पूर्व कर लिया जाएगा। ऐसी रिक्ति होने पर यथा राष्ट्रपति की मृत्यु पर उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा [अनुच्छेद 65(1)], लेकिन यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि नया राष्ट्रपति पद ग्रहण करने की तारीख से पूरे पांच वर्ष की पदावधि तक पद धारण करने का हकदार होगा।

(ग) स्थायी रिक्ति के अतिरिक्त सम्भव है कि राष्ट्रपति अस्थायी रूप से अपने कृत्यों का निर्वहन करने में असमर्थ हो। यह भारत से बाहर अनुपस्थिति बीमारी या अन्य कारण से हो सकता है। ऐसी दशा में उपराष्ट्रपति उसके कृत्यों का उस तारीख तक निर्वहन करेगा जिस तारीख को राष्ट्रपति अपने कृत्यों को फिर से पुनः सम्भालता है। [अनुच्छेद 65(3)]।[3]

राष्ट्रपति की शक्तियाँ

(Powers of the President)

राष्ट्राध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति की संविधान-प्रदत्त विस्तृत और प्रभावशाली शक्तियों को चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है—(अ) कार्यपालिका शक्तियाँ, (ब) विधायी शक्तियाँ, (स) वित्तीय शक्तियाँ एवं (द) संकटकालीन शक्तियाँ।

राष्ट्रपति की शक्तियों पर सांवैधानिक मर्यादा—राष्ट्रपति की शक्तियों का विश्लेषण करने से पूर्व हमें उन सांवैधानिक मर्यादाओं को देखना होगा जिसके अधीन वह कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करता है।

राष्ट्रपति को अपनी शक्तियों का प्रयोग संविधान के अनुसार करना चाहिए [अनुच्छेद 53(1)]। अनुच्छेद 75(1) में राष्ट्रपति से यह अपेक्षा है कि राष्ट्रपति मंत्रियों को प्रधानमंत्री की सलाह पर नियुक्त करेगा। यदि राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करता है जिसकी सलाह प्रधानमंत्री ने नहीं दी है तो यह संविधान का उल्लंघन होगा।

राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग मन्त्रिपरिषद की सलाह के अनुसार किया जा सकेगा। [अनुच्छेद 74(1)]। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 के द्वारा अनुच्छेद 74(1) में यह व्यवस्था है कि 'राष्ट्रपति को अपनी सहायता और सलाह देने के लिए मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति अपने कृत्यों का प्रयोग करने में ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा।' 'कार्य करेगा' शब्द के प्रयोग से राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह के अनुसार कार्य करने के लिए आबद्ध है, लेकिन 44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा अनुच्छेद 74(1) में एक परन्तु जोड़ा गया जो इस प्रकार है—"परन्तु राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् की गई सलाह के अनुसार कार्य करेगा।"

अतः राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करने से इनकार करने पर उस पर संविधान के उल्लंघन के लिए महाभियोग चलाया जा सकेगा, लेकिन राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी विषय को पुनर्विचार के लिए मंत्रिपरिषद के पास भेज सकता है। यदि मंत्रिपरिषद अपनी पूर्व सलाह पर टिकी रहती है तो राष्ट्रपति के पास उसके अनुसार कार्य करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहता है। भारतीय संविधान उपर्युक्त मर्यादाओं के अधीन राष्ट्रपति को निम्नांकित शक्तियाँ प्रदान करता है—

(अ) कार्यपालिका शक्तियाँ—संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है जिसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। राष्ट्रपति प्रशासन का वास्तविक प्रधान नहीं है फिर भी संघ के सभी अधिकारी उसके 'अधीनस्थ' होंगे। [अनुच्छेद 53(1)] और उसे संघ के कार्यकलाप की जानकारी पाने का अधिकार होगा। [अनुच्छेद 78 (ख)]।

---

1 भारत का संविधान 1996, भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय विधायी विभाग, पृ. 18.
2. वही, पृष्ठ 17 एवं दुर्गादास बसु, भारत का संविधान : एक परिचय, 1994, पृ. 163.
3. वही, पृ. 163.

राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों में प्रशासकीय, राजनीतिक, सैनिक और न्यायिक अथवा अर्द्ध-न्यायिक शक्तियाँ शामिल हैं। संघीय अधिकारियों को नियुक्त करने की उसे व्यापक शक्तियाँ हैं। जिन अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है उनमें से मुख्य हैं—प्रधानमंत्री तथा अन्य संघीय मन्त्री, महाधिवक्ता, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, राज्यों के राज्यपाल, राजदूत एवं अन्य राजनयिक अधिकारी, लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्य, अनुसूचित वर्गों के लिए विशेष अधिकारी आदि। राष्ट्रपति विभिन्न आयोगों की नियुक्ति करता है जैसे—वित्त आयोग, योजना आयोग, मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं भाषा आयोग आदि। राष्ट्रपति को अपने मन्त्रियों, राज्यपालों, महाधिवक्ता, उच्च सैनिक अधिकारियों आदि को पदच्युत करने का अधिकार है। वह प्रतिरक्षा सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति है और राज्य का अध्यक्ष होने के नाते सभी राजनयिक विशेषाधिकारों का उपयोग करता है। देश के राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति उसी के द्वारा की जाती है और विदेशी राजदूत अपने पद के प्रमाण-पत्र उसके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ या समझौते उसी के नाम से किए जाते हैं। राष्ट्रपति विशिष्ट नागरिकों को भारत-रत्न, पद्मभूषण, पद्मविभूषण, पद्मश्री आदि उपाधियों के द्वारा सम्मानित एवं अलंकृत करता है। कुछ नियुक्तियाँ करने में संविधान में यह अपेक्षा है कि राष्ट्रपति अपने मंत्रियों से भिन्न व्यक्तियों से परामर्श करेगा जैसे—उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से तथा सर्वोच्च न्यायालय के और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों से परामर्श करेगा जो वह आवश्यक समझे [अनुच्छेद 124) (2)]। प्रधानमंत्री को नियुक्त करने की राष्ट्रपति शक्ति सांविधानिक औपचारिकता मात्र है यह औपचारिक शक्ति तब व्यावहारिक बन जाती है जब लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो। ऐसे अवसर पर राष्ट्रपति को अपने विवेक को प्रयोग में लाने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं।

(ब) *विधायी शक्तियाँ*—संविधान के अनुच्छेद 79 के अनुसार राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संघ की विधायी शक्तियों को इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति और संसद के दोनों सदनों में निहित माना गया है। राष्ट्रपति विधायी प्रक्रिया का अभिन्न अंग है क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना विधेयक कानून नहीं बन सकता है। राष्ट्रपति को संसद का अधिवेशन बुलाने, उसे स्थगित अथवा भंग करने तथा गतिरोध हो जाने पर संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आहूत करने की उसे शक्ति प्राप्त है। उसमें भाषण देने और सन्देश भेजने का अधिकार है। वह राज्यसभा के 12 सदस्यों को मनोनीत करता है जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा में से किसी क्षेत्र का विशिष्ट व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए। राष्ट्रपति लोकसभा में दो ऐंग्लो-इंडियन सदस्यों को मनोनीत कर सकता है यदि उसे यह विश्वास हो जाए कि इस सम्प्रदाय को सदन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। संविधान में ऐंग्लो-इंडियन को परिभाषित करते हुए कहा है कि किसी के माता-पिता में से कोई योरोपीय नस्ल का हो, वह ऐंग्लो-इंडियन कहलायेगा। ऐंग्लो-इंडियन वही व्यक्ति है जिसका पिता अंग्रेज तथा माता भारतीय मूल की हो।

संसद द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। वह विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे अधिनियम का रूप दे सकता है। संविधान संशोधन विधेयक के अतिरिक्त विधेयक पर स्वीकृति देने से इनकार कर सकता है अथवा विधेयक को अपने सन्देश या संशोधन सहित पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। ऐसा विधेयक संसद द्वारा पुनः पारित होकर स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत हो जाए तो राष्ट्रपति को उस पर स्वीकृति देनी पड़ती है। इस प्रकार राष्ट्रपति को विलम्बन निषेधाधिकार है पूर्ण निषेधाधिकार नहीं है। विशेष प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व आज्ञा के बिना संसद में प्रस्तावित नहीं किए जा सकते, जैसे—वित्त विधेयक, राज्य की सीमा अथवा नाम को बदलने से सम्बन्धित विधेयक, व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने से सम्बन्धित विधेयक। संविधान के अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत संसद के विश्रान्तिकाल में राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। इन अध्यादेशों का वही बल और प्रभाव होता है जो संसद द्वारा पारित अधिनियम का होता है, किन्तु ऐसे अध्यादेश को संसद के सत्र प्रारम्भ होने से 6 सप्ताह के भीतर संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत करना पड़ता है और ऐसा न करने पर अथवा संसद द्वारा उसे 6 सप्ताह के भीतर अस्वीकृत कर देने पर अध्यादेश अवैध हो जाता है। राष्ट्रपति अपने अध्यादेश को अपनी इच्छानुसार वापस ले सकता है। राष्ट्रपति को अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, मिनिकाय और अमीनदीव द्वीप समूह आदि संघीय क्षेत्रों की शान्ति, विकास और अनुशासन के लिए नियम बनाने का अधिकार है।

(स) वित्तीय शक्तियाँ—संविधान में राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। वित्त विधेयक संसद के समक्ष केवल उनकी सिफारिश पर ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उसे आकस्मिक निधि पर नियन्त्रण प्राप्त है क्योंकि वह ऐसे व्यय के लिए इस निधि से धनराशि निकालने का अधिकार दे सकता है जिसके सम्बन्ध में संसद की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हुई हो, इस पर कालान्तर में संसद की स्वीकृति ली जानी आवश्यक है। राष्ट्रपति वित्त आयोग नियुक्त करता है जिसकी सिफारिशों के आधार पर आयकर का राज्यों में विभाजन किया जाता है। राष्ट्रपति यह निश्चित करता है कि पटसन के निर्यात कर की आय में से कुछ राज्यों को बदले में क्या धनराशि मिलनी चाहिए।

(ई) न्यायिक शक्तियाँ—संविधान के अनुच्छेद 72 में राष्ट्रपति को न्यायिक शक्तियाँ भी प्रदान की गई हैं। वह उच्चतम न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। वह क्षमादान करने की शक्ति के अन्तर्गत अपराधियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने या क्षमा करने का अधिकार रखता है। वह संसद की स्वीकृति से देश में आम माफी (General Amnesty) की घोषणा कर सकता है।

राष्ट्रपति के सामान्यकालीन कार्यों और अधिकारों का मूल्यांकन—सामान्यकाल में राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करता है। राष्ट्रपति के कहने पर मन्त्रिपरिषद मन्त्रणा पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य है तथापि राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद मन्त्रिपरिषद द्वारा दी गई मन्त्रणा को मानने के लिए बाध्य है।[1] अतः राष्ट्रपति की संवैधानिक शासक के रूप में सीमित भूमिका है। वह प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद की सलाह और मन्त्रणा के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है। वह देश का औपचारिक शासक है।

राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ

(Emergency Powers of the President)

जर्मनी के वाइमर संविधान की भाँति भारतीय संविधान ने राष्ट्रपति को तीन आपातकालीन तथा असाधारण शक्तियाँ प्रदान की हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) युद्ध या आक्रमण अथवा 'सशस्त्र विद्रोह' से उत्पन्न आपात (अनुच्छेद 352)—

1. अनुच्छेद 352, यह उपबन्धित करता है कि यदि राष्ट्रपति को विश्वास हो जाए कि गम्भीर आपात स्थिति विद्यमान है, जिससे युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या भारत के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है या ऐसा संकट सन्निकट है तो वह उद्घोषणा द्वारा इस तथ्य की घोषणा, 'सम्पूर्ण भारत के सम्बन्ध में या उस ऐसे भाग के सम्बन्ध में कर सकेगा जो उद्घोषणा में उल्लिखित किया जाए।' ऐसी घोषणा को राष्ट्रपति उत्तरवर्ती उद्घोषणा द्वारा वापस (प्रतिसंहृत) (Revoke) ले सकता है या परिवर्तित (Varied) कर सकता है, लेकिन मार्च, 1988 में पारित 59वें संविधान संशोधन ने जिसकी व्यवस्था दो वर्ष के लिए पंजाब पर लागू होनी है, आन्तरिक उपद्रव की शब्दावली को पुनः अनुच्छेद 352 में जोड़ दिया गया है। प्रस्तावित संविधान संशोधन के माध्यम से नये अनुच्छेद 359 (क) में यह व्यवस्था निहित की गई है कि भारतीय संघ का राष्ट्रपति देश में आन्तरिक उपद्रव होने की स्थिति में देश की एकता और अखण्डता के संकट को ध्यान में रखकर सारे देश या देश के किसी भाग में आपातकाल लागू करने की घोषणा कर सकता है। ऐसा पंजाब में आपातकाल लागू करने हेतु किया गया था।

2. राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा तभी करेगा जब उसे मन्त्रिमण्डल का विनिश्चय लिखित रूप में सम्प्रेषित किया जाएगा अर्थात् पूरे मन्त्रिमण्डल के परामर्श से, प्रधानमन्त्री के परामर्श पर नहीं जैसा 1975 में हुआ था। (खण्ड 3)

3. ऐसी उद्घोषणा संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और 1 मास (44वें संशोधन के पूर्व 2 मास) की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी यदि उस कालावधि की समाप्ति के पहले संसद के दोनों सदनों के संकल्प द्वारा अनुमोदित न कर दी गई हो। यदि ऐसी उद्घोषणा उस समय की गई है जब लोकसभा का विघटन हो चुका है या उसका विघटन खण्ड (2) के अन्तर्गत बिना कोई संकल्प पारित किए 1 मास की अवधि के भीतर हो जाता है जबकि राज्यसभा ने संकल्प का अनुमोदन कर दिया है तो वह उद्घोषणा पुनर्गठित लोकसभा की प्रथम बैठक की तारीख से 30 दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी, जब तक उपर्युक्त 30 दिन की समाप्ति के पूर्व उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प पारित न कर दिया गया हो। उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प सदन के विशेष बहुमत से पारित किया जाना चाहिए अर्थात् कुल सदस्यों के बहुमत से उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से पारित होना चाहिए। 44वें संशोधन के पूर्व ऐसा संकल्प सदन के साधारण बहुमत से पारित किया जा सकता था। (खण्ड 6)

4. संसद द्वारा अनुमोदित हो जाने पर आपात-उद्घोषणा दूसरे संकल्प के पारित होने की तिथि से 6 मास की अवधि तक प्रवर्तन में रहेगी, यदि इससे पहले प्रतिसंहृत (Revoke) न कर दी गई हो। छः मास की अवधि से अधिक रखने के लिए प्रत्येक छः मास पर संसद का अनुमोदन आवश्यक होगा। यदि छः मास की अवधि के भीतर आपात-उद्घोषणा का अनुमोदन किए बिना लोकसभा का विघटन हो जाता है तो उद्घोषणा चुनाव के पश्चात नई लोकसभा की प्रथम बैठक से 30 दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी यदि इस अवधि के पूर्व उद्घोषणा का सदन द्वारा अनुमोदन न कर दिया गया हो। यहाँ उद्घोषणा के अनुमोदन का संकल्प बहुमत से पारित किया जाता है। (खण्ड 5)

5. खण्ड (7) उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति को उद्घोषणा को प्रतिसंहृत (Revoke) करना पड़ेगा, यदि लोकसभा साधारण बहुमत से इसे समाप्त करने के विषय में संकल्प पारित कर देती है। खण्ड (8) उपबन्धित करता है

1. इकबाल नारायण, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय संविधान, पृ. 344-345

कि यदि लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 1/10 सदस्यों द्वारा लिखित नोटिस उद्घोषणा की समाप्ति के आशय का संकल्प (क) स्पीकर को, यदि सदन का सत्र चल रहा है या (ख) राष्ट्रपति को यदि सदन का सत्र नहीं चल रहा है दिया गया है तो उस पर विचार करने के लिए राष्ट्रपति या स्पीकर को 14 दिन में सदन का विशेष सत्र बुलाना होगा। खतरे की आशंका से आपात की घोषणा की जा सकती है। अतः आपातस्थिति के अस्तित्व में राष्ट्रपति का समाधान (Satisfaction) पर्याप्त है। यह प्रश्न कि आपात-उद्घोषणा के लिए पर्याप्त परिस्थितियाँ विद्यमान हैं या नहीं अथवा संकट की आशंका सन्निकट है या नहीं जिससे भारत की सुरक्षा खतरे में है राष्ट्रपति का निर्णय अन्तिम निर्णय होता है। न्यायालय राष्ट्रपति के समाधान को [illegible] कर सकते हैं।

6. खण्ड (9) स्पष्ट करता है कि अनुच्छेद 352(1) के अधीन विभिन्न आधारों पर आपातकाल की घोषणा करने की शक्ति शामिल है फिर भले ही इसके [illegible] ही घोषणा पहले की जा चुकी हो और वह प्रवर्तन में हो।

7. 42वें संशोधन अधिनियम, 197[illegible] द्वारा अनुच्छेद 352 में संशोधन करके यह स्पष्ट किया गया है कि आपात-उद्घोषणा देश के किसी भाग में परिसीमित की जा सकती है या सम्पूर्ण भारत में लागू है तो उसे एक भाग से हटाया जा सकता है जहाँ स्थिति सामान्य हो गई है। इस प्रयोजन से प्रस्तुत संशोधन द्वारा अनुच्छेद 352 में शब्दावली—"सम्पूर्ण भारत के सम्बन्ध में या उसके किसी भाग के सम्बन्ध में" जोड़ी गई है तथा खण्ड [illegible] क) में परिवर्तित (Varied) शब्द जोड़ा गया है। इस संशोधन के पूर्व आपात का उद्घोषणा भारत के सम्बन्ध में की जा सकती थी।

8. 44वें संशोधन, 1978 के द्वारा संसद के अनुमोदन के बाद आपात उद्घोषणा 6 माह के लिए प्रवर्तन में रहेगी। इस अवधि को बढ़ाने के लिए संसद का अनुमोदन आवश्यक होगा।

आपात उद्घोषणा का प्रभाव—अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपात-उद्घोषणा के निम्नलिखित परिणाम होते हैं—

1. संघ की कार्यपालिका शक्ति राज्यों को निर्देश देने तक विस्तृत हो जाती है कि वे कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किस रीति से करें। राज्यों की कार्यपालिका शक्ति केन्द्रीय कार्यपालिका शक्ति के अधीन कार्य करती है।

2. संसद को राज्य-सूची के किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वह ऐसे विषय पर कानून बना सकती है जो संघ या उसके पदाधिकारियों को कर्तव्य सौंपती हो, भले ही वह विषय संघ-सूची में वर्णित न हो। आपातकालीन स्थितियों में केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधायन-शक्ति का विभाजन नाममात्र का रहता है। आपातकाल के दौरान राज्य विधानमण्डल की कानून बनाने की शक्ति निलम्बित कर दी जाती है। राज्य विधानमण्डल राज्य-सूची के विषयों पर कानून बना सकते हैं जो संसद द्वारा पारित विधियों के अधीन होते हैं।

3. राष्ट्रपति उचित समझे तो आदेश द्वारा अनुच्छेद 268 से 279 में उपबन्धित केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों में परिवर्तन कर सकता है। ऐसे प्रत्येक आदेश को शीघ्र संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा।

4. संसद विधि द्वारा लोकसभा के कार्यकाल को एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। यह अवधि एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती और आपात-उद्घोषणा के समाप्त हो जाने के पश्चात् 6 माह बाद स्वयं समाप्त हो जाएगी।

5. एम. ए. पाठक बनाम भारत संघ के[1] मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि आपात-उद्घोषणा के प्रभाव से अनुच्छेद 14 और 19 द्वारा प्रदत्त अधिकार निलम्बित नहीं होते हैं बल्कि उनका प्रवर्तन कराने का अधिकार निलम्बित होता है। अतः विधिक दावे आपात-उद्घोषणा से रद्द नहीं हो जाते हैं। उनको केवल 358 और 359 (1) के प्रवर्तन काल में विधि बनाकर निलम्बित किया जा सकता है।

6. 44वें संशोधन अधिनियम 1978 के अनुसार राष्ट्रपति प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता अधिकार को निलम्बित नहीं कर सकता तथा आपात के दौरान उन्हीं विधियों को न्यायालयों में चुनौती दिए जाने से संरक्षण प्राप्त होगा जो आपात उद्घोषणा से सम्बन्धित है। अन्य विधियों की विधि-मान्यता को आपात के दौरान चुनौती दी जा सकती है।

अनुच्छेद 352 राष्ट्रपति को काफी व्यापक शक्तियाँ प्रदान करता है। विश्व के किसी संघात्मक संविधान में आपात उपबन्धों को समावेश नहीं किया गया है। संविधान सभा में कुछ सदस्यों द्वारा आशंका व्यक्त की गई थी कि राष्ट्रपति इस व्यापक शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है किन्तु डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इस आशंका को निर्मूल बताते हुए कहा था कि संविधान में निम्नलिखित उपबन्ध राष्ट्रपति की शक्ति पर पर्याप्त अंकुश रखते हैं—

राष्ट्रपति इस शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल की सहायता और परामर्श से करता है। लोकसभा के विघटन के बाद भी मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए बनी रहती है अतः वास्तविक शक्ति प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद में निहित होती है।

1. भारत का संविधान, भारत सरकार विधि और न्याय मन्त्रालय, पृ. 118

(2) राज्यों में सांविधानिक तन्त्र के विफल होने से उत्पन्न आपात (अनुच्छेद 356)—संघ सरकार का कर्तव्य है कि वह सुनिश्चित करे कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलती रहे (अनुच्छेद 355)। इसलिए यदि राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल से प्रतिवेदन मिलने पर यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है या राष्ट्रपति यह उद्घोषणा कर सकता है जब संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए निर्देशों का अनुपालन करने में या उनको प्रभावी करने में राज्य असफल रहता है (अनुच्छेद 365)। राष्ट्रपति ऐसी उद्घोषणा द्वारा—

(क) उस राज्य की कार्यपालिका के या अन्य प्राधिकारी के सभी या कोई कृत्य अपने हाथ में ले सकेगा।

(ख) यह घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियों का प्रयोग संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन किया जा सकेगा, परन्तु ऐसी घोषणा द्वारा उच्च न्यायालय के कृत्य नहीं लिए जा सकेंगे। जब उद्घोषणा द्वारा राज्य के विधान मण्डल को निलम्बित किया जाता है तब—

(i) संसद उस राज्य के लिए विधान बनाने की शक्ति का प्रत्यायोजन राष्ट्रपति को या विनिर्दिष्ट प्राधिकारी को कर सकती है।

(ii) जब लोकसभा सत्र में न हो तब राष्ट्रपति संसद द्वारा ऐसे व्यय की मंजूरी दिए जाने तक राज्य की संचित निधि से व्यय प्राधिकृत कर सकेगा।

(iii) जब संसद सत्र में न हो तब राष्ट्रपति राज्य के प्रशासन के लिए अध्यादेश प्रख्यापित कर सकेगा (अनुच्छेद 357)।

ऐसी उद्घोषणा की अवधि दो मास की होगी, किन्तु यदि जब उद्घोषणा की गई थी तब लोकसभा का विघटन हो गया था या उपर्युक्त दो मास की अवधि के भीतर विघटन हो गया है तो उद्घोषणा लोकसभा के पुनर्गठित होने की तारीख से तीस दिन की समाप्ति पर प्रवृत्त नहीं रहेगी जब तक कि संसद ने उद्घोषणा का अनुमोदन न कर दिया हो। ऐसी उद्घोषणा की दो मास की अवधि का संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित संकल्प द्वारा विस्तार किया जा सकता है। यह विस्तार एक बार में छह मास की अवधि के लिए होगा और अधिकतम तीन वर्ष होगी। [अनुच्छेद 356 (3) (4)], किन्तु तीन वर्ष की अवधि तभी बढ़ाई जा सकती है जब—

(क) ऐसे संकल्प के पारित करने के समय सम्पूर्ण भारत में या सम्पूर्ण राज्य में या उसके किसी भाग में आपात की उद्घोषणा प्रवृत्त में है।

(ख) निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित कर देता है कि विनिर्दिष्ट अवधि के दौरान खण्ड (3) के अधीन अनुमोदित उद्घोषणा को प्रवृत्त बनाये रखना सम्बन्धित राज्य विधानसभा के साधारण निर्वाचन कराने में कठिनाई के कारण आवश्यक है।

उद्घोषणा दुर्भाव से की गई है या उद्घोषणा में प्रकट किये गये कारणों का राष्ट्रपति के समाधान से कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नहीं है तो न्यायालय हस्तक्षेप कर सकते हैं अर्थात् इस सम्बन्ध में न्यायालयों को पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त है।

अनुच्छेद 352 और 356 में अन्तर—

(1) अनुच्छेद 352 राज्य की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका यथावत कार्य करती रहती है। केवल केन्द्र को राज्य-सूची के विषयों पर विधायन और प्रशासन की समवर्ती शक्ति मिल जाती है जबकि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल को निलम्बित अथवा विघटित कर दिया जाता है और राज्य की प्रशासकीय एवं विधायी शक्तियाँ केन्द्र सरकार में निहित हो जाती हैं।

(2) अनुच्छेद 352 की व्यवस्थाएँ समान रूप से सभी राज्यों पर लागू होती हैं, जबकि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत केन्द्र और केवल एक राज्य (जिसमें सांवैधानिक तंत्र विफल हो गया हो), के सम्बन्धों में परिवर्तन होता है।

(3) अनुच्छेद 352 में अनुच्छेद 19 में प्रदत्त मूल अधिकार निलम्बित हो जाते हैं, जबकि अनुच्छेद 356 में मूल अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(3) वित्तीय आपात (अनुच्छेद 360)—अनुच्छेद 360 उपबन्ध करता है कि यदि राष्ट्रपति को 'समाधान' हो जाए कि भारत अथवा उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता अथवा साख (Stability or Credit) संकट में है, तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह राज्य को आवश्यक निर्देश दे सकता है। वह राज्य के सेवारत कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों में कमी करने और धन-विधेयक तथा वित्तीय विधेयक स्वीकृति के लिए अपने पास भेजने के निर्देश दे सकता है। यह सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों व केन्द्रीय सरकार के सेवारत कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों में कमी करने का आदेश दे सकता है।

अनुच्छेद 360 की उद्घोषणा की कालावधि 2 महीने की होगी। यदि उक्त दो महीने की समाप्ति के पहले संसद द्वारा पारित संकल्प से अनुमोदित नहीं की जाती है तो 2 महीने की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी।

यद्यपि राष्ट्रपति को ये सभी बाजाब्ता अधिकार प्राप्त है तथापि वह उनका मनमाना उपयोग नहीं कर सकता। वह अपने पद के ही कारण गणराज्य का प्रधान है। कार्यपालिका का वास्तविक प्रमुख प्रधानमंत्री है तथा मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका है।

भारतवर्ष में इस प्रकार के वित्तीय संकट की घोषणा अद्यतन नहीं की गई है।

राष्ट्रपति का आपात शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग

(1) **राष्ट्रीय संकटकाल**—अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत बाह्य आक्रमण की स्थिति में इस शक्ति का प्रयोग अक्टूबर, 1962 और दिसम्बर, 1971 में हुआ तथा आन्तरिक अशान्ति की स्थिति में इसका प्रयोग जून, 1975 में किया गया। सितम्बर, 1962 में भारत पर चीन का आक्रमण होने पर 26 अक्टूबर, 1962 को राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने जो आपात-उद्घोषणा की वह 10 जनवरी, 1968 तक चली। राष्ट्रपति की उद्घोषणा में कहा गया कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे बाह्य आक्रमण से भारत की सुरक्षा संकट में है। 3 नवम्बर, 1962 को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से सम्बन्धित अनुच्छेद [illegible] एवं 22 स्थगित किए गए और इसी दिन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भरक्षा के लिए न्यायालय की शरण लेने के अधिकार को भी स्थगित किया गया और 14 नवम्बर, 1962 को अनुच्छेद 14 भी स्थगित किया गया। 26 अक्टूबर, 1962 को ही भारत प्रतिरक्षा अध्यादेश जारी किया गया। भारत प्रतिरक्षा नियम, नागरिक प्रतिरक्षा सेवा नियम, भारतीय प्रतिरक्षा (सम्पत्ति अर्जन एवं अधिग्रहण) नियम आदि भी इसी अधिनियम के आधार पर बनाए गए। विधेयक को बाद में भारत प्रतिरक्षा अधिनियम, 1962 द्वारा प्रतिस्थापित किया गया।

इसी प्रकार दिसम्बर, 1971 में पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण किए जाने पर 3 दिसम्बर को आपात-स्थिति की घोषणा पुन की गई। 1971 में घोषित आपातकाल तो लागू था, इसके साथ ही आन्तरिक अशान्ति की स्थिति में 25 जून, 1975 से आपात-स्थिति लागू की गई वह 21 मार्च, 1977 तक चली। 25 जून, 1975 को भारत में तीसरी बार आपात-स्थिति लागू करने के पश्चात् संविधान की सभी व्यवस्थाओं का प्रयोग किया गया। 27 जून को राष्ट्रपति ने आदेश जारी किया जिसके अनुसार संविधान के अनुच्छेद 14, 21 और 22 में दिए गए अधिकारों को लागू करने के सिलसिले में किसी नागरिक जिनमें विदेशी नागरिक शामिल हैं, द्वारा अदालत में याचिका दायर करने के अधिकार को निलम्बित किया गया। इस सिलसिले में अदालतों में विचाराधीन मामलों को आपात-स्थिति की अवधि तक स्थगित किया गया। यह आदेश जम्मू और कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत संघ पर लागू हो गया। इन 19 महीनों के दौरान श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व वाली केन्द्रीय सरकार ने ऐसे आदेश जारी किए जिनसे नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर गम्भीर प्रभाव पड़ता था। इस अवधि में राष्ट्रपति के आदेशों द्वारा नागरिक अधिकारों का निलम्बन किया गया, अदालतों और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को संविधान संशोधन के द्वारा सीमित किया गया।

मार्च, 1977 में जनता सरकार बनी और लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना की प्रक्रिया आरम्भ हो गई। 25 जून, 1975 और 3 दिसम्बर, 1971 की राष्ट्रपति की आपात-उद्घोषणाएँ क्रमशः 21 और 27 मार्च 1977 को रद्द किए जाने से देश में आपात-स्थिति औपचारिक रूप से समाप्त हो गई। तदनुसार भारत रक्षा तथा अन्तरिक सुरक्षा अधिनियम, 1971 तथा इसके अधीन बनाए गए नियमों के अधीन शक्तियाँ 26 दिसम्बर, 1977 तक उपलब्ध रही, पर यह सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाए गए कि ऐसी शक्तियों का प्रयोग असाधारण परिस्थितियों में किया जाए और केन्द्र सरकार से पहले सलाह-मशविरे के बाद। आन्तरिक सुरक्षा अनुरक्षण अधिनियम, 1971 कानूनों में बना रहा, परन्तु राज्य सरकारों को नजरबन्दियों को कुछ विनिर्दिष्ट श्रेणियों के बन्दियों को छोड़कर रिहा करने की सलाह दी गई। बाद में इस कानून के स्थान पर निवारक नजरबन्दियों के सम्बन्ध में कानून बनाए बिना इसका निरसन करने के लिए निर्णय किया गया। राजनीतिक सम्बद्धता अथवा विश्वास के लिए हिरासत में रखे गए व्यक्तियों को रिहा करवाने के लिए प्रयत्न किए गए और तथाकथित नक्सलवादियों के लिए नई नीति तैयार की गई। महत्वपूर्ण नीतियों तथा प्रशासकीय आदेशों को वर्तमान सरकार की नीतियों के अनुरूप बनाने के लिए उनकी समीक्षा को उच्च प्राथमिकता दी गई।

नागरिक स्वतन्त्रताओं को बहाल करने की 1977 में आरम्भ की गई प्रक्रिया का अन्तिम चरण 1978-79 में सम्पन्न हुआ। आन्तरिक सुरक्षा कानून 3 अगस्त, 1978 से रद्द किया गया और आन्तरिक सुरक्षा कानून के अधीन सभी नजरबन्द व्यक्तियों को रिहा किया गया।[1]

(2) **राज्य में संकटकाल**—राज्यों में सांवैधानिक तन्त्र की विफलता की स्थिति में अनुच्छेद 356 में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में राज्य प्रशासन का संचालन करता है। राज्य प्रशासन पर संसद का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

(3) **वित्तीय संकटकाल**—अभी तक देश में वित्तीय संकटकाल की घोषणा नहीं की गई है।

---

1 भारत सरकार गृह मन्त्रालय रिपोर्ट, 1978-79 प्रस्तावना।

आपातकालीन शक्तियों का मूल्यांकन (Evaluation of Emergency Powers)—राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों की संविधान-सभा में कड़ी आलोचना की गई थी। कुछ सदस्यों ने यह मत प्रकट किया था कि इन विशाल शक्तियों का आश्रय लेकर भारत का राष्ट्रपति भविष्य में तानाशाही स्थापित कर सकेगा जैसे की हिटलर ने जर्मनी में संविधान की धारा 48 का लाभ उठाते हुए की थी। बी. दास (B. Das) के अनुसार, "ये शक्तियाँ राष्ट्रपति को दक्षिणी अमेरिका के उन प्रधानों की तरह बना देंगी जो वित्तीय शक्तियों सहित समस्त शक्तियों को हड़प सकते थे और प्रान्तों को वित्तीय संकट में डाल सकते थे।" आलोचकों के अनुसार भारत में आपातकालीन शक्तियों के प्रवर्तन और प्रयोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्यों को भुलाया नहीं जा सकता—

1. राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई संकटकालीन घोषणा पर दो मास तक (44वें संविधान संशोधन के बाद एक मास) कोई प्रतिबन्ध नहीं है और प्रतिबन्धहीन अवस्था में राष्ट्रपति अपनी आपातकालीन शक्तियों का निरंकुश रूप से दुरुपयोग कर सकता है।

2. राष्ट्रपति को संकटकालीन परिस्थितियों में निर्णय करने का अधिकार है जिसको न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। (44वें संविधान संशोधन में व्यवस्था की गई है कि मंत्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को दी गई लिखित सलाह के आधार पर ही आपातकाल की घोषणा की जा सकेगी)।

3. 'युद्ध के कारण आपात' और 'शीतकालीन आपात' तथा 'आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात' में भारतीय संविधान में भेद नहीं किया गया है। वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रपति एक हड़ताल होने पर आपातकाल की घोषणा कर सकता है और इस घोषणा के परिणाम वही हो सकते हैं जो युद्ध सम्बन्धी आपात घोषणा के हो सकते हैं (जून, 1975 की आपात-घोषणा के बाद ऐसा हुआ था। अब 44वें संशोधन द्वारा निश्चित किया गया है कि सशस्त्र विद्रोह के अलावा अन्य प्रकार के आन्तरिक उपद्रवों पर आपातकाल की घोषणा नहीं की जाएगी)।

4. राष्ट्रपति की आपातकालीन घोषणा के दौरान संघात्मक संगठन में भी इकाइयों की सरकारें स्थगित कर दी जाएँ।

5. केन्द्र में सत्तारूढ़ शासन यदि चाहे तो किसी राज्य में जहाँ मन्त्रिमण्डल की स्थिति बहुत सुदृढ़ है दलीय स्वार्थों या पूर्वाग्रहों के आधार पर संवैधानिक तन्त्र के असफल होने की घोषणा कर, उस राज्य सरकार को अपदस्थ कर सकता है। अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग स्पष्ट प्रमाण है।

6. यदि राज्य केन्द्रीय सरकार के निर्देशन का पालन न करे तो इस पर राष्ट्रपति राज्य में संवैधानिक तन्त्र के असफल होने की घोषणा कर सकता है। किसी इकाई राज्य में शासनतन्त्र की विफलता की घोषणा की जा सकती है जब वहाँ राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो जाए। सन् 1994 में एस. आर. बोम्मई बनाम भारत सरकार नामक वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने इस शक्ति को सीमित कर इसके दुरुपयोग को कठिन कर दिया है।

जून, 1975 की आपात-उद्घोषणा के अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा आपातकाल के विरुद्ध कुछ और सुरक्षात्मक उपायों की व्यवस्था की गयी है। अब यह सुनिश्चित किया गया है कि मन्त्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को दी गई लिखित सलाह के आधार पर आपातकाल की घोषणा की जा सकेगी ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि यह घोषणा उपयुक्त और पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद की गई है। 44वें संशोधन द्वारा सुरक्षात्मक व्यवस्था कर दी गई कि आपात-उद्घोषणा को दोनों सदनों द्वारा उसी बहुमत से स्वीकार किया जाना होगा जितना बहुमत संविधान में संशोधन के लिए आवश्यक होता है और यह स्वीकृति एक महीने की अवधि के भीतर दी जानी होगी। अतः नवीन परिस्थिति में यह विचार उपयुक्त नहीं है कि आपातकालीन शक्तियों की व्यवस्था ही समाप्त कर दी जाए। राष्ट्र की सुरक्षा का अन्तिम उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर है, अतः संकटकाल में राज्य की समस्त शक्तियों को अपने नियन्त्रण में लेने का अधिकार उसे होना चाहिए। संसद और जनमत की सतर्कता राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों के दुरुपयोग की सम्भावनाओं को समाप्त कर सकती है। भारत के राष्ट्रपतियों की आपातकाल की कार्य-शैली इस तथ्य की पुष्टि करती है कि वे संवैधानिक शासक के रूप में कार्य करना चाहते हैं। उनमें तानाशाह शासक के रूप में आचरण करने की मनोवृत्ति दृष्टिगोचर भी नहीं है। उन्होंने यह माना कि वे औपचारिक संवैधानिक अध्यक्ष हैं और वास्तविक शक्ति प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद में निहित है, अतः भारत में कभी राष्ट्रपतीय तानाशाही की सम्भावना किसी दृष्टि से भी नजर नहीं आती है।

राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति
(Constitutional Position of the President)

राष्ट्रपति की शक्तियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि कुछ अवसरों पर राष्ट्रपति को स्वविवेक का प्रयोग करना पड़ता है, तथापि वह एक संवैधानिक राज्याध्यक्ष (Constitutional Head) है जो अपनी शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिपरिषद की सलाह से करता है अर्थात् कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में नहीं, बल्कि मन्त्रिपरिषद में निहित है जिसका नेता प्रधानमन्त्री

होता है। राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में संविधान-सभा में अनेक बार वाद विवाद हुआ और प्रत्येक वाद-विवाद में राज्याध्यक्ष के सांवैधानिक गुणों पर बल दिया गया। राष्ट्रपति की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए और यह देखने के लिए कि संविधान द्वारा उसे सांवैधानिक अध्यक्ष बनाया गया है अथवा वास्तविक अध्यक्ष, राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद के पारस्परिक सम्बन्धों की समीक्षा आवश्यक है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 74, 75 और 78 विशेष महत्व रखते है जिनके अनुसार यह निर्धारित किया गया है—

1. *राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता एवं मन्त्रणा देने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी जिसका मुखिया प्रधानमंत्री होगा।*
2. राष्ट्रपति अपने कृत्यों के निर्वहन में मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा के अनुसार चलेंगे।
3. राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद से उसकी मन्त्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकते हैं। *ऐसे पुनर्विचार के बाद जो मन्त्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाती है उसे वह उसी रूप में स्वीकार करेंगे।*
4. क्या मन्त्रियों ने राष्ट्रपति को मन्त्रणा दी? और यदि दी तो क्या दी? इस प्रश्न की न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी।
5. प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वयं करेगा और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की मन्त्रणा पर करेगा।
6. राष्ट्रपति के अनुग्रह-पर्यन्त मन्त्री पद धारण करेंगे।
7. मन्त्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप में (Collectively) उत्तरदायी होगी।
8. प्रधानमंत्री का कर्तव्य होगा कि वह—
   - (क) मन्त्रिपरिषद के द्वारा संघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी समस्त विनिश्चयों तथा प्रस्तावित विधान सम्बन्धी सभी सूचनाएँ राष्ट्रपति को दे।
   - (ख) संघ कार्य के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान-विषयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिन जानकारियों को राष्ट्रपति मँगवाए, वह प्रदान करे।
   - (ग) ऐसे विषय को जिसे मन्त्री ने विनिश्चय किया हो, किन्तु इस पर मन्त्रिपरिषद ने विचार न किया हो राष्ट्रपति की इच्छा पर मन्त्रिपरिषद के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत करे।

इन उपबन्धों के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय संविधान निर्माता भारत में राष्ट्रपति को राज्याध्यक्ष बनाते है। *राष्ट्रपति की शक्तियों और अधिकारों के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि भारत का राष्ट्रपति 'राष्ट्र का प्रतीक'* है, राष्ट्र का शासक नहीं। अनुच्छेद 75(2) के अनुसार मन्त्रिगण राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पदों पर रहते हैं लेकिन राष्ट्रपति का 'प्रसाद' वास्तव में संसद का ही प्रसाद है और संसद के ही प्रसाद पर्यन्त मन्त्रिगण पदासीन रहते हैं। मन्त्रिपरिषद को यदि लोकसभा का विश्वास प्राप्त है तो कोई राष्ट्रपति उसे अपदस्थ करने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि यह *कार्य असंवैधानिक होगा और इस दुस्साहस का परिणाम यह हो सकता है कि राष्ट्रपति अपने पद को खो* बैठे। संसद के लिये यह *असहनीय होगा कि राष्ट्रपति संसद की विश्वासपात्र मन्त्रिपरिषद को अपदस्थ करके संसद* की राजनीतिक और संविधानिक सत्ता को चुनौती दे दे। अर्थात् भारत का राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों का आलोचक है, परामर्शदाता है और मित्र है। परामर्शदाता के रूप में वह अपने विचारों को मन्त्रिपरिषद के समक्ष रख सकता है। आलोचक के रूप में वह उस मन्त्रणा पर आपत्ति कर सकता है जो मन्त्री ने उसे किसी विषय पर दी हो, किन्तु उसे जिद या हठ नहीं करनी चाहिए *और अन्तिम उपचार के रूप में यदि मन्त्री राष्ट्रपति की बात को न मानना चाहे तो उसे मान लेना चाहिए।* मन्त्रिमण्डल के मित्र के रूप में राष्ट्रपति को सावधानी बरतनी चाहिए कि वह अपनी जिद पर व्यर्थ में अड़ा न रहे जिसके फलस्वरूप शासन का स्थायित्व ही खतरे में पड़ जाए। जब तक राष्ट्रपति ऐसी मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा पर चलता है जिसको लोकसभा का विश्वास प्राप्त है, वह कोई असंवैधानिक कृत्य नहीं कर सकता है।

भारतीय न्यायपालिका ने 'राम जवाया बनाम भारत संघ'[1], 'यू. एन. राव बनाम इन्दिरा गाँधी'[2], 'शमशेर सिंह बनाम स्टेट ऑफ पंजाब'[3] आदि मामलों में जो निर्णय दिए है उनसे इसी मत की पुष्टि होती है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का संवैधानिक प्रधान होता है तथा वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिपरिषद में निहित होती है।

42वें और 44वें संशोधन के पश्चात् यह सोचना की राष्ट्रपति एक कठपुतली मात्र है असत्य है। यद्यपि उसके *विशेषाधिकार (Prerogatives)* का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया है तथापि ऐसी परिस्थितियाँ हैं जहाँ राष्ट्रपति की शक्ति

---

1. ए. आई. आर. 1955, सुप्रीम कोर्ट, 549
2. ए. आई. आर. 1971, सुप्रीम कोर्ट, 1002
3. ए. आई. आर. 1974, सुप्रीम कोर्ट, 2192

पर उपर्युक्त संशोधनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और वह इन मामलों में मन्त्रिमण्डल के परामर्श से कार्य करने के लिए विधिक रूप से बाध्य नहीं है। वे इस प्रकार हैं—

(1) प्रधानमन्त्री की नियुक्ति—अनुच्छेद 75(1) यह उपबन्धित करता है कि प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने स्व-विवेक के आधार पर कर सकता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा। भारत में यह रूढ़ि स्थापित हो चुकी है कि लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जायेगा। अनुच्छेद 75(3) के अनुसार मन्त्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। इसलिए कोई ऐसा व्यक्ति ही प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाना चाहिए जिसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। लोकसभा में बहुमत दल का नेता या राज्यसभा का सदस्य प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जा सकता है, बशर्ते उसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो और वे उसे अपना नेता चुनें। 1966 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी जब पहले-पहल प्रधानमन्त्री नियुक्त की गई थीं तो वे राज्यसभा की सदस्या थीं, परन्तु यह उचित एवं लोकतन्त्रीय प्रणाली के अनुरूप माना जाता है कि प्रधानमन्त्री लोकसभा का सदस्य हो। साधारण परिस्थिति में राष्ट्रपति को कोई सन्देह नहीं होता कि किसे प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाए? यह केवल विशेष परिस्थिति में, जबकि किसी दल को लोकसभा में बहुमत प्राप्त नहीं है, अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकता है और ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है जो उसके अनुसार लोकसभा का विश्वास प्राप्त करने की स्थिति में हो और एक स्थायी सरकार बना सके। ऐसी परिस्थिति भारत में उत्पन्न होती है किन्तु संविधानवेत्ताओं के अनुसार ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति को स्वविवेक के प्रयोग का कम अवसर प्राप्त होगा, क्योंकि उसे परम्पराओं के अनुसार कार्य करना होगा। संविधान में इसके लिए अभिव्यक्त उपबन्ध नहीं है। इंग्लैण्ड की रूढ़ियाँ भारतीय परिस्थिति में लागू नहीं की जा सकती हैं। विभिन्न राज्यों में जो मामले उत्पन्न हुए हैं उनके आधार पर निम्नांकित सिद्धान्त हमारे समक्ष आए हैं—

1. सदन के सबसे बड़े दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करना चाहिए।
2. चुनाव के पहले बने संविद (Coalition) के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करना चाहिये।

संवैधानिक विशेषज्ञों के अनुसार यदि लोकसभा में किसी दल को बहुमत प्राप्त नहीं है तो राष्ट्रपति को सबसे बड़े दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करना चाहिए। इस परम्परा के अनुसार कार्य करने से राष्ट्रपति का कार्य सरल हो जाएगा और वह आलोचना का पात्र नहीं होगा। यदि चुनाव के पूर्व कई दल मिलकर संयुक्त दल (Coalition) बनाते हैं तो उस दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त करना चाहिए। इसके पश्चात् चुनाव के बाद बनाए गए संयुक्त दल (Coalition) के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाना चाहिए। सबसे बड़े दल के नेता और चुनाव के पश्चात् बने संयुक्त दल के बीच में यदि अन्तर कम हो तो सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए। यह निर्णय करना राष्ट्रपति का कार्य होगा कि दोनों में से किसे लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। यह विकल्प उस समय अपनाया जा सकता है जब सरकार अविश्वास के प्रस्ताव में पराजित हो जाती है और उपर्युक्त दोनों विकल्प उपलब्ध नहीं हैं। यह रूढ़ि ब्रिटेन में सुस्थापित है। ब्रिटेन में केवल दो राजनीतिक दल हैं, एक सरकार बनाता है दूसरा विरोधी पक्ष होता है। ऐसी दशा में विरोधी पक्ष के नेता को आमन्त्रण देना उचित है, किन्तु भारत में अनेक राजनीतिक दल हैं, अतः इस रूढ़ि को लागू नहीं किया जा सकता है।

(2) लोकसभा का विघटन—अनुच्छेद 85 लोकसभा के विघटन करने की शक्ति राष्ट्रपति में निहित करता है। इस हेतु राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा व सिफारिश पर लोकसभा का विघटन करता है। राष्ट्रपति स्वविवेक से लोकसभा को भंग नहीं कर सकता है। जब तक प्रधानमन्त्री को लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है राष्ट्रपति उसके परामर्श से लोकसभा का विघटन करने के लिए बाध्य है।

क्या राष्ट्रपति उस प्रधानमन्त्री के परामर्श से लोकसभा का विघटन करने के लिए बाध्य है जो लोकसभा का बहुमत खो चुका है (दल-बदल के कारण अथवा अन्य कारण से) अथवा लोकसभा में पराजित हो गया है? इस प्रश्न पर संविधान विशेषज्ञ एकमत नहीं हैं। एक मत है कि राष्ट्रपति प्रत्येक दशा में प्रधानमन्त्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है। यह मत ब्रिटेन की एक सुस्थापित रूढ़ि (Convention) पर आधारित है। ब्रिटेन में सम्राट सर्वदा प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर हाउस ऑफ कॉमन्स का विघटन करता है चाहे वह सदन में बहुमत खो चुका है अथवा उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो चुका थो। दूसरा मत है कि राष्ट्रपति ऐसे प्रधानमन्त्री के परामर्श से लोकसभा के विघटन करने के लिए बाध्य नहीं है। वह अपने विवेक से कार्य कर सकता है। अधिकांश संवैधानिक वेत्ताओं के अनुसार दूसरा मत अधिक उपयुक्त है। राज्यों में इसके अनेक उदाहरण हैं जब राज्यपाल ने ऐसे मुख्यमन्त्रियों के परामर्श को मानने से इनकार कर दिया था जो सदन में अल्पमत हो गए थे अथवा विश्वास मत प्राप्त करने में असफल रहे थे। अतः अधोलिखित परिस्थितियों में प्रधानमन्त्री के परामर्श को राष्ट्रपति मानने के लिए बाध्य नहीं है—

(1) जब वह सदन में अपना बहुमत खो देता है या (2) जब वह अपना बहुमत सिद्ध करने में असमर्थ हो जाता है या (3) जब उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाता है, या (4) जब वह लोकसभा के समक्ष जाने से इनकार कर देता है और राष्ट्रपति इस तथ्य से अवगत है कि सरकार का बहुमत नहीं है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में राष्ट्रपति को वैकल्पिक सरकार बनाने का प्रयास करना चाहिए। जैसा कि संविधान-सभा में डॉ. अम्बेडकर ने यह विचार व्यक्त किया था कि लोकसभा को भंग करने का निर्णय सबसे अन्तिम विकल्प होना चाहिए। भारत एक बड़ा देश है, बार-बार चुनाव कराना इस देश के लिए अहितकर है। जहाँ तक भारत में लोकसभा भंग करने सम्बन्धी प्रश्न का आचरणगत प्रश्न है अभी तक सभी राष्ट्रपतियों ने प्रधानमन्त्रियों की सलाह पर ही लोकसभा को भंग करने का निर्णय लिया है। आशा है कि आने वाले वर्षों में भारत में इस सम्बन्ध में स्वस्थ परम्परा विकसित होगी।

राष्ट्रपतियों का आचरणगत पक्ष

स्वतन्त्रता प्राप्ति से लेकर वर्तमान तक भारत में अनेक राष्ट्रपति सत्तारूढ़ हो चुके हैं। इन राष्ट्रपतियों की कार्य-शैली और भूमिका का विश्लेषण करने पर कतिपय निष्कर्ष सामने आते हैं—

(1) भारत का राष्ट्रपति पद देश के संविधान की सुरक्षा का प्रतीक बन गया है जिसकी लोकतान्त्रिक-गणराज्य के स्वरूप को सुरक्षित रखने में अहम् भूमिका रही है। सभी राष्ट्रपतियों ने संविधान निर्माताओं की मूल भावनाओं और अपेक्षाओं के अनुरूप आचरण किया है। उन्होंने अपनी ओर से संविधान का अनादर करने अथवा उसका अतिक्रमण करने का प्रयास नहीं किया है।

(2) राष्ट्रपतियों ने अपने आपको औपचारिक-सांविधानिक अध्यक्ष के रूप में मानते हुए कार्य किया है, अतः स्पष्ट है कि वह मात्र सांविधानिक अध्यक्ष है और वास्तविक शक्तियाँ प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद् में निहित हैं। इससे देश के संसदीय लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत हुई हैं।

(3) राष्ट्रपति पद पर आसीन होने वाले उत्कृष्ट व्यक्तियों ने इस पद की गरिमा और प्रतिष्ठा को चार चाँद लगाये हैं। प्रथम तीन राष्ट्रपति सर्वश्री डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, डॉ. राधाकृष्णन और डॉ. जाकिर हुसैन जैसी महान् विभूतियों द्वारा इस पद को धारण करने के कारण इस पद की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है। ये तीनों ही विभूतियाँ भारतीय जनता में अत्यन्त आदर की पात्र रही हैं। बाद में सत्तारूढ़ हुए राष्ट्रपति भी इन महान विभूतियों सदृश सिद्ध हुए हैं।

(4) राष्ट्रपतियों ने अपनी भूमिका से इस देश की राजनीतिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान की है। उन्होंने अपनी कार्य शैली से देश में संवैधानिक गत्यावरोध और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होने दी। यह देश के संसदीय लोकतन्त्र के हित में रहा है।

(5) समय-समय पर राष्ट्रपतियों और प्रधानमन्त्रियों के बीच मतभेदों की स्थिति उत्पन्न हुई है जो कि अस्वाभाविक नहीं है, लेकिन किसी भी राष्ट्रपति ने इस स्थिति को इतना विस्फोटक नहीं बनने दिया कि वहाँ से लौटना ही सम्भव नहीं हो सके।

(6) राष्ट्रपतियों ने मन्त्रिपरिषद् के सलाहकार, मार्गदर्शक और दार्शनिक की भूमिका का निर्वाह किया है और अपने उपयोगी सुझावों से उनको लाभान्वित किया है।

(7) शक्तिशाली पद पर होते हुए राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री के मतभेदों का सामना करना पड़ा है और सुदृढ़ सरकार के अभाव में उसे चुनौतियों का भी सामना करना पड़ा है, किन्तु उसने अपनी भूमिका का मर्यादित पालन किया है अतः उसे कभी महाभियोग का सामना नहीं करना पड़ा।

(8) राष्ट्रपति की स्वविवेक की शक्तियाँ महत्वपूर्ण शक्तियाँ हैं। लोकसभा में किसी दल अथवा दलीय गठबन्धन के स्पष्ट बहुमत के अभाव में प्रधानमन्त्री से विश्वास मत प्राप्त करने की परम्परा विकसित हो रही है।

उपराष्ट्रपति
(The Vice President)

भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा (अनुच्छेद 63)। यद्यपि भारतीय राजनीति में उपराष्ट्रपति का पद प्रत्यक्ष महत्त्व का अधिक नहीं है। उपराष्ट्रपति पद भारत का सम्मानित एवं गरिमापूर्ण पद है जिसमें प्रायः भावी राष्ट्रपति की सम्भावनायें छिपी रहती हैं।

उपराष्ट्रपति की योग्यतायें—संविधान के अनुच्छेद 66(3) के अनुसार कोई व्यक्ति उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र होगा जब वह—

(क) भारत का नागरिक है।

(ख) 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका है।

भी सदन के सदस्य नहीं थे। मई, 1996 में जब राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने कर्नाटक के मुख्यमन्त्री एच. डी. देवेगौड़ा को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया तो वे भी संसद के सदस्य नहीं थे। यद्यपि ब्रिटिश परम्परानुसार अपेक्षा की जाती है कि उसे संसद के किसी सदन का सदस्य होना चाहिए। यदि वह नियुक्ति के समय संसद सदस्य नहीं है तो उसे 6 महीने के अन्तर्गत संसद के किसी सदन की सदस्यता प्राप्त करनी चाहिए। यदि वह वांछित समय में संसद में स्थान प्राप्त करने में असमर्थ रहता है तो वह प्रधानमन्त्री नहीं रहेगा। साथ ही उसे लोकसभा के बहुमत दल का विश्वास और समर्थन प्राप्त होना चाहिये, क्योंकि वह सांवैधानिक दृष्टि से लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। इंग्लैण्ड में परम्परा है कि प्रधानमन्त्री को साधारण कॉमन सभा का सदस्य होना चाहिए। भारत में ऐसी कोई परम्परा स्थापित नहीं हुई है। केन्द्र और राज्य दोनों ही स्थानों पर प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्रियों की नियुक्ति उच्च सदन से सम्बन्धित व्यक्तियों में से हुई है।[1]

यदि लोकसभा में किसी दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो एवं वह दल अपना सर्वमान्य नेता रखता या निर्वाचित कर सकता हो तो राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में कोई स्वविवेकीय अधिकार प्राप्त नहीं हैं। यद्यपि संविधान के अनुसार राष्ट्रपति पर इस सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है। वह किसी भी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है, परन्तु व्यावहारिक राजनीति में ब्रिटिश सम्राट की तरह उसे बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमन्त्री पद के लिए आमन्त्रित करना पड़ता है। असाधारण परिस्थितियों में इंग्लैण्ड के राजा की भाँति भारतीय राष्ट्रपति भी स्वविवेक के अधिकार का प्रयोग कर सकता है। यदि किसी दल को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, या बहुमत प्राप्त दल अपना कोई सर्वमान्य नेता न रखता हो अथवा नेता पद का दावा एक से अधिक व्यक्ति करते हों तो उसे स्वविवेक के अधिकार के प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हो सकता है।[2]

प्रधानमन्त्री एवं राष्ट्रपति—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था है। 44वें संविधान संशोधन के उपरान्त इस अनुच्छेद का पाठ इस प्रकार है—'राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा। राष्ट्रपति अपने कृत्यों के निर्वहन में उसके परामर्श के अनुसार चलेंगे। राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद से उसकी मत्रणा पर पुनर्विचार की माँग कर सकते हैं। ऐसे पुनर्विचार के बाद जो भी परामर्श या मत्रणा राष्ट्रपति के पास भेजी जाती है, उसे वह उसी के अनुसार स्वीकार करेंगे।' इस नवीन व्यवस्था ने यह अनिवार्य कर दिया है कि राष्ट्रपति किसी परामर्श या मत्रणा को मन्त्रिपरिषद के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकता है, लेकिन पुनर्विचार में यदि मन्त्रिपरिषद मूल मत्रणा में कोई परिवर्तन नहीं करती तो राष्ट्रपति को उसे स्वीकार कर लेना पड़ता है। संविधान में स्पष्ट उल्लेख है कि मन्त्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दी गई मत्रणा के सम्बन्ध में किसी विषय पर न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी।

संविधान के 42वें संशोधन से पहले मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति के अधीन एक परामर्शदात्री समिति जो तभी तक अपने पद पर रह सकती जब तक राष्ट्रपति चाहें। उसका कार्य केवल राष्ट्रपति को मन्त्रणा प्रदान करना था और राष्ट्रपति उसके लिए स्वतन्त्र है कि वह मत्रणा को माने या न माने। 42वें संशोधन में यह स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्रपति अपने कार्यों के सम्पादन में प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता वाली मन्त्रिपरिषद के परामर्श के अनुसार चलेगा। 44वें संशोधन में यह शर्त लगा दी गई है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद से अपने परामर्श पर पुनर्विचार की अपेक्षा कर सकता है, किन्तु इस पुनर्विचार के पश्चात् दिए हुए परामर्श के अनुसार उसे कार्य करना होगा।

प्रधानमन्त्री का कर्तव्य है कि भारत संघ के कार्यों के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद के निर्णयों से तथा अन्य सम्बन्धित जानकारी से राष्ट्रपति को अवगत कराए तथा अगर राष्ट्रपति चाहे तो किसी ऐसे मामले को जिस पर किसी मंत्री ने निर्णय कर लिया हो, परन्तु जिस पर मन्त्रिपरिषद द्वारा विचार नहीं किया गया हो, मन्त्रिपरिषद के विचारार्थ प्रस्तुत करे।

व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में प्रधानमन्त्री की स्थिति तब अधिक मजबूत होती है जब राष्ट्रपति भवन में मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व विराजमान हो। एक मैत्रीविहीन राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के लिए कठिनाई उपस्थित कर सकता है। अतः आवश्यक है कि प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति एक दूसरे को सहयोग देते हुए कर्तव्यों का निर्वहन करें। सांविधानिक व्यवस्था की माँग है कि राष्ट्रपति वही करे जो प्रधानमन्त्री परामर्श दे। प्रधानमन्त्री का शक्तिशाली व्यक्तित्व और व्यापक प्रभाव किसी व्यक्ति को राष्ट्रपति पद पर आसीन कराने में निर्णायक भूमिका अदा कर सकता है, पद पर आसीन होने के बाद वह व्यक्ति राजनीतिक तटस्थता रखते हुए उत्तरदायित्वों को निभाता है। भारत के राष्ट्रपतियों ने इस व्यवस्था और परम्परा से सहमति प्रकट की है कि राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद की मत्रणा के अनुसार अपनी शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए। राम जवाया बनाम भारत संघ, यू. एन. राव बनाम इन्दिरा गाँधी, शमशेर सिंह बनाम स्टेट आफ पंजाब के वादों में उच्चतम न्यायालय के निर्णयों से भी उपरोक्त मत की पुष्टि होती है। संविधान राष्ट्रपति की गरिमा प्रस्थापित करता है।

1-2. *विमला शुक्ला* भारतीय संविधान में प्रधानमन्त्री की भूमिका, पृ. 174-175

संविधान राष्ट्रपति को हस्तक्षेप करने का अधिकार देता है जबकि कोई मंत्री नीति के किसी प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखे बिना स्वयं निर्णय ले लेता है। राष्ट्रपति ऐसे निर्णय को मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ रखने की अपेक्षा कर सकता है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सफलता से कार्यान्वित करना इस प्रावधान का मुख्य उद्देश्य है। 42वें और 44वें संविधान संशोधन से राष्ट्रपति के विशेषाधिकार का क्षेत्र सीमित हो गया है मगर ऐसी परिस्थितियाँ हैं जहाँ राष्ट्रपति की शक्ति पर इन संशोधनों का प्रभाव नहीं पड़ा है। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति तथा लोकसभा के विघटन के मामले में मन्त्रिमण्डल के परामर्श से कार्य करने के लिए राष्ट्रपति विधिक रूप से बाध्य नहीं हैं।

प्रधानमन्त्री : अधिकार और उत्तरदायित्व

(The Prime Minister : Powers and Responsibilities)

भारतीय प्रधानमन्त्री के अधिकार व्यापक हैं, क्योंकि मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति के व्यापक अधिकारों का प्रयोग करता है। आपात-स्थिति में मन्त्रिमण्डल के अधिकार और व्यापक हो जाते हैं। प्रधानमन्त्री इसमें सर्वोपरि होता है।

प्रधानमन्त्री की असाधारण शक्तियों पर टिप्पणी करते हुए संविधान सभा में प्रो. के. टी. शाह ने कहा था—"उसकी विशाल शक्तियों के देखते हुए यह भय लगता है कि यदि वह चाहे तो किसी भी समय देश का अधिनायक बन सकता है।" *प्रधानमन्त्री की वास्तविक शक्ति उसके व्यक्तित्व, चरित्र और उसकी नेतृत्व क्षमता में निहित है। वह इस बात पर* निर्भर है कि उसका चयन किस प्रकार हुआ है? यदि प्रधानमन्त्री का चयन उसके व्यक्तित्व तथा दल में सुदृढ़ स्थिति के कारण हुआ है तो प्रधानमन्त्री की स्थिति निश्चय ही मजबूत होती है। यदि प्रधानमन्त्री के चयन में दलीय नेताओं, मुख्यमन्त्रियों आदि का विशेष हाथ है तो वे एक कमजोर प्रधानमन्त्री का चयन करने को लालायित हो सकते हैं। जब लालबहादुर शास्त्री को प्रधानमन्त्री बनाया गया तब काँग्रेस अध्यक्ष कामराज ने कहा था कि प्रधानमन्त्री 'समकक्षों में प्रथम' *से अधिक नहीं होगा।*[1]

1996 में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के चयन में काँग्रेस के 'सिण्डीकेट गुट' की प्रमुख भूमिका होने के कारण उनकी स्थिति कमजोर रही, लेकिन 1971 ई. के लोकसभा के मध्यावधि चुनाव में लोकसभा में दो तिहाई बहुमत मिलने से उनकी स्थिति सुदृढ़ हो गई। सन् 1977 में जनता पार्टी के 'घटकवाद' के कारण प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई की स्थिति सुदृढ़ रही। *अल्पमतीय प्रधानमन्त्रियों—चौधरी चरणसिंह, वी. पी. सिंह, चन्द्रशेखर, पी. वी. नरसिम्हाराव (अल्पमतीय स्थिति में), एच. डी. देवेगौड़ा, आई. के. गुजराल तथा अटलबिहारी वाजपेयी की स्थिति सुदृढ़ नहीं रही है।*

(क) निर्वाचन का स्वरूप और उसका प्रधानमन्त्री की भूमिका पर प्रभाव—प्रधानमन्त्री की शक्ति के निर्धारण में उसकी चयन-प्रक्रिया महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। भारतीय प्रधानमन्त्रियों की चयन-प्रक्रिया का विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

पं. जवाहरलाल नेहरू का चयन—*15 अगस्त, 1947 से 26 जनवरी, 1950* को संविधान लागू होने तक पं. नेहरू भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री थे, परन्तु सरदार पटेल के दल में शक्तिशाली प्रभाव एवं नियन्त्रणकारी स्थिति के कारण उनका नेतृत्व विवादों एवं चुनौतियों युक्त था। दिसम्बर, 1950 में पटेल के निधन के पश्चात् वे संसदीय दल और संगठन के निर्विवाद नेता हो जाने के कारण 1952, 1957 और 1962 के आम निर्वाचनों में काँग्रेस संसदीय दल के निर्विरोध नेता चुने जाते रहे। उनका सम्भ्रान्तीय पारिवारिक परिवेश, शैक्षणिक योग्यता, स्वतन्त्रता-संघर्ष में निःस्वार्थ त्याग, अपार लोकप्रियता, *चमत्कारिक व्यक्तित्व, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति, चारित्रिक ईमानदारी एवं नियन्त्रणकारी नेतृत्व* उन्हें प्रधानमंत्री पद पर निरंतर 18 वर्षों तक अधिकार बनाए रखने में *सहायक सिद्ध हुआ। उनके मार्गदर्शन में प्रधानमन्त्री पद का प्रारम्भ, विकास* एवं संसदीय प्रजातन्त्र की परम्पराओं की सुस्थापना हुई।[2] वे भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली और करिश्माई प्रधानमन्त्री हुए हैं।

प्रधानमन्त्री पद की अन्तरिम व्यवस्था—27 मई, 1964 को पं. नेहरू की मृत्यु के कुछ घण्टों के अन्दर ही कैबिनेट की आपातकालीन समिति की *अनुशंसा* पर राष्ट्रपति *डॉ. राधाकृष्णन द्वारा कैबिनेट के वरिष्ठतम सदस्य गुलजारीलाल नंदा* को कार्यवाहक प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया। माइकेल ब्रेचर के अनुसार कृष्णमेनन ने इस अस्थायी व्यवस्था को असंवैधानिक मानते हुए कहा था "व्यवस्था द्वारा सिद्धान्ततः इन असामान्य परिस्थितियों में विशेष शक्तियों का प्रयोग करना असंवैधानिक था।" एच. एम. जैन इसे संवैधानिक मानते हैं। राष्ट्रपति ने गुलजारीलाल नन्दा को अन्तरिम कार्यवाहक प्रधानमन्त्री नियुक्त कर, देश को नेतृत्वहीनता के संकट से बचाकर एक स्वस्थ परम्परा की स्थापना की। जनवरी 1966 में प्रधानमन्त्री शास्त्री की मृत्यु के उपरान्त पुनः ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति ने पूर्व परम्परा का अनुसरण

1 *G S Bhargava* 'New Leader', The Times of India, June 3, 1964

2 *डॉ. विमला शुक्ला* पूर्वोक्त, पृ. 49

का निर्माण नहीं हुआ था, इसलिए 20 अगस्त, 1979 को लोकसभा का विश्वास मत प्राप्त किए बिना ही उन्हें अपनी सरकार का त्यागपत्र दे देना पड़ा। नए मध्यावधि चुनाव होने तक के लिए उन्हें कामचलाऊ सरकार का प्रधानमन्त्री बने रहने दिया गया।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी का पुनः चयन—जनवरी 1980 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव हुए और श्रीमती गाँधी पुनः प्रचण्ड बहुमत के साथ जीतकर प्रधानमन्त्री बनीं। इस अवधि में मार्च 1971 की भाँति प्रधानमन्त्री के चयन में कोई समस्या नहीं थी।

राजीव गाँधी—31 अक्टूबर, 1984 को प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या हुई। यमन की यात्रा को बीच में ही स्थगित करके राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह स्वदेश लौटे। उसी दिन शाम को राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद की शपथ दिला दी। पहले की तरह कार्यवाहक प्रधानमन्त्री नियुक्त नहीं किया गया। कांग्रेस (इ) संसदीय बोर्ड ने सर्वसम्मति से राजीव गाँधी को अपना नेता चुना और वे प्रधानमन्त्री बना दिए गए। 1 नवम्बर, 1984 को कांग्रेस (इ) कार्यसमिति की एक आपात बैठक में राजीव गाँधी को संसदीय दल का नेता मनोनीत करने सम्बन्धी केन्द्रीय संसदीय बोर्ड के निर्णय के आधार पर राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री पद के रूप में नियुक्त करने के निर्णय की विरोधी दलों ने कड़ी आलोचना की। अनेक संविधानवेत्ताओं ने राष्ट्रपति के निर्णय को 'संविधान सम्मत' बताया। निःसन्देह, तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रपति द्वारा राजीव गाँधी को प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्त करना सही था, क्योंकि उन्हें सम्पूर्ण कांग्रेस दल में भारी समर्थन प्राप्त था।

विश्वनाथ प्रतापसिंह—सन् 1989 के लोकसभा चुनाव के बाद राष्ट्रीय मोर्चे के नेता के निर्वाचन के पहले जनता दल के नेतृत्व का प्रश्न जटिल बन गया। जनता दल में विश्वनाथ प्रतापसिंह, चन्द्रशेखर और चौधरी देवीलाल नेता पद के दावेदार थे। विश्वनाथ प्रतापसिंह और चन्द्रशेखर के बीच चौधरी देवीलाल के नाम पर सहमति हुई। जनता संसदीय दल की बैठक में हरियाणा के मुख्यमन्त्री और सांसद चौधरी देवीलाल को सर्वसम्मति से नेता निर्वाचित किया गया। नव-निर्वाचित नेता चौधरी देवीलाल ने विश्वनाथ प्रतापसिंह का नाम नेता पद के लिए प्रस्तावित किया, जिसका सर्वसम्मति से अनुमोदन किया गया। इससे चौधरी देवीलाल की 'किंग मेकर' की भूमिका उभर कर सामने आई। चौधरी देवीलाल के निर्णय से जनता दल के वरिष्ठ नेता चन्द्रशेखर हतप्रभ हुए। राष्ट्रीय मोर्चे ने भी विश्वनाथ प्रतापसिंह को अपना नेता निर्वाचित कर लिया। विश्वनाथ प्रतापसिंह के चयन में उनकी स्वच्छ एवं अखिल भारतीय छवि, राष्ट्रीय मोर्चे के घटक दलों को स्वीकार्य व्यक्तित्व और भारतीय जनता पार्टी तथा वामपंथी दलों जैसे समर्थक दलों की सहानुभूति तथा समर्थन की मुख्य भूमिका रही। राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण ने उन्हें प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्त किया।

चन्द्रशेखर—नवम्बर, 1990 में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार के पतन के बाद जनता दल का विभाजन हुआ। चन्द्रशेखर व चौधरी देवीलाल के नेतृत्व में जनता दल (समाजवादी) की स्थापना हुई। चन्द्रशेखर को सर्वसम्मति से जनता दल (समाजवादी) का नेता निर्वाचित करने तथा कांग्रेस (इ) द्वारा उन्हें समर्थन देने की लिखित सूचना पर राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण ने उन्हें प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्त किया।

पी. वी. नरसिम्हाराव—मई 1991 में राजीव गाँधी की हत्या के बाद पी. वी. नरसिम्हाराव को कांग्रेस (इ) का कार्यवाहक अध्यक्ष मनोनीत किया गया। जून में लोकसभा के चुनाव के द्वितीय चरण में कांग्रेस (इ) सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आई। कांग्रेस (इ) संसदीय दल के नेता पद के लिए तीन मुख्य दावेदार उभर कर सामने आये—कार्यवाहक अध्यक्ष पी. वी. नरसिम्हाराव, मध्य प्रदेश के पूर्व मुख्यमन्त्री अर्जुनसिंह और महाराष्ट्र के मुख्यमन्त्री शरद पवार। राजीव गाँधी की पत्नी सोनिया गाँधी का राव की तरफ झुकाव, कांग्रेस (इ) में दक्षिण भारत के सांसदों की अधिक संख्या, शरद पवार की गैर कांग्रेसी पृष्ठभूमि, अर्जुनसिंह द्वारा उम्मीदवारी को वापस लेने, नरसिम्हा राव के दीर्घकालीन राजनीतिक अनुभव और गुटबाजिता से दूर रहने की मनोवृत्ति तथा उनकी विवाद रहित छवि से राव कांग्रेस (इ) संसदीय दल के नेता के रूप में निर्वाचित हुए। देश में पहला अवसर था जबकि प्रधानमन्त्री पद का प्रत्याशी संसद का सदस्य नहीं था। तत्कालीन राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण ने पी. वी. नरसिम्हाराव को प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्त किया। उनके नेतृत्व में कांग्रेस (इ) का मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ हुआ।

अटलबिहारी वाजपेयी—सन् 1996 के लोकसभा के चुनाव के पूर्व ही भारतीय जनता पार्टी ने अटलबिहारी वाजपेयी को अपने प्रधानमन्त्री के रूप में प्रस्तुत किया। लोकसभा चुनाव में यह पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने उन्हें लोकसभा में सबसे बड़े दल का नेता होने के कारण प्रधानमन्त्री नियुक्त किया, लेकिन उनकी सरकार लोकसभा में विश्वास मत प्रस्ताव नहीं जीत सकी।

एच. डी. देवेगौड़ा—13 दलीय संयुक्त मोर्चे ने कर्नाटक के मुख्यमन्त्री एच. डी. देवेगौड़ा को अपना नेता निर्वाचित किया। अटलबिहारी वाजपेयी के प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देने के बाद राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने देवेगौड़ा को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। देवेगौड़ा 1.6.96 को प्रधानमन्त्री बने तथा 16.4.97 को कांग्रेस के समर्थन वापस लेने पर लोकसभा में विश्वास मत हारने से उन्हें पद छोड़ना पड़ा।

इन्द्रकुमार गुजराल—काँग्रेस ने अपना निशाना देवेगौडा को बनाया। उनके हटने पर उन्होंने नई सरकार को पुनः समर्थन दे दिया जिससे 21.4.97 को गुजराल नये प्रधानमन्त्री बने, परन्तु उनका कार्यकाल 19.3.98 को समाप्त हो गया। जैन आयोग के विवरण को लेकर काँग्रेस ने माँग की कि डी. एम. के मंत्रियों को मन्त्रिमण्डल से निकाल दिया जाय। इसे सरकार ने अस्वीकार कर दिया। इसलिए काँग्रेस ने अपना समर्थन पुनः वापस ले लिया तथा गुजराल सरकार ने त्याग पत्र दे दिया। पुनः चुनाव 1998 में कराये गये।

अटलबिहारी वाजपेयी—19.3.98 को दूसरी बार एक 19 दलीय मिली-जुली सरकार के प्रधानमन्त्री बनाये गये। भाजपा सरकार के एक घटक अन्नाद्रमुक की नेता जयललिता के द्वारा समर्थन वापस लेने के बाद राष्ट्रपति ने सरकार से विश्वास मत हासिल करने का आदेश दिया। सदन में सरकार अपने घटक नेशनल काँफ्रेंस के सांसद सैफुद्दीन सोज के एक मत से पराजित हो गई। परिणामस्वरूप सरकार को त्याग पत्र देना पड़ा।

अटलबिहारी वाजपेयी—13 अक्टूबर, 1999 को राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन के नेता अटल बिहारी वाजपेयी को पुनः तीसरी बार देश का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया।

डॉ. मनमोहन सिंह—14वीं लोकसभा के चुनावों में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की जीत हुई और 22 मई, 2004 को काँग्रेस के डॉ. मनमोहनसिंह को प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया।

प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद—प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद का निर्माण करता है और मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है सैद्धान्तिक रूप में इस क्षेत्र में जितनी स्वतन्त्रता प्राप्त है, उतनी व्यवहारिक रूप में नहीं। मंत्रियों की नियुक्ति करते समय दलीय आवश्यकताओं, विभिन्न जातियों के प्रतिनिधित्व, क्षेत्रीय सन्तुलन आदि का ध्यान रखना पड़ता है। संविधान में कोई उपबन्ध नहीं है जिससे अपने साथियों के चयन में प्रधानमन्त्री की छूट मर्यादित हो।

प्रधानमन्त्री को मन्त्रिपरिषद में मनचाहे परिवर्तन करने तथा किसी मंत्री को अपदस्थ करने का अधिकार प्राप्त है जो वह राष्ट्रपति को सिफारिश करके करता है। उसकी सिफारिश को ठुकराया नहीं जा सकता है। यदि कोई प्रधानमन्त्री की इच्छा के प्रतिकूल चले तो प्रधानमन्त्री उससे त्यागपत्र की माँग कर सकता है, उसे बर्खास्त कर सकता है अथवा अपना त्यागपत्र देकर, सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल को भंग कर सकता है। वह बहुमत दल का नेता होता है, अतः राष्ट्रपति उसे ही प्रधानमंत्री के रूप में पुनः नियुक्त करता है। यदि उसकी दलीय स्थिति में परिवर्तन आ जाए तो उसका राजनीतिक अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। प्रधानमन्त्री प्रायः विशेष स्थिति में ही किसी मन्त्री को अपदस्थ करने की सिफारिश करता है। मन्त्रिपरिषद में कोई अव्वल-दोयम का पद बनाया जाता है तो प्रधानमन्त्री की स्वतन्त्र अपने विवेक के प्रयोग में बाधा पहुँचती है। ऐसी स्थिति प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू और तत्कालीन उप-प्रधानमन्त्री वल्लभ भाई पटेल के बीच तथा जनता शासन काल में प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई और उप-प्रधानमन्त्री चौधरी चरणसिंह एवं प्रधानमन्त्री चन्द्रशेखर एवं उपप्रधानमन्त्री चौधरी देवीलाल के बीच बनी रही।

प्रधानमन्त्री के रूप में नेहरू का स्थान ब्रिटिश परम्परा के अनुरूप सुदृढ़ रहा जिस में कहा गया है कि कैबिनेट का हर मन्त्री प्रधानमन्त्री का सहायक होता है। प्रधानमन्त्री देश की सर्वोच्च सत्ता—संसद के प्रति सीधे रूप से उत्तरदायी है। एकदलीय प्रधानमन्त्री का अपनी मन्त्रिपरिषद के सदस्यों पर प्रभावशाली नियन्त्रण और वर्चस्व होता है, लेकिन अल्पमतीय और संविद सरकारों का नेतृत्व करने वाले प्रधानमन्त्रियों की स्थिति इस सम्बन्ध में सुदृढ़ नहीं होती, क्योंकि उसे अपने समर्थक और घटक दलों की इच्छाओं के अनुरूप मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना पड़ता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के बीच विभागों का वितरण करते समय उसके सम्मुख राजनीतिक बाध्यताएँ आती हैं।

प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति के सम्बन्ध : आचरणगत अध्ययन—राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री भारत की संसदीय व्यवस्था के मुख्य आधार हैं। भारत में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद से अब्दुल कलाम तक राष्ट्रपतियों की एवं पंडित जवाहरलाल नेहरू से डॉ. मनमोहन सिंह तक प्रधानमन्त्रियों की एक परम्परा रही है। स्वतन्त्रता से लेकर अब तक राष्ट्रपतियों और प्रधानमन्त्रियों के आचरणगत पक्ष के परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(1) राष्ट्रपतियों और प्रधानमन्त्रियों के बीच अनेक अवसरों पर तनाव के बिन्दु उभर कर सामने आये हैं, लेकिन ये 'खुले संघर्ष' का रूप धारण नहीं कर सके। पंडित नेहरू के कार्यकाल में 'हिन्दू कोड बिल' को लेकर प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के बीच व्याप्त मतभेद, वी. के. कृष्णमेनन को केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद से हटाने के प्रश्न को लेकर प्रधानमंत्री नेहरू और डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के बीच मतभेद, सन् 1966 में गणतन्त्र दिवस पर राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन द्वारा राष्ट्र को दिये गये अपने सम्बोधन में की गई टिप्पणियों से प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की कथित नाराजगी, 1974 में रेल हड़ताल के प्रकरण को लेकर वी. वी. गिरी और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के बीच मतभेद, आपातकाल में सरकार की कारगुजारियों के प्रति राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद की नाराजगी, मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाली जनता सरकार द्वारा नौ राज्यों की काँग्रेसी सरकार को बर्खास्त करने सम्बन्धी उद्घोषणा पर हस्ताक्षर करने में तत्कालीन राष्ट्रपति

बी. डी. जत्ती को आना-कानी और विलम्ब से किए गए हस्ताक्षर का प्रकरण, मोरारजी देसाई और नीलम संजीव रेड्डी के बीच कथित कटु सम्बन्ध और देसाई सरकार के पतन तथा चरणसिंह के नेतृत्व में जनता (एस) की सरकार को प्रतिष्ठित करने में श्री रेड्डी की भूमिका, ज्ञानी जैलसिंह और राजीव गाँधी के बीच कटु सम्बन्ध चर्चाओं तथा धर्म की राजनीति से अलग करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा और नरसिम्हाराव के नेतृत्व वाली सरकार के दृष्टिकोण में कथित अंतर के संदर्भ में इस तथ्य को देखा जा सकता है, लेकिन कालान्तर में सभी प्रकरण शान्त हो गये। प्रधानमन्त्रियों ने भी राष्ट्रपतियों की भावनाओं को समझकर अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करते हुए निर्णय लिये हैं। दोनों ने लचीले दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इससे देश का लोकतान्त्रिक ढाँचा अक्षुण्ण बना रहा है।

(2) *प्रधानमन्त्रियों और राष्ट्रपतियों के सम्बन्धों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रपतियों ने* स्वयं को औपचारिक संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका के रूप में सीमित कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की भूमिका शक्तिशाली हो गई।

(3) *राष्ट्रपतियों की संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका तक ही स्वयं को सीमित कर लेने के कारण 'प्रधानमन्त्री' पद* का राष्ट्रपतीयकरण हो गया।

(4) भारतीय संसदीय व्यवस्था को 'प्रधानमन्त्री व्यवस्था' (Prime Ministerial Form of Government) के रूप में उन्मुख करने की *दिशा में राष्ट्रपतियों की सीमित भूमिका उत्तरदायी रही है। फलस्वरूप प्रधानमन्त्री के आगे* सारी संस्थाएँ गौण हो गईं तथा प्रधानमन्त्री पद की स्थिति शक्तिशाली बन गई।

प्रधानमन्त्री की शक्तियों में वृद्धि के कारण—विगत वर्षों में प्रधानमन्त्री की शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। *प्रधानमन्त्री की स्थिति उनके अन्य कैबिनेट सहयोगियों की अपेक्षा उनके पद में निहित संविधानिक एवं परम्परागत* विशेषाधिकारों के कारण सर्वोच्च है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—(1) अपने सहयोगियों की नियुक्ति-बर्खास्तगी के अधिकार द्वारा वह उन्हें नियन्त्रित कर, सामूहिक उत्तरदायित्व के अनुशासन में बाँधे रख सकता है। (2) राष्ट्रपति के सतत *और प्रत्यक्ष सम्बन्धों के कारण वह कैबिनेट और राष्ट्रपति के मध्य सम्पर्क की एकमात्र सर्वोच्च कड़ी के रूप में सम्पूर्ण* कैबिनेट का प्रतिनिधि एवं प्रवक्ता होता है। (3) अपने पद त्याग की धमकी द्वारा सम्पूर्ण कैबिनेट के राजनीतिक जीवन को समाप्त करने की क्षमता रखने के कारण वह अपने विरोधी-सहयोगियों की आलोचनाओं को अवरुद्ध कर सकता है। (4) वह दल का नेतृत्व करता है। यह शक्ति उसके अन्य सहयोगियों को प्राप्त नहीं है। (5) संसद के विघटन की अपनी शक्ति द्वारा वह *अन्य मन्त्रियों को कैबिनेट से ही नहीं, बल्कि संसद सदस्यता से भी वंचित कर पुनः निर्वाचन के* कष्टप्रद, खर्चीले कठिनाईपूर्ण स्थिति में भेज सकता है। (6) आधुनिक युग में समाजवादी, कल्याणकारी राज्य की स्थापना, युद्ध से उत्पन्न समस्याओं, आर्थिक नीतियों के क्रियान्वयन, प्रशासन की जटिलताओं एवं प्रधानमन्त्री के विशेष उत्तरदायित्वों ने उसकी शक्ति एवं भूमिका को *अन्य सहयोगियों की अपेक्षा व्यापक एवं अत्यन्त प्रभावपूर्ण बना दिया है।*

(ख) शक्ति के निर्धारक तत्त्व—शक्तिशाली प्रधानमन्त्री की भूमिका के परिपालन के लिए प्रधानमन्त्री का प्रभावपूर्ण चमत्कारिक व्यक्तित्व, नियन्त्रणकारी स्वभाव एवं कार्यशैली, परिस्थितियों और उचित अवसर पर उचित निर्णय लेने की *क्षमता, व्यावहारिक सूझ-बूझ, राजनीतिक व्यूह-कौशल-चातुर्य तथा अपने सहयोगियों में सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करने* की क्षमता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *इनके अभाव में उसकी भूमिका सामान्य रूप से मन्त्रिमण्डलीय 'समकक्षों में प्रथम' मात्र* ही होगी। वह अपने सहयोगियों की इच्छाओं, दबावों, प्रभाव एवं नियन्त्रण के अधीन होकर कार्य करेगा। इन सब गुणों और क्षमताओं से सम्पन्न प्रधानमन्त्री भी राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता, अपने अस्तित्व की असुरक्षा, विभिन्न *कठिनाइयों और समस्याओं के दबाव के फलस्वरूप कुछ समय के लिए मन्त्रिमण्डलीय भूमिका सम्पन्न करने को बाध्य हो* सकता है।

विशेष राजनीतिक घटनाएँ, युद्ध सन्धि इत्यादि प्रधानमन्त्री की शक्ति, प्रभाव और सत्ता को घटाने-बढ़ाने में सहायक होते हैं। *उदाहरणार्थ* 1962 के भारत-चीन युद्ध की असफलता ने नेहरू की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाकर उनके साथियों तथा देशवासियों की प्रत्यक्ष आलोचनाओं को *मुखरित कर दिया था। 1965 के भारत-पाक युद्ध एवं 1971 के भारत-पाक* बांग्लादेश युद्ध के कुशल नेतृत्व एवं सफल संचालन के कारण क्रमशः लालबहादुर शास्त्री और इन्दिरा गाँधी की शक्ति, प्रभाव एवं प्रतिष्ठा में अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई थी।

(ग) लोकसभा का नेता—प्रधानमन्त्री लोकसभा के बहुमत दल का नेता होने के कारण संसद का नेतृत्व और मन्त्रिमण्डल की नीति निर्धारण करता है। विधेयक किस प्रकार के हों तथा कब सदन के समक्ष प्रस्तुत किये जाएँ यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। वह सदन में शासन का प्रमुख वक्ता होता है तथा प्रतिपक्ष के प्रश्नों का उत्तर देता है। राज्यसभा के 12 नामजद किये जाने वाले सदस्य उसकी इच्छानुसार मनोनीत किए जाते हैं। लोकसभा का कार्यक्रम निश्चित करने उसे स्थगित अथवा भंग कराने के सम्बन्ध में *प्रधानमन्त्री की निर्णायक भूमिका होती है। इंग्लैण्ड में लोकसभा को* भंग करने की सिफारिश करना प्रधानमन्त्री का विशेषाधिकार है।

संकटकालीन परिस्थितियों में प्रधानमन्त्री की शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, क्योंकि राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों का उपयोग व्यवहार में वही करता है। 44वें संविधान संशोधन द्वारा ऐसे अंकुश लगा दिए गए हैं जिनसे संकटकालीन शक्तियों का दुरुपयोग नहीं हो सके, पर यदि संकटकाल की घोषणा हो जाए तो संविधान प्रदत्त सभी शक्तियों का उपयोग व्यवहार में प्रधानमन्त्री करता आया है। लोकसभा की गरिमा तथा प्रतिष्ठा को कायम रखने का दायित्व उसी का है। लोकसभा के सफल संचालन में प्रधानमन्त्री की भूमिका निर्णायक होती है।

(घ) प्रमुख प्रशासक एवं संरक्षण प्रदानकर्ता—प्रधानमन्त्री प्रमुख शासक है। देश में अधिकांश उच्च पदों पर नियुक्ति संघ लोक सेवा आयोग करता है, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण पद लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते। इन पर नियुक्ति करने का अधिकार प्रधानमन्त्री को है। विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति, राज्यपालों का मनोनयन, कम्प्ट्रोलर एण्ड ऑडिटर जनरल, एडवोकेट जनरल, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों, आयोगों के सदस्यों, सार्वजनिक निगमों के प्रबन्धकों आदि पदों पर नियुक्ति प्रधानमन्त्री करता है। प्रशासकीय पदों का सृजन एवं उन पर नियुक्ति का अधिकार भी उसे है। वह सेनाध्यक्ष, वायु सेनाध्यक्ष एवं नौ सेनाध्यक्ष की नियुक्ति करने में भी सक्षम है। भारत सरकार के अनेक अलंकरण (भारतरत्न, पद्मविभूषण, पद्मभूषण एवं पद्मश्री) आदि देने के क्षेत्र में भी उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है।

(ङ) प्रधानमन्त्री, विदेश नीति तथा सुरक्षा नीति—प्रधानमन्त्री के मार्गदर्शन में विदेश नीति निर्धारित की जाती है यथा विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना, शान्ति, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सन्धियाँ करना आदि प्रधानमन्त्री विदेश मन्त्रालय को चाहे अपने अधीन रखे अथवा किसी दूसरे मन्त्री को सौंपे, लेकिन वह विदेश मन्त्रालय से लगातार सम्पर्क में रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में देश का वास्तविक प्रवक्ता वही होता है। विदेश नीति के सभी महत्वपूर्ण मामलों का अन्तिम निर्णय वही करता है। प्रधानमन्त्री पं. नेहरू ने विदेश नीति के निर्माण में इतना योगदान दिया है कि भारतीय विदेश नीति को नेहरू की नीति कहा जाने लगा।

सुरक्षा से सम्बन्धित मामलों पर प्रधानमन्त्री का निर्णय होता है। रक्षा मन्त्री को प्रधानमन्त्री के निकट सम्पर्क और पूर्ण नियन्त्रण में रहकर कार्य करना होता है। युद्ध में देश की हार-जीत का श्रेय प्रधानमन्त्री को मिलता है। किस महाशक्ति से क्या सहायता लेनी है? किस राष्ट्र के प्रति क्या नीति अपनानी है? किस प्रकार शान्ति-समझौते करने हैं? संयुक्त राष्ट्र संघ में क्या कूटनीतिक पैंतरे दिखाने हैं? सभी निर्णय अन्तिम रूप से प्रधानमन्त्री के होते हैं। समस्त सैनिक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमन्त्री के निर्देशानुसार किया जाता है। 1962 में चीन के साथ पराजय का कलंक नेहरू जी के ऊपर लगा था जबकि 1965 एवं 1971 में पाकिस्तान को शिकस्त देने का श्रेय क्रमशः शास्त्री जी एवं श्रीमती इन्दिरा गांधी को मिला।

(च) प्रधानमन्त्री और अर्थनीति—वित्तीय नीतियों का निर्धारण प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर है। वह कार्यक्रम निर्धारित करता है और क्रियान्वयन पर नियन्त्रण रखता है। योजना आयोग का अध्यक्ष होने के कारण नियोजित विकास उसके मार्गदर्शन में होता है। देश की औद्योगिक नीति उसकी इच्छाओं का प्रतिबिम्ब है। जनहित की दृष्टि से वह शासन-प्रशासन का मार्ग-प्रदर्शन करता है। देश के अर्थतन्त्र की सफलता-असफलता का उत्तरदायित्व प्रधानमन्त्री पर होता है। वित्त मन्त्री कोई राष्ट्रीय महत्व का फैसला स्वयं नहीं कर सकता। बजट निर्माण का कार्य तथा राज्यों को वित्तीय सहायता देने सम्बन्धी अन्तिम निर्णयों के पीछे प्रधानमन्त्री का परामर्श होता है। योजनाओं के सफल संचालन का भार उसे उठाना पड़ता है।

(छ) प्रधानमन्त्री और विधि-निर्माण—विधि-निर्माण संसद का अधिकार और कृत्य है, लेकिन व्यवहार में इस क्षेत्र में प्रधानमन्त्री की तब निर्णायक भूमिका होती है जब वह बहुमत का विश्वास अर्जित किए हुए हो। संसद में बहुमत दल के नेता होने के कारण कोई व्यक्ति प्रधानमन्त्री पद पर आता है और बहुमत के बल पर वह संसद से मनोवांछित कानून बनवा सकता है, संविधान में संशोधन करवा सकता है, लेकिन प्रधानमन्त्री यह सब करते समय जनता और विरोधी दलों के रुख का ध्यान रखता है। अपना उत्तरदायित्व समझने वाला कोई प्रधानमन्त्री निरंकुशता के मार्ग पर नहीं चलता। भारत में अब तक जो प्रधानमन्त्री हुए हैं उन्होंने लोकतान्त्रिक आदर्शों और परम्पराओं के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए अपनी शक्तियों का प्रयोग किया है।

(ज) राज्य सरकारें और प्रधानमन्त्री—केन्द्र और राज्य के सम्बन्धों के प्रमुख प्रेरणा-प्रेरक, प्रवक्ता एवं सूत्रधारकर्ता प्रधानमन्त्री एवं मुख्यमन्त्री हैं, यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से राष्ट्रपति और राज्यपाल के नाम एवं उनके माध्यम द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्र और राज्यों के प्रमुख वास्तविक अधिकारी प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री होते हैं। उनके सांविधानिक सम्बन्ध स्थायी होते हैं। व्यवहार में दोनों वास्तविक प्रमुख अधिकारियों के सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ हो गए हैं। राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद की सलाह पर की जाती है। वस्तुतः राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू

करने में प्रधानमन्त्री की मुख्य भूमिका होती है। संवैधानिक दृष्टि से प्रधानमन्त्री को न तो मुख्यमन्त्रियों को नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है और न ही मुख्यमन्त्रियों का प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में कोई भूमिका निभाने का अधिकार प्राप्त है, परन्तु व्यावहारिक राजनीति में दोनों परस्पर नियुक्ति की पद्धति को प्रभावित कर महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।[1]

संविधान की अनेक व्यवस्थाएँ राज्य व्यवस्थापन के क्षेत्र में प्रधानमन्त्री को प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप का अधिकार देती हैं। उदाहरणार्थ समवर्ती सूची पर केन्द्रीय और प्रान्तीय कानूनों में मतभेद पैदा होने पर केन्द्रीय कानून को मान्यता प्राप्त होती है। अनुच्छेद 249 के अनुसार राष्ट्रीय हित में लोकसभा के सत्र के चालू होने पर, राज्यसभा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से किसी विषय को राज्य-सूची से केन्द्र सूची में एक वर्ष के लिए ले सकती है और आवश्यकतानुसार इस अवधि को बढ़ाया जा सकता है। अनुच्छेद 250 के अनुसार संकटकाल में केन्द्रीय संसद सीधे राज्य के सम्बन्ध में कानून बना सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के क्रियान्वयन की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार अनुच्छेद 253 के अन्तर्गत राज्यों के सम्बन्ध में कानून बना सकती है। अनुच्छेद 200 के अधीन राज्यपाल कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर सकता है। अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्य परस्पर समझौता कर केन्द्र को राज्य-सूची पर कानून बनाने का अधिकार स्वयं दे सकते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के प्रमुख प्रधानमन्त्री को राज्य व्यवस्थापन के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने तथा राष्ट्रीय नीतियों सिद्धान्तों एवं कानूनों की क्रियान्वयन के लिए निर्देश प्रदान करने के अनेक संविधान प्रदत्त अधिकार प्राप्त हैं।

(छ) प्रधानमन्त्री और दल—प्रधानमन्त्री पद प्राप्त करने में उसका दल सहयोग प्रदान करता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह अपने दल का घोषित अथवा अघोषित नेता होता है। सामान्य निर्वाचन प्रधानमन्त्री का निर्वाचन है। प्रत्याशियों के चयन में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दल के सदस्य प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में राजनीतिक गतिविधियाँ निश्चित करते हैं।

दल की स्थिति, भूमिका एवं प्रधानमन्त्री से उसके सम्बन्धों को संविधान के अन्तर्गत कहीं पर सुपरिभाषित कर स्पष्ट एवं सुनिश्चित नहीं किया गया है। इन्हें संवैधानिक संरचना के रूप में परम्पराओं, परिस्थितियों और राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित एवं परिभाषित किया जाता रहा है। कभी ये विवाद सरकार और दल के दोनों प्रमुखों प्रधानमन्त्री बनाम दलीय अध्यक्ष के मध्य और कभी संसदीय बनाम संगठनात्मक पक्ष के मध्य चर्चित रहे हैं। प. नेहरू के समय शक्ति दल से सरकार के हाथों में हस्तान्तरित की गई, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद स्थिति बदल गई है। अब तक व्यावहारिक रूप से दलीय अध्यक्ष का चयन प्रधानमन्त्री करता था, परन्तु अब प्रधानमन्त्री के चयन में दल के अध्यक्ष की आवश्यकता हुई है। 1971 के बाद से प्रधानमन्त्री के पद पर दलीय अध्यक्ष के पद को आच्छादित कर दिया गया और 'औपचारिक शक्तियाँ न होते हुए भी प्रधानमन्त्री वास्तविक रूप से दल और सरकार का नेता बन गया।' जब जनता पार्टी की सरकार बनी तो प्रधानमन्त्री और दल के अध्यक्षों के सम्बन्धों में स्पष्ट स्थिति नहीं रही, पर ऐसा लगा कि दल का अध्यक्ष अपनी संवैधानिक शक्तियों और अधिकारों के प्रति जागरूक रहेगा। जनता सरकार अल्पकालिक रही और जनवरी, 1980 में श्रीमती गाँधी विशाल बहुमत के साथ प्रधानमन्त्री बनी तथा दल अध्यक्ष का पद प्रधानमन्त्री के द्वारा उसी प्रकार आच्छादित हो गया है जिस प्रकार 1971 के बाद हुआ था। 31 अक्टूबर, 1984 को उनकी हत्या के बाद उनके पुत्र राजीव गाँधी प्रधानमन्त्री बने। वे तब से प्रधानमन्त्री और दल के अध्यक्ष दोनों ही पदों को धारण किए रहे और दल और सरकार पर उनका सर्वोपरि प्रभाव बना रहा। विश्वनाथ प्रतापसिंह के समय राष्ट्रीय मोर्चे के अध्यक्ष एन. टी. रामाराव थे। प्रधानमन्त्री नरसिंहाराव कांग्रेस (इ) के अध्यक्ष थे जबकि अटलबिहारी वाजपेयी के प्रधानमन्त्रित्व काल में भारतीय जनता पार्टी का नेतृत्व कुशाभाऊ ठाकरे, बंगारू लक्ष्मण, जनाकृष्ण और नायडू के पास रहा है।

(ज) प्रधानमन्त्री और जनमत—डॉ. विमला शुक्ला के अनुसार, "प्रधानमन्त्री और जनता दोनों परस्पर अन्तर्सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित हैं। प्रधानमन्त्री की भूमिका, उनके कार्यों एवं नीति का प्रभाव जनता पर पड़ता है और जनमत के समर्थन एवं विरोध का प्रभाव प्रधानमन्त्री पर पड़ता है। प्रधानमन्त्री सत्तारूढ़ दल का ही नहीं, सम्पूर्ण दल का नेता होता है अतः जनमत के विश्वास, बहुमत एवं लोकप्रियता को अपने पक्ष में कर, वह शक्तिशाली प्रधानमन्त्रीय भूमिका सम्पादित कर सकता है।" जिस दल को ऐसे व्यक्तित्व एवं नेतृत्व वाला व्यक्ति मिल जाता है, जिसे जनता की प्रशंसा एवं विश्वास प्राप्त हो, उसे लम्बे समय तक सत्ता में बने रहने का लाभ तथा तानाशाह बनने तक की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी भाँति जनता अपने निर्वाचन-क्षेत्र के प्रतिनिधियों, विभिन्न संगठनों, संस्थानों, प्रभावक और हिताश्रित गुटों, आलोचनाओं, आन्दोलनों, प्रदर्शनों एवं हड़तालों इत्यादि के द्वारा अपनी माँगों, शिकायतों, इच्छाओं एवं असन्तोष को सरकार तक पहुँचा सकती है। अन्तिम रूप से जनता मतपत्रों द्वारा प्रधानमन्त्रियों की नीतियों को समर्थित या असमर्थित कर, सत्तारूढ़ या

1 डॉ. विमला शुक्ला पूर्वोक्त, पृ. 353-57

अपदस्थ करने का अपना निर्णय देती है अत: प्रधानमन्त्री का दायित्व है कि वह ऐसे कार्य सम्पादित करे जिससे जनमत उसके विरुद्ध सगठित न हो, अपितु उसकी कार्य शैली से प्रभावित हो सके।

(ट) प्रधानमन्त्री और राजनीतिक स्थिति—भारतीय प्रधानमन्त्री की शक्ति उसकी राजनीतिक स्थिति पर निर्भर करती है। 1989 के लोकसभा के निर्वाचन के उपरान्त किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न आने से प्रधानमन्त्री के प्रभाव में कुछ कमी आयी है। 1989 में गठित जन मोर्चा सरकार का नेतृत्व वी. पी. सिंह कर रहे थे। यह सरकार बाहर से समर्थन पर आश्रित थी तथा कई दलों की सरकार होने से आन्तरिक दबावों से ग्रसित थी। प्रधानमन्त्री का प्राधिकार और शक्ति सदन में उसके दल के बहुमत पर निर्भर करता है। बहुमत का अभाव सरकार के जीवन को कम कर देता है। 1991 में कांग्रेस की अल्पमत सरकार के प्रधानमन्त्री पी. वी. नरसिम्हाराव अपने कार्यकाल में सरकार को बचाये रखने के लिए जोड़तोड़ का सहारा लेते रहे, परिणामस्वरूप सासदों के खरीद से सम्बन्धित प्रकरणों में न्यायालय में उलझ गए।

1996 में अटलबिहारी वाजपेयी देश के प्रधानमन्त्री बने, लेकिन वे लोकसभा में विश्वासमत नहीं जीत सके परिणामस्वरूप तेरह दिन में ही सरकार से बाहर होना पड़ा। इस सरकार के विकल्प के रूप में सयुक्त मोर्चा के एच. डी. देवेगौड़ा 31 मई, 1996 को प्रधानमन्त्री बनाए गए। यह सरकार कांग्रेस के बाह्य समर्थन पर टिकी हुई थी, देवेगौड़ा राष्ट्रीय नेताओं में से नहीं थे जिससे लालूप्रसाद यादव, शरद यादव आदि नेता उनसे विरोध रखते थे जिसके कारण जनता दल अन्तःकलह से लगातार जूझता रहा। परिणामतः कांग्रेस ने मोर्चे पर दबाव बनाकर एच. डी. देवेगौड़ा को त्याग पत्र देने के लिए बाध्य कर दिया। कांग्रेस के सरकार बनाने में असफल हो जाने के बाद सयुक्त मोर्चा ने इन्द्रकुमार गुजराल को अपना नेता चुना। मोर्चे के नेताओं के निजी अहम् और विवादों के कारण समझौते के रूप में गुजराल को यह पद प्राप्त हो गया। 21 अप्रैल, 1997 को गुजराल को प्रधानमन्त्री पद की शपथ दिलाई गई। यह सरकार अल्पजीवी रही। जैन आयोग की रिपोर्ट के नाम पर कांग्रेस ने इस सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। इस रिपोर्ट में राजीव गाँधी की हत्या में डी. एम. के. की भूमिका पर सन्देह किया गया था। अत: गुजराल ने प्रधानमन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया। किसी अन्य दल द्वारा सरकार बनाने की पेशकश न किये जाने पर राष्ट्रपति महोदय ने 17 माह 19 दिन में लोकसभा को भग कर दिया।

12वीं लोकसभा में किसी दल को बहुमत नहीं मिला। भाजपा सबसे बड़े दल के रूप में उभरी, उसके नेतृत्व में दूसरी बार अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमन्त्री बनाया गया। अटल बिहारी वाजपेयी ने सविद सरकार की मजबूरियों को समझते हुए अपने गठबन्धन में सम्मिलित सभी दलों को सरकार में सम्मिलित करने तथा अन्य सभी प्रकार से सतुष्ट करने का प्रयास किया, लेकिन अन्नाद्रमुक की नेता जयललिता ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया। इस स्थिति में राष्ट्रपति महोदय ने सरकार से सदन में विश्वास मत कराने का आदेश दिया, परिणामस्वरूप सरकार सदन में एक मत से पराजित हो गई। अन्य किसी भी दल द्वारा विकल्प के रूप में सरकार नहीं बनाई जा सकी। तत्पश्चात् लोकसभा को भग कर दिया गया।

13वीं लोकसभा के चुनावों में भाजपा के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे के सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने के पश्चात् मोर्चे के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने तीसरी बार 13 अक्टूबर, 1999 को देश के प्रधानमन्त्री पद का कार्यभार सभाला। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन में भाजपा को छोड़कर 17 अन्य दलों तथा श्रीमती मेनका गाँधी को निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में लोकसभा में प्रतिनिधित्व मिला है। इस सरकार का भविष्य भाजपा की मौलिक नीतियों की तिलाजलि तथा क्षेत्रीय दलों की आकांक्षाओं और उनकी राजनीतिक मजबूरियों में समन्वय और प्रबन्ध पर निर्भर रहा है। अत: 1989 से 1999 के दशक में प्रधानमन्त्री की राजनीतिक स्थिति कमजोर रही है। इसका प्रमुख कारण किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत न होना तथा अल्पमत या सविद सरकारों का गठन है परिणामस्वरूप सरकारों का भविष्य क्षेत्रीय दलों के हाथों में सिमट गया है तथा प्रधानमन्त्री की स्थिति राजनीतिक मजबूरी बनकर रह गयी है।

भारत का प्रधानमन्त्री कार्यपालिका का प्रधान अथवा शासनाध्यक्ष, लोकसभा में अपने दल का नेता, राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रवक्ता आदि सभी पद एक साथ सयुक्त रूप से अपने व्यक्तित्व में समाहित करता है। सघ सरकार एव इकाई राज्यों की सरकारों के मध्य कड़ी के रूप में कार्य करना उसी का उत्तरदायित्व है। इन सभी पदों का एक व्यक्ति में समाहित हो जाने के कारण प्रधानमन्त्री का पद शक्ति, प्रतिष्ठा, गौरव एव गरिमा का पद होता है।

प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति

(Actual Position of the Prime Minister)

भारत का प्रधानमन्त्री कितने भी शक्तिशाली व्यक्तित्व का हो, सांवैधानिक व्यवस्थाएं और अभिसमय प्रधानमन्त्री पद को जो शक्ति प्रदान करते हैं, उससे प्रधानमन्त्री निरकुश नहीं बन सकता है। देश में प्रधानमन्त्री की शक्तियों पर अग्रांकित अकुश बने रहते हैं—

1. लोकसभा का नियन्त्रण—कोई भी प्रधानमन्त्री लोकमत को ठुकरा नहीं सकता। प. नेहरू जनमत के समर्थन पर निर्विवाद नेता बने रहे।

2. लोकसभा में बहुमत का प्रतिबन्ध—प्रधानमन्त्री लोकसभा के बहुमत के बल पर अपनी शक्तियों का प्रयोग कर पाता है। निरंकुश आचरण करने पर प्रधानमन्त्री बहुमत का विश्वास खो सकता है और अपनी स्थिति को खतरे में डाल सकता है।

3. साथी मंत्रियों का अंकुश—प्रधानमन्त्री अपनी कैबिनेट के महत्वपूर्ण और व्यापक प्रभाव वाले साथियों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने से बचता है ताकि उसकी स्थिति में दुर्बलता उत्पन्न न हो।

4. दलीय प्रतिबन्ध—अपने दल के बारे में कोई व्यक्ति प्रधानमन्त्री पद पर बैठता है, अतः उसे कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेने से पूर्व अपने संसदीय दल का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक होता है।

5. राज्यों में विरोधी दलों की सरकारें—राज्यों में विरोधी दलों की सरकारें प्रधानमन्त्री की तानाशाही प्रवृत्ति पर अंकुश लगा सकती हैं। यदि केन्द्र और सभी राज्यों में एक दल सत्तारूढ़ हो तो भी राज्य सरकारों की इच्छा का सम्मान प्रधानमन्त्री को करना पड़ता है।

6. मुख्यमन्त्रियों का दबाव—प्रधानमन्त्री को अपनी नीतियों के सफल कार्यान्वयन के लिए राज्यों के मुख्यमन्त्रियों को साथ लेकर चलना पड़ता है। उनके युक्तिसंगत दबाव को वह सहन करता है। उत्तरदायित्व के प्रति सजग मुख्यमंत्री अपने सद्परामर्श से प्रधानमन्त्री को निरंकुशता की ओर नहीं जाने देते।

7. राष्ट्रपति का परामर्श—यद्यपि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मंत्रणानुसार अपनी शक्तियों और कार्यों का निर्वहन करता है लेकिन वह अपने सद्परामर्श, अपनी सामयिक चेतावनी आदि के माध्यम से प्रधानमन्त्री के ऐसे कदमों पर प्रभाव डाल सकता है जो निरंकुशता की ओर बढ़ रहे हों। प्रधानमन्त्री को एक मैत्रीपूर्ण राष्ट्रपति की आवश्यकता होती है।

8. विरोधी दल—विरोधी दलों की रचनात्मक आलोचना प्रधानमन्त्री को निरंकुशता की ओर जाने से रोकती है।

9. बहुदलीय व्यवस्था—यदि केन्द्र में एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो या जो बहुमत मिले वह बहुत कम सदस्यों का हो तो यह स्थिति प्रधानमन्त्री को नियन्त्रित रखती है।

10. न्यायपालिका—संविधान-विरोधी कानून को असंवैधानिक घोषित करने की शक्ति न्यायपालिका को होती है वह प्रधानमन्त्री को बड़ी सीमा तक नियन्त्रित रखती है।

11. निष्पक्ष निर्वाचन आयोग—संविधान में एक निष्पक्ष निर्वाचन आयोग की व्यवस्था की गई है जो प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों रूपों में चुनाव सम्बन्धी मामलों में प्रधानमन्त्री की निरंकुशता पर प्रतिबंध लगाती है अतः प्रधानमन्त्री 'तानाशाह नहीं बन सकता। वह संविधानिक सीमाओं के भीतर रह कर अपनी शक्तियों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है।

अतः भारत की संसदीय व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की बहु-आयामी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थिति है। 'उसे राष्ट्र का नेता या नायक' माना जा सकता है। प्रधानमन्त्री की शक्तिशाली भूमिका उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करती है अतः उसके व्यक्तित्व में धैर्य, साहस, सही समय पर सही निर्णय लेने की क्षमता, अच्छी वक्तृत्व कला, मन्त्रिमण्डलीय सहयोगियों से काम लेने एवं उन्हें नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता, नौकरशाही पर नियन्त्रण करने की योग्यता, आकर्षक व्यक्तित्व तथा संसद एवं संसद के बाहर विपक्षी दलों से निपटने की क्षमता का होना परम आवश्यक है।

मन्त्रिपरिषद

(The Council of Ministers)

भारतीय मन्त्रि-मण्डल शासन पद्धति (The Indian Cabinet System)

1. राष्ट्रपति, राज्य का संवैधानिक प्रधान है जो मन्त्रि-परिषद की सलाह पर शासन करता है अर्थात् वह वास्तविक कार्यपालिका है। संविधान के अनुच्छेद 74 एवं 75 उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। मन्त्रिमण्डलीय शासन-पद्धति के क्रियान्वयन में रूढ़ियों और परम्पराओं के लिए स्थान है।

2. मन्त्री आवश्यक रूप से संसद के सदस्य होते हैं। हालांकि ऐसे व्यक्ति के मन्त्री बनने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है जो संसद का सदस्य न हो, तथापि संविधान के अनुच्छेद 75(5) के अनुसार कोई मंत्री जो निरन्तर छः मास तक संसद के किसी सदन का सदस्य न रहे, वह उस अवधि की समाप्ति पर मन्त्री पद पर नहीं रह सकता।

3. प्रधानमन्त्री की स्थिति अन्य सभी मन्त्रियों से गौरवपूर्ण और अधिकारपूर्ण होती है। उसकी स्थिति 'समकक्षों में प्रथम' (First Among Equals) मानी जाती है लेकिन व्यवहार में उसकी स्थिति सर्वोच्च होती है। उसकी सलाह पर राष्ट्रपति अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। प्रधानमन्त्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा मंत्रियों में विभागों का वितरण किया जाता है, प्रधानमन्त्री ही मंत्रियों का नेतृत्व और मार्गदर्शन करता है तथा उनमें समन्वय स्थापित करता है। वह अपने

मंत्रियों से त्यागपत्र माँग सकता है और इनकार करने पर वह राष्ट्रपति से उन्हें बर्खास्त करने की सिफारिश कर सकता है। वह संसद में और संसद के बाहर अपने मंत्रियों का बचाव करके उनमें आत्म-विश्वास की भावना का विकास करता है। उसका त्यागपत्र समस्त मन्त्रिपरिषद का त्यागपत्र माना जाता है।

4. मन्त्रिमण्डलीय शासन-पद्धति का सार मन्त्री का उत्तरदायित्व है। इसके दो अर्थ है—कैबिनेट स्तर का मंत्री, प्रशासनिक विभाग का अध्यक्ष होता है और विभाग के क्रियाकलापों के लिए वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है।

5. सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को प्रभावशाली रूप से प्रवर्तित करने के लिए भारतीय मन्त्रि-मण्डल में गोपनीयता के सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता दी गई है। अनुच्छेद 74(4) में उल्लेख है कि 'किसी मंत्री के अपने पद ग्रहण करने से पहले राष्ट्रपति उससे पद तथा गोपनीयता की शपथ कराएगा।' मतभेद की अवस्था में किसी मन्त्री द्वारा त्याग-पत्र देने पर स्पष्टीकरण के लिए सदन में कोई व्यक्तिगत वक्तव्य स्पीकर की सहमति से दिया जा सकता है। भारतीय संसद की कार्य-प्रणाली के नियमों में ब्रिटिश अभिसमयों (रूढ़ियों) का सफल प्रयोग हो रहा है।

6. राष्ट्रपति संवैधानिक प्रधान के रूप में दलीय राजनीति से ऊपर है, वह देश की व्यावहारिक राजनीति से तटस्थ रहता है, वह मन्त्रिमण्डलीय बैठकों में भाग नहीं लेता, यहाँ तक की उन बैठकों में भी उपस्थित नहीं होता जिनमें मन्त्री यह निर्णय करते हैं कि उन्हें राष्ट्रपति को क्या सलाह देनी है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्णयों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सूचना देता है।

6. मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल अनिश्चित होता है। यह संसद के 'विश्वासपर्यन्त' अथवा संसद के विश्वास तक अपने पद पर बनी रहती है। यदि लोकसभा के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर देती है तो उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

8. मन्त्रिपरिषद पर संसदीय नियन्त्रण की व्यवस्था है। संसद प्रश्नोत्तर, काम रोको प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव और कटौती प्रस्ताव के माध्यम से मन्त्रि-परिषद पर नियन्त्रण रखती है। विविध संसदीय समितियाँ मन्त्रिपरिषद की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखती हैं। यह संसदीय नियन्त्रण मन्त्रिपरिषद को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाता है।

मन्त्रिपरिषद का निर्माण (Formation of the Council of Ministers)—संविधान के अनुच्छेद 74 के अनुसार राष्ट्रपति को उसके कार्यों में सहायता और सलाह देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रिपरिषद होगी। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति उसके परामर्श से होगी जो राष्ट्रपति के 'प्रसादपर्यन्त' अपने पदों पर बने रहेंगे। यह लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री की नियुक्ति की जाती है, लेकिन इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति की शक्तियाँ असीमित नहीं हैं। वह लोकसभा में बहुमत दल के नेता को अनिवार्यतः प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्त करता है, लेकिन निम्नांकित परिस्थितियों में वह स्व-विवेक के आधार पर ही निर्णय ले सकता है—

(क) जब लोकसभा में किसी दल या गठबन्धन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, (ख) जब लोकसभा में सबसे बड़ा दल राष्ट्रपति के सम्मुख सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत करे, (ग) जब दो या दो से अधिक, या अनेक दलों का गठबन्धन मिलकर राष्ट्रपति के सम्मुख सरकार बनाने का दावा करे, (घ) जब दलीय विद्रोह के कारण अलग हुए गुट के नेता को कोई दल या एक या कुछ दल, गठबन्धन सरकार में शामिल हुए बिना बाहर रहकर उसे सरकार निर्माण करने में सहायता करें, (ङ) यदि लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल में नेतृत्व के प्रश्न पर फूट पड़ जाये तो दो प्रतिद्वन्द्वी नेता दल में अपने बहुमत का दावा राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत करें, (च) यदि कोई प्रधानमन्त्री लोकसभा में अविश्वास प्रस्ताव पर पराजित हो जाये और वैकल्पिक सरकार के गठन के सम्बन्ध में कठिनाई उपस्थित हो।

उपर्युक्त परिस्थितियों में राष्ट्रपति उस व्यक्ति को प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्त कर सकता है, जो लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त करने की क्षमता रखता है। ऐसी स्थिति में वह लोकसभा में सबसे बड़े दल के नेता को राष्ट्रपति के रूप में नियुक्त कर सकता है। वह अल्पमतीय दल के नेता को प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्त करने का निर्णय ले सकता है। वह ऐसे प्रधानमन्त्री को एक निश्चित अवधि में लोकसभा का 'विश्वास-मत' प्राप्त करने का 'निर्देश' दे सकता है।

मन्त्रि-परिषद का गठन करना प्रधानमन्त्री का अपना विशेषाधिकार माना जाता है। वह अपनी पसन्द के लोगों को मन्त्रिपरिषद में शामिल कर सकता है। इसके बावजूद, वह मन्त्रिपरिषद का निर्माण करने में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता है। उस पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध होते हैं—

(क) प्रधानमन्त्री को अपने दल के प्रभावशाली सहयोगियों को मन्त्रि-परिषद में स्थान देना पड़ता है, वह इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता, (ख) उसे मन्त्रिपरिषद का गठन करते समय देश के सभी भागों के उचित प्रतिनिधित्व का ध्यान रखना पड़ता है, (ग) अगर वह संविद सरकार का नेतृत्व करने वाला हो तो अपने साझेदार घटक और घटकों को प्रतिनिधित्व देना पड़ता है, (घ) वह अपनी मन्त्रिपरिषद में देश के सभी समुदायों, वर्गों और हित-समूहों को भी प्रतिनिधित्व देता है एवं (ङ) वह अपनी मन्त्रिपरिषद में प्रशासनिक दृष्टि से कुशल और विशेषज्ञ लोगों को स्थान देता है।

मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल में अन्तर

(Difference between the Council of Ministers and the Cabinet)

अनेक बार मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल का समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया जाता है लेकिन मन्त्रि परिषद और मन्त्रिमण्डल में अन्तर है। मन्त्रिपरिषद में मन्त्रियों की सभी श्रेणियाँ आ जाती हैं जबकि मन्त्रिमण्डल में केवल मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मन्त्री होते हैं। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद एक वृहत्तर संस्था होती है जबकि मन्त्रि मण्डल की संख्या उसकी तुलना में सीमित होती है। मन्त्रिमण्डल में महत्त्वपूर्ण विभागों के मन्त्री शामिल होते हैं जो मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेते हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने विभागों के अध्यक्ष होते हैं और वे अपने विभागीय मामलों का संचालन करते हैं। राज्यमन्त्री, उपमन्त्री और संसदीय सचिव, मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्रियों की सहायता करते हैं। मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्री मन्त्रिपरिषद की धुरी होते हैं।

मन्त्रिपरिषद के कार्य और शक्तियाँ (Function and Powers of the Council of Ministers)—भारतीय संविधान में मन्त्रिपरिषद को देश की वास्तविक शासक माना जाता है। भारत में मन्त्रिपरिषद के कार्य ब्रिटिश मन्त्रिपरिषद के समान निम्नांकित हैं—

(1) मन्त्रिपरिषद का प्रमुख कार्य देश के लिए नीति-निर्धारण करने का है। वह देश की गृह, वित्तीय, औद्योगिक, सैनिक, विदेश नीति आदि का निर्धारण करती है।

(2) व्यवहार में राष्ट्रपति के समस्त अधिकारों और शक्तियों का उपयोग मन्त्रिपरिषद द्वारा किया जाता है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद वास्तविक शक्तियों का उपयोग करने वाली संस्था है।

(3) मन्त्रिपरिषद द्वारा कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग किया जाता है। उसके द्वारा सैनिक और असैनिक दोनों पक्षों का प्रशासन किया जाता है तथा संसद द्वारा पारित सभी कानूनों को लागू किया जाता है।

(4) मन्त्रिपरिषद द्वारा देश के लिए वित्त सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन किया जाता है। इसके द्वारा बजट का निर्माण किया जाता है। देश की औद्योगिक और व्यापारिक नीति का निर्धारण करना और उसको क्रियान्वित करने का दायित्व मन्त्रि परिषद का होता है।

(5) मन्त्रिपरिषद द्वारा व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों का निर्वाह किया जाता है। यद्यपि कानून निर्माण करने का कार्य संसद का माना जाता है, लेकिन व्यवहार में मन्त्रिपरिषद द्वारा कानून बनाये जाते हैं। प्रदत्त व्यवस्थापन प्रक्रिया ने इस क्षेत्र में मन्त्रि परिषद् की शक्तियों को अधिक विस्तृत कर दिया है।

(6) मन्त्रिपरिषद संसद में प्रश्नकाल, शून्यकाल, सामान्य वादविवाद में प्रभावशाली ढंग से कार्य करता है। अविश्वास प्रस्ताव एवं काम रोको प्रस्ताव के समय इसकी निर्णायक भूमिका होती है।

मन्त्रिपरिषद द्वारा अपने कार्यों का संचालन करने के लिए विविध प्रकार की समितियों का सहारा लिया जाता है। इन समितियों में 'राजनीतिक मामलों की समिति' (Political Affairs Committee) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। मन्त्रिमण्डलीय समितियों को दो भागों में विभाजित किया जाता है—स्थायी (स्टैण्डिंग) तथा तदर्थ (एडहॉक)। स्थायी समितियों में प्रतिरक्षा, वित्तीय, प्रशासनिक संगठन, संसदीय एवं विधि विधायक समितियों की गणना होती है। तदर्थ समितियों का निर्माण समयानुसार तय किया जाता है जब आवश्यक और नवीन समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं।

मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में वृद्धि के कारण (Reasons for the Growth of Powers of the Cabinet)—स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। आज स्थिति यह है कि संसद मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रित नहीं करती, अपितु मन्त्रिमण्डल संसद को नियन्त्रित करता है। मन्त्रि मण्डल की शक्तियों में होने वाली वृद्धि में निम्नलिखित कारणों का योगदान है—

(1) संसदीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति तो औपचारिक-संवैधानिक अध्यक्ष मात्र है, मन्त्रिमण्डल वास्तविक शक्तियों का उपयोग करता है।

(2) दलीय अनुशासन के कारण मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में भारी वृद्धि हो गई है। सांसद दलीय अनुशासन में बंधे रहते हैं, अतः वे अपनी 'अन्तरात्मा' को मारकर मन्त्रिमण्डल के निर्णयों का समर्थन करते हैं। दलीय सचेतक (व्हीप) की अवहेलना करने को अनुशासनहीनता समझा जाता है। दल बदल विरोधी संविधान संशोधन 1985 के पारित होने के बाद दलीय अनुशासन का शिकंजा कड़ा हो गया है। अब दल से पृथक् होकर नया दल गठन करने के लिए एक-तिहाई सदस्यों का दल से विद्रोह करना आवश्यक है अन्यथा विद्रोह करने वाले सदस्यों को अपनी सदस्यता से हाथ धोना पड़ सकता है अतः अब दल से विद्रोह करना सरल कार्य नहीं है।

(3) प्रधानमन्त्रियों का 'करिश्मावादी नेतृत्व' मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में वृद्धि के लिए उत्तरदायी रहा है। पं. जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती इन्दिरा गांधी और राजीव गांधी के प्रधानमन्त्रीत्व काल में मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में असीम वृद्धि हुई है।

(4) भारतीय निर्वाचन को प्रभावित करने में प्रधानमन्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। निर्वाचनों में दल को विजयी बनाने में प्रधानमन्त्री के व्यक्तित्व की अहम् भूमिका रहती है। साथ ही संसदीय निर्वाचन में यह तय होता है कि देश का अगला प्रधानमन्त्री कौन होगा? प्रधानमन्त्रियों की इस भूमिका के कारण मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में वृद्धि हुई है।

(5) मन्त्रिमण्डल के पास 'लाभ और अनुग्रह पहुँचाने' की व्यापक शक्तियाँ हैं, फलतः वह अपने समर्थकों को नियुक्तियों, पदोन्नतियों, स्थानान्तरणों, कोटा, लाइसेंस, परमिट और विविध प्रकार से लाभ पहुँचा सकता है। इससे मन्त्रिमण्डल की भूमिका शक्तिशाली हो गई है।

(6) प्रधानमन्त्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा संसद के निम्न सदन (लोकसभा) को भंग करने की शक्ति ने मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में वृद्धि की है। इस शक्ति के माध्यम से मन्त्रिमण्डल सांसदों को इस दृष्टि से भयभीत रखता है कि अगर उन्होंने उसके विरुद्ध विद्रोह करने का दुस्साहस किया तो वह लोकसभा को भंग करने का निर्णय लेकर उनके सांसदों के रूप में अस्तित्व को संकट में डाल देगा। इससे सांसद असामान्य परिस्थितियों में मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध निर्णय लेने का साहस नहीं जुटा पाते हैं। जब भारत में मन्त्रिमण्डलों के विरुद्ध विद्रोह हुआ तो उसकी परिणति लोकसभा का विघटन और मध्यावधि चुनाव के रूप में हुई है।

(7) वर्तमान में निर्वाचन खर्चीले हो गये हैं, अतः समयावधि के पूर्व सांसद निर्वाचन से बचने का प्रयास करते हैं अतः यह स्थिति मन्त्रिमण्डल की शक्तियों को बढ़ाने में सहायक बनी है।

(8) संसद के सत्र अल्पावधि के लिए होते हैं। इसमें उसे व्यापक कार्य निपटाने पड़ते हैं। संसद तो रूपरेखा पर विचार करती है और वास्तविक कार्य मन्त्रिमण्डल द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

(9) प्रदत्त व्यवस्थापन प्रक्रिया ने मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि की है और व्यवस्थापन की निर्णायक शक्ति मन्त्रि-मण्डल के पास केन्द्रित हो गई है।

(10) राष्ट्रीय आपातकाल की स्थिति ने मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में अपार वृद्धि की है।

(11) राष्ट्रीय वित्त पर मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण होने से इसकी शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इससे वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल के पास केन्द्रित हो गई है।

(12) वर्तमान में शासन कार्यों का संचालन करना जटिल बन गया है। सामान्य सांसद प्रशासन की बारीकियों को समझने में अक्षम होते हैं। परिणामस्वरूप वे मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण नहीं कर पाते हैं।

क्या भारतीय मन्त्रिमण्डल तानाशाह बन सकता है?

जब मन्त्रिमण्डल की शक्तियाँ बढ़ती जा रही हैं और संसद की शक्तियों में ह्रास हो रहा है तो क्या ऐसी परिस्थितियों में मन्त्रिमण्डल तानाशाह या अधिनायक बन सकता है। भारतीय मन्त्रिमण्डल पर निम्नांकित प्रतिबन्ध हैं, जिनके कारण वह अपनी सीमाओं में रहकर कार्य करने को बाध्य है—

(1) भारतीय संविधान मन्त्रिमण्डल की तानाशाही को रोकने में सक्षम है। संविधान निर्माताओं ने भारत को 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य' का दर्जा प्रदान किया है, फलतः कोई सरकार या मन्त्रिमण्डल देश के इस बुनियादी स्वरूप में परिवर्तन नहीं कर सकती है। संविधान निर्माताओं की भावनाओं और अपेक्षाओं को नकारने की क्षमता किसी मन्त्रिमण्डल में नहीं है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल संसद में अपने बहुमत के माध्यम से संविधान में संशोधन तो कर सकता है, तथापि इसके 'आधारभूत' या 'बुनियादी स्वरूप' में परिवर्तन नहीं कर सकता है।

(2) विपक्षी दलों का मन्त्रिमण्डल पर प्रभावशाली नियन्त्रण रहता है। वे संसद में प्रश्नोत्तर, काम रोको प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव और कटौती प्रस्तावों के माध्यम से मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रित करते हैं। संसदीय समितियों के द्वारा विपक्षी दल मन्त्रिमण्डल पर अंकुश स्थापित करते हैं। संसद के बाहर विपक्षी दलों द्वारा प्रदर्शनों, धरनों, रैलियों और सभाओं के माध्यम से मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। विपक्षी दल जनमत जाग्रत करने का कार्य करते हैं।

(3) राष्ट्रीय निर्वाचन मन्त्रिमण्डल की शक्तियों पर अंकुश लगाते हैं। पाँच वर्ष की समाप्ति के बाद मन्त्रिमण्डल को मतदाताओं का सामना करने के कारण वह अमर्यादित या तानाशाही आचरण करने से स्वयं को बचाता है। वह जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए कार्य करता है। उसकी कार्य-शैली लोकतान्त्रिक बनी रहती है। जिस किसी मन्त्रिमण्डल ने अमर्यादित आचरण किया, जनता ने उसे सत्ताच्युत कर दिया है।

(4) स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की जनता की राजनीतिक चेतना में पर्याप्त वृद्धि हुई है। एक के बाद एक, संसदीय और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचनों में उसने भारी राजनीतिक परिपक्वता का परिचय दिया है, अतः प्रधानमन्त्री और

मन्त्रिमण्डल के सदस्य जनता की अपेक्षाओं और संवेदनाओं के प्रति चौकन्ने रहते हैं और उसकी शक्ति से वाकिफ रहते हैं। यह स्थिति मन्त्रिमण्डल को सदैव नियन्त्रित करती रहती है।

(5) समाचार पत्रों के निष्पक्ष एवं जागरूक प्रकाशन के कारण तानाशाही प्रवृत्तियों पर अंकुश लगता है।

(6) भारत में न्यायिक पुनरावलोकन अथवा न्यायिक पुनरीक्षा का सिद्धान्त प्रचलित है जिसका तात्पर्य है मन्त्रिमण्डल और संसद द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य की न्यायपालिका द्वारा समीक्षा की जा सकती है। यदि न्यायपालिका को यह प्रतीत हो कि मन्त्रिमण्डल और संसद के किसी कार्य से संविधान का अतिक्रमण हुआ है तो वह उसे अवैध घोषित कर सकती है। इसके अलावा 'केशवानन्द भारती' विवाद में उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है कि "संसद संविधान में संशोधन तो कर सकती है लेकिन इसके मौलिक या आधारभूत स्वरूप (Basic Structure) में परिवर्तन नहीं कर सकती।" उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय मन्त्रिमण्डलीय अधिनायकवाद पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करता है। हाल ही में 'न्यायपालिका की सक्रियता' ने मन्त्रिमण्डल की शक्ति को नियन्त्रित किया है।

(7) संसदीय समितियाँ—लोकलेखा समिति, सार्वजनिक उपक्रम समिति और अनुमान समिति और अन्य समितियाँ मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण स्थापित कर उन पर अंकुश स्थापित करती हैं।

(8) लोकसभा का अध्यक्ष और राज्यसभा का सभापति (उपराष्ट्रपति) मन्त्रिमण्डल की भूमिका पर अंकुश लगाते हैं। प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को इन पीठासीन अधिकारियों की प्रतिष्ठा और गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए कृत-संकल्प रहना पड़ता है। ये अधिकारी संसद सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करते हैं। ये मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को आवश्यक 'निर्देश' देते हैं जिनकी उनके द्वारा अनुपालना की जाती है।

राज्यपाल
(The Governor)

संविधान सभा में इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि राज्यपालों की प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति की जाए या राज्यपालों को जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से चुना जाए? गहन विचार-विमर्श के बाद संविधान निर्माताओं ने निर्वाचित राज्यपाल के विचार को निम्नलिखित आधारों पर अस्वीकार कर दिया—

1. निर्वाचित राज्यपाल की अवधारणा संसदीय शासन व्यवस्था से मेल नहीं खाती है। यह सम्भव है कि राज्यपाल सांवैधानिक राज्याध्यक्ष के रूप में कार्य न कर, राज्य सरकार का प्रमुख बन जाए।
2. एक निर्वाचित राज्यपाल में और राज्य के मुख्यमन्त्री में संघर्ष की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो जाएँगी क्योंकि मुख्यमन्त्री और मन्त्रिपरिषद के सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है।
3. एक निर्वाचित राज्यपाल राजनीतिक दलबन्दी के वातावरण के दलदल में फँस जायेगा और निरपेक्ष रूप से सांवैधानिक कार्यपालिका के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा।
4. राज्यपाल के निर्वाचन की व्यवस्था भारत की केन्द्रीभूत संघीय व्यवस्था के अनुकूल सिद्ध नहीं होगी। संघ और राज्य में विवाद की स्थिति में राज्यपाल केन्द्र सरकार का हित-साधक नहीं होगा और न संघ सरकार का कार्य करने के लिए विश्वसनीय उपकरण सिद्ध होगा।

राज्यपालों की नियुक्ति की वर्तमान पद्धति के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

1. यह पद्धति कम खर्चीली है। राज्यपाल के निर्वाचन कराये जाने पर भारी धन राशि व्यय करनी पड़ेगी। 2. इस पद्धति से अल्पसंख्यक समुदाय को राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जा सकता है। 3. इसमें राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद की सलाह पर राज्यपाल की नियुक्ति की जाती है अतः ऐसा राज्यपाल केन्द्र सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। ऐसे राज्यपाल पर केन्द्र का प्रभुत्व बना रहता है। 4. इस व्यवस्था में राज्य के अन्य योग्य व्यक्तियों और सार्वजनिक जीवन के योग्यतम एवं प्रतिभावान व्यक्तियों को राज्यपाल पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। 5. नामजद व्यक्ति को राज्यपाल पद से हटाया जाना सरल होता है। राष्ट्रपति उसे बिना कारण बताये अपने पद से अलग कर सकता है। 6. ऐसा राज्यपाल मात्र सांवैधानिक अध्यक्ष के रूप में आचरण करेगा। उसमें और राज्य मन्त्रिपरिषद में संघर्ष की सम्भावना अपवाद रूप में रहती है। 7. राज्यपाल का दूसरे राज्य में स्थानान्तरण सम्भव है। 8. ऐसी स्थिति में एक से अधिक राज्यों के लिए एक राज्यपाल को नियुक्त किया जा सकता है।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में परम्पराएँ
(Traditions Regarding Appointment of the Governor)

1. राज्यपाल पद पर अधिकांशतः ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं जो अनुभवी हों, राजनीति के क्षेत्र में जिनका प्रभाव हो और उन्हें राजनीति तथा प्रशासन की बारीकियों का ज्ञान हो, अतः राज्यपाल पद पर कुशल राजनीतिज्ञों और कुशल प्रशासकों को नियुक्त किया जाता रहा है।

के विपरीत अथवा केन्द्र द्वारा सुझाये गये नाम पर राज्य सरकार की खुली आपत्ति के बावजूद उसी व्यक्ति की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति केन्द्र राज्य सम्बन्धों तथा राज्यपाल-मन्त्रि-परिषद के सम्बन्धों की दृष्टि से कदापि उचित नहीं होगा। इससे सभी पक्षों में जहाँ 'शीतयुद्ध' या 'तनाव की स्थिति' का विकास होगा वहाँ राज्यपाल के प्रति सम्मान में निश्चित कमी आयेगी।

(4) किसी राज्य में बाहरी व्यक्ति को राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए।

(5) राज्यपाल पद पर नियुक्ति को और अधिक अविवादास्पद बनाने के लिए राष्ट्रपति द्वारा एक ऐसी समिति का गठन किया जाना चाहिए जिसमें प्रधानमन्त्री, विपक्षी दल का नेता, लोकसभा का अध्यक्ष और सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश सम्मिलित हों। इस समिति द्वारा सुझाये गये व्यक्ति की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की जानी चाहिए। इससे योग्य व्यक्ति इस पद पर नियुक्त किये जा सकेंगे और उनकी नियुक्ति के बारे में अनावश्यक विवाद भी उपस्थित नहीं होंगे।

(6) राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में सरकारिया आयोग की सिफारिशों को व्यवहार में अनुसरण करना चाहिए। जिससे विवादों से मुक्ति मिल सके।

राज्यपाल की शक्तियाँ

(Powers of the Governor)

संविधान में राज्यपाल को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की है। संविधान के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गादास के अनुसार 'राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं सिर्फ कूटनीतिक, सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर।'[1] राज्यपाल राज्य का प्रधान होता है और कार्यपालिका सम्बन्धी सभी कार्य उसके नाम से किए जाते हैं। संवैधानिक रूप से उसे अपने अधिकारों का उपयोग करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वह अपने कार्य के प्रति राष्ट्रपति के सिवाय अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। राज्यपाल को उसके कार्यों में सहायता और सलाह देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होती है और व्यावहारिक रूप से राज्यपाल मन्त्रिपरिषद के परामर्श से कार्य करता है। राज्यपाल की प्रमुख शक्तियों को निम्नानुसार रखा जा सकता है—

1. **कार्यकारी शक्तियाँ**—राज्य की समस्त कार्यकारी शक्तियाँ राज्यपाल में निहित होती हैं जिन्हें वह स्वयं अथवा अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा सम्पादित करता है। वह विधानसभा में बहुमत दल के नेता को अथवा विधानसभा में सर्वाधिक सदस्यों का समर्थन करने वाले व्यक्ति को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करता है। मुख्यमंत्री के परामर्श पर वह अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है और उनमें विभागों का वितरण करता है। अगर निर्वाचन में राज्य विधानसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो राज्यपाल को अपने विवेक से निर्णय लेने का अवसर मिलता है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल अपने विवेक से मुख्यमंत्री का चयन कर सकता है।

राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करता है। मुख्यमंत्री का त्यागपत्र समस्त मन्त्रिपरिषद का त्यागपत्र माना जाता है। राज्यपाल की कार्यकारी शक्तियों का विस्तार राज्य सूची में उल्लिखित विषयों तक है। समवर्ती सूची के विषयों पर वह राष्ट्रपति की स्वीकृति से अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है। राज्यपाल राज्य के महाधिवक्ता, राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों, अल्पसंख्यक आयोग तथा अन्य सभी महत्वपूर्ण आयोगों के अध्यक्षों और सदस्यों को नियुक्त करता है। राज्य सेवाओं में की जाने वाली महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ राज्यपाल द्वारा की जाती हैं। उच्च न्यायालय के प्रधान और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में राज्यपाल से परामर्श लिया जाता है। राज्यपाल आंग्ल-भारतीय (ऐंग्लो इंडियन) समुदाय के एक सदस्य को राज्य विधानसभा में मनोनीत कर सकता है यदि उसका राज्य विधानसभा में प्रतिनिधित्व न हो। राज्यपाल शासन के विषय में मन्त्रिपरिषद से किसी रूप में और किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त कर सकता है। मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के निर्णयों से अवगत कराए। राज्य में केन्द्र सरकार की आज्ञाओं के पालन कराने का दायित्व राज्यपाल का है अतः उसका यह दायित्व बन जाता है कि वह राज्य-प्रशासन की जानकारी से केन्द्र सरकार को अवगत कराता रहे।

राज्य में संवैधानिक संकट उपस्थित होने अथवा राजनीतिक अस्थिरता या अन्य किसी कारण से संवैधानिक तन्त्र की असफलता पर वह राज्य की स्थिति के विषय में राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन प्रेषित करता है। सामान्यतः उसके प्रतिवेदन के आधार पर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है। राष्ट्रपति शासन के समय राज्यपाल की भूमिका शक्तिशाली बन जाती है और वह वास्तविक शासक की भूमिका का निर्वाह करता है। राज्यपाल मन्त्रिपरिषद का मार्गदर्शक और अभिभावक होता है अतः वह अपनी मन्त्रिपरिषद के सदस्यों को चेतावनी, सलाह और प्रोत्साहन देने की शक्ति रखता है।

---

1. D. D. Basu : Commentary on the *Constitution of India*, Vol. II.

राज्यपाल की स्व-विवेकीय शक्तियाँ

(Discretionary Powers of the Governor)

संविधान के अनुच्छेद 162 के अन्तर्गत राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिसके दो रूप हैं—(1) संविधान-प्रदत्त स्व-विवेकीय शक्तियाँ, (2) परिस्थितिजन्य स्व-विवेकीय शक्तियाँ। संविधान के कुछ विशेष मामलों में विशेष रूप से असम के राज्यपाल को स्व-विवेकीय अधिकार दिए गए हैं। असम के राज्यपाल को यह विशेषाधिकार है कि वह प्रजातीय क्षेत्रों से सम्बन्धित कुछ प्रशासकीय मामलों तथा असम सरकार एवं स्वायत्त जिला परिषद के बीच खनिज सम्पत्ति सम्बन्धी विवादों के बारे में निर्णय करे। नागालैण्ड के राज्यपाल को विद्रोही नागाओं से निपटने के लिए स्व-विवेकाधिकारों के प्रयोग करने की शक्ति प्रदान की गई है। सिक्किम के राज्यपाल को वहाँ के सभी क्षेत्रों के लिए लोगों के आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए समुचित प्रबन्ध करने की दृष्टि से विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं। संविधान में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति ऐसे उपबन्धों का निर्माण कर सकता है जिसमें राज्यपालों को स्व-विवेकीय शक्तियों के प्रयोग के अधिक अवसर मिल सकें। राज्यपाल को स्व-विवेक से निर्णय लेने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 163(1) की भाषा से स्पष्ट है जिसमें कहा गया है कि "जिन बातों में संविधान द्वारा राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों के निर्वहन में सहायता और मन्त्रणा के लिए एक मन्त्रि-परिषद होगी जिसका प्रधान मुख्यमन्त्री होगा।" राज्यपाल की कुछ स्व-विवेकीय शक्तियाँ निम्नांकित विशेष परिस्थितियों में प्राप्त होती हैं—

(1) किसी एक दल को राज्य विधान सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो।

(2) संयुक्त सरकार का गठन और आपसी फूट के कारण शासन का सुचारू रूप से संचालन करना कठिन हो रहा है।

(3) दलबदल के कारण सरकार के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाए।

(4) राज्य में शान्ति और व्यवस्था को खतरा पैदा हो गया हो या उसकी सम्भावना हो।

(5) मन्त्रिमण्डल में विधानसभा के अविश्वास की स्थिति पैदा हो गई हो।

(6) दलीय विद्रोह के कारण मन्त्रिमण्डल अल्पमत में आ गया हो और विपक्षी दल वैकल्पिक सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत कर दे।

राज्यपाल की स्व-विवेकीय शक्तियों को डॉ. एम. वी. पायली ने निम्नानुसार गिनाया है—

(1) मन्त्रिपरिषद की स्थापना से पूर्व मुख्यमन्त्री का चुनाव, (2) मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करना, (3) विधानसभा का विघटन करना, (4) मुख्यमन्त्री से प्रशासनिक एवं विधायी कार्यों के सम्बन्ध में सूचना माँगना, (5) किसी मन्त्री द्वारा लिए गए निर्णय (जिस पर मन्त्रिपरिषद ने विचार न किया हो) को मन्त्रि-परिषद् के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत कराने के लिए मुख्यमन्त्री को आदेश देना, (6) विधानमण्डल द्वारा पारित किए विधेयक को स्वीकृति न देकर, उसे पुनर्विचार के लिए लौटा देना, (7) राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजना, (8) किसी अध्यादेश को प्रख्यात करने से पूर्व राष्ट्रपति से अनुदेश (Instructions) की याचना करना, (9) राष्ट्रपति को आपात परामर्श देना तथा घोषणा करना, (10) असम तथा पूर्ववर्ती राज्यों के राज्यपालों के लिए आदिम-जाति क्षेत्रों की कुछ प्रशासनिक समस्याओं का हल करना एवं (11) असम राज्य तथा स्वायत्तशासी क्षेत्रों की जिला परिषदों के खनिज स्वामित्व सम्बन्धी विवादों का निर्णय करना।

राज्यपालों की स्व-विवेकीय शक्तियों का क्षेत्राधिकार विस्तृत है। राज्यपाल को स्व-विवेकीय शक्तियों के प्रयोग करने में मन्त्रिपरिषद की सहायता या उसके किसी परामर्श की आवश्यकता नहीं होती है। अपने कार्यों के इस क्षेत्र में राज्यपाल वस्तुतः संघीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति राज्यपाल को आदेश दे सकता है। राज्यपाल के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उनके आदेश का पालन करे फिर चाहे इसमें उसे राज्य की मन्त्रि-परिषद के परामर्श की अवहेलना ही क्यों न करनी पड़े। राज्यपाल की ये स्व-विवेकीय शक्तियाँ उसकी भूमिका को उग्र विवाद या आलोचना का विषय बना देती हैं।

केन्द्रीय अभिकर्त्ता के रूप में भूमिका

(Role as an Agent of the Centre)

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, अतः उसे राज्यों में केन्द्र का अभिकर्ता या एजेन्ट कहा जाता है। केन्द्र के अभिकर्ता या प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल को जो कार्य करने पड़ते हैं, उनके लिए राष्ट्रपति (प्रधानमन्त्री के परामर्शानुसार) ही राज्यपालों को निर्देश-आदेश देता है। यदि राज्य का मन्त्रि-मण्डल राज्यपाल को राष्ट्रपति के निर्देशन के

विरुद्ध कार्य करने की सलाह दे तो वह ऐसी किसी सलाह को अस्वीकार कर सकता है और राज्य सरकार को राष्ट्रपति का आदेश मानने के लिए बाध्य कर सकता है। यदि राज्य मन्त्रि-मण्डल केन्द्रीय सरकार के निर्देशानुसार कार्य नहीं करता है तो राज्यपाल इसे संविधान के विरुद्ध कार्य मानकर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को संवैधानिक संकट घोषित करने के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट या प्रतिवेदन प्रेषित कर सकता है और तदनुसार संकट की उद्घोषणा के पश्चात् राष्ट्रपति राज्यपाल में निहित शक्तियों को संचालित कर सकता है। राष्ट्रपति शासन की अवधि में केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में राज्यपाल प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह करता है और वह राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में अपनी भूमिका का संचालन करता है। इस भूमिका में वह पूर्व की लोकप्रिय सरकार द्वारा लिये गये निर्णयों को बदलने या उनके क्रियान्वयन को रोकने की कार्यवाही कर सकता है। वह प्रशासन में फेर-बदल कर सकता है। इस काल में नौकरशाह उसके मुख्य सलाहकार बन जाते हैं।

राज्यपाल केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में एक 'सम्पर्क कड़ी' (Connecting Link) का कार्य करता है। उसकी सकारात्मक भूमिका से केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में उठने वाले विवादों का समाधान कर सद्भावनापूर्ण वातावरण का निर्माण हो सकता है। वह राज्य में केन्द्रीय सरकार के राष्ट्रीय महत्त्व के कार्यक्रमों को लागू करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। उस पर यह दायित्व आ जाता है कि वह देखे की राज्य सरकार इस कार्यक्रम को पूरा करने में कहाँ तक रुचि ले रही है तथा असन्तुष्ट होने पर वह सरकार को चेतावनी अथवा आवश्यक निर्देश दे सकता है। अगर राज्य सरकार का व्यवहार प्रतिकूल हो तो वह केन्द्र सरकार को भेजी जाने वाली अपनी रिपोर्ट या प्रतिवेदन में वस्तुस्थिति से अवगत करा सकता है। केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल राष्ट्रपति को सुझाव सहित रिपोर्ट भेजता है। राज्यपाल पद ग्रहण करते समय संविधान की रक्षा करने की शपथ लेता है और यदि वह राष्ट्रपति को संवैधानिक-तन्त्र की विफलता की सूचना देता है तो उसकी रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्यपाल अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है। राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है, किन्तु कुछ मामलों में वह राष्ट्रपति के निर्देश के बिना अध्यादेश जारी नहीं कर सकता है। राज्यपाल राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में यह देखता है कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयतावाद को न अपना कर, समस्त संघ के हितों का ध्यान रखे। केन्द्रीय अभिकर्ता के रूप में सीमावर्ती राज्यों के राज्यपालों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे आतंकवादी, पृथकतावादी, राष्ट्र-विरोधी, तस्करी तथा विदेशी घुसपैठियों के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार को सतत् रूप से अवगत कराते रहें। केन्द्रीय अभिकर्ता के रूप में राज्यपालों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे मुख्यमंत्री, मन्त्रिपरिषद के सदस्यों तथा उच्च प्रशासनिक अधिकारियों के क्रिया-कलापों से केन्द्र को निरन्तर अवगत कराते रहें। केन्द्रीय अभिकर्ता के रूप में उसका गृह मन्त्रालय से प्रत्यक्ष और सीधा सम्पर्क होता है।

संविधान की उपर्युक्त व्यवस्थाओं पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि राज्यपाल की प्रमुख भूमिका राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की है तथा उसकी गौण भूमिका केन्द्रीय सरकार के 'अभिकर्ता या एजेन्ट' की है लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्यपालों के आचरण या भूमिका से मुखरित होता है कि उन्होंने राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की तुलना में 'केन्द्रीय अभिकर्ता' की भूमिका को अधिक महत्त्व दिया है।

राज्यपाल की भूमिका : गिरती छवि

सन् 1967 के पूर्व केन्द्र और सभी राज्यों (कुछ अपवादों को छोड़कर) में कांग्रेस दल की सरकारों के सत्तारूढ़ होने के कारण राज्यपालों की भूमिका औपचारिक मात्र थी। उनके सम्मुख विशेष चुनौतियाँ उपस्थित नहीं हुईं। वे राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्र के अभिकर्ता की औपचारिक भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह करते रहे। उनकी भूमिका के प्रति ध्यान आकर्षित नहीं हुआ।

सन् 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के बाद देश के राजनीतिक पर्यावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में केन्द्र में कांग्रेस का बहुमत कम हो गया और अनेक राज्यों यथा पंजाब, बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, केरल और तमिलनाडु में द्रमुक की एकदलीय सरकार को छोड़कर सभी गैर-कांग्रेसी सरकारें संविद या मिली-जुली सरकारें थी। फलस्वरूप इन राज्यों के राज्यपालों की भूमिका दुरूह बन गई। विपक्ष में बैठी कांग्रेस इन गैर-कांग्रेसी राज्य सरकारों को अपदस्थ करने के लिए कृत-संकल्प थी। कांग्रेस के केन्द्रीय नेतृत्व को अपने प्रादेशिक नेतृत्व का इस कार्य में शह थी। केन्द्र के प्रतिनिधि या अभिकर्ता के रूप में राज्यपालों की निष्पक्षता पर शंकाएँ की जाने लगीं। दूसरी ओर, दलबदल के कारण उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और हरियाणा की कांग्रेसी सरकारों का पतन हुआ। इनके स्थान पर दलबदलुओं के नेतृत्व में संविद सरकारें गठित हुईं। राज्यों में सरकारों के बनने, मिटने के क्रम में राज्यपालों द्वारा अल्पमतीय-मुख्यमन्त्रियों की प्रतिष्ठा, राज्य में मन्त्रिमण्डलों की बर्खास्तगी, अल्पमतीय और संदिग्ध बहुमत का समर्थन रखने वाले मुख्यमन्त्रियों की सलाह पर विधानसभाओं के विघटन, राज्यपालों द्वारा मन्त्रिपरिषद द्वारा तैयार किये गये अभिभाषणों के आपत्तिजनक अंशों के पढ़ने से इनकार करके संवैधानिक विवाद को जन्म देना, राज्यपालों द्वारा बहुमत प्राप्त नेताओं को मुख्यमंत्री पद की

शपथ दिलाने के स्थान पर अल्पमतीय नेताओं को मुख्यमंत्री नियुक्त करने के निर्णय, दलीय विद्रोह की स्थिति में मुख्यमंत्री के राज्य विधानसभा में बहुमत का निर्धारण करने के स्थान पर 'राजभवनों' में करने की प्रवृत्ति, भ्रष्टाचार, अनैतिक आचरण, शान्ति और व्यवस्था तथा दलीय विद्रोह के नाम पर मुख्यमंत्रियों की बर्खास्तगी, राजभवनों में बैठकर सक्रिय राजनीति में भाग लेना, राज्यपाल रहते हुए दलीय कार्यक्रमों में भाग लेना, राष्ट्रपति शासन के समय अपनी शक्ति और पद का दुरुपयोग तथा राज्य में निर्वाचन की समयावधि में ही विवादास्पद नियुक्तियाँ करने, जिन्हें निर्वाचन आयोग द्वारा निरस्त करने, राज्य विधानसभा में राज्यपाल द्वारा अपने पुत्र के कथित चुनाव प्रचार को लेकर दिये गये त्यागपत्र जैसे घटनाचक्रों ने राज्यपालों की 'जनता में छवि' को गिरा दिया। पिछले दिनों उत्तर प्रदेश और बिहार के राज्यपालों द्वारा राष्ट्रपति शासन के लिए की गई अभिशंसाओं ने इस पद पर गंभीर आपत्तिजनक आरोप लगाने के लिए जन मानस को उद्वेलित किया है। उनकी भूमिका विवादास्पद हो गई। संसद, राज्य विधानसभाओं और सार्वजनिक सभाओं में राज्यपालों के आचरण की निन्दा की गई। उन्हें 'केन्द्रीय जासूस' कहकर इस पद को समाप्त करने की माँग की गई।

राज्यपाल संस्था को अविवादास्पद बनाने के लिए विभिन्न आयोगों ने सार्थक सुझाव दिये हैं। इस दिशा में तमिलनाडु की एम. करुणानिधि वाली द्रमुक सरकार द्वारा नियुक्त राजमन्नार समिति राष्ट्रपति वी. वी. गिरी द्वारा राज्यपाल भगवान सहाय के नेतृत्व में गठित 'सहाय समिति या राज्यपाल समिति' एवं सरकारिया आयोग प्रमुख रहे हैं। इनमें सरकारिया आयोग ने अनेक सुझाव दिये हैं जैसे राज्यपाल को हटाने से पूर्व उसे अवसर दिया जाना चाहिए कि वह अपना पक्ष अपनी बर्खास्तगी के विरुद्ध प्रस्तुत कर सके तथा उसे संसद में प्रस्तुत किया जाना चाहिये। यदि यह सुझाव मान लिया जाये तो राज्यपाल एक स्वतन्त्र प्रभारी के रूप में कार्य कर सकेगा।

मुख्यमंत्री तथा राज्य मंत्रिपरिषद

(Chief Minister and the State Council of Ministers)

राज्य की वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद में निहित होती है जो राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार "उन बातों को छोड़कर जिनमें राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करता है अन्य कार्यों के निर्वाह में उसे सहायता प्रदान करने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा।"

राज्य मंत्रिपरिषद का गठन

(1) मुख्य मंत्री की नियुक्ति—मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्य की मंत्रिपरिषद के गठन का प्रथम चरण है। राज्यपाल द्वारा राज्य विधान सभा में बहुमत दल के नेता को मुख्य मंत्री पद पर नियुक्त किया जाता है लेकिन यदि राज्य की विधान सभा में किसी एक राजनैतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो या विभिन्न दलों के संयुक्त मोर्चे का कोई निश्चित नेता न हो तो राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति में विवेक का प्रयोग कर सकता है।

(2) अन्य मंत्रियों की नियुक्ति—अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमंत्री की सिफारिश पर करता है। अन्य मंत्रियों का अपने मंत्रिमण्डल के लिए चयन करते समय मुख्य मंत्री क्षेत्र, दल, प्रभाव, विश्वास, योग्यता आदि कई बातों को ध्यान में रखता है।

(3) मंत्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य—राज्य मंत्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य इस प्रकार हैं—(1) शासन की नीति निर्धारित करना, (2) उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए राज्यपाल को परामर्श देना, (3) विधान मण्डल में सरकार का प्रतिनिधित्व करना, (4) कानून निर्माण की व्यवस्था करना एवं (5) बजट तैयार करना।

मुख्यमंत्री की स्थिति—मुख्यमंत्री को राज्य प्रशासन की 'धुरी' कहा जाता है। वही राज्य के सभी कार्यों का संचालन करता है। उसकी भूमिका इस बात पर निर्भर करती है कि राज्य विधानसभा में उसके दल को कितने बहुमत का समर्थन प्राप्त है? राज्यपाल के साथ उसके सम्बन्ध कैसे हैं? केन्द्र में उसके दल की सरकार है या नहीं? प्रधानमंत्री के साथ उसके सम्बन्धों का स्वरूप कैसा है? दल के उच्च-कमान के साथ उसके सम्बन्ध कैसे हैं? आदि के आधार पर मुख्य मंत्रियों की वास्तविक स्थिति इस प्रकार है—प्रभावशाली मुख्यमंत्रियों में पश्चिमी बंगाल के विधिनचन्द्र राय और ज्योति बसु, उत्तर प्रदेश के पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त और चन्द्रभान गुप्त महाराष्ट्र के यशवन्तराव चव्हाण, बसन्तराव नाईक और शरद पवार, गुजरात के बलवन्तराय मेहता, राजस्थान के मोहनलाल सुखाड़िया और भैरोंसिंह शेखावत, बिहार के श्रीकृष्ण सिन्हा और लालू प्रसाद यादव, मध्य प्रदेश के पंडित रविशंकर शुक्ल तथा द्वारिकाप्रसाद मिश्र तमिलनाडु के अन्नादुराई एम. जी. रामचन्द्रन और कु. जयललिता, कर्नाटक के निजलिंगप्पा, आंध्र प्रदेश के एन. टी. रामाराव, चन्द्रबाबू नायडू, उड़ीसा के बीजू पटनायक, पंजाब के सरदार प्रतापसिंह कैरों और प्रकाशसिंह बादल, जम्मू कश्मीर के मोहम्मद शेख अब्दुल्ला, हिमाचल प्रदेश के यशवन्तसिंह परमार, केरल के ई. एम. एस. नम्बूदीपाद, सिक्किम में नरबहादुर भण्डारी तथा असम के विमलप्रसाद चालिहा के नाम गिनाये जा सकते हैं। यह सब अपने राज्यों के प्रभावशाली क्षेत्रीय नेता रहे हैं

और इनकी राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने में अहम् भूमिका रही है। केन्द्र द्वारा इनकी आवाज और राय को महत्व दिया गया है।

दुर्बल मुख्यमंत्रियों में उन मुख्यमंत्रियों को रखा जा सकता है, जिनकी नियुक्ति प्रधानमंत्री या दल के उच्चकमान की कृपा के आधार पर हुई तथा जिन्हें अपने राज्यों में विधानमण्डलीय दल का समर्थन प्राप्त नहीं था। ये मुख्यमंत्री अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखने में दल के उच्चकमान की तरफ देखते रहे हैं। पंडित नेहरू से लेकर वाजपेयी तक के कार्यकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका उल्लेख (शक्तिशाली मुख्यमंत्रियों के रूप में) किया जा चुका है, ऐसे ही मुख्यमंत्रियों का अस्तित्व रहा है। इन दुर्बल मुख्यमंत्रियों की संस्थागत और आचरणगत स्थिति पर प्रधानमंत्री तथा दल के उच्चकमान का पूर्ण वर्चस्व रहा और उन्हें जब चाहे अपने पदों से हटा दिया गया और उनके साथ ऐसा व्यवहार किया गया जो उनके पद की गरिमा और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल कहा जा सकता है। इस स्थिति के कारण मुख्यमंत्रियों की संस्थागत स्थिति प्रभावित हुई और वे 'मुख्यमंत्री' के स्थान पर 'मुख्य सन्देशवाहक' (Chief Messengers) में परिवर्तित हो गये। सन् 1967 के बाद दलबदल भारतीय राजनीति की एक त्रासदी बन गया। इस प्रक्रिया में ऐसे अल्पमतीय मुख्यमंत्रियों की परम्परा को जन्म दिया, जिनको किसी एक प्रमुख दल तथा दलों के गठबन्धन ने मन्त्रिमण्डल में शामिल हुए, बिना बाहर से समर्थन दिया। ऐसे मुख्यमंत्री के नेतृत्व में पूर्णरूपेण 'दलबदलुओं' के मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ हुए। ऐसे 'पराश्रित मुख्यमंत्री शक्तिहीन, अल्पमतीय या कमजोर थे। ऐसे मुख्यमंत्रियों में आन्ध्र प्रदेश में नान्देला भास्करराव, बिहार में विन्ध्येश्वरी प्रसाद मण्डल, पश्चिमी बंगाल में डॉ. प्रफुल्लचन्द्र घोष, पंजाब में डॉ. लक्ष्मणसिंह गिल, जम्मू-कश्मीर में गुलाम मोहम्मद शाह, केरल में मोहम्मद एच. कोया तथा सिक्किम में बी. बी. गुरुंग, उत्तर प्रदेश में चौधरी चरणसिंह मध्य प्रदेश में गोविन्दनारायण सिंह, हरियाणा में राव वीरेन्द्रसिंह और भजनलाल, उत्तर प्रदेश में सुश्री मायावती को गिनाया जा सकता है। ये अल्पमतीय मुख्यमंत्री दीर्घजीवी नहीं हुए और अल्प समय रहते ही पतन हो गया।

क्षेत्रीय दलों के मुख्यमंत्रियों की भूमिका शक्तिशाली बनी रही, क्योंकि ये अपने दलों की शक्ति का मुख्य आधार रहे। ऐसे मुख्यमंत्रियों में जम्मू-कश्मीर में नेशनल कांग्रेस के मोहम्मद शेख अब्दुल्ला और फारुक अब्दुल्ला, आन्ध्र प्रदेश में तेलुगुदेशम के एन. टी. रामाराव, चन्द्रबाबू नायडू, सिक्किम में सिक्किम संग्राम परिषद के नरबहादुर भण्डारी तमिलनाडु में संयुक्त द्रमुक के सी. एन. अन्नादुरई, द्रमुक के एम. करुणानिधि, अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक के एम. जी. रामचन्द्रन और कु. जयललिता, पंजाब में अकाली दल के प्रकाशसिंह बादल, अकाली दल (लोंगोवाल) के सुरजीतसिंह बरनाला तथा गोवा में महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी के दयानन्द बान्दोड़कर तथा श्रीमती शशिकला काकोदकर, असम में असम गण परिषद के प्रफुल्लकुमार महन्त तथा हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी के नेता चौधरी बंशीलाल की भूमिका राष्ट्रीय दलों के मुख्यमंत्रियों की तुलना में शक्तिशाली रही है।

मुख्यमंत्री के कार्य तथा शक्तियाँ—मुख्यमंत्री की शक्तियों की प्रकृति बहुत व्यापक है। वह राज्यपाल से राज्य मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति करवाता है और उनमें विभागों का वितरण करता है, मन्त्रिमण्डल की अध्यक्षता करता है और राज्य प्रशासन के सम्बन्ध में नीतिगत निर्णय लेता है, मंत्रियों को वांछित नेतृत्व और निर्देश देता है तथा मन्त्रिमण्डल के सदस्यों में समन्वय स्थापित करता है। मुख्यमंत्री मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के कामकाज की समीक्षा कर मन्त्रिमण्डल को एक संगठित टीम के रूप में कार्य करवाने की अहम् भूमिका निभाता है। वह मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन कर सकता है तथा अयोग्य और अक्षम मंत्रियों को अपने पद से हटा सकता है।

मुख्यमंत्री की राज्य प्रशासन के संचालन में अहम् भूमिका होती है। उसके द्वारा ही राज्य प्रशासन के लिए वांछित नीतियाँ और दिशा-निर्देश दिये जाते हैं। राज्य सचिवालय पर उसका नियन्त्रण होता है और मुख्य सचिव सहित सभी विभागीय शासन सचिव राज्य मन्त्रिमण्डल द्वारा ली गई नीतियों तथा निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए तत्पर रहते हैं। राज्य में की जाने वाली सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियों में मुख्यमंत्री की निर्णायक भूमिका रहती है। मुख्यमंत्री को राज्य सरकार की नीतियों का प्रवक्ता माना जाता है। वह विधानसभा में और उसके बाहर राज्य सरकार के निर्णयों की घोषणा करता है। मुख्यमंत्री को राज्य विधानमण्डल का नेता माना जाता है। सदन की गरिमा और प्रतिष्ठा को कायम रखने का दायित्व उसी का है। मुख्यमंत्री राज्य विधानमण्डल के सदस्यों के विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों की रक्षा करने के दायित्व का निर्वाह करता है। मुख्यमंत्री पर राज्य में शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने तथा प्रशासन के प्रति जनता के विश्वास और आस्था को बनाये रखने का उत्तरदायित्व होता है। राज्य में साम्प्रदायिक, अलगाववादी, पृथकतावादी और आतंकवादी शक्तियों को नियन्त्रित करने का दायित्व मुख्यमंत्री का है।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों की दृष्टि से मुख्यमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका है। वह केन्द्र के सम्मुख राज्य का पक्ष प्रस्तुत करता है। मुख्यमंत्री सम्मेलन में वह राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। अन्तर्राज्यीय सीमा विवादों तथा जल विवादों के समाधान खोजने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा जो सम्मेलन बुलाये जाते हैं उनमें वह राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। मुख्यमंत्री राज्य की योजना को योजना आयोग से स्वीकृत कराने का कार्य करता है। यह मुख्यमंत्री की कुशलता पर निर्भर

करता है कि वह योजना के सम्मुख राज्य का पक्ष कितनी प्रबलता के साथ प्रस्तुत करता है। वित्त आयोग के सम्मुख राज्य के पक्ष को प्रस्तुत करने का दायित्व मुख्यमंत्री का है। इससे वह राज्य के लिए अधिक संसाधन जुटाने में सक्षम बन सकता है। मुख्यमंत्री ही राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council) तथा राष्ट्रीय एकता परिषद (National Integration Council) की बैठकों में राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। अन्तर्राज्यीय विवादों के समाधान मामलों में मुख्यमंत्री की भूमिका सर्वोपरि तथा निर्णायक होती है। मुख्यमंत्री को जन-नायक माना जाता है। वह राज्य की जनता की आशाओं एवं अपेक्षाओं का प्रतीक होता है।

मन्त्रिपरिषद

(Council of Ministers)

संविधान के अनुच्छेद 163 के अन्तर्गत राज्यपाल को सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता है। मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति की जाती है। सामान्यतः मंत्रिपरिषद के सदस्य विधानसभा में बहुमत दल के सदस्य होते हैं। अगर सरकार का स्वरूप संविद सरकार का है तो दो या दो से अधिक राजनीतिक दलों के सदस्य तथा सरकार का समर्थन करने वाले निर्दलीय सदस्य हो सकते हैं। मन्त्रिपरिषद के सदस्य अनिवार्य रूप से राज्य विधानमण्डल के सदस्य होते हैं। वे विधानसभा या विधान परिषद के सदस्य हो सकते हैं। अगर कोई सदस्य मन्त्रिपरिषद में शामिल करते समय राज्य विधानमण्डल का सदस्य न हो तो उसे सदस्य बनने से 6 महीने की समयावधि में राज्य विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य बनना पड़ता है। इसमें असफल रहने पर उसे मन्त्रिपरिषद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

मुख्यमंत्री के नेतृत्व और निर्देशन में मन्त्रिपरिषद कार्य करती है। वह जब चाहे मन्त्रिपरिषद में फेर बदल कर सकता है। वह मन्त्रियों को हटा कर नये मन्त्रियों को शपथ दिलवा सकता है उनके विभागों में परिवर्तन कर सकता है मन्त्रियों को पदान्नत कर सकता है उनसे त्यागपत्र माँग सकता है और ऐसा करने से इनकार करने वाले मन्त्रियों को राज्यपाल द्वारा बर्खास्त करवा सकता है। वह मंत्रिपरिषद के पुनर्गठन के लिए एक साथ सारी मन्त्रिपरिषद का त्यागपत्र माँग सकता है। मुख्यमंत्री का त्यागपत्र सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद का त्यागपत्र माना जाता है।

मन्त्रिपरिषद के सदस्य राज्य विधानमण्डल के प्रति व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना लागू होती है। यदि मन्त्रिपरिषद किसी नीति सम्बन्धी प्रश्न पर राज्य विधानसभा में पराजित हो जाती है तो मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ता है। मन्त्रिपरिषद के सदस्य एक साथ तैरते और डूबते हैं। मंत्रिपरिषद पर विधायी और न्यायिक नियन्त्रण है। राज्य विधानमण्डल के विश्वास-पर्यन्त मन्त्रिपरिषद अपने पद पर बनी रह सकती है। यदि राज्य विधानसभा मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दे तो मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त राज्य विधानमण्डल प्रश्नोत्तर, कामरोको प्रस्ताव निन्दा प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव तथा कटौती प्रस्ताव से मंत्रिपरिषद पर नियन्त्रण रखती है।

मन्त्रिमण्डल की बैठकों में मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मन्त्री भाग लेते हैं। सामान्यतः मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मन्त्री अपने विभागों के अध्यक्ष होते हैं। अपने विभाग के संचालन का दायित्व मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मन्त्री करते हैं। राज्य मन्त्रियों को भी मुख्यमंत्री द्वारा स्वतन्त्र कार्यभार सौंपा जाता है तथा उन्हें मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जा सकता है। सामान्यतः राज्यमन्त्री उपमन्त्री और संसदीय सचिव अपने मन्त्रिमण्डल स्तर के मन्त्रियों को कार्य सम्पादन में सहयोग देते हैं।

मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल पाँच वर्ष का होने के बावजूद अनिश्चित होता है। यदि वह विधानसभा का विश्वास खो दे तो अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ सकता है। यदि केन्द्र सरकार अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद को बर्खास्त करने का निर्णय ले तब मन्त्रिपरिषद का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

मुख्यमंत्री को राज्य मन्त्रिमण्डल के निचले सदन अर्थात् राज्य विधानसभा को भंग करने का अधिकार है। राज्य विधानसभा में बहुमत का समर्थन रखने वाले मुख्यमंत्री की सिफारिश पर राज्यपाल द्वारा विधानसभा को भंग करने का निर्णय लिया जाता है लेकिन राज्य विधानसभा में पराजित संदिग्ध बहुमत और अल्पमतीय मुख्यमंत्री की सलाह मानने के लिए राज्यपाल बाध्य नहीं है। मन्त्रिपरिषद को गोपनीयता के सिद्धान्त का पालन करना पड़ता है। मन्त्रिपरिषद द्वारा लिये गये निर्णयों को जब तक सार्वजनिक नहीं कर दिया जाता तब तक उन्हें गुप्त रखना पड़ता है। अगर मन्त्रिपरिषद के सदस्य उनका रहस्योद्घाटन कर देते हैं तो उन्हें त्यागपत्र देना पड़ता है। मन्त्रिपरिषद के सदस्य संविधान की सरंक्षा की शपथ लेते हैं अतः वे अपने कृत्यों से संविधान का संरक्षण करने के लिए वचनबद्ध होते हैं। मन्त्रिपरिषद के सदस्य अपने विभागों के अध्यक्ष होते हैं अतः विभागों का संचालन करना उनका प्राथमिक कार्य माना जाता है। वे अपने विभागों के लिए उत्तरदायी होते हैं।

भारतीय संविधान मन्त्रिपरिषद को कार्यपालिका, विधायी और वित्तीय क्षेत्र में आने वाली सभी शक्तियाँ प्रदान करता है। मन्त्रिपरिषद राज्य प्रशासन का सचालन करती है और सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ करती है। मन्त्रिपरिषद द्वारा सभी विधेयकों का प्रारूप तैयार किया जाता है और उन्हें विधान-मण्डल से पारित कराया जाता है। मन्त्रिपरिषद द्वारा ही बजट का निर्माण करके उसे पारित कराया जाता है। राज्य के विकास सम्बन्धी और अन्य सभी नीतिगत निर्णय मन्त्रिपरिषद द्वारा लिये जाते हैं। इसके द्वारा अन्तर्राज्यीय विवादों के सदर्भ में निर्णय लिये जाते हैं। मन्त्रिपरिषद राज्य में केन्द्रीय निर्णयों को लागू करती है। मन्त्रिपरिषद को शासन का 'सचालनकर्ता' माना जा सकता है।

राज्यपाल, मुख्यमत्री और मन्त्रिपरिषद के सम्बन्ध

(The Relationship between the Governor, the Chief Minister and the Council of Ministers)

मुख्यमत्री और राज्यपाल के सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे अनेक बिन्दुओं के लिए राज्यपाल को सूचित करने का सवैधानिक दायित्व है। इन दायित्वों को निम्नानुसार रखा जा सकता है—

1. मुख्यमत्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह राज्य-कार्यों के प्रशासन के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद द्वारा लिए गए समस्त विनिश्चयों तथा विधान बनाने सम्बन्धी समस्त प्रस्थापनाएँ राज्यपाल को प्रदान करे।

2. वह राज्यपाल को समस्त जानकारी प्रेषित करे जो उसने राज्य-प्रशासन के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद के तत्सम्बन्धी विनिश्चयों तथा विधान-निर्माण सम्बन्धी प्रस्थापनाओं के सन्दर्भ में चाही है।

3. ऐसे किसी विषय पर जिस मन्त्री ने अपना विनिश्चय प्रदान कर दिया है लेकिन उस मन्त्रिपरिषद के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया गया है उसके सम्बन्ध में मुख्यमत्री पर यह दायित्व अधिरोपित किया है कि ऐसे विनिश्चयों को राज्यपाल की अपेक्षा करने पर मन्त्रिपरिषद के विचारार्थ प्रस्तुत करे।

4. अनुच्छेद 167 में समाविष्ट किये गये मुख्यमत्री के सवैधानिक कर्तव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यमत्री के लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन किया जाना अनिवार्य है।

5. राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दोनों राज्य की कार्यपालिका के अभिन्न अग होते हैं। जैसा कि सविधान में उल्लेख किया गया है—"राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और इसका प्रयोग वह प्रत्यक्ष रूप से या अपने अधीन अधिकारियों के माध्यम से तथा सविधान के अनुसार करेगा।"

नौकरशाही

(Bureaucracy)

भारत में ब्रिटिश शासन काल से ही भारतीय प्रशासन नौकरशाही प्रधान रहा है। अंग्रेजों ने आई. सी. एस. अफसरों का ऐसा हुजूम तैयार किया जो शक्ति और डण्डे के बल पर देश के शासन को चलाता रहा। स्वाधीनता के बाद आई. सी. एस. के स्थान पर आई. ए. एस. वर्ग के अफसरों की पृथक् जमात तैयार हो गई जिसे कुशल और सक्षम प्रशासन का प्रतिरूप मान लिया गया।

भारतीय नौकरशाही की विशेषताएँ—(1) भारत की नौकरशाही में स्थायित्व है। (2) यहाँ की नौकरशाही राजनीतिक रूप से तटस्थ रहती है। (3) यहाँ लोकसेवा एक पेशा है। (4) भारत में लोक सेवाओं का सगठन पद सोपान के सिद्धान्त पर होता है।

भारत की नौकरशाही में ये विशेषताएँ भी व्यावहारिक जानकारी से दृष्टिगत होती है—(1) भारत की नौकरशाही में भ्रष्टाचार व्याप्त है। (2) भारत के नौकरशाह परोक्ष रूप से राजनीति में सलग्न रहते हैं। (3) लोकसेवा में लालफीताशाही है। (4) नौकरशाहों में शासन का अह रहता है। (5) लोकसेवा में विशेषज्ञों की उपेक्षा है। (6) भारत में केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय स्तर पर अलग-अलग सेवाओं की व्यवस्था है। (7) लोक सेवकों में अभिजनवादी प्रतिबद्धता है। (8) सेवा सरचना ऐसी है जो उत्तरदायित्वहीन कही जा सकती है।

लोक सेवाओं के कार्य—(1) नीति निर्माण करना, (2) राजनीतिक कार्यपालिका को सलाह देना, (3) सरकारी नीतियों को क्रियान्वित करना, (4) विधि निर्माण कार्य करना, (5) अर्द्ध न्यायिक कार्य करना एव (6) विकास कार्यों को सम्पादित करना।

□□□

17

संसद तथा संसदीय समितियों की भूमिका तथा कार्य

(Role and Function of the Parliament and Parliamentary Committee)

भारत में लोकतन्त्रिक व्यवस्था को अंगीकार किया गया है जिसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका अर्थात् संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। कार्यपालिका संसद के विश्वासपर्यन्त अपने पद पर बनी रह सकती है अत कार्यपालिका द्वारा बनाई जाने वाला नीतियों तथा लोकसेवकों द्वारा उन नीतियों को क्रियान्वित करने वाली सम्पूर्ण प्रक्रिया पर संसद का नियन्त्रण होता है। भारतीय संसद प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रशासन पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखती है।

पारस्परिक सम्बन्ध के आधार

(The Basis of Correlationship)

(1) संसदीय बहस—संसद में लोक-प्रशासकों के कार्यों पर बहस की जाती है ताकि यह जाना जा सके कि अनुमोदित नीतियों को किस सीमा तक सम्पन्न किया गया है। बहस के दौरान यह अधिकारियों को आवश्यक निर्देश, आदेश तथा चेतावनी दे सकती है। संसद द्वारा प्रशासकों पर ऐसा पर्यवेक्षण तथा नियन्त्रण रखा जाता है ताकि वे कार्यों को कुशलता पूर्वक संचालित कर सकें।

(2) संसदीय व्यवस्थापन—संसद द्वारा पारित कानून लोक-सेवकों के व्यवहार का स्वरूप एवं सीमाएँ निश्चित करते हैं। लोक-सेवकों के कर्तव्य और अधिकारों का निर्धारण संसदीय कानूनों द्वारा किया जाता है।

(3) संसद वित्तीय शक्ति का स्रोत है—प्रशासनिक विभागों द्वारा किए जाने वाले व्यय पर संसद की स्वीकृति आवश्यक है। संसद यदि धन की स्वीकृति न दे *तथा आवश्यकता से कम की स्वीकृति दे तो लोक-सेवक अपने कार्य* सन्तोषजनक रूप में सम्पन्न नहीं कर सकते। यह वित्तीय नियन्त्रण द्वारा लोक-सेवकों को जन-कल्याण के कार्यों की ओर प्रवृत्त रखती है।

(4) व्यवस्थापिका शक्तियों का हस्तान्तरण—संसद अपनी कानून बनाने की शक्ति को कार्यालयों के लिए हस्तान्तरित करती है *और यह लोक-सेवकों को नया दायित्व सौंपती है।* प्रदत्त-व्यवस्थापन प्रक्रिया इसी बात का परिणाम होती है किन्तु इस दायित्व के निर्वाह के लिए वे सीधे संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होते वरन् मन्त्रियों के माध्यम से उत्तरदायी होते हैं। इसे प्रदत्त व्यवस्थापन अथवा हस्तान्तरित व्यवस्थापन कहा जाता है।

संसदीय नियन्त्रण

(Parliamentary Control)

संसद द्वारा लोक-सेवकों के कार्यों पर नियन्त्रण रखा जाता है ताकि जनहित विरोधी कार्यों को रोका जा सके। भारत के सन्दर्भ में लोक-सेवकों पर संसदीय नियन्त्रण का महत्व निम्नलिखित कारणों से बढ़ गया है—

(1) सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन—स्वतन्त्रता के पश्चात देश में हुए वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के कारण भारतीय जनता के रहन-सहन, जीवन-स्तर एवं *विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है।* इस परिवर्तन ने प्रशासन को प्रकृति और लक्ष्य के प्रति जनता के दृष्टिकोण को बदल दिया है। इन परिवर्तनों के कारण आज का लोक-सेवक स्वेच्छाचारी जन-हित-विरोधी निरंकुश एवं समाज के मूल्यों तथा आदर्शों की अवहेलना करने वाला नहीं हो सकता है। जब कभी लोक-सेवक जनहित के कार्यों में अरुचि एवं उदासीनता दिखाते हैं तभी व्यापक जन-विरोध उठ खड़ा होता है। ऐसी स्थिति में लोक-सेवाओं पर संसद का *नियन्त्रण अनिवार्य बन जाता है।* संसद में लोकसेवकों के आचरण पर बहस होती है और उन्हें अनुशासनहीन होने पर प्रताड़ित किया जा सकता है।

(2) सरकार के कार्यों का विस्तार—स्वतन्त्रता के बाद सरकार के कार्यों का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। यह पुलिस राज के दायित्वों के साथ नागरिक कल्याण के कार्य सम्पन्न करती है। उसके कार्यों की प्रकृति बहुमुखी है। आज भारत सरकार नागरिकों की संरक्षक, मित्र और सहयोगी है। सरकार के कार्यों के क्षेत्राधिकार के बढ़ने के साथ प्रशासन के दायित्व बढ़ गये हैं। इसके लिए प्रशासन को नए अधिकारों और शक्तियों से सुसज्जित किया गया है। इन शक्तियों का दुरुपयोग रोकने के लिए संसदीय नियन्त्रण की व्यवस्था की जाती है।

(3) प्रजातान्त्रिक समाजवाद—भारत ने प्रजातान्त्रिक समाजवाद के मार्ग को अपनाया है और लोक सेवकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रताएं खतरे में पड़ जाएं अथवा समाजवाद का मार्ग अवरुद्ध होता जाए। इसके लिए संसद द्वारा प्रशासन पर निरन्तर पर्यवेक्षण और नियन्त्रण रखा जाता है।

(4) नवीन निरंकुशता के खतरे—प्रशासन पर संसद के प्रभावशाली नियन्त्रण के अभाव में लोक-सेवक स्वेच्छाचारी बन जाते हैं, जनता में असन्तोष पैदा होता है, प्रशासन में अनियमितता बढ़ती है, भाई-भतीजावाद तथा भ्रष्टाचार की प्रवृत्तियां पनपती हैं तथा मुख्य कार्यपालिका प्रशासक नीतियों का उल्लंघन करने लग जाता है। परिणामस्वरूप प्रशासनिक लालफीताशाही का विकास होता है, विकास-योजनाएं स्थगित हो जाती हैं, प्रशासनिक अकर्मण्यता से जनता का नैतिक चरित्र और उत्साह शिथिल पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापिका के कानून महत्वहीन बन जाते हैं। उनकी अवहेलना, उपेक्षा और तिरस्कार किया जाता है। इन सभी बुराइयों पर नियन्त्रण रखने के लिए प्रशासन पर संसद का नियन्त्रण रखना अत्यावश्यक बन जाता है।

संसदीय नियन्त्रण के साधन (Tools of Parliamentary Control)

(1) नीति का निर्धारण—संसद द्वारा प्रशासन की व्यापक नीति का निर्धारण किया जाता है। लोक सेवक जिन नीतियों को क्रियान्वित करते हैं, वे संसद द्वारा निर्धारित की जाती हैं। संसद द्वारा उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन या संशोधन किया जाता है।

(2) बजट पर चर्चा—बजट संसद द्वारा पारित किया जाता है। उसकी अनुमति के बिना लोक प्रशासक पैसा खर्च नहीं कर सकते हैं। बजट पर चर्चा के समय संसद के सदस्य प्रशासन की सम्पूर्ण गतिविधियों का मूल्यांकन करते हैं। लोक-सेवकों एवं उच्च पदाधिकारियों के कार्यों का पुनरावलोकन किया जाता है। इससे भ्रष्ट अधिकारियों की अनियमितता का पर्दाफाश होता है और उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही की जाती है। अनुदान की माँग पर मतदान करते समय संसद सदस्य लोक-सेवकों के व्यवहार की विशद् चर्चा करते हैं। कटौती प्रस्ताव के रूप में लोक-सेवकों के व्यवहार पर पूरी तरह टिप्पणियाँ और समीक्षा की जाती है। वित्त विधेयक पर विचार के समय संसद सदस्य लोक प्रशासन की अनियमितता, भ्रष्टाचार एवं अन्य दोषों का उल्लेख करते हैं।

(3) राष्ट्रपति का अभिभाषण—संसदीय अधिवेशन के प्रारम्भ पर राष्ट्रपति जब अपना अभिभाषण देते हैं तो वे लोक-सेवकों के कार्यों एवं उपलब्धियों की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करते हैं। जब संसद सदस्य इस बात पर विचार विमर्श करते हैं तो लोक-सेवकों के कार्यों को आलोचना का विषय बनाया जाता है। संसद में हुई बहस समाचार पत्र, आकाशवाणी तथा दूरदर्शन से उनकी गतिविधियाँ जन-सामान्य तक पहुँच जाती हैं। इस प्रकार संसदीय वाद विवाद से प्रशासन के प्रति जनमत निर्माण करने में सहायता मिलती है। दूरदर्शन और आकाशवाणी जनमत जाग्रत करने के प्रभावशाली साधन बन गये हैं।

(4) प्रश्न-काल—संसद की कार्यवाही का पहला घण्टा प्रश्न पूछने के लिए नियत है। इस काल में संसद सदस्य मन्त्रियों से उनकी प्रशासनिक नीतियों एवं कार्यों के सम्बन्ध में विविध प्रश्न पूछते हैं। फलस्वरूप प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण दृढ़तापूर्वक स्थापित होता है। पूछे जाने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रत्येक मन्त्री सजग रहता है। मन्त्री का यह अधिकार है कि वह किसी प्रश्न का उत्तर न दे अथवा टाल दे, किन्तु ऐसा करना उसकी लोकप्रियता को नुकसान पहुंचाता है। प्रत्येक प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त करने की दृष्टि से मन्त्री लोक-सेवकों के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। वह अपने विभागीय क्रिया-कलापों में व्यक्तिगत रुचि लेता है। किसी अधिकारी द्वारा की गई गलतियों के प्रति संसद में जवाबदेह होने के कारण मन्त्री स्वयं यह प्रयास करता है कि ऐसे अवसर पैदा न हों। स्वयं अधिकारी संसदीय प्रश्नों से अपनी बाजुओं को बचाकर कार्य करते हैं। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली के मतानुसार, "संसद में खुले रूप में मन्त्रियों से जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण नागरिक सेवा को चौकन्ना रहना पड़ता है।"

(5) बहस एवं विचार-विमर्श—प्रश्न-काल के अतिरिक्त समय में संसद सदस्य लोकसेवकों के कार्यों पर टीका-टिप्पणियाँ करते रहते हैं। ऐसा मुख्यतः तीन अवसरों पर होता है—

(क) नया विधेयक प्रस्तावित होने पर—जब नया विधेयक संसद में प्रस्तावित किया जाता है तो कई सदस्य प्रसंगवश लोक-सेवकों के कार्यों की पुनरीक्षा अथवा पुनरावलोकन कर देते हैं। ऐसे वाद विवाद के समय प्रशासनिक संगठन की सफलता, उपयुक्तता एवं कार्य-कुशलता सामने आती है।

(ख) आधे घण्टे के विचार-विमर्श के लिए समय माँगना—ऐसा प्रावधान है कि यदि प्रश्न-काल में कोई सदस्य सरकार के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं अथवा उसके सम्बन्ध में उसे सन्देह रहता है तो उसके निवारणार्थ वह प्रश्न काल के तुरन्त बाद अध्यक्ष से आधे घण्टे के विचार विमर्श की अनुमति माँग सकता है और इस विचार-विमर्श में लोक-सेवकों के कार्यों की कटु आलोचना होती है।

(ग) अल्पकालीन विचार-विमर्श के समय—अत्यावश्यक लोकहित के विषय पर विचार करते हुए संसद सदस्यों द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों को वाद-विवाद का विषय बनाया जा सकता है। यह वाद-विवाद अध्यक्ष की अनुमति से अधिक से अधिक ढाई घण्टे का हो सकता है। उक्त अवसरों पर संसद में विचार-विमर्श एवं आलोचना के लिए प्रशासन उत्तरदायी रहता है।

(6) स्थगन प्रस्ताव—संसद सदस्य किसी विभाग के अधिकारियों के अत्याचार एवं ज्यादतियों के विरुद्ध सदन में स्थगन प्रस्ताव रख सकते हैं। प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर सम्बन्धित अधिकारियों की सदन में कटु आलोचना की जाती है जिससे जनता में इन अधिकारियों की बदनामी होती है।

(7) अविश्वास प्रस्ताव—इसे संसद का अमोघ शस्त्र माना जाता है। यदि नागरिक सेवकों के कार्यों के प्रति गहरा असन्तोष है तो कार्यपालिका के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाया जा सकता है। इस प्रस्ताव पर बहस के दौरान लोक-सेवकों की कटु आलोचना की जाती है। प्रशासनिक कमजोरियों, असफलताओं एवं ज्यादतियों पर प्रकाश डाला जाता है। अविश्वास प्रस्ताव पर पराजित होने पर सरकार को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

(8) संसदीय समितियाँ—संसद की समितियाँ लोक प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का सबल साधन हैं। कई संसदीय समितियों का मूल उद्देश्य विस्तृत अध्ययन के बाद यह जानकारी प्राप्त करना है कि कहाँ अनियमितता बरती जा रही है? कौन अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रहा है? किसके द्वारा जनहित विरोधी कार्य किए जा रहे हैं? तथा कौन जनता के धन का अपव्यय कर रहा है? संसद की इन नियन्त्रकारी समितियों के तीन नाम उल्लेखनीय हैं। आश्वासन समिति, जनलेखा समिति और प्राक्कलन समिति। आश्वासन समिति के नियन्त्रण के कारण मंत्री आश्वासन देते समय सजग रहते हैं।

(9) लेखा परीक्षण—भारत का नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) विभिन्न सरकारी विभागों के लेखों की जाँच करता है तथा अनियमितताओं का पता लगाता है। लोक सेवक लेखा परीक्षा के भय से आतंकित रहते हैं तथा जनता के धन का दुरुपयोग नहीं कर पाते हैं।

संसदीय नियन्त्रण की समस्याएँ एवं सीमाएँ
(Problems and Limitations of Parliamentary Control)

प्रो. एपलबी (Prof. Appleby) के मतानुसार प्रशासनिक कार्यों में संसद का हस्तक्षेप नियन्त्रण की परिधियों में सीमित न रहकर महत्वाकांक्षी बन जाता है, इससे लोक-सेवकों के कार्य प्रतिबन्धित हो जाते हैं। भारत में सामन्तवादी परम्पराएँ, जनता और अधिकारियों के मध्य दूरी तथा शिक्षा का निम्न स्तर होने के कारण संसदीय नियन्त्रण वांछनीय लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाता है। इसकी प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) गैर-विशेषज्ञता—संसद के सदस्य गैर-विशेषज्ञ होने के कारण लोक-सेवकों की ठोस रचनात्मक आलोचना नहीं कर पाते हैं। लोक-सेवक स्वेच्छाचारी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि वे सांसदों की पकड़ में नहीं आते हैं। परिणामस्वरूप संसदीय नियन्त्रण का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। अधिकांश सांसद गैर अनुभवी होते हैं, फलतः संसदीय नियन्त्रण की उपयोगिता कम हो जाती है। इस प्रकार संसदीय नियन्त्रण प्रभावशाली एवं सार्थक नहीं हो पाता है।

(2) आलोचना के लिए आलोचना—सांसदों द्वारा प्रशासन की आलोचना उसमें सुधार करने या कार्य कुशलता लाने के उद्देश्य से नहीं की जाती, वरन् दर्शक दीर्घा के लोगों को प्रभावित करने, समाचार-पत्रों में फोटो सहित नाम प्रकाशित करवाने तथा जनता में सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए की जाती है। उनकी आलोचना के पीछे पूर्वाग्रह और व्यक्तिगत मनमुटाव उत्तरदायी रहते हैं। यह स्थिति लोक-सेवकों के मनोबल को गिराती है। आलोचना के लिए की गई आलोचना सार्थक नहीं होती है और लोक-सेवकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(3) उत्तरदायित्व का प्रश्न—संसदीय नियन्त्रण के कारण मन्त्रिगण अपने कन्धे से लोक-सेवकों के कार्यों का दायित्व उतार देते हैं। जब प्रशासनिक अनियमितता या दोष मन्त्री पर डाला जाता है तो मन्त्री उसे लोक-सेवकों की गलती बताकर बच निकलता है अथवा बच निकलने का प्रयास करता है। सांसदों द्वारा की गई नीति की आलोचना के उत्तर में मन्त्री कहते हैं कि नीति ठीक थी, मगर सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा सही रूप से क्रियान्वित नहीं किया गया। इससे लोक-प्रशासन अकार्यकुशल तथा भ्रष्ट बन जाता है।

(4) एकपक्षीय आलोचना—संसद में लोक-सेवकों की आलोचना एकपक्षीय होती है, क्योंकि वहाँ उन्हें अपनी सफाई में कुछ कहने का अवसर नहीं दिया जाता है। इस भय से लोकसेवक प्रभावशाली सांसदों को खुश रखने की नीति अपनाते हुए जनहित और ईमानदारी को ताक पर रख देते हैं। उनकी राजनीतिक निष्पक्षता समाप्त हो जाती है। सांसदों का आश्रय एवं संरक्षण प्राप्त करने के लिए वे अवैध या अनुचित कार्य करने को तैयार हो जाते हैं।

(5) दलगत राजनीति—मन्त्रियों के अधीन होने के कारण लोक-सेवाओं को बहुमत दल का अंग मान लिया जाता है और जिस प्रकार सत्ताधारी दल की आलोचना करना विरोधी दलों का धर्म होता है उसी प्रकार लोक-सेवकों के प्रत्येक कार्य की आलोचना करना उनका कर्तव्य मान लिया जाता है। ये आलोचक निष्पक्ष नहीं होते है। वे दलीय पक्षपात के कारण लोक-सेवकों के चरित्र और व्यवहार पर लांछन लगाते हैं। लोक-सेवक प्रत्येक दल की सरकार को समर्थन देने के लिए बाध्य होते हैं।

(6) सांविधानिक स्थिति—भारतीय संविधान के अनुसार विभागीय कार्यों का उत्तरदायित्व मन्त्री पर होता है। विभाग में होने वाली प्रत्येक गड़बड़ी, अनियमितता, भ्रष्टाचार एवं ज्यादती के लिए मन्त्री को जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए, लोक-सेवकों को नहीं। संसदीय बहस के समय मंत्री के विरुद्ध तर्क-वितर्क प्रस्तुत करें, वह किसी लोक-सेवक पर प्रत्यक्ष रूप से लांछन नहीं लगाए।

सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि में परिवर्तन
(Changing Socio-Economic Profile)

संसदीय नियन्त्रण का प्रशासनिक जीवन पर प्रभाव (Effects of Parliamentary Control over Administrative Vitality)—सिद्धान्त रूप में संसदीय नियन्त्रण के अच्छे उद्देश्य हैं, लेकिन व्यवहार में अपनी अनेक सीमाओं एवं समस्याओं के कारण संसद प्रभावशाली नियन्त्रण रखने में समर्थ नहीं है। जो नियन्त्रण वह रखती है उसका प्रभाव प्रशासन, प्रशासकों के व्यवहार, विचार एवं स्थिति तथा संगठन की रचना एवं कार्यकुशलता पर निम्नलिखित प्रकार से है—

(1) प्रशासन में हस्तक्षेप—नियन्त्रण की शक्ति का दुरुपयोग करते हुए संसद प्रशासनिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करती है। प्रशासनिक तकनीकों से अनभिज्ञ सांसदों तक यह पक्षपातपूर्ण होता है। पूर्वाग्रहों, व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित होकर वे लोक-सेवकों को भ्रष्टाचारी बना देते हैं। कर्तव्य भावना, ईमानदारी तथा जनहित की भावना से कार्य करने वाला कर्मचारी निन्दा का पात्र बनता है और दुराचारी स्वार्थी और भ्रष्टाचारी चमचागिरी में सिद्धहस्त व्यक्ति प्रशंसा और पुरस्कार प्राप्त करता है, फलतः राजनीतिक हस्तक्षेप से गम्भीर प्रशासनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

(2) अनामता असम्भव बन जाती है—लोक-सेवक प्रायः अनाम रहकर कार्य करता है। वह मन्त्री द्वारा हस्तान्तरित शक्तियों का उपभोग करता है। उसके निर्णय तथा कार्य पर सम्बन्धित मन्त्री के हस्ताक्षर होते हैं। यदि उनकी कोई आलोचना या विरोध करे तो मन्त्री उसका जवाब देता है और लोक-सेवक पर्दे के पीछे रहकर कार्य करता रहता है। संसदीय नियन्त्रण में उसकी यह अनामता समाप्त हो जाती है। संसद में उस पर व्यक्तिगत रूप से आरोप लगाये जाते हैं, उसकी खुले रूप में आलोचना की जाती है। इससे अनामता के सभी लाभ समाप्त हो जाते है और नई प्रशासनिक उलझनें पैदा हो जाती हैं, परिणामस्वरूप प्रशासक भय अनुभव करते हैं।

(3) जनता में बदनामी—संसदीय नियन्त्रण लोक-सेवकों के व्यवहार की गली-गली की चर्चा का विषय बना देता है। संसद में जब मन्त्री पर आरोप लगते है तो वह बचाव के लिए लोक-सेवकों पर सारे दोष मढ़ देता है। पद की मर्यादा और सेवा के नियमों का पालन करते हुए जब लोक-सेवकों पर इस प्रकार के दोषारोपण होते हैं तब वे एक गम्भीर उलझन में फँस जाते हैं।

(4) निष्पक्षता असम्भव हो जाती है—संसदीय नियन्त्रण के कारण लोक-सेवक यह मानते हैं कि उन्होंने यदि ईमानदारी से कार्य किया तो दण्ड मिलेगा, यदि निष्पक्षता बरती तो बदनाम होना पड़ेगा, यदि सज्जनतापूर्ण व्यवहार किया तो कमजोर माना जाएगा और राजनीतिक प्रभाव की अवहेलना की तो पद से हाथ धोना पड़ेगा, फलतः वह राजनीतिक हस्तक्षेप को सहर्ष स्वीकार करके स्वार्थ-सिद्धि का प्रयास करता है।

(5) कार्य-कुशलता की क्षति—संसदीय आलोचना के भय से लोक-सेवक व्यक्तिगत पहल करके निर्णय नहीं लेना चाहते है। वे नीतियों, निर्णयों के लिए संसद की तरफ देखते रहते हैं, फलतः निर्णय उस समय लिए जाते है जबकि इनका महत्त्व एवं उपयोगिता समाप्त हो जाती है। इससे प्रशासनिक कार्यकुशलता घटती है और प्रशासन कल्याणकारी नहीं रह पाता है।

(6) लोकसेवाओं में भ्रष्टाचार—निर्णयात्मक शक्ति के अभाव में लोक-सेवकों की प्रशासनिक कार्यों में व्यक्तिगत [illegible] घट जाती है। उनमें असन्तोष और निराशा बढ़ती है तथा उत्साह और प्रेरणा लुप्त हो जाती है। अच्छे कार्य की [illegible] से वह हतोत्साहित हो जाता है। वह अपने जीवन में 'खाओ और खाने दो' का सिद्धान्त अपना लेता है, संगठन का [illegible] पतन हो जाता है।

वित्त पर संसदीय नियन्त्रण : लोक लेखा समिति तथा प्राक्कलन समिति
(Parliamentary Control over Finance : Public Accounts Committee and Estimates Committee)

वित्त पर संसदीय नियन्त्रण प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता है। सरकारी व्यय पर प्रभावशाली संसदीय नियन्त्रण अनिवार्य है। अत: आवश्यक है कि संसद स्वयं को इस बात के प्रति आश्वस्त करे कि विनियोजनों का उपयोग अनुमोदित प्रयोजनों के लिए अनुदानों की सीमा में किया जा रहा है और वह (संसद) सरकार के वार्षिक बजट अनुमानों का समुचित परीक्षण करती रहे ताकि वित्तीय नियन्त्रण बना रहे और बजट अनुमानों में निहित योजनाओं तथा कार्यक्रमों के परिचालन में मितव्ययता सम्बन्धी सुझाव दिए जा सकें। प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं में संसद अथवा व्यवस्थापिका की रचना ऐसी होती है कि उसके पास इन कार्यों को पूरा करने के लिए न तो समय होता है और न आवश्यक शक्ति। इसीलिए इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए संसदीय समितियों और संस्थाओं का विकास हुआ है।

सन् 1921 में केन्द्रीय व्यवस्था में निर्वाचित बहुमत का प्रावधान किया गया है और उसे पूर्ति पर मत देने का अधिकार दिया गया। इस अधिकार के साथ लोक लेखा समिति का गठन आवश्यक हो गया जिसमें निर्वाचित और सरकारी दोनों प्रकार के सदस्यों को स्थान दिया गया। प्राक्कलन समिति की रचना 1950 में हुई। इसका उद्देश्य वार्षिक बजट के अनुमानों का विस्तृत परीक्षण करना है ताकि वह उनमें निहित योजनाओं और कार्यक्रमों के लिए मितव्ययता का सुझाव दे सके। दोनों वित्तीय समितियाँ प्रारम्भ में ग्रेट ब्रिटेन के मॉडल पर निर्मित की गईं किन्तु बाद में इनकी रचना और कार्यों में कुछ परिवर्तन आ गए। इन समितियों के माध्यम से संसद के प्रति कार्यपालिका का उत्तरदायित्व स्थापित किया जा सकता है।

लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)

लोकसभा करदाताओं के पैसे की बहुत बड़ी धनराशि के खर्चे की स्वीकृति देने के बाद करदाताओं के हित में इस बात की आशा करती है कि उचित समय पर ब्यौरेवार हिसाब दिया जाए कि वह पैसा किस प्रकार खर्च किया गया है। लोकसभा को समाधान करना पड़ता है कि उसने जिन धनराशियों के खर्चे की स्वीकृति दी थी, वे मन्जूरी दी गई प्रयोजनों के लिए खर्च हुई हैं और मितव्ययता से तथा विवेकशीलता से खर्च हुई है या नहीं। नियन्त्रण तथा महालेखा परीक्षक सरकार के वार्षिक लेखों की पड़ताल करता है और इसके बाद लेखों का प्रमाण-पत्र देता है और उस सम्बन्ध में जो राय उचित समझता है देता है। वह अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को देता है जो उसे संसद के सामने रख देता है। लोकसभा के लिए इन लेखों की जाँच करना कठिन कार्य है क्योंकि ये बड़े जटिल और तकनीकी होते हैं और उसके पास विस्तृत जाँच के लिए समय नहीं है। इसलिए लोकसभा ने लोक लेखा समिति बनाई है। इन लेखों की ब्यौरेवार जाँच का काम लोक लेखा समिति को सौंपा गया है।[1]

रचना—सन् 1950 में संविधान लागू होने के साथ ही लोक लेखा समिति में से सरकारी तत्त्व हट गए हैं और यह एक सच्ची संसदीय समिति बन गई है। आरम्भ में इसमें 15 सदस्य थे जो लोकसभा के सदस्य होते थे, किन्तु 1954-55 से राज्यसभा के 7 सदस्यों को भी समिति में लिया जा रहा है। अत: वर्तमान में समिति में कुल 22 सदस्य हैं। समिति में उच्च सदन के सदस्यों का लिया जाना ब्रिटिश परम्परा के विपरीत है, क्योंकि वहाँ लोक लेखा समिति में लॉर्ड सभा का कोई सदस्य नहीं होता। स्पीकर द्वारा एक सदस्य को अध्यक्ष बना दिया जाता है जो प्राय: सत्ताधारी दल का होता है। समिति में विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व सदन में उनके अनुपात के अनुसार होता है। समिति दलगत भावना से ऊपर उठकर कार्य करती है। समिति में सचिव का कार्य संसदीय सचिवालय द्वारा किया जाता है। समिति की बैठकों में वित्त मन्त्रालय की ओर से एक पर्यवेक्षक उपस्थित होता है ताकि नए परिवर्तनों और विकास से मन्त्रालय को परिचित रख सकें।

समिति के सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष से अधिक नहीं होता। समिति का कार्यकाल समाप्त होने से पहले, प्रत्येक वर्ष नई समिति का निर्वाचन किया जाता है। यह पुरानी समिति का कार्यकाल समाप्त होने के बाद ही कार्य सम्भालती है। सामान्यतया समिति प्रत्येक वर्ष मई में बनाई जाती है और उसका कार्यकाल अगले साल 30 अप्रैल को समाप्त हो जाता है। अध्यक्ष या सभापति का कार्यकाल भी एक वर्ष का होता है।

कार्य—संविधान के अनुच्छेद 151 के अनुसार लोक लेखा एवं लेखा परीक्षा सम्बन्धी प्रतिवेदन संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखे जाते हैं। लोकसभा के समान राज्यसभा को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वह लोक लेखाओं के परीक्षण के लिए निजी लोक लेखा समिति गठित कर ले, परन्तु यदि एक ही क्षेत्र में एक-सी बातों के लिए दो समितियाँ

1. महेश्वरनाथ कौल एवं श्यामलाल शकधर : संसदीय प्रणाली तथा व्यवहार, पृ. 799

पहुँचाने वाले नियन्त्रण की व्यवस्था के छिद्रों से है सम्बन्धित व्यक्तियों से नहीं। समिति के सुझावों पर की गई कार्यवाही से विभाग समिति को अवगत कराते हैं और यह इसकी पर्याप्तता के सम्बन्ध में मत प्रकट करती है। इसे सिफारिशें क्रियान्वित कराने की शक्ति प्राप्त नहीं है जिससे इसकी प्रभावशीलता में कमी नहीं आती है। इसके द्वारा की गई आलोचना का नैतिक प्रभाव होता है।

दोष—जन-लेखा समिति के माध्यम से संसद के वित्तीय नियन्त्रण में कुछ कठिनाइयाँ कमियाँ और दोष आ जाते हैं। समिति का संगठन एवं कार्य-प्रणाली को आलोचकों ने दोषपूर्ण माना है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

1 सी एवं ए. जी. के प्रतिवेदन आने तक समिति निष्क्रिय रहती है, क्योंकि कार्य प्रतिवेदन आने के बाद प्रारम्भ होता है।

2 समिति केवल उन्हीं प्रश्नों का परीक्षण कर सकती है जो सी. एवं ए. जी. के प्रतिवेदन में उठाए गए हैं।

3 समिति के सदस्य विशेषज्ञ नहीं होते। वे मुख्यतः राजनीतिज्ञ होते हैं और हमेशा बाहरी दबावों से घिरे रहते हैं इसलिए निष्पक्ष नहीं रह पाते। वे राजनीतिक पूर्वाग्रहों से ग्रसित होते हैं। वे केवल अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर पूछताछ करते हैं। उन्हें ऐसे व्यक्तियों से प्रश्न पूछने होते हैं जो अपने विषय के पूरे जानकार तथा विशेषज्ञ होते हैं।

4 समिति नियुक्त करने के बाद संसद वित्तीय नियन्त्रण के कार्य में कुछ उदासीन हो जाती है जिससे सरकार समिति की सिफारिशों को आसानी से भुला सकती है।

5 समिति का नियन्त्रण परवर्ती होता है। यह पोस्टमार्टम अध्ययन करता है। जैसे साँप के चले जाने के बाद उसकी लकीर को पीटते रहना। अर्थात् प्रशासनिक विभागों द्वारा अपव्यय, अनियमितता आदि की जा चुकी होती है तब समिति उस पर विचार करती है।

6 समिति के कार्यों पर नीति-सम्बन्धी आपत्ति उल्लेखनीय है अर्थात् समिति प्रशासनिक अपव्यय को रोकने में लाभदायक हो सकती है किन्तु लोकसभा द्वारा प्रतिपादित अपव्ययपूर्ण नीतियों के सामने यह असहाय बन जाती है।

महत्त्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद समिति का महत्त्व कम नहीं है। इसके सदस्य निरन्तर कार्य करते हुए अनुभव प्राप्त करते हैं। यह अनुभव तथ्यों एवं गवाहों की जाँच करते समय पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। यह विभागों के आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करती। इसका पश्चात् (पोस्टमार्टम) अध्ययन निरर्थक नहीं है। सिडनी वेब के कथनानुसार "पोस्टमार्टम अध्ययन यदि मृत को जिन्दा नहीं कर सकता तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इससे हत्याएं नहीं रुकती।" समिति की सिफारिशों पर सरकार को विचार करना होता है। कोई विभागीय सचिव यह नहीं चाहता कि उसका विभाग समिति की आलोचना का शिकार बने। व्ययकारी विभाग जन-लेखा समिति से अधिक भयभीत रहते हैं क्योंकि समिति की गहरी छानबीन से कुछ भी बचने की सम्भावना नहीं रहती है।

स्वतन्त्रता के बाद इस समिति के कार्य पर्याप्त सन्तोषजनक रहे हैं। प्रशासन द्वारा समिति की सिफारिशों पर ध्यान दिया जाता है। संसद में प्रश्न पूछते समय तथा सरकारी व्यय की आलोचना करते समय सांसदों द्वारा समिति के प्रतिवेदन में दिए गए तथ्यों का पूरा लाभ उठाया जाता है। जन-लेखा समिति रचनात्मक भावना से कार्य करती है। इसके नियन्त्रण का प्रभाव प्रतिरोधात्मक है। मोरिस बोंस (Morris Bones) के मतानुसार जन-लेखा समिति तीन दशाओं में मुख्य रूप से सफल रही है—

1 यह प्रशासन के उन दोषों को जनता के सामने रखती है जिनके बारे में प्रशासन को जानकारी तो रहता है किन्तु वह उन्हें पूरी तरह दूर नहीं कर पाती है।

2 समिति और सी. एवं ए. जी. का अस्तित्व अधिकारियों को सचेत रखता है कि उनके कार्यों का सूक्ष्म परीक्षण किया जाएगा। यद्यपि यह परीक्षण व्यय होने के बाद किया जाता है तथापि व्यय की प्रकृति में निरन्तरता रहने के कारण यह महत्त्वपूर्ण रहता है।

3 यह समिति अधिकारियों एवं राजनीतिज्ञों को एक-दूसरे के निकट लाती है। यह दोनों का मार्गदर्शन करता है। यह अधिकारियों को जनमत के अनुसार चलने का तथा राजनीतिज्ञों को रचनात्मक आलोचना करने का अवसर देती है।

प्राक्कलन समिति (Estimates Committee)

लोकसभा को यह शक्ति प्राप्त है कि बजट के किसी भाग को स्वीकृति प्रदान करे तथा स्वीकृति देने से इनकार कर दे या उसमें निश्चित रकम की कटौती सहित पास कर दे तथा भारत की संचित निधि पर भारित खर्च के सम्बन्ध में प्राक्कलनों पर विचार करे। यद्यपि लोकसभा प्राक्कलनों पर काफी लम्बे समय तक विचार करती है, परन्तु सभा के पास न तो समय है और न ही इतनी गुंजाइश कि प्राक्कलनों के ब्यौरे तथा उनके तकनीकी पहलुओं पर विचार कर सके।

के सक्रिय निरीक्षण से सरकारी यन्त्र में यह चेतना जाग्रत हो जाती है कि उसके प्रस्तावों की गहराई से छानबीन की जाएगी।" यह कार्यकारिणी एवं प्रशासन पर महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध है। इसकी अब तक की सिफारिशों को देख कर विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यह पर्याप्त उपयोगी समस्याओं को अपने विचार का विषय बनाती है।

दोष एवं कमियाँ—प्राक्कलन समिति की कार्य-प्रणाली एवं संगठन के बारे में आलोचकों ने मुख्यतः निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया है—

(क) जन-लेखा समिति की भाँति यह समिति संसद द्वारा समर्थित नीतियों की आलोचना नहीं कर सकती।

(ख) यह समिति सी. एवं ए. जी. के सहयोग तथा परामर्श से लाभान्वित नहीं हो पाती। इसका कोई परामर्शदाता नहीं है।

(ग) यह समिति जिस विभाग का परीक्षण कर लेती है वह कई वर्षों तक के लिए निश्चिन्त हो जाता है। फलतः उस विभाग में असावधानी और लापरवाही पनपने लगती है।

(घ) यह प्रशासन में केवल उन्हीं परिवर्तनों का परामर्श देती है, जो अनुमानों को प्रभावित करते हैं। सरकार इसकी सिफारिशों की अवहेलना कर सकती है।

(ङ) अशोक चन्दा के मतानुसार समिति के कार्यों का विस्तार एवं उनका कार्य करने का ढंग पर्याप्त दोषपूर्ण है।

विभिन्न कमियाँ और दोष होते हुए भी यह एक मान्य तथ्य है कि संसद की ये दोनों समितियाँ प्रशासन पर वित्तीय नियन्त्रण का प्रभावपूर्ण साधन हैं। इनके सदस्य अपने लम्बे अनुभव के बाद कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। सरकार इनकी सिफारिशों की अवहेलना नहीं कर पाती और व्ययकारी विभागों के सिर पर ये 'डेमोक्लीज की तलवार' की भाँति लटकी रहती हैं। प्राक्कलन समिति भारत में प्रशासन की योग्यता तथा उसके स्तरों को उन्नत करने में महत्वपूर्ण योग दे रही है।

□□□

18

उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय

(The Supreme Court & the High Courts)

उच्चतम न्यायालय

उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मुख्य न्यायाधीश से पर्याप्त परामर्श द्वारा की जाती है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति के लिए उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के उन न्यायाधीशों के साथ परामर्श करना आवश्यक समझा गया है जिनके साथ परामर्श करना वह उचित समझे।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त किये जाने के लिए अनिवार्य है कि व्यक्ति भारत का नागरिक हो तथा किसी एक उच्च न्यायालय या दो से अधिक ऐसे न्यायालयों में कम से कम पाँच वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो या किसी उच्च न्यायालय या दो अथवा दो से अधिक न्यायालयों में 10 वर्ष तक लगातार वकील रह चुका हो या वह राष्ट्रपति की राय में कानून का प्रकाण्ड पण्डित हो। यह व्यवस्था देश के उत्कृष्टतम विधि-विशेषज्ञों को आकर्षित करने के लिए रखी गई है। न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की राष्ट्रपति की शक्ति व्यवहार में औपचारिक है क्योंकि वह मन्त्रिमण्डल की सलाह से कार्य करता है।

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति और उपस्थित होने वाले विवाद

मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में अनुच्छेद 124 में यह उल्लेख नहीं किया गया है कि उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही मुख्य न्यायाधिपति नियुक्त किया जा सकता है। संविधान में ऐसी बाध्यता न होने के बावजूद उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त करने की परम्परा रही। सन् 1956 में विधि आयोग ने यह सुझाव दिया था कि मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति वरिष्ठता के आधार पर ही नहीं वरन् न्यायाधीशों के गुण और उपयुक्तता के आधार पर की जानी चाहिए। प्रथम बार 1964 में वरिष्ठता की परम्परा का पालन नहीं किया गया जब जफर इमाम को मुख्य न्यायाधीश नहीं बनाया गया यद्यपि वे वरिष्ठता में सर्वोच्च थे। ऐसा उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों को दृष्टिगत रखकर किया गया था। इससे कोई राजनीतिक विवाद उपस्थित नहीं हुआ था। 1973 में इस प्रश्न पर संवैधानिक विवाद उठ खड़ा हुआ। 25 अप्रैल, 1973 को केशवानन्द भारती के मामले पर दिए गए निर्णय के कुछ घण्टों के पश्चात् ही सरकार ने अप्रत्याशित ढंग से वरिष्ठता-क्रम की उपेक्षा करके न्यायाधीश अजितनाथ राय को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया। उच्चतम न्यायालय के तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों—जे. एम. शैलट, के. एस. हेगड़े तथा एस. एन. ग्रोवर ने केन्द्र सरकार के निर्णय से क्षुब्ध होकर पदों से त्यागपत्र दे दिया। सरकार के इस रवैये की बड़ी तीव्र आलोचना हुई और उच्चतम न्यायालय के बार एसोसिएशन ने बहुमत से पारित कर एक प्रस्ताव में आरोप लगाया कि उपरोक्त नियुक्ति विशुद्ध राजनीतिक आधार पर की गई थी जिसका योग्यता तथा वरिष्ठता से कोई सम्बन्ध नहीं था।

दूसरी ओर, लोकसभा में सरकार के कदम का समर्थन करते हुए तत्कालीन विधि मन्त्री एच. आर. गोखले ने कहा कि राय की नियुक्ति पूर्ण रूप से संवैधानिक था। इस हेतु निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये—(1) संवैधानिक उपबन्ध (Constitutional Provision) (2) विधि आयोग की सिफारिशें (Recommendations of Law Commission) (3) अन्य देशों की नजीरें (Precedents of Other Countries) (4) न्यायाधीशों का सामाजिक दर्शन (Social Philosophy of Judge), (5) न्यायाधिपतियों के कार्यकाल की अवधि (Time Period of Judges)। 1977 में न्यायाधीश अजितनाथ राय की सेवा-निवृत्ति के बाद पुनः वरिष्ठता के सिद्धान्त का उल्लंघन किया गया। वरिष्ठतम न्यायाधीश एच. आर. खन्ना के स्थान पर उनसे कनिष्ठ एम. एच. बेग को मुख्य न्यायाधीश बनाया गया। इसके विरोध में खन्ना ने त्याग-पत्र दे दिया। 1978 में मुख्य न्यायाधिपति एम. एच. बेग के सेवा निवृत्त होने पर

यह प्रश्न फिर से उठा कि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति की कसौटी क्या होनी चाहिए? जनता सरकार ने पुनः वरिष्ठता की कसौटी के आधार पर न्यायाधिपति चन्द्रचूड़ को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर इस विवाद को समाप्त कर दिया।

न्यायाधीश की पदावधि और पदच्युति

न्यायाधीश पैंसठ वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर बने रहते हैं।[1] कोई भी न्यायाधीश राष्ट्रपति को लिखित सम्बोधित द्वारा अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है। उसे दुर्व्यवहार करने तथा कार्य में अक्षम होने के प्रमाणित आधार पर पदच्युत किया जा सकता है। व्यवस्था है कि "उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से तब तक नहीं हटाया जा सकता जब तक कि संसद के प्रत्येक सदन द्वारा प्रमाणित दुराचरण अथवा अक्षमता के आधार पर कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा मत देने वाले उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पास इस आशय का प्रस्ताव न मिल जाए।"[2] सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश रामास्वामी के विरुद्ध लगाया गया महाभियोग प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। इसके बाद उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। ऐसा प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में प्रस्तावित और स्वीकृत होना चाहिए। पदच्युति की कठिन प्रक्रिया अपनाने का कारण न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को सुनिश्चित करना है।

न्यायाधीशों के वेतन और विशेषाधिकार

संविधान की द्वितीय अनुसूची के अन्तर्गत मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों को प्रतिमास वेतन दिया जाना निश्चित किया है। वर्तमान में भारत के मुख्य न्यायाधीश को 33,000 रुपये तथा अन्य न्यायाधीशों को 30,000 रुपये प्रतिमाह वेतन और निःशुल्क शासकीय निवास दिया जाता है। न्यायाधीशों को यह वेतन भारत की संचित निधि से देय होता है तथा उनके कार्यकाल में उनके वेतन-भत्तों को कम नहीं किया जा सकता है।

उन्मुक्तियाँ (*Immunities*)

भारत में उच्चतम और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को अपने न्यायिक कार्यों और निर्णय के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गई है तथापि न्यायालय के किसी निर्णय अथवा किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर पक्षपात का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। संसद महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं कर सकती है। न्यायालय को अधिकार है कि वह अपने सम्मान को बनाए रखने के लिए और शत्रुतापूर्ण आलोचना से अपना रक्षा करने के लिए तथाकथित अपराधी के विरुद्ध न्यायालय अवमानना की कार्यवाही कर सके।

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार

(Jurisdiction of the Supreme Court)

भारत के उच्चतम न्यायालय को विश्व के सम्भवतः अन्य किसी भी न्यायालय की अपेक्षा अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं जिन्हें निम्नांकित चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) अभिलेख क्षेत्राधिकार (Court of Records) अनुच्छेद 129

अभिलेख न्यायालय के सभी कृत्य एवं कार्यवाहियाँ सदैव के लिए मददगार एवं प्रमाण के रूप में सुरक्षित रखी जाती हैं। इन अभिलेखों पर न अँगुली उठाई जा सकती है और न कोई न्यायालय इन अभिलेखों के विरुद्ध जा सकता है यद्यपि अभिलेख न्यायालय अपने अभिलेखों की लिपि सम्बन्धी भूलों में सुधार कर सकता है। अभिलेख न्यायालय का इस दृष्टि से भी महत्व है कि वह अपने अवमानना (Contempt of Court) के लिए दण्ड देने की शक्ति रखता है जो उसे संविधान द्वारा प्राप्त है। इसके अतिरिक्त संसद ने '*न्यायालय अवमानना अधिनियम 1971*' (Contempt of Court Act, 1971) पारित करके 'न्यायालय अवमानना' की एक निश्चित परिभाषा कर दी है। न्यायालय-अवमानना के लिए 6 महीने की सजा या 2,000 रु का जुर्माना या दोनों दिये जा सकते हैं। न्यायाधीशों को भी अपने न्यायालय की अवमानना के लिए दण्डित किया जा सकता है।

44वें संविधान संशोधन 1978 के अनुसार उच्चतम न्यायालय यदि चाहे तो उच्च न्यायालय से मामलों को अपने पास मँगा सकता है। इस संशोधन के पूर्व न्यायालय ऐसा केवल एटार्नी जनरल के आवेदन पर ही कर सकता था। अब यह ऐसा स्वयं कर सकता है।

---

1 अनुच्छेद 124(2)

2 अनुच्छेद 124 (1) (ख) एवं (4)

(ग) अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction) अनुच्छेद 132 से 136

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है अर्थात् उसे देश के राज्यों के उच्च न्यायालयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है। अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) सांवैधानिक मामले (अनुच्छेद 132) (ब) दीवानी मामले (अनुच्छेद 133)

(स) फौजदारी मामले (अनुच्छेद 134) (द) विशिष्ट पुनर्विचार (अनुच्छेद 136)

(अ) सांवैधानिक मामले (Constitutional Cases)—अनुच्छेद 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्न अन्तर्निहित है तो उस निर्णय की अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ने ऐसा प्रमाण-पत्र देना अस्वीकार कर दिया है किन्तु उच्चतम न्यायालय को यह विश्वास हो कि विवाद में संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है तो वह स्वयं अपील की अनुमति प्रदान करता है। उच्चतम न्यायालय में अपील उच्च न्यायालय के अन्तिम आदेश के विरुद्ध की जा सकती है। अन्तिम आदेश वह आदेश होता है जो पक्षकारों के अधिकारों का अन्तिम रूप से निपटारा करता है। यदि आदेश के बाद भी मुकदमा जीवित है अर्थात् जिसमें अधिकारों का अभी निपटारा किया जाना शेष है तो उसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती है। इलेक्शन कमीशन बनाम वैंकटराव के वाद में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि उच्च न्यायालय के किसी एक न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती है।

(ब) दीवानी मामले (Civil Cases)—अनुच्छेद 133 के अनुसार उच्चतम न्यायालय को दीवानी अपीलीय अधिकार प्राप्त हैं। दीवानी मामलों में उच्च न्यायालय के किसी निर्णय या अन्तिम आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील तभी की जा सकती है जब उच्च न्यायालय यह प्रमाण-पत्र दे दे कि—(क) मामले में सार्वजनिक महत्व का कानूनी प्रश्न निहित है, (ख) उच्च न्यायालय के अनुसार इस प्रश्न का निपटारा उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाना अभीष्ट है। ये उपबन्ध अनुच्छेद 133 में संविधान के 30वें संशोधन अधिनियम, 1972 द्वारा जोड़े गए है, परन्तु उच्च न्यायालय के प्रमाण-पत्र मिल जाने पर भी सर्वोच्च न्यायालय अपील सुनने को बाध्य नहीं है तथा वह ऐसे प्रमाण-पत्र को रद्द कर सकता है।

(स) फौजदारी मामले (Criminal Cases)—अनुच्छेद 134 के अनुसार फौजदारी मामलों में उच्चतम न्यायालय में तभी अपील की जा सकती है जबकि

(क) उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की मुक्ति का आदेश रद्द करके उसे मृत्यु दण्ड सुना दिया हो या आजीवन कारावास का या कम से कम दस वर्ष के कारावास का दण्ड दिया हो।

(ख) उच्च न्यायालय ने *अधीनस्थ न्यायालय का मामला सुनवाई के लिए अपने पास मँगवा कर अभियुक्त* को मृत्यु दण्ड सुना दिया हो या आजीवन कारावास का या कम से कम दस वर्ष के कारावास का दण्ड दे दिया हो।

(ग) उच्च न्यायालय ने यह प्रमाण पत्र दे दिया हो कि मुकदमा इस लायक है कि उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

संसद फौजदारी मामलों में उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकती है। फौजदारी अथवा दाण्डिक विषयों में अपील का प्रमाण-पत्र देने का अधिकार उच्चतम न्यायालय का विशेषाधिकार है, किन्तु उच्च न्यायालय अपने विवेकाधिकार का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता है। इस विवेकाधिकार का प्रयोग सुनिश्चित एवं मान्य सिद्धान्तों के आधार पर, जो इन मामलों को विनियमित करते हैं, न्यायिक ढंग से किया जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय ने मत व्यक्त किया है कि उच्च न्यायालय को केवल असाधारण परिस्थितियों में प्रमाण-पत्र देना चाहिए। तथ्य के प्रश्नों पर अपील करने का प्रमाण पत्र नहीं दिया जा सकता है।

अनुच्छेद 134 में उच्चतम न्यायालय, आपराधिक मामलों में एक साधारण न्यायालय की भांति है। इसका आपराधिक अपीलीय अधिकारिता सीमित है और वह उसका प्रयोग केवल असाधारण परिस्थितियों में ही करता है अर्थात् जहां न्याय इसकी अपेक्षा करता है कि उसे हस्तक्षेप करना ही चाहिए। साधारणतया उच्चतम न्यायालय साक्ष्य का पुनः मूल्यांकन नहीं करता है जब तक कि यह न सिद्ध हो जाए कि अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों में अवैधता या अनियमितता का गम्भीर लोप हुआ है। उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजनाथ[1] के मामले में *अभियुक्त को एक मात्र आधार पर विमुक्त कर दिया गया था* कि उसके मतों में प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के *साक्ष्य मानने लायक नहीं थे। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि* अभियुक्त की विमुक्ति से घोर *अन्याय हुआ था, क्योंकि उच्च न्यायालय ने साक्षियों के साक्ष्य को भली भांति मूल्यांकन* किए बिना ही उसे क्यों आधारहीन समझा है, *अपना निर्णय दिया था। अतः मामले को पुनः निर्णय* के लिए उच्च न्यायालय के पास वापस भेज दिया गया।[2]

---

1 ए आई आर 1983 सुप्रीम कोर्ट 187

2 जयनारायण पाण्डेय पूर्वोक्त पृ 227

(द) विशिष्ट पुनर्विचार (Special Appeals)—अनुच्छेद 136, उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार की दृष्टि से, बहुत महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत प्रदान की गई शक्तियाँ विशिष्ट या अविशिष्ट (Special or Residuary) शक्तियों की प्रकृति की है। संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की व्यवस्था है। कुछ ऐसे मामले जो उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते उनमें उच्चतम न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक होता है। अनुच्छेद 136 यह व्यवस्था करता है कि उच्चतम न्यायालय स्वविवेक से भारत राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या विषय में दिए हुए किसी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण दण्डादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकता है। इसमें अपवाद केवल यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है।

अपीलीय क्षेत्राधिकार की दृष्टि से भारत का उच्चतम न्यायालय विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली न्यायालय है।

न्यायाधिकरण (Tribunals)[1]—अनुच्छेद 136 उच्चतम न्यायालय की अपील सुनने की शक्ति केवल न्यायालयों तक ही सीमित नहीं है। यह 'न्यायाधिकरणों' से भी अपील सुन सकता है। 'न्यायाधिकरण' शब्द के अन्तर्गत वे सभी निकाय सम्मिलित हैं जिनमें न्यायिक शक्तियाँ निहित हैं और जिनके निर्णय नागरिकों के अधिकारों को प्रभावित करते हैं, किन्तु इसके अन्तर्गत वे न्यायाधिकरण शामिल नहीं हैं जो विशुद्ध रूप से केवल प्रशासनिक और कार्यकारिणी के कृत्य करते हैं या जो केवल विधायी कृत्य करते हैं। उदाहरणार्थ, इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल्स, इन्कम टैक्स ट्रिब्यूनल्स, लेबर अपीलेट ट्रिब्यूनल्स, चुनाव आयोग, रेलवे रेट ट्रिब्यूनल्स आदि न्यायाधिकरण हैं जो यद्यपि सही मायने में न्यायालय हैं, किन्तु उनमें न्यायालय के कुछ कृत्य निहित हैं। न्यायाधिकरणों द्वारा दिए गए निर्णय या निर्धारणों में यह निम्नलिखित आधारों पर ही हस्तक्षेप करेगा—

(1) जहाँ न्यायाधिकरण उस क्षेत्राधिकार के बाहर कार्य करता है जो उसे सृजित करने वाले अधिनियम या विनियम के अधीन प्रदान किया जाता है या जहाँ वह किसी प्रत्यक्ष क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने में विफल हो जाता है, (2) जहाँ कि निर्णय में प्रत्यक्ष रूप से कोई भूल की गई हो, (3) जहाँ कि न्यायाधिकरण के निर्धारण (Awards) प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध किया है जिससे पक्षकारों के साथ घोर अन्याय हुआ है, (4) जहाँ न्यायाधिकरण ने सुस्थापित प्राकृतिक सिद्धान्तों को गलत ढंग से लागू किया है, उदाहरणार्थ कलकत्ता ट्रामवेल बनाम कलकत्ता ट्रामवे क. लि.[2] का निर्णय।

(घ) परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) अनुच्छेद 143

उच्चतम न्यायालय के कतिपय महत्वपूर्ण परामर्श सम्बन्धी कार्य भी हैं। सार्वजनिक महत्व का कोई कानूनी प्रश्न अथवा तथ्य तथा वे वाद जिनका सम्बन्ध सन्धियों, करारों आदि की व्याख्या से होता है और जो न्यायालय के मूल न्यायाधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते, सलाह के लिए उच्चतम न्यायालय के पास भेजे जा सकते हैं। उच्चतम न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर है।

कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी परामर्शकारी शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 143 का निर्माण करते समय हमारे संविधान-निर्माताओं ने कनाडा के संविधान का अनुसरण किया। अनुच्छेद 143 के निर्वचन पर उच्चतम न्यायालय का मत समान नहीं रहा। सर्वप्रथम इन री एजूकेशनल बिल (1957)[3] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि उस पर ऐसा कोई संवैधानिक दायित्व अधिरोपित नहीं किया गया है कि आवश्यक रूप से राष्ट्रपति को अपना परामर्श भेजे। अनुच्छेद 143(1) में 'प्रयुक्त कर सकेगा' (May) शब्दावली यह दर्शाती है कि उच्चतम न्यायालय परामर्श देने के लिए बाध्य नहीं है। यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह अपनी राय दे या न दे। उच्चतम न्यायालय को कौन-से प्रश्न सौंपे जाएँ इसका निर्धारण राष्ट्रपति करता है और राष्ट्रपति के इस निर्णय पर आपत्ति नहीं की जा सकती। अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई राय यद्यपि सम्मान के योग्य है, परन्तु वह न्यायालयों के ऊपर बाध्यकारी नहीं है। सन् 1993 में राष्ट्रपति ने 'अयोध्या विवाद' के मामले में उच्चतम न्यायालय का परामर्श माँगा था, किन्तु उपर्युक्त निर्णय के विपरीत इन री स्पेशल कोर्ट बिल 1978[4] में उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व विनिश्चयों को बदलते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति को सलाह देने के लिए बाध्य है।[5] न्यायालय ने यह सलाह दी कि राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि जिन प्रश्नों पर उच्चतम न्यायालय के

1 जयनारायण पाण्डेय : पूर्वोक्त, पृ. 227.
2 ए. आई. आर. 1947, सुप्रीम कोर्ट, 2192.
3 ए. आई. आर. 1958, सुप्रीम कोर्ट, 956.
4 ए. आई. आर. 1978, सुप्रीम कोर्ट, 956.
5 ए. आई. आर. 1979 सुप्रीम कोर्ट, 478.

परामर्श की आवश्यकता है उन्हें स्पष्ट एवं निर्दिष्ट रूप से संदर्भित किया जाए। न्यायालय ने अपनी अवधारणा व्यक्त करते हुए कहा है कि यदि ऐसे प्रश्न अस्पष्ट हैं तो उच्चतम न्यायालय पर अधिरोपित सांविधानिक बाध्यता का महत्व नहीं रह जाता। यह सर्वविदित है कि प्रस्तुत मामले में राष्ट्रपति ने विशेष न्यायालयों की स्थापना हेतु उच्चतम न्यायालय की राय माँगी थी। विशेष न्यायालयों की स्थापना से सम्बन्धित विषयों को सिद्धान्ततः स्वीकार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने विधेयक में तीन अन्य शर्तों का पालन किया जाना आवश्यक बताया था, जिसे राष्ट्रपति ने यथावत स्वीकार कर लिया। अन्ततोगत्वा विशेष न्यायालय विधेयक पारित कर दिया गया। संविधान लागू होने के दिन से अभी तक निम्नलिखित मामलों में उच्चतम न्यायालय ने परामर्श दिया है—

(1) 1951 में 'द देहली लॉज एक्ट अजमेर मेरवाड़ा' से सम्बन्धित अधिनियम और पार्ट 'सी' अधिनियम की वैधता के प्रश्न पर, (2) 1957 में केरल शिक्षा विधेयक के प्रश्न पर, (3) 1956 में एन. टी. बेरुवारी के प्रश्न पर, (4) 1962 में एन. टी. टि. सी. कस्टम्स एक्ट के प्रश्न पर, (5) 1965 में उत्तर प्रदेश की विधानसभा से सम्बन्धित संसदीय विशेषाधिकार के प्रश्न के सन्दर्भ में, (6) 1974 में राष्ट्रपति के निर्वाचन के विषय पर, (7) 1978 में विशेष न्यायालयों की स्थापना के सम्बन्ध में, (8) 1993 में अयोध्या विवाद के सम्बन्ध में।

उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के बन्धनकारी स्वरूप

इस सम्बन्ध में प्रख्यात विधिवेत्ता डॉ. पाण्डेय के अनुसार "अनुच्छेद 141 यह कहता है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों में आबद्धकारी होगी। प्रश्न यह है कि क्या उच्चतम न्यायालय अपने पूर्व-निर्णयों को मानने के लिए बाध्य है? अनुच्छेद 141 में प्रयुक्त 'सब न्यायालय' पदावली से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें उच्चतम न्यायालय सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय अपने निर्णयों से बाध्य नहीं है और उचित मामलों में वह अपने पूर्व-निर्णयों को बदल सकता है।"

बंगाल इम्यूनिटी कम्पनी बनाम बिहार राज्य[1] के वाद में यह प्रश्न उच्चतम न्यायालय के समक्ष उठाया गया था। संविधान के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय को अपना दोषपूर्ण निर्णय बदलने का अधिकार प्राप्त है। "उच्चतम न्यायालय अपने पूर्ववर्ती विनिश्चयों पर पुनर्विचार तभी करता है जब उसका यह समाधान हो जाता है कि उसने पूर्व विनिश्चयों में गलती की है अथवा यह कि ऐसा विनिश्चय सामान्य सार्वजनिक हित पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है अथवा वह हमारे संविधान के विधिक दर्शन के प्रतिकूल है और संविधान सम्बन्धी विषयों में उच्चतम न्यायालय ऐसे पूर्व विचार अधिक तत्परता से करेगा, किन्तु विधि की अन्य शाखाओं के सम्बन्ध में इतनी तत्परता नहीं बरती जाएगी। वस्तुओं के निर्णितानुसरण के सिद्धान्त की व्यापकता को प्रस्तुत मामले में लागू नहीं किया जा सकता है और कोई स्पष्ट विवशता के सामने आ जाए तो पूर्वतर विनिश्चयों को उलट दिया जाना चाहिए।" प्रस्तुत वाद उच्चतम न्यायालय ने यूनाइटेड मोटर्स बनाम बम्बई राज्य[2] के वाद में दिए गए अपने निर्णयों पर पुनर्विचार किया था और उसे बदल दिया था।

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य[3] के वाद में उच्चतम न्यायालय ने अपने दो महत्वपूर्ण पूर्ववर्ती निर्णयों—शंकरी प्रसाद और सज्जनसिंह[4] को उलट दिया था। उक्त दोनों विनिश्चयों में न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया था कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में निहित है और उसके अन्तर्गत पारित किए गए सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत नहीं आते हैं किन्तु गोलकनाथ[5] के वाद में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति अनुच्छेद 368 में नहीं बल्कि संसद की अवशिष्ट शक्ति में निहित है अतः अनुच्छेद 368 के अधीन पारित सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द में शामिल है। केशवानन्द भारतीय बनाम केरल राज्य[6] के निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ के मामले में दिए गए निर्णय को उलट दिया है। न्यायालय ने कहा है कि सांविधानिक संशोधन अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत नहीं आते हैं तथा संविधान में संशोधन की शक्ति अनुच्छेद 368 में निहित है।

अतः भारत में पूर्वोदाहरण (Precedents or Stare Decisions) के सिद्धान्त का बहुत सीमित रूप से अनुसरण किया जाता है। यह आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल है। इलाहाबाद और बम्बई उच्चतम न्यायालयों ने अभिनिर्धारित किया है कि उच्चतम न्यायालय की इतरोक्ति (Obiter Dicta) अनुच्छेद 141 के अर्थान्तर्गत एक विधि है और इस

1 ए. आई. आर. 1955 सुप्रीम कोर्ट 661
2 ए. आई. आर. 1953 सुप्रीम कोर्ट, 252
3 ए. आई. आर. 1967 सुप्रीम कोर्ट, 1043
4 ए. आई. आर. 1951 सुप्रीम कोर्ट, 458
5 ए. आई. आर. 1955 सुप्रीम कोर्ट, 805
6 ए. आई. आर. 1973, सुप्रीम कोर्ट, 1461

पुनरावलोकन के क्षेत्र की चली आ रही अस्पष्टता दूर हो गई। 1973 में उच्चतम न्यायालय द्वारा केशवानन्द भारती विवाद के सम्बन्ध में दिए गये अपने निर्णय में इस संविधान संशोधन की वैधता को स्वीकार कर लिया गया।

(ब) अनुच्छेद 246 के अनुसार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति—यह अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार को प्रकट करता है। इसके अन्तर्गत संघ अथवा राज्य द्वारा विधायी सीमा का उल्लंघन एवं असांवैधानिक कार्य है और उच्चतम न्यायालय अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग कर उसे असांवैधानिक घोषित कर सकता है। तीनों सूचियों में शक्ति-वितरण की स्पष्ट व्यवस्था है और सभी परिस्थितियों का संविधान में यथासम्भव उल्लेख कर दिया गया है अतः उच्चतम न्यायालय को अपना 'विवेक' प्रयोग करने के अवसर बहुत कम मिल पाते हैं। उसे कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार किसी कार्य की वैधता की जाँच करनी होती है। दूसरी ओर अमेरिकन उच्चतम न्यायालय को 'स्व-विवेक' प्रयोग करने के अनेक अवसर प्राप्त हैं। परिणामस्वरूप अमेरिकन उच्चतम न्यायालय की भाँति भारतीय उच्चतम न्यायालय के लिए 'तृतीय सदन' के अवसर नहीं हैं।

(स) अनुच्छेद 32 के अनुसार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति—इस अनुच्छेद में नागरिकों के संवैधानिक उपचारों का उल्लेख है। तदनुसार कोई भी नागरिक अपने किसी मौलिक अधिकार के उल्लंघन पर उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकता है। उच्चतम न्यायालय को यह देखने का अधिकार होगा कि क्या राज्य के किसी कार्य या कानून से नागरिक के मौलिक अधिकार का उल्लंघन हुआ है? मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 32(2) के अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार पृच्छा लेख निकालने का अधिकार है। ये लेख या आदेश 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के उल्लंघन पर ही निकाले जाते हैं, अमेरिका की तरह 'प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों' के अनुसार नहीं। इन रिटों (Writs) के रूप में न्याय प्रशासन की एक नई शाखा का विकास हुआ है। इस नई शाखा का जनता ने किस उत्साह के साथ उपयोग किया है, यह इससे प्रकट है कि अनेक उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या में सौ से दो सौ प्रतिशत तक (कहीं-कहीं उससे भी अधिक) वृद्धि करनी पड़ी है फिर भी विचाराधीन मुकदमों की संख्या बढ़ती जा रही है। न्यायपालिका द्वारा रिट-अधिकारिता के प्रयोग से जन-साधारण के मन में यह विश्वास जाग गया है कि उस पर कानून का शासन है।

(द) अनुच्छेद 131 एवं 132 के अनुसार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति—अनुच्छेद 131 में उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का और अनुच्छेद 132 में संविधानिक मामलों में उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार का उल्लेख किया गया है अर्थात् ये दोनों अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को संघीय और राज्य सरकार द्वारा निर्मित विधियों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं।

38वें संविधान संशोधन से 43वें संविधान संशोधन तक की स्थिति

संविधान के 38वें संशोधन अधिनियम, 1975 द्वारा यह व्यवस्था कर दी गई है कि आपातकालीन स्थिति की घोषणा के राष्ट्रपति के अधिकार को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संशोधन के बाद राष्ट्रपति और राज्यपालों द्वारा उद्घोषित आपातकालीन स्थिति वाले अध्यादेशों को न्यायालय की सुनवाई के क्षेत्राधिकार से अलग कर दिया। 39वें संशोधन अधिनियम, 1975 द्वारा राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और संसद के अध्यक्ष के चुनावों पर विचार करने के न्यायालय के अधिकार समाप्त कर दिए गए। 40वें संविधान अधिनियम, 1976 के द्वारा प्रधानमन्त्री को राष्ट्रपति और राज्यपालों की तरह दाण्डिक तथा दीवानी कार्यवाहियों से विमुक्ति प्रदान कर दी गई। 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा उच्चतम न्यायालय की पुनरावलोकन की शक्ति को और सीमित कर दिया गया, लेकिन 43वें सांविधानिक संशोधन ने न्यायिक पुनरावलोकन सम्बन्धी व्यवस्थाओं को समाप्त कर दिया और न्यायिक पुनरावलोकन के सम्बन्ध में वही स्थिति हो गई जो 42वें सांविधानिक संशोधन के पूर्व थी। 43वें संविधान संशोधन ने भारतीय न्यायपालिका की प्रतिष्ठा और गरिमा को बहाल कर दिया।

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की समीक्षा

संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में भारत में न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र सीमित है। भारतीय सांविधानिक प्रक्रिया के विकास में सर्वोच्च न्यायालय ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। देश में सांविधानिक विकास की दृष्टि से न्यायालयों ने सृजनात्मक भूमिका का निर्वाह किया है। कई बार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के प्रयोग से न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं विधानपालिका के बीच विवाद एवं तनाव उत्पन्न हुआ है। उदाहरण के लिए निजी सम्पत्ति के सम्बन्धों, विधायी विशेषाधिकारों एवं सांविधानिक संशोधन के क्षेत्रों में दिए गए कुछ निर्णयों के कारण विवाद उत्पन्न हुए हैं। परिणामस्वरूप, संविधान में संशोधन कर उन न्यायिक व्यवस्थाओं को समाप्त किया गया जिन्हें सरकार नहीं चाहती थीं। ऐसा करने का औचित्य यह कहकर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि उच्चतम न्यायालय ने इन निर्णयों द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बाधा डाली है।

इन विचारों के अतिरिक्त, भारत में न्यायिक पुनरावलोकन प्रक्रिया को संविधान का अनुमोदन प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय ने मद्रास बनाम राव के वाद में यह अभिमत व्यक्त किया है कि संविधान में कई धाराएँ न्यायालयों को यह शक्ति देती हैं कि वे यह कार्य विधानमण्डल पर प्रहार करने की इच्छा से न करें, किन्तु संविधान द्वारा स्पष्टतया प्रदत्त कर्तव्यों को निवाहने के लिए उसे यह करना पड़ता है। गोपालन के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा है : "भारत में, संविधान सर्वोच्च है और किसी विधि के वैध होने के लिए यह आवश्यक है कि यह हर स्थिति में सांविधानिक अपेक्षाओं के समनुरूप हो और यह निर्णय करना न्यायालय का कार्य है कि अधिनियम सांवैधानिक है अथवा नहीं।" यदि विधानपालिका किसी सांवैधानिक परिसीमा का उल्लंघन करती है तो न्यायालय का कर्तव्य है कि वह विधि को असांवैधानिक घोषित कर दे क्योंकि "अपनी शपथ के कारण न्यायालय संविधान की रक्षा करने के लिए बाध्य है।" न्यायिक पुनरावलोकन संविधान द्वारा सौंपा गया है। न्यायालय इस कार्य को करने में स्वयं को उलझन और असमंजसता की स्थिति में पाते हैं परन्तु वे अपने सांवैधानिक उत्तरदायित्व से विमुख नहीं हो सकते।

असांवैधानिक का प्रभाव—जब उच्चतम न्यायालय किसी विधि को असांवैधानिक घोषित करता है तो अनुच्छेद 141 के अन्तर्गत उसका निर्णय भारत के प्रत्येक न्यायालय पर लागू होता है। इसका प्रभाव यह होता है कि उच्चतम न्यायालय का निर्णय हर व्यक्ति पर सर्वबन्धी निर्णय के रूप में लागू हो जाता है। इसके पश्चात् किसी के लिए उस अधिनियम की असांवैधानिकता स्थापित करना आवश्यक नहीं है। किसी असांवैधानिक विधि की अवज्ञा करने के लिए न्यायालय बाध्य है। जब किसी विधि का एक अंश अवैध ठहराया जाता है तो उसकी उपेक्षा की जाती है। असांवैधानिक अंश निकाल देने पर शेष विधि सांवैधानिक बनी रहती है, परन्तु यदि अलग न किया जा सके तो पूर्ण विधि असांवैधानिक मानी जाती है।

उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने ही निर्णयों पर पुनर्विचार

उच्चतम न्यायालय को संविधान के अनुच्छेद 137 के अन्तर्गत अपने निर्णयों और आदेशों का पुनरावलोकन करने की शक्ति प्राप्त है। "यह कहा जाता है कि निम्न न्यायालय का सम्बन्ध तथ्यों से है, उच्च न्यायालय का सम्बन्ध त्रुटियों (निम्न न्यायालय द्वारा निर्णय की त्रुटियों) से है तथा उच्चतम न्यायालय का सम्बन्ध विवेक बुद्धि (Wisdom) से है किन्तु उच्चतम न्यायालय गलती कर सकता है इसलिए आवश्यक है कि उस त्रुटि को ठीक करने की राह खुली रखी जाए।"[1] ऐसा करके न्यायालय कानूनों की अशुद्धियों और शक्तियों में सुधार के साथ वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप कानूनों की समीक्षा करके उन्हें सामयिक तथा जीवन्त स्वरूप प्रदान कर सकता है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

(Independence of the Judiciary)

1. पदावधि की सुरक्षा—एक बार नियुक्त किए जाने के उपरान्त न्यायाधीशों को उनके स्वैच्छिक त्याग-पत्र के अलावा महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा हटाया जा सकता है जो एक कठिन प्रक्रिया है। आज तक एक भी न्यायाधीश को इस प्रक्रिया से नहीं हटाया जा सका है।

2. न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि विधायिका के अधिकार से परे होना—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन संविधान द्वारा नियत और भारत के संचित निधि पर भारित हैं जिन पर संसद में मतदान नहीं हो सकता है तथा कार्यकाल के दौरान परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। वित्तीय आपातकाल की स्थिति अपवाद है।

3. कार्य-प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति—उच्चतम न्यायालय को अपनी कार्य प्रणाली के नियम बनाने का अधिकार है। ये नियम संसद द्वारा निर्मित विधि के अन्तर्गत निर्धारित होते हैं और इन पर राष्ट्रपति की अनुमति ली जाती है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय या आदेश भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों को मान्य होंगे।

4. कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण—उच्चतम न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण सौंपा गया है ताकि उनकी स्वतन्त्रता को आघात न पहुँचे। न्यायालय के सभी अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। सेवा शर्तें न्यायालय द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

5. संसद क्षेत्राधिकार बढ़ा सकती है, घटा नहीं सकती—संसद को उच्चतम न्यायालय की शक्ति और क्षेत्राधिकार बढ़ाने का अधिकार है, घटाने का नहीं। उच्चतम न्यायालय को संसदीय दबाव से मुक्त रखा गया है। उसके अधिकार क्षेत्र को सुरक्षा प्रदान की गई है।

6. उन्मुक्तियाँ—अपनी आधिकारिक क्षमता से किए गए न्यायाधीशों के निर्णय और कार्यों की आलोचना नहीं की जा सकती। संसद न्यायाधीशों के ऐसे कार्यों पर जिसे उन्होंने कर्तव्य-पालन करते हुए किया हो, विचार विमर्श नहीं कर सकती है।

---

1 एम. वी. पायली, वही, पृ. 215

7. अवकाश प्राप्त करने के बाद वकालत करने पर प्रतिबन्ध—अवकाश प्राप्ति के बाद न्यायाधीश भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायपालिका या अधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकते, किन्तु संविधान विशेष प्रकार के कार्य-सम्पादन के लिए उनकी नियुक्ति की अनुमति देता है, उदाहरणार्थ विशेष जाँच-पड़ताल तथा अन्वेषण करना आदि।

इस तरह हमारे संविधान में उच्चतम न्यायालय की स्थिति मजबूत है और उसकी स्वतन्त्रता पर्याप्त रूप से सुरक्षित है, किन्तु सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों को आयोग एवं समितियों के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किए जाने की वर्तमान प्रथा से न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को खतरा उत्पन्न हो सकता है।[1] भारतीय विधि आयोग ने इस प्रथा के खतरों की ओर संकेत करते हुए इसे समाप्त करने की सरकार से सिफारिश की है। अभी तक सरकार ने विधि आयोग की इस सिफारिश को लागू नहीं किया है। इस पर अमल होना चाहिए।

उच्च न्यायालय
(High Courts)

संविधान के अनुच्छेद 214 से 237 तक राज्य न्यायपालिका से सम्बन्धित हैं। संविधान का पाँचवां अध्याय राज्यों के उच्च न्यायालय और अध्याय छठा अधीनस्थ न्यायालयों से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 214 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए उच्च न्यायालय की व्यवस्था रखी गई है, किन्तु कानून द्वारा संसद को दो या दो से अधिक राज्यों के लिए अथवा दो या दो से अधिक राज्यों तथा एक संघीय क्षेत्र के लिए एक उच्च न्यायालय की स्थापना का अधिकार दिया गया है। वर्तमान में देश में 17 उच्च न्यायालय कार्य कर रहे हैं जिनमें से दो ऐसे हैं जिनका न्यायाधिकार क्षेत्र एक से अधिक राज्यों में है। राजधानी क्षेत्र दिल्ली का अपना उच्च न्यायालय है। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा उतने अन्य न्यायाधीश होते हैं जितने की राष्ट्रपति समय-समय पर आवश्यकतानुसार नियुक्त करे। संविधान के सातवें संशोधन के अनुसार अतिरिक्त और कार्यकारी न्यायाधीश नियुक्त किए जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति और पद की शर्तें—*भारतीय संविधान के अनुच्छेद 217(1) के अनुसार राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से उस राज्य के राज्यपाल से और राज्य के मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न किसी न्यायाधीश की दशा में उसे उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात् उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा और किसी अन्य दशा में तब तक पदधारण करेगा जब तक वह 62 वर्ष की आयु प्राप्त* नहीं कर लेता है। इसके पूर्व निम्नांकित रीति से अपना पद त्याग कर सकेगा—

(क) कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा,

(ख) साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर संसद के दोनों सदनों द्वारा (उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई मत से समर्थित) समावेदन पर राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकेगा,

(ग) राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति पर या किसी उच्च न्यायालय को अन्तरित किए जाने पर।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हताएँ—संविधान के अनुच्छेद 217(2) के अनुसार कोई व्यक्ति किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हित होगा जब वह भारत का नागरिक है और

(क) भारत के राज्य क्षेत्र में दस वर्ष तक न्यायिक पद धारण कर चुका हो, या

(ख) किसी उच्च न्यायालय का या ऐसे दो या अधिक न्यायालयों में कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता रहा हो।

न्यायाधीशों के वेतन आदि—*संविधान के अनुच्छेद 221(1) में व्यवस्था है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतनों का संदाय किया जाएगा जो संसद विधि द्वारा अवधारित करे और जब तक इस निमित्त इस प्रकार उपबन्ध नहीं किया जाता है तब तक ऐसे वेतनों का संदाय किया जाएगा जो दूसरी अनुसूची में है। वर्तमान में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 30,000/- रुपये प्रतिमाह तथा अन्य न्यायाधीशों को 26,000/- रुपये प्रति माह वेतन 1 जनवरी, 1996 से दिया जा रहा है।*

उच्च न्यायालय के कार्य और अधिकार—

राज्य के उच्च न्यायालयों को प्रारम्भिक और अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत विशेष प्रकार के मुकदमे सीधे उच्च न्यायालय में लाए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ उच्च न्यायालय वसीयत, विवाह, कम्पनी कानून के मामलों पर विचार कर सकते हैं, उच्च न्यायालयों में अपमान सम्बन्धी मुकदमे सुने जा सकते हैं, भूमि-कर तथा

1 *जयनारायण पाण्डेय पूर्वोक्त, पृ 337*

उसकी वसूली से सम्बन्धित मामले उच्च न्यायालय में सीधे लाए जा सकते हैं। उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। वे इन अधिकारों की रक्षा के लिए आदेश जारी कर सकते हैं। मौलिक अधिकारों सम्बन्धी मुकदमे उच्च न्यायालय अथवा सीधे उच्चतम न्यायालय में पेश किये जा सकते हैं। अपीलीय अधिकार क्षेत्र में उच्च न्यायालय दीवानी, फौजदारी और माल सम्बन्धी मुकदमों की अपीलें सुनते हैं। कुछ न्यायालय दीवानी मामलों में प्रायः जिला न्यायालय के विरुद्ध, फौजदारी मामलों में सत्र न्यायालयों के विरुद्ध और माल (राजस्व) सम्बन्धी मामलों में राजस्व मण्डल के विरुद्ध अपीलें सुनते हैं।

प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने अधिकार क्षेत्र के अधीन आने वाले न्यायालयों और न्यायाधिकरणों का अधीक्षण करने का अधिकार है। ये ऐसे न्यायालयों से ब्यौरा माँग सकते हैं, उनकी कार्य-प्रणाली और कार्यवाहियों के विनियमन के लिए सामान्य नियम बना सकते हैं और आदेश जारी कर सकते हैं। किसी अधीन न्यायालय में कोई मुकदमा चल रहा हो जिसमें संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है तो उच्च न्यायालय ऐसे मुकदमे को अपने पास मँगा सकता है। उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह किसी मुकदमे को एक अधीनस्थ न्यायालय से दूसरे अधीनस्थ न्यायालय को स्थानान्तरित कर दे। उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय के रूप में भी कार्य करता है। वह अपना रिकार्ड कायम रखता है। उसकी कार्यवाहियाँ और निर्णय छापे जाते हैं तथा अन्य मुकदमों में उनका हवाला दिया जा सकता है। संविधान द्वारा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान की गई है। वे ऐसे सांविधानिक संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य-कानून को अवैधानिक घोषित कर दें जो संविधान के प्रावधानों के विपरीत हों। 42वें संविधान संशोधन द्वारा उच्च न्यायालयों की लेख जारी करने और न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को सीमित कर दिया गया था और न्यायिक पुनरावलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया था, किन्तु 43वें संविधान संशोधन, 1977 द्वारा उच्च न्यायालयों को अब न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में वही स्थिति और शक्ति प्राप्त हो गई है जो 42वें संशोधन से पूर्व थी। इससे उच्च न्यायालयों की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि हुई है।

अधीनस्थ न्यायालय
(Subordinate Courts)

अधीनस्थ न्यायालय भारत की न्यायिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। कुछ विभिन्नताओं को छोड़कर सारे देश में अधीनस्थ न्यायालयों का संस्थागत स्वरूप तथा ढाँचा समान सा है। प्रत्येक राज्य कई जिलों में बँटा होता है और हर जिला एक जिला न्यायाधीश की अध्यक्षता में चलाए जा रहे प्रमुख दीवानी न्यायालय के न्यायाधिकार क्षेत्र के अधीन रहता है। अपर जिला न्यायाधीश उसकी सहायता करते हैं। जिला न्यायाधीश के नीचे दीवानी न्यायालयों के विभिन्न पद क्रमों के बहुत से कर्मचारी होते हैं। मुकदमों की सुनवाई करने के अतिरिक्त दीवानी न्यायालय मध्यस्थ-निर्णय, अभिभावकता, विवाह-विच्छेद और प्रमाणित इच्छा-पत्र जैसे अनेक मामलों को अपने अधिकार-क्षेत्र के अधीन रखते हैं। अर्द्ध-न्यायिक न्यायाधिकरण जो आम न्यायालयों से अलग हैं, कुछ दीवानी अधिकारों को निश्चित करने के लिए अधिनियम के अधीन स्थापित किए गए हैं। कुछ मामलों में इनके निर्णय के विरुद्ध अन्य न्यायालयों में अपील की जा सकती है। ऐसे अधिकार न होने पर संविधान के अनुसार वे उच्च न्यायालय के अधीन हैं।

फौजदारी अदालत का विधान और गठन दण्ड प्रक्रिया संहिता अधिनियम, 1973 के अधीन किया जाता है जो दण्ड प्रक्रिया संहिता अधिनियम, 1968 के स्थान पर 1 अप्रैल, 1974 को लागू हुआ। संहिता में कार्यपालिका और न्यायपालिका से सम्बन्धित कार्यों के लिए अलग-अलग मजिस्ट्रेटों की व्यवस्था है। कार्यपालिका से सम्बद्ध मजिस्ट्रेट राज्य सरकारों के और न्यायपालिका के सम्बद्ध उच्च न्यायालय के अधीन हैं। कार्यपालिका में हर जिले के लिए एक मजिस्ट्रेट और उसके अधीन कई अधीनस्थ मजिस्ट्रेट होते हैं। ये मजिस्ट्रेट कानून और व्यवस्था बनाए रखने और अपराध रोकने की समस्याओं से निपटते हैं। न्यायपालिका में जिला स्तर पर सबसे ऊपर मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट और फिर प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट होते हैं। अतः मजिस्ट्रेटों से सम्बन्धित वे कार्य जो प्रमुखतया न्यायिक प्रकृति के हैं, न्यायिक मजिस्ट्रेटों के जिम्मे हैं। दस लाख से अधिक आबादी वाले महानगरीय क्षेत्रों में महानगरीय मजिस्ट्रेट हैं, जिनके पास मुकदमों को शीघ्र निपटाने के लिए इससे अधिक अधिकार होते हैं।

व्यवस्थापिका न्यायपालिका सम्बन्ध
(Legislative Judiciary Relations)

भारत में न्यायिक पुनरावलोकन की स्थिति का विश्लेषण करने की दृष्टि से व्यवस्थापिका न्यायपालिका के सम्बन्ध के स्वरूप के बारे में जानना अत्यन्त सामयिक और प्रासंगिक बन जाता है। अनेक बार 'व्यवस्थापिका बनाम न्यायपालिका की सर्वोच्चता' का मुद्दा चर्चित हुआ है और व्यवस्थापिका के प्रगतिशील व्यवस्थापन की आड़ में न्यायपालिका की शक्तियों को सीमित करने और अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के प्रयास किए गए हैं। व्यवस्थापिका द्वारा विभिन्न संविधान

संशोधन पारित करने का मुख्य लक्ष्य था। दूसरी ओर, न्यायपालिका ने संविधान के बुनियादी स्वरूप (Basic Structure of the Constitution) में परिवर्तन करने की व्यवस्थापिका को शक्ति प्रदान करने जैसी अवधारणा का प्रतिपादन कर, व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता को सीमित करने का प्रयत्न किया है। भारत में सांविधानिक उपबन्धों ने न्यायपालिका को विधायिका और कार्यपालिका के हस्तक्षेप और नियन्त्रण से मुक्त बनाकर उसकी स्वतन्त्र स्थिति को प्रतिष्ठापित किया है पर यह व्यवस्था की है कि यदि कोई न्यायाधीश संविधान के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसके विरुद्ध भी कार्यवाही की जा सकती है। महाभियोग की प्रक्रिया के माध्यम से न्यायाधीशों को उनके पद से हटाया जा सकता है। ऐसा करके व्यवस्थापिका न्यायपालिका पर नियन्त्रण स्थापित कर सकती है।

न्यायपालिका का संविधान के प्रतिकूल संसद के किसी कानून में या उसके अंश को असांविधानिक घोषित करने का अधिकार है। यद्यपि न्यायपालिका के इस अंकुश ने भारतीय संसद को बहुत कुछ नियन्त्रित कर रखा है लेकिन संसद ने न्यायपालिका की निर्णयकारी शक्ति को अपनी मर्जी के अनुकूल प्रभावित करने का प्रयत्न किया है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पूर्णतः अर्थहीन हो जाती है जब उसके निर्णय को किसी कानून अथवा संविधान से निरस्त किया जा सकता हो। भारत में न्यायपालिका के निर्णयों का तिरस्कार संसद ने दो तरह से किया है—

1. न्यायालय के किसी निर्णय द्वारा किसी विधि के सम्बन्ध में की गई आपत्ति अथवा दोष को दूर करने के लिए तुरन्त अध्यादेश अथवा विधि का निर्माण करके,
2. न्यायपालिका द्वारा किसी कानून के असांवैधानिक घोषित किये जाने पर स्वयं संविधान में संशोधन करके।

भारतीय संविधान में किए जाने वाले संशोधनों का उद्देश्य उन त्रुटियों को दूर करना था जिनके कारण न्यायपालिका ने सरकार द्वारा अपनाई गई किसी नीति अथवा कानून को असांवैधानिक घोषित किया था। इसका व्यावहारिक अर्थ यह निकलता है कि न्यायपालिका सरकार की शक्तियों पर समुचित अंकुश लगाने में ज्यादा प्रभावी नहीं हो सका है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा असांवैधानिक घोषित किए जाने वाले अनेक कानूनों को संसद ने सांविधानिक संशोधनों द्वारा वैधानिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। भारत में संविधान संशोधन की प्रक्रिया का जैसा प्रयोग किया गया है उसमें सत्तारूढ़ दल की नीतियों को कार्यान्वित करने की भावना विद्यमान रही है और जहाँ तक संविधान दल के हितों अथवा सिद्धान्तों में जरा भी बाधक हुआ है उसने निस्संकोच रूप से संविधान को ही बदल दिया है। संविधान के 42वें संशोधन के संवैधानिक संशोधन को न्यायपालिका की परिधि से बाहर कर यह व्यवस्था कर दी है कि किसी संवैधानिक संशोधन को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। अतः न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार का कोई महत्त्व न रह जाता है।[1] 42वें संशोधन अधिनियम ने संविधान के मूल स्वरूप को ही बदलते हुए संसद की सर्वोच्चता स्थापित कर न्यायपालिका को पंगु बना दिया था, किन्तु 43वें और 44वें संशोधन ने उस स्थिति को समाप्त करके न्यायपालिका की पुनरावलोकन की शक्ति को पुनः विस्तृत किया जिससे विधानमण्डल पर न्यायपालिका का नियन्त्रण और प्रभाव पुनः बढ़ गया है और न्यायपालिका की स्थिति को पुनः महत्ता तथा दृढ़ता मिली है।

न्यायिक सक्रियता का युग

विगत कुछ वर्षों से भारतीय उच्चतम न्यायालय ने अपनी सक्रियता से भारत के जनसाधारण में अपनी नई छवि बनाई है। जनसाधारण न केवल संविधान की रक्षा करने और अपने लोकतान्त्रिक अधिकारों की रक्षा के लिए ही न्यायपालिका की ओर निहारते हैं अपितु देश में कार्यपालिका के सदस्यों के अनियन्त्रित तथा अमर्यादित आचरण पर रोक लगाने तथा उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए न्यायपालिका की ओर देखने लगे हैं। जनता जनहित याचिका द्वारा करके न्यायपालिका से घोटालों को उजागर करने में सफल हुई है जिसकी पूर्व में कल्पना नहीं की जा सकती थी। अनेक राजनेताओं के राजनीतिक भविष्य के आगे प्रश्न-चिह्न लगा दिया। इन घोटालों के सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय की भूमिका ने देश की लोकतान्त्रिक व्यवस्था को शक्ति प्रदान की है। चन्दन तस्कर वीरप्पन के प्रकरण में दिखाई गई न्यायिक सक्रियता के कारण तो न्यायपालिका की पूरे देश में प्रशंसा हुई है। न्यायिक सक्रियता के इतिहास में दिनांक 29 सितम्बर, 2000 को एक नया अध्याय जुड़ गया जब केन्द्रीय जाँच ब्यूरो की विशेष अदालत ने करोड़ों रुपयों के झारखण्ड मुक्ति मोर्चा सांसद रिश्वत मामले में निर्णय देते हुए पूर्व प्रधानमन्त्री नरसिम्हाराव और उनके मन्त्रिमण्डल के सहयोगी रहे बूटासिंह को अविश्वास प्रस्ताव के खिलाफ अल्पमत काँग्रेस सरकार को बचाने के इरादे से सांसदों के वोट जुटाने के लिए आपराधिक षड्यन्त्र रचने और भ्रष्टाचार का दोषी करार दिया। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सदस्यों की अनियन्त्रित शक्तियों पर अंकुश लगा है और वे घबराने लगे हैं। देश के लोकतन्त्र के लिए यह सुखद स्थिति है। इस न्यायिक सक्रियता के आलोचक कहते हैं कि उच्चतम न्यायालय को इस प्रकार की शक्तियों से युक्त करने के खतरनाक परिणाम निकलेंगे और व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका की भूमिका के आगे प्रश्न-वाचक चिह्न लग जायेगा।

---

1 एस. एम. सईद : पूर्वोक्त, पृ. 197-198.

न्यायिक सक्रियता और भारतीय राजनीति

न्यायपालिका राजनैतिक प्रक्रिया का अंग है जो सरकार के हाथों में राजनीतिक शक्तियों के अत्यधिक केन्द्रीकरण की रोकथाम और लोकतान्त्रिक धांधलियों से जनता का बचाव करने को प्रतिबद्ध है। इसी कारण न्यायाधीश और न्यायालय समग्र राजनीतिक प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण घटक माने जाते हैं। नागरिकों को प्राप्त स्वतन्त्रता के अधिकार की सुरक्षा न्यायपालिका के अलावा अन्य संस्थागत संरचना द्वारा संभव नहीं होती। इस प्रकार जन सामान्य के लिए न्यायपालिका संरक्षक के रूप में है। जो कार्य विधायिका एवं कार्यपालिका का है उस कार्य को न्यायपालिका सम्पादित कर रही है। न्यायपालिका इन दोनों शक्तियों को नियन्त्रित करने में अपनी ऊर्जा लगा रही है जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए घातक है। प्रसिद्ध राजनैतिक चिंतक लॉर्ड ब्राइस के अनुसार "न्यायपालिका राज्य के लिए एक आवश्यकता ही नहीं है, अपितु उसकी क्षमता से बढ़कर सरकार की उत्तमता की कोई कसौटी ही नहीं है।" न्यायपालिका केवल नागरिकों के मध्य उत्पन्न विवादों का ही निराकरण नहीं करती, अपितु वह उन विवादों का भी निर्णय करती है जो नागरिकों एवं राज्य के मध्य उत्पन्न होते हैं। अनेक विचारक इसको राजनीतिक प्रक्रिया के अभिन्न अंग से अधिक एवं आधारभूत स्तम्भ मानते हैं। भारतीय संविधान का जो सामाजिक दर्शन है उस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ही न्यायपालिका को सरकार के एक आवश्यक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। संविधान निर्माता इस बात से भलीभाँति परिचित थे कि यदि न्यायपालिका का उचित स्थान प्राप्त नहीं होता है तो समाज से परतन्त्रता के भावों का उन्मूलन नहीं किया जा सकेगा और जन साधारण के समक्ष संत्रास की स्थिति उपस्थित हो सकती है। इसलिए संविधान में मौलिक अधिकार तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का प्रावधान करके जन सामान्य की पीड़ा एवं निराशा को दूर करने का प्रयास किया गया। आज जब न्यायपालिका संवैधानिक परिधि में रहकर जन साधारण के कष्टों एवं असुविधाओं को दूर करने का प्रयास कर रही है तो इसे न्यायिक सक्रियता की संज्ञा दी जा रही है। इस दृष्टि से न्यायिक सक्रियता प्रजातन्त्र में जन कल्याण की अपरिहार्यता है। एक स्वतन्त्र, निष्पक्ष एवं निर्भीक न्यायपालिका लोकतन्त्र का प्रतीक होती है। विश्व में जहाँ कहीं न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं है वहाँ जनता को अपार कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

भारत में न्यायिक सक्रियता यद्यपि सन् 1980 के दशक की देन है, परन्तु इसका अंकुरण संविधान लागू होने के बाद से देखा जा सकता है यथा—(1) सन् 1950 में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री फजल अली ने 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' प्रकरण में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा रखी जिसमें निवारक निरोध अधिनियम के खण्ड 14 को अवैध ठहराया गया। (2) मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं। 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य' विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 32 उन्हें मौलिक अधिकारों के संरक्षण की स्थिति प्रदान करता है। (3) बृजभूषण बनाम दिल्ली राज्य के प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय ने प्रेस की स्वतन्त्रता का समर्थन किया और कहा कि सामान्य शान्तिकालीन स्थिति में प्रेस को नियन्त्रित करना अनुचित है। (4) इसी श्रेणी में महत्वपूर्ण निर्णय इस प्रकार हैं—(क) बम्बई राज्य बनाम बम्बई शिक्षा समाज, (ख) रशीद अहमद बनाम केन्द्रीय सरकार, (ग) रिक्सन लाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, (घ) गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, 1967। इन चारों प्रकरणों में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों को सीमित या संशोधित नहीं किया जा सकता है। (5) केशवानन्द भारतीय बनाम केरल राज्य (1973) के प्रकरण में सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 31-C के द्वितीय खण्ड को निरस्त कर दिया, क्योंकि इससे मौलिक अधिकारों पर आघात पहुँचता था। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने निर्णय को दोहराते हुए मिनर्वा मिल्स तथा अन्य बनाम भारत सरकार के प्रकरण में 9 मई, 1980 को निर्णय देते हुए 42वें संवैधानिक संशोधन की धारा 4 और धारा 55 को निरस्त कर दिया।

न्यायिक सक्रियता का वास्तविक प्रारम्भ सन् 1980 में न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती के द्वारा हुआ। इण्डियन एक्सप्रेस में सम्पादक के नाम एक पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें बिहार के अभियुक्तों की आरा की जेल में दुर्दशा एवं उनकी रहन-सहन की शोचनीय स्थिति का विवरण प्रकाशित हुआ। इसको आधार बनाकर विधि संकाय के दो प्राध्यापकों ने संविधान की धारा 21 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की। इसके बाद मध्य प्रदेश में महिलाओं की हो रही व्यापारिक खरीद फरोख्त समाप्त करने के लिए पत्रकार अरुण शौरी, कुमी कपूर तथा अश्विनी सरीन ने संयुक्त रूप से याचिका दायर की। बिहार राज्य के भागलपुर कारागार में बन्द कैदियों की आँखों में पुलिस ने तेजाब डाल कर आँख फोड़न का जघन्य कृत्य किया, जिसे अंखफोड़वा काण्ड के नाम से जाना जाता है।

संविधान की कोई धारा स्पष्टतः न्यायिक पुनर्निरीक्षण का अधिकार नहीं देती है। पर धारा 13, 32, 131, 132 एवं 246 में यह अधिकार अन्तर्निहित है। न्यायिक सक्रियता न केवल भारतीय संविधान को सच्चे रूप में स्थापित करने का प्रयास कर रही है, वरन् वह पूरी राजनीतिक व्यवस्था में आये गंभीर विकारों के निदान करने के लिए प्रयासरत है।

जनहित याचिका

(Public Interest Litigation : PIL)

न्यायाधीशों की स्थानान्तरण के बारे में अपने वाद के निर्णय में उच्चतम न्यायालय की सात न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने निर्णय दिया कि जनता का कोई भी व्यक्ति, भले ही उसका वाद से सीधा सम्बन्ध न हो पर उसमें उसकी पर्याप्त रुचि हो, अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में न्याय के लिए माँग कर सकता है अथवा मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामले में उन व्यक्तियों की शिकायतों को दूर करने के लिये जो "गरीबी, लाचारी या असमर्थता या सामाजिक एवं आर्थिक विषमता" के कारण न्यायालय तक नहीं जा सकते, उच्चतम न्यायालय में फरियाद कर सकता है।[1] ऐसे मामले में एक पत्र के द्वारा न्यायालय के द्वार तक पहुँचा जा सकता है। एस. पी. गुप्ता बनाम भारत का राष्ट्रपति ए आई आर 1982, एस सी 149 के वाद में दिए निर्णय से लोक सेवी व्यक्ति अथवा नागरिक को या समाज सेवी संगठनों को छूट मिल गई है कि वे आम जनता के हित में न्याय की माँग कर सकें।

बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ ए आई आर 1984 ए सी 803 के वाद में बंधुआ-मुक्ति के ध्येय के प्रति समर्पित संगठन ने एक पत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय को सूचित किया कि उन्होंने हरियाणा के फरीदाबाद जिले में अवस्थित पत्थर की खानों का सर्वे किया और पाया कि उन खानों में बहुत बड़ी संख्या में मजदूर "अमानवीय तथा असह्य परिस्थितियों" में काम कर रहे हैं जिनमें से बहुत से बंधुआ मजदूर हैं। इन याचिकाकर्ताओं ने याचना की कि संविधान के विभिन्न उपबन्धों तथा कानूनों के समुचित परिपालन के लिए एक रिट जारी की जाए, जिससे कि उन मजदूरों का दुःख, कष्ट एवं लाचारी दूर हो सके। न्यायालय ने इस पत्र को रिट याचिका माना और एक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग में दो अधिवक्ता थे। उनसे कहा गया कि वे इन पत्थर की खानों पर जाएँ और वहाँ जाँचकर न्यायालय को रिपोर्ट दें।

लक्ष्मीकान्त पाण्डे बनाम भारत संघ में एक याचिका प्रस्तुत की गई थी। उसका आधार एक पत्र था। इसमें शिकायत की गई थी कि विदेशियों को भारतीय बच्चे गोद देने के काम में लगी समाज सेवी संस्थाएँ और संगठन कदाचार कर रहे हैं। पत्र में आरोप था कि सुकुमार वय के बच्चों को गोद लेने की आड़ में उन पर अत्याचार किया जाता है। उनको दूर देशों की लम्बी और भयावह यात्रा करनी ही पड़ती है तथा उनको जान को भारी जोखिम रहता है। उनका आश्रय तथा भविष्य अधर में लटक जाता है। मुख्य न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती ने बच्चों का कल्याण सुनिश्चित करने के लिए कुछ सिद्धान्त तथा मापदण्ड निर्धारित किए। उन्होंने सरकार तथा मामले से सम्बद्ध एजेन्सियों को निर्देश दिए कि वे सिद्धान्तों का पालन करें। इस प्रकार वर्तमान में न्याय की दृष्टि से न्याय की दुनियाँ में जनहित मुकदमों का महत्वपूर्ण स्थान है।

□□□

1 सुभाष कश्यप हमारा संविधान, पृ 176.

19

साँवैधानिक संस्थाएँ/आयोग

(Statutory Institutions/Commissions)

संघ लोक सेवा आयोग

(U. P. S. C.)

भारत में लोक सेवाओं की भर्ती करने वाले मुख्य अभिकरण ये हैं—संघीय लोक सेवा आयोग, राज्य लोक सेवा आयोग, रेलवे सेवा आयोग तथा सांविधानिक नियमों के अन्तर्गत निजी भर्ती-मण्डल अथवा आयोग। ये आयोग राजनैतिक एवं अन्य प्रभावों को भर्ती की प्रक्रिया से दूर रखते हैं तथा योग्य कर्मचारियों के चयन को सम्भव बनाते हैं। भारत में प्रथम लोक सेवा आयोग 1926 में स्थापित किया गया था।

लोकतान्त्रिक राज्यों में लोक सेवा आयोग के माध्यम से सार्वजनिक सेवाओं में नियुक्तियाँ की जाती हैं। इसके अनुसार, भारतीय संविधान में अनुच्छेद 315 के अन्तर्गत केन्द्र तथा सभी राज्यों के लिए एक-एक लोक सेवा आयोग की व्यवस्था की गई है, किन्तु इसमें दो अथवा दो से अधिक राज्यों के लिए संयुक्त लोक सेवा आयोग की भी अनुमति दी गई है, बशर्ते कि राज्यों के विधान-मण्डल के सदनों द्वारा प्रस्ताव स्वीकृत किया गया हो। इस मामले में संसद कानून द्वारा इन राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संयुक्त सेवा आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था कर सकती है। राज्य केन्द्रीय लोक सेवा आयोग से भी कार्य करने का अनुरोध कर सकते हैं और केन्द्रीय लोक सेवा आयोग राष्ट्रपति की स्वीकृति से ऐसा कर सकता है। संविधान में लोक सेवा आयोग के बारे में भाग 145 के अध्याय 2 में अनुच्छेद 315 में दिया गया है।

संघ लोक सेवा आयोग का संगठन एवं पदावधि

संविधान के अनुच्छेद 313(1) में व्यवस्था है कि *"लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति यदि वह संघ आयोग या संयुक्त आयोग है तो राष्ट्रपति द्वारा तथा राज्य आयोग है तो राज्यपाल द्वारा की जायेगी।"*

यद्यपि संविधान में आयोग के सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं की गई है, तथापि सदस्यों की संख्या तथा लोक सेवा की शर्तें विभिन्न प्रशासकीय प्रधानों द्वारा निर्धारित की जाती हैं। संघीय लोक सेवा आयोग की पद संख्या अध्यक्ष सहित कुल नौ है। वर्तमान में संघीय लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष और आठ सदस्य हैं। इसका कार्यालय धौलपुर हाउस नई दिल्ली में है।

संविधान के अन्तर्गत स्थानीय अध्यक्ष अवकाश लेने पर अथवा किसी भी कारण से कार्य न करने की स्थिति में रिक्त स्थान पर आयोग के अन्य सदस्यों में से किसी एक सदस्य को अध्यक्ष नियुक्त किया जा सकता है जिसे राष्ट्रपति (संघीय आयोग या संयुक्त आयोगों की सिफारिशों से) नियुक्त करें। राज्य आयोग की अवस्था में राज्यपाल ऐसा कार्यवाहक अध्यक्ष की नियुक्ति करता है।

लोक सेवा आयोग के सदस्यों का कार्यकाल, पद-भार ग्रहण करने की तारीख से 6 वर्ष तक अथवा 65 वर्ष की आयु प्राप्त करने तक होता है। राज्य आयोग या संयुक्त आयोग की स्थिति में 65 के स्थान पर 60 वर्ष की आयु का प्रावधान है। संघीय लोक सेवा आयोग का कोई भी सदस्य अपने कार्यकाल से पूर्व राष्ट्रपति को सम्बोधित कर अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा पद-त्याग कर सकता है। कदाचार के आधार पर भी आयोग के सदस्य को हटाने का या निलम्बित किए जाने का प्रावधान है। इस सम्बन्ध में आवश्यक प्रक्रिया का विवरण अनुच्छेद 317 के खण्ड (1), (2), (3), (4) में दिया गया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति आयोग के किसी भी सदस्य को आदेश द्वारा पद से हटा सकता है—(1) यदि वह व्यक्ति दिवालिया हो, (2) यदि वह अपने कार्यकाल के दौरान पद से भिन्न कोई सवैतनिक पद स्वीकार कर ले, (3) यदि राष्ट्रपति के विचार में वह मन अथवा शरीर की असमर्थता एवं अस्वस्थता के कारण पद पर कार्य करने

के लिए असक्षम हो गया हो एवं (4) यदि भारत सरकार अथवा राज्य सरकार द्वारा अथवा इनकी ओर से किए गए किसी ठेके अथवा करार के साथ उसका (एक निर्गमित कम्पनी के साधारण सदस्य को छोड़) अन्य कोई सम्बन्ध हो अथवा उससे वह कोई लाभ प्राप्त करता हो।

संघीय आयोग या संयुक्त आयोग के सन्दर्भ में राष्ट्रपति और राज्य आयोग के सन्दर्भ में राज्यपाल विनियमों द्वारा आयोग की संख्या, उनकी सेवा-शर्तों आदि का निर्धारण करता है। आयोग के सदस्य की सेवा-शर्तों में उसकी नियुक्ति के बाद ऐसे परिवर्तन नहीं किए जाते जो उसके लिए अलाभकारी हों।

अनुच्छेद 316(3) के अनुसार लोक सेवा आयोग के सदस्य को, उसकी पदावधि की समाप्ति तक, उस पद पर पुनर्नियुक्त नहीं किया जा सकता।

लोक सेवा आयोग का सचिवालय

संघीय लोक सेवा आयोग का सचिवालय है जिसमें सचिव, अनेक उप-सचिव और अवर सचिव तथा अनुभागाधिकारी और सामान्य कर्मचारी वर्ग है। आयोग की अनेक शाखाएं हैं जिनका सम्बन्ध उसके प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों से है। इसके अतिरिक्त संघीय लोक सेवा आयोग का कार्यकाल निम्नांकित शाखाओं से संगठित है—(1) परीक्षा शाखा, (2) भर्ती शाखा, (3) सेवा शाखा, (4) नियुक्ति शाखा एवं (5) गुप्त शाखा।

लोक सेवा आयोग की शक्तियाँ, कार्य एवं भूमिका

लोक सेवा आयोग के कार्य संविधान के अनुच्छेद 320 में दिए गए हैं, किन्तु अनुच्छेद 321 में भी यह व्यवस्था है कि संसद/राज्य विधान-मण्डल क्रमशः विधि द्वारा संघ तथा राज्य लोक सेवा आयोगों को सेवाओं के बारे में तथा किसी स्थानीय प्राधिकारी अथवा किसी सार्वजनिक संस्था की सेवाओं के अतिरिक्त कार्य सौंप सकते हैं।

संघीय लोक सेवा आयोग के प्रमुख कार्यों का विवरण डॉ. भाम्भरी ने निम्नानुसार किया है—

1. भर्ती के तरीकों, सिविल व असैनिक सेवाओं तथा असैनिक पदों पर सीधी अथवा पदोन्नति द्वारा नियुक्ति करने में अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों से सम्बन्धित सभी मामलों पर सरकार को परामर्श देना।

2. नियुक्ति, पदोन्नति तथा स्थानान्तरण आदि के लिए प्रत्याशियों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में परामर्श देना।

3. सेवाओं पर नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का संचालन करना।

4. लोक सेवकों को प्रभावित करने वाले अनुशासनात्मक मामलों के सम्बन्ध में परामर्श देना।

5. लोक सेवा के किसी व्यक्ति द्वारा कर्तव्य पालन के लिए किए गए कार्यों के सम्बन्ध में उसके विरुद्ध की गई किन्हीं कार्यवाहियों में जो खर्चा उसे करना पड़ता है उसके दावे के सम्बन्ध में तथा किसी लोक सेवक द्वारा निवृत्ति-वेतन अथवा पेन्शन के लिए किए जाने वाले उस दावे के सम्बन्ध में परामर्श देना जो वह अपने उत्तरदायित्वों का पालन करते समय करता है।

6. अन्य कोई ऐसा मामला जो कि राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा विशेष रूप से उनको सौंपा जाए।

संसद द्वारा अथवा राज्य विधान-मण्डल द्वारा केवल सरकारी सेवाओं के ही सम्बन्ध में नहीं बल्कि उन सेवाओं के सम्बन्ध में जो कि स्थानीय प्राधिकारियों (Local Authorities), निगमों (Corporations) अथवा सार्वजनिक संस्थाओं के अधीन हों, आयोग के कार्यों का विस्तार किया जा सकेगा।

आयोग के कार्यक्षेत्र में कुछ पदों को अलग करके उसका अधिकार क्षेत्र कम किया जा सकता है। निम्नलिखित नियुक्तियों के चुनाव के सम्बन्ध में आयोग से कोई परामर्श नहीं किया जाता—

(क) न्यायाधिकरण (Tribunals) अथवा आयोग की सदस्यता अथवा अध्यक्षता।

(ख) उच्च राजनयिक प्रकृति के पद पर।

(ग) तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के अधिकांश कर्मचारी, जिनकी संख्या केन्द्र सरकार के कर्मचारियों की कुल संख्या का 98 प्रतिशत है आयोग के कार्यक्षेत्र से बाहर हैं।

निन्दा, पदोन्नति या वेतन-वृद्धि रोकने, लापरवाही या आदेशों का उल्लंघन करने से सरकार को आर्थिक हानि होने सेवामुक्ति, अनिवार्य सेवा-निवृत्ति, सेवा पदच्युति आदि कोई भी दण्ड देने की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा मूल आदेश जारी करने के सम्बन्ध में आयोग से परामर्श किया जाता है। आयोग सरकार को अन्य जिन मामलों में सलाह देता है वे हैं—भर्ती के तरीके, नियुक्ति, पदोन्नति तथा एक सेवा से दूसरी सेवा में स्थानान्तरण किए जाने के सम्बन्ध में अपनाए जाने वाले सिद्धान्त और ऐसी नियुक्तियों, पदोन्नतियों तथा स्थानान्तरण के सम्बन्ध में प्रत्याशियों की उपयुक्तता। आयोग निम्नांकित मामलों के सम्बन्ध में भी सरकार को परामर्श देता है—

या कार्य प्रशासनिक प्रवृत्ति का अधिक है अतः संविधान ने मुख्य चुनाव आयुक्त (Chief Election Commissioner) के रूप में एक ऐसे अधिकारी की व्यवस्था की है जो प्रभावशाली हो, राजनीतिक दबाव से मुक्त हो और जिसके आदेशों का पालन अधीनस्थ अधिकारी निष्ठा के साथ करें।

निर्वाचन तन्त्र के प्रमुख कार्य—निर्वाचन तन्त्र के अथवा निर्वाचन की व्यवस्था करने वाले प्रशासकीय तन्त्र के (जिसमें निर्वाचन आयोग और उनके अधिकारी राज्य स्तर पर निर्वाचन विभाग आदि सम्मिलित हैं) प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—(1) निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन, (2) मतदाताओं की सूचियाँ तैयार करना तथा उनका प्रकाशन करना, (3) चुनाव-चिह्नों की व्यवस्था करना, (4) निर्वाचन-सामग्री का प्रबन्ध करना, जैसे—मतपत्र, मतदान पेटी, स्याही मोहर आदि की व्यवस्था, (5) निर्वाचन कार्यक्रम तैयार करना, (6) नामजदगियों की व्यवस्था करना, (7) अभिकर्ता व्यवस्था, (8) मतदान व्यवस्था, (9) गणना और परिणाम की उद्घोषणा, (10) मतदान सामान जमा करना एवं उसका प्रबन्ध, (11) निर्वाचन व्यय पर सीमा एवं (12) याचिकाओं के लिए प्रबन्ध आदि।

निर्वाचन तन्त्र का गठन—निर्वाचन सम्बन्धी सभी कार्यों के सम्पादन के लिए जिस स्वतन्त्र प्रशासकीय तन्त्र का गठन किया गया है वह इस प्रकार है—(क) निर्वाचन आयोग एवं (ख) राज्य स्तर पर निर्वाचन विभाग।

(क) निर्वाचन आयोग (Election Commission)

संविधान के अनुच्छेद 324 के अन्तर्गत निर्वाचनों का निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है। निर्वाचन आयोग एक स्वतन्त्र निकाय है तथा संविधान सुनिश्चित करता है कि यह सर्वोच्च उच्च न्यायालयों की भाँति कार्यपालिका के दबाव से मुक्त रहकर स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से कार्य कर सके।

निर्वाचन आयोग का संगठन—अनुच्छेद 324(2) के अनुसार, "निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य उतने निर्वाचन आयुक्त होंगे जितने भी राष्ट्रपति समय-समय पर नियत करे।" इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि राष्ट्रपति द्वारा एक से अधिक निर्वाचन आयुक्तों को नियुक्त किया जाना अनिवार्य नहीं है और इस सम्बन्ध में निर्णय लिया जाना राष्ट्रपति के अधिकार में है किन्तु यदि अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति की जाए, तो संविधान की व्यवस्था है कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त आयोग का अध्यक्ष होगा। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति राष्ट्रपति संसद द्वारा विहित कानून के अन्तर्गत करता है। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्तों (Regional Commissioners) की नियुक्ति कर सकता है जैसा कि वह आवश्यक समझे।

सेवा शर्तें, कार्यकाल तथा पदमुक्ति—अनुच्छेद 324(2) के अनुसार, आयुक्तों और प्रादेशिक आयुक्तों की सेवा की शर्तें और पदावधियाँ (कार्यकाल) ऐसी होंगी जो कि राष्ट्रपति नियम द्वारा निर्धारित करे। स्पष्ट है कि उनका कार्यकाल संविधान द्वारा निर्धारित नहीं किया गया है तथा इसका निर्धारण राष्ट्रपति पर छोड़ दिया गया है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद से उन्हीं कारणों और रीतियों से हटाया जाएगा जिन कारणों और रीतियों से उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है। अन्य निर्वाचन आयुक्तों तथा प्रादेशिक या क्षेत्रीय निर्वाचन आयुक्तों को केवल मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर उनके पद से हटाया जा सकता है। नियुक्ति के पश्चात् मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा शर्तों में अलाभकारी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार संविधान निर्वाचन आयोग के पदाधिकारियों की पदावधि अथवा कार्यकाल को पूर्ण संरक्षण प्रदान करता है जिससे वे अपने कार्यों को निडरता, निष्पक्षता तथा बिना किसी हस्तक्षेप से कर सकें। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश और निर्वाचन आयुक्त की स्थिति में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम को 65 वर्ष की आयु तक के लिए, जबकि द्वितीय को केवल एक निर्धारित कालावधि के लिए नियुक्त किया जाता है।

सचिवालय—चुनाव अथवा निर्वाचन आयोग का अपना सचिवालय होता है जिसमें मुख्य निर्वाचन आयुक्त, उपनिर्वाचन आयुक्त, सचिव, अवर सचिव, अनुभागाधिकारी तथा अन्य कर्मचारी होते हैं। निर्वाचन आयोग प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से अनेक शाखाओं में विभाजित है, यथा— निर्वाचन शाखा I, II, III, IV आदि, परिसीमन शाखा, प्रशासकीय शाखा I एवं II, टंकण एवं प्रेषण शाखा आदि।

निर्वाचन आयोग के कार्य एवं अधिकार—निर्वाचन तन्त्र में महत्वपूर्ण स्थान निर्वाचन आयोग को ही प्राप्त है। आयोग से अपेक्षा की जाती है कि समय-समय पर सरकार को कार्यों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन भेजता रहेगा और निर्वाचन-प्रक्रिया को व्यवस्थित तथा कुशल बनाने के लिए सुझाव देता रहेगा।

निर्वाचन आयोग को निर्वाचनों की देखरेख, संचालन और नियन्त्रण से सम्बन्धित हर विषय का अधिकार दिया गया है। आयोग के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं—

1. निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन करना।

2. मतदाताओं की सूचियाँ तैयार करवाने और उन्हें नवीनतम बनाए रखने हेतु निर्देशन करना।

3. संसद, राज्य विधानमण्डलों, राष्ट्रपति के चुनावों का अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण करना।

4. निर्वाचनों का सम्पन्न करना।

5. संसद तथा राज्य विधानमण्डलों के निर्वाचन सम्बन्धी विवादों के निर्णय के लिए निर्वाचित न्यायाधिकरण की नियुक्ति करना।

6. संसद तथा राज्य विधानमण्डलों के सदस्यों की अनर्हताओं के प्रश्न पर राष्ट्रपति और राज्यपालों को परामर्श देना।

7. निर्वाचन आयोग को अधिकार है कि वह राजनीतिक दलों को चुनाव के लिए मान्यता किन आधारों पर प्रदान की जाए, इसका निर्णय निर्वाचन आयोग ही करता है। आम चुनाव के पश्चात् दलों को मिले मतों के आधार पर मान्यता प्राप्त दलों की सूची में संशोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, पहले आम चुनाव के बाद आयोग ने निश्चय किया था कि राष्ट्रीय दल के रूप में केवल उस दल को मान्यता दी जायेगी, जिसे लोकसभा चुनाव में कुल मतों के 13 प्रतिशत मत प्राप्त हुए हों। उसी प्रकार राज्य-स्तरीय दल के रूप में केवल उन दलों को मान्यता देने का निश्चय किया था, जिन्होंने सम्बन्धित राज्य के विधान सभा चुनाव में दिए गए कुल मतों के कम से कम 3 प्रतिशत मत प्राप्त किए हों। आवश्यकता पड़ने पर चुनाव आयोग इसमें समय-समय पर परिवर्तन भी कर सकता है।

मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों की दो श्रेणियाँ हैं—एक 'राष्ट्रीय दल', दूसरे 'राज्यीय दल'। यदि किसी दल को चार या इससे अधिक राज्यों में मान्यता प्राप्त होती है तो उसे 'राष्ट्रीय दल' माना जाता है। यदि किसी दल को चार से कम राज्यों में मान्यता मिले तो उसे राज्य का या जिन राज्यों में मान्यता प्राप्त हो 'राज्यीय' दल माना जाता है।

8. राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव-चिह्न प्रदान करना आयोग का कार्य है। यदि किसी दल को मान्यता मिलती है तो उसे एक चुनाव चिह्न दिया जाता है। कुछ चिह्न सुरक्षित हैं और अन्य 'मुक्त', सुरक्षित चिह्न मान्यता प्राप्त दलों के उम्मीदवारों को दिए जाते हैं। 'मुक्त' चिह्न अन्य सब के लिए होते हैं। यदि चुनाव चिह्न के सम्बन्ध में किन्हीं दो राजनीतिक दलों के मध्य विवाद उत्पन्न हो जाए तो आयोग निष्पक्षता के ढंग से विवाद का निपटारा करने का प्रयास करता है। समय-समय पर भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच चुनाव चिह्न सम्बन्धी विवादों का निपटारा निर्वाचन आयोग द्वारा किया गया है। सन् 1969 के बाद संगठन कांग्रेस तथा कांग्रेस (आई) के मध्य भी कांग्रेस के चुनाव चिह्न को लेकर ऐसा ही विवाद उत्पन्न हुआ था, जिसमें निर्वाचन आयोग ने कांग्रेस का चिह्न 'दो बैलों की जोड़ी' कांग्रेस (आई) को दिये जाने का निर्णय किया था।

9. राजनीतिक दलों को आकाशवाणी तथा दूरदर्शन द्वारा चुनाव-भाषणों के प्रसारण की सुविधाओं की व्यवस्था करना, आचार संहिता का निर्माण करना, प्रत्याशियों द्वारा कुछ व्यय की राशि का निर्धारण करना, निर्वाचन याचिकाओं के बारे में सरकार को आवश्यक परामर्श एवं सुझाव देना।

10. आयोग चुनाव प्रक्रिया का संचालन करता है। चुनाव प्रक्रिया का प्रारम्भ जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की 14वीं धारा के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई अधिसूचना से होता है, जिसमें राष्ट्रपति मतदाताओं से विधायकों के निर्वाचन का आवाहन करते हैं।

11. निर्वाचन आयोग संसदीय और विधानसभायी चुनाव में भाग लेने वाले प्रत्याशियों द्वारा चुनाव में व्यय की गई राशि का हिसाब माँगता है तथा उस हिसाब की जाँच करवा सकता है। वर्तमान में निर्वाचन आयोग ने जिला निर्वाचन अधिकारियों को ये निर्देश दिये हैं कि वे प्रत्याशियों द्वारा चुनाव में व्यय की गई राशि की जाँच-पड़ताल करें। इसमें प्रत्याशियों को सतर्क कार्य करना पड़ता है।

12. निर्वाचन आयोग चुनाव आचार संहिता को लागू करने के लिए विभिन्न कार्यवाहियाँ करता है तथा इसका उल्लंघन करने वाले राजनेताओं और अधिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करता है।

13. निर्वाचन आयोग की अनुमति के पश्चात् ही निर्वाचन अधिकारियों द्वारा निर्वाचन परिणाम घोषित किये जाते हैं।

14. निर्वाचन आयोग द्वारा ही उपचुनावों को सम्पन्न कराये जाने की व्यवस्था की जाती है।

15. निर्वाचन आयोग जाली मतदान को रोकने के लिए तथा मतदाताओं की पहचान को निश्चित करने के लिए उनके 'फोटो' के सम्बन्ध में भी व्यवस्था कर सकता है। इस मुद्दे ने केन्द्र और राज्य सरकारों को उद्वेलित कर रखा है। वे इस दिशा में गम्भीरता से सोचने लगे हैं।

(ख) राज्य स्तर पर निर्वाचन विभाग

प्रशासकीय तन्त्र में दूसरा स्थान राज्य स्तर पर निर्वाचन विभाग का है। संविधान में प्रावधान है कि 'विधानसभा के प्रत्येक आम चुनाव से पूर्व अथवा अन्य निर्वाचन से पूर्व राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग से परामर्श करके निर्वाचन आयोग को सौंपे गए कार्यों में आयोग की सहायता के लिए ऐसे प्रादेशिक आयुक्त नियुक्त कर सकेगा जिन्हें वह आवश्यक समझे।' प्रादेशिक आयुक्त (Regional Commissioners) की सेवा-शर्तों और पदावधि का निर्धारण राष्ट्रपति संसद के कानून के अन्तर्गत करेगा और उन्हें आयोग की सलाह पर ही हटाया जा सकेगा। यह भी व्यवस्था की गई है कि निर्वाचन आयोग प्रार्थना पर राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल निर्वाचन अथवा प्रादेशिक आयुक्त को आयोग के कार्यों को करने के लिए आवश्यक कर्मचारी उपलब्ध कराएँगे।

राज्य स्तर पर जिस निर्वाचन विभाग का निर्माण किया गया है उसके अध्यक्ष को 'मुख्य निर्वाचन अधिकारी' कहा जाता है। उसकी नियुक्ति प्रशासकीय सेवाओं में से अथवा न्यायिक सेवाओं में से निर्वाचन आयोग द्वारा राज्य सरकार के परामर्श से की जाती है। उसका स्तर राज्य-सचिव के समान होता है और उसके मुख्य कार्य हैं—आयोग के अधीक्षण, निर्देशन तथा नियन्त्रण में मतदाता सूचियाँ तैयार करवाना, उन्हें नवीनतम रखना और प्रकाशित करवाना। किसी राज्य में पूर्णकालिक निर्वाचन अधिकारी होता है तो किसी में अंशकालिक। डॉ. एस. पी. राय ने लिखा है "आम चुनावों में प्रत्येक राज्य में निर्वाचन विभिन्न रूप लिए होता है। किसी राज्य में पूर्णकालिक (Whole Time) निर्वाचन अधिकारी होता है तो किसी में अंशकालिक। पूर्णकालिक अधिकारी के अधीन अन्य कर्मचारी होते हैं। निर्वाचन क्षेत्रों में मतदाता सूची तैयार करने के लिए तीन स्थाई उपकरणों की व्यवस्था है—(i) निर्वाचन आयोग, (ii) मुख्य निर्वाचन अधिकारी एवं (iii) निर्वाचन सम्बन्धी पंजीयन अधिकारी। विधानसभा के प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक पंजीयन अधिकारी होता है जो प्रतिवर्ष अपने क्षेत्र की मतदाता सूची में नए मतदाताओं के नाम अंकित करता है और मृत लोगों के नाम निकाल देता है। प्रत्येक संसदीय एवं विधानसभायी निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक निर्वाचन पदाधिकारी (Returning Officer) नियुक्त होता है जिसके कार्यों में सहायता देने के लिए सहायक रिटर्निंग आफिसर नियुक्त किए जाते हैं। वास्तविक मतदान अनेक अधिकारियों और अध्यक्षों के संचालन में सम्पन्न होता है। प्रत्येक मतदान क्षेत्र के लिए एक प्रसाइडिंग आफिसर और अनेक मतदान अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं जिनकी सहायता के लिए पुलिस तथा अन्य कर्मचारी आवश्यकतानुसार दिए जाते हैं।"

अधीनस्थ अधिकारी और कर्मचारी—अधीनस्थ अधिकारी दो प्रकार के होते हैं—प्रथम, वे अधिकारी जो स्थाई रूप से निर्वाचन कार्य के लिए नियुक्त होते हैं और द्वितीय, वे अधिकारी तथा कर्मचारी जो चुनाव के समय कार्य विशेष के लिए अस्थाई रूप से निर्वाचन पदों पर रखे जाते हैं। प्रथम प्रकार के अधिकारियों और कर्मचारियों में से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(i) जिला निर्वाचन अधिकारी—प्रत्येक जिले में निर्वाचन अधिकारी होता है जिसकी नियुक्ति निर्वाचन आयोग द्वारा की जाती है। सामान्यतः यह पद जिलाधीश को ही दिया जाता है। जिला निर्वाचन अधिकारी अपने जिले के निर्वाचन से सम्बन्धित कार्यों में समन्वय करता है। उसे मुख्य निर्वाचन अधिकारी के निर्देशन, पर्यवेक्षण और नियन्त्रण में कार्य करना होता है। जिले में चुनाव कर्मचारियों के लिए वाहनों के प्रबन्ध करने, चुनाव के लिए आवश्यक सामान क्रय करवाने, मतदान केन्द्र दल की नियुक्ति करने, चुनाव एवं पंजीयन से सम्बन्धित कार्यों पर नियन्त्रण रखने आदि का उत्तरदायित्व जिला निर्वाचन अधिकारी पर ही होता है।

(ii) उप-मण्डलीय निर्वाचन अधिकारी—जिला निर्वाचन अधिकारी की सहायता के लिए उप-मण्डलीय निर्वाचन अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं। ये अधिकारी अंशकालिक होते हैं। इनकी नियुक्ति निर्वाचन आयोग द्वारा की जाती है। एस. डी. ओ. अथवा प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को उप-मण्डलीय निर्वाचन अधिकारी बना दिया जाता है। जहाँ पूर्णकालिक नियुक्तियाँ होती हैं वहाँ नीचे स्तर के अधिकारी ही रख दिए जाते हैं।

(iii) निर्वाचन पंजीयन अधिकारी—निर्वाचन आयोग द्वारा एस. डी. ओ. को ही निर्वाचन पंजीयन अधिकारी बनाया जाता है। वह जिला निर्वाचन अधिकारी के पर्यवेक्षण में कार्य करता है। मतदाता सूची को नवीनतम बनाए रखना, नए मतदाताओं के नाम सूची में दर्ज करना, मृत्यु तथा अन्य किसी कारण से मतदाता सूची से नाम हटाना, नाम स्थानान्तरित करना आदि कार्य निर्वाचन पंजीयन अधिकारी को निभाने पड़ते हैं। पंजीयन का कार्य समय-समय पर संशोधित किया जाता रहता है। जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम के अनुसार इस प्रकार का संशोधन तीन अवसरों पर हो सकता है—लोकसभा अथवा विधानसभा के निर्वाचन से पहले, किसी निर्वाचन क्षेत्र में लोकसभा अथवा विधानसभा के सदस्य के निर्वाचन से पहले एवं निर्वाचन आयोग के आदेश पर। पंजीयन कार्य में सहयोग के लिए निर्वाचन पंजीयन अधिकारी किसी भी कर्मचारी को रख सकता है।

(iv) सहायक निर्वाचन पंजीयन अधिकारी—यह अधिकारी भी निर्वाचन पंजीयन अधिकारी के कार्यों में सहायता करता है, पर विशेष रूप से इसे पंजीयन के विरुद्ध शिकायतें सुनने का दायित्व सौंपा जाता है अधिकांशतः तहसीलदार को इस पद पर रखा जाता है।

(v) अन्य पंजीयन अधिकारी—पंजीयन के कार्य के लिए निर्वाचन पंजीयन अधिकारी आवश्यकतानुसार कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकता है। परिगणक के पद पर पटवारी को नियुक्त किया जाता है।

दूसरे प्रकार के अर्थात् अस्थाई रूप से निर्वाचन-पदों पर रखे जाने वाले अधिकारियों और कर्मचारियों में प्रमुख ये हैं—

(i) चुनाव अधिकारी—निर्वाचन आयोग द्वारा प्रत्येक संसदीय एवं विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र के लिए चुनाव अथवा निर्वाचन अधिकारी नियुक्त किया जाता है और उसके कार्यों में सहयोग देने के लिए सहायक चुनाव अधिकारी नियुक्त किया जाता है। कभी-कभी एक अधिकारी के नीचे एक से अधिक निर्वाचन क्षेत्र भी रख दिए जाते हैं। संसदीय क्षेत्र के लिए सामान्यतः जिलाधीश को ही चुनाव अधिकारी नियुक्त किया जाता है। विधानसभा क्षेत्र के लिए सब-डिवीजनल अधिकारी को चुनाव अधिकारी बना दिया जाता है। चुनाव अधिकारियों का मुख्य कार्य मतदान केन्द्र के अधिकारियों की आवश्यक सूची तैयार करना, निर्वाचन कार्यक्रम और विस्तृत प्रबन्ध की रूपरेखा तैयार करना, नामांकन-पत्र प्राप्त करना तथा उनका परीक्षण करना, चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों की अन्तिम सूची तैयार करना, अपने क्षेत्र में चुनाव का पूरा प्रबन्ध करना और मतगणना तथा परिणाम की घोषणा करना आदि है।

(ii) मतदान केन्द्र दल के कर्मचारी—इनकी नियुक्ति जिला निर्वाचन अधिकारी द्वारा की जाती है। मतदान केन्द्र दल में एक अधिष्ठाता अधिकारी, छः मतदान अधिकारी और दो चपरासी होते हैं। प्रत्येक मतदान केन्द्र दल के साथ पुलिस की ओर से एक हवलदार और दो सिपाही रखे जाते हैं। मतदान अधिकारियों की नियुक्ति जिला निर्वाचन अधिकारी, अधिष्ठाता अधिकारी द्वारा की जाती है। किसी मतदान अधिकारी के कार्यालय में उपस्थित न हो सकने पर अधिष्ठाता अधिकारी को उसके स्थान पर अन्य नियुक्ति का अधिकार हो जाता है। मतदान केन्द्र दल का कार्य मतदान केन्द्र पर मतदान का कार्य पूरा करना है। अधिष्ठाता अधिकारियों के पद पर राजपत्रित अधिकारी ही रखे जाते हैं पर नीचे के स्तर के कर्मचारियों को भी रखा जा सकता है। मतपत्रों को छपवाने आदि के लिए कुछ सहायक निर्वाचन अधिकारी, वरिष्ठ लिपिक, चैकर, मतदाता, पर्यवेक्षक, सहायक कर्मचारी आदि भी रखे जाते हैं। चुनाव कार्य के पर्यवेक्षण के लिए कुछ पर्यवेक्षकों को भी नियुक्त किया जाता है। कानून और व्यवस्था बनी रहे, इसके लिए कुछ मजिस्ट्रेटों की विशेष नियुक्ति की जाती है।

स्थानीय संस्थाओं का निर्वाचन

स्थानीय संस्थाओं के निर्माण, व्यवस्था आदि का उत्तरदायित्व राज्य सरकार का है, अतः इनके निर्वाचन प्रबन्ध का दायित्व राज्य सरकारों पर है। इसलिए राज्य के निर्वाचन विभाग को दो शाखाओं में विभक्त किया जाता है—प्रथम व्यवस्थापिकाओं के लिए और द्वितीय स्थानीय संस्थाओं के लिए। व्यवहार में दोनों शाखाओं का सम्पर्क स्थापित कर दिया जाता है। जिला स्तर पर भी निर्वाचन कार्यालय में ये दोनों शाखाएं होती हैं, तथापि ये निकट सहयोग से कार्य करती हैं। राज्य का मुख्य निर्वाचन अधिकारी ही सरकार के निर्वाचन विभाग का निदेशक होता है और स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचन कार्य उसी के अधीन होते हैं। स्थानीय संस्थाओं के लिए चुनाव अधिकारी तथा निर्वाचन पंजीयन अधिकारी जिलाधीश होता है।

निर्वाचन आयोग की आलोचना

निर्वाचन आयोग की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है—

(1) एकल सदस्यीय निर्वाचन आयुक्त की व्यवस्था दोषपूर्ण है। यह मुख्य निर्वाचन आयुक्त को असीमित शक्तिशाली बनाती है जिससे वह अमर्यादित व्यवहार भी कर सकता है।

(2) बहुसदस्यीय निर्वाचन आयोग की व्यवस्था की अपनी समस्या है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों के बीच क्षेत्राधिकार और शक्तियों को लेकर भी अनुचित विवाद खड़े हो सकते हैं। इससे निर्वाचन आयोग की प्रतिष्ठा को नुकसान पहुँचता है। अतः मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्य आयुक्तों के बीच आपसी विश्वास और समन्वय न होने की भी समस्या बनी रहती है।

(3) निर्वाचन आयोग के पास निर्वाचन सम्पन्न कराने के लिए स्वयं की मशीनरी या प्रशासन-तन्त्र नहीं है। अतः उसे इस हेतु केन्द्र और राज्य सरकारों पर निर्भर रहना पड़ता है। इससे भी निर्वाचन आयोग को स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव सम्पन्न कराने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अनेक बार केन्द्र तथा राज्य सरकारें निर्वाचन आयोग के प्रति उदासीनता का व्यवहार करती हैं।

(4) निर्वाचन आयोग की कार्य शैली भी आलोचना का विषय है। विपक्षी दलों की यह शिकायत रहती है कि निर्वाचन आयोग की कार्य-शैली से सत्तारूढ़ दल को अनुचित लाभ पहुंचता है। दूसरी ओर, सत्तारूढ़ दल भी निर्वाचन आयोग की कार्य शैली से अप्रसन्न रहता है। अतः निर्वाचन आयोग को इस दुविधा का सामना करना पड़ता है।

(5) निर्वाचन आयोग के देश में निर्वाचनों को स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से सम्पादित करने की समस्या है। उसके सामने जाली मतदान को रोकने, हिंसक घटनाओं को रोकने, कालेधन का बढ़ता विस्तार, मतदान केन्द्रों पर जबरन कब्जा करने की घटनाएँ, मतदाताओं को परिचय पत्र जारी करने, चुनाव आचार संहिता का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करने तथा संघ और राज्यों में निर्वाचन तन्त्र को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाये रखने जैसी समस्याएँ आती हैं जो निर्वाचन आयोग के सम्मुख अनेकानेक चुनौतियाँ उपस्थित कर रही हैं।

(6) मुख्य चुनाव आयुक्त का पद सब व्यवस्थाओं में सर्वोच्च न्यायालय के जज के समान नहीं है। उसके लिए यह व्यवस्था नहीं है कि वह जज की तरह एक निश्चित उम्र तक अपने पद पर बना रहेगा। उसकी नियुक्ति केवल दो तीन वर्ष के लिए भी हो सकती है अतः इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि नियुक्ति होने की आशा में वह सत्तारूढ़ सरकार और दल का पक्षपात करे। सरकार को खुश करने पर उसे यह आशा रहती है कि रिटायर होने के बाद वह दूसरे अच्छे पद पर नियुक्त किया जा सकेगा। इस बात की भी सम्भावना रहती है कि मंत्रिमण्डल की सलाह पर राष्ट्रपति किसी दलीय नेता को चुनाव आयुक्त बना दे।

निर्वाचन आयोग को सशक्त बनाने की दिशा में कतिपय सुझाव

निर्वाचन आयोग को सशक्त बनाने की दिशा में निम्नलिखित सुझाव कारगर सिद्ध हो सकते हैं—

(1) निर्वाचन आयोग को शासन से पूरी तरह से स्वतन्त्र बनाया जाए तथा उसे अपना स्वतन्त्र कर्मचारी वर्ग दिया जाए ताकि केन्द्र सरकार या राज्य सरकार के कर्मचारी वर्ग पर आयोग की निर्भरता न रहे।

(2) निर्वाचन आयोग को शक्ति-सम्पन्न बनाया जाए और आयोग में कुछ स्वतन्त्र निरीक्षक रखे जाएँ जो निर्वाचन के समय आकस्मिक छापा मारकर अनियमितताओं का पता लगा सकें।

(3) निर्वाचन आयोग को वांछित शक्तियाँ दी जानी चाहिए, जिससे कि वह स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन सम्पादित कर सके तथा अनियमितताओं को रोक सके।

भारत का नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक
(Comptroller and Auditor General of India)

लोक-वित्त पर नियन्त्रण के लिए विभागीय व्यय के लेखों का परीक्षण कार्यपालिका के स्वतन्त्र निकाय द्वारा किया जाता है। भारत में यह कार्य नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक को दिया गया है। यहाँ लेखा-परीक्षण विभाग की रचना 1753 में हो चुकी थी, किन्तु स्वतन्त्र निकाय के रूप में इसकी स्थापना 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत की गई। सन् 1935 के अधिनियम द्वारा इसका स्तर बढ़ा दिया गया। सन् 1947 के स्वातन्त्र्य अधिनियम में उसको शक्तियाँ सौंपी गईं। जब देशी रियासतें भी भारत संघ में शामिल हो गईं तो लेखा-परीक्षा के क्षेत्र में सारा देश आ गया। सन् 1950 के नए संविधान में महालेखा परीक्षक के पद का नाम बदल कर नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (सी. एण्ड ए. जी.) कर दिया गया। उसे सर्वोच्च न्यायाधीशों की भाँति एक सांविधानिक अधिकारी का पद दिया गया।

नियुक्ति एवं सेवा शर्तें (Appointment and Conditions of Service)—सी. एण्ड ए. जी. की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर तथा मुद्रा युक्त अधिपत्र द्वारा करता है। वह भारत के मुख्य न्यायाधीश की भाँति अपने कार्य की शपथ लेता है। इसका वेतन तथा सेवा की शर्तें संसदीय कानून द्वारा निश्चित की जाती थीं किन्तु जब तक ऐसा न हो तब तक ये संविधान की द्वितीय अनुसूची के अनुसार रहेंगी। इसकी नियुक्ति के बाद कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। सन् 1953 में संसद ने इसके कार्यकाल तथा पेंशन सम्बन्धी अधिकारों का नियमित करने के लिए व्यवस्थापन किया और अन्य शर्तों को पूर्ववत् रहने दिया।

वर्तमान में इसका कार्यकाल छः वर्ष का है। इस पद पर आयु का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश जितना वेतन पाता है और सेवा-निवृत्ति की विशेष दर का हकदार होता है। वह पद से हटने के बाद संघ या राज्य सरकार के अधीन किसी पद पर कार्य नहीं कर सकता। इसके कार्यालय का प्रशासनिक व्यय भारत की संचित निधि से दिया जाता है। उसके वेतन, भत्ते पेंशन आदि पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में संसद मतदान नहीं कर सकती। संविधान द्वारा इसकी सेवा-शर्तें कर्तव्य एवं अधिकार ठीक प्रकार से स्पष्ट करने का कार्य संसद को दिया गया है। संसद ने उसके कार्यों की स्पष्ट रूपरेखा निर्धारित नहीं की है फलतः इसके अधिकार तथा पद सम्बन्धी अस्पष्ट स्थिति कई बार सन्देह उत्पन्न कर देती है।

लिए गठन करेगी। यह आयोग एक अध्यक्ष और छह सदस्यों से मिलकर बनेगा जिन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा योग्य और सत्यनिष्ठ व्यक्तियों में से चयन किया जाएगा, परन्तु अध्यक्ष को मिलाकर पाँच सदस्य अल्पसंख्यक समुदायों में से होंगे।

अध्यक्ष और सदस्यों की पदावधि और सेवा की शर्तें—(1) अध्यक्ष और प्रत्येक सदस्य उस तारीख से जब वह पद ग्रहण करता है तीन वर्ष की अवधि के लिए पद धारण करेगा।

(2) अध्यक्ष या सदस्य, केन्द्रीय सरकार को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा किसी भी समय यथा स्थिति अध्यक्ष या सदस्य का पद त्याग कर सकेगा।

(3) केन्द्रीय सरकार उपधारा (2) में निर्दिष्ट अध्यक्ष या सदस्य के पद से किसी व्यक्ति को हटा देगा यदि वह व्यक्ति—

(क) दिवालिया हो जाता है

(ख) किसी ऐसे अपराध के लिए, जिसमें केन्द्रीय सरकार की राय में नैतिक अधमता अन्तर्वलित है, दोषसिद्ध और कारावास से दण्डादिष्ट किया जाता है

(ग) विकृत होने पर किसी सक्षम न्यायालय द्वारा ऐसा घोषित किया जाता है

(घ) कार्य करने में असमर्थ अथवा इनकार करना,

(ङ) स्वीकृति के बिना लगातार तीन अधिवेशनों से अनुपस्थित रहता है या

(च) केन्द्रीय सरकार की राय में अध्यक्ष या सदस्य के पद का दुरुपयोग करता है जिसके कारण उस व्यक्ति का पद पर बना रहना अल्पसंख्यकों के हितों या लोकहित के लिए हानिकर हो गया है।

परन्तु इस खण्ड के अधीन कोई व्यक्ति तब तक नहीं हटाया जाएगा जब तक उसे उस मामले में सुनवाई का उचित अवसर नहीं दे दिया जाता है।

(4) उपधारा (2) के अधीन होने वाली रिक्ति नए नामनिर्देशन द्वारा भरी जाएगी।

(5) अध्यक्ष और सदस्यों के वेतन और भत्ते और उनकी सेवा के अन्य निबन्धन और शर्तें वे होंगी जो विहित की जाएँ।

आयोग के अधिकारी और अन्य कर्मचारी—(1) केन्द्रीय सरकार आयोग के लिए एक सचिव और ऐसे अन्य अधिकारियों और कर्मचारियों की व्यवस्था करेगी जितने इस अधिनियम के अधीन आयोग के कृत्यों का दक्षतापूर्ण पालन करने के लिए आवश्यक हों।

(2) आयोग के लिए अधिकारियों और अन्य कर्मचारियों को वेतन और भत्ते और उनकी सेवा के अन्य निबन्धन और शर्तें वे होंगी जो विहित की जाएँ।

प्रक्रिया का आयोग द्वारा विनियमित किया जाना—(1) आयोग का अधिवेशन ऐसे समय और स्थान पर होगा जो अध्यक्ष उचित समझे।

(2) आयोग अपनी प्रक्रिया स्वयं विनियमित करेगा।

(3) आयोग के सभी आदेश और विनिश्चय सचिव द्वारा या निमित्त सचिव द्वारा प्राधिकृत आयोग के किसी अन्य अधिकारी द्वारा अधिप्रमाणित किए जाएँगे।

आयोग के कृत्य—(1) आयोग निम्नलिखित सभी या किन्हीं कृत्यों का पालन करेगा—

(क) संघ और राज्यों के अधीन अल्पसंख्यकों के विकास का मूल्यांकन करना।

(ख) संविधान में संसद तथा राज्य विधान-मण्डलों द्वारा अधिनियमित विधियों में उपबन्धित रक्षोपायों के कार्य को करना,

(ग) केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा के लिए सिफारिशें करना,

(घ) अल्पसंख्यकों को उनके अधिकारों से वंचित करने के बारे में विनिर्दिष्ट शिकायतों की जाँच-पड़ताल करना और ऐसे मामलों को समुचित प्राधिकारियों के समक्ष उठाना,

(ङ) अल्पसंख्यकों के विरुद्ध किसी विभेद के कारण उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन कराना और उनको दूर करने के लिए सिफारिश करना,

(च) अल्पसंख्यकों के सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक विकास से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन अनुसंधान और विश्लेषण करना,

(छ) किसी अल्पसंख्यक के सम्बन्ध में ऐसे समुचित सुझाव देना जो केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकारों द्वारा किए जाने चाहिए,

(ज) अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित किसी विषय पर और विशिष्टतया उनके सामने आने वाली कठिनाइयों पर, केन्द्रीय सरकार को विशेष रिपोर्ट देना और

(झ) कोई अन्य विषय जो केन्द्रीय सरकार द्वारा उसे निर्दिष्ट किया जाए।

(2) केन्द्रीय सरकार, उपधारा (1) के खण्ड (ग) में निर्दिष्ट सिफारिशों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष, एक ज्ञापन के साथ रखवाएगी जिसमें संघ से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाही और किन्हीं ऐसी सिफारिशों का, यदि कोई हों, स्वीकार न किया जाने के लिए कारणों का स्पष्टीकरण होगा।

(3) जहाँ उपधारा (1) के खण्ड (ग) में निर्दिष्ट कोई सिफारिश या उसका कोई भाग, किसी राज्य सरकार से सम्बन्धित है वहाँ आयोग ऐसी सिफारिश या उसके भाग की एक प्रति राज्य सरकार को भेजेगा जो उसे राज्य के विधान-मण्डल के समक्ष, एक ज्ञापन के साथ रखवाएगी जिसमें राज्य से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाही और किन्हीं ऐसी सिफारिशों या उनके भाग को, यदि कोई हो, स्वीकार न किए जाने के लिए कारणों का स्पष्टीकरण होगा।

(4) आयोग को उपधारा (1) के उपखण्ड (क), (ख) और (घ) में वर्णित कार्यों में से किसी का पालन करते समय और विशिष्टतया निम्नलिखित विषयों की बाबत, किसी वाद का विचारण करने वाले सिविल न्यायालय की सभी शक्तियाँ होंगी अर्थात्—

(क) भारत के किसी भी भाग से व्यक्तियों को समन भेजना और हाजिर कराना तथा शपथ पर उसकी परीक्षा करना,

(ख) किसी दस्तावेज को प्रकट और पेश करने की अपेक्षा करना,

(ग) शपथपत्रों पर साक्ष्य ग्रहण करना,

(घ) किसी न्यायालय या कार्यालय से किसी लोक अभिलेख या उसकी प्रतिलिपि की अपेक्षा करना,

(ङ) साक्षियों और दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन निकालना और

(च) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाए।

राष्ट्रीय महिला आयोग

(National Commission for Women)

राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन—(1) केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय महिला आयोग के नाम से निकाय का गठन करेगी जो 1990 के अधिनियम के अधीन उसे प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग और कृत्यों का पालन करेगा।

(2) यह आयोग निम्नलिखित से मिलकर बनेगा—

(क) केन्द्रीय सरकार द्वारा नामनिर्देशित एक अध्यक्ष, जो महिलाओं के हित के लिए समर्पित हो,

(ख) केन्द्रीय सरकार द्वारा ऐसे योग्य, सत्यनिष्ठ और प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से पाँच सदस्य जिन्हें विधि, व्यवसाय संघ आन्दोलन महिलाओं के नियोजन की वृद्धि के लिए समर्पित उद्योग या संगठन के प्रबन्ध स्वैच्छिक महिला संगठन (जिनके अन्तर्गत महिला कार्यकर्ता भी हैं) प्रशासन, आर्थिक विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा या सामाजिक कल्याण का अनुभव।

परन्तु अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के व्यक्तियों में से प्रत्येक का कम से कम एक सदस्य होगा।

(ग) केन्द्रीय सरकार द्वारा एक सदस्य-सचिव जो—

(i) प्रबन्ध, संगठनात्मक संरचना या सामाजिक आन्दोलन के क्षेत्र में विशेषज्ञ है, या

(ii) ऐसा अधिकारी जो संघ की सिविल सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है अथवा संघ के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है और जिसके पास समुचित अनुभव है।

अध्यक्ष और सदस्यों की पदावधि और सेवा की शर्तें—(1) अध्यक्ष और प्रत्येक सदस्य तीन वर्ष से अनधिक ऐसी अवधि के लिए पद धारण करेगा जो केन्द्रीय सरकार निर्दिष्ट करे।

(2) अध्यक्ष या कोई सदस्य (ऐसे सदस्य-सचिव से भिन्न जो संघ की सिविल सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है अथवा संघ के अधीन कोई सिविल पद धारण करता है) केन्द्रीय सरकार को सम्बोधित लेख द्वारा किसी भी समय, यथास्थिति, अध्यक्ष या सदस्य का पद त्याग सकेगा।

(3) केन्द्रीय सरकार किसी व्यक्ति को, उपधारा (2) में निर्दिष्ट अध्यक्ष या सदस्य के पद से हटा देगी यदि वह व्यक्ति—

(क) दिवालिया हो जाता है,

(ख) किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराया और कारावास से दण्डादिष्ट किया गया हो तथा जिसमें केन्द्रीय सरकार के अनुसार नैतिक अधमता अन्तर्ग्रस्त हो,

(ग) विकृतचित्त का हो जाता है और न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है,

(घ) कार्य करने से असमर्थ इनकार करता,

(ङ) स्वीकृति लिए बिना आयोग के लगातार तीन अधिवेशनों से अनुपस्थित रहता,

(च) केन्द्रीय सरकार की राय में, उसने अध्यक्ष या सदस्य के पद का इस प्रकार दुरुपयोग किया है कि ऐसे व्यक्ति का पद पर बना रहना लोकहित के लिए अहितकर है

परन्तु इस खण्ड के अधीन किसी व्यक्ति को तब तक नहीं हटाया जाएगा जब तक कि उस व्यक्ति को इस विषय सुनवाई का उचित अवसर नहीं दे दिया गया है।

(4) उपधारा (2) के अधीन होने वाली रिक्ति नए नामनिर्देशन द्वारा भरी जाएगी।

(5) अध्यक्ष और सदस्यों को वेतन एवं भत्ते और उनकी सेवा के अन्य निबन्धन और शर्तें वे होंगी जो विहित की जाएँ।

आयोग के अधिकारी और अन्य कर्मचारी—(1) केन्द्रीय सरकार आयोग के लिए ऐसे अधिकारियों और कर्मचारियों की व्यवस्था करेगी जो इस अधिनियम के अधीन आयोग के कृत्यों का दक्षतापूर्ण पालन करने के लिए आवश्यक हैं।

(2) आयोग के प्रयोजनों के लिए नियुक्त अधिकारियों और अन्य कर्मचारियों का वेतन और भत्ते और उनकी सेवा के अन्य निबन्धन और शर्तें वे होंगी जो विहित की जाएँ।

आयोग के कृत्य—(1) आयोग निम्नलिखित सभी या किन्हीं कृत्यों का पालन करेगा अर्थात्—

(क) महिलाओं के लिए संविधान और अन्य विधियों के अधीन उपबंधित रक्षोपायों से सम्बन्धित सभी विषयों का अन्वेषण और परीक्षा करना,

(ख) उन रक्षोपायों के कार्यकरण के बारे में प्रतिवर्ष और ऐसे अन्य समयों पर जो आयोग ठीक समझे, केन्द्रीय सरकार को रिपोर्ट देना,

(ग) महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए संघ या किसी राज्य द्वारा उन रक्षोपायों के लिए सिफारिशें करना,

(घ) संविधान और अन्य विधियों के महिलाओं को प्रभावित करने वाले विद्यमान उपबन्धों का समय-समय पर पुनर्विलोकन करना और उनके संशोधनों की सिफारिश करना जिससे कि ऐसे विधानों में किसी कमी अपर्याप्तता या त्रुटियों को दूर करने के लिए विधायी उपायों का सुझाव दिया जा सके,

(ङ) संविधान और अन्य विधियों के उपबन्धों के महिलाओं से सम्बन्धित अतिक्रमण के मामलों को समुचित प्राधिकारियों के समक्ष उठाना,

(च) निम्नलिखित से सम्बन्धित विषयों पर शिकायतों की जाँच करना और स्वप्रेरणा से ध्यान देना—

(i) महिलाओं के अधिकारों का वंचन,

(ii) महिलाओं को संरक्षण प्रदान करने के लिए और समता तथा विकास का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए भी अधिनियमित विधियों का क्रियान्वयन,

(iii) महिलाओं की कठिनाइयों को कम करने और उनका कल्याण सुनिश्चित करने तथा उनको अनुतोष उपलब्ध कराने के नीतिगत, मार्गदर्शक सिद्धान्तों या अनुदेशों का अनुपालन और ऐसे विषयों से उद्भूत प्रश्नों का समुचित प्राधिकारियों के समक्ष उठाना,

(छ) महिलाओं के विरुद्ध विभेद और अत्याचारों से सम्बन्धित समस्याओं या स्थितियों का विशेष अध्ययन करना या कराना और बाधाओं का पता लगाना जिससे उनको दूर करने की योजनाओं की सिफारिश की जा सके,

(ज) संवर्धन और शिक्षा सम्बन्धी अनुसन्धान करना जिससे कि महिलाओं का सभी क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के उपायों का सुझाव दिया जा सके और उनकी उन्नति में विघ्न डालने के लिए उत्तरदायी कारणों का पता लगाना जैसे कि आवास और बुनियादी सेवाओं की प्राप्ति में आने वाली उबाउपन और उपजीविका स्वास्थ्य परिसंकटों को कम करने के लिए और महिलाओं की उत्पादकता की वृद्धि के लिए सहायक सेवाओं और प्रौद्योगिकी की अपर्याप्तता,

(झ) महिलाओं के सामाजिक आर्थिक विकास की योजना में भाग लेना और सलाह देना,

(ञ) संघ और किसी राज्य के अधीन महिलाओं के विकास का मूल्यांकन करना,

(ट) किसी जेल, सुधार गृह महिलाओं की संस्था या अभिरक्षा के अन्य स्थान का, जहाँ महिलाओं को बन्दी के रूप में रखा जाता है, निरीक्षण करना या करवाना और उपचारिक कार्यवाही के लिए, यदि आवश्यक हो, सम्बन्धित प्राधिकारियों से बातचीत करना,

(ठ) बहुसंख्यक महिलाओं को प्रभावित करने वाले प्रश्नों से सम्बन्धित मुकदमों के लिए धन उपलब्ध कराना,

(ड) महिलाओं से सम्बन्धित किसी बात के और विशिष्टतया उन विभिन्न कठिनाइयों के बारे में जिनके अधीन महिलाएँ कार्य करती हैं, सरकार को समय-समय पर रिपोर्ट देना,

(ढ) कोई अन्य विषय जिसे केन्द्रीय सरकार निर्दिष्ट करे।

(2) केन्द्रीय सरकार, उपधारा (1) के खण्ड (ख) में निर्दिष्ट सभी रिपोर्टों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और उसके साथ संघ से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाही तथा यदि कोई ऐसी सिफारिशें अस्वीकृत की गई हैं तो अस्वीकृति के कारणों को स्पष्ट करने वाला ज्ञापन भी होगा।

(3) जहाँ कोई ऐसी रिपोर्ट या उसका कोई भाग किसी ऐसे विषय से सम्बन्धित है जिसका किसी राज्य सरकार से सम्बन्ध है वहाँ आयोग ऐसी रिपोर्ट या उसके भाग की एक प्रति उस राज्य सरकार को भेजेगा जो उसे राज्य के विधानमण्डल के समक्ष रखवाएगी और उसके साथ राज्य से सम्बन्धित सिफारिशों पर की गई या की जाने के लिए प्रस्तावित कार्यवाही तथा यदि कोई ऐसी सिफारिशें अस्वीकृत की गई हैं तो अस्वीकृति के कारणों को स्पष्ट करने वाला ज्ञापन भी होगा।

(4) आयोग को उपधारा (1) के खण्ड (क), (च) के उपखण्ड (i) में निर्दिष्ट किसी विषय का अन्वेषण करते समय और विशिष्टतया निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में वे सभी शक्तियाँ होंगी जो वाद का विचारण करने वाले सिविल न्यायालय की हैं, अर्थात्—

(क) भारत के किसी भी भाग से किसी व्यक्ति को समन भेजना और हाजिर कराना तथा शपथ पर उसकी परीक्षा करना,

(ख) किसी दस्तावेज को प्रकट और पेश करना,

(ग) शपथ पत्रों पर साक्ष्य ग्रहण करना,

(घ) किसी न्यायालय या कार्यालय से किसी लोक अभिलेख या उसकी प्रतिलिपि की अपेक्षा करना,

(ङ) साक्षियों और दस्तावेजों की परीक्षा के लिए कमीशन निकालना और

(च) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाए।

पिछड़ा वर्ग आयोग

(Backward Class Commission)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 340(1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति को सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की स्थिति तथा उनकी कठिनाइयों के सन्दर्भ में अनुसंधान के लिए एक आयोग की नियुक्ति करने की शक्ति है। आयोग इन वर्गों की कठिनाइयों को दूर करने के उपायों के लिए या उनके लिए दिए जाने वाले अनुदान या अनुदान की शर्तों आदि के बारे में संघ या राज्य सरकारों को अपनी सिफारिश भेजेगा।

आयोग दिए गए विषयों का अनुसंधान करेगा और उसकी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजेगा तथा उसमें पाये गए तथ्यों का समावेश करेगा और ऐसी सिफारिशें करेगा जिसे आयोग उचित समझे। राष्ट्रपति आयोग द्वारा दिए गए प्रतिवेदन को, उस पर की गई कार्यवाहियों सहित, संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा। आयोग के प्रतिवेदन प्राप्त होने के पश्चात् राष्ट्रपति आदेश द्वारा पिछड़े वर्गों को उल्लिखित करेगा। अनुसूचित जाति, अनुसूचित आदिम जातियों के लिए नियुक्त विशेष पदाधिकारी पिछड़े वर्गों के लिए भी कार्य करेगा।

संविधान की इस व्यवस्था के अन्तर्गत अब तक दो आयोग नियुक्त किए जा चुके हैं। एक 1953 में काका कालेलकर की अध्यक्षता में और दूसरा 1978 में बी. पी. मण्डल की अध्यक्षता में। पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए संसद ने राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम, 1993 पारित किया जिसके अधीन आयोग की स्थापना अगस्त, 1993 में की गई थी।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग

(National Human Rights Commission)

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग अधिनियम की धारा 3(1) के अन्तर्गत केन्द्र की सरकार को राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के गठन की शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इन शक्तियों का प्रयोग करते हुए केन्द्र सरकार ने एक राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन किया है। इस आयोग में एक अध्यक्ष सहित 7 सदस्य होते हैं।

आयोग के कार्य—आयोग मानवाधिकार आयोग अधिनियम की धारा 12 में आयोग के कार्यों का उल्लेख किया गया है। ये इस प्रकार हैं –

1. मानवाधिकारों का उल्लंघन किया गया हो या किसी लोक सेवक द्वारा ऐसे उल्लंघन के निवारण में लापरवाही बरती गई हो तो उस पीड़ित व्यक्ति की शिकायत अथवा स्वप्रेरणा से जाँच करना।
2. मानवाधिकारों के उल्लंघन से सम्बन्धित किसी न्यायालय में लम्बित मामले में हस्तक्षेप करना।
3. राज्य सरकार को सूचित करते हुए राज्य सरकार के नियन्त्रणाधीन किसी ऐसी जेल अथवा संस्था का निरीक्षण करना जिसमें व्यक्तियों को चिकित्सा, सुधार अथवा संरक्षण के प्रयोजनार्थ निरुद्ध किया जाता है।
4. संविधान अथवा अन्य किसी विधि के मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए प्रावधानित रक्षोपायों की समीक्षा करना एवं उनकी प्रभावी क्रियान्विति के सुझाव देना।
5. मानवाधिकारों के उपयोग को अवरुद्ध करने वाले आतंकवादी कार्यों की समीक्षा करना तथा उनके उपचार के सुझाव देना।
6. मानवाधिकार से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का अध्ययन करना तथा उनकी प्रभावी क्रियान्विति के लिए सुझाव देना।
7. मानवाधिकारों के क्षेत्र में शोध करना एवं शोध कार्य को प्रोत्साहन देना।
8. समाज के विभिन्न वर्गों को मानवाधिकारों से अवगत कराना।
9. मानवाधिकारों के क्षेत्र में कार्यरत गैर सरकारी संगठनों के प्रयासों को प्रोत्साहित करना।
10. मानवाधिकारों की प्रोन्नति के लिए अन्य आवश्यक कदम उठाना।

□□□

20

राजनीतिक दल व्यवस्था एवं दबाव समूह

(Political Party System & Pressure Groups)

लोकतन्त्र के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य है।[1] वर्तमान में देश के आधारभूत लोकतान्त्रिक ढाँचे के राजनीतिक दल महत्वपूर्ण अंग बन चुके है। दल-प्रणाली के बिना लोकतन्त्रात्मक शासन का कार्य ही नहीं चल सकता, अत: दलों का महत्व सर्वविदित है।

दलों की विचारधारा तथा सामाजिक आधार

(Ideology and Social Basis of Parties)

संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की विशिष्ट भूमिका है। भारत एक बहु-दलीय व्यवस्था वाला देश है। यहां अनेक राष्ट्रीय स्तर के तथा अनेक क्षेत्रीय और पंजीकृत दलों का अस्तित्व है। देश की राजनीतिक व्यवस्था के संचालन में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

स्वतन्त्र भारत में राजनीतिक दलों का विकास

(Development of Political Parties in Independent India)

देश में राष्ट्रीय स्तर के दो दल थे—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा साम्यवादी दल। कांग्रेस ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण और स्वाधीनता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। यथार्थ में कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में दल नहीं एक मंच था जबकि साम्यवादी दल का सीमित रूप में प्रभाव था। इनके अतिरिक्त दक्षिण में द्रविड़ कड़गम तथा उत्तर में हिन्दू महासभा जैसे दल विद्यमान थे। स्वतन्त्रता के बाद राजनीतिक दलों का विकास आरम्भ हुआ। सन् 1948 में रामराज्य परिषद की स्थापना हुई। 1949 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदय हुआ जो द्रविड़ कड़गम से पृथक् हुए कुछ व्यक्तियों द्वारा गठित किया गया था। 1950 में जयप्रकाश नारायण ने भारतीय समाजवादी दल की और आचार्य कृपलानी ने किसान मजदूर प्रजा पार्टी की स्थापना की। 1951 में डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने भारतीय जनसंघ की स्थापना की।

1952 में भारतीय समाजवादी दल तथा किसान मजदूर पार्टी के विलय के फलस्वरूप प्रजा सोशलिस्ट पार्टी (प्रसोपा) का जन्म हुआ। 1959 में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की प्रेरणा से स्वतन्त्र पार्टी अस्तित्व में आई। 1967 के चुनावों से पूर्व कांग्रेस से विद्रोह करके अनेक कांग्रेसजनों ने क्षेत्रीय दलों की स्थापना की। इनमें जन कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, प्रमुख थे। इन असन्तुष्ट कांग्रेसियों ने कांग्रेस को पराजित करने की दृष्टि से विपक्षी दलों के साथ चुनावी गठबन्धन किये जिससे देश में कांग्रेस विरोधी वातावरण बना।

1969 में कांग्रेस का दो भागों में विभाजन हुआ—नई कांग्रेस (श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस) एवं संगठन कांग्रेस (जिसे पुरानी कांग्रेस कहा जाता था और जिसका नेतृत्व निजलिंगप्पा, कामराज, मोरारजी देसाई आदि के हाथों में था)। 1971 में श्रीमती गांधी को पराजित करने के लिए स्वतन्त्र पार्टी, जनसंघ, सोशलिस्ट पार्टी और संगठन कांग्रेस ने 'महागठबन्धन' का निर्माण किया, लेकिन इन दलों को पराजय का सामना करना पड़ा। नई कांग्रेस को लोकसभा में दो-तिहाई स्थान प्राप्त हुए। 1972 में सोशलिस्ट पार्टी एवं प्रजा सोशलिस्ट पार्टी पुन: मिल गईं, फलस्वरूप सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया के नाम से नया दल अस्तित्व में आया। कुछ समय पश्चात् इसमें भी फूट पड़ गई और राजनारायण और उनके समर्थकों ने 31 दिसम्बर 1972 को लखनऊ में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी (संसोपा) को पुनर्जीवित किया तथा

---

1 *Bryce* "Parties are inevitable. No free country has been without them. No one has shown how representative government could be worked without them."

एस. एन. मण्डल इसके अध्यक्ष बने। जनसंघ से निष्कासित होने के बाद वरिष्ठ नेता बलराज मधोक ने अप्रैल, 1973 में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक मोर्चा नामक नए दल का निर्माण किया। काँग्रेस विभाजन के बाद अगस्त, 1974 में 'भारतीय लोकदल' का उदय हुआ जिसमें भारतीय क्रांति दल के अलावा स्वतन्त्र पार्टी (पीलू मोदी गुट), उत्कल काँग्रेस (बीजू पटनायक), किसान मजदूर पार्टी (चाँदराम), संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी (राजनारायण) और पंजाब खेतीबाड़ी जमींदारी यूनियन (चौ. मा. महेन्द्रसिंह) जैसे दल मिल गए। चौधरी चरणसिंह इस दल के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

आपातकाल में श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा मार्च में चुनाव करवाने की घोषणा के दूसरे दिन चार गैर-साम्यवादी दलों (संगठन काँग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोकदल और समाजवादी दल) ने 'जनता पार्टी' के नाम से नया दल बनाया। इस नए संगठित रूप में विद्रोही काँग्रेसी शामिल होने लगे। 2 फरवरी, 1977 को भारतीय राजनीति में उस समय एक नया परिवर्तन हुआ जब जगजीवनराम ने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और काँग्रेस से त्यागपत्र देकर 'लोकतान्त्रिक काँग्रेस' नाम से नए दल की घोषणा की तथा इसके दूसरे प्रमुख सदस्य हेमवती नन्दन बहुगुणा थे। लोकतन्त्री काँग्रेस ने जनता पार्टी के साथ मिलकर चुनाव लड़ने का निश्चय किया। मार्च 1977 के चुनावों में मतदाताओं ने श्रीमती गाँधी और उनके दल को बुरी तरह से पराजित करते हुए जनता पार्टी को सत्तारूढ़ होने का अवसर दिया। मई, 1977 में जनता पार्टी में शामिल पाँचों दलों ने अपना विधिवत विलय कर लिया और चुनाव आयोग ने मान्यता देते हुए पार्टी के लिए 'चक्र-हलधर' चुनाव-चिह्न घोषित कर दिया।

जुलाई, 1979 में जनता पार्टी में विभाजन हुआ। राजनारायण की अध्यक्षता में जनता (सेक्यूलर) नामक एक नए दल का गठन हुआ और 15 जुलाई को मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाली जनता पार्टी की सरकार का पतन हो गया। 26 सितम्बर, 1979 को जनता (एस) अर्थात् सेक्यूलर, सोशलिस्ट पार्टी तथा उड़ीसा की जनता पार्टी को मिलाकर दिल्ली में एक नई पार्टी लोकदल की घोषणा की। प्रधानमंत्री चरणसिंह लोकदल के प्रथम अध्यक्ष और जनता (एस) के अध्यक्ष राजनारायण उसके कार्यकारी अध्यक्ष चुन गये। काँग्रेस पार्टी अविभाजित नहीं रह सकी। इन्दिरा गाँधी के समर्थकों और विरोधियों के बीच सत्ता-संघर्ष के कारण 2 जनवरी, 1978 को काँग्रेस का पुनः विभाजन हुआ और दो काँग्रेस अस्तित्व में आईं—इन्दिरा काँग्रेस एवं ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली काँग्रेस। श्रीमती गाँधी के नेतृत्व वाली काँग्रेस का प्रभाव बढ़ता गया। सन् 1980 के लोकसभा चुनाव में श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस (इ) को दो-तिहाई स्थान प्राप्त हुए और वह पुनः प्रधानमन्त्री बनीं।

जनवरी, 1980 के आम चुनावों के बाद विपक्षी दलों में विघटन की प्रक्रिया चलती रही। जनता पार्टी के विभिन्न घटक दल से अलग हो गए और उन्होंने अपना पृथक् अस्तित्व कायम कर लिया। फलस्वरूप भारतीय जनता पार्टी और जगजीवनराम के नेतृत्व में काँग्रेस (ज) नाम से नए दल अस्तित्व में आए। 1984 के लोकसभा के चुनावों में राजीव गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस (इ) ने लोकसभा में 401 स्थान प्राप्त करके सफलता प्राप्त की। राष्ट्रीय राजनीतिक दलों—विशेषकर गैर साम्यवादी दलों का अन्त हो गया। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि तेलगूदेशम जैसा क्षेत्रीय दल लोकसभा में दूसरे बड़े दल के रूप में उभरा।

1987 के बाद काँग्रेस (इ) का सशक्त विकल्प खड़ा करने के उद्देश्य से चौधरी देवीलाल ने गैर साम्यवादी विपक्ष को संगठित करने के प्रयास किये। इसका परिणाम था—जनता पार्टी में लोकदल (अ) और श्रीमती मेनका गाँधी के नेतृत्व वाले 'राष्ट्रीय संजय विचार मन्च' का विलय। इसी बीच विश्वनाथ प्रतापसिंह के समर्थकों ने काँग्रेस (इ) छोड़कर 'जन मोर्चे' की स्थापना की। चौधरी देवीलाल के प्रयत्नों से काँग्रेस (इ) विरोधी दलों के एकीकरण की दिशा में प्रयास चलते रहे। उनके प्रयासों का परिणाम था कि जनता पार्टी, लोकदल (ब), जनमोर्चा और काँग्रेस (एस) का विलय हुआ तथा 'जनता दल' नाम से नये दल का गठन। विश्वनाथ प्रतापसिंह को जनता दल का प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। जनता दल का अभ्युदय महत्वपूर्ण घटना थी। 1989 के लोकसभा के चुनाव में इस दल के अभ्युदय ने काँग्रेस (इ) के सम्मुख चुनौती उपस्थित की। इन गैर साम्यवादी विपक्षी दलों ने 17 सितम्बर, 1988 को मद्रास में राष्ट्रीय मोर्चे का गठन किया। तेलगूदेशम के नेता और आन्ध्र प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री एन. टी. रामाराव को मोर्चे का अध्यक्ष तथा विश्वनाथ प्रतापसिंह को संयोजक बनाया गया। मोर्चे में शामिल प्रमुख दल थे—जनता दल, द्रमुक, असम गण परिषद, तेलगूदेशम और काँग्रेस (एस)। 1989 के लोकसभा चुनाव के बाद भारतीय जनता पार्टी और वामपंथी दलों के समर्थन से विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व में 'राष्ट्रीय मोर्चे' की सरकार सत्तारूढ़ हुई। 1990 में भारतीय जनता पार्टी द्वारा सरकार से समर्थन वापस लेने के कारण इसका पतन हो गया।

नवम्बर 1990 में केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार के पतन के बाद जनता दल का विभाजन हो गया। देवीलाल और चन्द्रशेखर के समर्थकों ने जनता दल से अलग होकर जनता दल (समाजवादी) की स्थापना की। काँग्रेस (इ) ने चन्द्रशेखर को सरकार बनाने में सहायता दी, परन्तु मार्च, 1991 में काँग्रेस (इ) द्वारा [illegible] सरकार से समर्थन वापस लेने

के कारण उसका पतन हो गया। 1991 के लोकसभा चुनावों में जनता दल (समाजवादी) को पराजय का सामना करना पड़ा। इसके बाद दल की शक्ति नगण्य रह गई। जनता दल (बोम्मई) की शक्ति घटती गई। अजीतसिंह के नेतृत्व में अनेक सांसदों ने जनता दल छोड़कर जनता दल (अ) का गठन किया। नवम्बर, 1992 के राज्य विधानसभा चुनावों से पूर्व जनता दल के पूर्व घटकों—जनता दल समाजवादी चन्द्रशेखर के समर्थकों, अजीतसिंह के नेतृत्व वाले जनता दल तथा जनता दल (बोम्मई) ने एकीकृत जनता दल को पुनर्जीवित करने का निर्णय किया, लेकिन विधानसभा के चुनाव परिणामों के बाद उत्तर प्रदेश की राजनीति में अजीतसिंह की भूमिका के पश्चात् जनता दल (बोम्मई) के नेताओं और अजीतसिंह के समर्थकों के मध्य मतभेद बढ़ गये। अजीतसिंह ने पुनः जनता दल (अ) को पुनर्जीवित करने का निर्णय लिया। इसके बाद दिसम्बर, 1993 को अजीतसिंह ने समर्थकों सहित काँग्रेस (इ) में शामिल होने का निर्णय लेकर सबको चकित कर दिया। इससे जनता दल (अ) का वास्तविक अस्तित्व ही समाप्त हो गया। 1996 के लोकसभा के चुनाव में काँग्रेस (इ) को पराजय का सामना करना पड़ा। भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आई। राष्ट्रीय मोर्चे और वामपंथी मोर्चे और कतिपय क्षेत्रीय दलों को मिलाकर 'तीसरे मोर्चे' का गठन किया गया। बाद में 'तीसरे मोर्चे' को 'संयुक्त मोर्चे' का नाम दिया गया।

1985 के बाद क्षेत्रीय दल उभर कर सामने आये हैं। इनमें कांशीराम के नेतृत्व वाली बहुजन समाज पार्टी, उत्तर प्रदेश में मुलायमसिंह के नेतृत्व वाली समाजवादी पार्टी, असम गण परिषद्, अकाली दल (लोंगोवाल), अकाली दल (मान), नरबहादुर सिंह भण्डारी के नेतृत्व में सिक्किम संग्राम परिषद तथा मिजोरम में लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रंट भी शक्तिशाली क्षेत्रीय दलों के रूप में उभर कर सामने आये हैं। 1994 के चुनाव में महाराष्ट्र में शिवसेना ने भाजपा से गठबन्धन कर सत्ता पर काबिज हो गई। 1994 में आन्ध्रप्रदेश में एन. टी. रामाराव के नेतृत्व में तेलगूदेशम को दो-तिहाई समर्थन प्राप्त हुआ। रामाराव पुनः राज्य के मुख्यमंत्री बने, लेकिन वे अधिक समय तक सत्ता में नहीं रह सके। उनके दामाद चन्द्रबाबू नायडू के नेतृत्व में तेलगूदेशम के अनेक विधायकों ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस पर रामाराव को मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। चन्द्रबाबू नायडू राज्य के नये मुख्यमंत्री बने। तेलगूदेशम को (नायडू गुट) की संज्ञा दी गई। इससे रामाराव को गहरी धक्का लगा और कुछ ही समय बाद उनका देहावसान हो गया। उसके बाद रामाराव की विधवा पत्नी लक्ष्मी पार्वती ने तेलगूदेशम (एनटीआर) का नेतृत्व किया, लेकिन 1996 के लोकसभा चुनाव में तेलगूदेशम (नायडू गुट) को सफलता प्राप्त हुई और लक्ष्मी पार्वती गुट का पूरी तरह से सफाया हो गया। केन्द्र में एच. डी. देवेगौड़ा को प्रधानमंत्री बनवाने में आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू की महत्वपूर्ण भूमिका रही। तमिलनाडु काँग्रेस (इ) की इकाई ने तत्कालीन प्रधानमंत्री और काँग्रेस (इ) अध्यक्ष नरसिम्हाराव द्वारा अन्ना द्रमुक के साथ चुनावी गठबन्धन करने के निर्णय से क्षुब्ध होकर विद्रोह कर दिया। जी. के. मूपनार तथा पी. चिदम्बरम् के नेतृत्व में एक नया क्षेत्रीय दल 'तमिल मनीला काँग्रेस' का गठन किया। इस दल ने एम. करुणानिधि के नेतृत्व वाली द्रमुक के साथ चुनाव गठबन्धन करके सफलता अर्जित की। द्रमुक तथा 'तमिल मनीला काँग्रेस' की केन्द्र में संयुक्त मोर्चे की सरकार को प्रतिष्ठित करने में भूमिका रही। पंजाब में अकाली दल (बादल) एक शक्तिशाली राजनीतिक दल बनकर उभरा। हरियाणा में चौधरी बंसीलाल की 'हरियाणा विकास पार्टी' एक प्रभावशाली क्षेत्रीय दल के रूप में उभरी। जार्ज फर्नांडीस के नेतृत्व वाली समता पार्टी को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त फारवर्ड ब्लाक, आरएसपी, केरल, असम गण परिषद, मुस्लिम लीग, नागा नेशनल काँग्रेस (नागालैण्ड), मिजो नेशनल फ्रन्ट (मिजोरम), आल पीपुल्स हिल लीडर्स कॉन्फ्रेंस (मेघालय) तथा सिक्किम गण परिषद (सिक्किम) आदि प्रमुख क्षेत्रीय दल हैं।

भारतीय दलीय व्यवस्था की विशेषताएँ

भारतीय दलीय व्यवस्था की विशेषताओं का विश्लेषण विभिन्न क्रमों में विभाजित करके निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

मार्च, 1977 के पूर्व तक दलीय व्यवस्था

मार्च, 1977 को एक विभाजक-रेखा माना जा सकता है, क्योंकि स्वतन्त्रता के 30 वर्षों के बाद पहली बार केन्द्र में गैर काँग्रेस सरकार सत्तारूढ़ हुई। मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी का सत्ता में आना एक घटना थी। 1952 से मार्च, 1977 के पूर्व की दलीय व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टव्य हैं—

1. भारत में बहुदलीय व्यवस्था चलती रही और राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक स्तर पर 80 से ऊपर राजनीतिक दल अपनी गतिविधियों का संचालन करते रहे।

2. बहुदलीय व्यवस्था के बावजूद एकदलीय प्रभुत्व वाली दलीय व्यवस्था कार्य करती रही। कतिपय राज्यों में 1967 से 1970 तक के समय को छोड़कर एकमात्र काँग्रेस देश की सत्ता में बनी रही।

3. 1967 के आम चुनाव ने जो स्थिति उत्पन्न की वह बहुदलीय व्यवस्था का परिणा गैर-कांग्रेसी दलों ने गठबन्धन किये। चेन्नई (तमिलनाडु) केरल और उड़ीसा में चुनावों से पूर्व गठ इन राज्यों में गैर कांग्रेस सरकारें सतारूढ हुईं। पंजाब, बिहार और पश्चिमी बंगाल में कांग्रेस को रोकने के लिए गैर कांग्रेसी दलों ने संयुक्त मोर्चे गठित किये। इनमें शामिल दलों की विचारधारा, में भिन्नता थी। एक न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर सरकारें गठित की गईं। वैचारिक विभिन्नता, सत्ता के लिए राजनीतिक दलों के द्वन्द्व और विपक्षी दलों के रूप में कांग्रेस की इन सरकारों को अपदस्थ करने की भूमिका के कारण इन सरकारों का पतन हुआ। अनेक राज्यों में मध्यावधि चुनाव हुए और कांग्रेस पुन: सत्तारूढ़ हुई। इस संविद राजनीति ने भारतीय दलीय व्यवस्था की कमजोरियों और असमताओं को ही दर्शाया।

4 एकदलीय प्रभुत्व वाली व्यवस्था होने के बावजूद कांग्रेस की संवैधानिक तथा लोकतान्त्रिक संस्थाओं और परम्पराओं में आस्था और विश्वास बना रहा। उसकी इस कार्य-शैली से भारत में संसदीय लोकतन्त्र को शक्ति और स्थायित्व प्राप्त हुआ। यह एक सकारात्मक योगदान माना जा सकता है।

5 सत्तारूढ़ दल में अन्तःदलीय गुटीय प्रतियोगिता बनी रही। 'विक्षुब्ध या असन्तुष्ट गुट' राज्यों में मुख्यमन्त्रियों के विरुद्ध अभियान चलाते रहे। सन् 1967 के आम चुनावों के पूर्व असन्तुष्ट कांग्रेसियों ने दल से पृथक होकर विभिन्न राज्यों में क्षेत्रीय दलों का गठन करते हुए विपक्षी दलों के साथ गठबन्धन किये। सत्तारूढ़ कांग्रेस के अलावा गैर-साम्यवादी विपक्षी दलों में गुटबन्दियाँ और आन्तरिक खींचतान की स्थिति बनी रही। साम्यवादी दल का भारतीय साम्यवादी और मार्क्सवादी साम्यवादी दल के रूप में विभाजन होने के कारण इसकी शक्ति में ह्रास हुआ तथा कांग्रेस के भी संगठनात्मक पक्ष में उत्तरोत्तर शिथिलता आती रही।

6. 26 जून, 1975 को देश में आन्तरिक आपातकाल की घोषणा की गई। इस निर्णय ने देश में प्रतिस्पर्धी दलीय व्यवस्था का अन्त कर दिया। विपक्षी दलों के नेताओं और कार्यकर्ताओं को बिना मुकदमा चलाये जेलों में डाल दिया गया। प्रेस सेंसरशिप लगाने के कारण संसद की कार्यवाही से विपक्षी दलों के नेताओं के भाषणों के उन अंशों का प्रकाशन सम्भव नहीं हो पाता था, जिनमें सत्तारूढ़ दल की आलोचना की जाती थी। विपक्षी दलों के कार्यालयों पर छापे मारे गये। गुजरात और तमिलनाडु की विपक्षी दलों की सरकारों को अपदस्थ किया गया। जून 1975 से जनवरी, 1977 तक यही स्थिति बनी रही। लोकसभा के चुनावों की घोषणा के बाद ही इस स्थिति का अन्त हुआ।

7. 1977 के आम चुनावों के पूर्व विपक्षी दलों का स्वरूप दबाव समूहों जैसा था।

8 अनेक राजनीतिक दल, साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय दलों के रूप में गठित रहे, यथा—अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, हिन्दू महासभा, मजलिस मुस्लिम, मुस्लिम लीग, परिगणित जाति संघ आदि।

9. अधिकांश राजनीतिक दलों में कार्यक्रम की अपेक्षा नेतृत्व को प्रमुखता दी जाती रही। इससे देश में राजनीतिक दलों की गतिविधियाँ व्यक्ति विशेषों पर केन्द्रित हो गई।

10 एक ही दल में विभिन्न क्षेत्रों में प्रायः अलग-अलग नीतियों का अनुसरण होता रहा अर्थात् दलों में समरूप नीति न अपनाने की नीति प्रबल रही।

11. दल-बदल भारतीय राजनीति का अभिशाप बन गया। राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण बना।

12. लोकसभा और राज्य विधान-सभाओं में निर्दलीय सदस्यों की संख्या बहुत अधिक रही। निर्दलीय सदस्य अवसरवादिता का परिचय देते हुए राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ाते रहे।

13. राजनीतिक दलों के विभाजन और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया चलती रही।

मार्च, 1977 से सितम्बर, 1979 तक दलीय व्यवस्था की विशेषताएँ

मार्च, 1977 के आम चुनावों में सभी विरोधी दलों ने पहली बार सत्तारूढ़ कांग्रेस के विरुद्ध मोर्चा जमाया और द्वि-दलीय व्यवस्था जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी। केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बनी और कांग्रेस को विपक्ष में बैठना पड़ा। इन ऐतिहासिक चुनावों के बाद 1978 के मध्य भारतीय दलीय व्यवस्था का जो चित्र उभर कर सामने आया उसके विशिष्ट बिन्दुओं को निम्नवत रखा जा सकता है—

1. भारतीय राजनीति में 30 वर्षों से कांग्रेस के एकछत्र प्रभुत्व का अन्त हो गया और जनता पार्टी का अभ्युदय हुआ।

2 पहली बार विपक्ष के रूप में कांग्रेस ने प्रतिपक्ष की भूमिका निभाई।

3. मार्च, 1977 के चुनावों के बाद कांग्रेस के रूप में विरोधी दल के उदय की सम्भावना हो गई थी, किन्तु 2 जनवरी, 1978 को कांग्रेस के पुनर्विभाजन ने इस सम्भावना को धक्का पहुँचाया। इससे कांग्रेस की शक्ति कमजोर हो गई।

4 राजनीतिक ध्रुवीकरण की दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये। 1977 में लोकसभा के चुनावों की घोषणा के बाद कुछ दलों का जनता पार्टी में विलय हुआ। 1979 में भारतीय लोकदल का गठन हुआ। 1977 राजनीतिक ध्रुवीकरण का वर्ष रहा, वहाँ 1978 में पुन: इस दिशा में अवनति के वर्ष रहे।

2. गैर-साम्यवादी विपक्षी दल असंगठित और फूट का शिकार रहे।
3. जनता दल का गठन तथा 1990 के बाद इसका विघटन इस काल की प्रमुख घटना है।
4. गैर-साम्यवादी विपक्षी दलों को 7 दलीय 'राष्ट्रीय मोर्चा' अस्तित्व में आया। इसके प्रमुख घटक रहे—जनता दल, लोकदल (ब), समाजवादी कांग्रेस, जनमोर्चा, तेलगूदेशम, असम गण परिषद और द्रमुक।
5. क्षेत्रीय दलों की राजनीतिक स्थिति में सुधार हुआ और राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ा। 1996 में 13 दलीय संयुक्त मोर्चे का सत्ता में आना क्षेत्रीय दलों के प्रभाव और उत्कर्ष की परिणति रही है। आयोग के पास पंजीकृत क्षेत्रीय दलों की संख्या 37 है। वर्तमान में भारत की राजनीति पर क्षेत्रीय दलों का प्रभाव स्थापित हो गया है।
6. मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेतृत्व में वामपंथी शक्तियाँ संगठित हुई हैं। वामपंथी मोर्चा, 1989, 1991, 1996, 1998 और 1999 के चुनाव में अपनी स्थिति को बनाये हुए रहा तथा पश्चिमी बंगाल, केरल तथा त्रिपुरा को अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाये रखने में सफल रहा। मई, 2004 में हुए चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस मोर्चे ने अपनी स्थिति में और भी सुधार किया।
7. भारतीय जनता पार्टी ने 'अकेला चलो' की नीति को अस्वीकृत कर गठबन्धन में स्वयं को शामिल किया। 1998 और 1999 के लोकसभा चुनाव में इसकी शक्ति में सुधार हुआ और सत्ता पर काबिज हुई किन्तु मई 2004 के लोकसभा के चुनावों के बाद इसे सत्ता से हटना पड़ा

समग्र रूप से भारतीय दल प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ

1. बहुदलीय दल प्रणाली—*स्वतन्त्रता से वर्तमान तक भारत में बहुदलीय शासन प्रणाली कार्य कर रही है। वर्तमान में छः सौ से अधिक राजनीतिक दल पंजीकृत हैं।*

2. भारत में संविद राजनीति के युग का श्रीगणेश—1996, 1998 तथा 1999 के लोकसभा चुनाव में किसी राष्ट्रीय राजनीतिक दल को न तो स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और न ही वे कुछ राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को मिलाकर सरकार बनाने की स्थिति में थे। ऐसी स्थिति में एक दलीय सरकार का युग समाप्त हो गया, राष्ट्रीय स्तर पर संविद राजनीति ही एकमात्र विकल्प दिखाई देता है।

3. राजनीतिक ध्रुवीकरण का अभाव और विखण्डन की प्रक्रिया—भारत में राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण के प्रयास तो हुए, लेकिन इन प्रयासों को दीर्घकाल तक स्थायी नहीं किया जा सका। 1977 में जनता पार्टी का गठन और उसमें बिखराव 1988 में जनता दल का गठन और बिखराव के सम्बन्ध में राजनीतिक दलों में ध्रुवीकरण के स्थान पर विखण्डन की प्रवृत्ति है। वे 1977 के पश्चात् एक न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर संसद एवं राज्य विधानसभाओं और उसके बाहर संगठित होकर कार्य कर रहे हैं। इन दलों में बिखराव की प्रवृत्ति नहीं के बराबर है। 1996 के चुनाव के बाद भारतीय जनता पार्टी की सरकार को अपदस्थ करने के लिए 'धर्मनिरपेक्ष दलों' ने एकजुट होकर सरकार गिरा दी। संयुक्त मोर्चे की सरकार का गठन इसी का परिणाम रहा है, परन्तु इसे धर्म निरपेक्ष दलों का ध्रुवीकरण नहीं माना जा सकता है। 1998 में भाजपा गठबंधन की सरकार का पतन गठबंधन सरकार के लिए एक सबक था। 1999 के निर्वाचन में भाजपा और उसके सहयोगी दलों ने राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन को संस्थात्मक रूप देने का प्रयास किया। मई, 2004 के लोकसभा चुनावों के बाद संयुक्त प्रगतिशील गठ बधन ने कांग्रेस के डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में सरकार बनाई।

4. दल-बदल की प्रवृत्ति—*दलीय-व्यवस्था लम्बे समय तक विकृत रही है। इसका लाभ सभी दलों ने उठाया है।* यह केवल राज्यों तक सीमित थी, परन्तु अब यह केन्द्र को प्रभावित करने लगी है। केन्द्र में देसाई सरकार के पतन के लिए मुख्यतः दल-बदल ही उत्तरदायी रहा। दल-बदल को सीमित करने के लिए भारतीय संविधान का 32वाँ संशोधन विधेयक लोकसभा में 1973 में प्रस्तुत किया था, परन्तु वह पारित नहीं हो सका। 1977 के लोकसभा के चुनावों में भी दल-बदल हुआ। राजीव सरकार ने 52वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1985 द्वारा दल-बदल पर वैधानिक रोक लगाकर भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1985 के बाद नागालैण्ड, मणिपुर, हरियाणा में दलबदल की घटनाएँ घटित हुई। 1991 में कांग्रेस (इ) ने शिवसेना, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, जनता दल और तेलगूदेशम को विभाजित करते हुए लोकसभा में अपना बहुमत प्राप्त किया था। 1995 में तेलगूदेशम का विभाजन हुआ। 1998 में भाजपा सरकार का पतन दल बदल की श्रेणी में आता है। सत्ता में दल-बदल या दल-विभाजन की प्रवृत्ति चलती रहेगी।

5. आन्तरिक गुटबन्दी—भारत की दल-प्रणाली में आन्तरिक गुटबन्दी है। लगभग सभी राजनीतिक दलों में छोटे-छोटे गुट हैं—वह एक गुट जो सत्ता में है और दूसरा गुट असन्तुष्ट गुट। इन गुटों में पारस्परिक मतभेद इस सीमा तक पाया जाता है कि कभी-कभी निर्वाचन में एक गुट के समर्थन प्राप्त उम्मीदवारों को दूसरे गुट के सदस्य पराजित कराने का प्रयत्न करते रहते हैं। इससे सत्ता के लिए संघर्ष चलता रहता है। इस तरह सभी राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों में यह स्थिति बनी हुई है।

6. व्यक्तियों का महत्व और अवसरवादिता—भारतीय दलीय प्रणाली नीतियों एवं कार्यक्रमों की अपेक्षा व्यक्ति एवं व्यक्तिगत लगावों को महत्व दिया जाता है तथा इसके कारण अवसरवादिता पनपती है। उदाहरणस्वरूप कांग्रेस में

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
(Indian National Congress)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नाम भारत के राष्ट्रीय जीवन एवं स्वाधीनता संघर्ष के साथ जुड़ा हुआ है। 1885 में स्थापित कांग्रेस ने देश को राजनीतिक स्थायित्व प्रदान करके लोकतान्त्रिक पथ की ओर अग्रसर किया।

कांग्रेस का संगठन—भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की विशेषता है कि जहाँ शासन का ढाँचा संघात्मक है वहां राजनीतिक दलों का ढाँचा एकात्मक। कांग्रेस की सभी इकाइयाँ, स्थानीय से लेकर राष्ट्रीय तक हाईकमान के नेतृत्व के अधीन है। ग्राम या मोहल्ला कांग्रेस कमेटी कांग्रेस संगठन की आधारभूत इकाई (Basic Unit) है जिसके ऊपर तहसील या तालुका समितियाँ, जिला समितियाँ और उन पर प्रदेश या प्रान्तीय कांग्रेस समितियाँ होती हैं। प्रदेश या प्रान्तीय कांग्रेस समिति के अन्तर्गत प्रत्येक प्रान्त में जिला और मध्यम समितियाँ होती हैं जिनका क्षेत्र प्रदेश कांग्रेस समिति निर्धारित करती है। प्रान्तीय कांग्रेस समितियों के ऊपर कांग्रेस का राष्ट्रीय अथवा अखिल भारतीय संगठन होता है जो अध्यक्ष, कार्यकारिणी समिति, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और कांग्रेस के खुले वार्षिक अधिवेशन से मिलकर बना है। कार्यकारिणी समिति दल की सर्वोच्च कार्यपालिका अंग है। इसमें अध्यक्ष मुख्य है। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति (Congress Working Committee) न केवल कांग्रेस की कार्यकारिणी है बल्कि एक छाया मन्त्रिमण्डल (A Shadow Cabinet) है। कार्यकारिणी समिति में प्रधानमंत्री का महत्वपूर्ण स्थान होता है और यह पण्डित नेहरू इन्दिरा गांधी और नरसिम्हाराव के सम्बन्ध में रहा है।

कांग्रेस के संसदीय कार्यों के नियन्त्रण और समन्वय के लिए कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति एक संसदीय बोर्ड की स्थापना करती है जिसमें कांग्रेस अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य रहते हैं। इसके अतिरिक्त संसदीय बोर्ड के सदस्यों और अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के द्वारा चुने गए सदस्यों को मिलाकर केन्द्रीय निर्वाचन समिति का गठन किया गया है जो देश में केन्द्र और राज्यों की विधान-सभाओं का चुनाव लड़ने के लिए योग्य प्रत्याशियों की छटनी में अपना निर्णय देती है। दल में महिला कांग्रेस और युवक कांग्रेस की इकाइयाँ होती हैं जिसके अध्यक्ष और कार्यकारिणी होती है।

कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास अनेक उतार चढ़ाव की लम्बी कहानी है। 1885 में डब्ल्यू सी बनर्जी (W C Banerjee) की अध्यक्षता में कांग्रेस का पहला अधिवेशन मुम्बई में हुआ। कांग्रेस की स्थापना संगठन के रूप में हुई जिसका उद्देश्य भारतीयों को गैर सरकारी संसद के रूप में काम करने के लिए तैयार करना था। स्थापना के वर्षों में इस संगठन को ब्रिटिश शासकों का संरक्षण तथा सहानुभूति प्राप्त थी लेकिन धीरे धीरे उनके रुख में परिवर्तन हुआ, क्योंकि कांग्रेस ने साम्राज्यवाद की आलोचना तथा स्वशासन की माँग शुरू कर दी थी। वास्तव में कांग्रेस एक राजनीतिक दल कम तथा राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक था। कांग्रेस के नेतृत्व में ही देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पं. नेहरू कांग्रेस दल के नेता तथा भारत के प्रथम कांग्रेसी प्रधानमंत्री थे। 27 मई 1964 को निधन होने से पूर्व तक वह कांग्रेस दल का नेतृत्व करते रहे। नेहरू के निधन के बाद लाल बहादुर शास्त्री देश के दूसरे प्रधानमंत्री बने। उनका कार्यकाल बहुत ही थोड़ा, लगभग डेढ़ वर्ष का ही रहा। शास्त्री के बाद जनवरी 1966 में श्रीमती इन्दिरा गांधी कांग्रेस दल की नेता और भारत की तीसरी प्रधानमंत्री बनी। अनेक राजनीतिक घटनाओं तथा दल के विभाजनों के बावजूद अपनी मृत्यु तक उनका दल पर पूरा आधिपत्य रहा। 1969 में उनके नेतृत्व को पहली बार चुनौती का सामना करना पड़ा, जो अपने सहयोगी कांग्रेसी नेताओं द्वारा दी गई थी लेकिन उनकी विजय हुई। दिसम्बर 1969 में कांग्रेस दो भागों में विभाजित हो गई—संगठन कांग्रेस तथा कांग्रेस या इन्दिरा कांग्रेस। 1971 में मध्यावधि लोकसभा चुनाव में श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में इन्दिरा कांग्रेस की विजय ने उन्हें दल और सरकार का नेता बना दिया। 1977 के आम चुनावों में प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी (स्वयं) की तथा कांग्रेस दल की हार हुई और केन्द्र तथा राज्यों में जनता पार्टी की विजय हुई। आपसी फूट तथा कुछ अन्य कारणों से अनेक राजनीतिक दलों का गठबन्धन अधिक समय नहीं टिक पाया। 1979 में इसका विघटन हो गया।

जब श्रीमती गाँधी सत्ता में नहीं थी तब जनवरी, 1978 में कांग्रेस का एक और विभाजन हुआ। 2 जनवरी 1978 को लगभग आठ वर्ष बाद, कांग्रेस की दूसरी बार विभाजन श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में दिल्ली में विट्ठलभाई पटेल भवन में उसी स्थान पर हुआ जहाँ पहले 1969 में हुआ था। अब दो कांग्रेस अस्तित्व में आ गई—ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली राष्ट्रीय कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस। पुरानी कांग्रेस के अधिकांश नेता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ही बने रहे। 1978 में दक्षिणी राज्यों की विधानसभाओं के चुनावों में इन्दिरा कांग्रेस ने सफलता प्राप्त की और ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली कांग्रेस का सफाया हो गया। जनवरी 1980 के चुनावों में इन्दिरा कांग्रेस ने सफलता प्राप्त की और उसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। कांग्रेस (इ) संसदीय दल ने श्रीमती गाँधी को नेता मान उन्हें देश का प्रधानमंत्री निर्वाचित किया। वे 31 अक्टूबर, 1984 तक कांग्रेस सरकार और दल का नेतृत्व करती रही। 31 अक्टूबर,

1984 को श्रीमती गांधी की हत्या के बाद राजीव गांधी कांग्रेस दल के नेता और भारत के प्रधानमंत्री बने। उनके नेतृत्व में दिसम्बर, 1984 के आम चुनावों में लोकसभा में कांग्रेस ने विजय के पिछले सभी रिकार्ड तोड़ दिए और सन् 1985 में राज्य विधानसभाओं के जो चुनाव हुए उनमें कुछ अपवादों को छोड़कर शेष सभी राज्यों में कांग्रेस सत्तारूढ़ हुई। 1991 में कांग्रेसी नेता पी. वी. नरसिम्हाराव ने 5 वर्षों तक अल्पमत सरकार चलाई।

कांग्रेस दल की चुनावी राजनीति का इतिहास—भारत में अब तक 14 संसदीय निर्वाचन सम्पन्न हो चुके हैं, उनमें से आठ में कांग्रेस को सफलता मिली। सन् 1991 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इ) बड़े दल के रूप में उभरी और सरकार बनाने में सफल रही। 1977 में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी, 1989 में विश्वनाथ प्रतापसिंह, 1996 में संयुक्त मोर्चे के देवेगौड़ा एवं गुजराल तथा भाजपा के वाजपेयी के नेतृत्व में तथा 1998, 1999 में पुनः भाजपा सरकार सत्तारूढ़ हुई, लेकिन ये सरकारें पूरे समय सत्ता में नहीं रहीं। दलबदल या दल-विभाजन के कारण सरकारों का पतन हो गया। सन् 1999 में लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इ) को पराजय का सामना करना पड़ा और उसे मात्र 114 स्थान ही प्राप्त हुए। साथ ही कांग्रेस (इ) को लोकसभा में विपक्ष में बैठना पड़ा। अप्रैल-मई, 2004 में हुए लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस को 145 स्थान मिले तथा उसके नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सत्ता में आया।

कांग्रेस की नीतियाँ और कार्यक्रम—पंडित नेहरू से लेकर नरसिम्हाराव तक के कार्यकाल में कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों का विश्लेषण किया जाए तो कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र, धर्म निरपेक्षता और समाजवाद इस दल की नीतियों के तीन आधार स्तम्भ रहे हैं। 1952 से लेकर 1996 एवं 1999 तक के संसदीय चुनावों में जारी घोषणा-पत्र से कांग्रेस की नीतियाँ और कार्यक्रम स्पष्ट होते हैं। कांग्रेस की प्रमुख नीतियों और कार्यक्रमों में धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद में आस्था, साम्प्रदायिक सद्भाव, अल्पसंख्यक कल्याण, गरीबी उन्मूलन, सामाजिक न्याय और गुटनिरपेक्षता को गिनाया जा सकता है।

स्वतन्त्रता से लेकर वर्तमान तक कांग्रेस की उपलब्धियाँ रही हैं। देश में स्थिरता, संसदीय लोकतन्त्र का क्रियान्वयन, धर्म-निरपेक्ष, लोकतान्त्रिक समाजवाद का आदर्श, नियोजित आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय की प्राप्ति, सामन्तवाद, जागीरदारी तथा जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, देश में मतदाताओं को शिक्षित करने का प्रयास, नौकरशाही का लोकतन्त्रीकरण, देश में आधुनिकीकरण का सूत्रपात, भारत में संघात्मक व्यवस्था, विश्व में साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा रंगभेद के विरुद्ध वातावरण तैयार करने तथा विश्व शान्ति में योगदान जैसे अनेक ऐसे कार्य हैं जो इस दल के योगदान को दर्शाते हैं।

इन उपलब्धियों के साथ-साथ इस दल की असफलताओं का मूल्यांकन करना आवश्यक बन जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् मार्च 1977 से जनवरी, 1980 तथा नवम्बर, 1989 से जून 1991 एवं 1996-1998 के सीमित काल के विपक्षी शासन को छोड़कर ग्यारहवीं लोकसभा के गठन के पूर्व तक यही दल सत्ता में रहा। इतने वर्षों में देश की राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन किया जाये तो अनेक कमजोरियाँ स्पष्ट होती हैं। कांग्रेस ने जिन नीतियों और कार्यक्रमों को अपनाया, उससे जनसाधारण के जीवन में कोई नया परिवर्तन नहीं आया। धनिक और निर्धन वर्ग के बीच अन्तर बढ़ा है और गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों पर होने वाले अत्याचार सामाजिक न्याय की भावना पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। कांग्रेस द्वारा दलबदल का सहारा लेकर विपक्षी दलों की शक्ति को सदैव कमजोर करने के प्रयास किये गये, जिसका परिणाम एक सशक्त विपक्ष का अभ्युदय नहीं हो सका। समाजवाद का नारा तो बुलन्द किया गया, लेकिन देश की अर्थव्यवस्था पर औद्योगिक घरानों का एकाधिकार तथा प्रभुत्व स्थापित होता चला गया। सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार का विकास होता गया है। सार्वजनिक जीवन में मूल्यों का संकट बढ़ा है। नौकरशाही का पूरी तरह से जनतन्त्रीकरण नहीं हो सका। जम्मू-कश्मीर तथा पंजाब, उत्तर-पूर्वी राज्यों की अशान्त स्थिति के लिए इस दल को ही उत्तरदायी माना जाता है।

भारतीय जनता पार्टी

(Bhartiya Janta Party : BJP)

भारतीय जनता पार्टी 1980 के चुनावों से नया संस्करण है। भारतीय जनसंघ की स्थापना प्रथम आम चुनावों के कुछ समय पूर्व 1951 में हुई थी। इसका पहला सम्मेलन कोलकाता में हुआ जिसमें संस्थापक डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी को अध्यक्ष चुना गया। इसके कुछ समय पूर्व पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली के प्रतिनिधि जालंधर में मिलकर एक और 'जनसंघ' का सूत्रपात कर चुके थे। दोनों के बीच 1 अक्टूबर, 1951 को विलय सम्पन्न हो गया और मुकर्जी अखिल भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1952 के बाद के चुनावों में जनसंघ ने सफलता अर्जित की। लोकसभा में 1957, 1962, 1967 और 1971 (मध्यावधि) में क्रमशः 4, 14, 35 और 22 सीटें प्राप्त की। जनसंघ अपनी एकता को बनाए नहीं रख सका। दल से निष्कासित होने के बाद वरिष्ठ नेता बलराज मधोक ने अप्रैल, 1973 में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक संघ नामक दल का निर्माण कर लिया जो भारतीय लोकदल में विलीन हो गया। 18 जनवरी, 1977 को छठी लोकसभा के चुनाव की घोषणा के बाद जनसंघ ने 'जनता पार्टी' में अपने विलय की घोषणा की। 1980 के

लोकसभा के चुनावों में जनता पार्टी की पराजय के बाद जनसंघ घटक के लोगों ने इस पार्टी से सम्बन्ध तोड़कर 6 अप्रैल, 1980 को नई दिल्ली में एक सम्मेलन में 'भारतीय जनता पार्टी' नाम से नये दल का गठन किया। अटलबिहारी वाजपेयी को दल का प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। अपने अध्यक्षीय भाषण में वाजपेयीजी ने निम्नलिखित चार महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर जोर दिया—(1) भारतीय जनसंघ को पुनर्जीवित नहीं किया जाएगा। (2) भारतीय जनता पार्टी धर्मनिरपेक्षता और गैर-मजहबी राज्य में विश्वास करती है। (3) आर्थिक नीति का मूलाधार गाँधीवादी अर्थव्यवस्था होगी। उनके मत में प. दीनदयाल उपाध्याय ने पूर्व जनसंघ के लिए जो आर्थिक नीति तैयार की थी वह पूर्णतया गाँधीवाद के अधिक निकट थी। (4) भारतीय जनता पार्टी जे. पी. आन्दोलन और सम्पूर्ण क्रान्ति के उद्देश्यों को प्रेरणा का आधार मानकर चलेगी। इस प्रकार भारतीय जनता पार्टी ने जनता पार्टी की 'जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का आदर्श और गाँधीवादी अर्थदृष्टि' को विरासत के रूप में स्वीकार किया।

नीति एवं कार्यक्रम—26 से 29 दिसम्बर, 1980 को मुम्बई में भारतीय जनता पार्टी का पहला अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में दल द्वारा नीति-सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। इस प्रस्ताव में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के महत्व को स्वीकार करने, मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धान्तों में विरोध नहीं मानने निर्धनता दूर करने के लिए विशेष कोष की स्थापना करने, सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायीकरण करने, निजी क्षेत्र पर कुछ न्यूनतम सामाजिक नियन्त्रण रखने, कृषकों को उत्पादन के लाभकारी मूल्य देने, पाँच वर्षों में सबको काम अथवा बेरोजगारी भत्ता दिलवाने और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार की योजना को लागू करने जैसे विषय पर बल दिया गया। पार्टी ने गाँधीवाद समाजवाद के प्रति आस्था व्यक्त की।

1986 के पश्चात् भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष लालकृष्ण अडवाणी के नेतृत्व में अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करते हुए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में अग्रसर हुई। इससे गाँधीवादी समाजवाद को कायम रखने का आधार कमजोर हो गया। 1989 में सम्पन्न होने वाले लोकसभा के चुनाव में दल के अध्यक्ष लालकृष्ण अडवाणी ने चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया। इस घोषणा-पत्र में धर्मनिरपेक्षता, अनुच्छेद 370 की समाप्ति आकाशवाणी तथा दूरदर्शन की स्वायत्तता को कायम करने के लिए एक स्वायत्तशासी निगम की स्थापना, एक समान नागरिक संहिता (Common Code) का निर्माण करने, 'रोजगार गारण्टी' की योजना का आरम्भ करने जैसे विषयों पर बल दिया गया।

1989 के लोकसभा चुनाव और 1990 के राज्य विधानसभा के चुनाव में मिली सफलता से दल ने 'हिन्दू कार्ड' को नीति का मुख्य आधार बना लिया जिसका 'रामजन्म भूमि और बाबरी मस्जिद' विवाद में दल ने खुले रूप से प्रयोग किया। अपने दल के लिए उत्तरी भारत में हिन्दू मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए लालकृष्ण अडवाणी ने 'सोमनाथ से अयोध्या' तक रथयात्रा प्रारम्भ की जिसे रोकने के लिए सभी दलों ने भारतीय जनता पार्टी से अनुरोध किया, लेकिन जनता पार्टी ने इसे अस्वीकार कर दिया। यात्रा के दौरान बिहार में जनता दल की सरकार ने अडवाणी को गिरफ्तार कर लिया। इस पर भाजपा ने राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार से समर्थन वापस ले लिया, परिणामस्वरूप विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार का पतन हो गया और मार्च 1991 में लोकसभा भंग हो गई। मई-जून 1991 में लोकसभा के मध्यावधि निर्वाचन कराने की घोषणा हुई। भाजपा ने अधिक आक्रामक होकर हिन्दू मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने के लिए रामजन्म भूमि पर 'राममन्दिर निर्माण' करने को अपनी नीति का आधार बना लिया। दल द्वारा अयोध्या में 'बाबरी मस्जिद' या उसके अनुसार तथाकथित विवादास्पद ढाँचे को वहाँ से अन्यत्र स्थानान्तरित करने को कहा गया। मई-जून 1991 में लोकसभा चुनाव में लालकृष्ण अडवाणी द्वारा जो घोषणा-पत्र जारी किया गया, उसमें 'राम, रोटी और इन्साफ (न्याय)' का नारा लगाया गया। दल द्वारा अयोध्या में राम मन्दिर निर्माण को 'राष्ट्रीय अस्मिता' का प्रतीक कहकर मन्दिर निर्माण करने हेतु मतदाताओं से अपने पक्ष में मतदान करने के लिए अपील की गई। दसवीं लोकसभा के लिए जारी किये गये घोषणा-पत्र में धर्मनिरपेक्षता, अनुच्छेद 370 की समाप्ति, केन्द्र राज्य सम्बन्धों में 'अन्तर्राज्यीय आयोग' की स्थापना करने, सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास करने, जम्मू तथा लद्दाख के विकास के लिए 'क्षेत्रीय विकास परिषद' का गठन करने, आणविक हथियारों का उत्पादन करने, सारे देश में समान नागरिक संहिता का निर्माण करने के लिए एक 'न्यायिक आयोग' की स्थापना करने, मूल्य-वृद्धि पर रोक लगाने, सारे देश में अन्त्योदय योजना और रोजगार गारण्टी का प्रारम्भ तथा महिलाओं और युवकों के उत्थान के लिए अलग कार्यक्रम प्रारम्भ करने का आश्वासन दिया गया।

सन् 1991 से 1993 की अवधि के मध्य दल की नीति में कोई अन्तर नहीं हुआ। जयपुर में आयोजित अधिवेशन में डॉ. मुरलीमनोहर जोशी को अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उत्तर प्रदेश में कल्याणसिंह के नेतृत्व वाली भाजपा सरकार ने खुले आम अयोध्या में राम मन्दिर के निर्माण में आने वाली सभी बाधाओं को समाप्त करने का संकल्प किया। इसके बाद 'यात्राओं' की राजनीति का सहारा लेकर भाजपा दल के अध्यक्ष डॉ. मुरलीमनोहर जोशी ने 'कन्याकुमारी से कश्मीर' तक की यात्रा प्रारम्भ की जिसका मुख्य लक्ष्य दल की नीतियों के प्रति दक्षिण से लेकर उत्तर तक जन-समर्थन जुटाना

था। कतिपय स्थानों पर यात्रा के दौरान साम्प्रदायिक तनाव की घटनाएँ भी घटित हुईं। अन्त में 26 जनवरी, 1992 को श्रीनगर के लाल चौक में कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के बीच डॉ. मुरलीमनोहर जोशी द्वारा 'तिरंगा झण्डा' फहराने के साथ ही इस यात्रा की समाप्ति हुई। इस यात्रा को उतना जन-समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, जितना की लालकृष्ण आडवाणी की रथ-यात्रा को। 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में कारसेवकों द्वारा 'बाबरी मस्जिद' को गिराये जाने की घटना से दल को आघात लगा। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश की चारों भाजपा राज्य सरकारों को बर्खास्त कर लालकृष्ण आडवाणी को गिरफ्तार कर लिया गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल जैसे भाजपा के सहयोगी संगठनों को गैर कानूनी घोषित करते हुए इन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। भारतीय जनता पार्टी ने जनता में प्रभाव स्थापित करने की दृष्टि से 'जनादेश यात्राओं' का सहारा लिया। 11 सितम्बर, 1993 से मैसूर, पोरबन्दर, कोलकाता और जम्मू से रवाना होने वाली यात्राओं का नेतृत्व लालकृष्ण आडवाणी, डॉ. मुरलीमनोहर जोशी, कल्याणसिंह तथा भैरोंसिंह शेखावत ने किया। इन यात्राओं में लगभग 15 हजार किमी. की दूरी तय की गई और 25 सितम्बर, 1992 को भोपाल में एक साथ समापन हुआ।

ग्यारहवीं लोकसभा के चुनावों में जनता पार्टी के घोषणा-पत्र में 'रामराज्य की स्थापना' को पार्टी का लक्ष्य माना गया। घोषणा पत्र में उत्तराखण्ड, वनांचल, विदर्भ तथा छत्तीसगढ़ नये राज्य बनाने, अयोध्या में जन्मस्थान पर भव्य राममन्दिर का निर्माण करने, संविधान के अनुच्छेद 370 को समाप्त करने, एक समान नागरिक संहिता बनाने, कश्मीर घाटी छोड़कर आये लोगों को विस्थापितों का दर्जा प्रदान करने तथा उनकी सम्पत्ति की रक्षा करने, चुनाव में काले धन से दूषित हुई निर्वाचन प्रणाली में सुधार करने, सरकारी खर्च पर चुनाव लड़ने तथा गोस्वामी समिति की सिफारिशों को लागू करने, राजनीतिक दलों को खुलेआम कम्पनियों से चन्दा लेने के लिए प्रोत्साहित करने, दलबदल कानून में संशोधन करने, मतदान के लिए इलैक्ट्रोनिक मतदान मशीनों का सहारा लेने, भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करने के लिए लोकपाल की स्थापना करने, सभी निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिए अनिवार्य रूप से अपनी सम्पत्ति की घोषणा करने सी. बी. आई. का राजनीतिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल करने से रोकने, सरकार मुक्त बाजार नीतियों को प्रोत्साहित करने, विदेशी पूँजी निवेश का स्वागत, लेकिन उपभोक्ता वस्तुओं में इसे प्रोत्साहन नहीं देने, कर ढाँचे तथा आयकर की सीमा को साठ हजार रुपये करने, लघु उद्योगों को पूर्ण प्रोत्साहन देने, भ्रष्टाचार तथा कालेधन के विरुद्ध संघर्ष को दृढ़ता से जारी रखने, पाक-अधिकृत कश्मीर पर भारत की सम्प्रभुता को असंदिग्ध, सेनाओं का आधुनिकीकरण तथा राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना, पृथ्वी शृंखला के प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण कार्य तेज करने, आतंकवादी गतिविधियों से निपटने के लिए सुरक्षा सेनाओं को छूट देने, कृषि और ग्रामीण विकास के लिए संसाधनों का 60 प्रतिशत खर्च, कृषि को उद्योग का दर्जा देने, सभी निर्वाचित निकायों में 33 प्रतिशत स्थान महिलाओं को प्रदान करने तथा जनसंख्या को नियन्त्रित करने के लिए परिवार नियोजन को राष्ट्रीय एजेन्डा में रखने जैसे मुद्दों पर जोर दिया गया।

दल का चुनावी इतिहास—भाजपा की स्थापना के बाद मई, 1980 में होने वाले विधानसभा चुनावों में भाग लिया, जिसमें उसे 2,242 स्थानों में से 147 स्थान प्राप्त हुए। मध्य प्रदेश में 60 और राजस्थान में 32 स्थानों पर विजय प्राप्त कर इस दल ने मान्यता प्राप्त विपक्षी दल का दर्जा प्राप्त किया। मई 1982 में सम्पन्न होने वाले लोकसभा के 7 उपचुनावों में से 2 पर विजय प्राप्त करके इस दल ने उपस्थिति दर्ज कराई। सन् 1983 में हरियाणा विधानसभा के चुनाव में देवीलाल के नेतृत्व वाले लोकदल के साथ भारतीय जनता पार्टी ने मिलकर चुनाव लड़ा और लोकदल भारतीय जनता पार्टी का गठजोड़ सर्वाधिक स्थानों पर विजय प्राप्त करके बड़े गठबन्धन के रूप में उभरा। दिसम्बर, 1984 के लोकसभा चुनाव भाजपा के लिए निराशाजनक रहे और इसे मात्र दो स्थान ही प्राप्त हुए। मार्च, 1985 में सम्पन्न 11 राज्य विधानसभाओं की कुल 2,534 सीटों में से भाजपा को 171 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई। मध्य प्रदेश और राजस्थान में इस दल को सफलता प्राप्त हुई और इन राज्यों में उसे मान्यता प्राप्त विपक्षी दल का स्थान प्राप्त हुआ। सन् 1987 के हरियाणा विधानसभा के चुनाव में लोकदल (ब) और भाजपा का गठबन्धन सफल रहा। देवीलाल के नेतृत्व में लोकदल (ब) और भाजपा की मिली-जुली सरकार सत्तारूढ़ हुई। सन् 1989 के लोकसभा चुनाव में इस दल को सफलता प्राप्त हुई। लोकसभा में इसकी सदस्य संख्या 2 से बढ़कर 86 हो गई और चन्द्रशेखर के काल में भाजपा लोकसभा में मान्यता प्राप्त विपक्षी दल बन गया। लालकृष्ण आडवाणी लोकसभा में विपक्ष के नेता बने। जनवरी, 1990 में राज्य विधानसभाओं के चुनाव में भाजपा को सफलता प्राप्त हुई। मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में इसे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। गुजरात तथा राजस्थान में यह बड़े दल के रूप में उभरा। मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान में भारतीय जनता पार्टी के मुख्यमंत्री सत्तारूढ़ हुए। गुजरात में चिमनभाई पटेल के नेतृत्व में जनता दल के साथ संविद सरकार में शामिल हुई। जब केन्द्र में भाजपा ने राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया तो राजस्थान में जनता दल ने भैरोंसिंह शेखावत मन्त्रिमण्डल से समर्थन वापस ले लिया। गुजरात में चिमनभाई मन्त्रिमण्डल से अलग हो गई। राजस्थान में भैरोंसिंह शेखावत ने जनता दल को विघटित करा कर अपनी सरकार को बचा लिया। 1991 के लोकसभा

चुनाव में भाजपा ने शक्ति में वृद्धि करते हुए अपनी सदस्य संख्या 86 से बढ़ाकर 119 कर दी। लोकसभा और राज्यसभा में क्रमशः लालकृष्ण आडवाणी और सिकन्दर बख्त विपक्ष के नेता बने। उत्तर प्रदेश विधान सभा के चुनाव भी सम्पन्न हुए। उत्तर प्रदेश में भाजपा को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। कल्याणसिंह के नेतृत्व में भाजपा सरकार राज्य में सत्तारूढ़ हुई। 1991 में कर्नाटक और महाराष्ट्र विधानसभाओं के चुनावों में भाजपा आधार विस्तृत करने में सफल रही। दिसम्बर, 1992 में चारों भाजपा सरकारों की बर्खास्तगी इस दल के लिए एक आघात था। नवम्बर, 1993 में उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली विधानसभाओं के चुनावों में भाजपा ने आत्म-विश्वास के साथ चुनाव संघर्ष में उतारते हुए 'आज पाँच प्रदेश, कल सारा देश' वाला नारा लगाया था, लेकिन चुनावी परिणाम अपेक्षा के अनुकूल नहीं आए। हिमाचल प्रदेश में पराजय का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि मुख्यमंत्री शान्ताकुमार भी पराजित हो गये। मध्य प्रदेश में भी यही स्थिति रही। उत्तर प्रदेश में पहले से अधिक मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने के बावजूद यह राज्य विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त करने में असफल रहा। यद्यपि यह राज्य विधानसभा में बड़े दल के रूप में उभरी और जोड़-तोड़ की राजनीति के माध्यम से सरकार बनाने में सफल रही। दिल्ली विधानसभा में सफलता मिली। इस प्रकार से 1993 के राज्य विधानसभा चुनावों ने भाजपा को देश में लोकसभा मध्यावधि चुनाव कराने की माँग को नकार दिया। साथ ही 'मन्दिर मुद्दे' शीतल पड़ जाना भी दल के लिए प्रमुख चिन्तनीय विषय बन गया।

1994 में सम्पन्न हुए कर्नाटक विधानसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को सफलता मिली। जहाँ पर विधान सभा में इसके मात्र 5 स्थान थे, वे बढ़कर 40 हो गये। 1995 में सम्पन्न हुए गुजरात विधानसभा के चुनाव में जनता पार्टी को विशाल जनादेश प्राप्त हुआ और यह दल राज्य में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करने में सफल रहा। महाराष्ट्र में दल की शक्ति में वृद्धि हुई और शिवसेना के साथ मिलकर इसने मिली-जुली सरकार बनाई। गुजरात और महाराष्ट्र में भी भारतीय जनता पार्टी की सफलता महत्वपूर्ण इसलिए थी कि ये दोनों ही राज्य भारत के सम्पन्नतम राज्य हैं। 1996 के लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी 161 स्थान प्राप्त कर बड़े दल के रूप में उभरी। इसके नेता अटलबिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलाई गई किन्तु उनकी सरकार अल्पमतीय रही। 1998 में आम चुनावों के उपरान्त सबसे बड़े दल (गठबन्धन) के नेता के रूप में चुने जाने के पश्चात् वाजपेयी पुनः प्रधानमंत्री बने। भाजपा सरकार के घटक अन्नाद्रमुक नेता जयललिता के द्वारा समर्थन वापस लेने के बाद राष्ट्रपति ने सरकार को विश्वास मत प्राप्त करने का आदेश दिया। सरकार एक मत से पराजित हो गई। परिणामस्वरूप सरकार को त्यागपत्र देना पड़ा। तेरहवीं लोक सभा के चुनाव हुए और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के नेता के रूप में अटलबिहारी वाजपेयी को पुनः तीसरी बार 13 अक्टूबर, 1999 को देश का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। तेरहवीं लोक सभा के चुनावों में इस दल को 182 स्थान प्राप्त हुए। अप्रैल-मई 2004 में हुए चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 139 स्थान मिला तथा उसके हाथ से सत्ता चली गई।

भारतीय साम्यवादी दल

(Communist Party of India : C.P.I.)

भारतीय साम्यवादी दल देश का राष्ट्रीय दल है। इस दल के संस्थापक नेताओं में श्रीपद अमृत डाँगे भूपेश गुप्त जे. ए. अहमद और सी. राजेश्वरराव के अलावा इन्द्रजीत गुप्ता और चतुरानन मिश्रा के नाम उल्लेखनीय हैं। इस दल का संगठन पूर्व सोवियत संघ के साम्यवादी दल की तरह त्रिकोणात्मक रहा है। दल का आधार इकाइयों का समूह है। दल की सबसे छोटी इकाई सेल (Cell) कहलाती है, जिसकी स्थापना किसी कारखाने या अन्य स्थान में की जा सकती है। साम्यवादी दल में संगठन की सीढ़ी में ग्राम, नगर, जिला और प्रान्तीय समितियाँ एक के ऊपर एक होती हैं। प्रत्येक स्तर पर कार्यकारिणी समिति होती है। राष्ट्रीय संगठन के रूप में साम्यवादी दल की एक अखिल भारतीय काँग्रेस है जो अपने वार्षिक अधिवेशन में दल का महासचिव निर्वाचित करती है जो दल का शक्तिशाली व्यक्ति माना जाता है। दल के महासचिव को दल की गतिविधियों के संचालन करने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह दल की नीतियों का अधिकृत प्रवक्ता एवं समन्वयकर्ता माना जाता है जो संगठनात्मक गतिविधियों में समन्वय स्थापित करता है। दल की अखिल भारतीय काँग्रेस द्वारा केन्द्रीय कार्यकारिणी का निर्वाचन किया जाता है। इस केन्द्रीय समिति का अन्तरंग समूह होता है जिसे उसी परम्परा के अनुसार 'पोलित ब्यूरो' (Polit Bureau) कहा जाता है जिसकी दल में शीर्षस्थ भूमिका होती है। यह दल के लिए नीतियों का निर्धारण एवं सभी गतिविधियों का संचालन करता है। पोलित ब्यूरो सामूहिक नेतृत्व परम्परा का प्रतीक होता है। इसमें महासचिव के अतिरिक्त वरिष्ठ सदस्य होते हैं जिनकी दल में महत्वपूर्ण स्थिति होती है। दल में भर्ती के नियम कठोर हैं। अनुशासित लोग साम्यवादी दल के सदस्य बन सकते हैं। कोई 18 वर्ष या इससे अधिक का व्यक्ति इस दल का सदस्य बन सकता है। जहाँ तक दल में शक्ति और स्थिति का प्रश्न है सारी शक्ति दल के 'पोलित ब्यूरो' में केन्द्रित होती है। साम्यवादी दल का नेतृत्व अन्य दलों की अपेक्षा 'बुजुर्ग नेताओं' के हाथ में रहा है। बहुत लम्बे समय तक श्रीपद अमृत डाँगे और सी. राजेश्वरराव का दल पर वर्चस्व रहा है।

साम्यवादी दल संगठनों और सदस्यों को दल द्वारा जारी पत्रिकाओं, पैम्फलेटों तथा पार्टी पत्रों के माध्यम से शिक्षित करता रहता है। एक पार्टी पत्रिका (उदाहरणार्थ 'पार्टी लाइफ') प्रान्तीय तथा जिला समितियों और महत्वपूर्ण सदस्यों को भेजी जाती है। विदेशी पत्र-व्यवहार केवल केन्द्रीय समिति के सदस्यों के लिए होता है। पार्टी की इस संचार-व्यवस्था तथा सैद्धान्तिक शिक्षा का उद्देश्य सदस्यों में सेना की तरह अनुशासन उत्पन्न करना है। इसमें रक्षा, आक्रमण, युद्ध रेखा, लड़ाई, पिछली सेना, युद्ध विराम, सेनाएँ, सैनिकों, छापामार युद्धकला, हथियारबन्द संघर्ष आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। साम्यवादी दल का अनुशासन सदस्यों के निजी तथा सार्वजनिक जीवन तक फैला हुआ है। दल विवाह या तलाक की आज्ञा दे सकता है। दल सदस्यों से पूर्ण निष्ठा की माँग करते हुए समय-समय पर आदेश तथा निर्देश देने के लिए पाठशालाओं का प्रबन्ध भी करता है।[1]

भारतीय साम्यवादी दल की नीतियाँ और कार्यक्रम मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद से प्रेरित हैं। यह सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जो मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद पर आधारित हो। यह दल मजदूरों और किसानों के हितों के संरक्षण का पक्षधर है। समाज के कमजोर वर्ग के उत्थान, जमींदारी और जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि सुधारों को लागू करने, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के विशेषाधिकार और प्रिवीपर्स को समाप्त करने, सम्पत्ति पर पूँजीपतियों के एकाधिकार को समाप्त करने, सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों से हटाने, किसानों को ऋण और सिंचाई की सुविधा तथा उत्पादों का उचित मूल्य दिलाने, मूल्य स्थिरता को बनाए रखने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुदृढ़ करने, सभी नागरिकों को रोजगार के अवसर प्रदान कर न्यूनतम मजदूरी का मान का निर्धारण करने, श्रमिकों को अधिकार प्रदान करने, ग्रामीण विकास को महत्व देने, दलबदल पर रोक लगाने, जबरन परिवार नियोजन कार्यक्रम का अन्त करने, धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को सुरक्षित करने, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा करने, महिलाओं को समानता का दर्जा प्रदान करने, साम्प्रदायिक शक्तियों का दमन करने, वामपंथी और लोकतान्त्रिक शक्तियों की एकजुटता, रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद का समाधान और अगर ऐसा नहीं हो सके तो न्यायपालिका के निर्णय को सभी पक्षों को स्वीकार करने, उदारीकरण के नाम पर निजीकरण की प्रक्रिया का विरोध करने तथा सार्वजनिक क्षेत्र के महत्व को स्वीकार करने, इत्यादि प्रमुख विषय पर बल देता है। नवम्बर, 1989 के लोकसभा चुनाव में 33-सूत्रीय कार्यक्रम में घोषणा-पत्र में वामपंथी, लोकतान्त्रिक और धर्म-निरपेक्ष एकजुटता का आह्वान किया गया था। 1991 के लोकसभा के चुनाव में दल द्वारा जारी किये गये घोषणा-पत्र में साम्प्रदायिकता पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा धर्म-स्थलों की स्थिति को यथावत रखने की वकालत की गई। 1998 एवं 1999 के आम चुनावों में जारी घोषणा-पत्र में पूर्व की नीतियों का समर्थन करने के साथ दल द्वारा वामपंथी, लोकतान्त्रिक और धर्म-निरपेक्ष शक्तियों से एकजुट होकर साम्प्रदायिक शक्तियों को पराजित करने की अपील की गई।

भारतीय साम्यवादी दल का चुनावी इतिहास—देश में सम्पन्न होने वाले संसदीय और राज्य विधानसभाओं के चुनावों में भारतीय साम्यवादी दल बराबर भाग लेता रहा। सन् 1952 के प्रथम आम चुनाव में संसद में 27 और राज्य विधानसभाओं में 187 स्थानों पर विजय प्राप्त करके काँग्रेस के बाद इसी दल को स्थान प्राप्त हुए। 1957 के द्वितीय आम चुनाव में दल को प्राप्त मतों और स्थानों की संख्या दुगुनी हो गई। इसे लोकसभा में 27 स्थान तथा केरल विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। ई. एम. एस. नम्बूदरीपाद के नेतृत्व में, राज्य में प्रथम गैर-काँग्रेस सरकार, स्थापित हुई जिसे 1959 में बर्खास्त करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। सन् 1962 के तृतीय आम चुनाव में दल को जन-समर्थन प्राप्त हुआ और इसका मत 3.30 से बढ़कर 9.96 प्रतिशत हो गया।

1962 के चीनी आक्रमण के बाद इस दल में दरार होने लगी और नम्बूदरीपाद, टी. रणदिवे, ज्योति बसु, हरकिशनसिंह सुरजीत के नेतृत्व में एक बड़ा वर्ग दल से अलग हो गया जिसने पृथक् से 1964 में भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) का गठन किया। इससे दल की स्थिति कमजोर हो गई। 1967 के आम चुनावों में 23 स्थान मिले और बिहार, केरल तथा पश्चिमी बंगाल विधानसभाओं में सम्मानजनक स्थिति प्राप्त हुई। 1971 के लोकसभा चुनावों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और उसे 23 स्थान प्राप्त हुए जबकि भंग लोकसभा में इसके 24 सदस्य थे। 1969 के काँग्रेस विभाजन के पश्चात् इस दल ने प्रधानमंत्री के नेतृत्व वाली काँग्रेस को समर्थन दिया। 1977 के चुनाव में श्रीमती गांधी के नेतृत्व में काँग्रेस-भारतीय साम्यवादी दल के गठजोड़ ने मिलकर चुनाव लड़ा। इस चुनाव में भारतीय साम्यवादी दल को पराजय का सामना करना पड़ा। उसे लोकसभा में मात्र 7 स्थान और केवल 2.87 प्रतिशत मत ही प्राप्त हुए। इस पराजय से साम्यवादी दल का काँग्रेस के प्रति विश्वास कम हो गया तथा अपनी नीति में परिवर्तन करते हुए मार्क्सवादी साम्यवादी दल और अन्य वामपंथी दलों के साथ संयुक्त मोर्चे में अपने को शामिल कर लिया। पश्चिमी बंगाल और केरल की राजनीति में साम्यवादी दल, मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेतृत्व वाले वामपंथी लोकतान्त्रिक मोर्चे की सरकार में शामिल हुआ। 1980 के लोकसभा चुनाव में इस दल को 11 स्थान और 2.61% मत प्राप्त हुए। 1980 के राज्य विधानसभाओं

1. डॉ. सुरेन्द्र कौशिक (सम्पादक) पूर्वोक्त (सत्य एम. राय : भारत में वामपंथी दल), पृ. 45

के चुनाव में इसे मात्र 57 स्थान प्राप्त हुए। 1984 के लोकसभा चुनाव में इसकी शक्ति पुनः घट गई तथा इसे 6 स्थान प्राप्त हुए। 1989 के लोकसभा के चुनाव में भारतीय साम्यवादी दल की स्थिति में सुधार हुआ और उसे 12 स्थान प्राप्त हुए। राष्ट्रीय मोर्चे तथा अन्य वामपंथी दलों के साथ चुनावी गठबन्धन करने के कारण ही इस दल को सफलता प्राप्त हो सकी। 1991 के लोकसभा चुनावों में इस दल को 13 स्थान प्राप्त हुए। मई 1996 के लोकसभा चुनाव में भारतीय साम्यवादी दल को 11 स्थान प्राप्त हुए जो 1991 के लोकसभा चुनाव की तुलना में दो स्थान कम हैं। 1996 के लोकसभा के साथ सम्पन्न हुए केरल विधानसभा के चुनावों में 18 स्थान प्राप्त हुए। पश्चिमी बंगाल विधान सभा में 6 स्थान प्राप्त हुए। दोनों ही राज्यों में यह दल मार्क्सवादी दल के नेतृत्व वाले वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चे की सरकार में शामिल है। इस दल को 1998 में बारहवीं लोक सभा में 9 तथा 1999 में तेरहवीं लोक सभा में 4 स्थान प्राप्त हुए। 2004 में हुए चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 9 स्थान मिले।

भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)

[Communist Party of India : CPI (M)]

1964 में अखिल भारतीय साम्यवादी दल के एक बड़े वर्ग ने रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेद के परिप्रेक्ष्य में एक नवीन दल का गठन किया जो सोवियत संघ के 'संशोधनवाद' का विरोधी था। इस नवीन दल का नाम 'मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी' रखा गया और घोषणा की गई कि यह दल देश में समाजवाद एवं साम्यवाद की स्थापना करने के लिए उन भारतीय श्रमजीवियों का संगठन होगा जो कि मार्क्सवाद और लेनिनवाद के प्रति आस्था रखते हैं तथा जो प्राथमिक चरण में इस देश में जनवादी लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। मार्क्सवादी साम्यवादी दल दक्षिणपंथी साम्यवादी दल की तुलना में उग्र वामपंथी दल है। इसके संस्थापक नेताओं में प्रमोददास गुप्ता, ज्योति बसु, ई. एम. एस. नम्बूद्रीपाद, हरकिशनसिंह सुरजीत, ए. के. गोपालन, पी. राममूर्ति और टी. रणदिवे का नाम उल्लेखनीय है। हरकिशनसिंह सुरजीत दल के महासचिव तथा मुख्य नीति निर्धारकों में से हैं। 1969 में राष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसैन की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति के निर्वाचन और कांग्रेस के विभाजन की प्रक्रिया में मार्क्सवादी दल ने श्रीमती गांधी का समर्थन किया था, परन्तु बाद में 1970 के अन्त में दल में इस विचार ने जोर पकड़ा कि इससे मार्क्सवादी दल कांग्रेस से दब जाएगा और उसका क्रान्तिकारी स्वरूप समाप्त हो सकता है। इस कारण दल ने कांग्रेस के सम्बन्ध में नीति बदल ली।

दल का चुनावी इतिहास

1964 में स्थापना के पश्चात् दल ने 1967 के चतुर्थ आम चुनाव में भाग लिया। लोकसभा में इसने 19 स्थान प्राप्त किये। केरल और प. बंगाल में इस दल को सफलता मिली। केरल में नम्बूद्रीपाद मुख्यमंत्री और पश्चिमी बंगाल में ज्योति बसु उपमुख्यमंत्री बने। इन दोनों ही राज्यों में वस्तुतः मार्क्सवादी साम्यवादी दल ही प्रभुत्ववादी दल था। 1971 के लोकसभा के चुनाव में इसे 25 स्थान प्राप्त हुए। सन् 1972 के चुनाव में पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी साम्यवादी दल को पराजय का सामना करना पड़ा। 1977 के लोकसभा चुनाव में मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने जनता पार्टी के साथ चुनावी समझौता किया, इसके फलस्वरूप इसे 22 स्थान प्राप्त हुए। जून, 1977 में राज्य विधानसभाओं के चुनावों में मार्क्सवादी साम्यवादी दल को पश्चिमी बंगाल में सफलता प्राप्त हुई। इसे विधानसभा में 178 स्थान प्राप्त हुए, जो स्पष्ट बहुमत का परिचायक था। दल के मुख्य स्तम्भ ज्योति बसु के नेतृत्व में संविद सरकार गठित हुई। ज्योति बसु के नेतृत्व में मार्क्सवादी नेतृत्व वाला वामपंथी लोकतान्त्रिक मोर्चा लगातार 1982, 1987, 1991 तथा 1996 में सम्पन्न राज्य विधानसभाओं के चुनाव में बहुमत प्राप्त करने में सफल रहा। इन चारों चुनावों में मार्क्सवादी साम्यवादी दल को राज्य विधानसभा में बहुमत प्राप्त हुआ। चारों ही अवसरों पर ज्योति बसु को वामपंथी लोकतान्त्रिक मोर्चे का नेता निर्वाचित किया गया। 1996 के लोकसभा चुनाव के बाद ज्योति बसु को प्रधानमंत्री बनाने के नाम पर संयुक्त मोर्चे के सभी घटक दलों में आम सहमति थी। अगर ज्योति बसु द्वारा संयुक्त मोर्चे का नेता पद स्वीकार कर लिया जाता तो वे देश के पहले साम्यवादी प्रधानमंत्री बनते, लेकिन बसु ने नेता पद स्वीकार नहीं किया। इस दल को 1998 के बारहवीं लोकसभा के चुनाव में 32 तथा 1999 में तेरहवीं लोकसभा के चुनाव में 33 स्थान प्राप्त हुए। 2004 में चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 44 स्थान प्राप्त हुए।

जनता दल

(Janta Dal)

अक्टूबर, 1998 में जनता दल का गठन, भारतीय राजनीति की एक घटना थी। 1987 में हरियाणा में सत्तारूढ़ होने के बाद मुख्यमंत्री देवीलाल गैर साम्यवादी विपक्ष को संगठित करने के लिए प्रयास करते रहे। इस समय बोफोर्स तोप सौदे और अन्य रक्षा घोटालों में घिरी कांग्रेस (इ) की 'छवि' धूमिल हो रही थी। संसद में और संसद के बाहर विपक्षी दल प्रहार कर रहा था। तत्कालीन रक्षामंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह के कांग्रेस (इ) से त्यागपत्र देने के साथ देश के राजनीतिक पर्यावरण में परिवर्तन हुआ। उनके साथ सांसदों ने कांग्रेस (इ) से अलग होकर 'जनमोर्चे' की स्थापना का

जनता दल (समाजवादी) के लिए अत्यन्त निराशाजनक रहे। इसे लोकसभा में मात्र 5 स्थान ही प्राप्त हुए। प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर तो सफल रहे लेकिन उपप्रधानमंत्री चौधरी देवीलाल सहित अनेक मन्त्री और सांसद चुनाव में पराजित हो गए। उत्तर प्रदेश और हरियाणा विधानसभाओं के चुनाव में भी दल को पराजय का सामना करना पड़ा। जबकि उत्तर प्रदेश में मुलायमसिंह यादव और गुजरात के चिमनभाई पटेल ने अपना सम्बन्ध तोड़ते हुए समाजवादी पार्टी और गुजरात जनता दल का गठन किया। इससे जनता दल (समाजवादी) वास्तविक रूप से हरियाणा तक ही सीमित रह गया। सन् 1996 के लोकसभा चुनाव में जार्ज फर्नांडीस के नेतृत्व वाली समता पार्टी तथा चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली जनता दल (समाजवादी) ने आपस में विलय कर समता पार्टी का गठन किया, लेकिन चुनावों के बाद इस दल में फूट पड़ गई। जहाँ जार्ज फर्नांडीस और नीतिश कुमार के नेतृत्व वाले समता पार्टी के गुट ने भारतीय जनता पार्टी के साथ गठबन्धन किया और वाजपेयी सरकार का समर्थन किया, वहीं चन्द्रशेखर और ओमप्रकाश चौटाला ने इसका समर्थन नहीं किया। इससे समता पार्टी का विभाजन हो गया। 2004 के लोकसभा चुनावों में यह दल महत्वहीन रहा। इसे मात्र 1 स्थान प्राप्त हुआ।

विखण्डन तथा क्षेत्रीयकरण

(Fragmentation and Regionalism)

भारत में तीन प्रकार के क्षेत्रीय दल हैं—पहले वे क्षेत्रीय दल हैं जो वास्तव में जाति, धर्म, क्षेत्र अथवा साम्प्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके प्रमुख उदाहरण—तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, अन्ना द्रमुक, तमिल मनीला काँग्रेस, पंजाब में अकाली दल, जम्मू-कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस, महाराष्ट्र में शिव सेना, बिहार में झारखण्ड पार्टी, आन्ध्र प्रदेश में तेलगूदेशम, असम में असम गण परिषद, मणिपुर में मणिपुर पीपुल्स पार्टी तथा हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी है। दूसरे प्रकार के क्षेत्रीय दल वे हैं जो किसी समस्या विशेष को लेकर अथवा सदस्यों की शत्रुता के कारण राष्ट्रीय दलों से अलग हैं। इनमें से अधिकतर दल कुछ समय के लिए राष्ट्रीय रहे हैं। ऐसे दलों में भारतीय क्रान्ति दल, बंगला काँग्रेस, उत्कल काँग्रेस, केरल काँग्रेस, तेलंगाना प्रजा समिति, विशाल हरियाणा तथा हरियाणा विकास पार्टी इत्यादि दल सम्मिलित किए जा सकते हैं। तीसरे वे दल हैं जो विचारधारा तथा लक्ष्यों के आधार पर तो राष्ट्रीय दल हैं परन्तु उनका समर्थन केवल कुछ लक्ष्यों तथा कुछ मामलों में कुछ क्षेत्रों तक सीमित है। इस प्रकार के दल फारवर्ड ब्लाक, सोशलिस्ट यूनिटी सेन्टर, किसान मजदूर पार्टी, मुस्लिम लीग, क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी इत्यादि हैं। प्रमुख क्षेत्रीय दलों को निम्नानुसार रखा जा सकता है—

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (D M K.)—*तमिलनाडु का द्रविड़ मुनेत्र कड़गम क्षेत्रीय और राज्य-स्तरीय दलों में अपना* प्रभाव रखता है। 1949 में सी. एन. अन्नादुराई ने द्रविड़ कड़गम से अलग होकर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल की स्थापना की जिसका उद्देश्य द्रविड़ परम्परा और संस्कृति की रक्षा करना और तमिल समुदाय को राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावी स्थिति प्रदान करना है। *1965 में सम्पूर्ण मद्रास राज्य का नामकरण (वर्तमान में चेन्नई) हिन्दी विरोध के साथ ही 'राज्यों के लिए* स्वायत्तता' इस दल की नीति एवं कार्यक्रम का आधार रहा है। द्रमुक औद्योगिक लाइसेंस देने की प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन कर, लाइसेंस बाँटने का कार्य राज्यों को देना चाहता है। यह मिश्रित अर्थतन्त्र का समर्थक है और चाहता है कि देश की योजना में *त्रिपक्षीय साझेदारी होनी चाहिए जिसमें सरकार, मालिक और श्रमिक सम्मिलित हों।*

द्रमुक आरोप लगाता रहा है कि दक्षिण की निर्धनता का कारण औद्योगीकरण का सीमित विकास है और इसके लिए उत्तर भारतीय व्यापारियों द्वारा दक्षिण पर आर्थिक नियन्त्रण जिम्मेदार है। द्रमुक ने कई अवसरों पर उत्तर भारत को दक्षिण का शोषण करने वाली साम्राज्यवादी शक्ति की संज्ञा दी और कहा कि केन्द्रीय सरकार दक्षिण के लोगों की आर्थिक स्थिरता के प्रति उदासीन है। इस प्रकार दक्षिण की आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न, उत्तर के राजनीतिक प्रभुत्व से मुक्ति तथा द्रविड़ संस्कृति को आर्य संस्कृति के नियन्त्रण से पृथकता के साथ जोड़ा गया। संकुचित एवं स्थानीय नीतियों का समर्थक होने के कारण दल को तमिलनाडु की जनता का समर्थन प्राप्त रहा है। *1967 में दल ने चौथे राज्य विधानसभा के* चुनावों में विजय प्राप्त कर सी. एन. अन्नादुराई के नेतृत्व में द्रमुक मंत्रिमण्डल ने शपथ ली। इसके बाद द्रमुक ने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए पृथक् 'द्रविड़िस्थान' की माँग को छोड़ दिया। 1967 में राज्य विधानसभा के 234 में से 138 स्थान और लोकसभा के *25 में से 25 स्थान प्राप्त किए। अन्नादुराई की मृत्यु के बाद के. करुणानिधि को मुख्यमंत्री* निर्वाचित किया गया। नवम्बर, 1972 में दल का विभाजन हो गया और एम. जी. रामचन्द्रन ने अन्ना-द्रमुक की स्थापना की। 1967 से 1975 तक इस दल का राजनीति पर वर्चस्व बना रहा। 1975 में तमिलनाडु की द्रमुक सरकार को बर्खास्त करके राष्ट्रपति *शासन लागू किया गया। मार्च, 1977 के छठे लोकसभाई चुनावों में द्रमुक का जनता पार्टी के* साथ गठबन्धन होने के कारण सारी पूर्व सफलताएँ समाप्त हो गईं और उसे केवल 1 ही स्थान प्राप्त हुआ। जून, 1977 में तमिलनाडु विधान सभा के चुनाव हुए और 234 स्थानों में से द्रमुक को केवल 48 स्थान प्राप्त हुए। अन्ना द्रमुक ने द्रमुक को लोकसभा और राज्यसभा दोनों में *गौण स्थिति में ला दिया। 1980 में मध्यावधि लोकसभा चुनावों में द्रमुक*

ने काँग्रेस (इ) के साथ गठबंधन करके अपनी स्थिति में सुधार लाकर 16 स्थान प्राप्त किए। काँग्रेस (इ) को तमिलनाडु में 39 में से 20 स्थान मिले। इससे स्पष्ट हो गया कि तमिलनाडु में किसी राष्ट्रीय दल की अपेक्षा क्षेत्रीय दल का प्रभाव है। मई 1980 में हुए राज्य विधानसभा चुनावों में द्रमुक को पुनः पराजय हुई और दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों में द्रमुक केवल 1 सीट जीत सकी। लोकसभा के चुनावों के साथ ही तमिलनाडु विधानसभा के चुनाव हुए। विधानसभा की 234 सीटों में से द्रमुक केवल 20 सीटें जीत सकी। करुणानिधि प्रभावी व्यक्तित्व के बावजूद पार्टी को जिता नहीं सके। उन्होंने केन्द्र राज्य सम्बन्ध एवं श्रीलंका में तमिलों की दुरावस्था के मसले उठाए, लेकिन मतदाता दोहरी भावुकता के साथ सत्ताधारी दल से जुड़ा रहा। 1988 के बाद द्रमुक 7 दलीय 'राष्ट्रीय मोर्चे' का घटक अंग बन गया। जनवरी, 1989 में तमिलनाडु विधान सभा के चुनाव में द्रमुक को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। एम. करुणानिधि मुख्यमंत्री बने। 1990 में इस दल की सरकार को बर्खास्त किया गया। 1991 में संसदीय और विधानसभा चुनाव में दल का सफाया हो गया। 1993 में विघटन हो गया।

1996 के लोकसभा के चुनाव के पूर्व द्रमुक की स्थिति कमजोर थी, लेकिन मुख्यमंत्री कु. जयललिता की नीतियों के विरुद्ध जनरोष, जी. के. मूपनार के नेतृत्व वाली तमिल मनीला काँग्रेस के साथ गठबन्धन तथा फिल्म अभिनेता रजनीकान्त के द्रमुक और तमिल मनीला काँग्रेस के गठबन्धन को समर्थन देने के कारण राजनीतिक स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आया। तमिलनाडु की जनता ने द्रमुक-तमिलनाडु मनीला काँग्रेस के गठबन्धन को पूर्ण समर्थन दिया। द्रमुक को लोकसभा में 17 स्थान तथा राज्य विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। 234 सदस्यीय राज्य विधानसभा में द्रमुक को अकेले ही 168 स्थान प्राप्त हुए। एम. करुणानिधि के नेतृत्व में राज्य में द्रमुक सरकार सत्तारूढ़ हुई। द्रमुक 1999 से राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार में सहभागी रहा। इसे 1999 में लोकसभा के चुनावों में 12 स्थान प्राप्त हुए। 2004 में हुए चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 15 स्थान प्राप्त हुए।

अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (A.D.M.K.)—अविभाजित द्रमुक (D.M.K.) के अध्यक्ष करुणानिधि और कोषाध्यक्ष एम. जी. रामचन्द्रन के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाने पर नवम्बर, 1972 में रामचन्द्रन ने पृथक् दल अन्ना द्रमुक (A.D.M.K.) का निर्माण किया जिसका पूरा नाम *अखिल भारतीय अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम है। वह क्षेत्रीय दल है जिसका प्रभाव तमिलनाडु और पाण्डिचेरी में है। इस दल की नीति राज्य में सत्तारूढ़ होने और अपने हाथ में सत्ता सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है कि केन्द्र में शासक दल के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाए रखे जाएँ। आपातकाल के दौरान अन्ना द्रमुक श्रीमती गाँधी का समर्थक रहा और जब केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बन गई तो दल ने समर्थन की घोषणा की। अन्ना द्रमुक ने कोई चुनावी घोषणा-पत्र प्रकाशित नहीं किया, लेकिन ग्रामीण महिलाओं और युवकों में दल और उसके नेता रामचन्द्रन की लोकप्रियता रही है। इस कारण तमिलनाडु की राजनीति को 'सिनेमाई राजनीति' कहा जाता है। अन्ना द्रमुक की नीति केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के साथ सहयोग करने की है।* अपनी नीति के अनुसार जून, 1975 से 1976 तक के आपातकाल में उस समय केन्द्र पर सत्तारूढ़ काँग्रेस का तथा जनता पार्टी का तथा बाद में चरणसिंह की मिली-जुली सरकार का समर्थन ही नहीं किया अपितु अन्ना द्रमुक के दो सदस्य के. बाला पजनूर और श्रीमती सत्यावाणी मृधु मन्त्री भी बने। दिसम्बर, 1984 के चुनाव में केन्द्र में सत्तारूढ़ काँग्रेस और अन्ना द्रमुक के बीच सहयोग बना रहा।

मार्च 1977 के लोकसभा चुनावों में जहाँ द्रमुक ने केवल 1 स्थान प्राप्त किया, वहाँ अन्ना द्रमुक ने काँग्रेस के साथ गठबन्धन कर 19 स्थान जीते। जून, 1977 में तमिलनाडु विधानसभा के 234 स्थानों में से द्रमुक ने केवल 48 स्थान जीते, वहाँ अन्ना द्रमुक ने 120 स्थान प्राप्त कर सरकार बनाई। पाण्डिचेरी विधानसभा में 30 में से 14 स्थान अन्ना द्रमुक ने जीते। तमिलनाडु विधानसभा चुनाव में काँग्रेस, अन्ना द्रमुक ने प्रान्तीयता को महत्त्व दिया, फलतः तमिलनाडु की जनता ने सभी नीतियों को अस्वीकृत कर प्रान्तीय दल को ही स्वीकार किया। जनता पार्टी ने विधानसभा की 234 सीटों के लिए 233 उम्मीदवार खड़े किए थे, पर उसे केवल 10 सीटों पर सफलता मिली। काँग्रेस के 198 प्रत्याशियों में से केवल 27 जीते। अन्ना द्रमुक के 200 प्रत्याशियों में से 129 ने विजय प्राप्त की। मत-प्रतिशत को लें तो अन्ना द्रमुक को 37.5, द्रमुक को 21, काँग्रेस को 20 और जनता पार्टी को 10 प्रतिशत के लगभग मत मिले। जनवरी 1980 के आम चुनावों में लोकसभा में अन्ना द्रमुक ने जनता पार्टी के साथ गठबन्धन किया। फलस्वरूप दल को पराजय का सामना करना पड़ा। अन्ना द्रमुक ने केवल 2 स्थानों पर विजय प्राप्त की। वह मार्च 1977 के लाभ को खो बैठी। लोकप्रियता और विजय की दौड़ में द्रमुक ने अन्ना द्रमुक को पछाड़ दिया, लेकिन मई, 1980 में हुए राज्य विधानसभा चुनाव में अन्ना द्रमुक पुनः विजयी हुआ और सरकार बनाई। दिसम्बर, 1984 के आम चुनावों में लोकसभा में अन्ना द्रमुक ने 12 सीटें जीतकर द्रमुक को पुनः परास्त किया। द्रमुक को केवल एक सीट मिली। *राज्य विधानसभा के चुनाव साथ ही हुए जिसमें बहुमत से विजय प्राप्त कर अन्ना द्रमुक ने सरकार बनाई।*

अन्ना द्रमुक का विभाजन—दिसम्बर, 1987 में मुख्यमंत्री एम. जी. रामचन्द्रन के देहावसान के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी के चयन को लेकर *अन्ना द्रमुक में फूट पड़ गई। वी. आर. नेदुन चेझियन को कार्यवाहक मुख्यमंत्री की शपथ दिलाई गई लेकिन उन्हें मुख्यमंत्री के रूप में कार्य नहीं करने दिया गया, अतः श्रीमती जानकी रामचन्द्रन को मुख्यमंत्री के*

अकाली दल—अकाली दल पंजाब का प्रमुख क्षेत्रीय दल तथा सिक्खों का सामाजिक-राजनीतिक संगठन है। इस दल के संस्थापकों में मास्टर तारासिंह, सन्त फतेहसिंह, जस्टिस गुरनामसिंह के नाम हैं। 1960 के दशक के बाद शिरोमणी अकाली दल का विभाजन हो गया और यह अकाली दल मास्टर तारासिंह तथा अकाली दल सन्त फतेहसिंह में विभाजित हो गया। सन्त फतेहसिंह और धन्नासिंह के नेतृत्व में अकाली दल ने पृथक् 'पंजाबी सूबे' के लिए आन्दोलन चलाया। परिणामस्वरूप पंजाब का विभाजन कर पंजाब और हरियाणा नाम के दो अलग-अलग राज्यों का गठन कर चण्डीगढ़ को केन्द्र-शासित प्रदेश का दर्जा दिया गया। 'पंजाबी सूबे' का निर्माण शिरोमणी अकाली दल की उपलब्धि थी।

1967 के आम चुनाव में अकाली दल और भारतीय जनसंघ ने मिलकर चुनाव लड़ा। यह गठबन्धन राज्य विधानसभा में शक्ति के रूप में उभरा। सरदार गुरनामसिंह के नेतृत्व में अकाली दल भारतीय जनसंघ की संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई जिसने राज्य में हिन्दू-सिक्ख एकता की स्थापना की दिशा में कार्य किया। कांग्रेस ने सरकार को अपदस्थ करने के लिए दलबदल का सहारा लिया। इस संविद सरकार के शिक्षा मंत्री डॉ. लक्ष्मणसिंह गिल के नेतृत्व में अनेक अकाली सदस्यों ने विद्रोह करके कांग्रेस के सहयोग से अल्पमतीय सरकार बनाई। यह सरकार दल-बदलुओं की अल्पजीवी सरकार थी। कांग्रेस द्वारा इस सरकार को समर्थन वापस लेने से इस सरकार का पतन हो गया और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1969 में राज्य में मध्यावधि चुनाव सम्पन्न हुए, जिसमें सरदार गुरनामसिंह के नेतृत्व में अकाली दल भारतीय जनसंघ के गठबन्धन को पुनः बहुमत मिला। गुरनामसिंह पुनः मुख्यमंत्री बने, लेकिन उनमें और सन्त फतेहसिंह के बीच मतभेद होने के कारण उन्हें अकाली दल के नेता पद से हटा दिया। उनके स्थान पर प्रकाशसिंह बादल को अकाली दल का नेता निर्वाचित किया गया। उनके नेतृत्व में अकाली दल भारतीय जनसंघ की संविद सरकार कार्य करती रही, लेकिन शीघ्र ही राज्य में सत्ता-समीकरण बदल गया। भारतीय जनसंघ बादल सरकार से अलग हो गई। इस पर कांग्रेस ने बादल सरकार का समर्थन किया, लेकिन यह स्थिति लम्बे समय तक नहीं चली। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1972 के राज्य विधानसभा चुनाव में इन्दिरा कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। अकाली दल को विपक्ष में बैठना पड़ा। जयप्रकाश नारायण द्वारा 1974 में जब बिहार आन्दोलन चलाया गया तो अकाली दल ने उसका समर्थन किया। 1975 में जब आपातकाल की घोषणा हुई तो सभी प्रमुख अकाली नेताओं और कार्यकर्ताओं ने आपातकाल के विरुद्ध संघर्ष किया। फलतः उन सब को जेलों में डाल दिया गया। 1977 के आम-चुनाव में अकाली दल ने जनता पार्टी के साथ चुनावी गठबन्धन किया और केन्द्र में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार बनने पर उसमें शामिल हुआ। जून, 1977 में पंजाब विधानसभा के चुनाव सम्पन्न हुए, जिसमें अकाली दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। प्रकाशसिंह बादल की अकाली दल और जनता पार्टी की संविद सरकार सत्ता में आई जिसने राज्य को स्थिर शासन प्रदान किया। 1980 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इ) ने दो-तिहाई बहुमत प्राप्त किया, परन्तु अकाली दल के समर्थन और आधार में विशेष कमी नहीं आई। जहाँ 1977 में दल ने जनता पार्टी के सहयोग से लोकसभा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये वहाँ 1980 के लोकसभा चुनावों में उसे केवल एक स्थान ही प्राप्त हो सका तथा शेष स्थान कांग्रेस (इ) को प्राप्त हुए।

जून, 1980 के लोकसभा चुनावों में पराजय के बाद अकाली दल कई भागों में बँट गया। मुख्य भाग का नेतृत्व सन्त हरचन्दसिंह लोंगोवाल और पंजाब के पूर्व मुख्यमंत्री प्रकाशसिंह बादल ने किया। दूसरा गुट जगदेवसिंह तलवण्डी के नेतृत्व हुआ। कई विषयों को लेकर उन्होंने पंजाब की कांग्रेस (इ) सरकार तथा भारत सरकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा। अकाली दल ने मुख्य माँगें रखीं—(i) हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान के पंजाबी भाषी इलाके पंजाब में शामिल किए जाएँ, (ii) चण्डीगढ़ को अकेले पंजाब की राजधानी स्वीकृत किया जाए, (iii) भाखड़ा नांगल जैसे विद्युत केन्द्र पंजाब के नियन्त्रण में रहें, (iv) पंजाब में उद्योगों की स्थापना की जाए, (v) गुरुद्वारों की प्रबन्ध समितियों तथा सिक्खों के अन्य धार्मिक मामलों में सरकार हस्तक्षेप न करे। इन माँगों को लेकर अकाली दल ने धरना, प्रदर्शन आदि कार्यवाहियों का ही सहारा नहीं लिया, बल्कि 'रास्ता रोको, रेल रोको,' जैसे आन्दोलन भी चलाए। पंजाब की स्थिति अव्यवस्थित बनती गई और अकाली दल में उग्रवादियों की संख्या तेजी से बढ़ती गई जो 'खालिस्तान' अर्थात् 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सिख राज्य' की स्थापना कर आई। अकाली दल इस प्रयास में था कि 'आनन्दपुर साहब' प्रस्ताव को सरकार मान ले। 11 सितम्बर, 1972 को अकाली दल के सरदार सुरजीतसिंह की अध्यक्षता में एक कमेटी का गठन किया गया जिसने 16 अक्टूबर, 1973 को अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट को ही 'आनन्दपुर साहब का प्रस्ताव' कहा जाता है। उस समय अकाली दल के प्रधान जत्थेदार जगदेवसिंह तलवण्डी थे। अक्टूबर, 1978 में प्रस्ताव को अकाली दल के सचिव सरदार अजमेरसिंह ने प्रकाशित किया। इस बीच हरचन्दसिंह लोंगोवाल ने अलग अकाली दल बना लिया था। दोनों नेताओं में एक-दूसरे से बाजी ले जाने के लिए मुकाबला हो रहा था। सन्त लोंगोवाल ने मजबूर होकर तलवण्डी के आन्दोलन को अपना लिया। अब मुकाबला उनमें और सन्त जरनैलसिंह भिण्डरावाले में होने लगा। पंजाब समस्या को सुलझाने में केन्द्र सरकार ने जो नीतियाँ अपनायीं उससे अकाली दल के नरम भाग निकल कर मामला आतंकवादियों

के हाथ में चला गया और आनन्दपुर साहब प्रस्ताव एक बुनियादी मुद्दा बन गया। आनन्दपुर साहब के प्रस्ताव में जहाँ लिखा है कि अकाली दल सिखों के 'बोल बाला' के लिए संघर्ष करेगा वहाँ यह भी लिखा है कि इसके लिए पंजाबी इलाका होना चाहिए। इसमें वर्तमान में पंजाब के साथ डलहौजी, चन्डीगढ़, पिंजौर, कालका, अम्बाला, ऊना, नालागढ़, जिला करनाल के शाहबाद और गुहला ब्लाक, सिरसा तहसील, टोहाना उप-तहसील, जिला हिसार का रतिया ब्लॉक, राजस्थान के श्रीगंगानगर की 6 तहसील और इसके साथ लगने वाले अन्य पंजाबी भाषी इलाके शामिल किए जाएं।

धीरे-धीरे अकाली दल पर उग्रवादियों का शिकंजा मजबूत होता गया और स्वर्ण मन्दिर सिखों का 'युद्ध मोर्चा' बन गया तथा वहाँ की आतंकवादी गतिविधियों की चुनौती राष्ट्र की अखण्डता को खतरा पैदा हो गया अतः स्वर्ण मन्दिर में जून 1984 में सेना को प्रवेश करना पड़ा और भिण्डरावाले सहित अनेक उग्रवादी मारे गये। इसे 'आपरेशन ब्लू स्टार' कहा गया। पंजाब की समस्या अनसुलझी रही, हिंसा और अराजकता जारी रही और अकाली दल अपनी पुरानी माँगों के साथ-साथ नए-नए मसले उठाता रहा। 31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या उनके सिख अंगरक्षकों द्वारा की गई। उग्रवादी गतिविधियाँ तेजी बढ़ती गईं और अकाली दल आतंकवादियों के सामने बेबस हो गए। अकाली दल के उग्रवादी तत्व नरम तत्वों पर बुरी तरह हावी हो गए। इन उग्रवादी तत्वों का आतंकवादियों से स्पष्ट गठजोड़ था। राजीव सरकार ने पंजाब समस्या को प्राथमिकता दी। मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री अर्जुनसिंह को पंजाब का राज्यपाल बनाया गया और अकाली दल के नेताओं की रिहाई के साथ-साथ एक के बाद एक कदम उठाए गए जिनसे अकाली दल के नरम पंथ को प्रोत्साहन मिला और उग्र पंथ ठण्डा होता गया। आखिर 24 जुलाई, 1985 को पंजाब समस्या के समाधान के लिए प्रधानमंत्री राजीव गाँधी और अकाली नेता हरचन्दसिंह लोंगोवाल के बीच एकमुश्त हस्ताक्षर समझौता सम्पन्न हुआ। 26 जुलाई को अकाली दल ने समझौते पर मोहर लगा कर 'धर्म युद्ध' मोर्चा वापस लेने की घोषणा की, किन्तु 'संयुक्त अकाली दल' और 'अखिल भारतीय सिख छात्र संघ' ने इस समझौते को अस्वीकार कर दिया। दोनों संगठनों को 25 जुलाई, 1985 को अलग-अलग बैठकों में यह निर्णय लिये गये। संयुक्त अकाली दल की बैठक की अध्यक्षता दिवंगत जरनैलसिंह भिण्डरावाले के वृद्ध पिता बाबा जोगेन्द्रसिंह ने की। इस ऐतिहासिक समझौते के बाद सन्त हरचन्दसिंह लोंगोवाल की उग्रवादियों द्वारा हत्या कर दी गई। अकाली दल ने सुरजीतसिंह बरनाला को कार्यवाहक अध्यक्ष बनाकर समझौते पर चलने का निश्चय दोहराया।

दिसम्बर, 1984 में पंजाब के 13 लोकसभा स्थानों के लिए चुनाव नहीं कराए गए थे। पंजाब विधानसभा भंग थी और राज्य में राष्ट्रपति शासन था। पंजाब समस्या पर ऐतिहासिक समझौते के बाद 25 सितम्बर, 1985 को लोकसभा की 13 सीटों तथा पंजाब विधानसभा की 117 सीटों के लिए चुनाव कराए गए। लोकसभा की 13 सीटों में से अकाली दल को 7 एवं काँग्रेस (इ) को 6 सीटें मिलीं। पंजाब विधान सभा की 117 सीटों में से 115 सीटों पर चुनाव में अकाली दल ने 72 सीटों पर विजय प्राप्त कर सुरजीतसिंह बरनाला के मुख्यमन्त्रित्व में अकाली दल की सरकार का गठन किया और पंजाब में राष्ट्रपति शासन का अन्त हो गया। सुरजीतसिंह बरनाला और प्रकाशसिंह बादल के बीच चलने वाले संघर्ष ने अकाली दल (लोंगोवाल) का विभाजन कर दिया। मई, 1987 में राज्यपाल द्वारा सुरजीतसिंह बरनाला मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। इसी बीच अकाली दल के विभिन्न गुटों में एकता स्थापित कर एकीकृत अकाली दल की स्थापना की गई। 9 जुलाई, 1988 को पटियाला में अकाली दल के नजरबन्द अध्यक्ष सिमरनजीतसिंह मान के पिता और पंजाब विधान सभाध्यक्ष जोगेन्द्रसिंह मान को पार्टी का संयोजक बनाया गया। इसके बाद पुनः अकाली दल में फूट पड़ गई। 1989 के लोकसभा चुनाव में अकाली दल (मान गुट) को लोकसभा में 6 स्थान प्राप्त हुए। सिमरनजीतसिंह मान लोकसभा के लिए निर्वाचित हुए, लेकिन उन्होंने अपने को लोकसभा में कृपाण सहित नहीं जाने देने के प्रश्न पर त्यागपत्र दे दिया। 1990 से 1992 के बीच अकाली दल गुटों में विभाजित हो गया। अकाली दल (मान गुट), अकाली दल (लोंगोवाल गुट या बरनाला गुट), अकाली दल (तलवंडी गुट) और अकाली दल (काबुल गुट) जैसे प्रतिद्वन्द्वी गुट सामने आये। 1992 के राज्य विधानसभा चुनाव का अकाली दल (काबुल गुट) को छोड़कर सभी प्रमुख अकाली गुटों ने बहिष्कार किया। इस चुनाव में काँग्रेस (इ) को राज्य से होने वाले लोकसभा और राज्य विधानसभा चुनाव में विजय प्राप्त हुई। अकाली दल अनेक गुटों में विभाजित हो गया। उदारवादी तत्व प्रकाशसिंह बादल के नेतृत्व में संगठित हुए और उनके नेतृत्व वाला दल अकाली दल (बादल) कहलाया। दूसरी ओर उग्रवादी तत्वों का नेतृत्व सिमरनजीतसिंह मान के हाथ में आ गया जिसे अकाली दल (मान) की संज्ञा दी गई। 1996 के लोकसभा चुनाव में प्रकाशसिंह बादल के नेतृत्व में अकाली दल ने भारतीय जनता पार्टी तथा बहुजन समाज पार्टी के साथ चुनावी गठबन्धन किया जिसका परिणाम था, चुनाव में सफलता। 1998 के लोकसभा चुनाव में शिरोमणि अकाली दल (बादल) ने लोकसभा के 8 स्थानों पर विजय प्राप्त की। केन्द्र में यह भारतीय जनता पार्टी का समर्थक दल रहा, जिसने 'विश्वास मत' पर भारतीय जनता पार्टी का समर्थन किया। तेरहवीं लोकसभा में वर्ष 1999 में इस दल को 2 स्थान प्राप्त हुए। वर्ष 2004 में हुए चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 8 स्थान प्राप्त हुए।

तेलगूदेशम—तेलगूदेशम आन्ध्र प्रदेश का क्षेत्रीय दल है। 1893 के राज्य विधानसभा के चुनावों से पूर्व स्थापित क्षेत्रीय दल ने राज्य में जड़ें जमा कर राज्य विधानसभा में बहुमत प्राप्त किया। इस दल की सफलता का मूलाधार इसके संस्थापक नेता और तेलगू फिल्मों में लोकप्रिय कलाकार एन. टी. रामाराव के 'व्यक्तित्व' को जाता था। उन्होंने चुनाव प्रचार कर तेलगू भाषा और संस्कृति को अक्षुण्ण रखने का नारा देकर तेलगू भाषी लोगों में लोकप्रियता प्राप्त की। 1984 के लोकसभा चुनाव में इस दल को कांग्रेस (इ) के बाद सबसे बड़ा दल होने का गौरव प्राप्त हुआ। राज्य विधानसभा के चुनाव में इसने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सत्ता के सूत्र वापस अपने हाथ में ले लिए। 1989 तक यह दल राज्य सत्ता में रहा। 1983 से 1989 तक का समय तेलगूदेशम के चरमोत्कर्ष का काल कहा जा सकता है। इस अवधि में जहाँ इस दल को राज्य के मतदाताओं का उत्तरोत्तर समर्थन प्राप्त होता गया, वहीं इसके नेता एन. टी. रामाराव का व्यक्तित्व ऊँचाइयाँ प्राप्त करता गया और वे विपक्षी राजनीति के मुख्य केन्द्र बिन्दु बन गये। 1984 में लोकसभा में मुख्य विपक्षी दल का दर्जा प्राप्त करके तेलगूदेशम ने सारे देश का ध्यान आकर्षित किया। इस बीच राज्यपाल रामलाल द्वारा एन. टी. रामाराव को मुख्यमंत्री पद से बर्खास्त करके, नान्देला भास्करराव को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त करने के निर्णय का देश-व्यापी विरोध हुआ, फलतः रामलाल ने राज्यपाल पद से त्यागपत्र दे दिया। डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने एन. टी. रामाराव को पुनः मुख्यमंत्री बना दिया।

1989 के लोकसभा के चुनाव में राज्य के मतदाताओं ने तेलगूदेशम के इस सुदृढ़ गढ़ को ध्वस्त कर दिया। इसे राज्य में मात्र 2 स्थान प्राप्त हुए। राज्य विधानसभा के चुनाव लोकसभा चुनाव के साथ ही सम्पन्न हुए। इसमें तेलगूदेशम को पराजय का सामना करना पड़ा। कांग्रेस (इ) पुनः सत्ता में आई। 1991 के लोकसभा चुनाव में तेलगूदेशम को 13 स्थान प्राप्त हुए, लेकिन इसके सदस्यों के दल-बदल कर कांग्रेस (इ) में शामिल होने से इस दल की शक्ति में कमी आई। इसके अलावा एन. टी. रामाराव के 'विवाह प्रकरण' से इस दल की प्रतिष्ठा में कमी आई। 1994 के राज्य विधानसभा चुनाव में सम्पर्कत एन. टी. रामाराव के नेतृत्व में तेलगूदेशम को राज्य विधानसभा में बहुमत प्राप्त हुआ और उन्होंने मुख्यमंत्री के रूप में शपथ ली, लेकिन उनकी पत्नी लक्ष्मी पार्वती की भूमिका से रुष्ट होकर उनके दामाद एन. चन्द्रबाबू नायडू के नेतृत्व में बड़ी संख्या में विधायकों ने उनके प्रति विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप रामाराव सरकार अल्पमत में रह गई। रामाराव को मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। इस सदमे को वे सहन नहीं कर सके अन्ततः उनका देहावसान हो गया। इसके साथ ही राज्य की राजनीति से अन्त हो गया। 1998 की लोकसभा में इसके 12 सदस्य निर्वाचित हुए। 1999 में तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल के 29 सदस्य चुने गये। 2004 में गठित चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 5 स्थान प्राप्त हुए।

तेलगूदेशम (नायडू)—1995 में चन्द्रबाबू नायडू के नेतृत्व में आन्ध्र प्रदेश में तेलगूदेशम के अधिसंख्यक विधायकों ने एन. टी. रामाराव से विद्रोह करके उन्हें सत्ता से अपदस्थ कर दिया। एन. चन्द्रबाबू नायडू ने राज्य के मुख्यमंत्री पद की शपथ ली। एन. टी. रामाराव के देहावसान के बाद तेलगूदेशम (नायडू) ही वास्तविक शक्ति बनकर उभरी। यद्यपि रामाराव की विधवा पत्नी लक्ष्मी पार्वती ने चन्द्रबाबू नायडू का विरोध जारी रखा। सन् 1996 के लोकसभा चुनाव में चन्द्रबाबू नायडू के नेतृत्व में तेलगूदेशम को 16 स्थान प्राप्त हुए। इसने ही इसे वास्तविक तेलगूदेशम दल सिद्ध कर दिया। इस विजय ने चन्द्रबाबू नायडू का राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्व अधिक बढ़ा दिया। केन्द्र में संयुक्त मोर्चे की सरकार को सत्तारूढ़ करने में चन्द्रबाबू नायडू की भूमिका रही है। बारहवीं लोकसभा में 1998 के चुनावों में तेलगूदेशम के 12 सदस्य थे। तेरहवीं लोकसभा में तेलगूदेशम को 29 स्थान मिले तथा उनमें से एक जी. एम. सी. बालयोगी लोकसभा के अध्यक्ष रहे। चौदहवीं लोकसभा के मई, 2004 में प्राप्त हुए परिणामों में इस दल की निराशा जनक स्थिति रही।

समाजवादी पार्टी—अक्टूबर, 1992 में मुलायमसिंह यादव ने जनता दल (समाजवादी पार्टी) से अलग होकर 'समाजवादी पार्टी' नामक क्षेत्रीय दल का गठन किया। मुलायमसिंह ने मुसलमानों, पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों, जाटों और गुर्जरों जैसी जातियों में जनाधार विस्तृत किया। अपने को चौधरी चरणसिंह का वास्तविक उत्तराधिकारी और 'मानसपुत्र' बता कर जनता दल (अजीत) के समर्थक वर्ग को आकृष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने अल्पसंख्यकों को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन देकर मुस्लिम मतों के आधार पर राजनीति करने वाले इमामों की फतवा राजनीति का विरोध किया। कांशीराम के नेतृत्व वाली बहुजन समाज पार्टी के साथ गठबन्धन करके समाजवादी पार्टी राज्य की सबसे मजबूत 'राजनीतिक शक्ति' बनकर सामने आई। सन् 1993 के राज्य विधानसभा चुनाव के समय अपने दल का चुनावी घोषणा-पत्र जारी करते हुए मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने, सत्ता में आते ही नकल विरोधी कानून को रद्द करने, अयोध्या प्रकरण का शान्तिपूर्ण समाधान करने तथा साम्प्रदायिक सौहार्द कायम रखने, बिक्रीकर को समाप्त करने तथा साम्प्रदायिक दंगा होने की स्थिति में सम्बन्धित जिले के कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक को उत्तरदायी बनाने जैसे मुद्दों को दोहराया गया। चुनाव परिणाम में समाजवादी दल और बहुजन समाज पार्टी (सपा-बसपा) गठबन्धन को स्पष्ट बहुमत तो प्राप्त नहीं हुआ, लेकिन 171 स्थान प्राप्त दूसरे स्थान पर रहा। कांग्रेस (इ), जनता दल और निर्दलीय सदस्यों द्वारा बिना शर्त गठबन्धन का समर्थन करने की घोषणा के साथ ही मुलायम सिंह मुख्यमंत्री बने। दिसम्बर, 1993 में मुलायम सिंह के नेतृत्व में सपा-बसपा की संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई जो लम्बे समय तक नहीं चल सकी। बसपा द्वारा मुलायम सिंह सरकार का

समर्थन वापस लेने के कारण उनकी सरकार का पतन हो गया। इसके बावजूद मुलायमसिंह यादव राज्य में अपना जनाधार सुदृढ़ करने की दृष्टि से धुंआधार दौरे करते रहे। 1996 के लोकसभा चुनाव में मुलायम सिंह के नेतृत्व में समाजवादी पार्टी को 17 स्थान प्राप्त हुए तथा 1998 में 20 स्थान प्राप्त हुए। निस्सन्देह समाजवादी पार्टी उत्तर प्रदेश की राजनीतिक शक्ति है। 1999 में हुए तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 26 स्थान प्राप्त हुए। चौदहवीं लोकसभा के मई, 2004 में प्राप्त हुए परिणामों में इस दल को 35 स्थान मिले।

बहुजन समाज पार्टी—14 अप्रैल, 1984 को कांशीराम द्वारा बहुजन समाज पार्टी की स्थापना की गई। इस दल का वर्तमान में न तो कोई संविधान हो है और न कोई औपचारिक संगठन ही है। कांशीराम को छोड़कर न तो दल में कोई प्रभावशाली नेता ही है और न ही कोई प्रादेशिक नेता ही। सारा दल कांशीराम के व्यक्तित्व पर आधारित है। जहाँ तक बहुजन समाज पार्टी (बसपा) की नीतियों और कार्यक्रम का सम्बन्ध है यह बनिया, राजपूत और ब्राह्मणवाद का विरोध, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण तथा 'मनी' (धन), माफिया और मीडिया के विरोध करने के कार्यक्रम पर आधारित है। इसके आलोचक बसपा पर जातिवादी राजनीति करने का आरोप लगाते हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पंजाब इसके प्रमुख प्रभाव क्षेत्र हैं।

1989 के लोकसभा चुनाव में बसपा को 3 स्थान प्राप्त हुए, वहाँ 1991 के लोकसभा चुनाव में इस दल को मात्र 11 स्थान प्राप्त हुए। इसके बाद 1993 के राज्य विधानसभा चुनावों में उत्तर प्रदेश में 67 स्थानों पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति में वृद्धि की। बसपा के सदस्यों ने मुलायमसिंह मन्त्रिमण्डल में भाग लिया, लेकिन दल की महासचिव सुश्री मायावती और तत्कालीन मुख्यमंत्री मुलायमसिंह के बीच की राजनीतिक प्रतिद्वन्दिता ने बसपा को यादव के नेतृत्व वाले मन्त्रिमण्डल से समर्थन वापस लेने के लिए बाध्य किया। बाद में सुश्री मायावती भारतीय जनता पार्टी के समर्थन से उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनीं, लेकिन जून 1995 में भारतीय जनता पार्टी ने मायावती की कार्य-शैली तथा उत्तेजक बयानों से नाराज होकर इस सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। इस पर मायावती ने मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। राज्य में विधानसभा को भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। 1996 के लोकसभा चुनाव में बसपा को 11 स्थान प्राप्त हुए और दल के अध्यक्ष कांशीराम विजयी हुए। कांशीराम के नेतृत्व में बसपा ने विश्वास मत के समय अटलबिहारी वाजपेयी और एच डी. देवेगौड़ा का विरोध किया। 1998 के लोकसभा चुनावों में पार्टी ने 5 स्थान प्राप्त किए। 1999 में तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 14 स्थान प्राप्त हुए हैं। मई, 2004 में प्राप्त चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल ने 20 स्थान किये।

नेशनल कॉन्फ्रेंस—नेशनल कॉन्फ्रेंस जम्मू-कश्मीर का मुख्य क्षेत्रीय दल है। इसकी स्थापना कश्मीर के लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला द्वारा की गई थी। इसकी नीतियों और कार्यक्रमों में जम्मू-कश्मीर में संविधान के अनुच्छेद 370 को बनाये रखने, भारतीय संघ में विलय को अन्तिम मानने और इसे भारत का अभिन्न अंग मानने, धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को मुख्य रूप से शामिल कर सकते हैं। इसके नेता शेख अब्दुल्ला का राजनीतिक इतिहास अनेक उतार-चढ़ावों से भरा हुआ है। 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी और उनके बीच समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इसके आधार पर कांग्रेस के मुख्यमंत्री सैयद मीर कासिम ने शेख अब्दुल्ला के लिए मुख्यमंत्री का पद खाली कर दिया। शेख अब्दुल्ला राज्य के मुख्यमंत्री बने। इसके बाद कांग्रेस और उनके सम्बन्ध बिगड़ गये। कांग्रेस ने समर्थन वापस ले लिया। 1977 में मुख्यमंत्री शेख अब्दुल्ला की सलाह पर राज्यपाल एल. के. झा ने राज्य विधानसभा को भंग कर पुनः निर्वाचन करवाया। राज्य में नेशनल कॉन्फ्रेंस की एकदलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई। इसके बाद राज्य में कांग्रेस (इ) कभी अपनी एक दलीय सरकार बनाने में सफल नहीं हुई। शेख अब्दुल्ला के देहावसान के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र डॉ. फारूख अब्दुल्ला को दल का नेता निर्वाचित किया गया। वे राज्य के मुख्यमंत्री बने, लेकिन इससे नेशनल कॉन्फ्रेंस में सत्ता संघर्ष प्रारम्भ हो गया। डॉ. फारूख अब्दुल्ला और उनके बहनोई गुलाम मोहम्मद शाह के बीच संघर्ष चलता रहा। डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने राष्ट्रीय राजनीति में कांग्रेस (इ) के विरुद्ध विपक्षी दलों को समर्थन देने की नीति अपनाई। श्रीनगर में विपक्षी दलों का सम्मेलन आयोजित हुआ। इससे कांग्रेस (इ) का रुष्ट होना ही था। 1984 में कांग्रेस (इ) की शह से राज्य में दलबदल कराया गया। गुलाम मोहम्मद शाह के नेतृत्व में विधायकों ने नेशनल कॉन्फ्रेंस छोड़ते हुए नेशनल कॉन्फ्रेंस (खालिदा) के गठन की घोषणा की। इससे फारूख मन्त्रिमण्डल अल्पमत में आ गया। मुख्यमंत्री डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने राज्यपाल जगमोहन से राज्य विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर बहुमत सिद्ध करने का अनुरोध किया, लेकिन राज्यपाल ने ऐसा करने के स्थान पर फारूख अब्दुल्ला को बर्खास्त करके गुलाम मोहम्मद शाह को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त किया जिसकी देशव्यापी निन्दा हुई। साम्यवादी, गैर साम्यवादी, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों ने केन्द्र के इस कदम का विरोध किया। इसके बाद डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कॉन्फ्रेंस ने गुलाम मोहम्मद शाह के नेतृत्व वाली अल्पमतीय सरकार को हटाने का प्रयास किया। इस बीच राजीव गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) और नेशनल कॉन्फ्रेंस के बीच मतभेदों को कम करने के प्रयास किये जाते रहे। केन्द्रीय मन्त्री राजेश पायलट ने इसमें मुख्य भूमिका का निर्वाह किया। इससे नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस (इ) में गठबन्धन बनने का आधार बना। इसके आधार पर ही 1986 में राज्यपाल जगमोहन द्वारा गुलाम

मोहम्मद शाह के नेतृत्व वाली अल्पमतीय सरकार को बर्खास्त कर विधानसभा को भंग किया गया। इसके बाद राज्य विधानसभा के लिए हुए चुनाव में डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस (इ) गठबन्धन ने तीन-चौथाई बहुमत प्राप्त किया। फलतः उनके नेतृत्व में नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस (इ) की संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई। इसके पूर्व जम्मू-कश्मीर में राजीव और डॉ. फारूख अब्दुल्ला के बीच समझौता हुआ। 1989 में केन्द्र में सत्ता-परिवर्तन हुआ। विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हुई। इस सरकार ने जगमोहन की राज्यपाल पद पर नियुक्ति की। इसके विरोध में डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली संविद सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद से राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू रहा है। सितम्बर, 1996 में जम्मू-कश्मीर में विधानसभा के चुनाव सम्पन्न हुए। नेशनल कॉन्फ्रेंस के नेता डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में सरकार कार्यरत है। 1999 की तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 4 स्थान प्राप्त हुए। मई, 2004 में प्राप्त चौदहवीं लोकसभा के चुनाव परिणामों में इस दल ने 2 स्थान मिले।

असम गण परिषद (अगप)—असम गण परिषद असम का क्षेत्रीय दल है। असम से विदेशियों को निष्कासित करने के लिए अखिल असम छात्र संघ और असम गण संग्राम परिषद के तत्वावधान में एक प्रबल जन-आन्दोलन चलाया गया। देश के गैर साम्यवादी विपक्षी दलों तथा जनता द्वारा आन्दोलन को समर्थन देने से आन्दोलन के प्रति ध्यान आकर्षित हुआ। राज्य में बन्द का आयोजन करना इस आन्दोलन के प्रमुख अंग थे। अन्त में 1985 में राजीव गाँधी और असम के आन्दोलनकारियों के बीच 'असम समझौता' हुआ जिसके अन्तर्गत राज्य विधानसभा को भंग कर नये चुनाव कराये जाने की व्यवस्था थी। इस पर हितेश्वर सैकिया के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) की सरकार द्वारा त्यागपत्र दे दिया गया। इससे राज्य विधानसभा के निर्वाचन होने का मार्ग प्रशस्त हुआ। अखिल असम छात्रसंघ और अखिल असम गण परिषद ने अपना विलय करते हुए 'असम गण परिषद' (अगप) के रूप में संगठित किया। इस दल को राज्य विधानसभा में समर्थन प्राप्त हुआ। प्रफुल्लकुमार महन्त को असम गण परिषद का नेता निर्वाचित किये जाने पर मुख्यमंत्री बनाया गया। वे देश में सबसे कम आयु के मुख्यमंत्री बने, साथ ही दल के अध्यक्ष भी बने रहे। असम गण परिषद की नीतियों में असम की सांस्कृतिक विरासत और धरोहर की सुरक्षा और राज्य में अवैध रूप से आये विदेशियों की पहचान करके उन्हें बाहर निकालने तथा राज्य का विकास करने जैसे मुद्दे शामिल थे। सत्तारूढ़ होने के बाद असम गण परिषद में अन्तर्कलह और गुटबन्दी की स्थिति चलती रही। यह मुख्यमंत्री प्रफुल्लकुमार महन्त और गृहमंत्री भृगुकुमार फूकन के नेतृत्व में दो प्रतिद्वन्द्वी गुटों में विभाजित हो गई। इससे जहाँ दल में गुटबाजी और अनुशासनहीनता की घटनाएँ घटित हुई, वहीं सरकार की कार्य-शैली के कारण जनता में दल की छवि गिरी। राष्ट्रीय राजनीति में असम गण परिषद ने राष्ट्रीय मोर्चे के साथ अपने को सम्बद्ध कर लिया। विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार में दिनेश गोस्वामी दल के मंत्री रहे। नवम्बर, 1990 में चन्द्रशेखर के नेतृत्व में जनता दल (समाजवादी) की सरकार ने प्रफुल्लकुमार महन्त के नेतृत्व वाले मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। इसके पश्चात् दल का विभाजन हो गया। भृगुकुमार फूकन के समर्थकों ने महन्त के नेतृत्व को अस्वीकार करते हुए अलग से नये दल का गठन किया। सन् 1991 के राज्य विधानसभा और लोकसभा के चुनाव में असम गण परिषद की भारी पराजय हुई। इस चुनाव के बाद इस दल ने राष्ट्रीय मोर्चे से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। असम गण परिषद ने राज्य में सशक्त विपक्ष की भूमिका को बनाये रखा। 1996 में लोकसभा के चुनाव के साथ ही राज्य विधानसभा के निर्वाचन सम्पन्न हुए। तत्कालीन मुख्यमंत्री और कांग्रेस (इ) नेता हितेश्वर सैकिया के देहावसान के कारण राज्य में कांग्रेस को आघात लगा। 126 सदस्यीय राज्य विधानसभा में असम गण परिषद को 59 स्थान प्राप्त हुए। प्रफुल्लकुमार महन्त ने राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ ली। असम गण परिषद केन्द्र में गठित संयुक्त मोर्चे का एक अभिन्न अंग रही। चौदहवीं लोकसभा में मई, २००४ को प्राप्त हुए परिणामों में इस दल को 3 स्थान प्राप्त हुए।

शिवसेना—शिवसेना महाराष्ट्र का एक क्षेत्रीय दल है। बाल ठाकरे इसके संस्थापक हैं। प्रारम्भ में शिवसेना ने 'महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिए है' का नारा लगाकर गैर महाराष्ट्रियों में दहशत उत्पन्न कर दी थी। बाद में शिवसेना के नजरिये में परिवर्तन हुआ और इसने राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में सोच विकसित करके इस नारे का व्यवहार में परित्याग कर दिया। शिवसेना 'हिन्दुत्व विचारधारा' की कट्टर समर्थक है। सन् 1989 से इस दल और भारतीय जनता पार्टी के बीच चुनावी गठबन्धन है। 1995 के महाराष्ट्र के सम्पन्न हुए चुनाव में शिवसेना-भारतीय जनता पार्टी के गठबन्धन ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया। शिवसेना के नेता मनोहर जोशी को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई गई। राज्य में पहला अवसर था कि शिवसेना का कोई व्यक्ति मुख्यमंत्री बना हो। इससे शिवसेना की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। 1996 के लोकसभा चुनाव में शिवसेना ने महाराष्ट्र में 15 स्थानों पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति में वृद्धि की। इस दल को 1998 की बारहवीं लोकसभा के चुनावों में 6 तथा 1999 में तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में 15 स्थान प्राप्त हुए हैं। चौदहवीं लोकसभा के अप्रैल-मई, 2004 के चुनावों में इस दल को 12 स्थान प्राप्त हुए।

हरियाणा विकास पार्टी—हरियाणा विकास पार्टी हरियाणा का प्रमुख क्षेत्रीय दल है। चौधरी बंसीलाल इसके संस्थापक हैं। सन् 1996 में लोकसभा के साथ-साथ हरियाणा विधानसभा के निर्वाचन सम्पन्न हुए। इन चुनावों में हरियाणा विकास पार्टी ने भारतीय जनता पार्टी के साथ चुनावी गठबन्धन किया। चौधरी बंसीलाल के नेतृत्व में इस गठबन्धन ने 90 सदस्यीय सदन में 44 स्थान प्राप्त किये। बंसीलाल को राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई। फरवरी 2000 के विधानसभा निर्वाचन में हरियाणा विकास पार्टी की पराजय हुई तथा ओमप्रकाश चौटाला मुख्यमंत्री बने।

तमिल मनीला काँग्रेस—यह तमिलनाडु का प्रमुख क्षेत्रीय दल है। 1996 के लोकसभा चुनाव में पूर्व प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिम्हाराव द्वारा काँग्रेस (I) के अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक के साथ चुनावी गठबन्धन करने के निर्णय से रुष्ट होकर जी. के. मूपनार, पी. चिदम्बरम् तथा एम. अरुणाचलम् के नेतृत्व में राज्य के अनेक काँग्रेसजनों ने काँग्रेस (I) से त्यागपत्र देकर 'तमिल मनीला काँग्रेस' नाम से एक क्षेत्रीय दल का गठन किया। इस दल ने द्रमुक के साथ चुनावी गठबन्धन किया। इस दल को लोकसभा में 20 तथा राज्य विधानसभा में 39 स्थान प्राप्त हुए। केन्द्र में संयुक्त मोर्चे की सरकार को सत्तारूढ़ करने में इस दल की अहम भूमिका रही थी। वर्तमान में इस दल की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर है।

अन्य क्षेत्रीय दल—अन्य मुख्य क्षेत्रीय दलों में बिहार में झारखण्ड पार्टी, मणिपुर में मणिपुर पीपुल्स पार्टी, मिजोरम में मिजो नेशनल फ्रन्ट, नागालैण्ड में नागा नेशनल फ्रन्ट, असम में प्लेन्स ट्राइबल्स काउन्सिल, सिक्किम में सिक्किम संग्राम परिषद्, त्रिपुरा में त्रिपुरा उपजाति संघ, महाराष्ट्र में पीजेन्ट एण्ड वर्कर्स पार्टी, गोवा दमन एवं दीव में महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी, केरल में केरल काँग्रेस (मणि गुट और मुस्लिम लीग) और मेघालय में आल पार्टी हिल लीडर्स कॉन्फ्रेंस, हिल स्टेट यूनियन, हिल स्टेट पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी के नाम गिनाये जा सकते हैं।

सात क्षेत्रीय दलों की मान्यता समाप्त—29 जून 2000 को चुनाव आयोग ने अधिसूचना जारी करके हरियाणा विकास पार्टी और पूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर की समाजवादी जनता पार्टी (राष्ट्रीय) समेत सात पार्टियों की क्षेत्रीय दलों के रूप में मान्यता समाप्त कर दी थी।

भारत में विपक्ष की भूमिका
(Role of Opposition in India)

भारतीय लोकतन्त्र का दुर्भाग्य ही है कि देश में चौदह संसदीय निर्वाचनों के सम्पन्न होने के पश्चात् अब भी सशक्त विपक्ष विकास के क्रम में है। सन् 1967 के आम चुनावों के बाद विभिन्न राज्यों में सत्ता में आई संविद सरकारें, केन्द्र में जनता शासन के 1977-79 का काल 1989 से 1990 तथा 1996 से आज तक के काल को छोड़कर देश में काँग्रेस का शासन रहा। ग्यारहवीं लोकसभा के चुनाव के बाद काँग्रेस (I) का शासन समाप्त हुआ। समय-समय पर देश में काँग्रेस और काँग्रेस (I) को चुनौती देने के लिए विपक्षी दलों के मोर्चे संगठित होते रहे हैं। ऐसे मोर्चों को, साम्यवादी तथा गैर साम्यवादी, दोनों ही रूपों में रखा जा सकता है। साम्यवादी दलों के मोर्चों में मार्क्सवादी दल के नेतृत्व में गठित वामपंथी लोकतान्त्रिक मोर्चा प्रमुख है, जो पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा और केरल में कार्य करता रहा है। वर्तमान में राष्ट्रीय स्तर पर मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेतृत्व में भारतीय साम्यवादी दल, आर. एस. पी. और फारवर्ड ब्लॉक का 'वामपंथी मोर्चा' अस्तित्व में है। यह संसद में और संसद के बाहर कार्य कर रहा है लेकिन इसका प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। यह पश्चिमी बंगाल, बिहार, केरल और त्रिपुरा में ही प्रभावशाली है। अप्रैल-मई 2004 के लोकसभा चुनावों के बाद बीजेपी के नेतृत्व वाला राजग विपक्षी की भूमिका में आ गया।

गैर-साम्यवादी दलों के मोर्चे—गैर साम्यवादी दलों ने भी काँग्रेस को चुनौती देने के लिए अनेक मोर्चे बनाये। राष्ट्रीय स्तर पर 1971 में स्थापित संगठन काँग्रेस, भारतीय जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी का 'चौगुटा' (Grand Alliance), 1977 के चुनाव के समय स्थापित की गई जनता पार्टी, लोकदल और भारतीय जनता पार्टी का लोकतान्त्रिक गठबन्धन तथा राष्ट्रीय मोर्चे हैं। समय-समय पर राज्य स्तर पर अनेक मोर्चे गठित किये गये। इनमें पंजाब में अकाली दल और भारतीय जनसंघ का संयुक्त मोर्चा, उड़ीसा में स्वतन्त्र पार्टी का संयुक्त मोर्चा, तमिलनाडु में द्रमुक एवं मनीला काँग्रेस, महाराष्ट्र में शिवसेना एवं भारतीय जनता पार्टी का गठजोड़, असम में असम गण परिषद तथा वामपंथी दलों का गठबन्धन, हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी तथा भारतीय जनता पार्टी के गठबन्धन को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

भारत में आज तक स्वस्थ और शक्तिशाली विपक्ष का विकास नहीं हो सका है, इसके लिए निम्नलिखित कारणों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है—

1. अंग्रेजों से सत्ता भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस को प्राप्त हुई थी और वह राजनीतिक दल के रूप में बनी रही। यद्यपि गाँधीजी ने काँग्रेस के राजनीतिक स्वरूप को समाप्त करना चाहा था, तथापि स्वार्थ की राजनीति तथा सत्ता की

लोलुपता ने गाँधीजी का मत नहीं माना। भारत की जनता काँग्रेस, जो स्वतन्त्रता से पहले राष्ट्रीय आन्दोलन था और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो राजनीतिक दल बना, उसके अन्तर को नहीं समझ सकी। चुनावों में काँग्रेस को इसका लाभ मिलता रहा है।

2. काँग्रेस ने शक्तिशाली राजनीतिक संगठन के रूप में, सत्ता के चमत्कार से, विरोधी पक्ष को चकाचौंध कर दिया और सत्ता के आकर्षण में विरोधी पक्ष के बहुत-से सदस्य काँग्रेस में आ गए। इस प्रकार स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद काँग्रेस की छत्रछाया में प्रत्येक विचारधारा के लोग एकत्रित हुए। काँग्रेस के भीतर समाजवादी, साम्यवादी राष्ट्रवादी थे और काँग्रेस की नीतियाँ सबके मन्थन से तय होती थीं। अतः जो कार्य विपक्ष को करना था, वह काँग्रेस के भीतर विद्यमान विरोध पूरा करता रहा है।

3. काँग्रेस के बाहर जो राजनीतिक दल थे, वे छोटे छोटे भागों में विभाजित रहे हैं जो स्वयं ही एक-दूसरे का विरोध करते रहे हैं और एक छत्रछाया में आने को भी तैयार नहीं होते हैं। विपक्ष की स्थिति का लाभ सत्तारूढ़ दल को मिलता रहा है।

4. विपक्ष का विकास धीमा एवं प्रभावहीन रहने के कारण विभिन्न दलों की समान प्रवृत्ति है। अधिकांशतः विभिन्न दलों का नेतृत्व वही लोग कर रहे हैं जो कभी काँग्रेस में थे और शीर्षस्थ नेताओं में मतभेद के कारण वे विपक्ष में चले गए हैं। ऐसा विपक्ष लोकतन्त्र की जिम्मेदारी को निभाने की बजाय अपना समय सीटों की हेराफेरी में व्यतीत कर देता है या जाति और उपजाति की 'अपील' की तलाश में समस्त विपक्ष को ब्लैकमेल करता रहता है।

5. धन और प्रभाव की राजनीति सत्तारूढ़ दल को प्रभावशाली और विपक्ष को कमजोर बना रही है। चुनावों के समय जब मन्त्रियों के साथ वरिष्ठ शासन अधिकारी घूमते हैं तो इसका प्रभाव मतदाताओं पर पड़ता है, विशेषकर तब जबकि राज्य में वही दल सत्तारूढ़ है जो केन्द्र में है। सत्तारूढ़ दल के सदस्य नियमों के बाहर अपने समर्थकों का कार्य करने में सफल हो जाते हैं जबकि विपक्ष के सही कार्यों में नित्य नई बाधा उपस्थित होती है।

6. स्वस्थ विपक्ष के मार्ग में आने वाली रुकावट 'धन की शक्ति' है जो सत्तारूढ़ दल के पास अपेक्षाकृत अधिक होती है। उसे विपक्ष की तुलना में खुले हाथ से चन्दा प्रदान कर बदले में अनियमित परमिट, लाइसेंस और ठेके आदि लिए जाते रहे हैं।

7. विपक्ष को प्रभावहीन बनाने में देश की वर्तमान चुनाव प्रणाली सहायक रही है, जिसके द्वारा काँग्रेस अल्पमतों पर सत्तारूढ़ होती रही।

8. इन सभी का यह अर्थ नहीं है कि विपक्ष दुर्बल एवं प्रभावहीन स्थिति के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं है। विपक्ष के पास रचनात्मक विचारधारा एवं कार्यक्रम का अभाव रहा है। विपक्षी मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए सस्ती लोकप्रियता के साधनों को अपनाते हैं साथ ही संसद के भीतर एवं बाहर ही तमाशा करने, शोरगुल करने छींटाकशी करने में ही अधिक दिलचस्पी लेते हैं।

स्वस्थ विपक्ष के विकास के लिए सुझाव

1. विपक्ष को देश की महत्वपूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक मामलों की जानकारी मिलनी चाहिए, जिससे उन मामलों पर मार्ग निर्देशन कर स्वस्थ एवं प्रबुद्ध जनमत तैयार कर सके। अमेरिका में 'वाटरगेट काण्ड' का भण्डाफोड़ प्रेस की स्वतन्त्रता के कारण ही सम्भव हो सका था।

2. निर्वाचनों में धन का अधिक व्यय जनता को भ्रम में डालता है। चुनावों में लाखों रुपये खर्च करना, फिर कई गुना अधिक कमाना राजनीति का एक मात्र सिद्धान्त बन चुका है। निर्वाचन सम्बन्धी व्यय सरकार द्वारा उठाकर या राजनीतिक दलों को उनकी प्रतिनिधित्व शक्ति के आधार पर निर्वाचन व्यय के लिए आर्थिक सहायता देकर किया जा सकता है।

3. द्विदलीय प्रणाली के विकास के लिए प्रयास किया जाए। समान विचारधारा वाले दलों का ध्रुवीकरण होना चाहिए। राष्ट्रीय दल होने के लिए मापदण्ड में परिवर्तन करके दलों की संख्या कम की जा सकती है।

4. विपक्षी दलों को सुस्पष्ट कार्यक्रम और विचारधारा के आधार पर मिलकर एक हो जाना चाहिए।

5. दल-बदल का सहारा लेकर विपक्ष को शक्ति को कमजोर नहीं करना चाहिये।

6. विपक्ष को अपने दृष्टिकोण एवं महत्त्वाकांक्षा में परिवर्तन लाना होगा। 'विरोध के लिए राजनीति को छोड़कर' उत्तरदायी सहयोग की नीति को अपनाना चाहिए। सदन की कार्यवाही को रोककर प्रदर्शित किया गया विरोध जहाँ घातक और नकारात्मक है वहीं घोर प्रतिक्रियावादी विध्वंसक एवं लोकतन्त्र विरोधी भी है।

दबाव समूह

(Pressure Groups)

राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। आधुनिक काल में दबाव तथा हित समूहों को लोकतन्त्र का पथप्रदर्शक एवं सहयोगी माना जाता है। वर्तमान में दबाव समूह ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं और राजनीतिक शक्ति के स्वरूप को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक दल न होते हुए भी वे दलों की भाँति शक्ति-संगठन हैं जिनकी सदस्यता, उद्देश्य, एकता, प्रतिष्ठा और साधन होते हैं। सामान्यतः द्वि-दलीय व्यवस्था में ये अधिक उग्र और शक्ति-सम्पन्न रहते हैं, बहुदलीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों का आकार इतना छोटा और स्थानीय हो जाता है कि वे खुद दबाव समूहों से लगते हैं। आधुनिक दबाव समूह वस्तुतः औद्योगिक युग की देन हैं। इनके सदस्य विशिष्ट हित-सम्पन्न फर्मों, मण्डलों, संयुक्त कम्पनियों, विविध उद्योगों आदि के ऐसे अभिकर्ता होते हैं जो विविध तरीके अपनाकर विधायकों को अपने पक्ष में करते हैं। इसी कारण लोग इन दबाव समूहों को प्रशासन का केन्द्र कहते हैं। अमेरिका में दबाव-समूहों के प्रतिनिधियों को 'लॉबिइस्ट' (Lobbyists) कहा जाता है। प्रत्येक व्यवस्थापिका सदन के साथ लगे हुए कमरे अथवा बरामदे को 'लॉबी' (Lobby) अर्थात् 'प्रकोष्ठ' कहा जाता है जहाँ विधायक अवकाश के समय आकर बैठते हैं। वहीं दबाव समूहों के प्रतिनिधि उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा उन्हें अपने पक्ष में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। यह प्रभाव न केवल प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा, वरन् जनमत और प्रचार द्वारा भी डाला जाता है तथा धनराशि व्यय की जाती है। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जनता में सद्भावना पैदा करने के लिए तथा उद्देश्य-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होने वाले लोगों के दृष्टिकोण को अपने अनुकूल करने के लिए दबाव समूह अथवा वर्गीय एवं आर्थिक हितों के प्रभावशाली संगठन, प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, सार्वजनिक प्रबन्ध विशेषज्ञों की सेवाओं आदि का उपयोग करते हैं। वे अपना साहित्य वितरित करते हैं और अपने तर्कों से विशेष दावों के पक्ष में समर्थन प्राप्त करते हैं।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पाश्चात्य देशों के दबाव समूह आधुनिक तकनीक के कारण ही प्रभावशाली तथा शक्तिशाली बन गये हैं।

दबाव समूह और राजनीतिक कार्य-व्यवहार अथवा दबाव-समूहों की तकनीक

(Pressure Groups and Political Action or The Technique of Pressure Groups)

दबाव अथवा हित समूह लगभग असंख्य विविधताओं (Almost Endless Varieties) के साथ व्यवहार में क्रियाशील रहते हैं।[2] दबाव समूहों की तकनीक को निम्नानुसार रखा जा सकता है—

दबाव समूह और चुनाव (Pressure Groups and Elections)

दबाव समूह निर्वाचनों के माध्यम से हितों के संरक्षण और संवर्धन का प्रयास करते हैं। यह सहायता अथवा आर्थिक-शक्ति के बल पर राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करने की 'अप्रत्यक्ष दबाव नीति' (Indirect Pressure Policy) है। दबाव समूह चुनाव के समय उन प्रत्याशियों के पक्ष में चुनाव प्रचार करके उन्हें सफल बनाने का प्रयत्न करते हैं जिनसे उनको आशा होती है कि वे विधान-मण्डल अथवा संसद में पहुँच कर उनके हितों का पोषण करेंगे। दबाव समूहों का प्रयत्न रहता है कि वे अपने अनुकूल राजनीतिक दल को धन-जन से समर्थन प्रदान करें, उसको विजयी बनाकर सरकार में अपने अनुकूल शासकों (मन्त्रियों आदि) को बिठवाएँ, विधान मण्डल में अपने अनुकूल सदस्यों को बहुमत में लाने का प्रयत्न करें ताकि राजनीतिक सत्ता उनके पक्ष में झुकी रहे या उनके हितों का ध्यान रखे। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा भारत के दबाव समूह ऐसा ही करते हैं। भारतवर्ष में छोटे दल जो सत्ता में आने में असमर्थ होते हैं, दबाव समूह के साथ मिलकर कार्य करते हैं।

दबाव समूह और विचार-शैथिल्य तथा प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया—दबाव समूह अथवा प्रभावक गुट एक 'गत्यात्मक शक्ति' (Dynamic Force) है। वे प्रजातन्त्र के हृदय में निरन्तर स्पन्दन बनाए रखने में सहयोग देते हैं। ये सत्रों के अन्तराल में तथा निर्वाचनों की अवधि में शैथिल्य को रोकते हैं तथा जन-जीवन में राजनीति के प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं। निर्वाचनों के पश्चात् अपने ज्ञान, अनुभव, विशेषज्ञता तथा आँकड़ों इत्यादि की सहायता से प्रभावक गुट विधान-मण्डल एवं समितियों के कक्षों में प्रतिनिधियों को केन्द्रित करके, व्यवस्थापन को अपने हित में प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। दबाव समूहों का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देश में व्यक्ति इन्हीं गुटों के माध्यम से नीति-निर्धारक शक्ति को प्रभावित करके अपने निजी हित साधित करते हैं। दबाव समूह प्रत्याशियों के नामांकन में विशेष योग देते हैं।

---

1. *Stephen L. Wasby* : Political Science : The Discipline and its Dimensions, p. 365
2. *Charles R. Adrian* : The American Political Process, p. 221.

दबाव समूह और गोष्ठियाँ (Pressure Groups and Conference etc.)—विश्व में अनेक साधन-सम्पन्न दबाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के लिए समयानुसार गोष्ठियों, सेमीनारों, व्याख्यान मालाओं और वार्ताओं का आयोजन करते हैं जिनमें विधायकों और प्रशासकों को आमंत्रित किया जाता है। इन गोष्ठियों, वार्ताओं आदि का उद्देश्य अपने मत को लोगों के सामने प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करना तथा विधायकों को अपने पक्ष में प्रभावित करना होता है। इस कार्यवाही का परोक्ष रूप में काफी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि आमन्त्रित और भाग लेने वाले व्यक्तियों की प्रभावशाली सूची विधायी और कार्यकारी क्षेत्र दबाव समूह के प्रभाव से परिचित हो जाते हैं और ऐसे कदम उठाने से बचते हैं जिनसे उन दबाव समूहों से टकराने की स्थिति आए।

दबाव समूह और लॉबिंग (Pressure Groups and Lobbying)—लॉबिंग का आशय है कि दबाव एवं हित समूहों के कार्यकर्ता व्यवस्थापिका सभा-भवन के कक्षों में जाकर प्रत्यक्ष रूप से विधायकों से सम्पर्क स्थापित कर उन पर विभिन्न उपायों से दबाव डालते हैं कि वे ऐसी विधि का निर्माण करें जिससे उनके (समूहों) हितों का संरक्षण मिले। इस कार्य हेतु चतुर वकीलों और विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाता है जो विधायकों पर तर्कसंगत ढंग से प्रभाव डालकर उन्हें महसूस कराते हैं कि अमुक विधि या अमुक धारा अमुक दृष्टि से सार्वजनिक हित के अनुकूल या प्रतिकूल है। दबाव समूहों के कार्यकर्ता विधायकों की गतिविधियों पर नजर रखते हैं और हर सम्भव उपाय से प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। वाशिंगटन में जहाँ सैकड़ों हित समूह कार्यरत हैं, सम्भवतः एक हजार से अधिक व्यक्ति कांग्रेस के प्रत्येक सत्र में सक्रिय लाबिइस्ट (Active Lobbyists) के रूप में मौजूद रहते हैं।[1] यह तो केवल रजिस्टर्ड लाबिइस्ट की संख्या है और जो कानून के अन्तर्गत रजिस्टर्ड नहीं हैं उन लाबिइस्टों की गतिविधियाँ भी कम नहीं रहती हैं।

मुख्य कार्यपालिका पर दबाव (Pressure on Chief Executive)—बहुत उच्च या महत्वाकांक्षी उद्देश्य से प्रेरित राजनीतिक समूह सीधे मुख्य कार्यपालिका पर दबाव डालने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। भारत में शक्तिशाली औद्योगिक घराने, व्यावसायिक समूह जैसे—बिड़ला समूह, डालमिया समूह, अम्बानी समूह, रिलायन्स समूह, बॉम्बे डाइंग समूह, टाटा समूह किसी नीति-विशेष के पक्ष में प्रधानमंत्री को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार अमेरिका में राष्ट्रपति को प्रभावित करने के प्रयास किये जाते हैं।[2] वास्तव में कार्यपालिका पर विभिन्न प्रकार के दबाव बने रहते हैं और दृढ़ निश्चयी तथा शक्तिशाली प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति इन दबावों के मध्य सन्तुलन बनाये रखता है। आखिर मुख्य कार्यपालक राजनीतिक ही होते हैं, उन्हें चुनावों का सामना करना पड़ता है अतः वे दल के प्रभावशाली व्यक्तियों, देश के समर्थक गुटों, मन्त्रिमण्डल के अपने वरिष्ठ साथियों से अप्रभावित नहीं रह पाते। अमेरिकी राष्ट्रपति पर दबाव व्हाइट हाउस स्टॉफ के माध्यम से डाला जाता है। हित समूह राष्ट्रपति की पत्नी और उसके परिवार के सदस्यों तक पहुँच जाते हैं। फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट बहुधा अपने पति से उदार दबाव समूहों के हितों (Concerns of Liberal Groups) की चर्चा किया करती थीं और सक्रिय रूप से उनके हितों की वकालत करती थीं। इसी प्रकार की दबाव नीति भारतीय प्रधानमंत्री या ब्रिटिश प्रधानमन्त्री या फ्रांसीसी राष्ट्रपति पर लागू होती है।

जब दबाव समूह सम्पर्कों के माध्यम से कार्यपालिका को प्रभावित नहीं कर पाते हैं तो वे प्रचार, प्रदर्शन, हड़ताल, घेराव, विरोधी दलों का आश्रय आदि तकनीकों के माध्यम से कार्यपालिका पर दबाव डालने का प्रयत्न करते हैं। उनका उद्देश्य दबावकारी अशान्त वातावरण पैदा कर देना होता है जिससे कार्यपालिका यह सोचने पर विवश हो जाये कि कहीं घटनायें तूल न पकड़ जायें और उसका या उसके राजनीतिक दल का भविष्य अन्धकार में न पड़ जाये अथवा उसके राजनीतिक हितों को आघात न पहुँचे। कार्यपालिका को किसी कानून को लागू करने के लिए श्रमिकों उद्योगपतियों कर्मचारियों आदि के संघों की माँगों के आगे झुकना पड़ता है। कई बार दबाव समूह जब अन्य दबावकारी तत्वों से सहयोग कर लेते हैं तो कार्यपालिका के आगे कठिन परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं।

दबाव समूह और कर्मचारी-तन्त्र (Pressure Groups and Bureaucracy)—प्रत्येक व्यवस्था में सरकारी कार्य अधिकाधिक जटिल होते जा रहे हैं। विस्तृत विधान अथवा प्रदत्त व्यवस्थापन (Detailed Legislation or Delegated Legislation) कम व्यावहारिक (Less Practicable) बन गया है अतः विधान मण्डल कानूनों में विस्तार के विशाल क्षेत्र प्रशासकीय विवेक पर छोड़ देते हैं और दबाव समूहों के लिए सरकारी कर्मचारी तन्त्र को प्रभावित करने का मनःग्राह्य आमन्त्रण दे डालते हैं। प्रदत्त विधायन ने नौकरशाही को इतना समर्थ बना दिया है कि दबाव या हित समूह उसे अपने प्रभाव में लेकर अपने हितों का संरक्षण करते हैं। भारत, अमेरिका और ब्रिटेन में दबाव समूह नौकरशाही को प्रभावित करने के लिए सभी नीतियाँ अपनाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतन्त्र नियामकीय आयोग (Independent Regulatory Commissions) सत्ता सम्पन्न हैं और उनके निर्णयों में कानून जैसी शक्ति और प्रभाव होता है। इन आयोगों के सदस्यों को अपने पक्ष में करने के लिए दबाव समूह सघन प्रयास करते हैं। विभिन्न कर्मचारी संघ भी एक प्रकार के दबाव समूह ही होते हैं।

1-2 *Charles R. Adrain* Op. Cit., p. 222.

शासन तक पहुँचाने का मार्ग प्रदान करते हैं और शासन-व्यवस्था को जनता के प्रति संवेदी (Responsive) बनाते हैं। दबाव समूह वास्तव में राजनीतिक वातावरण के यन्त्र हैं जिनके आधार पर नीति-निर्माता अपनी नीतियों का निर्माण और मूल्यांकन कर सकते हैं।

भारत में दबाव समूह : विकास और विशेषतायें

(Pressure Groups in India : Development and Characteristics)

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में दबाव-समूह का निर्विवाद महत्व रहा है। इनका निर्माण ऐसे स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले आरम्भ हो चुका था। 1885 में कांग्रेस की स्थापना ऐसी संस्था के रूप में हुई थी जिसका उद्देश्य राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार से अधिकतम सुविधायें प्राप्त करना था। कोलकाता में इण्डियन लीग नामक संस्था की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार से यह माँग करना था कि भारतीय लोक सेवा में भारतवासियों के लिए स्थानों की संख्या बढ़ाई जाए तथा इस सेवा में प्रवेश के लिए निर्धारित अधिकतम आयु-सीमा को भी बढ़ाया जाए। 1920 में गाँधीजी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश कर कृषक तथा श्रमिक वर्ग को संगठित कर कांग्रेस के द्वारा चलाए जाने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप दिया। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले कुछ श्रमिक संगठनों का निर्माण हो चुका था। उदाहरण के लिए 1880 में मुम्बई में एक ट्रेड यूनियन 'दि बम्बे मिल हैंड्स एसोसिएशन' के नाम से संगठित हुई। 1918 से श्रमिक आन्दोलन तेजी से शुरू हुआ और केवल एक वर्ष में ही सात ट्रेड यूनियनों की स्थापना हुई। श्रमिक संगठनों के निर्माण में गाँधीजी ने विशेष रुचि ली। 1920 में राष्ट्रीय स्तर पर एक ट्रेड यूनियन 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नाम से संगठित हुई जिसके अध्यक्ष कांग्रेस दल के तत्कालीन अध्यक्ष लाला लाजपत राय को बनाया गया। 1936 में राष्ट्रीय स्तर पर किसानों का संगठन "आल इण्डिया किसान सभा" के नाम से स्थापित किया गया, जिसे कांग्रेस का निर्देशन तथा समर्थन प्राप्त था। इस संस्था की ओर से जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि के पुनर्वितरण की माँग की गई।"[1]

स्वतन्त्रता के बाद भारत में दबाव समूहों की संख्या और उनके प्रभाव क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई। इसका कारण वयस्क मताधिकार, राजनीतिक समानता, सरकार के कार्य क्षेत्र में विस्तार और संविधान द्वारा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता के अधिकारों का दिया जाना है। भारतीय संविधान ने राजनीतिक सत्ता का अन्तिम स्रोत जनता को माना और सरकार के निर्माण का अधिकार जन-साधारण को प्रदान किया। प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली की स्थापना के परिणामस्वरूप राजनीतिक दल अधिक क्रियाशील हो गए और व्यावहारिक राजनीति में जन-साधारण के भाग लेने के कारण स्वयं राजनीतिक दलों ने विभिन्न वर्गों को हितों के आधार पर संगठित करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप भारत में व्यावसायिक, श्रमिक, व्यापारिक, जातीय तथा सम्प्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनों का निर्माण हुआ। रॉबर्ट एल. हार्डग्रेव ने भारत में दबाव समूह की निम्नलिखित विशेषताएं बताई हैं—

1. भारत में दबाव समूहों का विकास बहुत धीमी गति से हुआ है और जो दबाव समूह विद्यमान हैं वे बहुत कमजोर हैं।
2. कांग्रेस दल के भीतर पाए जाने वाले समूहों ने विभिन्न हितों के एजेन्ट के रूप में कार्य किया है।
3. अधिकांश भारतीयों में राजनीतिक क्षमता निम्न स्तर की है। उनके मतानुसार सरकारी पदाधिकारी सामान्यतः अनुत्तरदायी और भ्रष्ट हैं। दूसरी ओर सरकारी पदाधिकारियों में दबाव-समूहों की गतिविधियों के प्रति सदैव आशंका बनी रहती है।

भारत में दबाव समूहों के विभिन्न प्रकार और उनका प्रभाव

(Kinds of Pressure Groups in India and their Influence)

पाश्चात्य देशों की भाँति स्वतन्त्र भारत में आर्थिक हितों के अनुसार दबाव समूहों के चार प्रकार हैं—

1. व्यावसायिक—जैसे भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग मण्डल संघ। इस क्षेत्र में इनकी सबसे बड़ी संस्था है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग व्यवसायों की विभिन्न राज्यों में सैकड़ों संस्थाएं हैं जिनका अपने-अपने व्यवसाय से सम्बन्ध है।
2. श्रमिक—जैसे अखिल भारतीय मजदूर कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस आदि।
3. कृषि सम्बन्धी—जैसे भारत में कृषक समाज, किसान सभा, किसान पंचायत, संयुक्त किसान सभा, किसान मजदूर यूनियन आदि।
4. राज्य कर्मचारी संघ—जैसे डॉक्टर, वकील, अध्यापक, सरकारी कर्मचारी आदि विभिन्न व्यवसायों और कार्यों से सम्बद्ध, जैसे—मेडिकल काउंसिल ऑफ इण्डिया, अखिल भारतीय आयुर्वेद कांग्रेस, इण्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट, अखिल भारतीय शिक्षा संस्था संघ, अखिल भारतीय यूनिवर्सिटीज एण्ड कॉलेज टीचर्स एसोसिएशन, युवा कांग्रेस, अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ, सिविल सर्विस एसोसिएशन आदि।

1 डॉ. एम. एम. सईद पूर्वोक्त पृ. 282.

ये समूह प्रायः सभी क्षेत्रों में पाए जाते हैं। भारत में दो और विशेष प्रकार के समूहों का संगठन हुआ है जो अन्यत्र नहीं है—1. धर्म, जाति अथवा सम्प्रदाय सम्बन्धी,जैसे अकाली दल, परिगणित जाति संघ, वैश्य महासभा आदि। 2. गाँधीवाद और सर्वोदयी विचारों से प्रेरित संस्थाएँ, जैसे—गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, सर्वसेवा संघ, अखिल भारतीय हरिजन सेवक-संघ, गाँधी स्मारक निधि, अखिल भारतीय चर्खा संघ आदि। ये संस्थाएँ साधारण दबाव समूहों से इस हद तक भिन्न हैं कि ये राजनीतिक जोड़-तोड़ में विश्वास नहीं रखतीं और दलगत राजनीति से अलग रहकर खामोशी के साथ अपना कार्य करती हैं। इसीलिए इनके साधनों को देखते हुए इनका नैतिक प्रभाव दूसरे समूहों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। रॉबर्ट एल. हार्डग्रेव ने हित-समूहों को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया है—1. साम्प्रदायिक संघ (Communal Association), 2. कृषि एवं ग्रामीण समूह (Agriculture and Rural Groups), 3. श्रमिक संघ (Labour Unions), 4. विद्यार्थी संगठन (Students Organisations) एवं 5. व्यावसायिक समूह (Business Groups)। इनके अतिरिक्त गाँधीवादी जैसे कुछ विशिष्ट संगठनों को अलग से लिया जा सकता है। एक अन्य दृष्टि से भारत में विद्यमान दबाव समूहों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) भारत में परम्परागत दबाव समूहों (Traditional Pressure Groups) में जाति एवं धर्म पर आधारित दबाव समूहों का उल्लेख किया गया है जो मूलतः सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ हैं। यद्यपि राजनीति में इनकी भूमिका नगण्य होनी चाहिए, तथापि भारत के सार्वजनिक जीवन में धर्म और जाति के तत्वों का विशिष्ट स्थान है और इन पर आधारित दबाव समूह अनेक अवसरों पर राजनीतिक एवं साँस्कृतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साँस्कृतिक दबाव समूहों के रूप में विगत वर्षों में भारत-चीन मैत्री समाज, अखिल भारतीय शान्ति परिषद आदि साँस्कृतिक संगठन विशेष रूप से सक्रिय रहे हैं। जातीय एवं धार्मिक दबाव समूहों में उल्लेखनीय है—भारतीय ईसाइयों के अखिल भारतीय सम्मेलन, आँग्ल-भारतीय एसोसिएशन, सनातन धर्म दक्षिणी सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, मारवाड़ी एसोसिएशन, हरिजन सेवक संघ, जाट सभा, वैश्य महासभा, बंगाली समाज आदि। ये सभी दबाव एवं हित समूह अपनी जाति और सदस्यों के हितों की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं तथा देश की राजनीति और चुनाव अभियानों में महत्ता रखते हैं। कुछ राजनैतिक दलों यथा—अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, मुस्लिम मजलिस, जमीयत उलउलेमा-ए-हिन्द, झारखण्ड दल, परिगणित जाति संघ आदि का उदय मुख्यतः दबाव समूह के रूप में ही हुआ था और आज अपने स्वरूप और कार्यों की दृष्टि से वे क्रमतरता में राजनीतिक दल और अधिक सीमा तक दबाव समूह माने जा सकते हैं। शिवसेना भी जातीयता पर आधारित एक दबाव-समूह ही है। अनुसूचित जातियों के समूह अपने हितों की रक्षा के लिए शासन पर निरन्तर दबाव डालते रहते हैं। उनका यह प्रयत्न रहता है कि अनुसूचित जाति के लोगों को अधिकाधिक राजनीतिक एवं प्रशासनिक पद प्राप्त हों। महाराष्ट्र में एक शक्तिशाली दबाव समूह के रूप में 'दलित-पेंथर' का उदय हुआ है।

(ख) भारत में आधुनिक दबाव समूहों (Modern Pressure Groups) में व्यावसायिक एवं औद्योगिक दबाव समूह, श्रमिक संघ, किसान संगठन, शिक्षित वर्ग के संगठन आदि तो हैं ही, गाँधीवादी संगठन भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भारत में ये दबाव समूह व्यवस्थापन समितियों को प्रभावित करते हैं। ये दबाव समूह मन्त्रिमण्डलों के निर्णय तक बदल देने की क्षमता रखते हैं।

प्रमुख दबाव समूह—भारत में प्रमुख रूप से निम्नांकित दबाव समूह कार्यरत हैं—

(1) व्यापारिक दबाव समूह (Trade Pressure Group)

भारत में अनेक व्यावसायिक समूह दबाव समूह कार्य रते हैं, जिन्होंने देश के व्यापार और व्यवसाय को केन्द्रित कर रखा है। ये परिवार राजनीतिक दलों को चन्दा देकर, सार्वजनिक कोषों में दान देकर, औद्योगिक तथा शिक्षण संस्थाओं में उचित वेतन वाले पद देकर, समर्थक प्रत्याशियों को निर्वाचन में विजयी बनाकर सार्वजनिक नीति को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। इन औद्योगिक समूहों अथवा घरानों के अतिरिक्त विभिन्न व्यापारिक जातियाँ सार्वजनिक नीति को प्रभावित करती हैं, जैसे—मारवाड़ी, जैन, पारसी, दक्षिण भारत में चेट्टियार आदि। इसके अतिरिक्त अनेक व्यापारिक संगठन हैं जिनमें कुछ तो कार्यों के आधार पर संगठित हैं, जैसे—एम्पलायर्स फैडरेशन ऑफ इण्डिया (Employers Federation of India), बीमा बिल ओनर्स एसोसियेशन (Insurance Bill Owners Association) आदि एवं कुछ धर्म अथवा जाति के आधार पर संगठित हैं जैसे—मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कॉमर्स। ये संगठन व्यापारिक दृष्टिकोण में एकरूपता लाने और व्यापार के स्तर की वृद्धि करने में कार्यरत रहते हैं। इन सभी व्यापारिक संगठनों के शीर्ष पर 'फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इन्डस्ट्री' (Federation of Indian Chamber of Commerce & Industry) है। इन व्यापारिक दबाव समूहों का सार्वजनिक नीति पर दबाव बना रहता है। सभी क्षेत्रों में निकलने वाली पत्र-पत्रिकाओं पर इन्हीं का नियन्त्रण है। इससे व्यापारिक दृष्टिकोण के प्रचार और प्रसार में कोई बाधा नहीं होती है।

भारत के प्रमुख पत्र हिन्दुस्तान टाइम्स, टाइम्स ऑफ इण्डिया, कॉमर्स, कैपीटल, इण्डियन फाइनेन्स, ईस्टर्न इकोनॉमिस्ट
आदि पर इन्हीं कुछ व्यापारिक घरानों का आधिपत्य है। अधिकांश चेम्बर ऑफ कॉमर्स भी अपने-अपने पत्र अलग-अलग
निकालते हैं। समाचार एजेन्सियाँ इन्हीं के द्वारा नियन्त्रित होती हैं। हमारे यहाँ सचिवालयों में नियुक्त उच्च अधिकारियों
की पृष्ठभूमि भी इन्हीं घरानों से पूर्णतया प्रभावित है। यहाँ तक कि भारतीय संसद में भी इन घरानों का प्रभाव व्याप्त है
और इस प्रकार देश के राजनीतिक प्रवाह में इन्हीं का हाथ रहता है। इन्हीं विचारों के अनेक समर्थकों जैसे टी. टी.
कृष्णमाचारी, होमी मोदी, ए. डी. सराफ, पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जी. एल. मेहता आदि ने प्रशासन में महत्वपूर्ण पद प्रदा
किए हैं। वास्तव में सरकार में अनेक ऐसे व्यक्ति प्रशासकीय और प्रभावशाली राजनीतिक पदों पर रहे हैं जो पूँजीपतियों
के समर्थक रहे हैं। सत्तारूढ़ दल में होने के कारण उन्होंने देश की नीतियों पर पूँजीपति वर्ग के हित में अपना प्रभाव
डाला है। लाइसेंस प्राप्त करने, अपने अनुकूल कानून बनवाने तथा सुविधाजनक नीतियों को बनवाने के लिए सरकार पर
अनेक प्रकार के दबाव निरन्तर डालते रहते हैं। इन व्यापारिक संगठनों का प्रभाव सरकार तथा सरकारी नीतियों पर पूरी
तरह से रहता है।

वाणिज्य एवं व्यापार समूह किस प्रकार दबाव नीति का प्रयोग करते हैं, इनके पास कितनी धन-शक्ति है और इस
वर्ग ने देश की राजनीतिक व्यवस्था में अपना विशिष्ट स्थान किस स्तर तक बना रखा है आदि प्रश्नों के सन्दर्भ में कहा
जाता है कि देश की सम्पूर्ण औद्योगिक नीति (Industrial Policy) के निर्धारण में इन व्यापारिक दबाव समूहों की
महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

(2) सामुदायिक संघ (Communal Association)

सामुदायिक संघों (Communal Associations) में रॉबर्ट एल. हार्डग्रेव (Robert L. Hardgrave) ने धर्म
भाषा, जाति, कबीलों के विभाजन, संघर्षों आदि पर आधारित और इनसे प्रेरित दबाव एवं हित समूहों को सम्मिलित किया है।
क्षेत्रवाद और सम्प्रदायवाद भारतीय राजनीतिक समुदाय और लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए चुनौती रहे हैं, अतः इन पर आधारित
और हित समूहों के विकास को देश के लिए स्वस्थ नहीं माना जा सकता। मुस्लिम लीग ने स्वाधीनता आन्दोलन के दौरा
एक पृथक् इस्लामी राज्य की माँग की और इसे लेकर रही। स्वतन्त्र भारत में भी मुस्लिम लीग छद्मवेश में अपने पुराने रूप
में उभर रही है। सिक्खों का अकाली दल भी एक राजनीतिक दल की अपेक्षा सिक्खों में एक दबाव समूह के रूप में अधिक
शक्तिमान रहा है और 'पंजाबी सूबा' बनाने में सफल हुआ है। झाड़खण्ड और छोटा नागपुर के कबीलों के संघर्षों ने राष्ट्रीय एकता
के हितों को हानि पहुँचाई है। नागाओं के समूह अपनी अलग पहचान की माँग करते हैं। भाषायी आन्दोलन ने राज्यों के
पुनर्गठन और पृथक् क्षेत्रीय स्वायत्तता की स्थिति पैदा की और अब भी रह-रह कर ये आन्दोलन राष्ट्रीय एकीकरण पर कुठाराघात
करते रहते हैं। जातीय समुदाय और समूह व्यवस्थापिका सभाओं में प्रतिनिधित्व के लिए, प्रशासकीय सेवाओं में पदों के लिए,
कॉलेजों में सीटों के बढ़ाने के लिए, सामाजिक और आर्थिक विकास में सरकारी प्रयत्नों से होने वाले लाभों में अधिकाधिक
हिस्सा प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रकार की दबावकारी नीति का आश्रय लेते रहे हैं। बहुत से जातीय-समुदाय सामाजिक
उत्थान और आर्थिक विकास के लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में सफल रहे हैं, उनकी राजनीतिक पहुँच (Political Approach)
बहुत प्रभावी रही है। सबसे बड़े और सफल जातीय संघों में तमिलनाडु के नाडार समुदाय का नाम है जिनका राजनीतिकरण
करने में 'नाडार महाजन संगम' की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। 1910 में स्थापित नाडार जाति संघ (Nadar Caste
Associations) नाडारों के एकीकरण और उत्थान के लिए विभिन्न स्तरों पर क्रियाशील रहा है। वर्तमान में उत्तर में यादव
कुर्मी तथा दक्षिण में ईडवाह जाति के व्यक्तियों ने अपने-अपने सामुदायिक संघ बना रखे हैं।

सामुदायिक संघों में ही धार्मिक समूहों को सम्मिलित किया गया है जो अपने धर्मावलम्बियों के हितों के लिए
काम करते हैं। भारतीय ईसाइयों के अखिल भारतीय सम्मेलन, पारसी सेन्ट्रल एसोसिएशन एण्ड पॉलिटिकल लीग, सार्वदेशिक
आर्य प्रतिनिधि सभा, सनातन धर्म-रक्षिणी सभा, ऐंग्लो-इण्डियन एसोसिएशन आदि इस प्रकार के दबाव समूह माने जा
सकते हैं। हरिजन सेवक संघ, मारवाड़ी एसोसिएशन, वैश्य महासभा, त्यागी सभा, जाट सभा आदि जातीय समूहों के अन्य
उदाहरण हैं। अनुसूचित जातियों के विभिन्न समूह हैं जो सरकार पर अपने हितों की रक्षा के लिए बराबर दबाव डालते
आए हैं।

(3) ट्रेड यूनियनें (Trade Unions) या श्रमिक संघों की राजनीति

विकासशील देशों की भाँति भारत में भी श्रमिक संघ बहुत अधिक राजनीति (Highly Political) में सक्रिय
रहे हैं। श्रमिक संघों में से अनेक निम्नलिखित में से किसी एक या दूसरे केन्द्रीय श्रमिक संगठनों के साथ सम्बद्ध हैं—
(1) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस, (2) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस, (3) हिन्द मजदूर सभा, (4) संयुक्त
श्रमिक संघ काँग्रेस, (5) सेन्टर आफ इण्डियन ट्रेड यूनियन्स, (6) भारतीय मजदूर संघ, (7) राष्ट्रीय मजदूर संगठन
(8) संयुक्त श्रमिक संघ काँग्रेस (एल. एस.), (9) भारतीय श्रमिक संघों का राष्ट्रीय मोर्चा और (10) श्रमिक-संघ समन्वय
केन्द्र।

(6) भारत में शिक्षित वर्ग के प्रमुख व्यवसाय
(Main Business of Educated Class in India)

वकालत, सरकारी सेवा, डाक्टरी, शिक्षा, इंजीनियरिंग आदि शिक्षित वर्ग के प्रमुख व्यवसाय हैं। अन्य देश के समान भारत में भी शिक्षित वर्ग के लोगों ने अथवा इन व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों ने अपने-अपने संगठनों का निर्माण किया है। इन समूहों में अखिल भारतीय मेडिकल कौंसिल, अखिल भारतीय रेल्वेमेन्स एसोसिएशन, अखिल भारतीय बार एसोसिएशन, अखिल भारतीय पोस्टस एण्ड टेलीग्राफ्स यूनियन, प्राध्यापकों का या अखिल भारतीय यूनिवर्सिटी एण्ड कॉलेज टीचर्स एसोसियेशन आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बार एसोसिएशन, शिक्षक संघ तथा बार कौंसिल के सदस्य विधि-निर्माण प्रक्रिया को अपने हितों के अनुकूल प्रभावित करने को सचेत रहे हैं। शिक्षक वर्ग ने अपने राज्यों की राजनीति में सक्रिय भाग लिया है। कारखानेदारों के महत्वपूर्ण संगठनों में अखिल भारतीय कारखानेदारों का संगठन तथा एसोसियेटेड चेम्बर ऑफ कॉमर्स ऑफ इण्डिया उल्लेखनीय है। इनमें से प्रथम संगठन संयुक्त राज्य अमेरिका के नेशनल एसोसिएशन ऑफ मैन्यूफेक्चर्स के सरूप है। दूसरे संगठन में ब्रिटिश और अन्य विदेशी स्वामित्व के अधीन फर्में विशेष रूप से सक्रिय रही हैं।

(7) महिला संगठन (Women Organisations)

महिलाओं के दबाव-समूह और संगठन भी सक्रिय हैं। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की शाखायें देश भर में फैली हुई हैं। एक दबाव समूह के रूप में यह सम्मेलन स्त्री समाज के कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के कार्य करता है और उनकी कानूनी व सामाजिक अवस्था को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। भारतीय संसद में हिन्दू कोड बिल पर विचार होते समय इस सम्मेलन ने एक दबाव समूह के रूप में सक्रिय कार्य किया। विभिन्न राजनीतिक दलों से सम्बद्ध महिला संगठन भी दबाव समूह के रूप में कार्य करते हैं। ये महिला संगठन भी महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वर्तमान में स्त्रियाँ लोकसभा तथा विधानसभा में 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व प्राप्त करने हेतु संघर्षरत हैं।

(8) सांस्कृतिक समूह (Cultural Organisations)

भारत में अनेक सांस्कृतिक समूह अथवा संगठन विकसित हुए हैं। भारत की सांस्कृतिक छवि विदेशों में जाती रही है और विदेशों से भारत में आती रही है। भारत-चीन मैत्री समाज, भारत-रूस सांस्कृतिक समूह संघ, अखिल भारतीय शांति परिषद आदि सांस्कृतिक संगठन विशेष रूप से सक्रिय रहे हैं। भारत-सोवियत और भारत-चीन मैत्री संगठन प्रायः साम्यवादी नीति के समर्थक रहे हैं तो भारत ब्रिटिश एवं भारत-अमरिका संगठन पाश्चात्य पूँजीवादी देशों की नीतियों का समर्थन करते रहे हैं। इन संगठनों को प्रत्यक्ष रूप से विदेशों से सहायता मिलती है और ये देश की राजनीति पर प्रभाव डालने में प्रयत्नशील रहते हैं।

(9) गाँधीवादी संगठन (Gandhian Organisations)

गाँधीवादी संगठनों में गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, सर्वोदय समाज, सर्वसेवा संघ, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, तालीमी संघ भूदान आन्दोलन आदि प्रमुख हैं। ये दबाव-समूह नशाबन्दी, बुनियादी शिक्षा, सामाजिक नीतियों आदि के सम्बन्ध में सरकार पर निरन्तर दबाव डालते हैं। गाँधीवादी संगठन औपचारिक रूप से अन्य दबाव-समूहों की तरह राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न नहीं करते। इनका प्रयास रहता है कि समाज में नैतिक जागरण पैदा कर वांछित परिवर्तन लाया जाए। वैसे केन्द्रीय तथा राज्य सरकार से घनिष्ट वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा ये सरकारी नीतियों पर गहरा प्रभाव डालने में सक्षम हैं।

भारत में दबाव समूहों की प्रकृति, भूमिका, विशेषतायें और पाश्चात्य हित संगठनों में उनकी भिन्नता

भारत में हितों एवं वर्गीय संगठनों तथा उनकी राजनीति पर और पश्चिमी देशों से उनकी भिन्नता पर डा. रजनी कोठारी ने अच्छा प्रकाश डाला है। तदनुसार[1] —

1. राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास का मुख्य माध्यम सरकार रही है इसलिए सबसे महत्वपूर्ण हितों का प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलों, सरकारी नौकरियों और सरकारी पार्टी के विभिन्न गुटों के द्वारा हुआ है। वस्तुतः इस देश में इतने अधिक और विविध प्रकार के हित और वर्ग हैं कि उनकी अभिव्यक्ति विभिन्न दलों और उनके क्षेत्रीय व स्थानीय गुटों के द्वारा हो सकी है। इन दलों का आधार चाहे व्यापक हो अथवा सीमित, फिर भी विभिन्न वर्गों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व इन्हीं दलों के द्वारा होता है किन्हीं अलग संगठनों के द्वारा नहीं।

1 डॉ. रजनी कोठारी : भारत में राज्यों की राजनीति, पृ. 147-49

1. जातिवाद अथवा जातिगत राजनीति—यद्यपि जातिवाद का तथ्य भारत के सभी राज्यों में प्रभावी है, तदपि आन्ध्र प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और केरल में इसका प्रभाव सर्वाधिक है। मतदान व्यवहार में जातिवाद और जातिगत राजनीति का प्रभाव प्राय: उन जातियों से अधिक पाया जाता है जो किसी क्षेत्र में अपेक्षाकृत बहुसंख्यक हैं और जो अपने मतों के बल पर किसी जाति के उम्मीदवार को जिताने की स्थिति में होती हैं। राजनीतिक दलों द्वारा अल्पसंख्यक जातियों के लोगों को उम्मीदवार नहीं बनाया जाता है।

2. आर्थिक स्थिति—लोगों की आर्थिक स्थिति मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है। एक सामान्य निष्कर्ष यह है कि यदि लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है तो प्राय: मतदान शासक दल के पक्ष में होता है अन्यथा मतदान उसके विरुद्ध होता है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और शासक दल की चेष्टा रहती है कि चुनाव 'अच्छी कृषि' के वर्ष में हों।

3. सत्तारूढ़ दल का आचरण—सत्तारूढ़ दल के आचरण और क्रियाकलापों का मतदान व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। चुनाव के समय सत्तारूढ़ दल यदि जनहित के कार्यों में अधिक रुचि लेता है, लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की उचित व्यवस्था करता है और शान्ति व्यवस्था की स्थिति बनाये रखता है तो मतदान सामान्यत: शासक दल के पक्ष में और विरोधी दलों के विपक्ष में होता है।

4. नेतृत्व—मतदान व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक प्रधान तत्व नेतृत्व है। भारत में इस तत्व के आधार पर देश के अब तक चुनाव परिणामों की व्याख्या की जा सकती है। प्रथम तीन आम चुनावों में मुख्यत: प. नेहरू के नेतृत्व के कारण काँग्रेस को मत मिले, चौथे आम चुनाव में काँग्रेस की आंशिक पराजय इसलिए हुई कि काँग्रेस के पास प. नेहरू जैसा कोई चमत्कारी नेतृत्व नहीं था। 1971, 1972, 1980 के चुनावों में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के विलक्षण और आकर्षक नेतृत्व ने मतदान व्यवहार को काँग्रेस के पक्ष में किया तो 1977 में काँग्रेस इसलिए हारी क्योंकि कुछ अरुचिकर कार्यों के कारण श्रीमती इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व की छवि धूमिल हो चुकी थी। सत्तारूढ़ दल जनता पार्टी का नेतृत्व आपसी लड़ाई का शिकार रहा और जनता में विश्वास खो बैठा। दिसम्बर, 1984 के चुनावों में राजीव गाँधी के व्यक्तित्व का मतदाताओं पर प्रभाव पड़ा। 1996 एवं 1998 के चुनावों में काँग्रेस (इ) की पराजय में पी. वी. नरसिम्हराव के नेतृत्व की मुख्य भूमिका रही। उनके नेतृत्व में 'करिश्मा' के अभाव के कारण वे मतदाताओं को प्रभावित नहीं कर सके।

5. राजनीतिक स्थिरता तथा सुदृढ़ सरकार की आकांक्षा—भारतीय मतदाताओं ने अपने मतदान व्यवहार में स्पष्ट कर दिया है कि वे केन्द्र में ऐसी सरकार चाहते हैं जो मजबूत और सक्षम हो, जो एक इकाई की भाँति काम कर सके और देश को राजनीतिक स्थिरता प्रदान करते हुए उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अर्जित कर सके। 1977 के पूर्व में चुनावों में काँग्रेस के पक्ष में मतदान का यही एक प्रमुख कारण रहा है। देश के मतदाताओं को विश्वास रहा है कि देश में शासन सम्भालने योग्य दल केवल काँग्रेस है और इसके पास सुयोग्य नेतृत्व है, जबकि विरोधी दल आपसी फूट के शिकार हैं एवं सुयोग्य नेतृत्व काँग्रेस की तुलना में उनके पास बहुत कम है। जब मार्च, 1977 के चुनावों के समय कुछ प्रमुख विरोधी दल जनता पार्टी के रूप में संयुक्त हो गए तो मतदाताओं को आशा हुई कि अब काँग्रेस का शक्तिशाली विकल्प मौजूद है और इसे अवसर देना चाहिए। जनता को विश्वास हो गया कि जनता पार्टी स्थायी और कुशल शासन दे सकेगी, अत: काँग्रेस के स्थान पर जनता पार्टी को सत्ता प्रदान की गई, लेकिन जब जनता पार्टी फूट के कारण ताश के पत्तों की तरह बिखर गई और देश में राजनीतिक तथा आर्थिक अस्थिरता छा गई तो मतदाताओं ने पुन: काँग्रेस का और श्रीमती गाँधी को सत्ता में स्थान दे दिया। 1984 में काँग्रेस (इ) की विशाल विजय के पीछे यही तथ्य उत्तरदायी रहा। 1991 में काँग्रेस (इ) की विजय में स्थिरता का तत्व प्रमुख था, लेकिन 1996 एवं 1998, 1999 तथा 2004 में किसी भी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्रदान नहीं करके तथा उन्हें अपने बलबूते पर सरकार बनाने की शक्ति प्रदान नहीं करके भारतीय मतदाताओं ने पूर्व की तुलना में विपरीत व्यवहार किया। उन्होंने 'संविद राजनीति' के पक्ष में मतदान किया। मतदाताओं का व्यवहार पूर्व की तुलना में अलग ही दिखाई देता है।

6. युद्ध में सफलता-असफलता—युद्ध में सफलता-असफलता मतदान व्यवहार को गम्भीर रूप से प्रभावित करती है। 1962 में चीन के द्वारा पराजय को मतदाता भूले नहीं और 1967 में काँग्रेस पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा। 1971 में काँग्रेस सरकार की यौद्धिक सफलता ने 1972 में विधानसभा चुनावों में काँग्रेस की सफलता को असंदिग्ध बना दिया।

7. क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति—भारतीय राजनीति के कुछ क्षेत्रों में क्षेत्रवाद मतदान को बहुत कुछ प्रभावित करता रहा है। उदाहरणार्थ कई अवसरों पर पंजाब में अकाली दल ने, तमिलनाडु में डी. एम. के., अन्ना द्रमुक तथा तमिल मनीला काँग्रेस ने, बिहार में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादियों ने क्षेत्रवाद के आधार पर ही सफलता प्राप्त की है। आन्ध्र प्रदेश में तेलगूदेशम, असम में असम गण परिषद, मेघालय और नागालैण्ड में भी क्षेत्रीय दलों ने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है।

8. दलीय विचारधारा, कार्यक्रम और नीति—डॉ. इकबाल नारायण का यह निष्कर्ष ठीक ही है कि भारतीय मतदाताओं का सामान्य वर्ग कम तथा प्रबुद्ध वर्ग राजनीतिक दलों की विचारधारा, कार्यक्रम और नीति से अधिक प्रभावित होता है। चुनाव से पूर्व विविध दलों के जो चुनावी घोषणा-पत्र प्रकाशित होते हैं वे प्राय: जन-साधारण के समझने की

वस्तु न होकर, केवल पढ़े लिखे एवं प्रबुद्ध वर्ग के समझने की वस्तु होते हैं। उदाहरणार्थ, विविध दलों के कार्यक्रमों में सम्मिलित 'समाजवादी समाज की स्थापना', 'धर्म निरपेक्षता', 'लोकतन्त्र एवं समाजवाद के प्रति आस्था', 'गाँधीवादी सिद्धान्तों के प्रति प्रतिबद्धता', 'अर्थतन्त्र एवं शासन का विकेन्द्रीकरण' तथा 'अन्त्योदय' आदि ऐसी शब्दावलियाँ हैं, जिन्हें जनता नहीं, वरन् प्रबुद्ध वर्ग के लोग ही समझ सकते हैं। इसका परिणाम होता है कि दलों की विचारधारा, नीति एवं उनके कार्यक्रम केवल प्रबुद्ध वर्ग के मतदान के व्यवहार को प्रभावित करते हैं तथा उनका प्रभाव जनसाधारण के मतदान व्यवहार पर नहीं पड़ता।

9. भाषाई प्रेम या लगाव—भारत में भाषा का तत्व मतदान व्यवहार को प्रभावित करता रहा है। उदाहरणार्थ 1967 और 1981 के चुनावों में तमिलनाडु में द्रमुक को जो भारी समर्थन मिला उसके मूल में हिन्दी विरोध का हाथ था। 1977 में लोकसभा चुनावों में दक्षिण भारत में जनता पार्टी की असफलता का मुख्य कारण यह रहा है कि दक्षिण भारत के मतदाता जनता पार्टी की भाषा-नीति के सम्बन्ध में पूरी तरह आश्वस्त नहीं थे और उन्हें आशंका थी कि कहीं उन पर हिन्दी थोपने का प्रयत्न न किया जाये। बाद के संसदीय तथा राज्य विधानसभा के चुनावों में तमिलनाडु में भाषाई तत्व नगण्य हो रहा और अब यह कोई प्रमुख मुद्दा नहीं रहा है।

10. सामन्तशाही का प्रभाव—मतदान व्यवहार पर सामन्तशाही व्यवस्था अथवा राजा-महाराजाओं और जागीरदारों का प्रभाव रहा है किन्तु 1971 के संसदीय चुनाव के पश्चात् क्रमशः कम होता गया। अब सामन्तशाही का प्रभाव समाप्त सा हो गया है। मध्यप्रदेश के सिन्धिया राजघराने को इसका अपवाद माना जा सकता है जिसके किसी सदस्य को अब तक चुनावों में पराजय का सामना नहीं करना पड़ा।

11. राजनीतिक दलों के क्रियाकलाप—विभिन्न राजनीतिक दलों के अतीत के क्रियाकलाप मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, काँग्रेस को पहले तीन आम चुनावों में अधिक मत प्राप्ति के मूल में एक मुख्य कारण यह रहा है कि उसने स्वतन्त्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

12. आर्थिक साधन—आर्थिक साधन मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। जनवरी, 1980 के चुनावों में इन्दिरा काँग्रेस को अधिक सफलता प्राप्त होने का कारण यह रहा है कि दल विपक्ष की तुलना में बहुत अधिक साधन-सम्पन्न था तथा सुगठित और व्यापक स्तर पर अपना चुनाव अभियान चला सका, लेकिन 1977 के चुनावों ने स्पष्ट कर दिया कि आर्थिक साधन सम्पन्नता चुनावों को निर्णायक रूप से प्रभावित नहीं कर पाती। दिसम्बर, 1984 के चुनावों में काँग्रेस (इ) की अतुल साधन-सम्पन्नता ने उसकी विजय को आसान बना दिया। सन् 1989 और 1991, 1998, 1999 में भाजपा की सफलता के पीछे उसके प्रचुर साधन ही थे। 2004 के संसदीय चुनावों में अन्य दलों की तुलना में काँग्रेस (इ) के पास सोनिया गांधी का प्रभावी नेतृत्व तथा भारतीय जनता पार्टी के पास साधनों की प्रचुरता थी।

13. दल अथवा प्रत्याशी की जीत की सम्भावना—कौनसा राजनीतिक दल अथवा कौनसा प्रत्याशी चुनाव में विजयी होगा, इसकी सम्भावना मतदान व्यवहार को प्रभावित करती है। जिसके पक्ष में चुनाव-लहर बह रही हो उसे प्रायः लोग मत देते हैं ताकि उनका मत व्यर्थ न जाए। सन् 1971 के बाद के सभी संसदीय निर्वाचनों में इस तथ्य को देखा जा सकता है।

14. धर्म और साम्प्रदायिकता—धर्म और साम्प्रदायिकता दलों की सफलता का महत्वपूर्ण कारक रहा है। 1989, *1991, 1996, 1998 तथा 1999 में भाजपा की सफलता में धर्म और साम्प्रदायिक का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन पाँचों ही आम चुनावों में भारतीय जनता पार्टी ने 'हिन्दू कार्ड' का सफलता के साथ प्रयोग कर अपनी शक्ति में उत्तरोत्तर* वृद्धि की है।

कतिपय राजनीतिक क्षेत्रों में ऐसी धारणा व्याप्त है कि भारत की जनता अपने मताधिकार का प्रयोग औचित्य अथवा विवेक के साथ नहीं कर सकती, क्योंकि वह अशिक्षा, गरीबी जातिगत द्वेष, धर्मान्धता आदि की शिकार है लेकिन प्रथम आम चुनाव से लेकर अब तक भारतीय जनता का जो मतदान व्यवहार रहा है उससे इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि उपरोक्त भ्रामक मत केवल उन्हीं लोगों का है जो भारतीय जनता के मन-मस्तिष्क को नहीं समझते, जिन्हें भारत के मतदाताओं के चरित्र एवं चिन्तन का बोध नहीं है। अभी तक भारतीय मतदाताओं ने अपने मतदान में जिस विवेक, सूझबूझ और कुशलता का परिचय दिया है, और कतिपय अपवादों को छोड़कर अनुशासन-प्रियता प्रदर्शित की है और मताधिकार की कीमत समझी है इससे भारत में संसदीय लोकतन्त्र का भविष्य सुरक्षित है।

राजनीतिक दल और नेता जातिवाद और जातीय राजनीति को हेय मानते हैं, किन्तु आन्तरिक रूप से सभी दल और नेता जातीय आधार पर अपने दल और दलीय प्रत्याशियों के लिए समर्थन माँगते हैं। यही नहीं दलीय प्रत्याशियों का चयन जातीय आधार पर ही किया जाता है, यहाँ तक कि सरकार निर्माण प्रक्रिया भी जातीय-प्रभाव से मुक्त नहीं रहती।[1] भारत की राजनीति में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि अशिक्षित अँगूठा छाप व्यक्ति जातिगत प्रभाव के कन्धों पर चढ़कर विधानसभाओं और संसद में प्रवेश करते हैं तथा जातिवादी राजनीति के बल पर मन्त्री-पद हथिया लेते हैं। जातियों में प्रतिद्वन्द्विता रहती है और प्रशासन जातिवाद से प्रभावित रहता है।

जाति का राजनीतिक रूप[2]*—जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्तक्रिया* (Interaction between Caste and Politics) के सन्दर्भ में डॉ. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं—

(क) लौकिक पक्ष (The Secular Aspect)—जाति-प्रथा के तथ्यों पर सबका ध्यान गया है, जैसे—जाति के अन्दर विवाह, रीति-रिवाजों में जाति की पृथक् इकाई को बनाये रखने का प्रयत्न, लेकिन इसकी उपेक्षा कर दी जाती है कि जातियों में आपस में प्रतिद्वन्द्विता रहती है और वे लगातार अपनी प्रतिष्ठा और पद बढ़ाने का प्रयत्न करती हैं। जाति के लौकिक संगठन के दो रूप थे—एक शासकीय रूप यानी जाति और गाँव की पंचायत और चौधराहट, दूसरा रूप राजनीतिक था यानी जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनों का संवर्धन या बनहास इस बात पर निर्भर था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रस्थ सत्ता में कैसे सम्बन्ध थे। धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर जातियों की स्थिति बनती या बिगड़ती थी। अब भी इनका महत्व है, यद्यपि सन्दर्भ बदल गये हैं। जाति या समुदाय को किसी राजा से सम्बन्ध रखना पड़ता था और स्थानीय मामलों का प्रबन्ध जाति या गाँव की पंचायत स्वयं करती थी। अब राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार और जातीय पंचायतों की बजाय स्थानीय और प्रान्तीय विधान सभाएँ हैं। यह परिवर्तन एक साथ नहीं बल्कि क्रमशः हुआ है।

(ख) एकीकरण पक्ष (The Integration Aspect)—*जाति का दूसरा पहलू एकीकरण का अर्थात् व्यक्ति को समाज से बाँधने का है। जाति जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है।* इसमें प्रत्येक व्यक्ति का लगाव पैदा हो जाता है और आपस में एक-दूसरे से बँधा रहता है। व्यक्ति का लगाव और निष्ठा अपने छोटे-से समूह, बिरादरी या जाति में रहता है, किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि बड़ी या उच्चतर निष्ठाओं की प्रेरणा व्यक्ति को जातिगत ढाँचे से ही प्राप्त होती है। एक लोकतन्त्रीय राष्ट्र के निर्माण में जाति-प्रथा का यह प्रभाव नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है, इससे विभिन्न समूहों या जातियों में एक दूसरे से मिलने और गठबन्धन की प्रेरणा होती है। भारत की प्रवृत्ति हमेशा अनेकता में एकता को प्राप्त करने की रही है और आज लोकतन्त्रीय राजनीति में इस पर बहुत बल दिया जाता है।

(ग) चेतना पक्ष (The Consciousness Aspect)—जाति-प्रथा का तीसरा तत्व चेतना बोध है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति बदलती है। क्षेत्रीय वर्ग के साथ जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है, उसके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ग का दावा किया है। कुछ जातियों ने इस प्रकार ब्राह्मण पद का दावा किया है। इसमें कम आकर्षण वैश्य वर्ग का है। एक ओर जाति किसी वर्ग से जुड़ी रहती है और दूसरी ओर किसी व्यवसाय, मत या रीति-रिवाज से। सामाजिक व्यवहार में अलग-अलग स्तर पर विभिन्न रूप धारण करने के कारण जाति-व्यवस्था में लोच और परिवर्तनशीलता आ जाती है।

समाज में ऊर्ध्वगामिता की इच्छा के अनेक रूप हैं। एक प्रवृत्ति ब्राह्मणीकरण या संस्कृतिकरण की है और दूसरी प्रवृत्ति पाश्चात्यीकरण और लौकिकीकरण की। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से अक्सर ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति छोड़ देती हैं और अन्य अब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त करने और अपनी स्थिति सुधारने की चेष्टा करती हैं। इसके अलावा कभी-कभी जाति अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती है जैसे—गुजरात के पाटीदार, बंगाल के महिष्य और राजस्थान के जाट आदि। कुछ इलाकों में जहाँ ब्राह्मणों ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नेतृत्व नहीं किया, वहाँ अधिकार सीधे कुछ शक्तिशाली कृषक जातियों के हाथ में आए, इसलिए वहाँ ब्राह्मणीकरण या ब्राह्मणवाद की जरूरत नहीं पड़ी और यह जातियाँ सीधे आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगी और इन्होंने समाज में उच्च स्थिति प्राप्त की। आन्ध्र प्रदेश और बिहार इसके उदाहरण हैं। यहाँ राजनीति जातियों की गुटबन्दी या गठजोड़ पर आधारित है। संस्कृतिकरण की प्रवृत्ति कुछ सामाजिक तनाव और अस्थिरता उत्पन्न करती है, जैसे—शूद्रों

1 इकबाल नारायण पूर्वोक्त, पृ. 754-55
2 *Rajni Kothari* Caste in Indian Politics, p 8 13

और नीग्रो, गोरे या यूरोपीय लोगों की नकल करते हुए भी मन में उनके प्रति विरोध, ईर्ष्या या नफरत का भाव रखते हैं उसी प्रकार के भाव छोटी जातियाँ ब्राह्मणों के प्रति रखती हैं। नीची जातियों के आगे बढ़ने की क्रिया जारी रहती है और यह हिन्दू समाज की शक्ति का द्योतक है। आगे बढ़ने में सफलता, सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र पर निर्भर होता है। वास्तव में हिन्दू समाज में लौकिक शक्ति के आधार पर जातियों की स्थिति उठती और गिरती है इस प्रकार उसमें परिवर्तनशीलता रहती है।

जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया के तीन चरण[1] —जाति का राजनीतिक रूप दर्शाने के बाद डॉ. रजनी कोठारी ने जाति और राजनीति में अन्तःक्रिया के तीन चरणों (Three Stages) का वर्णन कर यह बताया है कि किस प्रकार पुराना समाज नई राजनीतिक व्यवस्था के करीब आया। इसके विभिन्न चरण निम्नलिखित हैं—

प्रथम चरण—प्रथम शक्ति और प्रभाव की स्पर्द्धा एवं समाज की प्रतिष्ठा जमी हुई जातियों (Entrenched Castes) तक सीमित रही। शुरू में नई शिक्षा का लाभ थोड़ी-सी बुद्धिजीवी जातियों के लोगों ने उठाया। जहाँ नई शिक्षा और उससे प्राप्त होने वाली पद प्रतिष्ठा केवल एक जाति या उपजाति तक सीमित रही, वहाँ अन्य जातियों में जो पहले से समाज में अपना प्रभावपूर्ण स्थान रखती थी, उसके प्रति ईर्ष्या पैदा हुई और इन ऊँची जातियों ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन बना लिया। इससे दो ऊँची जातियों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हुई। चेन्नई और महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण, राजस्थान में राजपूत-जाट, गुजरात में बनिया-ब्राह्मण-पाटीदार, आन्ध्र में कम्मा-रेड्डी और केरल में एजवा-नायर द्वन्द्व इसके उदाहरण हैं। इस क्रिया में अक्सर एक जाति की प्रधानता प्राप्त कर लेने पर दूसरे से उसके द्वन्द्व खड़े हो जाते हैं जैसे—गुजरात में पाटीदार क्षत्रिय और महाराष्ट्र में मराठा-महार द्वन्द्व। इन द्वन्द्वों के परिणामस्वरूप नए और पेचीदे गठबन्धन बन रहे हैं।

द्वितीय चरण—इस चरण में पद और लाभ के आकांक्षियों की संख्या बढ़ जाती है और भिन्न जातियों में स्पर्द्धा के साथ-साथ जाति के मध्य प्रतिस्पर्द्धी गुट बन जाते हैं जिनमें विभिन्न जातियों के लोग आते हैं। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों की सहायता ली जाती है जो अब तक दायरे से बाहर थीं। जाति-व्यवस्था की शक्ति और पद का ढाँचा ज्यादा से ज्यादा जटिल हो जाता है। पारस्परिक आर्थिक सहायता, जैसे—अपने परिजनों को काम-धन्धा या नौकरी दिलाना या विपत्ति में सहायता करना, आश्रय-आश्रित सम्बन्ध तथा जातियों के संघ और महासंघों का संगठन इस नई व्यवस्था के अंग बन जाते हैं।

जिन क्षेत्रों में जमीन या अन्य आर्थिक आधार पर जातियों में पहले से सम्बन्ध रहता है वहाँ राजनीति को नए जातीय संगठन बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। पहले से विद्यमान जाति-शृंखलाएँ ज्यों की त्यों राजनीतिक क्षेत्र में आ जाती हैं। दूसरी जातियों के प्रभावशाली लोगों को दल या संगठन में लेने में आसानी होती है। नई राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना से जातियों की गुटबन्दी और प्रतिद्वन्द्विता नए-नए रूप ले लेती है। जिले और प्रान्त की राजनीति में प्रभावशाली जातियों में प्रतिद्वन्द्विता प्रकट होती है, जैसे—आन्ध्र में कम्मा और रेड्डी, गुजरात में पाटीदार और अनाविल, कर्नाटक में लिंगायत और वोक्कलिंगा और मद्रास तथा बिहार में विभिन्न जातियों में राजनीतिक गुटबन्दी। जाति या वर्ग सम्बन्धों के कारण नए संगठन जन्म लेते हैं जिनके कारण नेताओं और प्रमुख व्यक्तियों तक का प्रभाव बढ़ता है। द्वितीय चरण में, प्रारम्भ में शक्ति और प्रभाव की होड़ थोड़ी-सी ऊँची जातियों तक ही सीमित रही, किन्तु धीरे धीरे प्रतिस्पर्द्धी नेताओं ने अपना गुट मजबूत करने के लिए नीची जातियों को भी राजनीति में खींच लिया। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए इन नीची जातियों के लोगों को छोटे राजनीतिक पदों और लाभ में कुछ हिस्सा दिया गया।

तृतीय चरण—इस चरण में जहाँ राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई है तथा जाति-पाँति से लगाव कम हुआ, वहीं दूसरी ओर शिक्षा, नए शिल्प, प्रतिष्ठा के परिवर्तित पैमाने और शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया है। जाति की भावना कम पड़ने लगी है। सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित नहीं रहा। राजनीति में व्यापकता आई है। नई शिक्षा और नए सामाजिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाली नई प्रवृत्तियाँ व्याप्त होने लगी हैं। आधुनिकता का एक आवश्यक तत्व है—विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों का स्पष्ट पृथक्करण। पहले राजनीतिक, शैक्षिक और बौद्धिक संचार के काम सामाजिक वर्ग या जाति के अन्दर ही होते थे, अब इनका अलग-अलग क्षेत्र बन गया है। राजनीति अभी प्रभावशाली तत्व है, परन्तु अब इसको आधुनिकता के एक साधन के रूप में माना जाता है। इसे जाति को नष्ट करने या उसका स्थान लेने वाली शक्ति के बजाय नए समाज की स्थापना में सहायक माना जाता है। अब राजनीतिक संस्थाओं का ढाँचा व्यापक होता जा रहा है जिसमें जाति की भावना को नया रूप मिलता है और उसका रोटी-बेटी वाला आधार कमजोर हो गया है। दूसरी ओर राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नए संगठन और नई निष्ठाओं को जन्म दिया है, जो पुरानी निष्ठाओं का समाज

1. *Rajni Kothari* Caste in Indian Politics, p. 14-17

करती है। जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एक मात्र आधार नहीं रही, यद्यपि राजनीति में इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति-प्रथा पर पृथकता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद में जाति-भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन में सहायता दी। आधुनिक राजनीति में भाग लेने से लोगों की सोच में परिवर्तन हुआ कि आज के युग में केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता। जहाँ जाति बड़ी होती है, वहाँ इसमें एकता का अभाव होता है, उसमें जातियों के भेद होते हैं और जब संख्या छोटी होती है तब तो वह अपने प्रभुत्व पर चुनाव जीत नहीं सकती। फिर भी यदि कोई उम्मीदवार अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो ऐसी स्थिति में दूसरी जातियाँ उसके खिलाफ हो जाती हैं। इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है। इससे विभिन्न जातियों में एकता होती है। राजनीतिक दल की शक्ति तभी बनी रहती है जब समाज के सभी प्रमुख वर्ग अर्थात् सभी जातियों के लोग उसको समर्थन दें। अस्तु राजनीति में आने के कारण जाति की भावना कमजोर पड़ जाती है और अनेक नई एकताजन्य निष्ठाओं का उदय होता है।

राज्यों की राजनीति के सन्दर्भ में जातिवाद और राजनीति पर आलोचकों के विचार—राज्यों की राजनीति जातियों के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है। यद्यपि भारत में जाति-व्यवस्था का प्रभाव एक लम्बे ऐतिहासिक विकास का प्रतिफल है, तथापि आधुनिक भारतीय राजनीति में इसका प्रभाव बहुत उन्मुक्त रूप से पड़ रहा है। रजनी कोठारी के अनुसार, "राजनीति में जातिवाद और जाति का राजनीतिकरण दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ दिखाई पड़ती हैं।" एक अन्य लेखक के अनुसार जातिवाद भारतीय समाज में उतनी गहराई से बैठ रहा है जितना कि साम्प्रदायिकतावाद, स्थानीयवाद और भाषावाद। रजनी कोठारी के अनुसार, जाति के तीन प्रमुख स्वरूप हैं—धर्म-निरपेक्ष स्वरूप, एकीकरण स्वरूप और चेतनात्मक स्वरूप। सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनीति और जाति के संगठनों को तीन स्तरों पर देखा जा सकता है—

(1) प्रजातांत्रिक राजनीति को संगठित करने के लिए जाति एक शक्तिशाली आधार प्रदान करती है। वास्तव में जाति सामाजिक व्यवस्था के संगठन एवं क्रियाकलापों का आधार मानी जाती है। ये जातिगत संगठन प्रभावशाली माध्यम का कार्य करते हैं जिससे कि राजनीतिक व्यवस्था में निर्वाचन एवं राजनीतिक समर्थन संचालित होता है। रजनी कोठारी ने इसको व्यक्त करते हुए कहा है—"वह राजनीति नहीं है जो जाति पर सवार होती है, बल्कि जाति वह है जो राजनीति पर हावी रहती है।"

(2) जाति ग्रामीण क्षेत्र में शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालती है। शहरी क्षेत्रों में क्षेत्रीयता, भाषावाद, वर्ग और व्यावसायिक हित जाति की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं, किन्तु जातिगत तत्व पूर्णतः शून्यविहीन भी नहीं होते।

(3) जातिगत सम्प्रदाय आन्तरिक रूप से सामाजिक-आर्थिक तत्वों के आधार पर भिन्न-भिन्न होते हैं इसलिए राजनीतिक क्षेत्र में एक संगठित कदम उठाना उनके लिए असम्भव हो जाता है अतः इसका लाभ राजनीतिक दलों के द्वारा विभिन्न जातिगत समूहों के हितों को उभारने के लिए किया जाता है।

चुनावों में जातिवाद का प्रभाव प्रत्येक स्वरूप में रहता है—उम्मीदवार का नामांकन, उसका चुनाव प्रसार और अन्त में मतदान जातिवादी भावनाओं से प्रेरित होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्याशी निश्चित करते समय राजनीतिक दल उम्मीदवार की जाति एवं चुनाव क्षेत्र के लोगों की जाति के मध्य तादात्म्य स्थापित करने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार जातिगत भावनाओं का अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयास किया जाता है फलतः क्षेत्र में आश्चर्यजनक गुटबन्दियाँ बन जाती हैं। राज्यों के चुनाव प्रसार के समय सर्वोजक जातिवाद का पूरा ध्यान रखते हैं। सामान्य धारणा यह होती है कि जिस जाति या समुदाय का उम्मीदवार है वह उसकी सफलता को तय करेगा। उम्मीदवार अपने चुनाव क्षेत्र में मतदाताओं को जाति के आधार पर वर्गीकृत कर लेते हैं और तदनुसार चुनाव के लिए कार्यकर्ता तय करते हैं। चुनाव प्रचार के लिए जाति के नेताओं को भेजा जाता है। अन्य जाति के विरुद्ध बात नहीं की जाती, क्योंकि प्रत्याशी उनका भी मत प्राप्त करने की चेष्टा करता है। आम सभाओं में दिए जाने वाले भाषण जातिवाद से परे और जातिगत एकता के समर्थक होते हैं, किन्तु पर्दे के पीछे वास्तविक चुनाव प्रचार अन्य प्रकार का होता है। मतदाताओं को जातिगत गठबन्धनों की प्रकृति समझाई जाती है और उनकी भावनाओं को इतना उभारा जाता है कि मतदान के समय जातिवादी तत्व अपना निर्णायक प्रभाव डाल सकें। एक सामाजिक अन्वेषणकर्ता ने चुनाव में जाति का अध्ययन करते हुए अपने परिणाम में बतलाया है कि प्रायः मतदान के लिए निम्न दृष्टिकोण साधारण मतदाताओं द्वारा अपनाए जाते हैं—स्वयं का जाति के लिए मतदान, अपनी जाति के हितों की अधिकतम रक्षा करने वाले दल के लिए मतदान, उस दल के लिए मत जिसका नेता अपना जाति का व्यक्ति है, दूसरी जातियों के द्वारा ब्लॉक मतदान, अपनी जाति के लिए व्यवस्थापिकाई संरक्षण एवं हित के लिए जाति के नेता की स्वीकृति पर विशेष दल के लिए मतदान। राज्यों की राजनीति में जाति की अप्रमाणित प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है—

(1) जातिवाद व्यक्ति के परोपकारात्मक कार्यों का दृष्टिकोण लिए रहता है। राज्यों के राजनीतिक रंगमंच पर ऐसे अनेक आन्दोलन हुए हैं जो जातिवाद के विरुद्ध प्रारम्भ हुए और अन्त में एक नवीन जाति के रूप में परिणित हो गए। उदाहरणार्थ, दक्षिण में लिंगायत और कबीर पंथी और उत्तर में सिक्ख, जिन्होंने ब्राह्मण-हिन्दूवाद के विरुद्ध सिक्खवाद को अपनाया।

(2) राजनीति में ज्यों-ज्यों आधुनिकीकरण और सामाजीकरण होता जा रहा है उसके साथ-साथ जाति का प्रभाव कम होने की अपेक्षा और अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति नजर रही है। मोरिस जोन्स ने कहा है कि भारतीयों में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीकरण बढ़ रहा है वहाँ के लोग प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से जातिगत संस्थाओं में अधिक बढ़ रहे हैं।

(3) राज्यों की राजनीति में जाति ने अपना परम्परागत स्वरूप बदल लिया है। इसके पीछे शक्ति महत्वपूर्ण तत्व रही है। इसीलिए रजनी कोठारी ने उचित ही कहा है, "वह राजनीति नहीं है जो जातिग्रस्त हो गई है, बल्कि जाति है जो राजनीति हो गई है।"

(4) आज राज्यों की राजनीति में जातिवादी सिद्धान्त का महत्व हो गया है। यह प्रभुत्वशाली जातिवादी सिद्धान्त कई स्वरूपों में प्रकट हुआ है। कैथेलियन एप. इलियट ने आन्ध्र में रेड्डीज और कम्मास के सम्बन्ध में प्रभुत्व जाति शब्द का प्रयोग किया है और सिरनिवास ने ग्रामीण नेतृत्व के सम्बन्ध में इसी सिद्धान्त को उद्धरित किया है। प्रभुत्व जाति आधुनिक भारत में ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, जिसमें बढ़ती हुई सदस्यता, पूँजीगत स्रोत आदि ने बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(5) राजनीति में जाति समुदाय का प्रभाव राजनीतिक निर्णयों पर है। उदाहरणार्थ, 1952 में पदयाची ने राजगोपालाचार्य मन्त्रिमण्डल में उस समय तक सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया जब तक कि वनीयार जाति की माँगें सरकार ने कार्यान्वित करने का वादा नहीं किया।

(6) जाति समुदाय एक संगठन के रूप में राज्यों में सशक्त हो रही है। उदाहरण के लिए, नगर महाजन संगम ने 1956 में एक रजत जयन्ती मनाई। इसी तरह के अन्य समूह हैं—वनीयार क्षेत्रीय संगम, गुजरात क्षेत्रीय सभा आदि।

(7) जाति को राजनीति में प्राथमिकता देने से नेतृत्व उन लोगों के हाथों में आने लगा है जो जाति की रक्षा कर सकें। इससे जातिगत नेतृत्व में आधुनिकीकरण होने लगा है।

(8) राजनीति में जाति समुदाय दो प्रकार से प्रभाव डालते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जैसे—गुजरात एवं राजस्थान के वैश्य एवं महाजन और कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो जाति की संख्या के आधार पर राजनीति को प्रभावित करती हैं, जैसे—पंजाब में सिक्ख।

(9) राज्य स्तर पर जातिगत भेद-भाव अनेक अभिकरणों के माध्यम से बनते और पनपते हैं। उदाहरण के लिए, शैक्षणिक संस्थाएँ, जाति के होस्टल, जाति पंचायतें और जाति-कोष आदि। जातिगत समुदाय या सभाएँ किसी न किसी रूप में राज्यों की राजनीति को निरन्तर प्रभावित करते रहते हैं।

भारतीय राजनीति पर जाति का प्रभाव—राजनीति को प्रभावित करने में जातीयता की भूमिका को निम्नानुसार रूप से विश्लेषित किया जा सकता है—

1. भारत में सभी निर्वाचनों में जातीयता की भूमिका रही है साथ ही इसने निर्वाचन परिणामों को प्रभावित किया है। यद्यपि 1977, 1980 और 1984 के संसदीय निर्वाचनों में जातिवादी राजनीति को धक्का लगा है और इसका प्रभाव नगण्य हो रहा है, तथापि 1989, 1991, 1996, 1998, 1999 और 2004 के संसदीय चुनावों में इसका प्रभाव बढ़ा है।

2. सन् 1977 के पश्चात् चरणसिंह के नेतृत्व में देश की पिछड़ी जातियाँ उत्तर प्रदेश, बिहार और हरियाणा में शक्ति-पुंज बनकर सामने आई। जाट, अहीर, गूजर, यादव, लोधा और कुर्मी जातियों की राजनीति में पहचान हुई। रामनरेश यादव, मुलायमसिंह यादव, चौधरी देवीलाल और कर्पूरी ठाकुर इन जातियों के प्रमुख प्रवक्ता बने। वर्तमान में काशीराम, मायावती, मुलायमसिंह यादव, लालूप्रसाद यादव, रामविलास पासवान, शरद यादव आदि पिछड़ी जातियों के मुख्य नेता हैं।

3. केन्द्र और राज्यों में मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखा जाता है कि इसमें सभी प्रमुख जातियों का प्रतिनिधित्व हो जाए।

4. प्रशासनिक ढाँचे और उसकी निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में जातिवादी राजनीति की भूमिका रहती है। अनेक बार जातिगत हितों की पूर्ति करने के लिए प्रशासनिक निर्णय भी लिए जाते हैं।

5. जातीयता से हिंसात्मक घटनाएँ घटित हुई हैं। बिहार की राजनीति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। बेल्छी और जहानाबाद की हिंसक घटनाएँ रोंगटे खड़े कर देती हैं। बिहार, हरियाणा, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान में ऐसी हिंसात्मक घटनाएँ प्रायः घटित होती रहती हैं।

6. आरक्षण की राजनीति ने जातिगत विद्वेष को भड़काया है। गुजरात का आरक्षण विरोधी हिंसक आन्दोलन इसका उदाहरण है। 1990 में मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा के बाद भी देश में जगह-जगह इसके विरोध में हिंसक घटनाएँ घटित हुई हैं।

7. देश में सभी राजनीतिक दलों ने अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए जातिवादी राजनीति का सहारा लिया है।

भारत की राजनीति में वर्ग
(Politics of Class in India)

भारतीय समाज के वर्गों को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. उच्च वर्ग (*Higher Classes*)—अगड़े वर्ग को उच्च वर्ग की संज्ञा दी जाती है। इसमें ब्राह्मण, राजपूत वैश्य, नायर, नाडार और कायस्थ वर्गों को शामिल किया जाता है। इन्हें 'सवर्ण वर्ग' के रूप में जाना जाता है। सामन्तों जागीरदारों, पूँजीपतियों, उद्योगपतियों बड़े किसानों, मध्यम श्रेणी के व्यापारियों और व्यावसायियों, धार्मिक महन्तों को इस वर्ग में रखा जाता है। इन वर्गों का अल्प संख्या में होने के बावजूद देश की राजनीति, व्यवसाय, प्रशासन तथा देश के संसाधनों पर इनका प्रभुत्व है। राजनीतिक दलों द्वारा इन्हीं वर्गों के हितों की पूर्ति की दिशा में कार्य किया जाता रहा है। जब पिछड़े और निम्न वर्गों ने इनके प्रभुत्व को चुनौती देने अथवा इनके स्वार्थों पर चोट करने का प्रयत्न किया तो इस 'अगड़े वर्ग' ने उन्हें कुचलने हेतु उन पर निर्मम अत्याचारों का कहर बरसाया है।

2. पिछड़े वर्ग (*Backward Classes*)—देश में जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत से भी अधिक भाग अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़े वर्गों का है। इन्हें सामान्यतः पिछड़े वर्ग की संज्ञा दी जाती है। यह वर्ग सदियों से उच्च वर्ग के अत्याचारों, उत्पीड़न और शोषण की प्रताड़ना का शिकार होने के कारण 'पिछड़ा' रहा है। जो स्वतन्त्रता के पश्चात् भी जारी है। आये दिन उच्च या सवर्ण वर्गों के अत्याचारों की घटनाओं की गूँज संसद, राज्य विधानसभाओं और समाचार पत्रों में सुनाई पड़ती है। पिछड़े वर्ग को आर्थिक विपन्नता, सामाजिक अन्याय और राजनीतिक पिछड़ेपन के साथ ही गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी, दरिद्रता, आर्थिक विपन्नता तथा आर्थिक अभावों का सामना भी करना पड़ रहा है। यह वर्ग सामाजिक अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न तथा सामाजिक दृष्टि से हीनता की मनोदशा से ग्रसित है।

संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में इस वर्ग के उत्थान के लिए प्रावधान निश्चित किये गए हैं। इससे देश में 'सामाजिक और आर्थिक न्याय' की स्थापना की दिशा में आधार-भूमि निश्चित हुई है। स्वतन्त्रता के पश्चात् पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए अनेक कदम उठाए गये हैं। देश में जागीरदारी और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया है। राज्यों द्वारा भूमि सुधार कानूनों को लागू करके खेतिहर श्रमिकों को उनके अधिकार प्रदान किये हैं। इन वर्गों के आर्थिक उत्थान और कल्याण के लिए विभिन्न कदम उठाये गये हैं। विभिन्न प्रकार के आरक्षणों के माध्यम से इन वर्गों का सरकारी सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व और पदोन्नति व्यवस्था लागू करने के प्रयास किये गये हैं। देश की राजनीति में इन वर्गों का समुचित प्रतिनिधित्व हो, इसके लिए पंचायती राज संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। इन वर्गों पर अत्याचारों को रोकने की दिशा में सार्थक कदम उठाये गये हैं जिससे इन वर्गों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है और व्यवस्थापिका सभाओं और प्रशासन में इन वर्गों का प्रतिनिधित्व बढ़ा है। इन वर्गों की राजनीतिक जागरूकता में अभिवृद्धि हुई है। कतिपय वर्गों में प्रभावशाली राजनीतिक नेतृत्व का अभ्युदय हुआ है। डॉ. भीमराव आम्बेडकर, बाबू जगजीवनराम, चौधरी चरणसिंह, कर्पूरी ठाकुर जैसे नेताओं ने इन वर्गों को संगठित करके एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति बना दी है। वर्तमान में मुलायमसिंह यादव, लालूप्रसाद यादव, रामविलास पासवान, शरद यादव, सुश्री मायावती इन वर्गों के प्रमुख नेता हैं। विश्वनाथ प्रतापसिंह भी इस वर्ग के हितों के प्रवक्ता हैं। इन नेताओं ने पिछड़े वर्गों को संगठित करने में योगदान दिया है। इससे इन वर्गों में नया आत्म-विश्वास और गौरव की भावना का विकास हुआ है। इस वर्ग ने अपनी ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया है। सभी राजनीतिक दल पिछड़े वर्गों में अपना जनाधार सशक्त करने के लिए इन वर्गों को अपने पक्ष में करने हेतु प्रयत्नशील हैं। राष्ट्रीय राजनीतिक दलों में डॉ. भीमराव आम्बेडकर को राष्ट्रीय नेता के रूप में सम्मान प्रदान करने और उनके विचारों का प्रचार करने की होड़ लगी हुई है।

साम्प्रदायिकता की राजनीति
(Politics of Communalism)

साम्प्रदायिकता भारतीय राजनीति की प्रमुख समस्या है। यद्यपि संविधान ने भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया है, इसके बावजूद देश में अभी तक धर्म-निरपेक्ष समाज की स्थापना नहीं की जा सकी है।

साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण—भारत में साम्प्रदायिकता के विकास में तनाव, वोट की राजनीति, साम्प्रदायिक दलों और व्यक्तित्व की भूमिका, बहुसंख्यकों में अविश्वास और भय की मनोवृत्ति, मुसलमानों का आर्थिक पिछड़ापन, हिन्दू और

4. धर्मनिरपेक्षता का प्रचार—धर्मनिरपेक्षता का प्रचार लोगों के विचारों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। राज्य सरकारों/केन्द्र शासित प्रदेशों के सुलभ संचार माध्यमों का इस्तेमाल धर्म-निरपेक्ष के आदर्शों का प्रचार करने तथा साम्प्रदायिक और क्षेत्रीय शान्ति को बढ़ावा देने के लिए किया जाना चाहिए।

5. शिक्षकों की भूमिका—छात्र-छात्राओं के विचारों को प्रभावित करने में प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों और कॉलेजों के शिक्षक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अध्यापन व्यवसाय से सम्बद्ध रहने वाले को किसी धर्म-निरपेक्षता विरोध या समाज में वैमनस्य पैदा करने वाली गतिविधियों से बचना चाहिये।

6. राष्ट्रीय एकता को बल देना—भारतीय संस्कृति अथवा इतिहास को परिभाषित करना सरल नहीं है। परस्पर विरोधी धारणाओं वाली ऐतिहासिक घटनाओं से देश में अनेक बार संघर्ष की स्थिति पैदा हुई है। पाठ्य-पुस्तकों में ऐतिहासिक घटनाओं को असाम्प्रदायिक जामा पहनाकर देश हित में किया जा सकता है, इसलिए यह आवश्यक है कि इतिहास की सभी पुस्तकों की पुनः समीक्षा की जाए ताकि उनमें से राष्ट्रीय एकता विरोधी सामग्री को निकाला जा सके।

7. नैतिक शिक्षा—बच्चों को नैतिक शिक्षा प्रदान कर उन्हें साम्प्रदायिक मान्यताओं और क्षेत्रीय तथा विदेशी निष्ठाओं से दूर रखा जाना चाहिए। माध्यमिक कक्षाओं के लिए भी पाठ्यक्रम इस तरह से तैयार किए जाएं ताकि बच्चे सभी धर्मों के महापुरुषों की जीवनी पढ़ सकें और उनमें सहिष्णुता की भावना पैदा की जा सके।

8. आचार-संहिता—छात्रों के लिए आचार-संहिता तैयार करना लाभदायक हो सकता है। इस आचार-संहिता को हिंसा और साम्प्रदायिक संघर्ष से दूर रखने के लिए ठोस मार्ग निर्देशन का समावेश किया जाना चाहिए। छात्र संघों को इस दिशा में अवसर देना सर्वोत्तम नीति होगी।

9. राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम—राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने के उद्देश्य से राज्य सरकारें गोष्ठियाँ एवं वाद-विवाद समारोह आयोजित कर सकती हैं जिनमें भारत की सांस्कृतिक एकता पर बल दिया जाए।

10. नवयुवकों के लिए कार्यक्रम—नवयुवकों के लिए विशेष कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए जिनमें सभी सम्प्रदायों के नवयुवक भाग लेकर आपसी सद्भावना बढ़ा सकें।

11. अल्पसंख्यकों की सुरक्षा—अल्पसंख्यकों को सरकारी नौकरियों, सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों और दूसरे निकायों तथा संस्थाओं में समुचित प्रतिनिधित्व देने के लिए ठोस प्रयासों की जरूरत है।

12. धार्मिक सहिष्णुता के लिए मेलजोल—गाँवों और मोहल्ला स्तर पर विभिन्न सम्प्रदायों के लोग विशेषकर हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से मिलने-जुलने के लिए तथा उनमें एक-दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता अपनाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। किसी सम्प्रदाय विशेष के धार्मिक उत्सवों में दूसरे सभी सम्प्रदायों के लोगों को शामिल होने के लिए प्रोत्साहित करना लाभदायक हो सकता है।

13. राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता—राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता तैयार कर यह सुनिश्चित करना चाहिए कि उनके कार्यकर्ता विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के बीच वर्तमान मतभेदों को बढ़ाने या आपसी घृणा पैदा करने के लिए कोई काम न करें।

14. धार्मिक स्थलों की सुरक्षा—धार्मिक स्थलों का दुरुपयोग रोकने के सख्त प्रयास किये जाने चाहिए।

15. अल्पसंख्यक आयोग की सिफारिशों को लागू करना—जहाँ तक सम्भव हो अल्पसंख्यक आयोग की सिफारिशों को लागू किया जाना चाहिए।

16. जिलाधिकारियों को उत्तरदायी बनाना—साम्प्रदायिक दंगे होने की स्थिति में जिलाधिकारियों को उत्तरदायी बनाया जाना चाहिए।

17. धर्म परिवर्तन पर प्रतिबन्ध—जबरन धर्म-परिवर्तन पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए।

18. पिछड़ेपन को दूर करना—मुस्लिम लोगों के आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए ठोस प्रयत्न किये जाने चाहिए। उनमें शिक्षा का प्रचार भी किया जाना चाहिए और उन्हें परिवार नियोजन के लाभों से अवगत कराते हुए 'सीमित परिवार सुख का आधार' को अपनाने पर बल देना चाहिए।

क्षेत्रवाद

(Regionalism)

क्षेत्रीयता भारतीय राजनीति का प्रमुख निर्धारक तत्व है जिसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकी है। फलस्वरूप लोग भारतीय संघ की अपेक्षा उस क्षेत्र एवं राज्य विशेष को अधिक महत्व देते हैं जिसमें वे रहते हैं। प्रान्तीयता और क्षेत्रवाद की इस प्रवृति को समाप्त करने और सभी को एक 'राष्ट्र' के प्रति निष्ठावान बनाने की भावना से संविधान द्वारा एकल नागरिकता की व्यवस्था की गई है, लेकिन हमारे मस्तिष्क में 'भारतीय नागरिक' होने की अपेक्षा बंगाली, बिहारी,

में संविधान के 16वें संशोधन द्वारा संसद को ऐसे कानून के निर्माण का अधिकार दिया गया, जिसके द्वारा भारत की सम्प्रभुता और अखण्डता को चुनौती देने वाले व्यक्तियों को दण्डित किया जा सके। साथ ही संसद अथवा राज्य विधान-मण्डल के चुनावों में उम्मीदवारों के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि संविधान के प्रति निष्ठा तथा देश की प्रभुसत्ता और अखण्डता की रक्षा की वे शपथ लें। क्षेत्रीय सर्वोपरिता की घातक प्रवृत्ति पंजाब के सिक्खों के एक अत्यन्त छोटे से वर्ग के नेता जगजीतसिंह चौहान के उन प्रयासों के रूप में दिखाई दी जिनके अन्तर्गत उन्होंने विश्व के अनेक देशों का भ्रमण करके स्वतन्त्र सिक्खिस्तान के पक्ष में विश्व लोकमत तैयार करने का असफल प्रयास किया था। मुट्ठी भर लोगों ने खालिस्तान की माँग प्रबल की, उत्तर-पूर्व की आदिम जातियों के क्षेत्र में ऐसी माँग मिजोरम और नागालैण्ड में भी की गई थी। नागालैण्ड में विद्रोही नागा नेता फिजो के नेतृत्व में पृथकतावादी तत्व 1950 से ही सक्रिय थे, यद्यपि नागालैण्ड क्षेत्र के अधिकांश नागा लोग भारत से अलग होने के पक्ष में नहीं थे, फिर भी क्षेत्र की महत्वाकांक्षा 1960 में भारत सरकार और नागा जन-सम्मेलन के बीच हुए समझौता के अनुसार 1962 में संविधान के 13वें संशोधन द्वारा नागालैण्ड को भारतीय संघ के एक पूर्ण राज्य का स्तर प्रदान कर दिया गया है।"

भारतीय संघ से पृथकता की ऐसी माँग लालडेंगा के नेतृत्व में 'मिजो नेशनल फ्रन्ट' द्वारा भी उठाई गई थी। सन् 1985 में मिजो नेता लालडेंगा और राजीव गाँधी के बीच हुए समझौते ने मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया। मिजोरम में पृथकतावादी तत्वों ने बड़े पैमाने पर हथियार डाल दिए। मिजोरम में हुए चुनाव में लालडेंगा के नेतृत्व में मिजो नेशनल फ्रन्ट को पूर्ण बहुमत प्राप्त होने से इस दल की सरकार बनी। उसने राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने की दृष्टि से कड़े कदम उठाये। इस सबके बावजूद इन क्षेत्रों में पृथकतावादी तत्व पूर्णतया समाप्त नहीं हुए हैं और अब भी अनेक बार कानून और व्यवस्था को खुली चुनौती देते रहते हैं।

2. अपने लिए पृथक् राज्यत्व की माँग—कुछ क्षेत्रों द्वारा पृथक् राज्यत्व की माँग के आन्दोलन भारतीय राजनीति को उद्वेलित करते रहे हैं। महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब राज्यों की स्थापना मुख्यतः ऐसे ही आन्दोलनों का परिणाम है। असम के कुछ कबायली लोगों ने पृथक् राज्यत्व के लिए आन्दोलन किया। 'आल पार्टी हिल लीडर्स कॉन्फ्रेंस' के नेतृत्व में गारो, खासी, जयन्तिया, मिकिर और उत्तरी कछार के क्षेत्रों में रहने वाले इन लोगों के आन्दोलनों के परिणामस्वरूप 1972 में मेघालय राज्य की स्थापना हुई। समय-समय पर पृथक् विदर्भ राज्य और बिहार, उड़ीसा तथा मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों को मिलाकर पृथक् झारखण्ड राज्य की स्थापना की माँग इसी क्षेत्रीयता की भावना के प्रदर्शन के रूप में रही है। कछार की पहाड़ियों में रहने वाले बंगालियों को शिकायत है कि असम सरकार के हाथों में उनके हित सुरक्षित नहीं हैं, इस कारण उनकी एक पृथक् राज्य की माँग है। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा पृथक् झारखण्ड राज्य की माँग करता रहा है। उत्तराखण्ड की माँग जोर पकड़ती गई है। इसी के परिणाम स्वरूप में अटल बिहारी वाजपेयी सरकार द्वारा उत्तरांचल (उत्तराखण्ड) व झारखण्ड एवं छत्तीसगढ़ राज्य की स्थापना हो चुकी है।

3. क्षेत्रीय भाषायी विवाद—भारत में भाषायी दंगे होते रहे हैं। असम और मुम्बई में भी भाषायी आधार पर हुए तो कोलकाता में गैर बंगालियों के प्रति द्वेष की भावना इसी आधार पर हुई है। क्षेत्रीय भाषायी दंगों में कुछ विचारकों का मत है कि 'केवल भाषा के ममत्व' को इसका मुख्य आधार नहीं माना जा सकता। भाषा तो मात्र एक बहाना है। वास्तव में प्रदेश विशेष का शिक्षित वर्ग रोजगार पाने में पहले से जमे हुए बाहर वालों से मात खाता है तो उसे बड़ी बेचैनी होती है। वह सोचता है कि वह अपने क्षेत्र में 'बेरोजगार' है जबकि 'बाहर वाले' वहाँ अच्छी नौकरियों पर जमे बैठे हैं। अतः वह 'बाहर वालों' के विरुद्ध संघर्ष शुरू करता है, जिसका आधार शैक्षिक या तकनीकी योग्यता न होकर भाषा को मानता है, जिसमें वह क्षेत्र की सम्पूर्ण जनता को अपने साथ ले सकता है। क्षेत्र विशेष के निहित स्वार्थों और बाहर के निहित स्वार्थों के आपसी टकराव इस स्थिति को उत्तेजित करते रहते हैं।

4. अन्तर्राज्यीय विवाद—क्षेत्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व अन्तर्राज्यीय विवाद है। इस सम्बन्ध में उदाहरण महाराष्ट्र-मैसूर सीमा विवाद का है। महाराष्ट्र की माँग है कि कर्नाटक राज्य में बेलगाँव शहर, कारवार, हालियाल एवं सुपा ताल्लुका के मराठी भाषा जिले में एक हजार से ऊपर गाँव और लगभग 10 हजार लोग रहते हैं, उन्हें महाराष्ट्र में मिला दिया जाए तो इसके बदले में कर्नाटक को लगभग सवा तीन लाख जनसंख्या के 260 गाँव महाराष्ट्र से दिलवाया जाएँ। कर्नाटक महाराष्ट्र की इस माँग से सहमत नहीं है। केन्द्र द्वारा नियुक्त 'महाजन आयोग' ने महाराष्ट्र की माँग के औचित्य को स्वीकार नहीं किया है। इसी कारण यह विवाद आन्दोलनात्मक राजनीति तथा तोड़ फोड़ एवं हिंसा का कारण रहा है जो आज भी अनिर्णित रहा है। दूसरा सीमा विवाद पंजाब और हरियाणा के बीच रहा है जो सम्मिलित पंजाब के समय से वहाँ की राजनीति को प्रभावित करता रहा है। इस विवाद के समर्थन के लिए 29 जनवरी, 1970 को यह घोषणा की गई थी कि चण्डीगढ़ को पंजाब में मिला दिया जाएगा तथा हरियाणा को इस नगर के बदले फाजिल्का तहसील के फाजिल्का सहित 114 हिन्दी भाषी गाँव तथा अबोहर एवं चण्डीगढ़ के समीप क्षेत्र के 6 गाँव दे दिए जाएँगे। इस घोषणा में यह कहा गया था कि 5 वर्ष तक केन्द्र-शासित क्षेत्र रहने के बाद चण्डीगढ़ पंजाब में शामिल

पर क्षेत्रीयता का दुष्चक्र चलता रहा है। भाषाई विवाद जो लम्बे अर्से से दबे रहे वह फिर उभरने लगे हैं। कुछ राज्यों में भाषा अथवा अन्य आधार पर टुकड़े कर पृथक् राज्य बनाए जाने की माँग उठाई जा रही है। कई कबायली और आदिवासी क्षेत्रों में विद्रोही गतिविधियाँ चलाई जा रही हैं। उड़ीसा तथा बिहार में वहाँ के कुछ दिशा-भ्रमित तत्वों द्वारा उत्तर भारतीयों, विशेष रूप से मारवाड़ियों के खिलाफ चलाया गया आन्दोलन क्षेत्रीयता का उदाहरण है। ऐसे आन्दोलनों की निन्दा करना पर्याप्त नहीं है, उन्हें शक्ति से दबाया भी जाना चाहिए. क्षेत्रीयता की आड़ में हिंसा की स्थिति को कदापि सहन नहीं किया जा सकता है।

विगत वर्षों में क्षेत्रीय दलों के शक्तिशाली रूप में अभ्युदय और राष्ट्रीय राजनीति में उनके बढ़ते वर्चस्व ने क्षेत्रीयता को बढ़ावा दिया है। इससे राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय स्तर के विपक्षी दलों की भूमिका कमजोर हुई है, जिसे देश की संसदीय व्यवस्था के लिए शुभ लक्षण नहीं माना जा सकता है। संयुक्त मोर्चे के नेता देवेगौड़ा सरकार के गठन और संचालन में क्षेत्रीय दलों की निर्णायक भूमिका ने केन्द्र में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की स्थिति को कमजोर बना दिया। अनावश्यक क्षेत्रीय दल इस नवीनतम राजनीतिक स्थिति में अपने को कहाँ तक उत्तरदायी ढंग से आचरण करने के लिए तैयार कर पायेंगे, यह तो आने वाला समय ही बतायेगा। अगर ऐसा होता है तो भारतीय लोकतन्त्र के लिए यह अत्यन्त सुखद स्थिति होगी।

क्षेत्रीयतावाद को रोकने के उपाय—देश में क्षेत्रीयतावाद को रोकने की दिशा में निम्नलिखित उपाय सार्थक बन सकते हैं—

1. सभी उप सांस्कृतिक क्षेत्रों (Sub-Cultural Regions) में सन्तुलित आर्थिक विकास की प्रभावी नीति पर अमल किया जाए।
2. सभी क्षेत्रों के लोगों को बिना किसी भेदभाव के समान आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँ ताकि उनमें अनावश्यक ईर्ष्या और असन्तोष न फैले।
3. नियोजन का लाभ पिछड़े और गरीब तबके के साथ-साथ सामान्य जन को अधिकाधिक मिले और कुछ ही हाथों तथा कुछ ही क्षेत्रों में धन का संकेन्द्रण न हो।
4. भाषायी विवादों के समाधान हेतु सभी क्षेत्रीय भाषाओं को मान्यता प्रदान कर दी जाए।
5. हिन्दी भाषा प्रचार और विस्तार ऐसे किया जाए कि विभिन्न क्षेत्रीय समूह स्वतः ही इसे सम्पर्क भाषा (Link Language) के रूप में स्वीकार कर लें।
6. केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों का सन्तुलित प्रतिनिधित्व हो ताकि क्षेत्रीय पक्षपातपूर्ण नीतियों का खण्डन हो सके।
7. अन्तर्राज्यीय नदी विवादों का शीघ्रातिशीघ्र हल किया जाये। राष्ट्रीय जल-नीति का निर्माण हो।
8. देश के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान हो।
9. शिक्षा में भारतीयता का समावेश हो।
10. क्षेत्रीयतावाद तथा साम्प्रदायिकता से जुड़े राजनीतिक दलों का पूर्ण बहिष्कार किया जाए। उनके ऊपर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए जायें।

पिछड़ा वर्ग तथा दलित आन्दोलन
(Backward and Dalit Movements)

जन्म के आधार पर श्रेणीबद्ध असमानता वर्णाश्रम समाज व्यवस्था का निषेध दलित चेतना का केन्द्र बिन्दु रहा है। दलित चेतना का निर्माण उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में होता है, जहाँ सामाजिक संरचना दलित समुदाय को एक नियमित स्थान पर स्थापित कर देती है तथा उस नियमित स्थान से मुक्ति की आकांक्षा हो-इस विशिष्ट सामाजिक श्रेणी की चेतना का निर्माण करती है। दलित चेतना जहाँ परम्परागत सामाजिक संरचना का निषेध करती है, वहीं, विकल्प के रूप में एक मानवीय समतापरक तथा गतिशील समाज के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव रखती है। दलितों के बौद्धिक प्रतिबिम्बन में 'मानवीय', 'समता परक', 'गतिशील' आदि उद्बोधन प्रमुखता से होते हैं। यानी दलित चेतना और दलितों के आन्दोलन बहुआयामी स्वरूप में यह स्पष्ट सन्देश होता है कि परम्परागत वर्ण व्यवस्था वाला समाज आन्तरिक रूप से अमानवीय एवं अन्यायपरक है।

पिछड़े और दलितों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—वर्णाश्रम या चातुर्यवर्ण व्यवस्था चार सामाजिक समूहों के एकीकृत संयोग से बनती है। ये चार समूह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में जिस चातुर्यवर्ण समाज की कल्पना की गई है, उनमें इन्हीं चार सामाजिक श्रेणियों का उल्लेख है जो एक दूसरे से अविभाज्य रूप से सम्बद्ध हैं तथा एक दूसरे की पूरक हैं। यद्यपि श्रेणी बद्धता चातुर्य वर्ण समाज की मौलिक रूपरेखा है, ब्राह्मण 'सर्वोच्च तथा शूद्र सबसे नीचे, पर इनमें न कोई अछूत है और न ही कोई 'सछूत' है।

इससे स्पष्ट है कि वर्णों के भीतर गैर बराबरी तो है पर अशुद्धता, शुद्धता का प्रावधान नहीं है। अछूत एवं आदिवासी ही ऐसी दो सामाजिक श्रेणियाँ हैं जो चातुर्य वर्ण व्यवस्था के बाहर हैं। व्यवस्था के बाहर होने मात्र से ही इन दो सामाजिक श्रेणियों में स्वाभाविक एकता उत्पन्न नहीं होती है। हालांकि, अछूत व्यवस्था से बाहर होने के बावजूद व्यवस्था से बंधे रहे तथा आदिवासी भौगोलिक रूप से व्यवस्था से दूर रहे पर इन दोनों में एक और समानता है कि ये दोनों ही सामाजिक श्रेणियाँ की व्यवस्था की भौतिक उपलब्धियों से वंचित रही है तथा आज भी ये जातियाँ उस पीड़ा को सहन कर रही हैं।

दलित चेतना और आन्दोलन—दलित समाज जिन यन्त्रणाओं का शिकार रहा है और जिस तरह हिंसा जन्य समस्त ज्ञात रूपों का भोगी है, इसके बावजूद इनका अस्तित्व में बने रहना किसी अद्भुत संयोग से कम नहीं है। कुछ भौतिक कारण रहे हैं जिनमें आन्तरिक रूप से सशक्त होना दलित समाज की प्रवृत्ति रही है। दलित मन से मजबूत, सोच से न्याय प्रिय तथा सामाजिक व्यवहार से विद्रोही रहा है और ये सारी विशेषताएँ दलित चेतना में परिलक्षित होती हैं।

इसके महासंत रविदास, अम्बेडकर पूर्व के दलित समाज में, दलित चेतना के श्रेष्ठतम वाहक रहे हैं। इस महान् दलित विद्रोही को दरकिनार करने की कोशिश उनके जीवन काल में की गई थी, उसी प्रकार सन्त रविदास के प्रभाव को कम करने के लिए कोशिश की गई थी। रविदास दलित चेतना के महान् वाहक थे। संत रैदास रविदास की भाँति ही महात्मा कबीर ने भी जाति-पाँति का विरोध करके दलित और पिछड़ों के उत्थान का महान कार्य किया था।

इसी प्रकार संत नामदेव, पन्ना, मीरा व अन्य संतों ने दलितों के उत्थान के लिए काम किया था। इन कवियों के बाद महाराष्ट्र में ज्योति बा राव फूले ने दलितोत्थान के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। महात्मा गाँधी ने तो अछूतोद्धार के लिए एक निर्धारित कार्यक्रम बनाया था तथा उन्होंने उनका नाम हरिजन रखा। 'हरिजन' के नाम से उन्होंने पत्र भी निकाला।

अम्बेडकर और दलित आन्दोलन—आधुनिक भारत में दलित चेतना का कार्य एवं चिन्तन अम्बेडकर के कार्यों में महत्वपूर्ण है। उनके प्रयत्नों से दलित समाज आज काफी अच्छी स्थिति में आ गया है। अम्बेडकर ने संविधान के माध्यम से दलितों की उन्नति के लिए अनेकानेक मार्ग खोले। भारत का दलितोत्थान आन्दोलन महत्वपूर्ण रूप से सफल माना जा सकता है क्योंकि देश के उच्चतम पद राष्ट्रपति से लेकर पंचायतों में तथा राजकीय सेवाओं में दलितों का महत्वपूर्ण स्थान एवं भूमिका है।

लिंग न्याय हेतु संघर्ष
(Struggle for Gender Justice)

भारत तथा अन्य देशों में पुरुष-प्रधान समाज में स्त्रियों को एक वस्तु मानकर उनके साथ व्यवहार किया है, लेकिन पुरुषों और स्त्रियों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विभेदों का सामान्य प्रतिमान नहीं है। भारत में यौन सामाजिक चेतना की उत्पत्ति मध्यम वर्गों के प्रादुर्भाव और उनकी समस्याओं से जुड़ी हुई है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के 57 वर्ष बाद भी अनेक महिला संगठनों द्वारा चलाए गए महिला उत्थान के बहुत-से आन्दोलनों के बावजूद पुरुष प्रधानता सुदृढ़ है। यौन नैतिकताओं का जाति और वर्ग-समूहों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव है।

महिलाओं की समस्याओं के सन्दर्भ में चार पहलुओं का विस्तृत अध्ययन किया गया है— (1) उत्पादन, (2) प्रजनन, (3) लैंगिकता और (4) बच्चों का समाजीकरण। भारत के संदर्भ में मार्क्सवादी और समाजवादियों ने उत्पादन पर जरूरत से ज्यादा बल दिया है। भारत में इन चारों पहलुओं में पुरुषों का प्राधान्य है जबकि इन्हीं क्षेत्रों में स्त्रियों का मुख्य उत्तरदायित्व है। पुरुष की सर्वोच्चता जाति, वर्ग, पुरुष-तन्त्र और पुरुष कामुकता से उत्पन्न होती है।

परिवार में स्त्री अपने सास-ससुर यहाँ तक कि अपने पति द्वारा दलित की तरह समझी जाती है। स्त्रियों की स्थिति उन सब जातियों और वर्गों के परिवारों की स्त्रियों के बारे में सही है जिन पर आज सामन्तवाद का प्रभाव है या जिनकी जीवन-प्रणाली और मूल्य सामन्ती हैं। गाँवों में नव-धनाढ्य लोगों ने स्त्रियों पर उच्च शिक्षा ग्रहण करने, प्रवसन और नौकरी करने पर प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। सही बात तो यह है कि पुरुषों और उनके द्वारा निर्मित वातावरण ने स्त्रियों को पराधीन बना दिया है। स्त्रियों की पुरुषों के साथ समता की खोज समझने की दृष्टि से पुराने महिला संगठनों की भूमिका, विधान, सामाजिक आन्दोलन और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का विश्लेषण यहाँ किया जा रहा है।

समानता की खोज—स्त्री द्वारा पुरुष के साथ समानता की खोज एक सार्वभौमिकता बन चुकी है। इस माँग के कारण महिला आन्दोलनों, नारीवादीय कार्यक्रमों और संगठनों का जन्म हुआ है। नारीवाद की उत्पत्ति संसार में सामाजिक संरचना के रूप में हुई है। पुरुष और स्त्री में असमानताएँ और स्त्रियों के प्रति भेदभाव आदि की कठिनाइयाँ सदियों से चली आ रही समस्याएँ है। लम्बे समय तक स्त्रियाँ घरों की चारदीवारी के भीतर रही हैं तथा पुरुषों पर वे पूर्ण रूप से निर्भर रही हैं। जब शिक्षित महिलाओं ने घर से बाहर रोजगार करने की आवश्यकता महसूस की तब विगत कुछ वर्षों से मध्यमवर्गीय महिलाओं ने घर से बाहर के कार्यों में अपना वर्चस्व बढ़ाया है और महँगाई की मार से कीमतों में निरन्तर बढ़ोत्तरी के प्रश्न को उठाया है और भारत के विभिन्न शहरों में कीमत-वृद्धि विरोधी आन्दोलन शुरू किए हैं। घर के भीतर भी स्त्रियों ने पुरुषों के साथ समानता की माँग की है। जो वस्तुएँ पुरुषों को प्राप्त होती हैं उनकी माँग स्त्रियों ने भी की है जो पुरुषों के निरंकुश आधिपत्य की अवधारणा का द्योतक है।

स्त्रियों को अपने उत्थान के लिए एक स्वतन्त्र मार्ग अपनाना आवश्यक है। वर्तमान में स्त्रियाँ इस कठोर पितृसत्तात्मक
समाज में समानता प्राप्त करना चाहती हैं। परिवर्तन के लिए वे वही उपाय अपनाना चाहती हैं जो पुरुष सदियों से स्वयं
के लिए अपनाते रहे हैं। मुख्य प्रश्न यह है—स्त्रियाँ पुरुषों के पदचिन्हों पर क्यों चलना चाहती हैं? हमारा अनुभव यह
है कि कामकाजी स्त्रियाँ अपने आप पर स्वतन्त्र रूप से व्यय करने के स्थान पर अपनी आय सास और पति को देती
है। इसी बात से पता चलता है कि पितृसत्तात्मक मानकों की जड़ बहुत गहरी है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि घर
में स्त्रियों ने पुरुषों का विगत की तरह से अनुकरण किया है। स्वतन्त्रता पूर्व अनेक महिलाओं ने गाँधीजी के साथ कार्य
किया है। आज स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान प्रस्थिति और समाज के सब सदस्यों के समान सम्मानित जीवन प्राप्त
करने के लिए महिला संगठनों, महिला सामाजिक कार्यकर्ताओं और महिला राजनीतिज्ञों ने कीमत-वृद्धि, दहेज, बलात्कार
और शोषण इत्यादि के मुद्दों को उठाया है। स्त्रियों ने पुलिस और ऐसी ही अन्य सेवाओं में अपने हिस्से की माँग की
है। महिला संगठनों ने विशेषकर शहरी क्षेत्रों में, यौन-समानता के लिए चेतना की भावना उत्पन्न की है।

1960 से 1970 के दशकों में महिलाओं की इन समस्याओं के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस, अन्तर्राष्ट्रीय
महिला वर्ष, स्त्रियों के बारे में सभाएँ और गोष्ठियाँ और महिला अध्ययन हेतु 'राष्ट्रीय महिला आयोग' स्थापित किए गए
है। इन संगठनों और समितियों ने भारत के संविधान में प्रदत्त स्त्री और पुरुष की समानता के प्रावधान के बारे में भी
प्रचार किया है। भारत सरकार ने 1971 में स्त्रियों की प्रस्थिति के बारे में एक समिति नियुक्त की थी। समिति ने 1974
में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट का सर्वत्र स्वागत किया गया। स्त्रियों के अध्ययन का एक अखिल भारतीय संगठन
है। दिल्ली, मुम्बई और अन्य नगरों में बलात्कार, दहेज-मृत्यु और स्त्री-हत्या के विरुद्ध प्रदर्शन, जुलूस और हड़ताल एक
आम बात बन गई है। उच्च जाति एवं वर्ग के जमींदार, साहूकार, पुलिसकर्मी, सरकारी कार्यकर्ता और कुख्यात समाज
विरोधी तत्व प्रायः बलात्कार करते हैं। शहरी मध्यम और निम्न मध्यम वर्ग और उच्च जाति के आर्थिक रूप से सम्पन्न
लोगों में दहेज एक प्रकार से लड़के को मोल-तोल करने का रिवाज बन चुका है। दहेज-मृत्यु, हत्या और धन खसोटने
के कारण लड़कियों के माता-पिता और स्वयं लड़कियों को बेइज्जती और अमानवीय व्यवहार बर्दाश्त करना पड़ता है।

पुरुष-स्त्री सम्बन्ध (Men-Women Relationship)—क्या पुरुषों से स्वतन्त्र स्त्रियों की पहचान की अभिव्यक्ति
हो सकती है? वैचारिक दृष्टि से तो हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कदापि नहीं। मीनाक्षी मुखर्जी ने ठीक ही
कहा है कि एक पुरुष की अपेक्षा एक स्त्री के लिए सामाजिक अनुपालन अधिक आवश्यक है। सामान्यतः एक महिला
की पहचान स्वयं और अन्य लोगों के द्वारा पुरुषों के साथ एक पुत्री, एक पत्नी और एक माँ के रूप में की जाती है।
19वीं शताब्दी में यूरोप में यह बात सत्य थी। आज चीन में स्त्रियों को लगभग पुरुषों के समान स्थान प्राप्त है।
चेयरमैन माओ ने कहा था—"जिस दिन चीन में सब स्त्रियाँ अपने पैरों पर खड़ी हो जाएँगी, वह दिन चीन की क्रान्ति
की सफलता का दिन होगा। समय परिवर्तित हो गया है आज स्त्री और पुरुष समान हैं। जो कुछ पुरुष साथी कर
सकते हैं, महिला साथी भी वह कार्य कर सकती है।" चीनी समाज में स्त्रियों के निम्न स्थान को उच्च करने के प्रयास
में सामन्ती तरीकों पर तीखा प्रहार किया गया और पुरानी आस्थाओं को तिरस्कृत किया गया। आज चीन में समान
कार्य के लिए समान वेतन लागू है।

स्त्रियों का पुरुष और सामाजिक संरचना के साथ बन्धन को पूँजीवाद का लक्षण माना गया है। ऐसे बन्धनों से
स्त्रियों की मुक्ति को समाजवाद की विशेषता कहा जाता है। स्त्रियों के लिए रोजगार उनकी समस्याओं को हल करने का
समाधान नहीं है। समाज के निम्न वर्गों में स्त्रियाँ अनेक आर्थिक कार्यों में रत हैं, फिर भी वे पुरुष के शिकंजों में जकड़ी
हुई हैं। आधुनिक भारत में स्त्रियों की स्थिति समझने के लिए उनको शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, और ग्रामीण बनाम
शहरी वर्ग में बाँटने से उन्होंने समझा नहीं जा सकता. वास्तव में स्त्रियों को पुरुषों से अलग रखकर समझा नहीं जा
सकता। केवल परिवार ही स्त्रियों को गुलाम बनाने वाली संस्था नहीं है। समाज की प्रकृति ही ऐसी है कि जिसमें स्त्रियों
के साथ ऐसा व्यवहार किया गया है। लेओन ट्रॉट्स्की ने कहा था—"पुरुषोचित अहंवाद की कोई सीमा नहीं है। संसार
को समझने के लिए हमें इसको स्त्रियों के चक्षुओं से देखना चाहिए।"

स्त्रियों के अध्ययनों में महिलाओं की प्रस्थिति, उनके निम्नीकरण, सामाजिक प्रथाओं में स्त्रियों की भूमिका, समुदाय
और परम्परा पर बल नहीं दिया जाता है। स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों की आर्थिक और कानूनी प्रस्थिति और राजनैतिक भागीदारी
और अध्ययनों पर अधिक बल दिया जाने लगा है। मनोवृत्तियों, भूमिकाओं और प्रस्थितियों के बजाय अब स्त्रियों के
आधुनिकीकरण के कारणों, कार्य सहभागिता, आन्दोलनों में स्त्रियों से सम्बन्धित प्रमुख मुद्दे उठाए जा रहे हैं। आयु और
यौन केवल मात्र जैवकीय प्रघटनाएँ नहीं हैं, वे सामाजिक और सांस्कृतिक चरक भी हैं। कुछ समाजों में इन्हें पुरस्कारों
और विशेषाधिकारों के वितरण का आधार माना जाता है।

परिवार में कार्यरत महिलाएँ, बच्चे और वृद्ध व्यक्ति, सक्रिय और कमाऊ पुरुष सदस्यों के विरुद्ध मोटे तौर पर
एक समान श्रेणी है। भारत में जहाँ पारिवारिक बन्धनों, सामूहिक उत्तरदायित्व और बंधुता सम्बन्धों एवं भावात्मक बन्धनों
के लिए काफी चिन्ता रहती है, वहीं ऐसी स्थिति है।

व्यक्ति के रूप में स्त्रियों की पहिचान (Women As an Individual Identity)—परिवार में स्त्री की पहिचान उसकी भूमिका से परिभाषित की जाती है। उसकी पहिचान एक पुत्री, पुत्रवधू, माता, सास, पत्नी आदि के रूप में की जाती है न कि एक व्यक्ति के रूप में। परिवार के बाहर मित्र, सम्बन्धी और अन्य स्वतन्त्र सम्पर्क नहीं है। उसके अन्य मित्र, सम्बन्धी और अन्य सम्पर्क वही हैं जो परिवार के पुरुष सदस्यों के माध्यम से उसे मिले हैं। इन सम्बन्धों के लिए उसकी स्वतन्त्र पसन्द का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसलिए परिवार में स्त्री की प्रस्थिति अधीनस्थ प्रस्थिति है। स्त्रियों की पहचान के कई अंश हैं जो उसके परिवार की जातीय और वर्गीय पृष्ठभूमि पर निर्भर हैं।

क्या स्त्री एक व्यक्ति है? न चाहते हुए भी स्त्री अपने पति की इच्छाओं के सामने झुकती है। स्त्री को 'यौन न्याय' या पुरुष के साथ समानता प्राप्त नहीं है। जब स्त्री ने व्यक्ति के रूप में पहचान प्रकट की है, उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। 'जबरन यौन सम्बन्ध' या 'वैवाहिक अधिकारों का पुनर्स्थापन' बहुत हद तक स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा है। दहेज उत्पीड़न और दुल्हन जलाना स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा का रूप है। संयुक्त परिवार और अनुलोम विवाह को पुनर्नियोजित करने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त परिवार एक ऐसा स्थान है जहाँ पुत्रवधू को परिवार में 'बाहरी' और 'नौकर' माना जाता रहा है। परिवार में उसको प्रत्येक सदस्य डाँट-डपट और मर्दन का पात्र समझता है। अनुलोम विवाह का अर्थ है कि अन्तर्जातीय और बहिर्गोत्र के सन्दर्भ में लड़की के साथ उच्च प्रस्थिति परिवार के लड़के के साथ विवाह किया जाता है। अनुलोम विवाह के कारण हिन्दुओं में लड़के का मूल्य बढ़ गया है और इसीलिए दहेज बड़ी समस्या बन गई है।

संविधान में समानता और धर्म, प्रजाति, जाति और यौन पर आधारित भेद-भाव के विरुद्ध जो भी कहा गया है उसके अतिरिक्त भारत सरकार ने स्वतन्त्रता के बाद विवाह, सम्पत्ति के उत्तराधिकार, तलाक, दहेज और बलात्कार आदि के बारे में अनेक कानून पारित किए हैं। भारत में सामाजिक विधान अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। दहेज अधिनियम और बलात्कार कानून पिछले कुछ वर्षों से अदालतों और सार्वजनिक मंचों पर चर्चित रहे हैं। बलात्कार की घटनाएँ निरन्तर हो रही हैं। गरीब और दलित स्त्रियाँ विशेषकर इसका शिकार होती हैं। दहेज उत्पीड़न और यातनाएँ, घर-वधू को जलाना और यातनाओं के कारण आत्म-हत्याएँ निरन्तर हो रही हैं। शहरों और कस्बों में दहेज उत्पीड़न अधिक है तथा इस यातना की शिकार उच्च जातियों, मध्यम और निम्न मध्यम वर्ग के परिवारों की महिलाएँ हैं। अनुलोम विवाह की प्रथा उच्च और उच्च मध्यम जातियों और वर्ग समूहों में गहरी जड़ें जमाए हुए हैं। अपनी पुत्री के लिए उच्चतर परिवार के लड़के ढूँढने की एक अप्रत्यक्ष प्रतियोगिता अभिभावकों में उत्पन्न हो गई है। ऐसे लड़के की शैक्षणिक योग्यता और सफेद-पोश नौकरी के सन्दर्भ में प्रस्थिति उच्च होनी चाहिए।

यद्यपि महिलाएँ पुरुषों से किसी तरीके से कमजोर नहीं हैं। भारत के विकास में महिलाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है। ब्रिटिश राज के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम में उन्होंने हिस्सा लिया तथा बहुत से सामाजिक कार्य किये। राष्ट्रीय हित में स्त्रियों के योगदान के बावजूद उनका शोषण किया जाता है। स्त्रियों का दमन और शोषण इसलिए होता है क्योंकि वे प्रायः असंगठित क्षेत्रों में कार्य करती हैं। तकनीकी विकास का महिलाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। परिवार के संसाधनों और अपने रोजगार के अन्य भागों पर उनका अब नियन्त्रण कम है। कृषि, दुग्धशाला विकास, मछली पालन और घरेलू प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में प्रगति के परिणामस्वरूप महिलाओं की सामान्य प्रस्थिति और आर्थिक हीनता में कमी आई है। घरेलू कार्यों में पुरुष स्त्रियों पर कम निर्भर हो गए हैं। पुरुष और स्त्री के बीच अन्तर और अधिक बढ़ गया है। उदाहरण के लिए, पुरुषों और स्त्रियों के बीच अन्तर के प्रमुख क्षेत्र साक्षरता, शिक्षा और प्रशिक्षण, रोजगार, स्त्री नश्वरता, स्वास्थ्य रक्षा और चिकित्सा सेवाएँ आदि हैं। स्त्री नश्वरता विरासत और पितृसत्तात्मकता और पुरुष प्रधान्य की दृढ़ परम्परा के कारण इन क्षेत्रों में स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में पिछड़ी हुई हैं।

समाज सुधार आन्दोलन (Social Reform Movements)—वैदिक काल की स्त्रियों की उन्नत अवस्था से लेकर निरन्तर होता जा रहा पतन जब स्वार्थ, अन्याय और शोषण की पराकाष्ठा पर पहुँच गया तब इसके विरुद्ध आवाज उठना स्वाभाविक है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय समाज परिवर्तन के दौर में आने लगा जिसमें अनेक प्रभुत्व सम्पन्न एवं चिन्तनशील लोग स्त्रियों को निम्न स्थिति से चिंतित रहने लगे एवं उन्होंने उसे ऊँचा उठाने के विशेष प्रयास किये। यद्यपि इस प्रयास में अंग्रेज सरकार का भी बहुत बड़ा हाथ था। 1813 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने यह आदेश दिया था कि वह भारत में सभी वर्गों में शिक्षा का पर्याप्त प्रसार करे तथापि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किये :

1. राजा राममोहन राय—सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की दशा सुधारने का प्रयास किया। 1828 में उन्होंने ब्रह्म समाज (Brahm Samaj) की स्थापना की तथा इस समाज ने सबसे पहले सती-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन किया जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेज सरकार को 1829 में सती प्रथा के विरुद्ध कानून बनाकर इसे रोकना पड़ा। राजा

राममोहन राय ने बाल-विवाहों के विरुद्ध एवं स्त्री-शिक्षा के प्रसार के पक्ष में भी आन्दोलन प्रारम्भ किया था और सुधार आन्दोलन की नींव रखी। उन्होंने जनता को यह समझाने का प्रयत्न किया कि विधवा-पुनर्विवाह शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है, स्मृतियों में भी दुखपूर्ण वैधव्य की अनुमति नहीं है। जब सती-प्रथा जैसे अमानवीय रिवाज के विरुद्ध कानून बना तो राजा राममोहन राय पूरी शक्ति के साथ सरकार के साथ रहे और अन्ततः सती प्रथा की समाप्ति हुई।

2. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर—राजा राममोहन राय द्वारा शुरू किए गए कार्यों के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अनुगामी थे। विधवा समस्या से सम्बन्धित कार्य को विद्यासागर ने प्राथमिकता दी, उन्होंने राजा राममोहन राय की कार्यपद्धति अपनाई तथा विशिष्ट कार्य किया। उनके कार्य का मूल्यांकन उनके काम के परिणाम से आँका जा सकता है। इतना निश्चित है कि सुधार का बीड़ा उठाने वाले लोगों के कार्यों का तत्काल कोई परिणाम दिखाई नहीं पड़ता। जनता में उनके कार्य से कितनी जागृति फैल हुई तथा भावी कार्यकर्ताओं ने कार्य को कितना आगे बढ़ाया यही कसौटी किसी कार्य के मूल्यांकन के निमित्त उपयोग में लाई जा सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में विद्यासागर विशेष सक्रिय थे। स्त्री शिक्षा का बढ़ता हुआ प्रचार उसका स्पष्टतः प्रमाण था। कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रथम स्त्री स्नातिका चन्द्रमुखी बसु बेथ्यून महाविद्यालय की छात्रा थी।

विधवा-विवाह के समर्थन में दिए गए आवेदन-पत्र पर 21,000 हस्ताक्षर करवाए गए थे। विद्यासागर ने जब प्रथम विधवा का पुनर्विवाह करवाया तब अनेक मित्रों ने विवाह प्रसंग पर उपस्थित होकर उसका समर्थन किया था। 'विधवा पुनर्विवाह' में उनकी पुस्तकों का मराठी और गुजराती में अनुवाद हुआ था।

उनके आँकड़े एकत्रित करने की पद्धति अन्य समाज सुधारकों ने अपनाई। 1891 में सजीवनी नामक मासिक पत्रिका में एक से अधिक विवाह करने वाले पुरुषों की सूची प्रकाशित की थी तथा उसकी गणना के अनुसार प्रति पुरुष विवाह का औसत 4.5 पत्नियों का था। विद्यासागर के काल में विवाह का औसत 5.5 था। गणना की भूलों का स्वीकार करें तो इतना तो कहना ही पड़ेगा कि इस क्षेत्र में थोड़ा सुधार अवश्य हुआ। अत: यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि स्त्रियों की समस्याओं में विद्यासागर का योगदान अमूल्य था।

3. बहराम जी मलाबारी—बहराम जी मलाबारी का नाम बालविवाह की समस्या को सुलझाने से सम्बन्धित है। बाल विवाह के कारण प्राय: बाल-विधवाओं की समस्या पैदा होती है। इस प्रकार बाल-विवाह तथा बाल-विधवा के प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक विधवा द्वारा अपने बालक की हत्या की घटना ने मलाबारी के हृदय को झकझोर दिया। बहराम जी मलाबारी का नाम बाल-विवाह, विधवा-विवाह तथा सहमति आयु कानून (एज ऑफ कंसेंट ऑफ एक्ट) के साथ जुड़ा हुआ है। उनके सक्रिय प्रयासों का जीता-जागता प्रतीक मुम्बई की 'सेवा सदन' नामक संस्था है जो स्त्रियों की विविध समस्याओं को हल करने का प्रयास करती है।

महादेव गोविन्द रानाडे—रानाडे के कार्यों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि समाज-सुधार तथा स्त्रियों की प्रगति के क्षेत्र में उनका योगदान अद्वितीय था। भारत पर अंग्रेजी राज्य के प्रभाव से वह पूर्णतः परिचित थे। प्रारम्भिक काल में युवा बंगाल आन्दोलन अंग्रेजी राज्य का अंधानुकरण कर रहा था, किन्तु रानाडे न तो पश्चिमी सभ्यता के अंध अनुकरण के ही पक्ष में थे और न ही पुनरुद्धारवादियों की भाँति भारत के पुरा काल के ही पक्षपाती थे। उन्होंने इन दोनों प्रवाहों का समन्वय करके नई दृष्टि प्रदान की। समाज-सुधार आन्दोलन में उनकी दृढ़ मान्यता थी कि यदि समाज सुधार व्यवस्थित रूप से करना हो उसमें गतिशीलता लानी हो तो राष्ट्रव्यापी संगठन की आवश्यकता होगी। इस प्रकार का संगठन देश में बिखरी हुई सामाजिक सुधार की गतिविधियों को एक धागे में पिरो सकेगा। रानाडे के प्रयत्न में उनकी पैनी दृष्टि का दर्शन होता है। सामाजिक समस्याओं को हल करने का जो प्रयत्न अब तक स्थानीय स्तर पर होता था, उसे उन्होंने राष्ट्रव्यापी बनाने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सुधार आन्दोलन को असाम्प्रदायिक रूप दिया। रानाडे के समाज-सुधार कार्यों की समीक्षा करते समय शायद उनके द्वारा स्थापित कोई स्त्री शिक्षा संस्था दिखाई न भी पड़े या निजी जीवन में पुनर्विवाह करते समय विधवा-विवाह करने की निडरता के दर्शन न हों फिर भी सामाजिक सुधार के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। समाज-सुधार आन्दोलन उस समय ऐसी अवस्था में था कि राष्ट्रव्यापी संस्था की स्थापना आन्दोलन की प्रगति के लिए अनिवार्य थी। महादेव गोविन्द रानाडे ने इस कमी को पूरा करके समाज सेवा कार्य को आगे बढ़ाया।

महर्षि धोंडो केशव कर्वे—समाज-सुधारकों तथा स्त्री प्रगति आन्दोलन के अग्रणियों में महर्षि कर्वे का विशिष्ट स्थान है। कर्वे का कार्यकाल 19वीं शताब्दी से आरम्भ होकर 20वीं शताब्दी के मध्य तक फैला हुआ है। अन्य सुधारकों के साथ उनका स्थान अद्वितीय है। भारतीय नारी के उत्कर्ष के विविध क्षेत्रों में धोंडो केशव कर्वे का स्थान अग्र है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि विधवा स्त्री की ओर तत्कालीन समाज की तिरस्कारपूर्ण दृष्टि में परिवर्तन लाने का श्रेय कर्वे को ही देना चाहिए। उस जमाने में बड़े बड़े नगरों में पुनर्विवाह का समर्थन सामाजिक पाप माना जाता था। आज

तो छोटे-से-छोटे गाँव में भी दंड के भय से मुक्त वातावरण में विधवा-पुनर्विवाह का प्रचार किया जाता है। यह सामाजिक परिवर्तन लाने में कर्वे का योगदान अमूल्य है। प्रश्न चाहे स्त्रियों के कार्य क्षेत्र का हो या मतभेदों के बावजूद विशिष्ट पाठ्यक्रम का, कर्वे ने स्त्रियों के लिए शिक्षा का मार्ग प्रशस्त किया और इस कार्य के लिए उनका नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाएगा। कर्वे अपना परिचय धनी व्यक्ति के रूप में देते हैं। उनके जीवन का प्रधान स्वर था—नारी की प्रगति। मानव मुक्ति और प्रगति के बदले हुए चरण को ऐसे कर्मनिष्ठ और धुनी व्यक्ति ही मंज़िल की ओर ले जा सकते हैं। उनके निरक्षर ग्रामीणों के समक्ष समाचार-पत्र पढ़ने से समाज-सुधार का श्रीगणेश हुआ। कर्तव्य की विनम्र शुरुआत की पूर्णाहुति एक ऐसे महिला महाविद्यालय के रूप में हुई जिसने हजारों नारियों के अज्ञान को दूर किया।

स्वामी विवेकानन्द—पुनरुद्धारवादियों में स्वामी विवेकानन्द का स्थान विशिष्ट है। विवेकानन्द पश्चिमी शिक्षा पद्धति के घनिष्ठ सम्पर्क में आए। एक समय तो ऐसा आया कि वह नास्तिक हो गए थे। इस अद्वितीय प्रतिभाशाली वेदान्ती ने समाज-सुधार एवं स्त्री-उत्थान के प्रति तनिक भी उदासीनता नहीं बरती।

रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों में स्वामी विवेकानन्द ही सबसे प्रभावशाली थे। विवेकानन्द ने अपने गुरु की स्मृति को बनाये रखने हेतु रामकृष्ण के नाम से अनेक संस्थाएँ स्थापित कीं। स्वामीजी को अपने गुरु से दो सिद्धान्तों की सीख मिली थी—एक तो विचारों और कार्यों की स्वतन्त्रता तथा दूसरी मानवता के प्रति सहानुभूति। विवेकानन्द ने सामाजिक सेवा पर विशेष बल दिया। एक स्थान पर उन्होंने कहा है, "जिन्होंने प्रजा के धन से शिक्षा प्राप्त की हो और लाखों व्यक्तियों को क्षुधा से मरते देखा हो फिर भी उनका हृदय प्रजा की व्यथा से द्रवित न हो, वे सब देशद्रोही हैं।"

विवेकानन्द की दृष्टि से भारत में दो बुराइयाँ थीं—एक स्त्रियों का भारतीय समाज में पराधीन स्थान तथा दूसरी हिन्दू समाज में असमानता को जन्म देने वाली तथा लोकतन्त्र के सिद्धान्तों की अवहेलना करने वाली जाति-व्यवस्था। नारी उद्धार के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का मूल्यांकन करते समय विवेकानन्द की नारी के प्रति सम्मान एवं आदर भावना की ओर सहज जाता है। उन्होंने स्त्रियों की पराधीनता के ऐतिहासिक कारणों का अन्वेषण कर नारी के प्रति आदर भावना को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। समग्र राष्ट्र को ही नहीं, वरन् विश्व के उत्थान में शिक्षित भारतीय नारी अपना निश्चित योगदान दे सकेगी, ऐसी उनकी दृढ़ मान्यता थी। अन्य सुधारकों की तुलना में विवेकानन्द का स्थान इस दृष्टि से विशिष्ट है कि अन्य सुधारक नारी उत्थान को एक विभाग की दृष्टि से देखते थे जबकि स्वामीजी ने इस कार्य को प्राथमिकता दी। उनकी ऐसी धारणा थी कि अन्य देशों की पंक्ति में अपना स्थान लेने के लिए स्त्रियों की उन्नति एवं सम्मान भी आवश्यक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती—हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को अत्यधिक प्रभावित करने वाले दूसरे पुनरुद्धारवादी, जिनका स्मरण किया जा सकता है, वे हैं—स्वामी दयानन्द सरस्वती। स्वामी दयानन्द ने अपने निजी प्रयासों से तथा मुख्यतः आर्य समाज की विविध संस्थाओं के माध्यम से स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया तथा विवाह की न्यूनतम आयु बढ़वाने का प्रयास किया। आर्य समाज ने पश्चिम के अंधे अनुकरण के प्रवाह को रोकने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु उनकी राष्ट्रीयता में धर्म का सम्मिश्रण था। वेद धर्म अटल हैं इस मान्यता के आधार पर उन्होंने वर्णों को स्वीकार किया। विशुद्ध उदारवादियों की स्त्री-समानता की तुलना में दयानन्द और आर्य समाज द्वारा स्त्री स्वातन्त्र्य की माँग का आधार, समानता नहीं, वरन् वेदकालीन समाज में व्याप्त स्वतन्त्रता वर्तमान नारी को मिलनी चाहिए थी। उनका प्रयास सीमित होते हुए भी स्त्रियों के उत्थान में स्वामी दयानन्द का नाम स्मरण किया जाएगा।

श्रीमती एनी बीसेण्ट—भारतीय नारी की स्थिति सुधारने में थियोसोफिकल विचारधारा की संस्थापक श्रीमती एनी बीसेण्ट का योगदान प्रमुख है। 19वीं शताब्दी के सब सुधारक तथा कार्यकर्ता पुरुष थे। प्रथम स्त्री-सुधारक के रूप में श्रीमती एनी बीसेण्ट इतिहास के रंगमंच पर आईं। अभी तक अधिकांश विदेशी विचारक तथा कार्यकर्ता भारतीय समाज व्यवस्था को या तो कृपादृष्टि से देखते थे या आलोचनात्मक रूप अपनाते थे। श्रीमती एनी बीसेण्ट एक ऐसी महिला थीं जिन्होंने भारत के गौरवमय अतीत की प्रशंसा की और साथ ही साथ घोषणा की कि भारत के समान संस्कारों में समृद्ध दूसरा देश कोई नहीं है। राष्ट्रीय आत्मसम्मान को जाग्रत करने में श्रीमती एनी बीसेण्ट का योगदान अपूर्व था। तत्कालीन भारत में होने वाली सभी समस्याओं पर एनी बीसेण्ट ने अपना ध्यान केन्द्रित किया। भारत के अतीत के संस्कारों की उन्होंने प्रशंसा की है। भारत के स्वतन्त्र तथा कल्याणकारी नवसर्जन में जिन अनेक विभूतियों ने अपना बलिदान किया है उनमें श्रीमती एनी बीसेण्ट का योगदान उल्लेखनीय है। 'थियोसोफिकल सोसायटी' के माध्यम से श्रीमती एनी बीसेण्ट ने भौतिक तथा बौद्धिक अवरोधों को दूर करने का प्रयास किया। एक महिला होने के नाते स्त्रियों की समस्याओं के प्रति सहानुभूति का वातावरण पैदा करने में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। भारत के सामाजिक रिवाजों को भी प्रोत्साहन दिया। भारतीय प्रजा अनजाने में ही पश्चिम का अंधानुकरण न करे। इस हेतु भारत के गौरवशाली अतीत की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

मुस्लिम सुधारक—मुस्लिम स्त्री सुधार का बीड़ा सर सैयद अहमद खान ने उठाया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा के पक्ष में अपने विचार प्रकट किए, किन्तु उनके मतानुसार शिक्षा का क्षेत्र एवं स्थान तो घर ही होना चाहिए, स्कूल नहीं। बदरूद्दीन तैयब ने पर्दे की प्रथा खत्म करने की हिमायत की। सैयद इमाम ने जनाने मदरसे स्थापित करने में मदद की तथा इस बात पर जोर दिया कि जबतक स्त्रियों की प्रगति नहीं होगी तब तक भारत की जनता अन्य देशों की जनता के समकक्ष नहीं हो सकेगी। हैदरी स्त्री-शिक्षा में अधिक दिलचस्पी लेने लगे। उन्होंने सच ही कहा है कि एक स्त्री की शिक्षा सारे परिवार के मानस और नैतिक जीवन को प्रगति की ओर ले जा सकती है।

लैंगिक समानता : एक ज्वलन्त प्रश्न
(Gender Equality : A Burning Question)

लैंगिक समानता पर चतरसिंह मेहता ने अपने लेख, 'मानव विकास और महिलायें' में कहा है कि विश्व में लगभग आधी आबादी महिलाओं की है, पर उन्हें पुरुषों के समान अवसर प्राप्त नहीं हैं। विश्व के गरीबों में 70 प्रतिशत और निरक्षरों में दो-तिहाई महिलाएँ ही हैं। वे केवल 14 प्रतिशत प्रशासनिक पदों पर हैं और 10 प्रतिशत संसद-विधानसभा सदस्य हैं। कानूनी दृष्टि से यह असमानता निरन्तर बनी हुई है। महिलाओं को पुरुषों से अधिक समय काम करना पड़ता है तथा उन्हें अधिकांश कार्य की कोई कीमत भी नहीं दी जाती।

महिलाओं के सर्वत्र असमान अवसर—समाज में महिलाओं को पुरुषों के बराबर अवसर प्राप्त नहीं है। स्त्री-पुरुष में प्रकृति द्वारा ज्ञान, व्यवहार आदि आवश्यक स्थितियों में परिवर्तन होता है। पुरुष लैंगिक समानता में मुख्य भूमिका अदा करता है। लगभग सभी समाजों में पुरुष जीवन के सभी स्तरों में अपना निर्णय सर्वोपरि रखता है। इसलिए आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष में लैंगिक समानता पर आपसी समझ और संयुक्त सहयोग की भावना हो। पुरुष को यह दायित्व स्त्री को भी देना चाहिए कि स्त्री-पुरुष जीवन-साथी के रूप में निजी एवं सार्वजनिक जीवन में समान हैं। ऐसा करने पर ही लैंगिक समानता में सुधार होगा तथा परिवार एवं सामाजिक जीवन के आनन्द में वृद्धि होगी। दुर्भाग्य यह है कि विश्व के सभी देशों में लैंगिक समानता पर कोई सुधार नहीं हो रहा है। यद्यपि लैंगिक समानता का स्तर विश्व के सभी देशों में अलग-अलग पाया जाता है, तथापि विश्व के 130 देशों में स्वीडन, फिनलैण्ड, नार्वे और डेनमार्क लिंग समानता और महिला अधिकारों में सबसे ऊँचे हैं। यहाँ साक्षरता की दर पुरुष और महिलाओं में समान है और शिक्षण संस्थाओं में महिलाओं का नामांक पुरुष से अधिक है। औसत आयु में महिलाएँ पुरुषों से काफी आगे हैं, परन्तु आय पुरुषों की तुलना में महिलाओं की तीन-चौथाई ही है। महिला-विकास में स्वीडन विश्व में प्रथम होते हुए भी स्वीडन में महिला विकास सूचकांक 0.92 ही है। यदि यह अंक 1.00 हो तो पूर्ण समानता होती। कई देश समग्र मानव-विकास-सूचकांक में ऊँचे हैं, किन्तु उनमें से ही कई देश महिला-विकास-सूचकांक में नीचे हैं। कनाडा का स्थान सभी देशों में समग्र मानव-विकास सूचकांक में पहला है, परन्तु महिला विकास सूचकांक में 7वें स्थान पर है।

राष्ट्रीय आय का समानता से नगण्य सम्बन्ध—आय महिला-पुरुष समानता के लिए महत्वपूर्ण घटक नहीं है। विश्व के कई गरीब देशों ने महिला साक्षरता दर में वृद्धि की है। आय कम होते हुए भी राजनीतिक प्रतिबद्धता के कारण चीन, श्रीलंका और जिम्बाब्वे ने महिला साक्षरता दर 70 प्रतिशत से अधिक प्राप्त कर ली है। यदि मानव-विकास सूचकांक की तुलना आय स्तर से करें तो ज्ञात होगा कि महिला असमानता दूर करने के लिए उच्च आय होना आवश्यक नहीं है। चीन की महिला विकास सूचकांक सऊदी अरब से 10 क्रमांक ऊपर है, जबकि चीन की प्रति व्यक्ति आय सऊदी अरब की आधी भाग ही है। थाईलैण्ड, स्पेन से महिला विकास सूचकांक में ऊँचा है, जबकि आय केवल आधी ही है। सीरिया और पोलैण्ड की आय लगभग समान है, पर पोलैण्ड का महिला विकास सूचकांक सीरिया से 50 क्रम ऊपर है।

प्रयत्न खूब परन्तु असमानता कायम—यद्यपि हर देश ने महिलाओं की स्थिति सुधारने का प्रयास प्रयत्न किया है, परन्तु अभी भी असमानता है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में पिछले दो दशकों में पुरुष-महिला असमानता में कमी आई है, परन्तु यह प्रगति कई क्षेत्रों और देशों में समान नहीं है। पिछले दो दशकों में महिलाओं की औसत आय में पुरुषों की तुलना में 20 प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई है। महिला स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली जन्म-दर प्रति महिला 1970-75 में 4.7 थी जो 2004 में 2.9 हो गई है। 1990 में लगभग चौथाई दम्पति गर्भनिरोधक साधनों का उपयोग करते थे, जिनकी संख्या 2004 में आधी से भी कम हो गई। विकासशील देशों में महिला साक्षरता 1990 से 2000 के बीच दुगुनी हो गई। महिलाओं की साक्षरता व बालिकाओं को स्कूल जाने की संख्या 1970 से 2004 के बीच दुगुनी से भी अधिक हो गई, जो पुरुषों की वृद्धि दर से काफी अधिक है। विकासशील देशों में प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों में छात्राओं की संख्या 1990 में 38 प्रतिशत थी, जो 2004 में 80 प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार उच्च शिक्षा के क्षेत्र में 1990 में पुरुषों से आधी संख्या महिलाओं की थी, जो 2004 में 75 प्रतिशत तक हो गई। 32 देशों में तो महिलाओं की संख्या पुरुषों से उच्च शिक्षा में अधिक हो गई।

• महिलाओं के लिए असमान दुनियाँ है। विकासशील देशों में 90 करोड़ व्यक्ति निरक्षर हैं, जिनमें दो-तिहाई महिलाएँ हैं। 13 करोड़ छात्र-छात्राएं प्राथमिक शिक्षा से वंचित है, उनमें 60 प्रतिशत तो केवल छात्राएँ हैं। भारत में इनका प्रतिशत और अधिक है। कई विकासशील देशों में प्रसूति-पूर्व और प्रसूति-बाद की पूरी सुविधाएँ नहीं है और प्रसूति के दौरान अधिकांश महिलाओं की मृत्यु हो जाती है। विकासशील देशों में भी प्रतिवर्ष 5 लाख महिलाओं की मृत्यु प्रसूति के दौरान हो जाती है।

आर्थिक क्षेत्र में धीमी प्रगति—शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में सुविधाओं का विस्तार हुआ है, परन्तु आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रगति बहुत धीमी है। विश्व में 130 करोड़ लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे हैं, जिनमें 70 प्रतिशत महिलाएँ है। यह स्थिति उनकी बाजार और परिवार में श्रम के कारण हुई है। यद्यपि महिला साक्षरता दर में दो-तिहाई वृद्धि हुई है, तथापि श्रमिकों में इनकी वृद्धि केवल 4 प्रतिशत ही हुई है। बैंकों से भी उन्हें बहुत कम संख्या में ऋण मिलता है, क्योंकि ऋणाधार के लिए कोई सम्पत्ति उनके नाम नहीं होती। 55 देशों से जो तथ्य प्राप्त हुए हैं उसके अनुसार महिलाओं को मजदूरी पुरुषों की तुलना में तीन-चौथाई राशि ही मिलती है। सभी स्थानों पर महिलाएँ अधिक संख्या में बेरोजगार होती हैं। इन 55 देशों में कोई महिला संसद सदस्य नहीं है और है भी तो 5 प्रतिशत से कम। इन देशों में गरीब देश भी हैं, जैसे—भूटान और इथियोपिया और उच्च आय वाले देश भी हैं, जैसे—ग्रीस, कुवैत, कोरिया गणतन्त्र और सिंगापुर।

मानव विकास सूचकांक के अन्तर्गत पहली बार महिला-शक्ति माप (जेन्डर एम्पावरमेन्ट मेजर) निर्धारित किया गया है। महिला विकास सूचकांक (जेन्डर डवलपमेन्ट इन्डेक्स) में शिक्षा, स्वास्थ्य और जीवन स्तर को सम्मिलित किया गया है, वहीं महिला शक्ति-माप में महिलाओं की राजनीतिक जीवन में भागीदारी और व्यवसायों में उनके स्तर और आय को सम्मिलित कर मापा गया है।

महिलाओं की आय की गणना ही नहीं—महिलाओं की आय बहुत कम आँकी जाती है। अनुमान है कि महिलाओं की आय 11 लाख करोड़ डॉलर का कम अंकन होता है। कारण यह है कि एक तो पुरुषों से महिलाओं को अधिक समय काम करना पड़ता है। *औद्योगिक देशों में पुरुष का 2/3 समय आय वाले कामों में लगता है* एवं 1/3 समय बिना आय के कार्यों में, जबकि महिलाओं की स्थिति इससे विपरीत होती है। विकासशील देशों में पुरुष का 3/4 समय आय वाले कामों में लगता है, जबकि महिलाओं का सारा ही समय घर के कार्यों एवं बच्चों के लालन-पालन में ही व्यतीत होता है जिसका कोई मूल्य नहीं आँका जाता। यदि बिना मूल्य के कार्य को भी आय में परिवर्तित किया जाए, तो महिलाओं की आय पुरुषों से ज्यादा अथवा उनके समान तो होगी ही, साथ ही ऐसा करने से परम्परा से चली आ रही मान्यताओं को थोड़ा धक्का तो लगेगा, परन्तु सम्पत्ति के अधिकार, तलाक के समझौते और बैंक के ऋणों के लिए साख आदि क्षेत्रों में परिवर्तन आएगा। महिलाओं की अदृश्य आय को आँकड़ों में परिवर्तन किए जाने पर राष्ट्रीय नीतियाँ भी प्रभावित होंगी।

कानूनी भेदभाव एवं अत्याचार—समाज में महिलाओं का स्थान निम्न होने का एक कारण कानून में भेदभाव और महिलाओं के प्रति अत्याचार एवं हिंसा का है। महिलाओं के अधिकार एवं भेदभाव की समाप्ति के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने *1979 में चार्टर जारी किया था,* परन्तु अभी तक 41 सदस्य देशों ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं, 6 ने हस्ताक्षर तो किए हैं, परन्तु अनुमोदन नहीं किया है, 43 ने अनुमोदन कुछ शर्तों के साथ किया है। दूसरे शब्दों में 90 देशों में महिला समानता के सभी पहलुओं को स्वीकार नहीं किया गया है।

महिलाओं के प्रति मानसिक एवं शारीरिक हिंसा जन्म से मृत्यु तक बराबर होती रहती है। कुछ देशों में तो गर्भ में ही लिंग की जाँच कर ली जाती है और यदि स्त्रीलिंग है, तो गर्भपात करा दिया जाता है। समुचित जागरूकता के कारण भारत में तो इसे अपराध की श्रेणी में शामिल कर लिया गया है। कनाडा, नीदरलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, नार्वे और संयुक्त *राज्य अमेरिका में तो एक-तिहाई बच्चियों एवं किशोरियों के साथ यौन-दुर्व्यवहार किया जाता है। एशिया में अनुमानतः* 10 लाख बालिकाओं को वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित किया जाता है। अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि चिली, मैक्सिको, पापुआ, न्यूगिनी और कोरियाई गणतन्त्र में दो-तिहाई विवाहित युवतियों के साथ परिवार में हिंसक व्यवहार किया जाता है। जर्मनी में अनुमानतः चालीस लाख महिलाएँ इस हिंसा का शिकार होती हैं। कनाडा, न्यूजीलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में 6 में से एक महिला के साथ जीवन में एक बार बलात्कार होता है। महिलाओं की जितनी हत्याएँ होती हैं उनमें बांग्लादेश, ब्राजील, केन्या, पापुआ, न्यूगिनी और थाइलैण्ड में आधी से अधिक महिलाओं की हत्या वर्तमान या भूतपूर्व पतियों द्वारा की जाती है। महिलाओं की आत्महत्या का अर्जेन्टीना, दक्षिणी अमेरिका और संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे बड़ा कारण वैवाहिक झगड़े एवं हिंसा का होना है।

कुछ प्रस्ताव—महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए रिपोर्ट में निम्नांकित पाँच सूची प्रस्ताव दिए गए हैं—

1. कानूनी सम्पन्नता के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अगले दस वर्ष तक पूरे प्रयत्न किए जाएं। महिलाओं को कानूनी सहायता उपलब्ध कराई जाए एवं विधिक ज्ञान प्रसार के कार्य किए जाएँ। राष्ट्रीय स्तर पर महिला आयोग की स्थापना हो। महिलाओं के प्रति अत्याचार को युद्ध-अपराध की तरह मानकर अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय किए जाएँ।

2. महिलाओं की आर्थिक एवं संस्थागत सहायता में निरन्तर वृद्धि की जाए। इसमें महिला के प्रसूती अवकाश में वृद्धि की जाए, साथ ही पुरुष को भी अवकाश दिया जाए। जापान ने 1992 से यह व्यवस्था की है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह व्यवस्था तो है परन्तु बिना वेतन पिता को अवकाश दिया जाता है। बाल्टिक सागर में कई देशों में छोटे बच्चों के लालन-पालन के लिए पुरुष के अवकाश की भी व्यवस्था है। सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार के कानूनों में परिवर्तन की आवश्यकता है।

3. 1990 में महिलाओं के स्तर के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के आयोग ने सिफारिश की थी कि राजनीतिक संस्थाओं में महिलाओं का हिस्सा कम-से-कम 30 प्रतिशत होना चाहिए। अभी तक विश्व में बहुत ही कम देश इस लक्ष्य तक पहुँच हैं। संसद एवं मंत्रिमण्डल में इस लक्ष्य तक पहुँचने एवं पार करने वाले देश डेनमार्क, फिनलैण्ड, नीदरलैण्ड, नार्वे, सेसल्स और स्वीडन ही हैं। प्रशासन के क्षेत्र में 15 देशों ने यह लक्ष्य प्राप्त किया है और नगरपालिका क्षेत्र में केवल [illegible] देशों ने। भारत में पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर इस ओर पहल की गई है जिससे महिलाएँ सशक्त एवं समानता की ओर अग्रसर रही हैं।

4. सार्वजनिक शिक्षा, प्रजनन, स्वास्थ्य और महिलाओं के लिए ऋण सुविधा में वृद्धि की जाए ताकि महिलाओं के अवसर में वृद्धि हो सके। इन क्षेत्रों में महिलाओं के लिए कई बाधक तत्व हैं जिनके लिए सरकारों को पूरे प्रयत्न करने चाहिए।

5. राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पुरुषों एवं विशेषकर महिलाओं के लिए आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में अवसर बढ़ाने के लिए प्रयत्न होने चाहिए। कोपनहेगन में सामाजिक शिखर सम्मेलन ने सिफारिश की थी कि विकासशील देशों को मानव विकास कार्यक्रमों के लिए अपने बजट की 20 प्रतिशत राशि मानव संसाधन विकास, जैसे—शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी, परिवार कल्याण एवं पोषाहार आदि कार्यक्रमों के लिए चिन्हित कर देनी चाहिए। इसी प्रकार गरीब लोगों को स्वरोजगार के लिए ऋण सुविधा मिलनी चाहिए। भारत में उदारीकरण की नीति के बाद सामाजिक क्षेत्रों में व्यय की राशि में आशातीत वृद्धि हुई है।

विश्व इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर चुका है। नई विश्व-व्यवस्था में महिला और पुरुषों के समान अवसरों से उन्नति प्राप्त हो सकती है। जब तक विश्व में महिलाओं की आधी आबादी इस त्रासदी से मुक्त होकर पुरुषों के समान अवसर युक्त जीवन यापन नहीं कर सकेगी, विश्व-विकास का सपना अधूरा ही रहेगा। अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार इन क्षेत्र में महिलाओं को जब समान अवसर उपलब्ध होंगे, तभी सही विकास होगा। यद्यपि विश्व में और खासकर भारत में पिछले वर्षों में काफी प्रयत्न हुए हैं पर अभी बहुत कुछ करना बाकी है।[1] भारत में संविधान, विभिन्न कानूनों, पंचवर्षीय योजनाओं एवं सरकारी कार्यक्रमों द्वारा महिलाओं के उत्थान के लिए भरसक प्रयत्न किये जा रहे हैं।

□□□

1. राजस्थान पत्रिका 19 नवम्बर, 1995

22

आयोजन तथा आर्थिक विकास

(Planning & Economic Development)

स्वतन्त्रता पूर्व देश का नियोजित विकास करने पर विचार किया गया था। इंजीनियर एम. विश्वेश्वरैया ने 1934 में अपनी पुस्तक *'Planned Economy for India'* में नियोजित विकास पर बल दिया था। पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'राष्ट्रीय योजना समिति' का गठन किया गया। सन् 1944 में भारत सरकार ने 'नियोजन एवं विकास' नामक विभाग का गठन किया। सन् 1946 में 'परामर्शदाता बोर्ड' एवं 'नियोजित समिति' स्थापित की गई। इससे स्पष्ट है कि *योजना आयोग का निर्माण पूर्व प्रयत्नों एवं चिन्तन की परिणति मात्र था। 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग* का विधिवत गठन किया गया। संविधान सभा ने 'योजना आयोग' को वैधानिक संस्था का स्वरूप प्रदान नहीं किया, अपितु यह आयोग एक शासकीय आदेश के द्वारा स्थापित किया गया है।

योजना आयोग (The Planning Commission)—योजना आयोग एक गैर-सांविधानिक संस्था है। शक्ति एवं कार्य-प्रणाली की दृष्टि से 1950 से लेकर आज तक योजना आयोग ने सभी क्षेत्रों में और विशेषतः राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में विभिन्न परम्पराओं के माध्यम से अपने आपको विकसित किया है।

योजना आयोग का संगठन—मार्च 1950 में नियुक्त योजना आयोग के संगठन में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। जनवरी, 1985 में *राजीव गाँधी के नेतृत्व वाली सरकार ने योजना आयोग का पुनर्गठन किया।* भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर डॉ. मनमोहनसिंह को इसका उपाध्यक्ष बनाया गया। अब तक योजना मंत्री ही आयोग का उपाध्यक्ष होता था। जून 1991 में केन्द्र में कांग्रेस (इ) सत्तारूढ़ हुई। प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव योजना आयोग के अध्यक्ष बने। प्रणव मुखर्जी को योजना आयोग का उपाध्यक्ष बनाया गया। उन्हें कैबिनेट मंत्री का दर्जा दिया गया। 17 अगस्त, 1991 को योजना आयोग का पुनर्गठन किया गया, जिसमें सात पूर्णकालीन सदस्य तथा मंत्रियों को शामिल किया गया। आयोग के कार्यों के संचालन के लिए आन्तरिक संगठन की दृष्टि से आयोग को चार भागों में विभाजित किया गया है—

1. समन्वय विभाग (Co-ordination Department)—इसके दो उप-विभाग हैं—योजना समन्वय विभाग **(Plan Co-ordination Department)** *तथा कार्यक्रम प्रशासन विभाग* **(Programme Administration Department)**। जब योजना आयोग को विभिन्न विभागों में सहयोग की आवश्यकता होती है तो समन्वय विभाग अपनी भूमिका निभाता है। प्रशासन विभाग के कार्य वार्षिक और पंचवर्षीय योजनाओं में समन्वय, अविकसित क्षेत्रों का पता लगाना, प्रदेशों को केन्द्रीय सहायता के तरीकों तथा योजना को प्रभावपूर्ण ढंग से कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में परामर्श देना है।

2. साधारण विभाग (General Department)—योजना से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों के लिए अनेक साधारण विभाग हैं। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष निदेशक होता है। मुख्य साधारण विभाग ये हैं—दीर्घकालीन योजना विभाग, आर्थिक *विभाग, श्रम एवं रोजगार विभाग, प्राकृतिक एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग,* सांख्यिकीय तथा सर्वेक्षण विभाग, प्रबन्ध एवं *प्रशासन विभाग।*

3. विषय विभाग (Subject Division)—आर्थिक गतिविधियों के विभिन्न क्षेत्रों के लिए *अलग-अलग* विषय विभाग हैं, जो विषय से सम्बन्धित योजना के लिए कार्य और शोध करते हैं।

4. विशिष्ट विकास कार्यक्रम विभाग (Special Development Programmed Division)— कतिपय विशेष कार्यक्रम पर जोर देने की दृष्टि से विशेष विभाग बनाए गए हैं। ये दो हैं—ग्रामीण विभाग एवं सहकारिता विभाग।

कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन—देश में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन करने के लिए 1952 में यह एक स्वतन्त्र संगठन के रूप में स्थापित किया गया था। बाद में इसने अपने कार्यकलापों को विस्तृत किया और कृषि, ग्रामीण

उद्योग, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण, ग्रामीण रोजगार आदि से सम्बन्धित अन्य योजनागत कार्यक्रमों को अपने कार्य में शामिल किया। कतिपय वर्षों से इस संगठन ने (क) योजना-कर्ताओं को आवश्यक प्रतिपुष्टि देने के लिए चल रहे कार्यक्रमों के 'त्वरित मूल्यांकन अध्ययन', (ख) केन्द्रीय कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन और राज्य मूल्यांकन संगठनों के बीच संयुक्त मूल्यांकन अध्ययन और (ग) विदेशों से सहायता प्राप्त परियोजनाओं का मूल्यांकन प्रारम्भ किया है।

योजना आयोग के प्रमुख कार्य एवं भूमिका—योजना आयोग के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. देश के साधनों का अनुमान लगाना है। योजना आयोग देश के भौतिक, पूंजी सम्बन्धी और मानवीय साधनों का अनुमान लगाता है। वह ऐसे साधनों के विकास की सम्भावना का पता लगाता है, जिसका देश में अभाव होता है। साधनों का अनुमान और उनमें अभिवृद्धि का प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि इसके अभाव में कोई नियोजन सम्भव नहीं है।

2. योजना आयोग का कार्य योजना-निर्माण करना है। योजना आयोग देश के संसाधनों के प्रभावशाली और सन्तुलित उपयोग के लिए योजना का निर्माण करता है।

3. योजना आयोग के दो कार्य हैं—योजना को पूरा किए जाने की अवस्थाओं को परिभाषित करना तथा योजना की प्राथमिकताओं का निर्धारण करना।

4. योजना आयोग देश के साधनों का समुचित आवंटन करता है।

5. योजना आयोग योजना तन्त्र का निर्धारण करता है। आयोग योजना की प्रत्येक अवस्था के सभी पहलुओं की क्रियान्विति के लिए योजनातन्त्र की प्रकृति निर्धारित करता है।

6. समय-समय पर योजना की प्रत्येक अवस्था के क्रियान्वयन में की गई प्रगति का मूल्यांकन करता है। इस मूल्यांकन के आधार पर वह नीतियों और प्रयत्नों में परिवर्तन या समायोजन की सिफारिश करता है।

7. योजना आयोग का कार्य सुझाव और दिशा-निर्देश देने से सम्बन्धित है। योजना आयोग आर्थिक विकास की गति अवरुद्ध करने वाले घटकों को इंगित करता है और योजना की सफलता के लिए आवश्यक स्थितियों का निर्धारण करता है। योजना निर्माण कार्य को पूरा करने हेतु आर्थिक परिस्थितियों, नीतियों, विकास कार्यक्रमों आदि पर योजना आयोग सरकार को सुझाव देता है। यदि राज्य या केन्द्रीय सरकार किसी समस्या विशेष पर सुझाव माँगे तो आयोग उस समस्या विशेष के समाधान के लिए अपने सुझाव देता है।

8. अन्य—अपने कार्य के सफल सम्पादन की दृष्टि से योजना आयोग को कतिपय निम्नलिखित कार्य भी सौंपे गए हैं—

1. सामग्री और पूंजी साधनों का मूल्यांकन, संरक्षण तथा उनमें वृद्धि की सम्भावनाओं आदि को तलाश करना। इस सम्बन्ध में योजना आयोग का कर्तव्य यह है कि वित्तीय साधनों, मूल्य-स्तर, उपभोग प्रतिमान आदि का निरन्तर अध्ययन करता रहे।
2. साधनों के सन्तुलित प्रयोग की दिशा में योजना आयोग को ऐसी विधि अपनानी चाहिए जिससे एक ओर तो विकास की अधिकतम दर प्राप्त की जा सके तथा दूसरी ओर सामाजिक न्याय की स्थापना हो सके।
3. योजना आयोग योजनाओं की सफलता के लिए सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करता रहता है।
4. योजना आयोग आर्थिक एवं अन्य नीतियों का सामयिक मूल्यांकन करता है और यदि नीतियों में किसी तरह के परिवर्तनों की आवश्यकता हो तो इसके लिए मन्त्रिमण्डल को सिफारिश करता है।
5. नियोजन की तकनीक का आवश्यक अध्ययन करते हुए उसमें सुधार का प्रयत्न करता है।
6. योजना के सफल क्रियान्वयन के लिए जन-सहयोग प्राप्त करना ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना दायित्व महसूस करते हुए योजना आयोग के कार्यों में भागीदार बन सके।

उपर्युक्त कार्यों का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि योजना आयोग की योजना निर्माण प्रक्रिया में बहु-आयामी भूमिका है और इसे इस दिशा में विविध प्रकार के कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है।

योजना आयोग के प्रमुख सम्भाग और समितियाँ—योजना आयोग के तीन प्रमुख सम्भाग (Division) हैं—कार्यक्रम परामर्शदातागण (Programe Advisors), सामान्य सचिवालय (General Secretariat) तथा तकनीकी सचिवालय (Technical Secretariat)। इसकी तीन महत्वपूर्ण समितियाँ भी हैं—अनुसन्धान कार्यक्रम समिति (Research Programme Committee), कार्यक्रम मूल्यांकन समिति (Programme Evaluation Committee) तथा योजना उपक्रम समिति (Committee on Plan Project)। कार्यक्रम परामर्शदातागण क्षेत्र अध्ययन (Field Study) तथा विभिन्न गतिविधियों एवं आयोजनाओं के पर्यवेक्षण तथा उनके क्रियान्वयन की प्रगति के विषय में योजना आयोग को सहायता देते हैं। सामान्य सचिवालय तथा तकनीकी सचिवालय आयोग के आन्तरिक अनुभागों

(Sections) से सम्बन्धित हैं। अनुसन्धान कार्यक्रम समिति सामाजिक तथा आर्थिक विकास की समस्याओं पर शोध-कार्य संचालित करती है। कार्यक्रम मूल्यांकन समिति सामुदायिक विकास आन्दोलन के अन्तर्गत कार्यों का मूल्यांकन करती है। योजना उपक्रम समिति महत्वपूर्ण योजना उपक्रमों के कार्य की जाँच करती है जिससे अधिकतम कार्यकुशलता एवं मितव्ययता की प्राप्ति की जा सके।[1]

योजना आयोग के प्रभागों के कार्यकलाप—योजना आयोग के सभी 27 प्रभागों के मुख्य कार्य-कलाप निम्नलिखित है—

1. भावी योजना प्रभाग—यह पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में तकनीकी टिप्पणी को अन्तिम रूप देता है। यह प्रभाग गरीबी और क्षेत्रीय असमानता की स्थिति से सम्बन्धित कार्यकारी दल के लिए विभिन्न अध्ययन करता है। विभिन्न क्षेत्रों की कीमतों पर आयात की कीमतों, निर्धारित कीमतों और करों की दरों में परिवर्तन के प्रभाव तथा थोक कीमतों के सूचकांक में वृद्धि के प्रभाव की जाँच करने के लिए आगत-निर्गत दृष्टिकोण का प्रयोग करते हुए मुद्रा-स्फीति सम्बन्धी निर्देशन का अध्ययन इस प्रभाग द्वारा किया जाता है। यह प्रभाग पिछली और अगली वार्षिक योजना के लिए विभिन्न क्षेत्रों के निर्गत उत्पादन स्तरों का अनुमान लगाता है।

2. आर्थिक प्रभाग—यह कृषि और औद्योगिक उत्पादन, आधार संरचनात्मक क्षेत्रों के निष्पादन, थोक और उपभोक्ता कीमतों की प्रवृत्तियों, मुद्रास्फीति और बैंक ऋण, भुगतान शेष आदि के सन्दर्भ में आर्थिक स्थिति का विश्लेषण और समीक्षा करता है। इसके अलावा प्रभाग दूरस्थ और अगम्य क्षेत्रों में उचित कीमतों पर वस्तुओं और कीमतों पर निगरानी से सम्बन्धित समिति, खाने के तेलों से सम्बन्धित सचिवों की स्थायी समीक्षा समिति और केन्द्र, बैंक और सरकारी वित्तीय संस्थाओं द्वारा निवेश के अन्तर क्षेत्रीय स्वरूप से सम्बन्धित कार्यकारी दल के कार्य से घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध रखता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रभाग—यह प्रभाग देश के व्यापार और भुगतान शेष के विभिन्न तत्वों की समीक्षा करने तथा जाँच से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विचार करने के कार्य में लगा रहता है। विकासशील और विकसित राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ आर्थिक, वाणिज्यिक और तकनीकी सहयोग स्थापित करने के लिए अनेक टिप्पणियाँ तैयार करता है। नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था, क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग, एशियाई और प्रशान्त क्षेत्र के लिए आर्थिक और सामाजिक अभिकरण तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार और कार्य करता है।

4. वित्तीय संसाधन प्रभाग—यह प्रभाग केन्द्रीय और राज्य सरकारों के बजटों का विश्लेषण, वार्षिक योजनाओं के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों के संसाधनों का आवधिक मूल्यांकन, लम्बी अवधि तक अधिविकर्ष वाले राज्यों के संसाधनों की मध्य-वार्षिक समीक्षा और भावी वार्षिक योजना के वित्त व्यवस्था करने में बजट के बाद की घटनाओं और गतिविधियों तथा घाटे की वित्त-व्यवस्था, रिजर्व बैंक से अधिविकर्ष पर अनावश्यक रूप से निर्भर रहे बिना वार्षिक योजना को सहज और स्वनिर्भर करने के लिए आवश्यक प्रलेख तैयार करता है।

5. परियोजना का मूल्यांकन—यह प्रभाग उन केन्द्रीय सरकार के निवेश प्रस्तावों का विश्लेषण करता है जिन पर सरकारी निवेश बोर्ड और व्यय वित्त समिति द्वारा विचार किया जाता है।

6. प्रबोधन और सूचना प्रभाग—यह प्रभाग उद्योग और खनिज, ऊर्जा, परिवहन, सिंचाई, ग्रामीण विकास और शिक्षा आदि के विभिन्न उप-क्षेत्रों के योजनागत परियोजनाओं की प्रगति और लक्ष्यों की प्राप्ति के विश्लेषण करता है और तिमाही रिपोर्ट प्रकाशित करता है। चुने हुए क्षेत्र से सम्बन्धित उर्वरक, इस्पात, कोयला, विद्युत और रेल्वे में उत्पादन, निष्पादन और परियोजना कार्यान्वयन के सम्बन्ध में तिमाही रिपोर्ट तैयार करता है। परियोजनाओं के कार्यान्वयन के सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण करता है, समस्याग्रस्त क्षेत्रों का पता लगाता है और उनके सम्बन्ध में सुधारात्मक उपाय आरम्भ करने के लिए कार्यवाही के विषयों की रूपरेखाएँ तैयार करता है। यह प्रभाग सिंचाई परियोजनाओं के प्रबोधन और विश्व बैंक की सहायता प्राप्त वन-उद्योग कार्यक्रमों के प्रबन्ध सूचना व्यवस्था का विकास करने में सहायता करता है।

7. कृषि प्रभाग—यह प्रभाग कृषि के विकास के लिए उपयोगी सुझाव देता है।

8. ग्रामीण विकास और सहकारिता प्रभाग—यह प्रभाग ग्रामीण विकास और सहकारिता के क्षेत्र में कार्य करता है।

9. सिंचाई और नियन्त्रण क्षेत्र विकास प्रभाग—यह प्रभाग सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण और बहुउद्देशीय परियोजनाओं पर विचार करता है। छोटी सिंचाई और नियन्त्रण विकास कार्यक्रमों की समीक्षा करता है। इस प्रभाग ने लाभ-लागत अनुपात तैयार करने के लिए एक समिति बनाई है।

10. बहुस्तरीय योजना प्रभाग—यह प्रभाग बहुस्तरीय योजनाओं से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में यह विभिन्न संस्थाओं के सहयोग से कार्य करता है और पाठ्यक्रम चलाता है।

---

1. डॉ. सी. पी. भाम्भरी : लोक प्रशासन, सिद्धान्त एवं व्यवहार, पृ. 272-273.

11 विद्युत और ऊर्जा प्रभाग—यह प्रभाग विद्युत परियोजनाओं की प्रगति की सतत समीक्षा करता है। परियोजनाओं के क्रियान्वयन में कमियों के लिए उत्तरदायित्व क्षेत्रों, उत्पादनों का पता लगाने के लिए उपस्करों की वितरण, समय-अनुसूची और निर्माण कार्यक्रमों सहित बड़ी स्कीमों की स्वीकृति देने की गति बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

12 उद्योग और खनिज प्रभाग—इस प्रभाग द्वारा उद्योग और खनिज से सम्बन्धित सरकारी उद्यमों के साथ उनकी परियोजनाओं और कार्यक्रमों पर विस्तृत विचार विमर्श किया जाता है। विशेष रूप से अन्तर मन्त्रालय समन्वय और दीर्घावधि योजना के सम्बन्ध में होने वाली विभिन्न समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए निष्पादन समीक्षा बैठकें आयोजित की जाती हैं।

13 ग्राम और लघु उद्योग प्रभाग—यह प्रभाग ग्राम और लघु उद्योगों के लिए आँकड़ों की प्राप्ति की अपर्याप्तता के प्रश्न पर विचार करता है और सुधारात्मक उपाय सुझाता है तथा एशियाई उत्पादकता संगठन अथवा अन्य संगठनों द्वारा ग्रामीण उद्योगों के लिए आयोजित संगोष्ठियों में भाग लेता है।

14 आवास, शहरी विकास और जल आपूर्ति प्रभाग—इस प्रभाग द्वारा ग्रामीण मकान बनाने की जगहें और मकान निर्माण स्कीम, गन्दी बस्तियों का पर्यावरण सुधार और ग्रामीण जल-आपूर्ति के सम्बन्ध में प्रलेख तैयार किए जाते हैं जिनमें उन समस्याओं और प्रश्नों को स्पष्ट किया जाता है जिन्हें क्षेत्रीय स्तर पर हल करना आवश्यक होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जल-आपूर्ति स्कीमों के लिए मानक निर्धारित करने और उन स्कीमों के कार्यान्वयन में सहायता करने के लिए मार्गदर्शी सिद्धान्तों पर मनन किया जाता है और उनके बारे में निर्माण और आवास मन्त्रालय को सुझाव दिया जाता है।

15 परिवहन प्रभाग—यह प्रभाग परिवहन सम्बन्धी परियोजनाओं के मूल्यांकन और उनकी स्कीमों से सम्बन्धित है। विस्तृत विचार विमर्श द्वारा परियोजनाओं के सम्बन्ध में बाधाओं का पता लगाकर, सुधारात्मक उपायों का सुझाव देना इसका कार्य है। परिवहन परियोजनाओं से सम्बन्धित अध्ययन दल भी यह गठित करता है।

16 शिक्षा प्रभाग—यह प्रभाग देश के पिछड़े क्षेत्रों में शिक्षा परियोजनाओं विशेषकर प्रौढ़ शिक्षा, महिला शिक्षा एवं सम्पूर्ण साक्षरता पर विशेष रूप से ध्यान देता है। शिक्षित बेरोजगारी से सम्बन्धित आँकड़ों का समीक्षात्मक ढंग से मूल्यांकन करना, शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न कार्यकारी दलों की रिपोर्टों पर विचार करना तथा शिक्षा और रोजगार के सम्बन्ध में सिफारिश करना आदि महत्त्वपूर्ण कार्य है।

17 विज्ञान और शिल्प-विज्ञान प्रभाग—विभिन्न मंत्रालयों, विभागों द्वारा महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में विदेशी तकनीकी सहायता के लिए जो परियोजनाएँ भेजी जाती हैं उनकी जाँच इस प्रभाग द्वारा की जाती है। मंत्रालयों विभागों के विज्ञान और शिल्प विज्ञान योजनान्तर्गत कार्यक्रमों पर विचार करता है।

18. स्वास्थ्य और परिवार कल्याण—यह प्रभाग स्वास्थ्य और परिवार कल्याण कार्यक्रम से सम्बन्धित है। परिवार नियोजन के सम्बन्ध में इस प्रभाग द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जाता है। कुष्ठ रोग निवारण तथा अन्धेपन की रोकथाम में विशिष्ट भूमिका होती है।

19 समाज कल्याण प्रभाग—यह प्रभाग समाज कल्याण परियोजनाओं पर विचार करता है। साथ ही पिछड़ी जातियों की महिलाओं और विकलांगों के उत्थान के लिए कार्य करता है।

20 पिछड़ा प्रभाग—यह प्रभाग पिछड़े वर्ग की परियोजनाओं से सम्बन्धित है। जनजातीय उपयोजनाओं और अनुसूचित जातियों के लिए संघटक योजनाओं के अन्तर्गत शामिल स्कीमों और कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की प्रगति की समीक्षा करना और तथ्य निर्धारित करना मुख्य कार्य है।

21 श्रम, रोजगार और जन शक्ति प्रभाग—यह प्रभाग ग्रामीण असंगठित श्रमिकों बन्धुआ मजदूरों और बाल मजदूरों से सम्बन्धित कार्य और श्रमिक कल्याण से सम्बन्धित योजनाओं, हस्तशिल्प कार्यों के सम्पादन, राज्यों/केन्द्र शासित प्रदेशों और केन्द्रीय मंत्रालयों द्वारा प्रस्तावित एवं विभिन्न योजनान्तर्गत कार्यक्रमों में रोजगार मदों की जाँच करने तथा जन-शक्ति से सम्बन्धित विविध पहलुओं की जाँच करने राज्य-स्तरीय जन-शक्ति की रूपरेखा तैयार करने सम्बन्धी दायित्वों का निर्वाह करता है।

22 सांख्यिकी और सर्वेक्षण प्रभाग—यह प्रभाग सांख्यिकी और सर्वेक्षण पाठ्यक्रम केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन के माध्यम से आयोजित करता है। यह सांख्यिकी और सर्वेक्षण प्रकाशन निकालता है।

23 संचार, सूचना तथा प्रसारण प्रभाग—योजना प्रभाग के कार्य कलापों की प्रगति को यह प्रभाग सूचना प्रसारण मंत्रालय के माध्यम से एककों से सम्पर्क बनाए रखता है। यह विभाग/प्रभाग योजना और सम्बद्ध विषयों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण दस्तावेज छपवाता है।

24 भारत-जापान अध्ययन समिति—इस समिति का कार्य भारत और जापान के मध्य सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक तथा वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित विविध पहलुओं का अध्ययन करना है ताकि दोनों देशों के बीच सम्बन्ध प्रगाढ़ हो सकें।

25. सामाजिक-आर्थिक अनुसन्धान एकक—यह एकक विभिन्न नए अनुसंधान, अध्ययन अनुमोदित करता है। विभिन्न अनुसन्धान अध्ययन के लिए सैद्धान्तिक रूप से स्वीकृत किए जाते हैं। अनेक अनुसन्धानों के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है।

26. हिन्दी का प्रयोग—राजभाषा नीति और राजभाषा, 1976 के अनुसरण में योजना आयोग में सरकारी कामकाज, विशेष रूप से पत्र-व्यवहार, सामान्य आदेशों और द्विभाषक फार्मों में हिन्दी के प्रयोग में लगातार प्रगति होती रही है। योजना आयोग द्वारा विभिन्न महत्वपूर्ण कागज-पत्र हिन्दी में निकाले जाते हैं।

27. पुस्तकालय—योजना आयोग पुस्तकालय अन्य संगठनों, संस्थाओं तथा विश्वविद्यालय आदि के अनुसन्धानकर्ताओं, विद्वानों और अधिकारियों को परामर्श सुविधाएँ देने के अलावा योजना आयोग सभी अधिकारियों/कर्मचारियों को सन्दर्भ सेवा और पुस्तकें देने की सुविधाएँ देता है।

योजना आयोग का भारतीय संसदीय प्रणाली पर प्रभाव

(Impact of Planning Commission on Parliamentary System of India)

योजना प्रणाली तथा योजना आयोग ने भारत की संसदीय व्यवस्था के स्वरूप तथा कार्य-प्रणाली को प्रभावित किया है। इसका सारगर्भित विवेचन डॉ. पी. डी. शर्मा एवं अन्य ने इस प्रकार किया है—"योजना आयोग की व्यवस्था ने भारत की संसदीय व्यवस्था को प्रभावित किया है। अनेक विचारकों ने इसी आधार पर योजना आयोग की आलोचना का आधार बनाया है। इस सम्बन्ध में अशोक चन्दा द्वारा योजना आयोग को प्रभावशाली रूप से आलोचित किया गया। उनकी दृष्टि में भारत में नियोजन के परिणामस्वरूप संसदीय प्रणाली समाप्त हो गई है। केन्द्रीय सरकार के सभी महत्वपूर्ण निर्णयों पर योजना आयोग छाया रहता है तथा राज्य सरकारों को भी योजना आयोग के निर्देशों के आधार पर ही चलना पड़ता है। यद्यपि केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को कोई निर्णय लेने की स्वतन्त्रता नहीं है, तथापि योजना आयोग अपना प्रत्येक निर्णय इन पर लादने में समर्थ होता है जबकि आयोग के सदस्य एवं कर्मचारी न तो लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हैं और न ही राज्यों की व्यवस्थापिका सभा के प्रति। संसदीय व्यवस्था का मूल मंत्र ही उत्तरदायित्व की व्यवस्था है जिसे योजना आयोग ने अपनी सशक्त स्थिति के कारण समाप्त कर दिया है।"

यद्यपि योजना आयोग केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के निर्णयों को प्रभावित करता है, किन्तु यह तथ्य पूर्ण रूपेण स्वीकार नहीं जा सकता कि योजना आयोग के अस्तित्व में आने से संसदीय व्यवस्था का आधार-बिन्दु उत्तरदायित्व समाप्त हो गया है, क्योंकि केन्द्र के स्तर पर योजना मन्त्री तथा राज्य के स्तर पर नियोजन मन्त्री राज्य की विधान सभा के प्रति उन सभी निर्णयों के लिए उत्तरदायी हैं जो उन्होंने स्वयं अथवा योजना आयोग के परामर्श से लिए हैं।

योजना आयोग के संसदीय व्यवस्था पर एक अन्य प्रभाव की ओर संकेत करते हुए यह कहा जाता है कि योजना आयोग के अस्तित्व में आने से एक समानान्तर सरकार की स्थापना हो गई है। योजना आयोग में लगभग वे सभी विभाग पाए जाते हैं जो कि केन्द्रीय सरकार के स्तर पर पाए जाते हैं अथवा राज्यीय स्तरों पर पाए जाते हैं। योजना आयोग का अधिकारतः यह प्रयास रहता है कि वह इन विभागों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर अपना कार्य सम्पादित कर सके। वह यह आवश्यक नहीं समझता है कि इन विभागों से केन्द्र पर प्रधानमन्त्री, राज्य पर मुख्यमन्त्री अथवा सम्बन्धित मंत्रियों के माध्यम से इन विभागों से सम्पर्क स्थापित करे। इसलिए 'साम्राज्य के अन्दर साम्राज्य' का जन्म हो गया है। योजना आयोग के इस अनुचित प्रभाव के विचार को अनेक विचारकों द्वारा खण्डित किया गया है। यद्यपि यह ठीक है कि योजना आयोग में मुख्य रूप से विकास से सम्बन्धित सभी विभाग पाए जाते हैं जो केन्द्रीय या राज्य के स्तर पर उपलब्ध हैं, किन्तु जो व्यावहारिक अध्ययन हुए हैं उनसे यह सिद्ध नहीं होता है कि योजना आयोग द्वारा सम्बन्धित मन्त्रियों की उपेक्षा कर विभागों से सम्पर्क स्थापित करना चाहता हो और उन पर प्रभाव जमाने की एक साम्राज्यवादी प्रवृत्ति निहित रही हो।

योजना व्यवस्था ने संघीय व्यवस्था को प्रभावित किया है तथा नियोजन की प्रक्रिया का संघवाद पर प्रभाव एक विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है। इस सन्दर्भ में विभिन्न विचारकों के विभिन्न मत रहे हैं। अशोक चन्दा की मान्यता है कि भारतीय संघीय व्यवस्था में योजना आयोग की भूमिका संघवाद के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसकी क्रियाओं के अनुचित प्रभाव के कारण सम्पूर्ण संघीय व्यवस्था ही समाप्त हो गई है। इस विचारधारा के विपरीत एक अन्य विचारधारा यह है कि नियोजन व्यवस्था के होते हुए हमारे यहाँ संघीय व्यवस्था बनी हुई है या संघवाद का स्वरूप सहयोगी संघवाद के रूप में उभरा है। यद्यपि इससे भारतीय संघवादी व्यवस्था में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है, किन्तु संघवाद के आधारभूत तत्व इसमें विद्यमान हैं। एक अन्य विचारधारा के अनुसार यद्यपि संघवाद नियोजन की व्यवस्था के कारण समाप्त नहीं हुआ फिर भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति इसमें बहुत ज्यादा आ गई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान में एकात्मकता का पक्ष इससे अधिक मजबूत हुआ है। भारतीय संविधान द्वारा एक भौगोलिक संघ की स्थापना की गई, किन्तु योजना आयोग के अनुकूल अनुदान की प्रक्रिया ने 'वर्टिकल संघ' स्थापित कर दिया अर्थात् राज्यों के सम्बन्धों में

असमानता का प्रयोग किया जाने लगा तथा यह असमानता गैर-संविधानिक संस्था योजना आयोग द्वारा आरम्भ की जाती है। इस स्थिति के होते हुए के. सन्थानम ने स्वीकारा है कि योजना व्यवस्था में होते हुए भी यह कहना गलत होगा कि राज्य पूर्णतः मताहित हो गए अथवा केन्द्र के अधीन हो गए, क्योंकि योजना-निर्माण से सम्बन्धित कार्यक्रमों को बनाने तथा वित्त की रूपरेखा तैयार करने में और विशेषकर योजनाओं को लागू करने में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका है इसलिए केन्द्र से सौदे के बाद सहयोग की स्थिति बनी रहती है।

नियोजन व्यवस्था से संघ एवं राज्य सरकारों पर जो प्रभाव पड़ता है इसी के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि योजना आयोग के माध्यम से राज्यों पर संविधानिक नहीं अपितु आर्थिक दबाव अधिक पड़ता है, क्योंकि संविधान में नियोजन के सम्बन्ध में कोई कानून नहीं बनाया गया तथा नियोजन समवर्ती सूची में रखा गया, इसलिए योजना आयोग का निर्माण केन्द्रीय सरकार के एक प्रस्ताव के आधार पर किया गया। इस आधार पर योजना आयोग कानूनी दृष्टि से कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। उसके किसी प्रभाव के पीछे संविधानिक शक्ति नहीं हो सकती, किन्तु राज्यों को आर्थिक सहायता की आवश्यकता के कारण आयोग के प्रभाव को स्वीकार करना पड़ता है। यदि कोई राज्य यह तर्क देता है कि वह योजना आयोग का आदेश मानने को बाध्य नहीं है, क्योंकि यह कोई कानूनी शक्ति नहीं रखता, संविधानिक दृष्टि से उसका पक्ष सही कहा जा सकता है तथा केन्द्रीय सरकार के पास कोई शक्ति नहीं है जिसके आधार पर वह राज्यों को आयोग का निर्णय मानने को बाध्य कर सके, किन्तु यहाँ राजनीतिक और आर्थिक यथार्थ कानूनी यथार्थ की अपेक्षा अधिक प्रभाव रखता है। इसी दबाव शक्ति के कारण राज्य आयोग के निर्णयों का विरोध करने में समर्थ नहीं हो पाते। जहाँ तक योजनाओं के निर्णय का सम्बन्ध है, मुख्य रूप से यह कहना अनुचित नहीं होगा कि नियोजन की दिशा राष्ट्रीय स्तर पर योजना आयोग द्वारा निर्धारित की जाती है। योजना का लक्ष्य क्या होगा तथा प्राथमिकताएँ क्या रहेंगी, इसके निर्धारण का कार्य योजना आयोग ही करता है। इसलिए यह कहा जाता है कि योजनाओं के निर्माण में राज्यों की कोई भूमिका नहीं होती। यदि योजना-निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया देखी जाए तो बिना किसी विरोध के यह नहीं स्वीकारा जा सकता है कि योजना-निर्माण में राज्यों का कोई सहयोग नहीं रहता। प्रत्येक योजना के निर्माण से पूर्व एक योजना सम्बन्धी आलेख तैयार किया जाता है। योजना का यह आलेख निर्मित कर राज्य सरकारों के पास भेज दिया जाता है। कभी इससे पूर्व तथा कभी इसके पश्चात् दलीय स्तर पर भी आलेख पर विचार किया जाता है। इसके बाद यह आलेख राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जिसमें राज्यों के मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, योजना एवं वित्त मंत्री होते हैं। इस स्तर पर योजना-निर्माण में राज्यों का दृष्टिकोण जान लिया जाता है और इस दृष्टिकोण के आधार पर आलेख को संशोधन के साथ अथवा बिना संशोधन के स्वीकृति दे दी जाती है तथा इसे संसद के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाता है।

संसद की स्वीकृति के पश्चात् यह आलेख योजना-निर्माण के लिए पुनः योजना आयोग के पास भेज दिया जाता है और इस आलेख के आधार पर विभिन्न राज्यों से योजना के निर्माण के लिए सुझाव माँगे जाते हैं। राज्य अपने स्तर पर जिलों से एवं जिला पंचायत समिति ग्राम पंचायतों से सुझाव माँगकर अपनी योजना की रिपोर्ट योजना आयोग को भेज देते हैं। इसके बाद योजना आयोग विभिन्न राज्यों के सुझावों को दृष्टिगत रखते हुए तथा उनसे निरन्तर बातचीत के माध्यम से एक नवीन प्रलेख तैयार करता है जो पुनः राज्यों द्वारा राष्ट्रीय विकास परिषद एवं संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। योजना की इस प्रक्रिया का सम्बन्ध बहुत कुछ उन विषयों से होता है जो राज्य-सूची के होते हैं। इसलिए जब योजना आयोग द्वारा राज्य सूची के विषयों का नियोजन किया जाता है तथा जब राज्यों का परामर्श पूरी तरह नहीं स्वीकारा जाता है तो कुछ मात्रा में उनकी स्वतन्त्रता अवश्य सीमित की जाती है, किन्तु राज्यों के परामर्श अथवा उनकी भूमिका को गौण स्थान नहीं दिया जाता। योजना निर्माण में योजना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होते हुए भी नियोजन की प्रक्रिया केन्द्र, राज्य तथा योजना आयोग की प्रतीक कही जा सकती है।

नियोजन के सन्दर्भ में केन्द्र द्वारा दी जाने वाली अपर्याप्त वित्तीय सहायता के कारण राज्यों की आर्थिक व्यवस्था असन्तुलित हो जाती है, क्योंकि राज्यों पर ऋण इतना बढ़ जाता है कि अपनी आय का अधिकांश भाग उन्हें ब्याज के रूप में केन्द्र को देना पड़ता है। इसी असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था के कारण राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता बढ़ती जाती है फलतः भारतीय संघीय व्यवस्था में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बल मिलता है।

आर्थिक नियोजन की चुनौतियों के सन्दर्भ में प्रशासनिक सुधार
(Administrative Improvements in View of the Challenges of Economic Planning)

आर्थिक नियोजन ने प्रशासन को नए दायित्व सौंपे हैं। विकास कार्यक्रमों को सम्पन्न करने के लिए नई चुनौतियाँ उपस्थित हुई हैं। इनका सामना करने के लिए प्रशासन को तदनुरूप ढाला जाना चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग ने नियोजन के सन्दर्भ में भारतीय प्रशासन में सुधार के लिए विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किए हैं। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध योजना आयोग से है।

चयन एक विशेष समिति द्वारा किया जाना चाहिए जिसमें योजना आयोग का अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का अध्यक्ष तथा योजना आयोग का उपाध्यक्ष सदस्य हों। औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों का चयन करते समय इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज के अध्यक्ष की सहायता ली जानी चाहिए। जहाँ आवश्यक प्रतीत हो वहाँ समिति के परामर्श के लिए विशेषज्ञों को भी सहयुक्त किया जा सकता है।

10. प्रशासनिक सुधार आयोग ने नियोजन को शक्तिशाली बनाने हेतु यह सुझाव दिया है कि प्रतिवर्ष योजना कार्यक्रमों की प्रगति प्रतिवेदन द्वारा प्रस्तुत की जाए। ये प्रतिवेदन छः माह के अन्दर-अन्दर संसद में प्रस्तुत कर दिए जाने चाहिए। इसी प्रकार राज्य स्तर पर भी राज्य नियोजन मण्डल योजना कार्यक्रमों की प्रगति सम्बन्धी सूचना एकत्रित करें तथा एक प्रतिवेदन तैयार कर उसे राज्य विधान-मण्डल के सामने रखें। योजना आयोग में पृथक् से एक मूल्यांकन शाखा स्थापित की जानी चाहिए जिसे योजना आयोग के उपाध्यक्ष के अधीन रखना चाहिए। यह शाखा महत्वपूर्ण योजना कार्यक्रमों एवं अन्य कार्यों का अध्ययन करेगी जिससे राज्यों में मूल्यांकन कार्य का पथ-प्रदर्शन हो सकेगा। योजना आयोग द्वारा तैयार किया जाने वाला कार्यक्रम भारतीय संसद के सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिए। प्रत्येक मन्त्रालय का योजना सभाग (सेल) अपने अन्य कार्यों के साथ-साथ ऐसे क्षेत्रों के मूल्यांकन का कार्य भी करेगा जहाँ वर्तमान में योजना आयोग द्वारा यह नहीं किया जा रहा है। राज्य नियोजन मण्डलों में मूल्यांकन इकाइयाँ होनी चाहिए जो राज्य योजनाओं के कार्यक्रमों का मूल्यांकन कर सकेंगी और इनके प्रतिवेदन राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के सम्मुख प्रस्तुत किए जाएंगे।

11. प्रशासनिक सुधार आयोग ने सिफारिश की थी कि लगभग 25 सदस्यों की एक विशेष संसदीय समिति गठित की जा सकती है जो योजना कार्यों की वार्षिक प्रगति की जाँच कर सकेगी। राज्य स्तर पर ऐसी समिति उपयोगी होगी। प्रस्तावित समिति अनौपचारिक परामर्शदात्री समिति का कार्य कर सकती है।

12. प्रशासनिक सुधार आयोग ने राष्ट्रीय विकास परिषद में प्रधानमन्त्री, उप-प्रधानमन्त्री, केन्द्रीय वित्त मन्त्री, खाद्यमन्त्री तथा कृषि-मन्त्री, औद्योगिक विकास मन्त्री, वाणिज्य मन्त्री, श्रम तथा रोजगार मन्त्री, गृह-मन्त्री, सिंचाई एवं शक्ति मन्त्री, योजना आयोग के सभी सदस्य तथा सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री सदस्य के रूप में सम्मिलित किए जाने चाहिए।

प्रशासनिक सुधार आयोग की उक्त सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने अक्टूबर, 1967 में राष्ट्रीय विकास परिषद का पुनर्गठन कर दिया।

अन्य महत्वपूर्ण सुझाव—

(1) सर्वप्रथम योजना आयोग के संगठन में परिवर्तन करना आवश्यक है। योजना आयोग पूर्णतः गैर राजनीतिक परामर्शदात्री संस्था होनी चाहिए। आयोग में मन्त्री नहीं होने चाहिए। आयोग का अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं सदस्य सभी अपने विषय के विशेषज्ञ होने चाहिए। कभी-कभी यह कहा जा सकता है कि विशेषज्ञों को पुस्तकीय ज्ञान होता है और व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में आयोग किसी अन्य वैधानिक संस्था के अधिकारों का विकल्प नहीं हो सकता है। वह मात्र परामर्शदात्री संस्था ही होगी। इससे इसकी क्रियाशीलता में वृद्धि होगी।

(2) केन्द्रीय मन्त्री अपने-अपने विभागों की योजना बनाकर आयोग को प्रस्तुत करें।

(3) योजना का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। प्रत्येक राज्य विकेन्द्रित आधार पर योजनाएँ तैयार करे। ब्लॉक स्तर पर अथवा किसी अन्य निर्धारित स्तर पर योजनाएँ बनाई जायें। इन योजनाओं पर राज्य-मन्त्रिमण्डल विचार करे और राज्य की समन्वित योजना तैयार करे। योजना आयोग प्रत्येक क्षेत्र एवं स्तर से प्राप्त योजनाओं का अध्ययन करे, समन्वित योजना तैयार करे और फिर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल उस पर विचार करे और निर्णय ले। जिन राज्यों की योजना में कटौती की जाये उसके कारण स्पष्ट किए जाने चाहिए। इसके विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि इस प्रकार की समन्वित व्यापक आधार पर योजना तैयार नहीं की जा सकती। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि योजना आयोग प्राथमिकताएँ निर्धारित कर दे एवं संसाधनों के विषयों में स्थिति स्पष्ट कर दे। तभी सभी वास्तविक आधार पर योजनाएँ प्रस्तुत करेंगे और स्वीकृति एवं साधन प्राप्त होने पर सही ढंग से उन्हें कार्यान्वित करेंगे।

(4) केन्द्र सरकार केन्द्रीय विषयों पर तथा राज्य सरकारें राज्य-विषयों पर योजनाएँ बनाये।

(5) जनता से सुझाव माँगे जायें। साधनों की पूर्ति के सुझाव जनता से माँगे जाने चाहिए।

यदि उपर्युक्त आधार पर योजना आयोग कार्य करे तो बहुत-सी समस्याओं का समाधान स्वतः हो सकेगा। राजनीतिक पक्षपात का अवसर समाप्त हो जायेगा और राज्यों की पूर्ण सहभागिता बढ़ेगी, उनका उत्तरदायित्व एवं महत्व बढ़ेगा और जनता भी रुचि ले सकेगी।

राष्ट्रीय विकास परिषद
(National Development Council)

भारत में योजना आयोग की तरह राष्ट्रीय विकास परिषद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी स्थापना के पीछे मुख्य लक्ष्य योजना के निर्माण में राष्ट्रीय सहमति का लक्ष्य प्राप्त करना रहा है।

राष्ट्रीय विकास योजना का संगठन

योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र और राज्यों के मध्य समायोजन (Co-ordination) के लिए योजना आयोग की सिफारिश पर अगस्त, 1952 में राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना की गई। इस परिषद में प्रधानमंत्री, केन्द्रीय सरकार के मंत्री, सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और योजना आयोग के सदस्य सम्मिलित होते हैं। यदि किसी राज्य का कोई मुख्यमंत्री परिषद की बैठक में उपस्थित न हो सके तो उसे अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है। परिषद में राज्यों के मुख्यमंत्री की सदस्यता और योजना आयोग द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों पर उनकी स्वीकृति के कारण योजना को राज्यों की ओर से पूर्व स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। योजना के निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद से अनिवार्यतः परामर्श लिया जाता है। योजना आयोग द्वारा केन्द्रीय मंत्रियों एवं राज्य सरकारों से सलाह-मशविरा करने के बाद योजना का जो प्रारूप तैयार किया जाता है वह केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति मिलने के बाद राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष जो कि सहयोगी संघवाद (Co-operative Federalism) के सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करती है, आवश्यक सुझाव हेतु प्रस्तुत किया जाता है। बाद में परिषद की सिफारिशों के आधार पर योजनाओं में तथा उनके कार्यक्रमों में आवश्यक सुधार किया जाता है। इसके बाद मन्त्रालयों तथा राज्य सरकारों के पास प्रारम्भिक निर्देशों सहित भेज दिया जाता है और उनसे केन्द्रीय योजना निर्माण की वे सभी प्रक्रियाएँ पूरी कराई जाती हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। योजना-निर्माण को अन्तिम रूप देने से पूर्व पुनः परिषद की सिफारिशें ली जाती हैं और तब योजना अपना स्वरूप और आकार ग्रहण कर लेती है जिसे बाद में संसद द्वारा स्वीकृति मिलने पर प्रचारित कर दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ है कि राष्ट्रीय विकास परिषद की योजना-निर्माण के सन्दर्भ में बहुत कुछ निर्णायक भूमिका होती है इसीलिए उसे 'सुपर कैबिनेट'-(Super Cabinet) तक कहा जाता है। इसके उच्च स्वरूप के कारण ही इसके परामर्श को केन्द्रीय और राज्य सरकारें महत्व प्रदान करती हैं। परिषद के सदस्य शासकीय नीति के निर्माता होते हैं, अतः योजना आयोग एवं मंत्रिमण्डल द्वारा परिषद के दृष्टिकोण की प्रायः अवहेलना नहीं की जाती। राष्ट्रीय विकास परिषद का इतना दबदबा होता है कि राज्यों के मुख्यमंत्री उसके निर्णय को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन अनेक अवसरों पर असहमति के मुद्दे भी उठते हैं जिन्हें आपसी सहयोग से सुलझा लिया जाता रहा है।

राष्ट्रीय विकास परिषद के कार्य

राष्ट्रीय विकास परिषद योजना की सर्वोच्च नीति-निर्धारक संस्था है। इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) समय-समय पर राष्ट्रीय योजना के कार्य-संचालन का पर्यवलोकन करना।

(ii) राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाले सामाजिक और आर्थिक नीति-सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना।

(iii) राष्ट्रीय योजना में निर्धारित उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपाय सुझाना।

(iv) जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना।

(v) प्रशासनिक सेवाओं की कुशलता में वृद्धि करना।

(vi) समाज के अल्प-विकसित वर्गों और प्रदेशों के पूर्ण विकास के लिए संसाधनों का निर्माण करना।

(vii) समस्त नागरिकों के समान त्याग के द्वारा राष्ट्रीय विकास के लिए संसाधनों का निर्माण करना।

योजना आयोग की तरह राष्ट्रीय विकास परिषद के पीछे सांविधानिक या कानूनी सत्ता नहीं होती, किन्तु इसकी सिफारिशों का केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा पालन अवश्य किया जाता है। इसके कार्यों की प्रकृति का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह उन बहुमुखी कार्यों का निष्पादन करती है, जिन्हें योजनाओं के निर्माण तथा उनकी सफल क्रियान्विति के लिए आवश्यक समझा जाता है।

राष्ट्रीय विकास परिषद की प्रकृति

राष्ट्रीय विकास परिषद की प्रकृति का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

(1) राष्ट्रीय विकास परिषद भारत में संघात्मक व्यवस्था की एक प्रतीक संस्था के रूप में उभर कर सामने आई है। इसमें केन्द्र और राज्यों के नेतृत्व का प्रतिनिधित्व होता है। यह संघवादी अवधारणा को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करता है।

(2) राष्ट्रीय विकास परिषद 'सहकारी संघवाद' (Co-operative Federalism) की भावना को क्रियान्वित करती है। केन्द्र और राज्यों के बीच योजनाओं के प्रारूप के सम्बन्ध में खुलकर विचार-विमर्श होता है। यह एक ऐसा राष्ट्रीय मन्च है जहाँ सभी पक्ष राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में विचार-विमर्श करते हैं। योजना के सम्बन्ध में केन्द्र तथा राज्यों में उठने वाले विवाद का समाधान हो जाता है। इससे 'सहकारी संघवाद' की भावना सुदृढ़ होती है।

(3) राष्ट्रीय विकास परिषद देश में नियोजन तन्त्र की 'शीर्षस्थ या सर्वोच्च संस्था' है।

(4) राष्ट्रीय विकास परिषद के संगठन का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका राष्ट्रीय चरित्र है। इसमें प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मंत्री, योजना आयोग के सदस्य और राज्यों के मुख्यमंत्री सदस्य होते हैं। इससे सम्पूर्ण राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में योजनाओं का निर्माण होता है।

(5) प्रधानमंत्री राष्ट्रीय विकास परिषद का अध्यक्ष होता है अतः इस परिषद का वह नेतृत्व, नियन्त्रण और निर्देशन करता है। राष्ट्रीय विकास परिषद की कार्य-प्रणाली पर उसके व्यक्तित्व का प्रभाव बना रहता है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती इन्दिरा गाँधी तथा राजीव गाँधी जैसे करिश्माई और शक्तिशाली प्रधानमंत्रियों का इस परिषद पर पूरा वर्चस्व रहा। यद्यपि इन्दिरा गाँधी के शासन के अन्तिम वर्षों में उन्हें राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठकों में गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों द्वारा चुनौती दी गई। फिर भी राष्ट्रीय विकास परिषद की गतिविधियों पर उनका वर्चस्व बना रहा। संविद सरकार तथा अल्पमतीय सरकार का नेतृत्व करने वाले प्रधानमंत्री की स्थिति राष्ट्रीय विकास परिषद में उतनी सशक्त और सुदृढ़ नहीं होती है।

(6) राष्ट्रीय विकास परिषद में केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल की सक्रिय भूमिका रहती है। प्रधानमंत्री, केन्द्रीय मंत्रियों और अनेक राज्यों के मुख्यमंत्रियों का सम्बन्ध सत्तारूढ़ दल से होता है, फलतः इस परिषद की कार्यवाही को प्रभावित करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(7) राष्ट्रीय विकास परिषद में राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा अपने-अपने राज्यों के लिए अधिक रियायतें प्राप्त करने की दृष्टि से दबाव की राजनीति का सहारा लिया जाता है और इसमें शक्तिशाली और जनाधार रखने वाले मुख्यमंत्री सफल भी रहते हैं।

(8) राष्ट्रीय विकास परिषद का सम्बन्ध देश के नियोजन से है, अतः सामाजिक और आर्थिक विकास करना इसका प्राथमिक तथा सर्वोपरि लक्ष्य है। यह परिषद देश का आर्थिक विकास करने, आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने, क्षेत्रीय असन्तुलन को समाप्त करने, गरीबी और बेरोजगारी को दूर करने, देश में विकास की दर को आगे बढ़ाने का कार्य करती है। इस तरह से इसकी सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका है।

सारांश में, यही कहा जा सकता है कि भारत की संघात्मक और संसदीय व्यवस्था में राष्ट्रीय विकास परिषद उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह कर रही है।

उदारीकरण के युग में आयोजना एवं आर्थिक सुधारों के राजनीतिक आयाम

(Planning in the Era of Liberalisation and Political Dimensions of Economic Reforms)

नीचे से योजना का निर्माण—भारत में केन्द्र द्वारा योजना बनाने के साथ-साथ संगठन की निचली इकाइयों की आवश्यकताओं, उनके लक्ष्यों के मूल्यांकन तथा सुझावों के अनुसार सरकार इस योजना में परिवर्तन या संशोधन करती है। विभिन्न राज्यों, जिलों और विकास खण्डों द्वारा योजना के प्रारूप में निर्धारित व्यापक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए योजना-निर्माण में उसका समायोजन कर लिया जाता है। उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके समन्वित योजना में समायोजन कर लिया जाता है। योजना आयोग राज्यों, जिलों और पंचायत समितियों द्वारा प्रस्तुत आवश्यकताओं, प्रस्तावों और कार्यक्रमों की आर्थिक और तकनीकी से सावधानीपूर्वक जाँच करता है और उसके आधार पर समन्वित योजना का निर्माण करता है। इस प्रकार से योजना आयोग द्वारा सभी स्तरों पर योजना निर्माण का कार्य किया जाता है।

नियोजन की तकनीक और योजना आयोग की भूमिका—भारत में योजना आयोग मध्यम और दीर्घकालीन योजनाओं के निर्माण में जिस तकनीक का उपयोग करता है, वह निम्नानुसार है—

1. अर्थ-व्यवस्था की स्थिति का सांख्यिकीय विश्लेषण किया जाता है। अर्थव्यवस्था के विभिन्न आँकड़ों के आधार पर भूतकालीन प्रगति की समीक्षा की जाती है तथा मुख्य आर्थिक समस्याओं का अनुमान लगाया जाता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न सार्वजनिक और निजी संस्थान सहायता देते हैं। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन राष्ट्रीय आय के आँकड़े तैयार करता है। भारतीय रिजर्व बैंक व्यापक मौद्रिक और वित्तीय आँकड़े एकत्रित करता है। योजना आयोग की अनुसंधान कार्यक्रम समिति विभिन्न समस्याओं के बारे में अध्ययन-अनुसंधान करती है। आयोग का कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन ग्रामीण अर्थव्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करता है तथा कई अन्य विशिष्ट संस्थाएँ सांख्यिकीय विश्लेषण में सहायक होती हैं। प्रत्येक मन्त्रालय में सांख्यिकी कक्ष होते हैं जो अपने विषय पर सब प्रकार की सूचनाएँ एकत्रित करते हैं। योजना आयोग इन सब स्रोतों द्वारा प्राप्त सांख्यिकीय आधार पर अर्थव्यवस्था की स्थिति का विश्लेषण करता है तथा योजना-निर्माण के कार्य में आगे बढ़ता है।

2. उपयुक्त विश्लेषण, निरीक्षण एवं अध्ययन के आधार पर आर्थिक विकास की सम्भावनाओं का अनुमान लगाया जाता है तथा यह भी देखा जाता है कि विकास की वांछनीय गति क्या होनी चाहिए? नियोजन की मोटी-मोटी प्राथमिकताओं और नीतियों के सम्बन्ध में निश्चय किया जाता है। विकास की वांछनीय गति के आधार पर योजनावधि में बचत और विनियोग की आवश्यकताओं पर निर्णय लिया जाता है। यह सब कुछ करने के बाद वित्तीय साधनों की छानबीन की जाती है। निजी क्षेत्र के वित्तीय साधनों का अनुमान रिजर्व बैंक द्वारा और सार्वजनिक क्षेत्र के साधनों का अनुमान योजना आयोग तथा वित्त मन्त्रालय द्वारा लगाया जाता है।

3. नियोजन तकनीक में मुख्य आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों का निर्धारण महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इनके निर्धारण में उपलब्ध समय तथा भौतिक और वित्तीय दोनों दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। इन दोनों ही उद्देश्यों में समायोजन किया जाता है।

4. मुख्य उद्देश्यों के निर्धारण के बाद विभिन्न क्षेत्रों, यथा—कृषि, उद्योग, विद्युत, सिंचाई, यातायात, समाज-सेवा आदि के लक्ष्य निर्धारित किए जाते हैं। यह काम कार्यकारी दल (Working Groups) करता है। तत्पश्चात् योजना आयोग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के इन लक्ष्यों की उपयुक्तता की जाँच करता है और देखता है कि इनमें परस्पर असंगति तो नहीं है।

5. अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में लक्ष्यों के निर्धारण के बाद इन सबको समन्वित किया जाता है और उनकी तुलना मूल अनुमानों से की जाती है। उपलब्ध पूँजीगत साधनों और विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में लक्ष्यों पर विचार किया जाता है। तदनुसार साधनों को अधिक गतिशील बनाने या लक्ष्यों को घटाने-बढ़ाने का निर्णय लिया जाता है। योजना के सभी पहलुओं पर पूरा विचार विमर्श करके सरकार और योजना आयोग द्वारा योजना की नीति, योजना के आकार, योजना के क्षेत्र, विनियोगों के आवंटन, प्राथमिकताओं के निर्धारण आदि के सम्बन्ध में निर्णय लिए जाते हैं और योजना का अन्तिम रूप दे दिया जाता है।

संघवाद पर नियोजन का प्रभाव (Impact of Planning on Federalism)

भारतीय संघवाद पर नियोजन के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाए जाते हैं। अशोक चन्दा के अनुसार योजना आयोग ने संघवाद का स्थान ले लिया (Suprecede) है। केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है और इन्हें प्रभावित करने में योजना आयोग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत में सम्पूर्ण नियोजन इस प्रकार का है कि राष्ट्रीय योजना कार्यान्वित होती है और राज्यीय योजनाएँ भी। इस प्रकार राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है और प्रान्तीय एवं स्थानीय हितों की भी। योजना आयोग का मुख्य उद्देश्य यही रहता है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक बनें। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति से केन्द्रीयकरण को कुछ बढ़ावा मिलता है और केन्द्र राज्य सम्बन्ध एकात्मकता के लक्षणों से प्रभावित होते हैं। संघवाद पर नियोजन के प्रभाव को अध्ययन की सुविधा से निम्नलिखित बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है—

1. नियोजन की विषय-वस्तु की प्रकृति—भारत जैसी संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत शासन के विषय केन्द्र और राज्यों के मध्य विभक्त होते हैं, अतः किसी राष्ट्रव्यापी नियोजन में राज्यों को 'केन्द्रीय निर्देशों' को प्रथम प्राथमिकता देनी पड़ती है। शासन के सभी विषयों पर योजना आयोग योजना बनाता है अर्थात् राज्य-सूची के विषयों पर उसका एक सीमा तक अधिकार होता है। इस प्रकार योजना आयोग के माध्यम से देश में एकात्मकता की प्रवृत्ति का विकास होना स्वाभाविक है।

2. योजना-निर्माण का स्वरूप—भारत में राज्यों की समस्याएँ अलग-अलग होती हैं और उनके निराकरण के लिए भिन्नता होना स्वाभाविक है, लेकिन बहुत-सी समस्याएँ केन्द्र और राज्यों में लगभग समान प्रकृति की होती हैं अतः इस प्रकार की समस्याओं के निराकरण में केन्द्र की आवाज अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण रहती है। योजना-प्रारूप का अन्तिम निर्णय केन्द्रीय संसद के अधिकार में है। राज्यों के पास अपने पृथक् योजना-बोर्ड नहीं हैं, अतः केन्द्र द्वारा स्थापित और शासित योजना आयोग का राज्य सरकारों पर व्यापक प्रभाव होता है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने राज्यों में योजना बोर्ड बनाने का सुझाव दिया था, लेकिन राज्य इस आशंका से सहमत नहीं हुए कि योजना बोर्ड कहीं राज्य में 'समानान्तर सरकार' जैसी शक्ति प्राप्त न कर ले। योजना-निर्माण प्रक्रिया से यह तथ्य स्पष्ट है कि राज्य-सरकार से व्यापक विचार विमर्श किया जाता है और इस बात में अन्तिम निर्णय लेते समय राज्य के मुख्यमन्त्रियों की सलाह का विशेष महत्व होता है। इस प्रकार, यद्यपि केन्द्र की प्रमुखता होती है, तथापि राज्यों की सलाह को उपेक्षा भी नहीं की जाती। केन्द्र 'निकुश' नहीं बनता बल्कि 'अगुआ' अवश्य बना रहता है। वह निर्णय 'देने' की अपेक्षा 'कुशल नेतृत्व' करता है।

3. राष्ट्रीय विकास परिषद् का प्रभाव—योजना सम्बन्धी मामलों में केन्द्र और राज्यों के मध्य सामंजस्य अथवा समन्वय (Co-ordination) स्थापित करने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना की गई है। योजना के निर्माण में राष्ट्रीय विकास परिषद् से अनिवार्यतः परामर्श लिया जाता है। योजना आयोग द्वारा केन्द्रीय मन्त्रियों एवं राज्य-सरकारों

से परामर्श करने के बाद योजना का जो प्रारूप तैयार किया जाता है वह केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल की स्वीकृति के बाद राष्ट्रीय विकास परिषद के समक्ष आवश्यक सुझाव हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

4. योजना आयोग की सदस्यता—प्रधानमंत्री आयोग की अध्यक्षता करता है। इसका एक उपाध्यक्ष होता है जिसे कैबिनेट स्तर के मंत्री का दर्जा दिया जाता है। इसके अलावा कतिपय विशेषज्ञ व्यक्तियों को आयोग के सदस्य के रूप में नियुक्त किया जाता है। आयोग की रचना भारतीय संघवाद को केन्द्र के अनुकूल प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

5. वित्तीय पहलू—यद्यपि आयोग अपनी प्राथमिकताओं को राज्यों पर अपनी वित्तीय शक्ति के आधार पर थोपने में सक्षम है, तथापि सामान्य प्रवृत्ति 'सहयोग और सहमति' की रही है। योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए जो वित्तीय सहायता दी जाती है वह इतनी अधिक मात्रा में होती है कि प्रारम्भिक स्तर पर कोई राज्य केन्द्रीय वित्तीय सहायता की उपेक्षा नहीं कर सकता है। राज्य सरकारें किस स्तर तक केन्द्रीय अनुदान और सहायता पर निर्भर हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। योजनाएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं— प्रथम, राज्य योजनाएँ जिनके लिए केन्द्र कुछ आर्थिक सहायता देता है, द्वितीय, केन्द्र निर्मित और अनुदानित योजनाएँ, जिन्हें राज्य सरकारों को अपने क्षेत्र में लागू करना पड़ता है और केन्द्र से प्राप्त धन-राशि का उपयोग उन योजनाओं को पूरा करने में करते हैं तथा जो धन प्रदान करता है उसकी नीति माननी पड़ती है। राज्यों के मुख्यमंत्री अपने आय स्रोत बढ़ाने की माँग करते हैं। समय-समय पर वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार इस दिशा में आवश्यक कदम भी उठाए जाते रहे हैं, लेकिन केन्द्र का रुख सामान्यतः सहानुभूतिपूर्ण रहा है। दूसरी ओर राज्यों की एक बड़ी कमी यह रही है कि ये उपलब्ध वित्तीय साधनों का समुचित उपयोग नहीं कर सके हैं। राज्यों ने अपने प्रशासनिक व्यय में अनाप-शनाप वृद्धि की है, किन्तु केन्द्र की सहायता पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति पर प्रभावी अंकुश लगाने का प्रयत्न नहीं किया है। राज्यों को वित्तीय साधनों की दृष्टि से केन्द्र पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता है, अतः एकात्मकता के लक्षणों का विकास हुआ है जिससे संघवाद की वास्तविक प्रकृति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

6. अन्य दृष्टियों से केन्द्र की साधन-सम्पन्नता—इन सब के अतिरिक्त परामर्श, तकनीकी विशेषज्ञता आदि विभिन्न क्षेत्रों में राज्यों की तुलना में केन्द्र बहुत अधिक सम्पन्न है, अतः योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन के सन्दर्भ में राज्य केन्द्र पर निर्भर करते हैं।

7. राष्ट्रीय नीति—संविधान में निहित राज्य-नीति के निर्देशक तत्वों के क्रियान्वयन के लिए राष्ट्रीय नीति निर्धारित करने का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है। राष्ट्रीय नीति का अनुपालन करने से राज्य इनकार नहीं कर सकते हैं अतः केन्द्र निर्मित और केन्द्र निर्देशित योजनाओं को राज्यों को स्वीकार करना पड़ता है।

8. विदेशी सहायता सम्बन्धी पहलू—योजनाओं के कुछ पक्षों की पूर्ति के लिए जो विदेशी सहायता ली जाती है, उसके समुचित उपयोग का दायित्व केन्द्र सरकार पर ही है। विदेशी सहायता का कुशल उपयोग हो, इसके लिए केन्द्र के पास राज्यों को समुचित निर्देश देने का अधिकार रहता है।

9. योजना का कार्यान्वयन—राज्य केन्द्रीय योजनाओं को लागू करने वाले अभिकरण हैं। राष्ट्रीय योजना की क्रियान्विति के लिए केन्द्र राज्यों को दिशा-निर्देशन देता है और राज्यों में देखभाल के लिए विभिन्न नियुक्तियाँ करता है, जैसे—विकास आयुक्त आदि। इसीलिए प्रायः राज्य किसी भी असफलता का दायित्व केन्द्र पर डालने का प्रयास करता है। योजना आयोग अपनी नीतियों में एकरूपता लाने की कोशिश करता है, यद्यपि यह एक अति कठिन कार्य होता है, क्योंकि अलग-अलग समस्याएँ होती हैं। अपने कर्तव्यों के अनुपालन में योजना आयोग को एक परामर्शदात्री संस्था के रूप में कार्य करने के साथ-साथ कुछ कार्यकारी कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है। वास्तव में नियोजन द्वारा यह एक दोहरी प्रशासकीय मशीनरी की स्थापना हुई है।

योजना का क्रियान्वयन तथा आर्थिक नियोजन के प्रशासकीय परिणाम

योजना के क्रियान्वयन तथा आर्थिक नियोजन के प्रशासकीय परिणामों का सार रूप में संकेत करते हुए डॉ. सी. पी. भाम्भरी लिखते हैं—"योजना के निर्माण के बाद उसके क्रियान्वयन की जिम्मेदारी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के प्रशासकीय विभागों पर आती है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ योजना भी निरर्थक है, यदि उसे उचित रूप से क्रियान्वित न किया जा सके। योजना में सर्वाधिक बल क्रियान्वयन, व्यावहारिक परिणाम प्राप्त करने में गति एवं पूर्णता तथा अधिकतम उत्पादन, रोजगार एवं मानवीय स्रोतों के विकास के लिए पर्याप्त परिस्थितियाँ पैदा करने पर होना चाहिए।"

आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप भारतीय प्रशासनिक यन्त्र को शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण चुनौती मिली है। भारत में लोक प्रशासन की गतिविधियों का क्षेत्र तथा उनके दायित्वों का क्षेत्राधिकार निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। वर्तमान में प्रशासन को उसके समक्ष उपस्थित होने वाली चुनौतियों के अनुरूप तैयार करने के निरन्तर प्रयत्न किये जा रहे हैं।

यद्यपि योजना के सम्बन्ध में भारत में सन्तोष व्यक्त किया गया है, तथापि योजना के क्रियान्वयन के दौरान उपस्थित होने वाली कठिनाइयों के लिए प्रशासनिक अकर्मण्यता, विलम्ब, अकार्यकुशलता तथा दोषपूर्ण कार्य-प्रणाली, इत्यादि उत्तरदायी

कारण है। जिनमें मुख्य दोष निम्नलिखित हैं—(अ) क्रियान्वयन की मन्द गति, (ब) समय-सीमा का उल्लंघन एवं खर्चों में वृद्धि, (स) उचित स्तर तथा अनुभव वाले प्रशिक्षित कर्मचारी वर्ग का अभाव, (द) अर्थव्यवस्था के परस्पर सम्बद्ध क्षेत्रों में विस्तृत समायोजन का अभाव, (य) समाज के व्यापक समर्थन एवं सहयोग प्राप्ति में असफलता। इन दोषों को समाप्त करने के लिए नई कार्य-प्रणालियाँ बनानी आवश्यक हैं जिससे कि देश प्रशासनिक यन्त्र एवं आर्थिक नियोजन की चुनौती का सामना कर सके। इसके लिए निम्नलिखित प्रशासनिक सुधार आवश्यक प्रतीत होते हैं—(क) कार्य-प्रणालियों का सरलीकरण, (ख) विलम्ब की प्रवृत्ति का उन्मूलन, (ग) व्यक्तिगत दायित्व का उचित स्पष्टीकरण, (घ) काम के खर्चे में कमी, (ङ) प्रशासनिक अनुसंधान तथा मूल्यांकन पर उचित बल, (च) वित्त मन्त्रालय की कार्य-प्रणालियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन, (छ) मन्त्रालय को वित्तीय शक्तियों का अधिक हस्तान्तरण, (ज) बजट पूर्व निरीक्षण पर बल, (झ) मन्त्रालयों का पुनर्गठन, (ञ) भारत सरकार के मन्त्रालयों तथा विभागों में श्रेष्ठतर समायोजन, (ट) जन-सम्पर्क का विकास, (ठ) निर्णय लेने की प्रक्रिया में गतिशीलता, (ड) सिविल अधिकारियों का उचित प्रशिक्षण, (ढ) लोक प्रशासन में नेतृत्व के योगदान पर उचित बल, (ण) प्रत्येक स्तर पर कार्य की उचित तथा प्रभावशाली देखरेख, (त) प्रशासन में ईमानदारी की भावना पर बल, (थ) प्रशासन में स्पष्ट व्यवस्था के महत्व की अनुभूति, (द) लालफीताशाही को कम करने के साधनों का विकास इत्यादि। ये तत्व प्रशासनिक सुधार योजना के क्रियान्वयन को सफल बनाने में सहायता देंगे।

नियोजन प्रणाली की आलोचना

भारत में नियोजन प्रणाली की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। नियोजन से लोकतन्त्र भी प्रतिकूल ढंग से प्रभावित होता है। योजना के निर्माण में जनता का कोई सहयोग नहीं है। संसद निरुपाय है तथा मन्त्रिपरिषद के निर्णय भी प्रभावित होते हैं। मन्त्रालय स्वेच्छा से कार्य करने में असमर्थ हैं आदि तथ्य लोकतन्त्र को दिखावा मात्र बना देते हैं। इस तर्क की अंतिम स्वीकृति संसद ही प्रदान करती है, परन्तु स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन नहीं करती। योजना आयोग का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। प्रजातंत्र का आधार विकेन्द्रीकरण है केन्द्रीयकरण नहीं। आर्थिक नियोजन से वित्त आयोग के निर्णय प्रभावित होते हैं इससे इस आयोग का महत्व कम हो जाता है।

आर्थिक नियोजन ने संघीय व्यवस्था को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया है। यद्यपि संघवाद विकेन्द्रीकरण का पर्यायवाची है, तथापि केन्द्रीयकृत नियोजन ने राज्य सरकारों की स्थिति को नगरपालिका के सदृश्य बना दिया है। भारतीय संघ में शक्ति विभाजन केन्द्र के पक्ष में है। राज्य पहले से ही असहाय हैं, शक्ति और साधन सीमित हैं और उनका महत्व नगण्य है। योजना आयोग ने उन्हें पूर्णतः निकम्मा बना दिया है। योजना के निर्माण में वह सहभागी नहीं हैं फिर अपने क्षेत्र में वह क्या करके दिखा सकते हैं? यदि राज्यों में विरोधी दलों की सरकारें हैं तो केन्द्र राज्य सम्बन्ध विवादों का रूप धारण कर लेते हैं। केन्द्र सरकार का दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप से पक्षपातपूर्ण हो जाता है और वह प्रत्येक सम्भव उपाय से राज्य सरकार को अकुशल सिद्ध करने का प्रयास करती है। इस कमी को दूर करने के लिए 'राष्ट्रीय विकास परिषद' की स्थापना की गई है। यह परिषद ही योजना को स्वीकृति प्रदान करती है।

योजना आयोग के कारण केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति में निरन्तर वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप जन-सहभागिता का प्रश्न समाप्त हो जाता है। वास्तविकता यह है कि कई योजनाएँ तो बनीं, किन्तु जो लाभ जनता को प्राप्त होने चाहिए थे, प्राप्त नहीं हुए। आर्थिक विषमता में कमी नहीं आई अपितु वृद्धि हुई है। क्षेत्रीय असन्तुलन एवं विषमता बढ़ी है। गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों का प्रतिशत आँकड़ों की दृष्टि से घटा है किन्तु व्यवहार में यह देखने को नहीं मिलता। बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है किन्तु मूल्यों में वृद्धि के कारण उसका सुख साधारण जनता को नहीं मिला है। व्यक्तिगत आय की स्थिति भी कुछ भिन्न नहीं है अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि योजनाएँ अपने उद्देश्य में सफल हुई हैं, किन्तु यह कहना असत्य ही होगा कि योजनाएँ पूर्णतः विफल हुई हैं। जनता के कुछ क्षेत्रों में निश्चय ही प्रगति हुई है औद्योगीकरण हुआ है उत्पादन में वृद्धि हुई है खाद्यान्न में आत्म-निर्भरता प्राप्त हुई है। फिर भी अनेक समस्याएँ परिलक्षित होती हैं।

भारत में नियोजन की समस्याएँ—व्यवहार में भारत में नियोजन सम्बन्धी निम्नलिखित समस्याएँ उभर कर सामने आई हैं—

1. यद्यपि भारत में योजनाओं का निर्माण सोच-समझकर और बड़े विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है तथापि इसके बावजूद भी ये योजनाएँ जनता के असहयोग एवं उदासीनता के कारण सफल नहीं हो पातीं। सामान्य जनता का कार्यों के प्रति बहुत अधिक उदासीनता है।

2. सरकारी अधिकारियों द्वारा जनता को सार्वजनिक समस्याओं से अवगत कराने का प्रयास नहीं किया जाता है।

3. भारतीय जनता के नैतिक चरित्र में बहुत अधिक गिरावट आ गई है। जन प्रतिनिधियों में व्यक्तिगत मतभेद एवं शक्ति का दुरुपयोग आदि अनेक बाधाएँ योजनाओं के विकास में आ रही हैं।

4 योजना आयोग के समस्त तथ्य और आँकड़े जो होते हैं, वे काफी हद तक मिथ्या होते हैं। इन आँकड़ों के कारण सारी योजनाएँ असफल हो जाती हैं तथा योजना के वास्तविक तथ्य धूमिल हो जाते हैं।

5 भारत में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। योजना-निर्माताओं के सामने विदेशी कल्पनाएँ और उच्च आदर्श होते हैं जो कि भारतीय यथार्थ से कहीं अधिक दूर होते हैं। योजना के क्रियान्वयन के समय सारी कठिनाइयाँ सामने आने लगती हैं।

6 सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में हर वर्ष सरकार को करोड़ों रुपये का घाटा होता है। इनकी हानि को कम करने के लिए दरें बढ़ाई जाती हैं जिसका कुप्रभाव अन्य उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों पर पड़ता है। फलतः ये उपक्रम 'सफेद हाथी' सिद्ध हो रहे हैं।

7 विकास कार्यों हेतु योजनाओं में निर्धारित राशि का शहरों पर बहुत अधिक व्यय किया जाता है। गाँवों में बहुत कम विकास किए जाने के कारण गरीब लोगों को पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचता। चूँकि ग्रामीण लोग उपेक्षित हैं, फलतः ग्रामीण लोग देश के विकास में अपना योगदान नहीं दे पा रहे हैं।

8 उत्पादन बढ़ाने हेतु योजनाओं में निर्धारित धन का 40 से 50 प्रतिशत धन ही वास्तव में खर्च हो पाता है। शेष धन नेता, इन्जीनियर, ठेकेदार, कर्मचारियों आदि की जेबों में चला जाता है। इससे जनसाधारण को योजना का पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं होता है और अन्दर ही अन्दर भ्रष्टाचार पनपता रहता है।

9 उत्पादन का 50 से 60 प्रतिशत तक भाग उद्योगों में उपयोग किया जाता है।

10 प्रतिवर्ष आने वाली बाढ़ों, सूखा, अकाल और महामारी के कारण उत्पादन ठप्प हो जाता है।

निदान अथवा समस्या निवारण के उपाय

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो पाई है अतः कुछ ऐसे कदम उठाए जाने आवश्यक हैं जिनसे योजनाओं के लक्ष्यों को साकार किया जा सके। इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से निम्नलिखित कदम प्रभावकर रहेंगे—

1 योजना की कार्य प्रणाली को सरल बनाया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में विलम्बकारी प्रवृत्ति को दूर किया जाना चाहिए।

2. नियोजन में विभिन्न उत्तरदायित्वों का स्पष्टीकरण होना चाहिए, जिससे कि उत्तरदायी व्यक्ति या संस्था का आसानी से पता लगाया जा सके।

3 प्रशासन में आवश्यकता से अधिक व्यय किया जाता है अतः प्रशासन में अनावश्यक व्यय पर कठोरता से नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए।

4 प्रशासन में द्रुत-गति से अनुसंधान किया जाना चाहिए। अनुसंधान के पश्चात् उचित मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

5 जन-सम्पर्क का कार्य प्रभावशाली ढंग से सम्पादित किया जाना चाहिए। इससे जनता का योजनाओं की सफलताओं में सहयोग मिल सकेगा और उनकी योजनाओं में रुचि पैदा हो सकेगी।

6 नौकरशाही में अनुशासन और ईमानदारी की भावना का विकास करना चाहिए, क्योंकि उस पर ही योजना की सफलता निर्भर करती है।

7 योजना शर्तों का प्रभावशाली सम्पादन तथा निरीक्षण किया जाना चाहिए।

8 प्राकृतिक साधनों के विदोहन पर पूरा ध्यान देना चाहिए और ऐसे कुशल प्रबन्धक वर्ग का विकास करना आवश्यक है जो योजनाओं के धन से इन साधनों का देश के विकास हेतु समुचित प्रयोग कर सकें।

9 सार्वजनिक उपक्रम यदि लाभ और कुशलता से चलाए जाएँ तो इनसे प्राप्त लाभों से देश की विकास-दर को बढ़ाया जा सकता है।

10. योजनाओं में व्यय हेतु रखा गया धन यदि यथासमय व्यय किया जाए तो उत्पादन की वृद्धि दर 10 प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है। निर्धारित धन के सदुपयोग हेतु भ्रष्टाचार का उन्मूलन आवश्यक है जो सर्वप्रथम ऊपर अर्थात् जन प्रतिनिधि स्तर से ही प्रारम्भ होना चाहिए।

11 भारत में जनसंख्या बहुत अधिक है अतः जनसंख्या नियन्त्रण अत्यावश्यक है।

12 बिजली, कच्चा माल, औद्योगिक शान्ति आदि की प्रभावी सुविधाएँ प्रदान की जाएँ कि उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जा सके।

13 देश में बहने वाली नदियों के पानी की व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिए कि बाढ़ या सूखे का प्रभाव अर्थव्यवस्था पर न पड़े तथा देश के सभी राज्यों की जनता को उसका लाभ मिले। किसी का एकाधिकार न रहे।

14. विकसित उत्पादक तकनीक का प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके।

15. मूल्य-वृद्धि पर सक्षम तथा प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण किया जाना चाहिए।

16. गैर विकास व्यय की मात्रा घटाकर विकास व्यय को बढ़ाया जाना चाहिए।

17. विलासिता की जगह आवश्यक वस्तुओं की उत्पादन वृद्धि पर जोर देना चाहिए और योजनाओं में पश्चिमी देशों का अन्धानुकरण पूरी तरह त्यागना चाहिए।

18. विदेशी सहायता पर निर्भरता कम की जानी चाहिए।

19. सभी स्तरों व्याप्त भ्रष्टाचार को कारगर ढंग से समाप्त किया जाना चाहिए।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में उदारीकरण के कारण घरेलू एवं वैश्विक स्तर पर आए परिवर्तनों की छाँव में भारत के वित्तीय क्षेत्र में प्रारम्भ किए गए सुधारों का उद्देश्य भारत के वित्तीय क्षेत्र में पिछले दशकों में आई कमजोरियों का पता लगाकर बैंकों एवं विकास वित्त संस्थानों की लाभ प्रदत्तता को बढ़ाते हुए उनकी वित्तीय स्थिति तथा परिचालनात्मक पारदर्शिता और कार्यकारी दक्षता लाकर उन्हें औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्र के विकास तथा परिमाण में उत्सर्जित कारोबार परिमाण को तत्परता के साथ संभाल लेने लायक बनाते हुए घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मजबूत प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रतिस्थापित करना था। इस दिशा में विशेषज्ञों के विचार जानने के लिए निम्नांकित समितियाँ गठित की गई—

(1) वित्तीय क्षेत्र हेतु सुधारों पर नरसिंहम समिति, 1991

(2) बैंकिंग क्षेत्र में सेवा सुधारों पर गोइपोरिया समिति, 1992

(3) बैंकों एवं विकास संस्थानों की एकरूपता तथा एकीकरण पर खान समिति, 1998

(4) गैर निष्पादनीय आस्तियों पर सेल्पय समिति, 1998

(5) कमजोर बैंकों की पुनर्रचना पर वर्मा समिति, 1999

इन समितियों की सिफारिशों को कहीं पूर्णरूपेण तो कहीं आंशिक रूप से स्वीकार करते हुए वित्तीय क्षेत्र में जो सुधार लागू किए गए हैं, उनके परिणामस्वरूप काफी सुधार हुआ है। फिर भी अभी तक ये चुनौतियाँ देश में विद्यमान हैं—

(1) बैंकों के पास उपलब्ध उच्च तरलता तथा बड़ी मात्रा में अतृप्त साख माँग के बीच परस्पर विरोधाभास।

(2) उधार देने से उत्पन्न व्यवधान।

(3) राजनीतिक हस्तक्षेप।

(4) नौकरशाही की मजबूत पकड़।

(5) औद्योगिक सम्बन्धों की जटिलता।

(6) नियन्त्रक और मालिक की दोहरी भूमिका में रिजर्व बैंक।

(7) निरपेक्ष रूप से गैर निष्पादनीय आस्तियों का उच्च स्तर।

(8) ऋण देने के प्रति बैंक अधिकारियों का उदासीन व्यवहार।

(9) तेजी से विकास वाली सूचना प्रौद्योगिकी, पंचायती राज संस्थाओं आदि को साख मुहैया करने में उदासीनता।

इन चुनौतियों का सामना किए बिना वित्तीय क्षेत्र देश की अर्थव्यवस्था का भला नहीं कर सकता है। जहाँ तक राष्ट्रीय आय का प्रश्न है वर्ष 2003-2004 में 8.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। देश में कुल खाद्यान्न का उत्पादन 1999-2000 में 209.8 मिलियन टन, 2000-2001 में 195.9 मिलियन टन एवं वर्ष 2001-02 में 209.2 मिलियन टन रहा तथा वर्ष 2003-04 में भी यह लगभग 210.0 मिलियन टन ही रहा। वर्ष 2003-04 में देश में मूल्यों की स्थिति नियन्त्रित रही। भारत पर कुल विदेशी ऋण सितम्बर, 2004 में 5,11,861 करोड़ रुपये था। भारत को कम ऋणग्रस्त राष्ट्रों की सूची में विश्व बैंक ने अनुसूचित किया है।

□□□

23

आधार स्तर पर प्रजातन्त्र

(Democracy of Grassroots)

भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की सैद्धान्तिक अवधारणा को व्यवहार में 'पंचायती राज' व्यवस्था एवं जनसहभागिता के द्वारा साकार किया गया है।

पंचायती राज व्यवस्था

(Panchayati Raj System)

भारत में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की भावना को साकार करने के लिए पंचायती राज व्यवस्था को अपनाया गया, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पंचायती राज की परिकल्पना केवल स्वतन्त्र भारत की ही उपज है बल्कि इसकी जड़ें इतिहास में निहित हैं। भारत के प्राचीन इतिहास के अनुसार वैदिक काल में भी पंचायतों का अस्तित्व था। उस जमाने में राजा पंचायतों के माध्यम से राज करता था। ग्राम के प्रमुख को उस समय ग्रामिणी कहा जाता था तथा ग्रामिणी ही पंचायत का प्रमुख कार्यकर्ता होता था। बौद्धकाल में भी ग्राम परिषदें होने का उल्लेख मिलता है। बौद्धकालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि ग्राम परिषदों का प्रमुख कार्य ग्राम भूमि की व्यवस्था करना, शान्ति एवं सुरक्षा में सहयोग करना था। स्मृति ग्रन्थों में भी पंचायतों का उल्लेख मिलता है। इस तरह वैदिक एवं बौद्धकाल में पंचायतें ग्रामीण जनहित के कार्यों में संलग्न थीं। रामायण एवं महाभारत काल में इनका विस्तार एवं विकास हो चुका था। पंचायतें गाँव स्तर से लेकर राज्य स्तर तक हुआ करती थीं, लेकिन इतना अवश्य है कि वर्तमान पंचायती राज की कल्पना स्वाधीनता संघर्ष के दौरान रखी गई थी। महात्मा गाँधी के स्वराज्य की अवधारणा में पंचायती राज्य व्यवस्था की परिकल्पना निहित थी।

भारत के संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में पंचायती राज की धारणा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 40 में लिखा गया है—"राज्य ग्राम पंचायतों की स्थापना के लिए आवश्यक कदम उठाएगा और उन्हें ऐसी शक्तियाँ एवं अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाने के लिए आवश्यक हों।"

पंचायती राज व्यवस्था के सिद्धान्त—भारत में पंचायती राज व्यवस्था के सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(1) भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। सत्ता को दिल्ली की लोकसभा अथवा राज्यों के विधान मण्डलों तक ही यदि सीमित रखा जाए तो देश समृद्ध नहीं हो सकता, अतः यह आवश्यक है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर गाँव से जिला और स्थानीय स्वशासित संस्थाओं का त्रिस्तरीय ढाँचा बनाया जाए। इस व्यवस्था से देश का हर गाँव और गाँव का हर परिवार दिल्ली की लोकसभा से जुड़ जाएगा।

(2) पंचायती राज की संस्थाएँ सामुदायिक विकास की एजेन्सी बनें, सहकारिता को प्रोत्साहन दें, स्वयं की कोई नीति न बनाकर सरकारी नीति को काम में लाएँ।

(3) सरकार अपने कुछ कार्यों का दायित्व ऐसी संस्थाओं को दे जो अपने क्षेत्र की उन्नति के लिए स्व-प्रेरणा से काम लें। इसके लिए उन्हें समुचित अधिकार प्रदान किए जाएँ।

(4) संस्थाओं को काम करने के लिए साधन और नियन्त्रण के इतने अधिकार दिए जाएँ कि वे सौंपे गए कार्यों को समुचित रूप से कर सकें।

(5) इस प्रकार की व्यवस्था बनाई जाए कि भविष्य में अधिकार सौंपने में सुविधा हो।

स्वतन्त्रता के पश्चात् पंचायती राज के स्वरूप के विकास में बलवन्तराय मेहता समिति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसकी सिफारिशों के आधार पर देश में त्रि-स्तरीय पंचायती राज व्यवस्था—जिला परिषद, पंचायत समिति

और ग्राम पंचायत व्यवस्था को लागू किया गया। इस तरह से देश में पंचायती राज्य व्यवस्था का जो संस्थागत ढाँचा है, वह बलवन्तराय मेहता समिति के अनुरूप है। 1957 में बलवन्तराय मेहता समिति ने अपना प्रतिवेदन भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया और 1958 में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने इस पर स्वीकृति प्रदान की। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने की दिशा में यह एक महान् कदम था। राजस्थान पहला राज्य था, जिसने सर्वप्रथम पंचायती राज व्यवस्था को लागू किया। 2 अक्टूबर 1959 को प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने नागौर में पंचायती राज व्यवस्था का उद्घाटन किया।

1. 1977 में मोरारजी देसाई की जनता पार्टी सरकार ने पंचायती राज का मूल्यांकन करने के लिए अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति में बिहार, पंजाब तथा तमिलनाडु के मुख्यमंत्री, योजना आयोग के सदस्य तथा संसद सदस्य शामिल थे। राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान के प्रो. इकबाल नारायण को इस समिति का सदस्य सचिव बनाया गया। इस समिति ने सारे देश में भ्रमण करके पंचायती राज के सम्बन्ध में जीवन के सभी क्षेत्रों के लोगों के साथ विचार-विमर्श किया। इसके अलावा समिति ने एक प्रश्नावली जारी की, जिसे पंचायती राज में रुचि रखने वाले लोगों के पास भेजी। समिति को एक हजार से अधिक उत्तर प्राप्त हुए। इस समिति ने 21 अगस्त, 1978 को अपनी रिपोर्ट तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई को प्रस्तुत की। समिति ने पंचायती राज के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से अपनी 132 सिफारिशें प्रस्तावित कीं। इनमें मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं[1]—

(1) समिति ने 'मण्डल पंचायतों' के निर्माण की सिफारिश की जिनमें 15,000 से 20,000 की आबादी और 10-15 गाँव शामिल हों।

(2) जिला स्तर पर 'योजना सेल' हो, जिसमें एक अर्थशास्त्री, सांख्यिकीविद्, भूगोलवेत्ता, मानचित्रकार, कृषिशास्त्री इंजीनियर और अन्य योजना अधिकारी हों।

(3) यह इकाई जिला परिषद के अन्तर्गत होगी और इसका पर्यवेक्षण मुख्य कार्यकारी अधिकारी करेगा।

(4) विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों की योजना तैयार करना जिला परिषदों की जिम्मेदारी होगी और उनका कार्यान्वयन मण्डल पंचायतों की जिम्मेदारी होगी।

(5) पंचायती राज निकायों का चुनाव मुख्य निर्वाचन आयुक्त के परामर्श से राज्य के मुख्य चुनाव अधिकारी द्वारा किया जाना चाहिए।

अशोक मेहता समिति की ये सिफारिशें बहुत महत्त्वपूर्ण थीं, लेकिन व्यवहार में इनको लागू नहीं किया गया, अतः इनका केवल 'अकादमिक महत्त्व' ही रह गया।

2. जी. के. राव की अध्यक्षता में गठित समिति का भी पंचायती राज व्यवस्था की दृष्टि से महत्त्व है। इसकी सिफारिशें ये थीं—

(1) राज्य स्तर पर राज्य विकास परिषद होनी चाहिए, जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री हो। जिला स्तर पर मौजूदा जिला परिषद् बनी रहे। राज्य सरकार के सभी मंत्री और जिला परिषद के अध्यक्ष राज्य विकास परिषद के सदस्य होंगे और विकास आयुक्त इसके सचिव हो सकते हैं।

(2) जिला स्तर पर जिला परिषद के समस्त कार्यों का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। जिला स्तर पर सभी विकास विभाग उनके अधीनस्थ कार्यालयों सहित जिला परिषद के अधीन स्थानान्तरित किए जाएँगे। जिला स्तर का बजट बनाने के लिए इन विभागों में समुचित बजट प्रावधान का हस्तान्तरण किया जाना चाहिए।

(3) एक नमूने में, खण्ड स्तर पर प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित निकाय अर्थात् पंचायत समिति होनी चाहिए, जो जिला परिषद के मार्ग-निर्देशन में विकास कार्यक्रमों की योजना बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी हो। क्षेत्रीय विभाग खण्ड स्तर पर पंचायत समिति के अधीन कार्य करेंगे। योजनाओं के कार्यान्वयन में पंचायत समिति के कार्यकारी कार्य रहने चाहिए।

(4) दूसरा नमूना वर्तमान ग्राम पंचायतों के बदले 15,000 से 20,000 तक की आबादी के गाँवों के समूह के लिए मण्डल पंचायत का गठन है। यह एक कार्यकारी निकाय होगी, जिसे इस स्तर पर कार्यान्वित की जाने वाली योजनाओं को सौंपा जाएगा। राज्य इस नमूने के अन्तर्गत सलाहकारी और समन्वयकारी निकाय के रूप में खण्ड स्तर पर पंचायत समिति भी बना सकता है। इसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

---

1 लक्ष्मीकान्त शर्मा : पंचायती राज - ग्रामीण समस्याओं का समाधान, कुरुक्षेत्र (ग्रामीण विकास मन्त्रालय, भारत सरकार का प्रकाशन), नई दिल्ली, पृ. 17

(5) प्रत्येक गाँव के लिए एक ग्राम सभा होनी चाहिए, जिसमें उस गाँव के सभी सदस्य मतदाता हों। गरीबी दूर करने सम्बन्धी कार्यक्रमों जैसे—एकीकृत ग्राम विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम आदि के लाभार्थियों की पहचान ग्राम सभा की बैठकों में होनी चाहिए।

(6) ग्राम पंचायत समिति और ग्राम मण्डल की उप-समिति होनी चाहिए जिसमें महिलाओं और बच्चों के कल्याण तथा प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रमों और योजनाओं पर विचार करने एवं उनका कार्यान्वयन करने के लिए मुख्य रूप से महिला सदस्य हों।

राव-समिति की उक्त सिफारिशें पंचायती राज की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी, लेकिन इनका भी व्यवहार में क्रियान्वयन नहीं हुआ।

प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी द्वारा देश में पंचायती राज को वास्तविक स्वरूप प्रदान करने के लिए 1989 में संविधान में संशोधन करने का एक विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित किया गया, जो पारित नहीं किया जा सका। 1991 के लोकसभा के चुनावों में काँग्रेस (इ) ने चुनावी घोषणा-पत्र में पंचायती राज को सशक्त और प्रभावशाली बनाने का संकल्प किया। इसी उद्देश्य के अनुरूप नरसिम्हाराव की काँग्रेस (इ) सरकार ने सितम्बर, 1991 में संविधान का बहत्तरवाँ संशोधन विधेयक 1991 लोकसभा में पेश किया, जिसे विचारार्थ संसद की एक संयुक्त समिति को भेज दिया गया। उसकी रिपोर्ट के आधार पर लोकसभा ने 22 दिसम्बर, 1992 को इसे स्वीकृति दी। 23 दिसम्बर, 1992 को राज्यसभा ने इसे स्वीकृति प्रदान की। इसके बाद 17 राज्यों की विधानसभाओं ने इस विधेयक का अनुसमर्थन कर दिया। फलतः राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने पर इसे 24 अप्रैल, 1993 से अधिनियमित कर दिया गया और इसे संविधान के 73वाँ संशोधन अधिनियम के नाम से जाना जाने लगा। 25 अप्रैल 1993 से यह अधिनियम पूरे देश में लागू हो गया। इस संविधान का मूल पाठ निम्नानुसार है[1]—

73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992

संक्षिप्त नाम और प्रारम्भ—भारतीय गणराज्य के तेंतालीसवें वर्ष में संसद द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियम हो—

1. (क) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम संविधान तेहत्तरवाँ संशोधन अधिनियम, 1992 है।
   (ख) यह उस तारीख को प्रवृत्त होगा, जो केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियत करे।
2. संविधान के भाग 8 के पश्चात् निम्नलिखित भाग अन्तःस्थापित किया जाएगा अर्थात्—

'भाग 9' पंचायतें

243 इस भाग में जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो—

(क) 'जिला' से किसी राज्य का जिला है,

(ख) 'ग्राम सभा' से ग्राम स्तर पर पंचायत के क्षेत्र के भीतर किसी ग्राम से सम्बन्धित निर्वाचक नामावली में रजिस्ट्रीकृत व्यक्तियों से मिलकर बना निकाय है,

(ग) 'मध्यवर्ती स्तर' से ग्राम और जिला स्तरों के मध्य का ऐसा स्तर है जो किसी राज्य के राज्यपाल द्वारा इस भाग के प्रयोजनों के लिए, लोक अधिसूचना द्वारा, मध्यवर्ती स्तर विनिर्दिष्ट किया जाए;

(घ) 'पंचायत' से ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अनुच्छेद 243-ख के अधीन गठित स्वायत्त शासन की कोई संस्था (चाहे वह किसी भी नाम से ज्ञात हो), अभिप्रेत है,

(ङ) 'पंचायत क्षेत्र' से, पंचायत का प्रादेशिक क्षेत्र अभिप्रेत है

(च) 'जनसंख्या' से ऐसी अंतिम पूर्ववर्ती जनगणना में अभिनिश्चित की गई जनसंख्या है जिसके आँकड़े प्रकाशित हो गए हैं,

(छ) 'ग्राम' से राज्य द्वारा इस भाग के प्रयोजनों के लिए, लोक अधिसूचना द्वारा, ग्राम के रूप में विनिर्दिष्ट ग्राम है और इसके अन्तर्गत इस प्रकार विनिर्दिष्ट ग्रामों का समूह भी है।

243 क ग्राम सभा ग्राम स्तर पर ऐसी शक्तियों का प्रयोग और ऐसे मूल्यों का निर्वहन कर सकेगी, जो राज्य के विधान मण्डल द्वारा, विधि द्वारा उपबन्धित किए जायें।

पंचायतों का गठन

243 ख(1) प्रत्येक राज्य में ग्राम, मध्यवर्ती और जिला स्तर पर इस भाग के उपबन्धों के अनुसार पंचायतों का गठन किया जायेगा।

---

1 कुरुक्षेत्र, नई दिल्ली, मई 1993, पृ. 24-32.

परन्तु यह भी कि प्रत्येक स्तर पर पंचायतों में अध्यक्षों के पदों की कुल संख्या एक-तिहाई महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे;

परन्तु इस खण्ड के अधीन आरक्षित पदों की संख्या प्रत्येक स्तर पर भिन्न-भिन्न पंचायतों को चक्रानुक्रम से आवंटित की जाएगी।

(5) खण्ड (1) और खण्ड (2) के अधीन स्थानों का आरक्षण और खण्ड (4) के अधीन अध्यक्षों के पदों के लिए आरक्षण (जो महिलाओं के आरक्षण से भिन्न है) अनुच्छेद 334 में विनिर्दिष्ट अवधि की समाप्ति पर प्रभावी नहीं रहेगा।

(6) इस भाग की कोई बात किसी राज्य के विधान-मण्डल को किसी स्तर पर किसी पंचायत में पिछड़े वर्ग के नागरिकों के पक्ष में स्थानों के या पंचायतों के अध्यक्षों के पदों के आरक्षण के लिए कोई उपबन्ध करने से निवारित नहीं करेगी।

पंचायतों का कार्यकाल

243 ड (1) प्रत्येक पंचायत, यदि तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन उसे पहले से ही विघटित नहीं कर दिया जाता है, तो अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियत तारीख से पाँच वर्ष की अवधि तक न कि उससे अधिक बनी रहेगी।

(2) तत्समय प्रवृत्त किसी विधि का कोई संशोधन किसी स्तर पर ऐसी पंचायत का, जो ऐसे संशोधन के पूर्व कार्य कर रही है, तब तक विघटन नहीं करेगा, जब तक खण्ड (1) में विनिर्दिष्ट उसके कार्यकाल का अवसान नहीं हो जाता।

(3) किसी पंचायत का गठन करने के लिए निर्वाचन—

(क) खण्ड (1) में विनिर्दिष्ट उसके कार्यकाल के अवसान के पूर्व,

(ख) उसके विघटन की तारीख से छह मास की अवधि के अवसान के पूर्व पूरा किया जाएगा;

परन्तु जहाँ वह शेष अवधि, जिसके लिए कोई विघटित पंचायत बनी रहती, छह मास से कम है, वहाँ ऐसी अवधि के लिए उस पंचायत का गठन करने के लिए इस खण्ड के अधीन कोई निर्वाचन कराना आवश्यक नहीं होगा।

(4) पंचायत के कार्यकाल के अवसान से पूर्व किसी पंचायत के विघटन पर गठित की गई पंचायत उस अवधि के केवल शेष भाग के लिए बनी रहेगी, जिस अवधि तक विघटित पंचायत खण्ड (1) के अधीन बनी रहती, यदि वह इस प्रकार विघटित नहीं की जाती।

सदस्यता के लिए निर्हताएँ

243 च (1) कोई व्यक्ति किसी पंचायत का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य बनने के लिए निर्हित होगा—

(क) यदि वह सम्बन्धित राज्य के विधान-मंडल के निर्वाचनों के लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निर्हित कर दिया जाता है, परन्तु कोई व्यक्ति इस आधार पर निर्हित नहीं होगा कि उसकी आयु पच्चीस वर्ष से कम है, यदि उसने इक्कीस वर्ष की आयु प्राप्त कर ली है

(ख) यदि वह राज्य के विधान-मण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निर्हित कर दिया जाता है।

(2) यदि यह प्रश्न उठता है कि पंचायत का कोई सदस्य खण्ड (1) में वर्णित किन्हीं निर्हताओं से ग्रस्त हो गया है या नहीं, तो वह प्रश्न ऐसे प्राधिकारी को और ऐसी रीति से, जैसा राज्य का विधान-मंडल, विधि द्वारा उपबन्धित करे, विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जाएगा।

पंचायतों की शक्तियाँ, प्राधिकार और उत्तरदायित्व

246 छ संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा पंचायतों को ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान कर सकेगा जो वह उन्हें स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक समझे और ऐसी विधि में पंचायतों को उपयुक्त स्तर पर ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए जैसी उसमें विनिर्दिष्ट की जाएँ। निम्नलिखित के सम्बन्ध में शक्तियाँ और उत्तरदायित्व न्यायगत करने के लिए उपबन्ध किए जा सकेंगे—

(क) आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाएँ तैयार करना,

(ख) आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय की स्कीमों को, जो उन्हें सौंपी जाएँ, जिसके अन्तर्गत वे स्कीमें भी हैं जो ग्यारहवीं अनुसूची में सूचीबद्ध विषयों के सम्बन्ध में हैं क्रियान्वित करना।

पंचायतों द्वारा कर अधिरोपित करने की शक्ति और पंचायतों की निधियाँ

243 ज. राज्य का विधान-मण्डल, विधि द्वारा—

(क) ऐसी प्रक्रिया के अनुसार ऐसी सीमाओं के अधीन रहते हुए, ऐसे कर, शुल्क, पथकर और फीस उद्गृहीत, संगृहीत और विनियोजित करने के लिए किसी पंचायत को प्राधिकृत कर सकेगा,

(ख) ऐसे प्रयोजनों के लिए और ऐसी शर्तों तथा सीमाओं के अधीन रहते हुए, राज्य सरकार द्वारा उद्गृहीत और संगृहीत ऐसे कर, शुल्क, पथकर और फीसें किसी पंचायत को दे सकेगा,

(ग) पंचायतों के लिए राज्य की संचित निधि में से ऐसे सहायता अनुदान देने के लिए उपबन्ध कर सकेगा और

(घ) पंचायतों द्वारा या उनकी ओर से प्राप्त सभी धनों के जमा करने के लिए ऐसी निधियों का गठन तथा ऐसी निधियों में से धन का प्रत्याहरण करने के लिए भी उपबन्ध कर सकेगा, जो विधि में विनिर्दिष्ट किए जाएँ या की जाएँ।

वित्तीय स्थिति के पुनर्विलोकन के लिए वित्त आयोग का गठन

243 झ. (1) राज्य का राज्यपाल, संविधान का तिहत्तरवाँ संशोधन अधिनियम, 1992 के प्रारम्भ से एक वर्ष के भीतर यथाशक्य शीघ्र और उसके पश्चात् प्रत्येक पाँचवें वर्ष के अवसान पर, पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनर्विलोकन करने के लिए और—

(क) उन सिद्धान्तों की जो निम्नलिखित को शासित करेंगे, अर्थात्—

(i) राज्य द्वारा उद्ग्रहणीय ऐसे करों, शुल्कों, पथकरों और फीसों के शुद्ध आगमों का राज्य और पंचायतों के बीच वितरण जो इस भाग के अधीन उनके बीच विभाजित किए जा सकेंगे और पंचायतों के बीच सभी स्तरों पर अपने-अपने अंशों का आवंटन,

(ii) ऐसे करों, शुल्कों, पथकरों और फीसों का अवधारण जो पंचायतों को निर्दिष्ट किए जा सकेंगे या उनके द्वारा विनियोजित किए जा सकेंगे,

(iii) राज्य की संचित निधि में से पंचायतों को सहायता अनुदान,

(ख) पंचायतों की वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए आवश्यक अनुदान,

(ग) किसी अन्य विषय, जो राज्यपाल द्वारा पंचायतों के ठोस वित्तपोषण के हित में वित्त आयोग को निर्दिष्ट किया जाए, इस बाबत राज्यपाल को सिफारिशें करने के लिए एक वित्त आयोग का गठन करेगा।

(2) राज्य का विधानमण्डल, विधि द्वारा, आयोग की संरचना, अर्हता, जो आयोग के सदस्यों के रूप में नियुक्ति के लिए अपेक्षित होगी और रीति, जिससे उनका चयन किया जाएगा का उपबन्ध कर सकेगा।

(3) आयोग अपनी प्रक्रिया अवधारित करेगा और उसे अपने कृत्यों के पालन के लिए ऐसी शक्तियाँ होंगी जो राज्य का विधानमण्डल, विधि द्वारा उसे प्रदान करे।

(4) राज्यपाल इस अनुच्छेद के अधीन आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश और उसके बारे में की गई कार्यवाही का स्पष्टीकरण-ज्ञापन राज्य के विधानमण्डल के समक्ष रखवाएगा।

पंचायतों के लेखाओं की संपरीक्षा

243 ञ. राज्य का विधानमण्डल, पंचायतों द्वारा लेखे बनाए रखने और ऐसे लेखाओं की संपरीक्षा करने की बाबत, विधि द्वारा उपबन्ध कर सकेगा।

पंचायतों के लिए निर्वाचन

243 ट. (1) पंचायतों के लिए कराए जाने वाले सभी निर्वाचनों के लिए निर्वाचक नामावली तैयार कराने का और उन सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण एक राज्य निर्वाचन आयोग में निहित होगा जिसमें राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया गया एक राज्य निर्वाचन आयुक्त होगा।

(2) राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन रहते हुए, राज्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तें और पदावधि ऐसी होंगी जो राज्यपाल नियमों द्वारा अवधारित करे। परन्तु राज्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से उसी रीति से और उन्हीं आधारों पर ही हटाया जाएगा जिस रीति से और जिन आधारों पर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जाता है अन्यथा नहीं और राज्य निर्वाचन आयुक्त की सेवा की शर्तों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसके लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

(3) जब राज्य निर्वाचन आयोग ऐसा अनुरोध करे तब किसी राज्य का राज्यपाल राज्य निर्वाचन आयोग को उतने कर्मचारीवृन्द उपलब्ध कराएगा जितने खण्ड (1) द्वारा राज्य निर्वाचन आयोग को उसे सौंपे गए कृत्य के निर्वहन के लिए आवश्यक हों।

(4) इस संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, राज्य का विधानमण्डल, विधि द्वारा, पंचायतों के निर्वाचनों से सम्बन्धित सभी विषयों बाबत उपबन्ध कर सकेगा।

संघ राज्य क्षेत्रों को लागू होना

243 ठ. इस भाग के उपबन्ध संघ राज्य-क्षेत्रों पर लागू होंगे और किसी संघ राज्य-क्षेत्र को उनके लागू होने में उनका यह प्रभाव होगा मानो राज्य के राज्यपाल के प्रतिनिर्देश 239 के अधीन नियुक्त किए गए संघ राज्य-क्षेत्र के प्रशासक के प्रति निर्देश हैं और राज्य के विधानमण्डल या विधानसभा के प्रति निर्देश, उस संघ राज्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में, जिसमें विधानसभा है, उस विधानसभा के प्रति निर्देश हैं

परन्तु राष्ट्रपति, लोक अधिसूचना द्वारा यह निर्देश दे सकेगा कि इस भाग में उपबन्ध किसी संघ राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग पर ऐसे अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए लागू होंगे जो वह अधिसूचना में विनिर्दिष्ट करे।

भाग का कुछ क्षेत्रों में लागू न होना

243 ड (1) इस भाग की कोई बात अनुच्छेद 244 के खण्ड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और खण्ड (2) में निर्दिष्ट जनजाति क्षेत्रों में लागू नहीं होगी।

(2) इस भाग की कोई बात निम्नलिखित में लागू नहीं होगी—

(क) नागालैण्ड, मेघालय और मिजोरम राज्य,

(ख) मणिपुर राज्य में ऐसे पर्वतीय क्षेत्र जिनके लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन जिला परिषदें विद्यमान हैं।

(3) इस भाग की—

(क) जिला स्तर पर पंचायतों के सम्बन्ध में, पश्चिमी बंगाल राज्य के दार्जिलिंग जिले के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों में लागू नहीं होगी जिनके लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद विद्यमान है।

(ख) किसी प्रावधान का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह ऐसी विधि के अधीन गठित दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद के कृत्यों और शक्तियों पर प्रभाव डालती है।

(4) इस संविधान में किसी प्रावधान के होते हुए भी—

(क) खण्ड (2) के उपखण्ड (क) में निर्दिष्ट किसी राज्य का विधान-मण्डल, विधि द्वारा, इस भाग का विस्तार, खण्ड (1) में निर्दिष्ट क्षेत्रों, यदि कोई हैं के सिवाय, उस राज्य पर कर सकेगा, यदि उस राज्य की विधानसभा इस आशय का एक संकल्प उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर देती है

(ख) संसद, विधि द्वारा, इस भाग के उपबन्धों का विस्तार खण्ड (1) में निर्दिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों पर ऐसे अपवादों और उपांतरणों के अधीन रहते हुए कर सकेगी, जो ऐसी विधि में विनिर्दिष्ट किए जाएँ और ऐसी कोई विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाएगी।

विद्यमान विधियों और पंचायतों का बना रहना

243 ढ. इस भाग में किसी प्रावधान के होते हुए, संविधान तेहत्तरवाँ संशोधन अधिनियम, 1992 के प्रारम्भ से ठीक पूर्व राज्य में प्रवृत्त पंचायतों से सम्बन्धित किसी विधि का कोई उपबन्ध, जो इस भाग के उपबन्धों से असंगत है, तब तक जब तक कि सक्षम विधानमण्डल द्वारा या अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा उसे संशोधित नहीं कर दिया जाता या जब तक ऐसे प्रारम्भ से एक वर्ष का अवसान नहीं हो जाता, इनमें से जो भी पूर्वतर हो, प्रवृत्त बना रहेगा।

परन्तु ऐसे प्रारम्भ से ठीक पूर्व विद्यमान सभी पंचायतें अपने कार्यकाल की समाप्ति तक बनी रहेंगी यदि उन्हें उस राज्य की विधान सभा द्वारा या ऐसे राज्य की दशा में जिसमें विधान-परिषद है उस राज्य के विधान-मण्डल के प्रत्येक सदन द्वारा पारित इस आशय के संकल्प द्वारा पहले ही विघटित नहीं कर दिया जाता।

निर्वाचन सम्बन्धी मामलों में न्यायालयों के हस्तक्षेप का वर्जन

243 ण. इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी—

(क) अनुच्छेद 243 ट के अधीन बनाई गई या बनाए जाने के लिए किसी ऐसी विधि की, जो निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन या ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रों के स्थानों के आवंटन से सम्बन्धित है, विधि मान्यता किसी न्यायालय में प्रश्नगत नहीं की जाएगी

(ख) किसी पंचायत के लिए कोई निर्वाचन ऐसी निर्वाचन अर्जी पर ही प्रश्नगत किया जाएगा जो ऐसे प्राधिकारी को ऐसी रीति से प्रस्तुत की गई है जिसका राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन उपलब्ध है अन्यथा नहीं।

अनुच्छेद 280 का संशोधन

3. संविधान के अनुच्छेद 280 के खण्ड (3) के उपखण्ड (ख) के पश्चात् निम्नलिखित उपखण्ड अंतःस्थापित किया जाएगा, अर्थात्—

"(खख) राज्य के वित्त आयोग द्वारा की गई सिफारिशों के आधार पर राज्य में पंचायतों के संसाधनों की अनुपूर्ति के लिए किसी राज्य की संचित निधि के संवर्धन के लिए आवश्यक अध्युपाय।"

ग्यारहवीं अनुसूची का जोड़ा जाना

4. संविधान की दसवीं अनुसूची के पश्चात् निम्नलिखित अनुसूची जोड़ी जाएगी, अर्थात्—

ग्यारहवीं अनुसूची (अनुच्छेद 243-छ)

1. कृषि एवं कृषि-विस्तार।
2. भूमि विकास, भूमि सुधार का कार्यान्वयन, चकबन्दी और भूमि संरक्षण।
3. लघु सिंचाई, जल प्रबन्ध और जल-आच्छादन विकास।
4. पशुपालन, दुग्ध-उद्योग और कुक्कुट-पालन।
5. मत्स्य उद्योग।
6. सामाजिक वानिकी और फार्म वानिकी।
7. लघु वन उपज।
8. लघु उद्योग, जिनके अन्तर्गत खाद्य प्रसंस्करण उद्योग भी है।
9. खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग।
10. ग्रामीण आवासन।
11. पेय जल।
12. ईंधन और चारा।
13. सड़कें, पुलिया, पुल, फेरी, जलमार्ग तथा संचार के अन्य साधन।
14. ग्रामीण विद्युतीकरण, जिसके अन्तर्गत विद्युत का वितरण भी है।
15. गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्रोत।
16. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम।
17. शिक्षा, जिसके अन्तर्गत प्राथमिक और माध्यमिक भी विद्यालय हैं।
18. तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा।
19. प्रौढ़ शिक्षा और अनौपचारिक शिक्षा।
20. पुस्तकालय।
21. सांस्कृतिक क्रियाकलाप।
22. बाजार और मेले।
23. स्वास्थ्य और स्वच्छता, जिसके अन्तर्गत अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और औषधालय भी शामिल हैं।
24. परिवार कल्याण।
25. महिला और बाल विकास।
26. समाज कल्याण, जिसके अन्तर्गत विकलांगों और मानसिक रूप से मंद व्यक्तियों का कल्याण भी निहित है।
27. दुर्बल वर्गों का और विशिष्टतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का कल्याण।
28. सार्वजनिक वितरण प्रणाली।
29. सामुदायिक आस्तियों का अनुरक्षण।

संविधान तिहत्तरवां संशोधन अधिनियम, 1992 के आधार पर सभी राज्यों में कानून बनाए जाएंगे। इनकी मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(क) पंचायत क्षेत्र में रहने वाले जितने भी वयस्क लोगों के नाम मतदाता सूची में दर्ज हैं, वे सब ग्राम सभा के सदस्य होंगे।

(ख) पंचायतों का एक त्रिस्तरीय ढांचा होगा—गाँव, मध्यवर्ती और जिला स्तर पर। जिन राज्यों की जनसंख्या 20 लाख से कम है, उन्हें यह विकल्प होगा कि मध्यवर्ती स्तर न रखें।

(ग) सभी तीनों स्तरों की पंचायतों की सीटें सीधे चुनाव द्वारा भरी जाएंगी। इसके अतिरिक्त गाँव पंचायतों के अध्यक्ष, मध्यवर्ती स्तर की पंचायतों के सदस्य बनाए जा सकते हैं और मध्यवर्ती स्तर की पंचायतों के अध्यक्ष जिला स्तर

की पंचायतों के सदस्य बनाए जा सकते हैं। संसद सदस्य, विधान सभा सदस्य और विधान परिषद सदस्य भी मध्यवर्ती या जिला स्तर की पंचायतों के सदस्य बनाए जा सकते हैं।

(घ) सभी पंचायतों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोगों के लिए उनकी आबादी के अनुपात में सीटें सुरक्षित होंगी। कुल एक-तिहाई सीटें महिलाओं के लिए सुरक्षित होंगी।

(ड) सभी स्तरों की पंचायतों के अध्यक्षों के पद भी अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए राज्य में उनकी आबादी के अनुपात में सुरक्षित रहेंगे। सभी स्तरों की पंचायतों के अध्यक्ष पदों में से एक-तिहाई महिलाओं के लिए सुरक्षित होंगे।

(च) राज्य के विधान-मण्डल को यह अधिकार होगा कि पंचायतों की सीटों में और अध्यक्ष पदों में पिछड़े वर्गों के लिए स्थान सुरक्षित रखें।

(छ) हर पंचायत की अवधि एक-सी अर्थात् पाँच वर्ष की होगी और नई पंचायतों के लिए चुनाव पुरानी पंचायतों की अवधि समाप्त होने से पहले ही पूरे हो जाएँगे। पंचायत भंग किए जाने की स्थिति में छः महीने के भीतर निश्चित रूप से चुनाव कराए जाएँगे। नई पंचायत पाँच वर्ष की अवधि के शेष समय के लिए काम करेगी।

(ज) किसी अधिनियम में संशोधन करके अपनी अवधि पूरी होने से पहले किसी पंचायत को भंग नहीं किया जा सकेगा।

(झ) यदि कोई व्यक्ति किसी कानून के अन्तर्गत राज्य विधान मंडल का चुनाव लड़ने के लिए अयोग्य घोषित किया जाता है या राज्य के किसी कानून के अन्तर्गत अयोग्य घोषित किया जाता है तो वह पंचायत का सदस्य बनने का अधिकारी नहीं होगा।

(ञ) हर राज्य में चुनाव प्रक्रिया के संचालन, निर्देशन तथा नियंत्रण के लिए मतदाता सूचियाँ तैयार करने के लिए स्वतन्त्र चुनाव आयोग स्थापित किए जाएँगे।

(ट) पंचायतों को यह विशिष्ट जिम्मेदारी सौंपी जाएगी कि ग्यारहवीं अनुसूची में वर्णित विषयों के बारे में आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजनाएँ तैयार करें। विकास योजनाएँ कार्यान्वित करने की मुख्य जिम्मेदारी पंचायतों को सौंपी जाएगी।

(ठ) पंचायतों को अपने कार्य पूरे करने के लिए पर्याप्त धनराशि दी जाएगी। राज्य सरकार से मिलने वाले अनुदान पंचायतों के कोष का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत होंगे, परन्तु राज्य सरकारों से यह आशा की जाएगी कि वे कुछ करों का राजस्व पंचायतों को सौंप देंगी। कुछ मामलों में पंचायतों को यह भी अनुमति होगी कि अपने द्वारा लगाया गया राजस्व इकट्ठा कर सकें और उसे अपने पास रख सकें।

(ड) हर राज्य में एक वर्ष के अन्दर-अन्दर एक वित्त आयोग गठित किया जाएगा और उसके बाद फिर हर पाँचवें वर्ष गठित किया जाएगा जिसका काम ऐसे सिद्धान्त तय करना होगा जिनके आधार पर पंचायतों के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन सुनिश्चित किए जाएँ।

(ढ) जो पंचायत 24 अप्रैल, 1993 को काम कर रही थी, उन्हें अपनी पूरी अवधि के लिए काम करने दिया जाएगा बशर्ते कि सदन अपने किसी प्रस्ताव द्वारा उन्हें भंग न कर दे।

उपर्युक्त संविधान संशोधन द्वारा पंचायतों की स्थिति बहुत सुदृढ़ होकर उन्हें नई शक्ति प्राप्त हुई। इस संविधान संशोधन के लागू होने के बाद विभिन्न राज्यों ने वर्षों से लम्बित इन संस्थाओं के निर्वाचन सम्पन्न कराये हैं। अब राज्य सरकारें इनकी ओर अधिक ध्यान दे रही हैं।

पंचायती राज संस्थाओं की वित्त व्यवस्था—पंचायती राज संस्थाओं को स्वयं कर लगाने का अधिकार होता है। वे घरों पर तथा कुछ प्रकार की जमीनों पर, मेलों और उत्सवों तथा माल की बिक्री पर कर लगाती हैं और चुंगी वसूल करती हैं। वे आर्थिक लाभ वाली सामुदायिक परिसम्पत्तियों का निर्माण भी करती हैं। पंचायती राज संस्थाओं को अधिकार और दायित्व न केवल अपने-अपने राज्यों द्वारा बनाए गए कानूनों से प्राप्त होते हैं, बल्कि राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित प्रशासनिक और वित्तीय प्रक्रियाओं से भी प्राप्त होते हैं। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में इन संस्थाओं को बहुत व्यापक दायरे के कार्यक्रम चलाने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। राज्य सरकारों द्वारा उन्हें आर्थिक अनुदान भी प्रदान किया जाता है।

पंचायती राज का संगठन—पंचायत राज संगठन में सबसे नीचे ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, इसके ऊपर खण्ड स्तर पर पंचायत समिति और उसके ऊपर जिला स्तर पर जिला परिषद होती है।

ग्राम पंचायत

ग्राम पंचायत का चुनाव ग्राम सभा द्वारा किया जाता है जिसमें एक गाँव या छोटे-छोटे कई गाँवों के सब वयस्क निवासी एकत्र होकर मतदान करते हैं और यदि गाँव सभा का क्षेत्र अलग-अलग चुनाव क्षेत्रों में विभक्त है तो अपने-अपने क्षेत्र में मतदान करते हैं। यह सभा वार्षिक बजट पर विचार करती है और यह तय करती है कि आने वाले सत्र में क्षेत्र की उपज का क्या लक्ष्य रखा जाए। पंचायत के सभी सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है। सरपंच का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।

पंचायत समिति

पंचायत समिति का संगठन सभी राज्यों में एक-सा नहीं है। विधानसभा के सदस्य, लोकसभा के सदस्य सम्बन्धित सब पंचायतों के सरपंचों के अतिरिक्त सहकारी समितियों और छोटी नगरपालिकाओं एवं नोटिफाइड क्षेत्रों के प्रतिनिधि, खण्ड से निर्वाचित या खण्ड में रहने वाले, परन्तु विधानपरिषद् और राज्यसभा के सदस्य, खण्ड से चुने हुए जिला परिषद् के सब सदस्य विकास एवं अन्योदय में रुचि रखने वाले दो सहयोगी सदस्य और महिलाओं एवं अनुसूचित जातियों के कुछ सहयोगी प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं। विकास अधिकारी इसका सचिव होता है। अध्यक्ष के पद पर निर्वाचित प्रधान होता है और इसकी सहायता के लिए उपप्रधान भी चुने जाते हैं। इस सारी योजना में पंचायत समिति सबसे अधिक महत्व की संस्था है। खण्ड की सब ग्राम पंचायतों के बीच समन्वय रखना और समस्त विकास कार्यों को सुचारु रूप से चलाना इसी का काम है। राज्य सरकार से जो अनुदान मिलता है वह इसी के द्वारा ग्राम पंचायतों को बाँटा जाता है।

जिला परिषद्

जिला परिषद् का संगठन भी पंचायत समिति के अनुरूप ही रखा गया है। इसके सदस्य भी जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त जिले के सब विधायक, संसद सदस्य, राज्य विधान परिषद् के सदस्य और कुछ महिलाओं और अनुसूचित जातियों के सहयोगी सदस्य भी जिला परिषद् के सदस्य होते हैं। प्रत्येक जिला परिषद् में एक निर्वाचित अध्यक्ष होता है जिसे जिला प्रमुख कहते हैं और एक उपाध्यक्ष होता है जो उप-जिला प्रमुख होता है।

पंचायती राज संस्थाओं के कार्य—पंचायती राज संस्थाओं के कार्यों को निम्नानुसार विश्लेषित किया जा सकता है—

जिला परिषद् के कार्य—जिला-परिषद् ग्रामीण स्थानीय शासन की सर्वोच्च इकाई है, अतः उसका प्रमुख कार्य समन्वयकर्ता और मार्गदर्शक निकाय का है। साथ ही उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य सरकार या निम्न-स्तरीय पंचायतों के बीच की भूमिका निभाएगी। यदि प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य किया जाए तो जिला परिषद् पंचायती राज संस्थाओं की व्यवस्था पर प्रभाव डालकर वांछित परिवर्तन ला सकती है।

पंचायती समिति के कार्य—पंचायती राज की वर्तमान योजना के अधीन पंचायत समिति वह धुरी है जिसके चारों ओर पंचायती राज की सारी प्रवृत्तियाँ केन्द्रित हैं। जिला परिषद् केवल एक परामर्श देने वाली और निगरानी रखने वाली संस्था है। कार्यपालिका के सभी वास्तविक अधिकार और कर्तव्य पंचायत समितियों में ही निहित हैं। पंचायत समितियों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

1. सामुदायिक विकास कार्य—पंचायत समिति अधिक रोजगार, उत्पादन और सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए ग्राम संस्थानों का संगठन करती है। ग्राम समुदाय में स्वावलम्बन को प्रोत्साहन देने तथा लोक कल्याणकारी गतिविधियों को प्रोत्साहित करती है।

2. कृषि सम्बन्धी कार्य—पंचायत समिति को कृषि से सम्बन्धित अनेक कार्य करने पड़ते हैं, जैसे—अधिक कृषि उत्पादन के लिए योजनाएँ बनाना और क्रियान्वित करना, भूमि एवं जल-संसाधनों का प्रयोग करना, नवीनतम शोध पर आधारित कृषि की सुधरी हुई स्थिति का प्रसार करना, लघु सिंचाई कार्यों का निर्माण करना, सिंचाई के कुँओं तथा बाँधों का निर्माण और मेड़ें बाँधने में सहायता देना, भूमि को कृषि योग्य बनाना तथा कृषि भूमियों पर भू-संरक्षण करना, उत्तम बीज वितरित करना, स्थानीय खाद सम्बन्धी साधनों का विकास करना, सुधरे हुए कृषि उपकरणों के प्रयोग और निर्माण को प्रोत्साहन देना, पौध-संरक्षण करना, राज्य आयोजन में बनाई गई नीति के अनुसार व्यापारिक फसलों का विकास करना, सिंचाई तथा कृषि के विकास के लिए ऋण और अन्य सुविधाएँ उपलब्ध कराना आदि।

3. पशुपालन—पशुपालन के क्षेत्र में कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित करना, स्थानीय पशुओं की नस्ल सुधारना, सुधरा हुआ पशु-खाद्य उपलब्ध कराना, छूत की बीमारियों को रोकना, पशु-चिकित्सालयों की स्थापना करना, दुग्ध-शालाओं की स्थापना और दूध भेजने का प्रबन्ध करना, ऊन को श्रेणीबद्ध करना, चरागाहों की समस्या को सुलझाना एवं पंचायतों के अधीन तालाबों में मत्स्य पालन का विकास करना इत्यादि पंचायत समिति के कार्य हैं।

4. स्वास्थ्य तथा ग्राम सफाई—पंचायत समिति के कार्य हैं—टीके लगाने सहित स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार और असाध्य रोगों की रोकथाम, पीने योग्य सुरक्षित पानी की सुविधाओं का प्रबन्ध परिवार नियोजन के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना, औषधालयों तथा प्रसूति केन्द्रों का निरीक्षण, व्यापक स्वच्छता और स्वास्थ्य के लिए अभियान चलाना और पोषक अहार तथा छूत की बीमारियों के सम्बन्ध में लोगों को शिक्षित करना।

5. शिक्षा तथा सामाजिक कार्य—इस क्षेत्र में पंचायत समितियों का कर्तव्य है—प्राथमिक शालाओं की स्थापना करना, माध्यमिक स्तर पर छात्रवृत्तियों और आर्थिक सहायता प्रदान करना, लड़कियों में शिक्षा का प्रसार करना, प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करना, अध्यापकों के लिए क्वार्टरों के निर्माण करना, पुस्तकालयों की स्थापना करना, युवक संगठन कायम करना तथा समुदाय और विनोद केन्द्रों की स्थापना करना है।

6. संचार साधन—पंचायत समितियों का इस दिशा में मुख्य कार्य है—अन्तःपंचायत सड़कों तथा ऐसी सड़कों पर पुलों का निर्माण और उनका संधारण करना।

7. सहकारिता कार्य—पंचायत समितियों का दायित्व है कि वे ग्राम सेवा सहकारी समितियों को औद्योगिक, सिंचाई कृषि तथा अन्य सहकारी संस्थाओं की स्थापना में सहयोग दें तथा उन्हें शक्तिशाली बनाने में सहायता देकर ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी कार्यों को प्रोत्साहन दें।

8. कुटीर उद्योग—इस क्षेत्र में पंचायत समितियों का कर्तव्य है कि ये रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने और आत्म-निर्भरता को बढ़ाने के लिए कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास, उद्योग और नियोजन सम्बन्धी सम्भावित साधनों का सर्वेक्षण, उत्पादन तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना और संधारण, कारीगरों तथा शिल्पकारों की कुशलता को बढ़ावा, सुधरे हुए औजारों को आगे बढ़ाने की दिशा में पहल करें।

9. पिछड़े वर्गों के लिए कार्य—पंचायत समितियों को दायित्व दिया गया है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के लिए छात्रावासों का प्रबन्ध करें। उनका यह भी दायित्व है कि वे स्वयंसेवी संगठनों को मजबूत बनाकर समाज-कल्याण की गतिविधियों में वांछित समन्वय स्थापित करें। पंचायत समितियाँ मद्य-निषेध तथा समाज-सुधार सम्बन्धी प्रचार भी करती हैं। जनजातियों के विकास में भी पंचायत समिति की महती भूमिका है।

10. अन्य कार्य—पंचायत समितियों के अन्य प्रमुख कार्य ये हैं—1. आग, बाढ़, महामारियों तथा अन्य व्यापक प्रभावशाली आपदाओं की दशा में आपातकालिक सहायता का प्रबन्ध, 2. ऐसे आँकड़ों का संग्रह तथा संकलन जो कि पंचायत समिति, जिला परिषद या राज्य सरकार द्वारा आवश्यक समझे जाएँ, 3. ऐसे किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाए गए न्यासों का प्रबन्ध जिसके लिए पंचायत समितियों की निधि का प्रयोग किया जाए, 4. ग्राम भवन-निर्माण, 5. पंचायत की समस्त गतिविधियों का पर्यवेक्षण तथा उनका पथ-प्रदर्शन एवं ग्राम पंचायत योजनाओं का निर्माण, 6. घृणास्पद, भयानक अथवा हानिकारक व्यापारों, धन्धों तथा रिवाजों का नियमन, 7. गन्दी बस्तियों का पुनरुद्धार, 8. हाटों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं, उदाहरणार्थ—सार्वजनिक पार्कों, बागों, फलोद्यानों एवं फार्मों की स्थापना, प्रबन्ध संधारण तथा निरीक्षण, 9. रंगमंचों की स्थापना तथा प्रबन्ध, 10. खण्ड में स्थित दरिद्रालयों, आश्रमों, अनाथालयों, पशु-चिकित्सालयों तथा अन्य संस्थाओं का निरीक्षण, 11. अल्प-बचत तथा बीमा के जरिए मितव्ययता को प्रोत्साहन, 12. लोक-कला तथा संस्कृति को प्रोत्साहन तथा 13. पंचायत समिति के मेलों का आयोजन एवं प्रबन्ध।

पंचायत समिति विकास सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करती है। अपने क्षेत्र की विकास योजनाओं को क्रियान्वित करने का भार पंचायत समिति पर होता है। अपने कार्यों को अच्छे ढंग से चलाने के लिए यह अनेक स्थायी समितियों का निर्माण करती है। पंचायत समिति अपने अधिकारों को इन स्थायी समितियों को उनके कार्यों के अनुसार सौंप देती है, अतः समितियों के निर्णय पंचायत समिति के निर्णय माने जाते हैं, लेकिन अन्तिम अधिकार और उत्तरदायित्व पंचायत समिति के ही होते हैं। इस दृष्टि से पंचायत समिति को अधिकार होता है कि वह स्थानीय समितियों के निर्णय को रद्द कर दे या उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन कर दे।

पंचायत के कार्य—पंचायतें पंचायती राज की आधारशिलाएँ हैं। पंचायतों की सुदृढ़ता और शक्ति पर ही पंचायती राज का सफल और प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन निर्भर है। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में पंचायतों की महत्वपूर्ण स्थिति को स्वीकार किया गया है। पंचायत की शक्तियों का अधिनियम में विस्तार से उल्लेख किया गया है। पंचायत के कार्य विविध और बहुमुखी होते हैं जो इस प्रकार हैं—

1. सफाई एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य—इनमें पीने के पानी की व्यवस्था, सार्वजनिक गलियों, नालियों तथा तालाबों आदि की सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा और उन्नति एवं चिकित्सा प्रबन्ध, मुर्दों को जलाने एवं गाड़ने के स्थानों का प्रबन्ध, सार्वजनिक शौचालयों का प्रबन्ध, इमारतों के निर्माण पर नियन्त्रण, चाय-दूध आदि की दूकानों को लाइसेंस देना, प्रसूति-गृह तथा शिशु-कल्याण केन्द्रों की स्थापना आदि कार्य सम्मिलित हैं।

इतनी विकसित नहीं हुई हैं जितनी शक्ति एवं सत्ता हथियाने के रूप में। नेतृत्व में सत्ता के लिए दौड़ पंचायती राज संस्थाओं के भविष्य के लिए अहितकर है।

सरकारी एवं गैर सरकारी अधिकारियों का पारस्परिक सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण समस्या बना हुआ है। जिला-स्तरीय अधिकारियों से अपेक्षा की जाती है कि वे मित्र, दार्शनिक एवं सलाहकार के रूप में ग्रामवासियों के साथ कार्य करेंगे, किन्तु वास्तविकता यह है कि ये अधिकारीगण ग्रामवासियों पर अपनी राय थोपने का प्रयास करते हैं। पंचायती राज व्यवस्था में दलगत राजनीति का प्रवेश, चुनावों पर होने वाले भारी व्यय और कटुता का वातावरण तथा पंचायतों की धनराशि के दुरुपयोग ने इन संस्थाओं की स्थिति को कमजोर किया है। राज्य सरकारों द्वारा इनके चुनाव नियमित समय पर नहीं कराने तथा राजनीतिक कारणों से इन संस्थाओं को भंग करने के निर्णय भी पंचायती राज संस्थाओं को कमजोर बनाते हैं। पंचायती राज संस्थाओं द्वारा घटिया निर्माण कार्य तथा सार्वजनिक धन का दुरुपयोग भी इनकी स्थिति को कमजोर बनाता है।

पंचायती राज व्यवस्था को प्रभावी और व्यावहारिक बनाने के लिए सुझाव

पंचायती राज संस्थाओं को अधिक शक्तिशाली बनाने की दिशा में निम्नलिखित सुझाव सिद्ध हो सकते हैं—

1. पंचायती राज संस्थाओं को प्राणवान बनाने और प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें अधिक कार्यकारी अधिकार दिए जाने चाहिए।

2. वे परियोजनाएं और कार्य जो जिला परिषद को सौंपे जा सकते हैं राज्य स्तर से जिला परिषद को सौंप दिए जाने चाहिए। पंचायत समितियों से वे परियोजनाएं वापस ली जानी चाहिए जो जिला परिषद स्तर पर अधिक कुशलता के साथ कार्यान्वित की जा सकती हैं।

3. जिला परिषद के मुख्य कार्यपालक अधिकारी को कर्मचारियों में अनुशासन स्थापित करने और उनसे काम लेने के लिए प्रभावपूर्ण शक्तियाँ दी जानी चाहिए। कर्मचारियों की वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट उसके ठीक ऊपर के उस अधिकारी द्वारा लिखी जानी चाहिए जिसके अधीन वे कर्मचारी कार्य कर रहे हैं। उस रिपोर्ट को मुख्य कार्यपालक अधिकारी को प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

4. जिला स्तर के अधिकारियों को समूह भाव से काम करना चाहिए। उनका प्रमुख दायित्व जिला परिषद, पंचायत समितियों, खण्ड विकास अधिकारियों तथा विस्तार अधिकारियों को सरकारी नीतियों और निर्देशों के अनुसार तकनीकी दृष्टि से योजनाएं बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में सहायता देना है।

5. लोगों की आम समस्याओं को हल करने के लिए पंचायतों को अधिकार और साधन प्रदान किये जाएं। लोगों की अधिक से अधिक समस्याएं पंचायत के क्षेत्राधिकार में लाई जाएं ताकि लोग अपनी कठिनाइयों को दूर कर सकें तथा समस्याओं का समाधान पा सकें।

6. नियम और कार्यवाहियाँ सुगम बनाई जाएं। नियम ऐसे होने चाहिए जिनको आम आदमी भली-भांति समझ सके।

7. राजस्व और पुलिस सेवाओं का सहयोग सुनिश्चित किया जाए।

8. ग्राम सभा की कार्यवाही जनता की भावनाओं के अनुसार चलाई जानी चाहिए। ग्राम जीवन को प्रभावित करने वाले सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर ग्राम सभा में विचार विमर्श होने चाहिए। ग्राम सभा के विचारणीय विषयों में पंचायत का बजट, पंचायत के काम का विवरण, योजनाओं की प्रगति, ऋण और अनुदानों का उपयोग, स्कूल और सहकारी समितियों की व्यवस्था, लेखा परीक्षण की रिपोर्ट आदि शामिल की जानी चाहिए।

9. पंचायती राज में संस्थाओं के मार्ग-निर्देशन, देख-रेख और नियन्त्रण का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। राज्य सरकारें, इनके तकनीकी अभिकरणों और जिला अधिकारियों को पंचायती राज संस्थाओं को समुचित एवं उदार ढंग से मार्ग-निर्देशन कर उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए। प्रशासनिक अधिकारियों को विकेन्द्रीकृत लोकतन्त्रीय संस्थाओं के मित्र, दार्शनिक तथा पथ-प्रदर्शक के रूप में आगे आना चाहिए। उनका कार्य सही ढंग से सकारात्मक प्रवृत्ति का होना चाहिए।

10. राजनीतिक दलों को पंचायती राज के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए तथा इन संस्थाओं के चुनाव सर्वसम्मति के आधार पर हों।

11. पंचायती राज संस्थाओं को कर लगाने के कुछ व्यापक अधिकार दिए जाने चाहिए। पंचायती राज संस्थाओं के पास स्वयं के साधन विकसित किए जाने चाहिएं ताकि वे अपने वित्तीय साधनों में वृद्धि कर अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक कर्तव्यों का पालन कर सकें। राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं को दिए जाने वाले अनुदानों में वृद्धि करनी चाहिए। राज्य सरकार को पंचायत राज संस्थाओं को ब्याज रहित ऋण देकर अपने खुद के लाभकारी व्यवसाय चलाने के लिए अभिप्रेरित करना चाहिए। कर वसूल करने वाली मशीनरी को प्रभावशाली बनाया जाना चाहिए।

12. प्रशासनिक व्यय में हर स्तर पर मितव्ययिता होनी चाहिए।

13 पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचन नियत समय पर कराये जाने चाहिए।

14 राज्य सरकारों द्वारा अकारण पंचायती राज संस्थाओं को समयावधि के पूर्व ही भंग करने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए।

पंचायती राज की उपलब्धियाँ

नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार पंचायती राज को अपनाया गया तथा देश में इस व्यवस्था का सफल परीक्षण भी हुआ है। यद्यपि पंचायती राज, अपनी कमियों और दुर्बलताओं के बावजूद ग्रामवासियों की जीवन पद्धति बनता जा रहा है, तथापि अशिक्षित जनता में जातिगत और धर्मगत अन्धविश्वास, परम्परागत अलोकतान्त्रिक सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे, परिपक्व राजनीतिक प्रबुद्धता की कमी के कारण साधारण जनता में पंचायती राज की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने अथवा पंचायती राज की आलोचना करने की एक सामान्य प्रवृत्ति विकसित हो गई है अन्यथा इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि पंचायती राज व्यवस्था ने देश के राजनीतिकरण तथा आधुनिकीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पंचायत चुनावों और पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकलापों ने ग्राम-जीवन में एक नया जागरण पैदा किया है। अब गाँव वालों का उस प्रकार से शोषण नहीं किया जा सकता जिस प्रकार पहले महाजन और जमींदार वर्ग करता था। वोट की कीमत समझी जाने लगी है। ग्रामीण जनता की राजनीतिक हिस्सेदारी बढ़ी है। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकृत संस्थाएँ स्वशासन की इकाइयों के रूप में विकसित हो रही हैं। ग्राम नेतृत्व पनपता जा रहा है। गाँवों की स्त्रियाँ भी राजनीतिक कार्यकलापों में भाग लेने लगी हैं। राजनीतिक जागृति के साथ सामाजिक चेतना बढ़ी है। छुआछूत, अस्पृश्यता और भेदभाव की दीवारों को पंचायती राज ने जबरदस्त धक्का पहुँचाया है। मजदूर और नौकर कहा जाने वाला व्यक्ति अब पंचायत या पंचायत समिति की अध्यक्षता करता है और बड़े-बड़े राजनीतिक नेताओं के साथ बैठता है तो क्या इसे गाँवों में सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति नहीं कहेंगे? गाँवों की जागरूकता राज्य स्तर की राजनीति पर दबाव डालने में सक्षम है। जातिगत, धर्मगत और अन्य प्रकार के हित स्थानीय दबाव-समूह के रूप में प्रकट होने लगे हैं। दबाव-समूह की राजनीति अब नगरों की बपौती नहीं रह गई है। ग्रामीण जनता को अपने अधिकारों और उत्तरदायित्वों के विषय में नई जानकारी मिली है। पंचायती राज नये विकास साधनों को जन्म देकर गाँवों को आगे बढ़ा रहा है जिससे गाँव वालों में आत्मविश्वास की भावना जाग्रत हो रही है साथ ही उनकी स्थिति सुधारने के लिए हाथ-पर-हाथ धरे न बैठकर, कुछ कर गुजरने की प्रवृत्ति पनप रही है। पंचायती राज ने गाँवों में यद्यपि कुछ सीमा तक साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था, मुकदमेबाजी, गुटबन्दी आदि को बढ़ावा दिया है, लेकिन इनकी तुलना में पंचायती राज के लाभ बहुत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं। गाँवों में आशाओं भरा उल्लास पैदा हुआ है जिसे दबाया नहीं जा सकता है।

ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं पर राज्य नियन्त्रण

(State Control over Rural Local Bodies)

ग्रामीण क्षेत्र में कार्य करने वाले स्थानीय निकायों पर पर्याप्त पर्यवेक्षण एव नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है ताकि आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करके इन्हें कुशल एव प्रभावशाली बनाया जा सके। पंचायत राज संस्थाओं के क्षेत्र में नियन्त्रण एव पर्यवेक्षण की व्यवस्था का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। इसका कारण यह है कि ग्राम्य स्तर पर स्थानीय जनता को जो शक्ति दी गई है उसका प्रयोग करने वाले लोग प्रशिक्षित एव पर्याप्त योग्य नहीं है और उनके द्वारा सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ प्रायः अधिक रहती हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय प्रशासकीय संस्थाओं को शक्ति हस्तान्तरित करने के बाद सरकार जनता के विकास एव कल्याण के उत्तरदायित्वों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता। यह राज्य का एक स्वाभाविक अधिकार एव सक्रिय उत्तरदायित्व है। राज्य सरकार को यह देखना पड़ता है कि ये स्थानीय संस्थाएँ एक निश्चित स्तर के अनुसार कार्य करती रहें। पंचायती राज प्रशासन के एकीकृत भाग के रूप में विकसित होती हैं तथा ये राष्ट्रीय नीतियों एव राज्य के संवैधानिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में सहयोग देती हैं। जब इन संस्थाओं पर नियन्त्रण एव पर्यवेक्षण की एक विकसित व्यवस्था लागू की जाती है तो वे स्वयं लाभान्वित होती है और नागरिकों को अधिकाधिक लाभ प्राप्त होते हैं।

नियन्त्रण की विधियाँ—ग्रामीण स्थानीय निकायों पर राज्य सरकार द्वारा निम्नानुसार नियन्त्रण स्थापित किया जाता है—

1. राज्य सरकार के विभिन्न अधिकारी वर्ग पंचायती राज संस्थाओं के निरीक्षण का कार्य करते हैं। यदि कोई संस्था ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर रही है तो निरीक्षक का दायित्व है कि वह उसे उचित प्रकार से कार्य करना सिखाए। निरीक्षक स्थानीय निकायों की सम्पत्ति, निर्माण कार्य, कार्यालय, स्टोर आदि का निरीक्षण करते हैं। इन्हें अधिकार होता है कि रिकार्ड, लेखा-पत्रों आदि की जाँच-पड़ताल करें। निरीक्षक अपनी रिपोर्ट निर्धारित प्रपत्र में सम्बद्ध विभाग को देते हैं।

राज्य स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं के निरीक्षण और पर्यवेक्षण के लिए कहीं तो स्थानीय स्वायत्त शासन विभाग है और कहीं पंचायती राज विभाग है। कहीं-कहीं पर इसे पंचायती राज निदेशालय कहा जाता है। निदेशालय की सहायता के लिए स्थान-स्थान पर परामर्शदात्री बोर्ड हैं जो पंचायतों की समीक्षा करते हैं। राज्य सरकार को पंचायतों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण नियुक्तियों पर परामर्श देते हैं एवं पंचायतों को उनके महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों पर सलाह देते हैं आदि।

2. राज्य सरकार पंचायती राज संस्थाओं से रिपोर्ट माँगती है। प्रशासकीय विभाग द्वारा अनेक प्रकार के विवरण-पत्र और प्रतिवेदन-पत्र माँगे जाते हैं और इन संस्थाओं का कर्तव्य होता है कि वे निर्धारित प्रपत्रों में लेख प्रस्तुत करें। विभाग आवश्यक अध्ययन के बाद त्रुटियों को ओर स्थानीय निकायों का ध्यान आकर्षित करता है और उन त्रुटियों को ठीक करने के लिए समुचित निर्देश भेजता है। कुछ रिपोर्ट ऐसी हैं जो नियमानुसार समय-समय पर भेजी जाती रहती हैं किन्तु विभाग को अधिकार है कि वह आवश्यकतानुसार अन्य रिपोर्ट और सूचना की माँग करे।

3 ऐसे मामलों में जहां अधिनियम के अधीन राज्य सरकार की स्वीकृति, सहमति या अनुमोदन आवश्यक हो, राज्य सरकार उचित जाँच का आदेश दे सकती है। राज्य सरकार को अधिकार है कि वह आवश्यक समझे जाने पर अन्य किसी मामले में जाँच का आदेश दे तथा जाँच अधिकारी को यह अधिकार होता है कि वह आवश्यक समझने पर किसी व्यक्ति को अपने सामने पेश होकर बयान देने का आदेश दे। जाँच अधिकारी की रिपोर्ट पर विचार करके निर्णय देना सरकार का काम है।

4 राज्य सरकारों को अधिकार है कि वह पंचायत समितियों के निर्णयों, प्रस्तावों या आज्ञाओं को अनुचित समझने पर रद्द कर दे, लेकिन ऐसा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि राज्य सरकार पंचायत समिति को उत्तर में अपनी सफाई देने का उचित अवसर दे। राज्य सरकार की ओर से अधिकार का प्रयोग जिला-कलक्टर भी कर सकता है यदि वह आवश्यक समझे कि जनहित और शान्ति की दृष्टि से अविलम्ब कार्यवाही अनिवार्य है। जिला-कलक्टर को अपने कार्य की रिपोर्ट शीघ्र ही राज्य सरकार को भेजनी होती है और राज्य सरकार का निर्णय ही अन्तिम रूप से मान्य होता है।

5 राज्य सरकार जिला परिषद एवं पंचायत समितियों के निर्णय में परिवर्तन कर सकती है। यह पंचायत समिति या जिला परिषद के किसी निर्णय या आदेश सम्बन्धी कागजों को मँगाकर देख सकती है और अपना निर्णय दे सकती है। निर्णय देने से पूर्व जिला परिषद या पंचायत को अपनी स्थिति स्पष्ट करने के अवसर दिए जाते हैं।

6 जिला-कलक्टर को अधिकार होता है कि वह पंचायत समिति की अचल सम्पत्ति और उसके कार्यों आदि का निरीक्षण करे। पंचायत समिति के नियन्त्रण में चलने वाली किसी संस्था के कागजात आदि के निरीक्षण करने का उसे अधिकार है।

7 कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें पंचायत या पंचायत समिति राज्य सरकार की स्वीकृति से ही कर सकती है। राज्य सरकार की सहमति के अभाव में किए गए ऐसे कार्यों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। राज्य सरकार को अधिकार होता है कि वह प्रशासकीय आदेशों द्वारा ऐसे कार्यों के क्रियान्वयन पर रोक लगा दे।

8 महाराष्ट्र, राजस्थान और तमिलनाडु राज्यों में अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकारों को अधिकार है कि यदि पंचायत राज संस्थाएँ अपना कार्य न करें तो राज्य सरकारें अपने अधिकारियों से कार्य करवा लें। राज्य सरकार कार्य-व्यय इन संस्थाओं से वसूल कर सकती है। प्रायः इस प्रकार का कदम तभी उठाया जाता है जबकि पंचायती राज संस्थाएँ निरन्तर गलती करती रहें और राज्य सरकार के निर्देशों के बावजूद कार्य पूरा न करें अथवा निर्धारित समय के भीतर अपनी गलती न सुधारें।

9 यदि राज्य सरकार समझे कि कोई समिति या परिषद अपने कार्य सुचारू ढंग से नहीं कर रही है तो वह उसे भंग करके, प्रशासक की नियुक्ति कर सकती है। चेन्नई, राजस्थान और तमिलनाडु राज्यों के अधिनियमों में इस प्रकार की व्यवस्था है। राज्य सरकार को यह अधिकार है कि वह समिति या परिषद को भंग करने के बजाय उसे तुरन्त नए चुनाव की आज्ञा दे।

10 यदि पंचायत राज संस्थाएँ अधिनियमों नियमों और उपनियमों का समुचित रूप से पालन न करें तो राज्य सरकार को अपीलें सुनने का अधिकार है। ऐसी अपीलों पर राज्य सरकार का निर्णय अन्तिम होता है। ये निर्णय न्यायालयों की अधिकार सीमा से परे होते हैं।

11 पंचायत राज संस्थाओं पर राज्य सरकार का पर्याप्त वित्तीय नियन्त्रण रहता है। इन संस्थाओं की आय का अधिकांश भाग राज्य सरकारें अनुदान के रूप में उपलब्ध कराती हैं अतः संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे राज्य सरकार द्वारा बनाए गए नियमों और निर्धारित प्रक्रियाओं के अनुसार आचरण करें। राजस्थान राज्य को लें तो राज्य सरकार के निरीक्षक प्रतिवर्ष उनके हिसाब-किताब की जाँच करते हैं। पंचायत को अपने वार्षिक बजट पर मंजूरी लेनी पड़ती है। बजट के अलावा कोई धन राशि पंचायत समिति की पूर्व अनुमति के बिना व्यय नहीं की जा सकती। राज्य सरकार के

नियमों का पालन न करने या राज्य सरकार द्वारा सन्तुष्ट न होने की स्थिति में सरकारी अनुदान रोका जा सकता है। सरकारी अनुदान के बिना पंचायत राज संस्थाओं का कार्य सम्भवतः नहीं चल सकता, अतः वित्तीय नियन्त्रण व्यवहार में प्रभावी होता है। राज्य सरकार द्वारा इन संस्थाओं के बजट निर्माण, करारोपण, ऋण सम्बन्धी शक्तियों आदि पर नियन्त्रण रखा जाता है। करों की दर और उनकी वसूली के नियम राज्य सरकार द्वारा बनाए जाते हैं।

12. जहाँ मुख्य पंचायत अधिकारी की शक्तियाँ हैं वहाँ वह पंचायत के किसी आदेश या प्रस्ताव को रोक सकता है। इस अधिकारी की आज्ञा में आवश्यक संशोधन या परिवर्तन राज्य सरकार कर सकती है।

13 राजस्थान, महाराष्ट्र और तमिलनाडु के अधिनियमों में राज्य सरकार को अधिकार दिया गया है कि वह ऐसे निर्वाचित सदस्यों और पदाधिकारियों को हटा दे जो पंचायत राज व्यवस्था के कानून और नियमों का उल्लंघन करते हों। उदाहरण के लिए यदि राजस्थान राज्य की व्यवस्था को लिया जाए तो राज्य सरकार को पंच, सरपंच, पंचायत समिति के सदस्य, न्याय पंचायतों के सदस्यों और अध्यक्ष तथा पंचायत समिति के प्रधान को कतिपय परिस्थितियों में हटाने का अधिकार है। राज्य सरकार ऐसा कदम प्रायः तभी उठाती है जब शक्तियों के दुरुपयोग, अधिकार-सीमा का उल्लंघन, कदाचार आदि के स्पष्ट आरोप हों।

नगर शासन
(Municipal Government)

नगरीकरण और औद्योगीकरण के विकास के साथ नगरीय शासन का महत्व बढ़ता जा रहा है। भारत में वर्तमान नगरीय शासन में नगर निगम, नगर परिषद, नगरपालिकाएँ, नगर-क्षेत्र समितियाँ, अधिसूचित क्षेत्र-समितियाँ, छावनी-बोर्ड आदि सम्मिलित हैं।

महानगर
(Metropolitan City)

एक महानगर क्षेत्र केवल बड़े आकार के नगर का ही द्योतक नहीं है, वरन् इससे कुछ अधिक है। महानगर क्षेत्र की अपनी विशेषताएँ होती हैं, जैसे—अत्यधिक भीड़भाड़, अस्थिर निवास, व्यापक दृष्टिकोण आदि। यहाँ के निवासियों में धर्म, जाति, विश्वास, रंग, रुचि, व्यवसाय आदि के आधार पर अनेक भिन्नताएँ होती हैं। यही कारण है कि ऐसे क्षेत्रों में प्रशासनिक समस्याएँ अत्यन्त जटिल होती हैं। अत्यधिक समस्याएँ होने के कारण सरकार के संचालन का प्रतिव्यक्ति व्यय भी अधिक होता है। इस क्षेत्र में प्रशासनिक निकायों के बीच समन्वय की समस्या भी कठिन होती है।

भारत में भी बड़े-बड़े नगरों में इसी प्रणाली को अपनाया जा रहा है। वैसे तो भारत में प्रशासन नगर निगमों द्वारा चलाया जाता है, किन्तु इनमें दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई और मुम्बई का विशेष स्थान है। इन चारों को महानगर क्षेत्र कहा जाता है। इन महानगरों का प्रशासकीय ढाँचा उनके अपने अधिनियमों पर आधारित है। देहली नगर निगम अधिनियम 1957 में बना था। कोलकाता नगरपालिका अधिनियम 1952 में, चेन्नई नगरपालिका अधिनियम 1919 में (1951 में संशोधित) तथा मुम्बई नगरपालिका अधिनियम 1888 में (यह 1955 में परिवर्तित किया गया) पास किए गए। इन अधिनियमों में चेन्नई तथा मुम्बई के अधिनियम अपेक्षाकृत अधिक पुराने हैं और इनमें समय-समय पर संशोधन किए जाते रहे हैं। देहली नगर निगम का अधिनियम भारतीय संसद द्वारा प्रशासित होता है, जबकि अन्य तीनों ही अधिनियम अपनी-अपनी व्यवस्थापिका सभा द्वारा प्रशासित होते हैं।

नगर निगम
(Municipal Corporation)

नगर निगम शहरी क्षेत्र में प्रशासन की सर्वोच्च इकाई है। उसके सर्वोच्च होने का आशय है कि यह अन्य प्रकार के नगर शासनों पर अपनी सत्ता का प्रयोग करता है। नगर निगमों की स्थापना राज्यों में राज्य सरकार के तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में केन्द्र सरकार के विशेष नियम के अन्तर्गत की जाती है, इनका अस्तित्व एवं अधिकार राज्य या केन्द्र सरकार पर निर्भर करता है।

नगर निगम की स्थापना का आधार—नगर निगम बनाने से पूर्व प्रायः उस स्थान से प्राप्त वार्षिक आय, स्थानीय जनता को अधिक सुविधाएँ देने की क्षमता आदि का आकलन किया जाता है। नगर निगम स्थापित करने के निम्नलिखित सिद्धान्त निर्धारित किए जा सकते हैं—

1. घना बसा हुआ क्षेत्र,
2. नगरपालिका का वर्तमान विकास और उसके भावी विकास की सम्भावनाएँ,
3 नगरपालिका की वर्तमान और सम्भावित वित्तीय स्थिति,

4 बढ़े हुए करों को वहन करने की जनता की क्षमता और आकांक्षा,

5 निगम के पक्ष में जनमत एवं

6 क्षेत्र विशेष की महत्वपूर्ण परिस्थितियों का आकलन।

डॉ. श्रीराम माहेश्वरी ने लिखा है—*ये सिद्धान्त वस्तुतः सुनिश्चित नहीं हैं। इन्हें तो केवल किसी क्षेत्र में किसी प्रकार का नगरीय शासन स्थापित करने के लिए ध्यान में रखा जाता है तथा इस बात की एकमात्र निर्णायक राज्य सरकार ही है कि किस नगर को नगर निगम का दर्जा दिया जाना चाहिए। सामान्यतः जो नगर बड़ा होता है और जहाँ लोकमत निरन्तर नगर निगम की माँग करता है उसे राज्य-सरकार नगर निगम का दर्जा देने के लिए तैयार हो जाती है। जनसंख्या तथा राजस्व की कसौटी वास्तव में समय सापेक्ष होती है इसलिए समय के परिवर्तन के साथ-साथ इनकी सार्थकता कम होती रहती है।*

भारत में मुख्य नगर निगम—जनसंख्या, जन-घनत्व तथा वित्तीय अवस्था की दृष्टि से नगर निगमों में अन्तर किया जा सकता है। चेन्नई, मुम्बई और कोलकाता देश के सबसे पुराने नगर निगम हैं। हैदराबाद, पटना, अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, त्रिवेन्द्रम, कालीकट, कोचीन, मदुराई, पूना, नागपुर, शोलापुर, बंगलौर, कानपुर, आगरा, इलाहाबाद, वाराणसी, लखनऊ, दिल्ली, जयपुर, जोधपुर तथा कोटा अन्य बड़े नगर निगम हैं।

नगर निगम का संगठन—भारत में नगर निगम में ये सत्ताएँ या घटक सम्मिलित हैं—1 परिषद, 2 मेयर या महापौर, 3 समितियाँ एवं 4 नगर आयुक्त।

1 परिषद (Council)—यद्यपि परिषद नगर निगम का एक अंग होता है तथापि इसकी शक्तियाँ इतनी व्यापक होती हैं कि प्रायः इसको ही नगर निगम के नाम से जाना जाता है। परिषद एक प्रकार से स्थानीय विधानसभा है जो स्थानीय शासन के सम्बन्ध में जनता की इच्छा को प्रकट करती है। परिषद में नगर के जो चुने हुए सदस्य होते हैं उन्हें पार्षद कहा जाता है। वे वयस्क मताधिकार के आधार पर तीन से पाँच वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। चुनाव के लिए *नगर को उतने ही क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है जितने स्थान परिषद में होते हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि परिषद का कार्यकाल तीन वर्ष का बहुत छोटा होता है अतः उचित यही है कि परिषद का कार्यकाल पाँच वर्ष का हो।* परिषद में निर्वाचित सदस्य तो होते ही हैं उनके *अतिरिक्त कुछ सदस्य निर्वाचित पार्षदों द्वारा नगर के वयोवृद्ध अनुभवी* व्यक्तियों, महिलाओं और अन्य वर्गों में से चयनित किए जाते हैं जिन्हें एल्डरमैन कहा जाता है। पार्षदों द्वारा इन नगर वृद्धों का चयन लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण से होता है। इस प्रकार नगर निगम की परिषद में दो प्रकार के सदस्य होते हैं—(क) वे पार्षद जो सीधे जनता द्वारा विभिन्न नगरीय क्षेत्रों से चुने जाते हैं एवं (ख) वे सदस्य जो निर्वाचित पार्षदों द्वारा नगरवृद्ध के नाम से परिषद में लिए जाते हैं। प्रत्येक निगम में दोनों प्रकार के सदस्यों का होना अनिवार्य नहीं है। मुम्बई जैसे कुछ निगमों की परिषदों में केवल निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होते हैं किन्तु अन्य निगमों में नगरवृद्धों को भी परिषद में स्थान प्राप्त होता है। नगरवृद्धों को वे सभी अधिकार प्राप्त होते हैं जो निर्वाचित पार्षदों को होते हैं। निगम की परिषदों में पिछड़े वर्ग, अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा महिलाओं के लिए अब 33 प्रतिशत स्थान आरक्षित हैं।

देश के नगर *निगमों के परिषदों के आकार में कोई एकरूपता नहीं है। परिषद का आकार यदि छोटा होता है तो सुसंगठित और व्यवहार कुशल होती है। आकार बड़ा होने से प्रभावकारी ढंग से काम नहीं हो पाता है और पार्षदों की कर्तव्यपरायणता प्रायः अपेक्षित स्तर की नहीं रह पाती। नगर परिषद के आकार के बारे में कहा जाता है कि स्थानीय क्षेत्र* के अनुरूप चालीस से सौ सदस्यों वाली परिषद उपयुक्त होती है।

2 महापौर या मेयर (Mayor)—नगर निगम में कार्यपालिका शक्तियाँ महापौर अथवा मेयर को दी जाती हैं जो नगर का प्रथम नागरिक होता है। मेयर या महापौर नगर की प्रतिष्ठा और गरिमा का प्रतिनिधित्व करता है। मेयर का चुनाव निगम के निर्वाचित पार्षदों और नगरवृद्धों द्वारा उन्हीं में से एक वर्ष के लिए किया जाता है। यदि निगम के सदस्य चाहें तो अगले वर्ष उसी व्यक्ति को पुनः मेयर चुन सकते हैं। मेयर के चुनाव की स्थिति सभी निगमों में एक जैसी नहीं है।

मेयर परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करता है। उसका परिषद के कार्यालय पर प्रशासनिक नियन्त्रण होता है। दिल्ली *आदि कुछ नगरों में मेयर को* निगम के सभी अभिलेखों को देखने का अधिकार है। मेयर नगर के नागरिक प्रशासन के बारे में *किसी भी नगरपाल* से जानकारी प्राप्त कर सकता है। कुछ संविधियों के अनुसार मेयर को अधिकार दिया गया है कि संकटकाल *में वह किसी काम को करने या रोकने का आदेश दे सकता है।* आवश्यकता पड़ने पर मेयर परिषद की विशेष बैठकें *आमन्त्रित कर सकता है।* यदि एक निश्चित संख्या में सदस्य माँग करें तो मेयर को विशेष बैठक बुलानी पड़ती है। चेन्नई, *बंगलौर, त्रिवेन्द्रम तथा* कालीकट के नगर निगमों में यह व्यवस्था है कि निगम और राज्य

सरकार के साथ सभी पत्र-व्यवहार मेयर के माध्यम से होगा, लेकिन मेयर किसी पत्र को रोक कर नहीं रख सकता। मेयर पत्र-व्यवहार के समय अपना टिप्पणी लिख सकता है। मध्यप्रदेश में यद्यपि मेयर को आपातकालीन मामलों में क्रियान्वयन करने या क्रियान्वयन को रोकने के लिए निर्देश देने का अधिकार है लेकिन यह निर्देश उसे निगम परिषद की अगली बैठक में कारण सहित रखने होते हैं जिसमें परिषद का निर्णय ही मान्य समझा जाता है। उत्तर प्रदेश में मेयर को वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति सम्बन्धी शक्तियाँ सौंपी गई हैं किन्तु ये सभी नियुक्तियाँ राज्य लोक सेवा आयोग के परामर्श से की जाती हैं। यद्यपि मेयर निगम का अध्यक्ष होता है और निगम में कार्यपालिका शक्तियाँ उसे सौंपी जाती हैं तथापि अपनी कुछ परिस्थितियों के कारण मेयर वास्तविक कार्यपालिका नहीं है। मेयर निगम का प्रभावी नेता न होकर औपचारिक अध्यक्ष ही रह जाता है।

निगमों में मेयर या महापौर के नीचे उपमहापौर (Deputy Mayor) होता है। उसके लिए परिषद का सदस्य होना अनिवार्य है और उसका निर्वाचन पांच वर्ष के लिए किया जाता है। उपमहापौर, महापौर के कार्यों और उत्तरदायित्वों की पूर्ति में सहायता करता है।

3 समितियाँ (Committees)—जिन कारणों से केन्द्रीय एवं राज्य व्यवस्थापिका को विभिन्न कार्यों का देखभाल के लिए अपने सदस्यों की समितियाँ बनानी पड़ती हैं वे कारण स्थानीय स्तर पर भी विद्यमान रहते हैं। नगर निगम परिषद की बैठकें महीने में प्रायः एक या दो बार से अधिक नहीं हो पाती, अतः निगम के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह स्वयं अपने सभी कार्य सम्पन्न करे। निगम परिषद अपने बड़े आकार के कारण अपने उत्तरदायित्वों को सफलतापूर्वक करने में प्रभावी रूप से कार्य नहीं कर पाती। ऐसी स्थिति में परिषद लोकतन्त्रीय पद्धति के अनुरूप अपनी नीतियों के सफल संचालन, क्रियान्वयन एवं पर्यवेक्षण के लिए कुछ समितियों का गठन करती है। समितियों के निर्माण से व्यक्तिगत शक्ति दुरुपयोग की सम्भावना कम हो जाती है। निगम परिषद द्वारा नियुक्त समितियाँ दो प्रकार की होती हैं—(i) सांविधिक समितियाँ (ii) गैर सांविधिक समितियाँ।

(i) सांविधिक समिति—सांविधिक समिति वह है जिसकी रचना उस संविधि द्वारा की जाती है जिसके द्वारा निगम का निर्माण होता है। सांविधिक समितियाँ प्रत्येक नगर निगम में बनाया जाना आवश्यक है क्योंकि इनका उल्लेख अधिनियम के अन्तर्गत होता है। ये समितियाँ सीधे नगर-निगम संविधि या अधिनियम से सत्ता प्राप्त करती हैं। इनके गठन, शक्तियों, कार्यों और अधिकारों की रूपरेखा अधिनियम में दी जाती है।

शक्तियों और कार्यों की व्यापकता की दृष्टि से परिषद की स्थाई समिति महत्वपूर्ण होती है। स्थाई समिति एक मार्गदर्शक समिति के रूप में कार्य करती है जिसके हाथों में कार्यकारी, पर्यवेक्षणात्मक, वित्तीय एवं कर्मचारी वर्ग से सम्बन्धित शक्तियाँ होती हैं। वास्तव में स्थाई समिति निगम की कार्यकारी समिति के रूप में कार्य करती है। इस समिति का कार्य सम्पूर्ण नगर प्रशासन पर निगाह रखना है। स्थायी समिति उन सभी शक्तियों का प्रयोग करती है जो अधिनियम द्वारा उसे सौंपे गए हैं। स्थानीय समिति परिषद और नगरपाल के मध्य की कड़ी है। यह दोनों का प्रभावकारिता को नियन्त्रित और प्रभावित करती है। यद्यपि स्थाई समिति अनेक मामलों में अपने निर्णयों के लिए परिषद की स्वीकृति लेती है, लेकिन यह स्वीकृति सामान्यतः औपचारिकता मात्र होती है।

(ii) गैर सांविधिक समिति—इन समितियों का गठन परिषद द्वारा अपने उपनियमों के अन्तर्गत किया जाता है। परिषद अपने कार्यों के सुचारू एवं सफल क्रियान्वयन के लिए इन समितियों का निर्माण करती है। ये समितियाँ भिन्न-भिन्न विषयों और कार्यों में परिषद की सहायता करती हैं। सभी नगर निगमों में समितियों का गठन किया गया है, लेकिन उनकी संख्या, संगठन और कार्यों में एकरूपता नहीं है। पृथक्-पृथक् निगमों में उनका स्वरूप भी पृथक्-पृथक् ही देखने को मिलता है। इन प्रमुख समितियों में 1. वित्तीय एवं स्थापना समिति, 2. शिक्षा समिति, 3 स्वास्थ्य एवं बस्ती विकास समिति, 4 जलपूर्ति एवं सफाई समिति एवं 5 निर्माण एवं कस्बा समिति को शामिल किया जाता है।

सांविधिक एवं स्थाई समितियों के अतिरिक्त निगमों में सामान्य नियमों और प्रक्रियाओं के अन्तर्गत विशिष्ट समितियाँ तथा अस्थाई समितियों का भी गठन किया जाता है। अस्थाई समितियाँ उद्देश्य-विशेष के लिए बनाई जाती हैं और निगम द्वारा प्रदत्त कार्य का सम्पादन करती हैं। कुछ निगम अपने कार्य को सरल और सुगम बनाने के लिए क्षेत्रीय समितियों का गठन करते हैं। कतिपय समितियों में क्षेत्रीय समितियों का गठन किया जाता है। कुछ नगर निगमों ने अपने सम्पूर्ण क्षेत्र को अनेक छोटे-छोटे उपक्षेत्रों में विभाजित कर दिया है ताकि जनता को सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध कराई जा सकें। प्रत्येक क्षेत्र के स्थानीय शासन के लिए एक क्षेत्रीय समिति गठित की जाती है जो उस क्षेत्र के निवासियों की समस्याओं का समाधान करती है।

4 नगर आयुक्त (Municipal Commissioner)—नगर आयुक्त अथवा नगरपाल निगम का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। वास्तव में उसे निगम का प्रमुख प्रशासनिक कार्यकर्ता समझना चाहिए। नगर आयुक्त उन कर्तव्यों

का निर्वाह करता है जो अधिनियम द्वारा उसे सौंपे गए हों। संकटकाल में वह कोई भी ऐसा काम कर सकता है जिसे वह आवश्यक समझता हो। नगर परिषद की नीतियों को और संविधि के प्रावधानों को कार्यान्वित करना नगर आयुक्त का उत्तरदायित्व है।

नगर आयुक्त की नियुक्ति राज्य लोक सेवा आयोग के परामर्श से राज्य सरकार द्वारा की जाती है। वह प्रायः उच्च स्तर पर पेशेवर प्रशासक होता है जिसे राज्य सरकार नगर का प्रशासन करने के लिए नियुक्त करती है। वह अपना वेतन निगम से प्राप्त करता है। नगर आयुक्त का कार्यकाल भिन्न-भिन्न नगर निगमों में भिन्न-भिन्न है। चेन्नई और मुम्बई नगर निगमों में उसका कार्यकाल तीन वर्ष का है तो कोलकाता और दिल्ली नगर निगमों में पाँच वर्ष का है। राज्य सरकार को अधिकार है कि वह उसके कार्यकाल में वृद्धि कर दे। निगम के पार्षदों की शिकायत अथवा उसके अयोग्य सिद्ध होने पर राज्य सरकार नगर आयुक्त को अपने पद से हटा सकती है। यद्यपि गैर-सरकारी व्यक्ति को नगर आयुक्त पद पर नियुक्त करने पर कोई कानूनी प्रतिबंध नहीं है तथापि सरकार प्रायः सेवारत लोक सेवक को ही इस पद पर नियुक्त करती आई है। नगर आयुक्त की नियुक्ति की अवधि का प्रायः संविधि या अधिनियम में उल्लेख रहता है। नगर आयुक्त की शक्तियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) वे शक्तियाँ जो उसे नगर निगम अधिनियम द्वारा प्राप्त होती हैं एवं

(ii) वे शक्तियाँ जो उसे नगर निगम परिषद अथवा उसकी स्थाई समिति द्वारा प्रदान की जाती हैं।

कार्य—नगर आयुक्त को विविध प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। प्रशासनिक, वित्तीय और निर्वाचन सम्बन्धी क्षेत्रों में उसके विभिन्न उत्तरदायित्व है। निगम के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में उसे निगम परिषद तथा उसकी समितियों की बैठकों में बोलने का अधिकार है, किन्तु वह मतदान नहीं कर सकता। निगम के सभी कर्मचारी नगर आयुक्त के नियन्त्रण और पर्यवेक्षण में कार्य करते हैं, तथापि नियुक्ति, पदोन्नति एवं अनुशासन के मामलों में परिषद तथा उसकी समिति भी नगर आयुक्त की शक्ति में भागीदार होती है। यह स्थिति निगम कर्मचारियों के सम्बन्ध में नगर आयुक्त की स्थिति को कमजोर करने वाली है। नगर परिषद कर्मचारियों पर [illegible] प्रकार का दोहरा नियन्त्रण अनुशासन को क्षीण करता है। नगर आयुक्त निगम और स्थाई समितियों के निर्णय के लिए नीति-प्रारूप तैयार करता है। कुछ नगर निगम अधिनियमों में नगर आयुक्त को अन्तिम अधिकार दिए गए हैं।

नगर आयुक्त को पर्याप्त वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। यद्यपि विधि के अनुसार यद्यपि निगम का बजट पहले स्थाई समिति द्वारा स्वीकृत एवं बाद में परिषद द्वारा पारित किया जाता है, तथापि बजट तैयार करने का उत्तरदायित्व नगर आयुक्त का ही है। व्यवहार में नये करों के प्रस्तावों के सम्बन्ध में अभिक्रम वही करता है। परिषद द्वारा बजट पारित कर देने के पश्चात् नगर आयुक्त स्थाई समिति के पास यह अधिकार प्राप्त करने के लिए जा सकता है कि वह बजट अनुदानों के अन्तर्गत किसी राशि को एक छोटी मद में से दूसरी में अन्तरित कर सके। कुछ छोटे कर्मचारियों की नियुक्ति का भी उसे अधिकार है। वह निगम के सभी दस्तावेजों और कागजातों का प्रभारी अधिकारी होता है। आपातकाल में नगर आयुक्त को अधिनियम की विशिष्ट और असामान्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

नगर आयुक्त नगर परिषद के प्रति उत्तरदायी होता है। वह परिषद की बैठकों में भाग लेता है और पार्षदों के प्रश्नों के जवाब देता है। वह परिषद के प्रस्तावों का क्रियान्वयन करता है। नगरीय सेवाओं के अधिनियमों, नियमों, उपनियमों के प्रावधानों के निष्पादन का उत्तरदायित्व नगर आयुक्त का है। परिषद और नगर आयुक्त के मध्य सम्बन्ध कुछ इस प्रकार के हैं जैसे कि एक प्रमुख तथा उसके अभिकर्ता के बीच हुआ करते हैं। परिषद का उस पर नियन्त्रण रहता है। परिषद यह निर्धारित करती है कि नगर आयुक्त अपनी शक्तियों का प्रयोग किस प्रकार करेगा। वह प्रस्ताव पारित करके राज्य सरकार से उसे वापस बुलाने की माँग भी कर सकती है।

नगर निगम के कार्य (*Functions*)—स्थानीय नागरिकों की समस्याओं को दूर करने और उन्हें अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए नगर निगम को अनेक कार्य करने होते हैं—

अनिवार्य कार्य (Obligatory Functions)

1. पीने योग्य जल की व्यवस्था और उसका वितरण करना।
2. नालियाँ एवं ऐसी ही अन्य सार्वजनिक सुविधाओं का निर्माण तथा सफाई व्यवस्था करना।
3. बिजली का वितरण करना।
4. सड़क परिवहन सेवाओं की व्यवस्था करना।
5. कीचड़ तथा मल को इकट्ठा करना और हटाना।
6. गन्दी बस्तियों की सफाई करना।
7. श्मशान भूमि का नियमन एवं देखभाल करना।

8 जन्म तथा मृत्यु को पंजीकृत करना।
9 बीमारियों की रोकथाम के लिए टीका लगवाना।
10 खतरनाक बीमारियों को रोकना।
11. अस्पताल, डिस्पेन्सरी तथा अनाथों के लिए कल्याण केन्द्र खोलना।
12. अग्नि-शमन सेवा की व्यवस्था करना।
13 खतरनाक एवं घातक व्यापारों पर नियन्त्रण रखना।
14 खतरनाक भवनों को हटा देना।
15 सार्वजनिक सड़कें, गलियाँ एवं पुलिया बनवाना।
16 खाद्य पदार्थों तथा भोजनालयों का निरीक्षण तथा नियन्त्रण करना।
17 सार्वजनिक गलियों में प्रकाश एवं सफाई का प्रबन्ध करना।
18 गलियों एवं पुलियाओं पर से बेकार चीजों को हटाना।
19 गलियों एवं मकानों के नम्बर लगाना तथा गलियों एवं रास्तों के नाम रखना।
20 प्राथमिक शिक्षा के लिए स्कूल खोलना।
21 बिजली वितरण, सड़क यातायात एवं जल-वितरण सेवाओं के लिए उपक्रमों की रचना, स्थापना एवं प्रबन्ध करना।
22. नगरपालिका कार्यालय एवं निगम की अन्य सम्पत्ति की रचना एवं मरम्मत।
23 गृह कर एकत्रित करना।
24 सार्वजनिक शौचालयों की व्यवस्था करना।
25 सड़कों एवं फुटपाथों से अतिक्रमण हटाना।

ऐच्छिक कार्य (Discretionary Functions)

1. अन्य साधनों द्वारा प्राथमिक शिक्षा को बढ़ावा देना।
2. पुस्तकालयों, अजायबघरों, कला-प्रदर्शनियों आदि का आयोजन करना।
3 सार्वजनिक पार्क, बगीचे, अखाड़े तथा मनोरंजन-गृह बनाना।
4 घरों का निर्माण करना।
5 भवनों एवं भूमि का सर्वेक्षण करना।
6 शादियों का पंजीकरण करना।
7 अनाथ-गृह, गरीब-गृह, बालक-गृह, वृद्ध गृह, रैन बसेरा आदि का प्रबन्ध करना।
8 आवारा पशुओं को पकड़ना।

नगर निगम की आय के साधन (Income Resources)—नगर निगम की आय के प्रमुख साधनों में राज्य सरकारों द्वारा प्राप्त अनुदान, व्यापारिक प्रतिष्ठानों से प्राप्त आय, फीस द्वारा प्राप्त आय, करों द्वारा प्राप्त आय तथा ऋण हैं।

नगर निगम पर नियन्त्रण—केन्द्र शासित प्रदेशों वाले नगर निगमों पर केन्द्र सरकार तथा राज्यों में विद्यमान नगर निगमों पर राज्य सरकारों का नियन्त्रण रहता है। निगमों को उन्हीं कार्यों को सम्पादित करने की स्वतन्त्रता होती है जिनके लिए केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा निर्मित अधिनियमों के अन्तर्गत उन्हें अधिकृत किया गया है। नगर निगमों के कार्य-कलापों को न्यायपालिका में चुनौती दी जा सकती है।

74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1993

नगरीय स्थानीय स्वशासन के इतिहास में उस समय एक महत्वपूर्ण पृष्ठ जुड़ गया, जबकि भारतीय संसद ने 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 पारित किया। इस संविधान संशोधन द्वारा संविधान में 12वीं अनुसूची जोड़कर शहरी या नगरीय क्षेत्र की स्वशासन की संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। इस संविधान संशोधन के मुख्य प्रावधानों में—सभी संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष निर्धारित किये जाने, मुख्य निर्वाचन अधिकारी के पर्यवेक्षण तथा निर्देशन में प्रति 5 वर्ष बाद इन संस्थाओं के निर्वाचन सम्पन्न कराये जाने, महिलाओं, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए इन संस्थाओं में स्थानों को आरक्षित किये जाने तथा जनसंख्या के अनुपात में तीन प्रकार की नगरपालिकाओं के गठन करने जैसे पहलू गिनाये जा सकते हैं।[1] निस्सन्देह, नगरीय क्षेत्र की स्वशासन की संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा

1. डॉ. आर. एस. त्रिवेदी एवं डॉ. एम. पी. राय, भारतीय सरकार एवं राजनीति, पृ. 224

प्रदान किया जाना महत्वपूर्ण घटना है। इससे जहाँ इन संस्थाओं को एक नई शक्ति प्राप्त होगी, वहीं दूसरी ओर सारे देश में एकरूपता की स्थिति बनेगी। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा महिलाओं की इन संस्थाओं में प्रभावशाली साझेदारी होगी। इस संविधान संशोधन के पारित होने के बाद अनेक राज्यों ने इसका अनुसरण किया है। इससे देश में एकरूपता की स्थिति बनी है।

नगरपालिका

(Municipality)

भारत के नगरों में नगरपालिकाओं का उदय किसी न किसी रूप में ब्रिटिश शासनकाल के दौरान में हो चुका था। देश में ऐसा कोई राज्य नहीं है जहाँ ऐसा निकाय न हो। राजस्थान के मुख्य शहरों में नगरपालिका को नगर परिषद कहा जाता है जबकि साधारणतः छोटे शहरों अथवा कस्बों में इन्हें नगरपालिकाएँ या म्युनिसिपल बोर्ड कहा जाता है। नगर परिषद और नगरपालिका के संगठन, कार्यों तथा अधिकारों में कोई आधारभूत अन्तर नहीं पाया जाता है। नगरीय स्थानीय स्वायत्त शासन की इन संस्थाओं का नामकरण नगर की जनसंख्या पर निर्भर करता है।

नगरपालिकाओं की स्थापना—नगरपालिकाओं का गठन ऐसे नगरों में किया जाता है जहाँ शहर में रहने वाले लोगों के लिए जन-सुविधाओं की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक है फिर भी नगरपालिका के गठन के लिए जनसंख्या की एक निश्चित सीमा का होना आवश्यक है। कुछ राज्यों ने नगरपालिका की स्थापना के लिये जनसंख्या एवं आय दोनों ही कसौटियाँ निर्धारित की हैं। आय की शर्त को अनुचित नहीं कहा जा सकता। नगरवासियों से अपेक्षा है कि वे नगरपालिका की स्थापना तथा रख-रखाव के लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था करें। नगरपालिका की स्थापना तभी की जानी चाहिए जब वहाँ की जनता उसके लिए समुचित साधन जुटाने के योग्य और इच्छुक हो। आय की कसौटी तब महत्वपूर्ण समस्या बन जाती है जबकि कम जनसंख्या वाले स्थान में नगरपालिका बना दी जाती है। ऐसी स्थिति में नगरपालिका की आय के स्रोतों का बड़ा भाग राज्य सरकार से अनुदान के रूप में प्राप्त होता है।

राज्य सरकार को यह अधिकार होता है कि वह नगरपालिका के अधिकार क्षेत्र को परिभाषित कर सके। कानून द्वारा राज्य सरकार को यह शक्ति है कि वह नगरपालिकाओं को अधिनियम के उन उपबन्धों से मुक्ति प्रदान कर दे जो उसके लिए अनावश्यक हैं। कुछ नगरपालिकाएँ अवर्गीकृत भी हैं। सरकार कभी भी आदेश निकाल कर उन्हें किसी श्रेणी की नगरपालिका घोषित कर सकती है। किसी भी क्षेत्र में नगरपालिका बनाने या किसी क्षेत्र में नगरपालिका समाप्त कर देने का अधिकार राज्य सरकार को होता है। राजस्थान प्रान्त में राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 की धारा 5 और 6 के प्रावधानों के अधीन रहते हुए राज्य सरकार समय-समय पर गजट में विज्ञप्ति निकाल कर—

(i) किसी भी स्थानीय क्षेत्र को नगरपालिका घोषित कर सकती है।
(ii) किसी भी नगरपालिका की सीमाएँ निर्धारित कर सकती है।
(iii) किसी भी नगरपालिका में कोई भी क्षेत्र शामिल कर सकती है या उससे पूर्णतः अलग कर सकती है।
(iv) किसी भी नगरपालिका की सीमाओं में अन्य प्रकार से परिवर्तन कर सकती है।
(v) यह घोषित कर सकती है कि किसी भी नियत तिथि से किसी स्थानीय क्षेत्र में नगरपालिका नहीं रहेगी।

नगरपालिकाओं का संगठन (Organisation)—नगरपालिका जनता की सभा है जो नगरपालिका अधिनियम द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर नगर शासन के लिए नियमों-उपनियमों का निर्माण करती है। प्रत्येक नगरपालिका में एक परिषद होती है जिसमें वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित सदस्य (पार्षद) सम्मिलित होते हैं। परिषद वह सर्वोच्च सत्ता है जो उन सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी है जो नगरपालिका को सौंपे गए हैं। देश के विभिन्न राज्यों में नगरपालिकाओं के संगठन, कार्यकाल आदि में भिन्नता मिलती है तथापि सामान्य रूपरेखा मिलती-जुलती है।

1. *नगरपालिकाओं का निर्वाचन*—राजस्थान में नगर परिषद या नगरपालिका मण्डल के सदस्यों की संख्या का निश्चय सरकार द्वारा किया जाता है। चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रति तीसरे वर्ष किए जाते हैं। चुनाव गुप्त मतदान द्वारा होते हैं। चुनाव के लिए कस्बे या नगर को विभिन्न क्षेत्रों अथवा वार्डों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वार्ड से एक प्रतिनिधि चुना जाता है। सीटों तथा वार्डों के निर्धारण के सम्बन्ध में राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर विज्ञप्तियाँ जारी होती रहती हैं। नगर परिषद या नगरपालिका-मण्डल में स्त्रियों और पिछड़ी जातियों अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। जिस क्षेत्र में अनुसूचित जातियों या जनजातियों का बहुमत होता है उस क्षेत्र को प्रायः इन जातियों के लिए सुरक्षित कर दिया जाता है अर्थात् ऐसे क्षेत्रों में केवल इन जातियों के प्रतिनिधि ही चुनाव लड़ सकते हैं। यदि कोई स्त्री चुनाव जीत कर नहीं आई हो तो स्त्रियों के प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से नगरपालिका के निर्वाचित सदस्य अपने बहुमत से दो स्त्री सदस्यों को मनोनीत करते हैं।

2. सदस्यों के लिए योग्यताएँ—राजस्थान में नगरपालिका के सदस्य होने के लिए निम्नांकित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(i) वह व्यक्ति उस पालिका के क्षेत्र में मतदाता हो।

(ii) वह फौजदारी अदालतों में एक वर्ष से अधिक सजा पाया हुआ न हो। (ऐसा व्यक्ति तीन वर्ष समाप्त होने के बाद चुनाव लड़ सकता है।)

(iii) वह व्यक्ति राज्य या स्थानीय संस्था की नौकरी में न हो अथवा कदाचार के आरोप में निकाला न गया हो। (पदच्युत व्यक्ति तीन वर्ष बाद चुनाव लड़ सकता है।)

(iv) वह दिवालिया अथवा पागल न हो।

(v) वह नगरपालिका की ओर से या उसके विरुद्ध किसी मामले में वकील न हो अथवा नगरपालिका से किसी भी रूप में ठेके या व्यापार आदि से सम्बन्धित न हो।

सदस्य चुन लिए जाने के बाद किसी प्रकार की अयोग्यताएँ पाई जाएँ तो निर्वाचित सदस्य को अपना पद त्याग करना पड़ता है।

3. पदावधि—नगरपालिकाओं का कार्यकाल 5 वर्ष का है। यद्यपि सरकार को अधिकार है कि वह नगरपालिका को अवधि से पूर्व ही भंग करके प्रशासक नियुक्त कर दे।

4. एक वार्ड से अधिक के लिए निर्वाचन में खड़े होने पर प्रतिबन्ध—राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 की धारा 25 में व्यवस्था है कि कोई भी व्यक्ति एक से अधिक वार्डों से चुनाव नहीं लड़ सकता। यदि उसने अपना नामांकन पत्र एक से अधिक वार्डों के लिए प्रस्तुत किया है तो उसे निर्वाचन के लिए निश्चित तिथि से पूर्व सिवाय एक वार्ड के अन्य समस्त वार्डों से अपना नामांकन पत्र वापस लेना आवश्यक होता है।

5. पद की शपथ और त्यागपत्र—अधिनियम के अनुसार नगरपालिका के प्रत्येक सदस्य को अपने कर्तव्यों का पालन करने से पूर्व जिलाधीश अथवा सरकार द्वारा मनोनीत किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष निर्धारित प्रपत्र में शपथ लेनी होती है और उस पर अपने हस्ताक्षर करने होते हैं। यह व्यवस्था भी है कि कोई सदस्य नगरपालिका की प्रथम बैठक की तिथि से तीन मास की अवधि में शपथ ग्रहण नहीं कर पाता तो उसका स्थान रिक्त समझा जाएगा। अधिनियम के अनुसार, कोई भी सदस्य लिखित रूप में अपनी सदस्यता से त्याग-पत्र का नोटिस अध्यक्ष को दे सकेगा और ऐसा त्याग-पत्र नोटिस के 15 दिन बाद प्रभावशाली होगा। यह आवश्यक है कि नोटिस प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट द्वारा उचित रूप में प्रमाणीकृत हो। राजस्थान उच्च न्यायालय के निर्णयानुसार ऐसा त्याग-पत्र उसके प्रभावशाली होने से पूर्व वापस लिया जा सकता है। अधिनियम में दिए गए कुछ प्रावधानों के अधीन रहते हुए राज्य सरकार समुचित आधारों पर किसी सदस्य को हटा भी सकती है।

6. पदाधिकारी—अधिनियम की धारा 65 में व्यवस्था है कि प्रत्येक नगरपालिका मण्डल के लिए एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष होगा जिनका चुनाव नियम के अनुसार, मण्डल के सदस्यों द्वारा अपने स्वयं में से ही किया जाएगा। इसी प्रकार प्रत्येक नगर परिषद के लिए एक सभापति और एक उप-सभापति होगा जिनका चुनाव नियम के अनुसार, परिषद के पार्षदों द्वारा स्वयं में से ही किया जाएगा। ये पदाधिकारी नगरपालिका के कार्यकाल और अपनी सदस्यता-पर्यन्त अपने पद पर काम करते हैं। दो-तिहाई बहुमत से अविश्वास प्रस्ताव द्वारा सदस्य उन्हें हटा सकते हैं। वे स्वयं भी त्याग-पत्र दे सकते हैं और सरकार अधिनियम के प्रावधानों के अनुरूप अपने कार्य की लापरवाही के लिए उन्हें हटा सकती है। बड़ी नगरपालिकाओं में एक कर्मचारी ऑफिसर अथवा सचिव भी होता है। इसकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। नगरपालिका की आवश्यकतानुसार अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी, इन्जीनियर, ओवरसियर, स्वास्थ्य अधिकारी, सैनेटरी इन्स्पेक्टर आदि होते हैं। इनकी नियुक्ति बोर्ड करता है।

7. समितियाँ—कार्य की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक नगरपालिका में विभिन्न समितियों का निर्माण किया जाता है। प्रत्येक समिति को अलग-अलग कार्य सौंपा जाता है। सभी समितियाँ बोर्ड अथवा कौंसिल के नियन्त्रण में और उसके आदेशानुसार अपना कार्य करती हैं। बोर्ड अथवा कौंसिल को यह पूरा अधिकार होता है कि वह उनके निर्णयों में परिवर्तन या संशोधन कर दे।

अधिनियम की धारा 73 में व्यवस्था है कि प्रत्येक कौंसिल अर्थात् नगर परिषद की कार्यकारिणी समिति होगी जिसमें ये सदस्य सम्मिलित होंगे—(i) परिषद का सभापति, (ii) परिषद का उप-सभापति, (iii) परिषद द्वारा निर्वाचित परिषद के 7 सदस्य (पार्षद) तथा परिषद द्वारा निर्मित समितियों के अध्यक्ष। परिषद का नगरपालिका आयुक्त कार्यकारिणी समिति का पदेन सचिव होता है।

कार्यकारिणी समिति के अतिरिक्त प्रत्येक परिषद धारा 73(3) के अनुसार निम्नलिखित समितियों का निर्माण भी करती है—(i) वित्त समिति, (ii) स्वास्थ्य और सफाई समिति, (iii) भवन तथा निर्माण समिति, (iv) नियम तथा उप-नियम

समिति, (v) सार्वजनिक वाहन समिति। कार्यकारिणी समिति और अन्य समितियाँ ऐसी शक्तियों, कर्तव्यों और कृत्यों को प्रयोग में ला सकेंगी तथा उनका पालन और निष्पादन कर सकेंगी जो परिषद द्वारा उन्हें प्रदान किए गये हैं। उल्लेखनीय है कि कार्यकारिणी समिति का गठन केवल शहरी नगरपालिकाओं अर्थात् नगर परिषदों में ही अनिवार्य है, नगरपालिका मण्डलों में नहीं। उपर्युक्त पाँचों समितियों का शहरी नगरपालिकाओं अर्थात् नगर परिषदों में होना अनिवार्य है। साथ ही अन्य समितियाँ नगर परिषदों की सुविधानुसार गठित की जा सकती हैं।

8. नगरपालिका की बैठकें—अधिनियम की धारा 70 के अनुसार, कार्य निपटाने के लिए प्रत्येक माह में नगरपालिका की कम से कम एक साधारण बैठक होनी चाहिए। अध्यक्ष का दायित्व है कि वह इन सामान्य बैठकों के लिए तिथियाँ नियत करे। अध्यक्ष जब भी उचित समझे, एक विशेष सामान्य बैठक आमन्त्रित कर सकता है। ऐसी विशेष सामान्य बैठक अध्यक्ष द्वारा सदस्यों की कुल संख्या के कम से कम एक-तिहाई सदस्यों की लिखित प्रार्थना पर की जाती है। प्रत्येक बैठक की अध्यक्षता, अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में, उस समय उपस्थित सदस्यों में से किसी एक ऐसे सदस्य द्वारा की जाती है जिसे बैठक में उस अवसर पर अध्यक्ष चुन लिया जाए। समस्त प्रश्नों का निर्णय उपस्थित या मत देने वाले सदस्यों (अध्यक्ष सहित) के बहुमत से किया जाता है। बराबर मत होने की स्थिति में अध्यक्ष को द्वितीय मत देने का अधिकार होता है। बैठक की गणपूर्ति के लिए सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या के एक-तिहाई सदस्यों का उपस्थित होना आवश्यक है।

नगरपालिका की शक्तियाँ (Powers)—सभी राज्यों में नगरपालिकाओं की शक्तियाँ और अधिकार एक जैसे हैं। राजस्थान राज्य में नगरपालिकाओं की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

1. नियम बनाने की शक्ति—प्रत्येक नगरपालिका को ऐसे नियम बनाने का अधिकार है जो राजस्थान नगरपालिका अधिनियम अथवा राज्य सरकार द्वारा निर्धारित धारा 297 के अन्तर्गत बनाए गए नियमों के विरुद्ध नहीं होंगे। नगरपालिका को कार्य संचालन के बारे में तथा अपनी शक्तियों या कर्तव्यों को सौंपने के सम्बन्ध में, समितियों की नियुक्तियों एवं निर्माण के सम्बन्ध में भी अनेक अधिकार होते हैं। नगरपालिका सामान्यतः अपने पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए नगरपालिका के प्रशासन से सम्बन्धित समस्त विषयों पर नियम बना सकती है। किसी पदाधिकारी अथवा कर्मचारी, जिससे प्रतिभूति (सिक्योरिटी) लेना उचित समझा जाए, प्रतिभूति की राशि तथा आकृति का निश्चय भी नगरपालिका द्वारा किया जाता है। किसी पदाधिकारी अथवा कर्मचारी को नियुक्त करने, दण्ड देने या विमुक्त करने के तरीकों और शर्तों का निश्चय किया जाता है। ये सभी शक्तियाँ नगरपालिका (चाहे म्युनिसिपल बोर्ड हो या म्युनिसिपल कौंसिल हो) को अधिनियम की धारा 88 के अन्तर्गत प्राप्त हैं, लेकिन इस धारा के अन्तर्गत किसी नगरपालिका द्वारा बनाया गया नियम तब तक प्रभाव में नहीं आएगा जब तक कि राज्य सरकार द्वारा अनुमोदित न हो जाए।

प्रत्येक नगरपालिका को समय-समय पर ऐसी उपविधियाँ बनाने का अधिकार है जो राजस्थान नगरपालिका अधिनियम के प्रतिकूल नहीं हों। अधिनियम की धारा 90 में उन विषयों की व्यवस्था है जिनके सम्बन्ध में नगरपालिका को सामान्यतः उपविधियाँ बनाने की शक्ति प्राप्त है, परन्तु नगरपालिका द्वारा बनाई गई कोई भी उपविधि तब तक प्रभावशील नहीं होगी जब तक कि वह राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत नहीं कर दी जाए। राजस्थान नगरपालिका अधिनियम, 1959 की धारा 91 में यह व्यवस्था कर दी गई है कि उपर्युक्त नियम और उपविधियाँ मुद्रित होंगे तथा सर्वसाधारण के निरीक्षण के लिए नगरपालिका कार्यालय में खुले रखे जाएँगे और उनकी मुद्रित प्रतियाँ लागत मूल्य पर विक्रय के लिए रखी जाएँगी।

2. सम्पत्ति को अवाप्त और धारण करने की शक्ति—अधिनियम की धारा 92 के अनुसार प्रत्येक नगरपालिका चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति को धारण कर सकती है, फिर चाहे वह नगरपालिका की सीमाओं के अन्दर हो या बाहर।

नगरपालिका को प्राप्त अथवा नगरपालिका के द्वारा निर्मित की गई समस्त धनराशियाँ नगरपालिका कोष का अंग होंगी अर्थात् राजस्थान नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत दिए गए अथवा लगाए गए समस्त कर, मार्ग कर तथा अन्य कर, जुर्माने, शुल्क, नगरपालिका द्वारा बेची गई भूमि या अन्य सम्पत्ति से प्राप्त रकमें तथा उससे प्राप्त होने वाला सम्पूर्ण किराया आदि नगरपालिका निधि का अंग होती हैं परन्तु शर्त यह है कि कोई भी बात राज्य सरकार द्वारा तय की गई किसी योजना द्वारा स्वीकृत या आरोपित किसी दायित्व पर किसी प्रकार से प्रभाव न डाले। नगरपालिका अपनी निधि तथा सम्पत्ति का प्रयोग राज्य सरकार की पूर्व स्वीकृति से ऐसे काम में ला सकती है जो सार्वजनिक हित में हो, तथापि इस सम्बन्ध में कुछ शर्तें धारा 94 में निर्धारित की गई हैं। धारा 96 के अन्तर्गत नगरपालिका को अतिरिक्त कोषों को जमा करने अथवा उनका विनियोग करने की शक्ति दी गई है और धारा 97 के अनुसार अधिनियम के प्रावधानों के अधीन, नगरपालिका को रकम उधार लेने की शक्ति भी प्राप्त है।

नगरपालिकाओं के कार्य (Functions)

(क) प्राथमिक एवं अनिवार्य कार्य—अधिनियम की धारा 98 के अनुसार प्राथमिक कार्य निम्नानुसार हैं—

1. सार्वजनिक स्थानों और भवनों में प्रकाश की व्यवस्था करना, पानी तथा सफाई का प्रबन्ध करना तथा गन्दगी हटाना।
2. सार्वजनिक मार्गों और स्थानों पर जल छिड़कना।
3. हानिकारक वनस्पति को हटाना और सम्पूर्ण सार्वजनिक बाधाओं को कम करना।
4. आग बुझाना और आग से नागरिकों को जान-माल की रक्षा करना।
5. उद्वेगकारी अथवा खतरनाक व्यापारों या वृत्तियों का नियमन करना।
6. सार्वजनिक गलियों, बाजारों, नालियों, स्नान-घर, बूचड़खानों, तालाबों, कुँओं, कपड़े धोने के स्थान आदि का निर्माण और उनकी व्यवस्था करना एवं साफ सफाई करना।
7. सार्वजनिक शौचालयों और मूत्रालयों का प्रबन्ध करना।
8. सार्वजनिक मार्गों अथवा स्थानों और ऐसे स्थानों से जो निजी सम्पत्ति नहीं हैं जो जनता के उपयोग के लिए मुक्त है, रुकावटों और आगे निकले हुए भागों को हटाना।
9. खतरनाक भवनों को सुरक्षित करना या हटाना तथा अस्वास्थ्यकर बस्तियों या स्थानों का उद्धार करना।
10. मुर्दों को जलाने या गाड़ने के स्थानों का प्रबन्ध करना।
11. जन्म और मरण का हिसाब रखना।
12. अनाथों और असहायों के निवास का प्रबन्ध करना।
13. सार्वजनिक औषधालयों की स्थापना और व्यवस्था करना और जनसाधारण को चिकित्सा सम्बन्धी सहायता देना।
14. सार्वजनिक टीकों का प्रबन्ध करना।
15. पागल कुत्तों को पकड़ने और ऐसे कुत्तों द्वारा काटे गए लोगों की चिकित्सा का प्रबन्ध करना।
16. मल और कूड़े-करकट से मिश्रित खाद तैयार करने के लिए प्रबन्ध करना।
17. सार्वजनिक वाचनालयों की स्थापना आदि।

विशेष कार्य—प्रत्येक नगरपालिका के दो विशेष दायित्व निम्न होते हैं—

(क) भयंकर बीमारी की अवस्था में विशेष चिकित्सा की व्यवस्था करना और बीमारी को रोकथाम के लिए आवश्यक कदम उठाना।

(ख) अकाल या अतिवृष्टि के समय असहाय लोगों की सहायता करना।

(ख) गौण या ऐच्छिक कार्य—प्रत्येक नगरपालिका के मुख्यतया ऐच्छिक या गौण कार्य निम्नांकित हैं—

1. नई सड़कों एवं गलियों का निर्माण करना तथा सड़कों पर वृक्ष लगवाना।
2. सार्वजनिक पार्कों, बगीचों, पुस्तकालयों, अजायबघरों, धर्मशालाओं, विश्रामगृहों आदि का निर्माण एवं प्रबन्ध करना।
3. गन्दी बस्तियों को समाप्त करना तथा ऐसे कार्य करना जो जनता के स्वास्थ्य, शिक्षा या सुविधा के लिए आवश्यक हैं।
4. प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना करना और उनकी व्यवस्था करना।
5. पशु घरों की स्थापना करना।
6. मेला और प्रदर्शनियों को लगाना।
7. सार्वजनिक स्वागत समारोह, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि का प्रबन्ध करना।
8. स्थानीय कला और उद्योग-धन्धों के लिए कर्ज देना आदि।

राज्य सरकार अधिनियम की धारा 100 के अनुसार, किसी भी नगरपालिका को प्राथमिक और विशेष कर्तव्य सम्बन्धी प्रावधानों से मुक्त कर सकती है कि अमुक प्राथमिक या विशेष कार्य नगरपालिका के विवेकानुसार किया जाने वाला कार्य समझा जाएगा।

आय के साधन—नगरपालिकाओं को विभिन्न प्रकार के कर लगाने का अधिकार है, जैसे—मकान एवं जमीन पर कर, सवारी तांगे, नाव, ठेले, साइकिल आदि पर कर, सीमा में आने वाली वस्तुओं और पशुओं पर चुंगी कर, सार्वजनिक सफाई कर, सार्वजनिक रोशनी कर, सार्वजनिक जल-व्यवस्था कर, व्यापार एवं पेशा कर, आमोद-प्रमोद कर, दुकानों और व्यापारिक संस्थानों पर कर आदि, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि नगरपालिका उपर्युक्त सभी करों को

लगाए। आवास कर, सामान के आवागमन पर कर, व्यवसाय एवं पशु कर आदि करों को लगाना तो आवश्यक है, यद्यपि कुछ कर ऐसे है कि जिन्हें लगाना अनिवार्य नहीं है। उदाहरण के लिए, नगरपालिका चाहे तो मोटरों पर कर, नावों पर कर एवं आवागमन के अन्य साधनों पर कर लगा सकती है। कर लगाने से पूर्व बोर्ड को उसके सम्बन्ध में आवश्यक नियम आदि बनाने पड़ते है और सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती है। नगरपालिकाओं को कुछ खाद्य सामग्री के विक्रय का लाइसेंस देने का अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा समय-समय पर सहायता दी जाती है। नगरपालिकाएँ सरकार की मंजूरी से ऋण ले सकती हैं। लाइसेन्स फीस, जुर्माना आदि से भी नगरपालिकाओं को आय होती है।

नगरपालिकाओं पर नियन्त्रण—यद्यपि नगरपालिकाएँ बहुत कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती हैं तथापि इन पर राज्य सरकार का नियन्त्रण रहता है। सरकार इन्हें सहायता, अनुदान और ऋण आदि देती है अतः सरकार के लेखा परीक्षक इन संस्थानों के हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करते हैं। राज्य सरकार को यह अधिकार है कि नगरपालिका द्वारा अपने अधिकारों का दुरुपयोग किए जाने पर या अपना कार्य ढंग से न करने पर वह उसे भंग कर दे और उसकी जगह प्रशासक नियुक्त कर दे। राज्य सरकार नगरपालिका के पदाधिकारियों को हटा सकती है, यदि वे अपने पदों का दुरुपयोग करें अथवा नगरपालिकाओं के कार्य में गड़बड़ी करें।

अधिसूचित क्षेत्र समितियाँ एवं नगर क्षेत्र समितियाँ

(Notified Area Committees & Town Area Committees)

नगरीय स्थानीय स्वशासन में जहाँ नगरपालिकाओं की व्यवस्था नहीं हो पाती है वहाँ 'अधिसूचित क्षेत्र समिति' एवं 'नगर क्षेत्र समिति' बनाई जाती है।

अधिसूचित क्षेत्र समितियाँ

कुछ बड़े कस्बों और उन नगरों में, जहाँ नगरपालिकाएँ स्थापित नहीं की जा सकती, अधिसूचित क्षेत्र समितियाँ स्थानीय प्रबन्ध का कार्य करती हैं तथा इन समितियों का निर्माण नए विकासशील नगर के लिए किया जाता है। समिति के निर्माण की सूचना राज्य सरकार द्वारा सरकारी गजट में अधिसूचित कर दी जाती है, इसलिए इसको 'अधिसूचित क्षेत्र समिति' कहते हैं। यह समिति राज्य नगरपालिका अधिनियम द्वारा निर्धारित ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करती है, किन्तु इन पर अधिनियम के केवल वे प्रावधान ही लागू होते हैं जो गजट में अधिसूचित कर दिये जाते हैं। सरकार को अधिकार है कि वह समिति को ऐसी शक्तियाँ सौंपे जिनका प्रयोग किसी अन्य अधिनियम के अन्तर्गत न किया जा सकता हो। अधिसूचित क्षेत्र समितियों के सदस्य निर्वाचित और मनोनीत दोनों प्रकार के होते हैं। प्राय राज्य सरकार ही उसके सदस्यों तथा अध्यक्ष को मनोनीत करती है। इस प्रकार यह पूर्णतः एक मनोनीत संस्था होती है। इन समितियों के कार्य, अधिकार, आय स्रोत आदि लगभग उसी प्रकार के होते हैं जैसे नगर पालिकाओं के होते है। बिहार, गुजरात, हरियाणा, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश आदि राज्यों में अधिसूचित क्षेत्र समितियाँ विद्यमान हैं। प्रायः इनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है।

नगर-क्षेत्र समितियाँ

छोटी जनसंख्या के शहरी क्षेत्रों अर्थात् छोटे कस्बों में नगर क्षेत्र समितियाँ स्थापित की जाती हैं। भारत में असम, केरल, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, हिमाचल-प्रदेश, पश्चिम बंगाल, जम्मू-कश्मीर आदि राज्यों में नगर क्षेत्र समितियाँ हैं। नगर क्षेत्र समितियों का सबसे अधिक प्रचलन उत्तर प्रदेश में है। इन समितियों का शासन राज्य सरकार द्वारा पारित पृथक् अधिनियमों के अन्तर्गत चलता है। जिलाधीश को नगर क्षेत्र समिति के सम्बन्ध में नियन्त्रण की पर्याप्त शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इनके सदस्यों की संख्या प्रायः कम होती है। इन समितियों के कार्य-क्षेत्र और आय स्रोत नगरपालिकाओं की तुलना में सीमित होते हैं। इन्हें छोटी नगरपालिका कहा जा सकता है।

इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, पोर्ट ट्रस्ट एवं छावनी बोर्ड

(Improvement Trust, Port Trust and Cantonment Boards)

इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट

बड़े नगरों की सफाई और अन्य व्यवस्थाओं के लिए नगरपालिका के साथ साथ इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट स्थापित किए जाते हैं। इनके कार्य नगरपालिकाओं के कार्यों से कुछ भिन्न होते हैं। ये ट्रस्ट इमारतों को अव्यवस्थित रूप से बनने से रोककर, नगर का व्यवस्थित रूप से विकास करते है। नगरों में खुले स्थानों, पार्कों, चौड़ी सड़कों, बाजारों, सार्वजनिक शौचालयों आदि की व्यवस्था करना इस ट्रस्ट का कार्य है। इन ट्रस्टों में कुछ सदस्य निर्वाचित और कुछ मनोनीत होते हैं। जिन नगरों में ये ट्रस्ट नहीं होते, उनके द्वारा किए जाने वाला कार्य नगरपालिकाएँ ही करती हैं।

पोर्ट ट्रस्ट

बड़े-बड़े बन्दरगाहों यथा कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई, विशाखापट्टनम, कांडला आदि स्थानों पर स्थानीय संस्थाओं के रूप में पोर्ट ट्रस्ट है। इसके सदस्य वाणिज्य और व्यापार संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं तथा सरकार भी मनोनीत करती है। इनका संविधान भारत सरकार के द्वारा बन्दरगाह ट्रस्टों पर आधारित होता है। इनका सभापति सरकारी व्यक्ति द्वारा होता है। इनके मुख्य कार्य हैं—बन्दरगाह से सम्बद्ध मामलों का प्रबन्ध, बन्दरगाह की रक्षा, माल का प्रबन्ध, सामान उतारना एवं चढ़ाना, यात्रियों को सुविधाएँ प्रदान करना आदि।

छावनी बोर्ड

छावनी क्षेत्रों में छावनी बोर्ड स्थापित किए गए हैं। इनका उद्देश्य इन क्षेत्रों के निवासियों को नागरिक सुविधाएं और कल्याण सेवाएँ प्रदान करना है। सम्बद्ध कमान के जनरल आफिसर कमांडिंग इन-चीफ और केन्द्र सरकार के नियंत्रण में ये बोर्ड स्वायत्तशासी निकाय के रूप में कार्य करते हैं। यद्यपि इन बोर्डों में निर्वाचित और नामजद सदस्यों की संख्या जो 1 से लेकर 7 समान रखी जाती है तथापि कानूनी प्रावधानों के अनुसार नामजद सदस्यों की संख्या निर्वाचित सदस्यों की संख्या से एक से अधिक हो सकती है। इन बोर्डों को कर लगाने का अधिकार है जो इनके राजस्व का मुख्य स्रोत है। बोर्डों के द्वारा तैयार किए गए बजट अनुमानों की जाँच-पड़ताल और उनकी स्वीकृति जनरल आफिसर कमांडिंग-इन-चीफ द्वारा होती है। छावनी बोर्ड तीन श्रेणियों में संगठित है—

1 प्रथम श्रेणी की छावनियाँ—इनकी असैनिक जनसंख्या 10,000 से अधिक है। ये संख्या में 30 हैं।

2 द्वितीय श्रेणी की छावनियाँ—इनकी असैनिक जनसंख्या 2500 और 10,000 के बीच में है। ये संख्या में 19 हैं।

3 तृतीय श्रेणी की छावनियाँ—इनकी असैनिक जनसंख्या 2500 से कम है। ये संख्या में 13 हैं।

कार्य—कार्यों की दृष्टि से छावनी बोर्ड नगरपालिका जैसा ही होता है किन्तु इन्हें कुछ अतिरिक्त शक्तियाँ भी प्रदान की जाती हैं। छावनी क्षेत्र में सफाई एवं यौन दुराचार के दमन पर विशेष बल दिया जाता है। छावनी बोर्ड के कार्य अनिवार्य और ऐच्छिक दोनों प्रकृति के हैं। इनमें प्रमुख अनिवार्य कार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

1 मार्गों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में प्रकाश की व्यवस्था।

2 मार्गों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर छिड़काव।

3 मार्गों, नालियों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों की सफाई।

4 घृणात्मक तथा खतरनाक व्यवसायों, उद्यमों एवं परिपाटियों का नियमन।

5 लोक-सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा सुविधा के आधार पर मार्गों तथा अन्य स्थानों से अवरोधकों को हटाना।

6 खतरनाक इमारतों एवं स्थानों को सुरक्षित बनाना अथवा हटाना।

7 मृतक-क्रिया के स्थानों का अनुरक्षण एवं नियमन।

8 मार्गों, पुलियों, हाटों, कसाईखानों, जल निकास व्यवस्था, नालियों का निर्माण तथा मल निस्तारण की व्यवस्था तथा अनुरक्षण।

9 सड़कों के किनारे वृक्ष लगवाना एवं उनका अनुरक्षण करना।

10 शुद्ध पेयजल की व्यवस्था।

11. जन्म एवं मरण का पंजीकरण।

12. सार्वजनिक टीकों की व्यवस्था तथा सार्वजनिक चिकित्सालयों की स्थापना।

13 प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना।

14 अग्नि से बचाव।

छावनी बोर्ड के ऐच्छिक कार्य इस प्रकार हैं—1 सार्वजनिक उपयोगिता की चीजों, तालाबों तथा कुँओं का निर्माण। 2. अस्वास्थ्यकर स्थानों को निवास योग्य बनाना। 3 जनगणना करना। 4 सर्वेक्षण करना। 5 बिजली का प्रबन्ध करना। 6 सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था का प्रबन्ध।

छावनी बोर्डों के प्रशासन का रूप यद्यपि सैनिक ही बना हुआ है फिर भी निर्वाचित तत्वों को शक्तिशाली बनाने के लिए अनेक परिवर्तन किए गए हैं, जैसे—(i) प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के छावनी बोर्डों में निर्वाचित और मनोनीत सदस्यों की संख्या बराबर कर दी गई है (ii) तृतीय श्रेणी के छावनी बोर्डों में प्रायः एक निर्वाचित और एक मनोनीत सदस्य होता है (iii) भवन-कर निर्धारण समिति में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया है, (iv) इमारतों और सीमा दीवारों पर नियन्त्रण रखने एवं लाइसेन्स के सम्बन्ध में असैनिक क्षेत्र समिति के अधिकारों में वृद्धि की गई है।

विशेष—नगरीय शासन व्यवस्था में छावनी बोर्डों की उपस्थिति लोकतान्त्रिक व्यवस्था से मेल नहीं खाती है। इसे केवल एक लोकतान्त्रिक देश में स्थानीय स्तर पर सैनिक शासन का ही प्रच्छन्न रूप कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त अधिकृत छावनियाँ बड़े नगरों के निकट स्थित हैं और इतने निकट स्थानीय शासन के दो रूपों का चलना लोकतान्त्रिक स्थिति से उचित नहीं होता है।

भारत में नगरीय स्वशासन की प्रमुख समस्याएँ

भारत में नगरीय स्वशासन की संस्थाओं को विविध चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। डॉ. वी. एम. सिन्हा ने भारत में *स्थानीय शासन संस्थाओं* की प्रमुख समस्याओं को निम्नांकित प्रकार से बताया है—

1. *जन साधारण की उदासीनता*—*इन संस्थाओं को जनसाधारण से जो सम्मान मिलना चाहिए था, वह नहीं* मिल पाता जिसके कारण इसमें अक्षमता, अकार्यकुशलता तथा ईमानदारी की कमी बनी रहती है।

2. पेशेवर राजनीतिज्ञों की मनमानी—बड़े शहरों में जनता की उदासीनता तथा पेशेवर राजनीतिज्ञों की मनमानी का एक कारण यह है कि इन शहरों में बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जो बाहर से आए हैं, जिनका स्थानीय जनता तथा शहर से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। शहर को अच्छा बनाने की भावना इनके मस्तिष्क में आती ही नहीं है।

3. *अशिक्षा*—*जनसाधारण का काफी बड़ा भाग अशिक्षित है। अपने अधिकार तथा कर्तव्यों के विषय में* जागरूक नहीं है। पढ़ा-लिखा वर्ग अपनी ही समस्याओं में उलझे रहने के कारण नगर प्रशासन की समस्याओं के प्रति उदासीन *रहता है फलतः वहाँ ऐसा कोई प्रभावशाली वर्ग नहीं होता जो नगर प्रशासन में सुधार के लिए सक्रिय प्रयत्न करे।*

4. व्यक्तिगत तथा दलगत लाभ—निर्वाचित पदाधिकारी अपना अधिकांश समय अपने व्यक्तिगत तथा दलगत लाभ के लिए दाव-पेचों तथा अखाड़ेबाजी में *व्यतीत* करते हैं। इससे नगर प्रशासन का हित तथा जनता का हित गौण हो जाता है।

5. दलगत राजनीति—इन संस्थाओं का प्रशासन दलगत राजनीति का शिकार हो गया है। व्यक्तिगत, दलगत तथा राजनैतिक कारणों से विकास कार्यक्रमों की अवहेलना की जाती है। दिन-प्रतिदिन के प्रशासन पर जैसे—करों की वसूली, लाइसेंस जारी करना, संस्था के उपनियमों को लागू करना आदि पर राजनीति हावी रहती है।

6. ईमानदारी का अभाव—जनसाधारण की उदासीनता तथा पेशेवर राजनीतिज्ञों के कारण अच्छे ईमानदार व्यक्ति *इन संस्थाओं की ओर आकर्षित नहीं होते। परिणामस्वरूप इन संस्थाओं* की बागडोर क्षेत्र के अच्छे ईमानदार व्यक्तियों के हाथों में न होकर, पेशेवर राजनीतिज्ञों के हाथों में होती है।

7. असंतोषजनक वित्तीय स्थिति—इन संस्थाओं की वित्तीय स्थिति असन्तोषजनक है जिसके मुख्य कारण हैं—(क) मुद्रा-स्फीति तथा इसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि। (ख) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को सम्पत्ति एवं वाहन कर से छूट। *(ग) सम्पत्ति कर का आधार वार्षिक किराया है। किराया नियन्त्रण वाले क्षेत्रों में किराया नहीं बढ़ाया जा सकता, अतः* इन संस्थाओं को कमजोर आर्थिक स्थिति का सामना करना होता है। (घ) कर्मचारियों के वेतनमान में वृद्धि। (ङ) प्रशासकीय व्यय का विस्तार। (च) कर बढ़ाने सम्बन्धी आय के साधन न होना। (छ) करों की वसूली में ढील तथा बढ़ती हुई बकाया राशि। (ज) इन संस्थाओं द्वारा धन का अपव्यय।

8. वित्तीय स्थिति में सुधार के प्रयासों का अभाव—इन संस्थाओं ने अपनी वित्तीय स्थिति सुधारने की दिशा में कोई विशेष कदम नहीं उठाया है। नए कर लगाने अथवा चालू करों में बढ़ोत्तरी करने में कोई उत्साह नहीं दिखाया गया है। निर्वाचित सदस्यों को यह आशंका रहती है कि इससे उनकी लोकप्रियता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। फलतः इन संस्थाओं का सतत प्रयास यह रहता है कि राज्य सरकारों से अनुदान अथवा ऋण के रूप में अधिक से अधिक सहायता प्राप्त कर ली जाए।

9. करों के प्रति *जनता का* दृष्टिकोण—करों के विषय में स्थानीय जनता के विचार गलत हैं। यदि नगर प्रशासन में सुधार लाना है नयी सेवाएँ उपलब्ध करवानी हैं तो इनका व्यय-भार नगर निवासियों को उठाना ही होगा। नगर निवासी नयी सेवाओं की तथा चालू सेवाओं में सुधार की माँग करते हैं, पर इससे व्यय के लिए करारोपण अथवा करों की दर में वृद्धि का विरोध करते हैं।

10. सुविधाओं का दुरुपयोग—सार्वजनिक सम्पत्ति, सेवाओं एवं सुविधाओं के दुरुपयोग के कारण इनका उपयोग अत्यधिक हो रहा है। उदाहरण के लिए सड़क पर कूड़ा-कचरा फेंक देना, जहाँ-तहाँ थूक देना, नल के उपयोग के बाद बन्द न करना, सड़क के किनारे बच्चों को मलमूत्र त्याग के लिए बैठाना आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इससे एक ओर तो गन्दगी फैलती है तथा दूसरी ओर इन सेवाओं पर इन संस्थाओं का *व्यय-भार बढ़ता है।*

11. ग्रामीण क्षेत्रों का दबाव—बड़े शहरों में आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों का दबाव रहता है। ये लोग नगरपालिका की आय में कोई योगदान नहीं करते, पर नगरपालिका की सेवाओं तथा यातायात, बाजार, अस्पताल तथा शिक्षण संस्थाओं आदि का लाभ अवश्य उठाते हैं।

12. राजनीतिक आधार पर नियन्त्रण—राज्य सरकारों द्वारा नियन्त्रण के अधिकारों का उपयोग कई बार राजनीतिक आधारों पर किया जाता है। विरोधी दलों द्वारा प्रशासित संस्थाओं को समाप्त कर दिया जाता है। विरोधी दल के चेयरमैन को पद से हटा दिया जाता है अथवा उसे अधिकार विहीन बना दिया जाता है। अनेक बार न्यायालयों ने इस प्रकार के आदेशों को अवैध ठहराया है।

13. राज्य सरकारों द्वारा अधिकारों का दुरुपयोग—राज्य सरकारें अनेक बार अपने नियन्त्रण के अधिकारों का समय रहते उचित रूप से उपयोग नहीं करती हैं। यदि समय पर उचित मार्गदर्शन हो जाए तो कई अवसरों पर संस्था को अधिक्रमित अथवा भंग करने की स्थिति उत्पन्न ही न हो।

14. वित्तीय प्रशासन में त्रुटियाँ—लेखा-परीक्षण के फलस्वरूप इन संस्थाओं के वित्तीय प्रशासन में प्रायः कई त्रुटियाँ पाई गई हैं, जैसे—(क) समय पर करों का वसूल न होना तथा बकाया कर की राशि एकत्रित न होना। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस दिशा में प्रयास काफी कम हो गये हैं तथा बकाया राशि की मात्रा में वृद्धि हुई है। (ख) बजट की निर्धारित राशि से अधिक व्यय की प्रवृत्ति। (ग) आय के स्रोतों के अनुमान से कम आय की प्राप्ति। (घ) भुगतान में अनियमितताएँ यथा दुबारा भुगतान, बिना यथेष्ट जाँच-पड़ताल के भुगतान, झूठे यात्रा बिलों के भुगतान आदि। (ङ) स्टॉक रजिस्टर में अनियमितताएँ। (च) अनुदानों का दुरुपयोग - जिस उद्देश्य के लिए अनुदान प्राप्त किए गए हों उस पर व्यय न करके अन्य मदों पर व्यय करना। (छ) टेण्डर स्वीकार करने के नियमों का उल्लंघन तथा कम दर वाले टेण्डरों को बिना उचित कारण के रद्द कर देना। (ज) निर्वाचित अधिकारियों द्वारा बिना किसी प्रशासकीय औचित्य के दौरे करना। (झ) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों में इन संस्थाओं ने अधिक से अधिक राज्य सरकार के अनुदानों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। योजनाबद्ध विकास के लिए उपलब्ध धनराशि में से इन संस्थाओं को अनुदान आदि दिए गए, फलतः इन संस्थाओं ने धीरे-धीरे स्वावलम्बन की भावना को एकदम भुला दिया है और अपने सभी कार्यक्रमों के व्यय के लिए वे राज्य सरकार से सहायता की अपेक्षा करती रहती हैं।

15. निम्नकोटि की कुशलता—इन संस्थाओं में प्रशासकीय कुशलता का स्तर निम्न कोटि का रहा है। इन संस्थाओं में अच्छे कर्मचारियों का अभाव है। वैसे ही प्रत्याशी इन संस्थाओं की ओर आकर्षित होते हैं, जो केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों के अच्छे प्रतिष्ठानों द्वारा छाँट दिए गए हैं।

16. कर्मचारियों में कर्त्तव्य पालन का अभाव—कर्मचारियों में ईमानदारी तथा कर्त्तव्य-पालन की भावना की प्रायः कमी पाई जाती है। अधिकतर कर्मचारी किसी तरह राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में आकर अपना स्वार्थ सीधा करने के प्रयास में लगे रहते हैं। उन्हें कार्यालय में आकर ईमानदारी से काम करने का न तो अवसर मिलता है और न इसमें उनकी रुचि ही होती है। इन संस्थाओं के कर्मचारियों का वेतनमान बहुत कम होता है अतः रिश्वत, दस्तूरी आदि का बड़ा जोर रहता है।

भारत में नगरीय स्थानीय प्रशासन में सुधार हेतु सुझाव

डॉ. सिन्हा ने नगरीय स्थानीय प्रशासन में सुधार के लिए निम्नांकित महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं—

1. ईमानदार नेता एवं कर्मचारी—इन संस्थाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक है कि उचित एवं ईमानदार नेता तथा कर्मचारी इन संस्थाओं की ओर आकर्षित हों और यह तभी सम्भव है जब इन संस्थाओं के प्रति जनता की सम्मान भावना बढ़े तथा सरकार का रवैया पक्षपातपूर्ण न हो। यदि अच्छे लोग इन संस्थाओं की ओर आकर्षित होंगे तो निम्न श्रेणी के राजनीतिक नेता अपनी मनमानी नहीं कर सकेंगे।

2. सेवा शर्तें राज्य सरकार के समान—इन संस्थाओं के कर्मचारियों का वेतनमान तथा सेवा शर्तें राज्य सरकार के कर्मचारियों की सेवा शर्तों के समकक्ष होनी चाहिए। यदि राजकीय स्तर पर इनकी सभी सेवाओं को एकीकृत करने की अथवा सेवाओं की व्यवस्था हो जाए तो इस दिशा में अच्छी प्रगति हो सकती है।

3. नेतृत्व तथा कार्मिक व्यवस्था में सुधार—कोई भी संस्था बिना उचित प्रकार के नेतृत्व तथा अच्छे कार्मिकों के सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। वर्तमान स्थिति अत्यन्त ही असन्तोषजनक है। इस दिशा में सुधार के बिना इन संस्थाओं का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता।

4. दलगत राजनीति से दूरी रखना—इन संस्थाओं के निर्वाचनों को यदि दलगत राजनीति से परे रखने का प्रयास किया जाए तो अच्छा हो। स्थानीय संस्थाओं के प्रशासन में दलगत राजनीति का स्थान नहीं होना चाहिए। इन संस्थाओं का निर्वाचन निर्दलीय आधार पर किया जाना चाहिए। सभी राजनीतिक दलों में यह समझौता किया जा सकता है कि वे स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचनों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में स्थानीय जनता प्रत्याशियों का चुनाव उनकी योग्यता

के आधार पर कर सकेंगी तथा इन संस्थाओं को उचित प्रकार का नेतृत्व प्राप्त हो सकेगा। इसके साथ ही इन संस्थाओं के निर्वाचन व्यय को सीमित करने का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे कि योग्य प्रत्याशी धनाभाव के कारण चुनाव में भाग लेने से वंचित न रह जाएँ।

5. आचरण संहिता—यह आवश्यक है कि निर्वाचित नेताओं तथा अन्य राजनीतिज्ञों के लिए एक आचरण संहिता बनाएँ तथा कठोरता के साथ उसका पालन किया जाना चाहिए।

6. आय वृद्धि के प्रयास—इन संस्थाओं की आय बढ़ाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

7. मास्टर प्लान—यह निरन्तर प्रयास किया जाना चाहिए कि नगर सुन्दर एवं योजनाबद्ध रूप से विकसित हो। नगरों के बहुमुखी विकास के लिए मास्टर प्लान का निर्माण किया जाना चाहिए और भूमि का उपयोग उसी के अनुसार किया जाना चाहिए। शहरों के पुराने भागों में यद्यपि अब मूलभूत सुधार सम्भव न हों, पर नगर के नए भागों को पूर्णतया नियन्त्रित किया जाना चाहिए।

8. नगरीय समस्याओं के समाधान के प्रयास—नगर निगम तथा नगरपालिका प्रशासनों को औद्योगीकरण तथा उससे उत्पन्न शहरीकरण की समस्याओं के समाधान के लिए तैयार किया जाना चाहिए। शहरों की प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ किया जाए ताकि वह शहरीकरण तथा जनसंख्या वृद्धि के द्वारा उत्पन्न समस्याओं का मुकाबला कर सके।

9. सामुदायिक विकास—देहाती क्षेत्रों की भाँति शहरी क्षेत्रों में भी शहरी सामुदायिक विकास योजनाएँ लागू करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस प्रकार की योजनाओं का उद्देश्य स्थानीय जनता के सहयोग से शहर में रहन-सहन की स्थिति में सुधार लाना होना चाहिए। ऐसी योजनाओं से लोगों का नगर-प्रशासन से निकटतम सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा तथा वे प्रशासन के कार्यक्रमों में रुचि ले सकेंगे। उस स्थिति में प्रशासन द्वारा संचालित कार्यक्रम उनके कार्यक्रम होंगे।

10. प्रशासन का विकेन्द्रण—जनता से निकट सम्पर्क के लिए आवश्यक है कि बड़े निगमों एवं नगरपालिकाओं के प्रशासन को क्षेत्रीय स्तर पर विकेन्द्रित किया जाए।

11. जनता का सहयोग—इन संस्थाओं के प्रशासन के प्रति जनता बड़ी उदासीन है, अतः जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि निर्वाचित प्रतिनिधि वार्डों में जाकर लोगों से मिलें, उनकी समस्याओं को समझें तथा उनके निराकरण का प्रयास करें, जिससे लोगों को विश्वास हो कि नगर प्रशासन मात्र कर वसूल करने वाली संस्था ही नहीं है, वरन् उनके सुख-दुःख के समय काम आने वाली संस्था है। यदि ऐसी सभाओं का गठन हो सके जिनमें नगर प्रशासन तथा निर्वाचित सदस्य जनसाधारण से मिल सकें तो इस दिशा में प्रगति हो सकती है।

12. उचित समन्वय—कई बार नगर प्रशासन में असुविधा तथा समन्वय सम्बन्धी कठिनाइयाँ इस कारण उत्पन्न हो जाती हैं कि शहर का प्रशासकीय उत्तरदायित्व अनेक संस्थाओं के मध्य विभाजित रहता है। नगरपालिका नगर का प्रशासन सम्भालती है। नगर विकास न्यास शहर के आसपास अविकसित क्षेत्रों को विकसित करता है। अतएव इनमें प्रशासकीय समन्वय होना चाहिए, अतः यह उचित होगा कि शहर का सारा प्रशासकीय उत्तरदायित्व एक ही संस्था के हाथ में हो।

13. वर्गीकरण का वस्तुनिष्ठ मापदण्ड—नगरपालिकाओं एवं नगर निगमों की स्थापना एवं वर्गीकरण अधिक वस्तुनिष्ठ मापदण्ड से किया जाना चाहिए। सारे देश में इस सम्बन्ध में एक ही मापदण्ड की स्थापना होनी चाहिए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कुछ राज्यों में नगर निगमों तथा नगरपालिकाओं की स्थापना की होड़-सी लग गई है। नगरपालिका या नगर निगम शहर की सम्पदा का मापदण्ड बन गया है, यह अनुचित है।

14. समन्वय की उचित व्यवस्था—अनेक शहरों में नगर प्रशासन का उत्तरदायित्व अनेक संस्थाओं के बीच विभाजित है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि उनमें पारस्परिक समन्वय तथा उनके सन्तुलित विकास के लिए प्रयास किए जाएँ। इसके अतिरिक्त इस बात की आवश्यकता है कि नगर प्रशासन से सम्बन्धित राज्य की सभी संस्थाओं में समन्वय हो, अतः राज्य स्तर पर एक उच्च शक्ति प्राप्त शहरी विकास बोर्ड अधिकरण की स्थापना की जाए जो विभिन्न संस्थाओं में समन्वय स्थापित कर सके।

15. राज्य सरकार के निष्पक्ष नियन्त्रण—राज्य सरकारों को अपने नियन्त्रण के अधिकार को निष्पक्ष रूप से उपयोग में लाना चाहिए। प्रजातन्त्र में निर्वाचित सदस्यों को बिना उचित कारण के केवल दलगत आधार पर हटा देना या पदच्युत कर देना उचित नहीं कहा जा सकता।

16. जनता का उत्तरदायित्व—नगर प्रशासन के लिए जनता को अपना उत्तरदायित्व निभाना होगा। यदि नगर प्रशासन अकार्यकुशल, भ्रष्ट और अक्षम है तो यह जनता का उत्तरदायित्व है कि वह उसे सुधारे। यह कार्य दो प्रकार से किया जा सकता है—एक ओर जनता स्वयं नियमानुसार ईमानदारी से काम करे, अपने लिए किसी ऐसे लाभ के लिए

प्रयास न करे जो नियमानुसार उसे नहीं मिलना चाहिए; दूसरी ओर जहाँ कहीं निर्वाचित सदस्य, प्रशासक, राजनीतिक दल अथवा अन्य कोई व्यक्ति नियमों के विरुद्ध अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कार्य करे तो उसे चुनौती दी जानी चाहिए, लेकिन जनता जागरूक नहीं है, अतः स्वार्थी तत्व सक्रिय हो जाते हैं। यदि स्वार्थी तत्वों को यह आभास हो जाए कि जनता जागरूक हो गई है तथा उनकी अपनी सफलता की सम्भावनाएँ घट रही हैं तो वे स्वयं ऐसा करना बन्द कर देंगे। अन्ततः नगर प्रशासन का वही रूप होगा जो जनता उसे देगी।

17. जनसम्पर्क—इन संस्थाओं की बिगड़ी स्थिति का एक कारण यह भी है कि निर्वाचन के बाद सदस्यों से जनता का न कोई सम्पर्क रहता है और न उस पर कोई नियन्त्रण ही रहता है। जनता के सदस्यों द्वारा निरन्तर सम्पर्क बनाए रखने के लिए दो प्रकार के सुझाव दिए जा सकते हैं। पहला यह कि सदस्यों का निर्वाचन तीन वर्षों के लिए हो तथा 1/3 सदस्यों का निर्वाचन प्रतिवर्ष किया जाए। इस प्रकार की पद्धति से यह लाभ होगा कि बदलते हुए लोकमत को प्रतिनिधित्व मिल सकेगा। नगरपालिका क्षेत्र को तीन सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाना चाहिए तथा प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से प्रतिवर्ष एक सदस्य निर्वाचित किया जाना चाहिए। दूसरा विकल्प इस दिशा में यह हो सकता है कि निर्वाचित सदस्यों को वापस बुलाने की व्यवस्था होनी चाहिए (जैसा कि 1999 में मध्य प्रदेश सरकार ने किया)। यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र के 1/10 मतदाता प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करें कि सम्बन्धित सदस्य का 'रिकाल' होना चाहिए तो इस सम्बन्ध में मतदान किया जाना चाहिए। यदि मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों का बहुमत उस निर्वाचित सदस्य के विरुद्ध हो तो उसे सदस्यता से हटा दिया जाना चाहिए।

18. समिति पद्धति को शक्ति देना—इन संस्थाओं की समिति-पद्धति को अधिक शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए।

19. अन्य—कुछ सेवाओं के लिए म्युनिसिपल कौंसिल, बोर्ड अथवा निगम का क्षेत्र शायद छोटा पड़े। उदाहरण के लिए, बस सेवा, होटल, सिनेमागृह आदि। अतः यह किया जा सकता है कि एक क्षेत्र की सभी संस्थाएँ मिलकर अपना क्षेत्रीय संगठन बना लें ताकि इन सेवाओं की व्यवस्था क्षेत्रीय स्तर पर की जा सके। इससे दो लाभ होंगे—प्रथम, यह कि इससे क्षेत्र की संस्थाओं के कार्यक्रमों में व्यापकता नहीं होगी तथा उनमें पारस्परिक होड़ के स्थान पर एक-दूसरे से मिलजुल कर काम करने की भावना का विकास होगा। द्वितीय, यदि कई संस्थाएँ मिलकर काम करेंगी तो कुछ हद तक पूँजीगत धन की समस्या हल हो सकती है। ऐसी स्थिति में दो या तीन संस्थाएँ निर्धारित अनुपात में पूँजी लगाकर औद्योगिक प्रतिष्ठान, बाजार आदि की स्थापना कर सकती हैं।

20. नीति और उत्तरदायित्व में सीमा रेखा—इन संस्थाओं में नीति-निर्धारण तथा कार्यकारी उत्तरदायित्वों के बीच सीमा रेखा खींची जानी चाहिए।

21. सर्वसाधारण का हित—इन संस्थाओं के शासन-संचालन से सम्बन्धित सभी लोग यथा निर्वाचित सदस्य, इन संस्थाओं के कर्मचारी, राज्य सरकार तथा राजनीतिक दल सभी को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इनका प्रशासन सर्वसाधारण के हित में चलाया जाता है, अतः इन्हें इस प्रकार का कोई कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे जनसाधारण के हितों की उपेक्षा हो।

नगरीय स्थानीय संस्थाओं पर राज्य सरकार का नियन्त्रण

(State Control over Urban Local Bodies)

भारत में विभिन्न राज्यों के नगरीय स्थानीय निकायों का राज्य सरकार द्वारा नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रखा जाता है। इस नियन्त्रण की मात्रा एवं प्रकृति प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है, तथापि जिन क्षेत्रों में और जिन तरीकों से यह नियन्त्रण रखा जाता है उसमें बहुत कुछ एकरूपता परिलक्षित होती है।

नियन्त्रण की विधियाँ—राज्य सरकार नगरीय स्थानीय निकायों पर प्रायः निम्नलिखित विधियों से नियन्त्रण रखती है—

1. संरक्षण प्रदान करना—स्थानीय संस्थाएँ राज्य सरकार का एक अविभाज्य अंग हैं तथा उसके द्वारा हस्तान्तरित शक्तियों का प्रयोग स्थानीय संस्थाएँ करती हैं, अतः यह आवश्यक हो जाता है कि जब कोई स्थानीय निकाय प्रशासन की मौलिकता की अवहेलना करे या जनता के हितों का दुरुपयोग करे तो कोई उच्च सत्ता निष्पक्षतापूर्वक उसमें हस्तक्षेप करे। पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण की सामान्य शक्तियाँ राज्य कार्यपालिका में निहित रहती हैं। कार्यपालिका स्थानीय शक्तियों की क्रियान्विति के लिए उत्तरदायी सत्ताओं के मित्र, निर्देशक, दार्शनिक, उत्साहवर्धक एवं उत्प्रेरक के रूप में कार्य करती है। यह तुलनात्मक अध्ययन, आलोचना एवं स्पष्टीकरण, वार्षिक प्रतिवेदन, प्रस्ताव, सामान्य एवं विशेष सूचि-पत्र आदि के माध्यम से विभिन्न नगरपालिका परिषदों को विशेषज्ञतापूर्ण परामर्श प्रदान करती है। विभिन्न आयोगों, समितियों एवं जाँचों के माध्यम से नवीन व्यवस्थापन के प्रभावों का अध्ययन करने के बाद राज्य सरकार कार्यों एवं शक्तियों के सम्बन्ध में

नई नीतियाँ सुझाने में समर्थ होती है। नगरपालिका प्रशासन के सभी पहलुओं की कार्यपालिका के पास सूचना रहती है इसीलिए नगरपालिका परिषदों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से कभी भी निर्देशित कर सकती है। स्थानीय निकायों के सम्बन्ध में राज्य सरकार की ये शक्तियाँ संरक्षण शक्तियाँ कहलाती हैं।

2. कानून को लागू करना—अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकार को अधिकार प्राप्त होता है कि वह अधिनियम लागू करने के सम्बन्ध में आदेश सभी नगरपालिकाओं अथवा कुछ विशेष नगरपालिकाओं के लिए जारी किए जा सकते हैं। नियम और आदेश राजपत्र में प्रकाशित किए जाते हैं और प्रकाशन-तिथि के उपरान्त एक निश्चित अवधि के बाद लागू कर दिए जाते हैं। राज्य सरकार स्थानीय निकायों द्वारा बनाए गए उपनियम आदि तभी लागू समझे जाते हैं जब राज्य सरकार द्वारा उनका अनुमोदन कर दिया जाए। किसी उपनियम में कोई परिवर्तन राज्य सरकार की सहमति से ही किया जा सकता है।

राज्य सरकार को विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में नियम बनाने की शक्ति प्राप्त होती है। नगरपालिका या नगर परिषद द्वारा सम्पत्ति प्राप्त एवं स्थानान्तरित किए जाने की शर्तों में भविष्य-निधि की क्रियान्विति में कर लगाने, वित्त एवं अनुमोदन से सम्बन्धित विषयों में, राज्य एवं नगरपालिका सत्ताओं के मध्य सम्पर्क रखने वाले कार्यालय के सम्बन्ध में, परिषद द्वारा तैयार की गई योजनाओं एवं अनुमानों में, नगरपालिका परिषदों द्वारा रखे जाने वाले लेखों में, जिस ढंग से राज्य सरकार के अधिकारी नगरपालिका परिषद को अधिनियम के लक्ष्यों के सम्बन्ध में सहायता, परामर्श एवं सहयोग प्रदान करेंगे, तथा इसी प्रकार के अन्य बहुत से विषयों में राज्य सरकार को नियम बनाने का अधिकार है। ये विभिन्न विषय स्पष्ट रूप से अधिनियम में दिए होते हैं किन्तु राज्य सरकार चुनाव, पार्षद के चयन एवं नामजदगी, अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष खड़े होने वाले उम्मीदवारों द्वारा जमा किए जाने वाले धन आदि ऐसे विषयों पर नियम बना सकती है जो अधिनियम में नहीं दिए गए हों।

सरकार की नियम बनाने की शक्ति नगरीय स्थानीय प्रशासन में एकरूपता लाती है। यह लोक सेवकों को, इनके उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में सहयोग देती है। अंकेक्षकों को लेखों की परीक्षा करने में मदद करती है और स्थानीय स्वायत्त सरकार विभाग को उसके प्रतिवेदन तैयार करने तथा नगर परिषद कार्यों में पुनरीक्षा करने में सहायता करती है। राज्य सरकार द्वारा बनाए गए नियम एवं उपनियम प्रायः राज्य के स्थानीय स्वायत्त शासन विभाग द्वारा प्रसारित किए जाते हैं।

3. निरीक्षण करना—राज्य सरकार के विभिन्न अधिकारी नगरीय स्थानीय शासन निकायों का निरीक्षण करते हैं तथा इन निकायों या संस्थाओं की सम्पत्ति, निर्माण कार्य, रिकार्ड आदि का निरीक्षण करते हैं। निरीक्षण त्रुटियों की ओर स्थानीय शासन अधिकारियों का ध्यान केन्द्रित करते हैं और त्रुटियों को दूर करने के उपाय सुझाये जाते हैं। निरीक्षण का अधिकार मुख्य रूप से जिलाधीश एवं सम्भागीय आयुक्त को प्राप्त होता है लेकिन राज्य सरकार द्वारा अधिकृत कोई अधिकारी नगरपालिका या अन्य स्थानीय शासन निकाय के कार्यालय का निरीक्षण कर सकता है और रिकार्ड आदि को अपने समक्ष पेश किए जाने का आदेश दे सकता है। जिलाधीश की शक्तियाँ व्यापक होती हैं। यदि उसका अभिमत होता है कि नगरपालिका या परिषद की किसी आज्ञा, प्रस्ताव या कार्य की क्रियान्विति से जिले की शान्ति को खतरा है तो वह उस पर रोक लगा सकता है। नगरपालिका द्वारा संचालित विद्यालयों के पाठ्यक्रम एवं शिक्षा सम्बन्धी सामान्य नीति पर शिक्षा विभाग का पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण रहता है। सफाई से सम्बन्धित विषयों का निरीक्षण करने के लिए जिले का सिविल सर्जन होता है और जन-स्वास्थ्य विभाग का संचालक वार्षिक निरीक्षण करता है।

4. सूचना प्राप्त करना—राज्य सरकार को नगरीय स्थानीय शासन निकायों से सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। अधिनियम और नियमों के अन्तर्गत आवश्यक विभिन्न प्रकार के प्रतिवेदन और विवरण राज्य सरकार को नियमित रूप से भेजना स्थानीय संस्थाओं का कर्तव्य है। राज्य सरकार जो सूचना आवश्यक समझे वह उपलब्ध कराने का आदेश किसी स्थानीय निकाय को दे सकती है। जाँच अधिकारी किसी व्यक्ति को, जो उसकी राय में आवश्यक हो, अपने समक्ष उपस्थित होने, बयान देने तथा दस्तावेज आदि प्रस्तुत करने का आदेश दे सकता है।

5. स्वीकृति देने का अधिकार—अनेक ऐसे कार्य हैं जो स्थानीय निकाय राज्य सरकार की स्वीकृति से ही वैध रूप से कर सकते हैं। उदाहरणार्थ राजस्थान नगरपालिका अधिनियम के अन्तर्गत कोई ऐच्छिक कर राज्य सरकार की स्वीकृति के बिना नहीं लगाया जा सकता। स्थानीय निकायों के उपनियम तभी लागू हो सकते हैं जब राज्य सरकार स्वीकृति प्रदान कर देती है।

6. वित्तीय नियन्त्रण—राज्य सरकार स्थानीय शासन निकायों पर वित्तीय नियन्त्रण रखती है। सभी नगरपालिकाओं से अपेक्षित है कि वे अपने आय-व्यय का वार्षिक बजट प्रस्तुत करें। राज्य सरकार नगरपालिका के कोष को लागू और नियमित करने सम्बन्धी नियम बनाती है। नियमों के आधार पर वह तय करती है कि कितनी लागत वाले अनुमान एवं योजनाएँ किसके द्वारा तय होंगे, नगरपालिका के खर्च एवं भुगतान की आज्ञाओं पर किसके हस्ताक्षर होंगे तथा यह भुगतान किस प्रकार किए जायेंगे आदि। नगरपालिका द्वारा किसी भी रूप में सरकार की स्वीकृति के बिना कोई धन व्यय नहीं

किया जा सकता। नगरपालिका के कोष को किसी ऐसे बैंक में नहीं रखा जा सकता जो राज्य सरकार द्वारा मान्य नहीं है। नगरपालिका अपनी सीमाओं से बाहर खर्चा केवल तभी कर सकती है जबकि राज्य सरकार से पूर्व स्वीकृति प्राप्त कर ले। उसकी सीमाओं के खर्च पर राज्य सरकार निर्देश दे सकती है। राज्यों की व्यवस्थापिका द्वारा नगरपालिका के कर निर्धारित किए जाते हैं। राज्य सरकार कर लगाने तथा उसकी अधिक से अधिक मात्रा निश्चित करने के नियम बना सकती है। कर लगाते समय राज्य सरकारों की स्वीकृति लेनी होती है। कई बार अनिवार्य करों की दरें, वसूली की तिथि आदि राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं। वसूली के नियम भी राज्य सरकार ही बनाती है। राज्य सरकार स्थानीय निकायों को ऋण देती है। ऋण राज्य सरकार द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार कुछ निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही दिये जा सकते हैं। ऋण से सम्बन्धित कार्यों एवं लेखाओं का परीक्षण करने की शक्ति राज्य सरकार को है। जब ऋण के रूप में कोई धन नगरपालिका को दिया जाता है तो राज्य सरकार उससे सम्बन्धित कार्य पर पर्यवेक्षण रखती है। यदि कार्य पूरा हो जाने के बाद ऋण में से कोई धन बच जाता है तो उसे राज्य सरकार को लौटा दिया जाता है। गैर-सरकारी ऋण के सम्बन्ध में राज्य सरकार यह निर्देशित कर सकती है कि खर्च न किए गए धन को ऋण कम करने के काम में लाया जाए।

118284

राज्य सरकार द्वारा नगरपालिका के लेखों का अंकेक्षण करने के लिए अंकेक्षक नियुक्त किए जाते हैं। राज्य सरकार लेखों को उचित रूप से रखने के नियम बना सकती है और परिषद द्वारा रखे जाने वाले विभिन्न रजिस्टरों के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत कर सकती है।

7. राज्य सरकार द्वारा कार्य अपने स्तर पर करवाना—यदि नगरपालिका या अन्य नगरीय स्थानीय निकाय अपना कार्य न करें तो राज्य सरकारों को अधिकार होता है कि अपने अधिकारियों से यह कार्य करवा ले और कार्य-व्यय स्थानीय निकायों से वसूल कर ले। व्यय वसूल करना या न करना राज्य सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। कुछ अधिनियमों के द्वारा राज्य सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह स्थानीय निकायों को जनहित में कुछ कार्य करने के लिए निर्देश दे। ऐसे निर्देशों का पालन किया जाना अनिवार्य होता है।

8. अपील करना—अनेक अवसरों पर नगरपालिका के अधिकारियों के निर्णय एवं आदेश विरोध का कारण बन जाते हैं। इनके विरुद्ध की गई अपीलें राज्य सरकार को प्रस्तुत की जाती हैं। यदि कानून का संचालन सही ढंग से न किया जाए और नगरपालिका परिषदें उनकी अवहेलना करें तो राज्य सरकार से इसकी अपील की जा सकती है। विभिन्न राज्यों में ऐसे अनेक विषयों का उल्लेख कर दिया गया है कि जिन पर दी गई आज्ञाएँ अपील का विषय बन सकती हैं। सामान्य रूप से परिषद की आज्ञाओं के विरुद्ध की गई अपील तथ्य के विषयों से सम्बद्ध रखती है न कि कानून के विषयों से। अपील सुनने वाली सत्ता का निर्णय प्रत्येक स्थिति में अन्तिम माना जाता है तथा कोई न्यायालय इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता तथा विषय को पुनरीक्षा या पुनरावलोकन के लिए नहीं मँगा सकता है। साधारणतः लाइसेन्स देने या न देने या रद्द करने, भवन निर्माण सम्बन्धी उपनियमों को लागू करने में एवं कर्मचारियों के विरुद्ध की गई अनुशासनात्मक कार्यवाही के विरुद्ध राज्य सरकार से अपील की जा सकती है।

9. परिषदों को भंग कर नये चुनाव करवाना—अधिनियमों के अन्तर्गत राज्य सरकारों को यह अधिकार प्राप्त होता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में नगरपालिका अथवा नगर परिषद को भंग कर दे या उसका अतिक्रमण कर दे। यदि परिषद अपने कर्तव्यों की पूरी तरह अवहेलना करती है या मतभेद के कारण प्रशासनिक कार्य अवरुद्ध हो जाता है या परिषद अपनी शक्तियों का उल्लंघन या दुरुपयोग करने लगती है तो राज्य सरकार को अधिकार है कि परिषद को भंग करके, नए निर्वाचन की आज्ञा दे। इस प्रकार की आज्ञा देने से पहले साधारणतः संस्था को आरोप पत्र दिया जाता है, जाँच समिति द्वारा आरोप की जाँच कराई जाती है और संस्था को अवसर दिया जाता है कि वह जाँच समिति के समक्ष अपनी सफाई पेश करे। कुछ अधिनियमों के अन्तर्गत जाँच समिति की राय मानना अनिवार्य होता है। उदाहरणार्थ राजस्थान में जाँच समिति के निर्णयों के विरुद्ध कोई आदेश जारी नहीं किया जा सकता है। अतिक्रमण या भंग किये जाने का आदेश अधिनियम द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार लिया जाना चाहिए अन्यथा सम्बन्धित संस्थान ऐसे आदेश को न्यायालय में चुनौती दे सकती है। न्यायपालिका राज्यादेश को आवश्यक सुनवाई के बाद वैध या अवैध घोषित कर सकती है।

10. सेवीवर्ग पर शक्तियाँ—नगरपालिका स्तर पर अधिकारी एवं गैर-अधिकारी दोनों प्रकार के सदस्य कार्य करते हैं। जहाँ तक गैर-अधिकारी सदस्यों का प्रश्न है राज्य सरकार पार्षदों की संख्या निश्चित करती है, परिषद में निर्वाचित, चयन किए हुए एवं मनोनीत सदस्यों का अनुपात निश्चित करती है और उनके चुनाव का नियमन करने के लिए नियम बनाती है। जहाँ सदस्यों को मनोनीत करने का प्रावधान होता है वहाँ पार्षदों की कुल संख्या का सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। पंजाब में सरकार को यह अधिकार है कि वह किसी निर्वाचित सदस्य का पद रिक्त होने पर उस पद को रिक्त रखने या नियुक्ति द्वारा भरने के लिए निर्देश जारी कर सकती है। वह निर्वाचित या नियुक्त किसी विशेष सदस्य

को सीट को खाली करा सकती है। राज्य सरकार को यद्यपि यह शक्ति है कि वह परिषद के किसी सदस्य को हटा सके किन्तु इस शक्ति का प्रयोग तब तक नहीं किया जाएगा, जब तक कि सम्बन्धित पार्षद को स्पष्टीकरण का अवसर न दे दिया जाए। यदि किसी नगरपालिका के सदस्य को कार्यालय से बिना किसी कारण के हटा दिया जाए तो वह सरकार के विरुद्ध मुकदमा लड़ सकता है। ऐसी स्थिति में हटाने वाले को यह सिद्ध करना होगा कि वह उचित कारणों से ही हटाया गया है। चेन्नई आन्ध्र पंजाब और केरल राज्य में सरकार अध्यक्ष को शक्ति के दुरुपयोग या कर्तव्यों के पालन में स्वभावगत असफलता के लिए हटा सकती है। राज्य सरकार शिक्षा, जन कार्य मेडिकल, स्वास्थ्य एवं अन्य तकनीकी विभागों के लोगों को समिति की बैठकों में भाग लेने के लिए तथा उनके विभाग को प्रभावित करने वाले विषयों पर बोलने के लिए आमन्त्रित कर सकती है। नगरपालिका के लोक सेवकों की दृष्टि से राज्य सरकार को विभिन्न शक्तियाँ सौंपी गई हैं। उसे अधिकार होता है कि सचिव, अभियन्ता, स्वास्थ्य अधिकारी, सफाई निरीक्षक, लेखाधिकारी, ओवरसीयर, नर्स आदि की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियम बना सके।

11 न्यायिक नियन्त्रण—राज्य सरकार का प्रमुख अंग न्यायपालिका है जो स्थानीय निकायों पर न्यायिक नियन्त्रण की भूमिका निभाता है। न्यायिक नियन्त्रण प्रशासनिक नियन्त्रण से भिन्न होता है। कोई न्यायालय तब तक स्थानीय निकायों की शक्तियों में हस्तक्षेप नहीं करता जब तक कि उनके द्वारा अपनी शक्तियों को घातक रूप में अधिनियम के प्रतिकूल और बुरे विश्वास के साथ न अपनाया गया हो। न्यायाधीश स्वयं अपनी तरफ से पहल करके कदम नहीं उठा सकता, पहल अन्य पक्षों द्वारा होनी चाहिए। न्यायिक नियन्त्रण स्थानीय सत्ताओं को सीमा में रखता है इसलिए नागरिकों की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। नगरपालिकाओं पर न्यायालय का नियन्त्रण तीन प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम, न्यायालय अधिनियम और कानूनों की व्याख्या करता है और उन्हें कानून का स्तर देता है। द्वितीय, न्यायालय नगरपालिका की सत्ताओं को गैर-कानूनी कार्य करने से मना करता है। तृतीय, अधिनियम के अधीन न्यायालयों को नगरपालिका के कार्यों एवं प्रशासन पर अपील सुनने का अधिकार होता है।

नियन्त्रण व्यवस्था के दोष—उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि नगरीय स्थानीय निकायों पर राज्य सरकार की नियन्त्रणकारी शक्तियाँ विस्तृत और व्यापक हैं पर व्यवहार में वर्तमान नियन्त्रण व्यवस्था प्रभावकारी प्रतीत नहीं होती है। राज्य सरकार का नियन्त्रण कुल मिलाकर स्थानीय शासन निकायों की कार्यक्षमता बढ़ाने में सफल नहीं हुआ है। इस नियन्त्रण व्यवस्था के मुख्य दोष निम्नानुसार हैं—

1 नियन्त्रण के साधन नकारात्मक हैं। नियन्त्रण का उद्देश्य समुचित मार्गदर्शन न होकर दण्डात्मक होता है। राज्य सरकार को नगरपालिका एवं नगरपरिषद को भंग करके नए निर्वाचन का आदेश देने का अधिकार होता है, लेकिन इसे सुधारात्मक उपाय नहीं कहा जा सकता है। उचित तो यह होता है कि सरकारी विभाग की देख-रेख में प्रभावी निर्देश देकर, स्थानीय सत्ता को अपने को सुधारने का अवसर दिया जाए।

2. स्थानीय शासन संस्थाओं को बार बार भंग करने अधिक्रमण करने सदस्यों एवं चेयरमैन को निष्कासित करने से न केवल सार्वजनिक धन और शक्ति का अपव्यय होता है, बल्कि स्थानीय संस्थाओं से जनता का विश्वास उठने लगता है।

3 ऐसे अनेक अधिकरण हैं जिनके द्वारा परिषदों पर राज्य का नियन्त्रण किया जाता है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य, सफाई, पशु चिकित्सालय आदि पर विभिन्न सरकारी, तकनीकी विभाग अपने कार्यालयों द्वारा प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखते हैं। सामान्य प्रशासन एवं वित्त के क्षेत्र में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं पर सरकार मन्त्रालय, आयुक्तों एवं जिला अधिकारियों के माध्यम से नियन्त्रण रखती है किन्तु ये अधिकारी राजस्व विभाग के अधिकारी होते हैं और इनको स्थानीय प्रशासन पर पर्यवेक्षण रखने के लिए कोई विशेष प्रशिक्षण नहीं मिलता है। वे अन्य कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहने के कारण स्थानीय निकायों में अधिक समय नहीं दे पाते फलतः स्थानीय निकायों पर पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण अत्यन्त अपर्याप्त रहता है। उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वायत्त सरकार समिति ने बताया था कि जिला अधिकारियों एवं आयुक्तों द्वारा सरकार की ओर से स्थानीय निकायों पर जो नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रखा जाता है उसमें वे पर्याप्त रुचि नहीं लेते, क्योंकि उन पर उनके अपने ही कार्यों का काफी भार रहता है।

4 कई बार नियन्त्रण की कठोरता से स्थानीय पहल को ठेस पहुँचती है। राजस्थान में वित्तीय सहायता और ऋण प्राप्ति के नियम कठोर और जटिल हैं।

5 ऐसी शिकायतें प्रायः सुनने में आती हैं कि नियन्त्रण-शक्तियों का प्रयोग दलगत राजनीति के व्यक्तिगत लाभ अथवा बदले की भावना से किया जाता है। एक ही आधार की परिस्थितियों में कुछ नगरपालिकाएँ भंग कर दी जाती हैं जबकि अन्य को कुछ नहीं कहा जाता है।

6 कई बार स्थानीय शासन संस्थाओं का अधिक्रमण वर्षों तक चलता रहता है जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। यह आवश्यक है कि अधिनियम के अन्तर्गत अधिक्रमण की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाए।